Chapter सत्रह

हिरण्याक्ष की दिग्विजय

मैत्रेय उवाच

निशम्यात्मभुवा गीतं कारणं शङ्कयोज्झिताः ।
ततः सर्वे न्यवर्तन्त त्रिदिवाय दिवौकसः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—मैत्रेय मुनि ने; उवाच—कहा; निशम्य—सुनकर; आत्म-भुवा—ब्रह्मा द्वारा; गीतम्—व्याख्या; कारणम्—कारण; शङ्कया—भय से; उज्झिताः—मुक्त; ततः—तब; सर्वे—सभी; न्यवर्तन्त—लौट गये; त्रि-दिवाय—स्वर्ग लोक को; दिव-ओकसः—देवतागण (जो स्वर्गलोक के वासी हैं)।

श्रीमैत्रेय ने कहा—विष्णु से उत्पन्न ब्रह्मा ने जब अन्धकार का कारण कह सुनाया, तो स्वर्गलोक के निवासी देवता समस्त भय से मुक्त हो गये। इस प्रकार वे सभी अपने-अपने लोकों को वापस चले गये।

तात्पर्य : स्वर्गलोक के निवासी देवता भी ब्रह्माण्ड के अन्धकारग्रस्त होने जैसी घटनाओं से अत्यन्त भयभीत हो जाते हैं, अतः वे ब्रह्मा के पास परामर्श हेतु गये। इससे यह संकेत मिलता है कि इस भौतिक जगत में प्रत्येक जीवात्मा भय से ग्रस्त है। इस संसार में चार मुख्य कार्यकलाप हैं—आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन। देवताओं में भी भय तत्व विद्यमान रहता है। प्रत्येक लोक में, यहाँ तक कि स्वर्गलोक में, जिसमें सूर्य तथा चन्द्र लोक सम्मिलित हैं और इस पृथ्वी लोक में भी पशु जीवन के जैसे ही सिद्धान्त पाये जाते हैं। अन्यथा देवता अन्धकार से इतने भयभीत क्यों होते? देवताओं तथा सामान्य जनों में यही अन्तर होता है कि देवता अधिकारी के पास जाते हैं जबकि इस पृथ्वी पर रहने वाले सामान्य जन अधिकारी का अनादर करते हैं। यदि लोग अधिकारी के पास पहुँच सकें, तो इस बह्माण्ड की प्रत्येक प्रतिकूल अवस्था सुधर जाये। अर्जुन भी कुरुक्षेत्र के युद्धस्थल में विचलित हुआ था, किन्तु वह अधिकारी अर्थात् श्रीकृष्ण के पास पहुँचा और उसकी समस्या हल हो गई। इस घटना से यही उपदेश मिलता है कि हो सकता है कि हम किसी भौतिक परिस्थिति से विचलित हों, किन्तु यदि हम ऐसे अधिकारी के पास पहुँच सकें जो समस्या की वास्तव में व्याख्या कर सके तो हमारी समस्या हल हो जाती है। देवता उत्पात का अर्थ जानने के लिए ब्रह्मा के पास गये और

उनसे सुनने के बाद वे संतुष्ट होकर अपने-अपने धाम शान्तिपूर्वक वापस चले गये।

दितिस्तु भर्तुरादेशादपत्यपरिशङ्किनी ।
पूर्णे वर्षशते साध्वी पुत्रौ प्रसुषुवे यमौ ॥ २ ॥

शब्दार्थ

दितिः—दिति; तु—लेकिन; भर्तुः—अपने पति की; आदेशात्—आज्ञा से; अपत्य—अपने बच्चों से; परिशङ्किनी—शंकालु; पूर्णे—पूरे; वर्ष-शते—एक सौ वर्ष बाद; साध्वी—पतिव्रता स्त्री ने; पुत्रौ—दो पुत्र; प्रसुषुवे—जन्म दिया; यमौ—जुड़वाँ।

साध्वी दिति अपने गर्भ में स्थित सन्तानों से देवों के प्रति उपद्रव किये जाने के लिए अत्यधिक शंकालु थी और उसके पति ने भी यही भविष्यवाणी की थी। अतः उसने एक सौ वर्षों के गर्भकाल के पश्चात् जुड़वाँ पुत्रों को जन्म दिया।

उत्पाता बहवस्तत्र निपेतुर्जायमानयोः ।
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च लोकस्योरुभयावहाः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

उत्पाताः—प्राकृतिक उपद्रव; बहवः—अनेक; तत्र—वहाँ; निपेतुः—घटित हुए; जायमानयोः—उनके जन्म के समय; दिवि—स्वर्गलोक में; भुवि—पृथ्वी पर; अन्तरिक्षे—बाह्य आकाश में; च—तथा; लोकस्य—संसार का; उरु—अत्यधिक; भय-आवहाः—भय उत्पन्न करने वाला, भयानक।

दोनों असुरों के जन्म के समय स्वर्गलोक, पृथ्वीलोक तथा इन दोनों के मध्य के लोकों में अनेक प्राकृतिक उपद्रव हुए जो अत्यन्त भयावने एवं विस्मयपूर्ण थे।

सहाचला भुवश्चेलुर्दिशः सर्वाः प्रजज्वलुः ।
सोल्काश्चाशनयः पेतुः केतवश्चार्तिहेतवः ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

सह—के साथ साथ; अचलाः—पर्वत; भुवः—पृथ्वी के; चेलुः—हिल उठी; दिशः—दिशाएँ; सर्वाः—समस्त; प्रजज्वलुः—अग्नि के समान धधक उठीं; स—साथ; उल्काः—उल्कापिंड; च—तथा; अशनयः—वज्र; पेतुः—गिर पड़े; केतवः—पुच्छल तारे; च—तथा; आर्ति-हेतवः—समस्त अशुभों का कारण।

पृथ्वी पर पर्वत काँपने लगे और ऐसा प्रतीत होने लगा मानो सर्वत्र अग्नि ही अग्नि हो। उल्काओं, पुच्छल तारों तथा वज्रों के साथ-साथ शनि जैसे अनेक अशुभ ग्रह दिखाई देने लगे।

तात्पर्य : जब किसी लोक में प्राकृतिक उत्पात होने लगें तो यह समझना चाहिए कि

किसी असुर ने जन्म लिया है। वर्तमान युग में आसुरी लोगों की संख्या बढ़ रही है, फलतः प्राकृतिक उत्पातों में भी वृद्धि हो रही है। इसमें कोई सन्देह नहीं है, जैसाकि *भागवत* के कथन से हम स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं।

ववौ वायुः सुदुःस्पर्शः फूत्कारानीरयन्मुहुः ।
उन्मूलयन्नगपतीन्वात्यानीको रजोध्वजः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ववौ—बहने लगीं; वायुः—हवाएँ; सु-दुःस्पर्शः—छूने में बुरी लगने वाली; फूत्-कारान्—साँय-साँय का शब्द; ईरयन्—निकालती हुई; मुहुः—पुनःपुनः; उन्मूलयन्—उखाड़ती हुई; नग-पतीन्—विशाल वृक्षों को; वात्या—अंधड़; अनीकः—सेनाएँ; रजः—धूल; ध्वजः—झंडे, पताकाएँ।

बारम्बार साँय-साँय करती तथा विशाल वृक्षों को उखाड़ती हुई अत्यन्त दुस्सह-स्पर्शी हवाएँ बहने लगीं। उस समय अंधड़ उनकी सेनाएँ और धूल के मेघ उनकी ध्वजाएँ लग रही थीं।

तात्पर्य : जब अंधड़ चले, अत्यधिक गर्मी या हिमपात हो और तूफानी हवाओं से वृक्ष उखड़ जाँय, तो यह समझना चाहिए कि आसुरी जनसंख्या बढ़ रही है, जिसके कारण ये प्राकृतिक उत्पात हो रहे हैं। आज भी इस विश्व में अनेक ऐसे देश हैं जहाँ ये सभी उत्पात हो रहे हैं। यह सारे संसार में सत्य है। वहाँ पर्याप्त धूप नहीं रहती, आकाश सदैव बादलों से घिरा रहता है, बर्फ गिरती है और कड़ाके की सर्दी पड़ती है। इनसे इसकी पुष्टि होती है कि ऐसे स्थानों में उन आसुरी लोगों का निवास है, जो सभी प्रकार के वर्जित पापमय कार्य करने के आदी हो गये हैं।

उद्धसत्तडिदम्भोदघटया नष्टभागणे ।
व्योम्नि प्रविष्टतमसा न स्म व्यादृश्यते पदम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

उद्धसत्—जोर जोर से हँसकर; तडित्—बिजली; अम्भोद—बादलों के; घटया—समूह; नष्ट—विनष्ट; भा-गणे—नक्षत्र; व्योम्नि—आकाश में; प्रविष्ट—घिरा हुआ; तमसा—अंधकार से; न—नहीं; स्म व्यादृश्यते—दिखता था; पदम्—कोई स्थान।

आकाश के नक्षत्रों को मेघों की घटाओं ने घेर लिया और उनमें कभी कभी बिजली

चमक जाती तो लगता मानो जोर से हँस रही हो। चारों ओर अन्धकार का राज्य था और कुछ भी दिखाई नहीं पड़ रहा था।

चुक्रोश विमना वार्धिरुदूर्मिः क्षुभितोदरः ।
सोदपानाश्च सरितश्चुक्षुभुः शुष्कपङ्कजाः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

चुक्रोश—जोर जोर से विलाप करने लगा; विमनाः—दुखी; वार्धिः—समुद्र; उदूर्मिः—ऊँची ऊँची लहरें; क्षुभित—विक्षुब्ध; उदरः—भीतर के प्राणी; स-उदपानाः—जलाशयों तथा कुंओं के पेयजल सहित; च—तथा; सरितः—नदियाँ; चुक्षुभुः—क्षुब्ध हुए; शुष्क—सूखे हुए; पङ्कजाः—कमल पुष्प।.

उत्ताल तरंगों से युक्त सागर मानो शोक में जोर जोर से विलाप कर रहा था और उसमें रहने वाले प्राणियों में हलचल मची थी। नदियाँ तथा सरोवर भी विक्षुब्ध हो उठे और कमल मुरझा गये।

मुहुः परिधयोऽभूवन्सराह्वोः शशिसूर्ययोः ।
निर्घाता रथनिर्ह्रादा विवरेभ्यः प्रजज्ञिरे ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

मुहुः—पुनः पुनः; परिधयः—कुहरे से युक्त मण्डल; अभूवन्—प्रकट हुआ; स-राह्वोः—ग्रहणों के समय; शशि—चन्द्रमा का; सूर्ययोः—सूर्य का; निर्घाताः—गर्जन; रथ-निर्ह्रादाः—घर्घर करते रथों का सा शब्द; विवरेभ्यः—पर्वत की गुफाओं से; प्रजज्ञिरे—उत्पन्न हो रहा था।.

सूर्य तथा चन्द्रमा के चारों ओर ग्रहण लगने के समय अमंगल-सूचक मण्डल बार-बार दिखाई पड़ने लगा। बिना बादलों के ही गरजने की ध्वनि और पर्वत की गुफाओं से रथों जैसी घरघराहट सुनाई पड़ने लगी।

अन्तर्ग्रामेषु मुखतो वमन्त्यो वह्निमुल्बणम् ।
सृगालोलूकटङ्कारैः प्रणेदुरशिवं शिवाः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अन्तः—भीतर; ग्रामेषु—गाँवों के; मुखतः—उनके मुखों से; वमन्त्यः—उगलते हुए; वह्निम्—आग; उल्बणम्—भयावनी; सृगाल—सियार; उलूक—उल्लू; टङ्कारैः—चीख से; प्रणेदुः—उत्पन्न; अशिवम्—अशुभ, अमंगलसूचक; शिवाः—सियारिनें।.

गाँवों के भीतर सियारिनें अपने मुखों से दहकती आग उगलती हुई अमंगल सूचक शब्द करने लगीं। इस रोने में सियार तथा उल्लू भी साथ हो लिये।

**सङ्गीतवद्रोदनवदुन्नमय्य शिरोधराम् ।
व्यमुञ्चन्विविधा वाचो ग्रामसिंहास्ततस्ततः ॥ १० ॥**

शब्दार्थ

सङ्गीत-वत्—मानो गा रहे हों; रोदन-वत्—रोने के समान; उन्नमय्य—उठाकर; शिरोधराम्—गर्दन; व्यमुञ्चन्—निकालते हुए; विविधाः—नाना प्रकार की; वाचः—चीत्कार; ग्राम-सिंहाः—कुत्ते; ततः ततः—जहाँ तहाँ।

जहाँ तहाँ कुत्ते अपनी गर्दन ऊपर उठा उठाकर शब्द करने लगे मानो कभी वे गा रहे हों और कभी विलाप कर रहे हों।

**खराश्च कर्कशैः क्षत्तः खुरैर्घ्नन्तो धरातलम् ।
खार्काररभसा मत्ताः पर्यधावन्वरूथशः ॥ ११ ॥**

शब्दार्थ

खराः—गधे; च—तथा; कर्कशैः—कटु; क्षत्तः—हे विदुर; खुरैः—अपने खुरों से; घ्नन्तः—मारते हुए; धरा-तलम्—पृथ्वी पर; खाः-कार—रेंकते हुए; रभसाः—बुरी तरह से संलग्न; मत्ताः—प्रमत्त, पागल; पर्यधावन्—इधर उधर दौड़ने लगे; वरूथशः—झुंडों में।

हे विदुर, झुंड के झुंड गधे अपने कठोर खुरों से पृथ्वी पर प्रहार करते हुए तथा जोर जोर से रेंकते हुए इधर उधर दौड़ने लगे।

तात्पर्य : गधों की जाति भी अपने को अत्यन्त आदरणीय समझती है, अतः जब वे इधर उधर झुंडों में दौड़ने लगते हैं, तो मानव समाज के लिए यह अपशकुन माना जाता है।

**रुदन्तो रासभत्रस्ता नीडादुदपतन्खगाः ।
घोषेऽरण्ये च पशवः शकृन्मूत्रमकुर्वत ॥ १२ ॥**

शब्दार्थ

रुदन्तः—रोते हुए; रासभ—गधों के द्वारा; त्रस्ताः—भयभीत; नीडात्—घोंसले से; उदपतन्—ऊपर उड़ने लगे; खगाः—पक्षी; घोषे—गोशाला में; अरण्ये—जंगल में; च—तथा; पशवः—पशु; शकृत्—मल; मूत्रम्—मूत्र; अकुर्वत—त्याग दिया।

गधों के रेंकने से भयभीत होकर पक्षी अपने घोसलों से निकलकर चीख चीख कर उड़ने लगे और गोशालाओं तथा जंगलों में पशु मल-मूत्र त्यागने लगे।

**गावोऽत्रसन्नसृग्दोहास्तोयदाः पूयवर्षिणः ।
व्यरुदन्देवलिङ्गानि द्रुमाः पेतुर्विनानिलम् ॥ १३ ॥**

शब्दार्थ

गावः—गाएँ; अत्रसन्—भयभीत थीं; असृक्—रक्त; दोहाः—प्रदान किया; तोयदाः—बादल; पूय—पीब; वर्षिणः—वर्षा करते हुए; व्यरुदन्—अश्रुपात करने लगे; देव-लिङ्गानि—देवों के विग्रह; द्रुमाः—वृक्ष; पेतुः—गिर पड़े; विना—की अनुपस्थिति में; अनिलम्—हवा का झोंका, आँधी।

भयभीत होने के कारण गौवें दूध के स्थान पर रक्त देने लगीं, बादलों से पीब बरसने लगा, मन्दिरों में देवों के विग्रहों से आँसू निकलने लगे और वृक्ष बिना आँधी के ही गिरने लगे।

ग्रहान्पुण्यतमानन्ये भगणांश्चापि दीपिताः ।
अतिचेरुर्वक्रगत्या युयुधुश्च परस्परम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

ग्रहान्—ग्रह (लोक); पुण्य-तमान्—अत्यन्त शुभ; अन्ये—अन्य (क्रूर ग्रह); भ-गणान्—नक्षत्र समूह; च—यथा; अपि—भी; दीपिताः—प्रकाशमान; अतिचेरुः—अध्यारोपित; वक्र-गत्या—टेढ़ी मेढ़ी चाल से; युयुधुः—परस्पर भिड़ गये; च—तथा; परः-परम्—एक दूसरे से।

मंगल तथा शनि जैसे क्रूर ग्रह बृहस्पति, शुक्र तथा अनेक शुभ नक्षत्रों को लाँघकर तेजी से चमकने लगे। टेढ़े मेढ़े रास्तों में घूमने के कारण ग्रहों में परस्पर टक्कर होने लगी।

तात्पर्य : यह ब्रह्माण्ड़ भौतिक प्रकृति के तीनों गुणों के वश में रहकर घूम रहा है। सतोगुणी जीवात्माएँ पवित्र योनियां मानी जाती हैं—यथा पवित्र देश, पवित्र वृक्ष आदि। ग्रहों (लोकों) के साथ भी ऐसा ही है। अनेक ग्रह शुभ माने जाते हैं और अन्य ग्रह अशुभ। शनि तथा मंगल अशुभसूचक हैं। जब पवित्र ग्रह बहुत तेजी से चमकते हैं, तो यह शुभसूचक होता है, किन्तु जब अशुभ ग्रह तेजी से चमकते हैं, तो यह शुभसूचक नहीं माना जाता।

दृष्ट्वान्यांश्च महोत्पातानतत्तत्त्वविदः प्रजाः ।
ब्रह्मपुत्रानृते भीता मेनिरे विश्वसम्प्लवम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

दृष्ट्वा—देखकर; अन्यान्—अन्य लोग; च—यथा; महा—महान; उत्पातान्—अपशकुन; अ-तत्-तत्त्व-विदः—रहस्य को न जानते हुए; प्रजाः—लोग; ब्रह्म-पुत्रान्—ब्रह्मा के पुत्रों (चारों कुमारों); ऋते—के सिवाय; भीताः—अन्यन्त डरे हुए; मेनिरे—सोचा; विश्व-सम्प्लवम्—विश्व का विलय।

इस प्रकार के तथा अन्य अनेक अपशकुनों को देखकर ब्रह्मा के चारों ऋषि-पुत्र, जिन्हें जय तथा विजय के पतन एवं दिति के पुत्रों के रूप में जन्म लेने का ज्ञान था,

उनके अतिरिक्त सभी लोग भयभीत हो उठे। उन्हें इन उत्पातों के मर्म का पता न था और वे सोच रहे थे कि ब्रह्माण्ड का प्रलय होने वाला है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के सप्तम अध्याय के अनुसार प्रकृति के नियम इतने कठोर हैं कि कोई भी जीवात्मा इनका अतिक्रमण नहीं कर सकता। यह भी बताया गया है कि कृष्णभक्ति में पूर्णतया कृष्ण को अर्पित जीवात्मा ही बच सकता है। *श्रीमद्भागवत* के इस विवरण से हम यह जान सकते हैं कि दो महान् असुरों के जन्म लेने से अनेकानेक प्राकृतिक उत्पात होने प्रारम्भ हो गये। अप्रत्यक्ष रूप से यह समझना चाहिए कि जैसा पहले वर्णन किया जा चुका है, जब भी पृथ्वी पर ऐसे उत्पात सतत होते हैं, तो यह इस बात का सूचक है कि कुछ आसुरी लोग उत्पन्न हो गए हैं, अथवा उनकी संख्या बढ़ गई है। पुराकाल में दिति से उत्पन्न हुए केवल दो असुर थे तो भी इतना अधिक उत्पात हुआ था। आजकल, विशेष रूप से इस कलियुग में, ऐसे उत्पात तो नित्यप्रति ही देखे जाते हैं, जो इसके सूचक हैं कि आसुरी जनसंख्या में निश्चित रूप से वृद्धि हुई है।

आसुरी जनसंख्या में वृद्धि को रोकने के लिए वैदिक सभ्यता में सामाजिक जीवन के अनेक विधि-विधान थे, जिनमें से अच्छी संतान पाने के लिए गर्भाधान संस्कार प्रमुख था। *भगवद्गीता* में अर्जुन श्रीकृष्ण से कहते हैं कि यदि वर्णसंकर लोग उत्पन्न होंगे तो यह सारा संसार नरक जैसा लगेगा। लोग विश्व में शान्ति चाहते हैं, किन्तु गर्भाधान संस्कार का लाभ न उठा सकने के कारण अनेक अवांछित शिशु जन्म लेते रहते हैं—जिस प्रकार दिति के गर्भ से असुर उत्पन्न हुए थे। दिति इतनी कामातुर थी कि उसने अपने पति को अशुभ समय में संभोग के लिए बाध्य कर दिया जिसके कारण उत्पात मचाने वाले असुरों का जन्म हुआ। मनुष्य को चाहिए कि सन्तान उत्पन्न करने हेतु संभोग करते समय नियम का पालन करे जिससे अच्छी सन्तान हो। यदि प्रत्येक परिवार वैदिक विधि का पालन करे तो अच्छी सन्तान उत्पन्न होंगी, असुर नहीं होगे और विश्व में स्वत: शान्ति स्थापित हो सकेगी। यदि हम अपने जीवन में सामाजिक शान्ति के नियमों का पालन नहीं करते तो हमें शान्ति की आशा नहीं करनी चाहिए।

उल्टे, हमें प्राकृतिक नियमों की कठोर प्रतिक्रियाओं से जूझना होगा।

तावादिदैत्यौ सहसा व्यज्यमानात्मपौरुषौ ।
ववृधातेऽश्मसारेण कायेनाद्रिपती इव ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तौ—वे दोनों; आदि-दैत्यौ—सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न असुर; सहसा—शीघ्र, तेजी से; व्यज्यमान—प्रकट होकर; आत्म—अपने; पौरुषौ—शौर्य; ववृधाते—बड़े हुए; अश्म-सारेण—इस्पात तुल्य; कायेन—शरीर से; अद्रि-पती—दो विशाल पर्वत; इव—सदृश।

पुराकाल में प्रकट इन दोनों असुरों के शरीर में शीघ्र ही असामान्य लक्षण प्रकट होने लगे, उनके शारीरिक ढाँचे इस्पात के समान थे और वे दो विशाल पर्वतों के समान बढ़ने लगे।

तात्पर्य : संसार में दो प्रकार के मनुष्य होते हैं—एक असुर कहलाते हैं तथा दूसरे देवता। देवता मानव समाज की आत्मिक उन्नति करने में लगे रहते हैं, किन्तु असुर शारीरिक तथा भौतिक उन्नति में विश्वास करते हैं। दिति के गर्भ से उत्पन्न दोनों असुर अपने शरीरों को लौह के समान शक्तिशाली बनाने लगे और वे इतने ऊँचे थे कि आसमान को छूते लग रहे थे। वे अमूल्य आभूषणों से अलंकृत थे और इसी को वे जीवन की सार्थकता समझ रहे थे। प्रारम्भ में वैकुण्ठ के दोनों द्वारपालों, जय तथा विजय, को इस भौतिक संसार में जन्म लेना था जहाँ साधुओं के शाप के अनुसार उन्हें श्रीभगवान् के प्रति सदा क्रुद्ध रहने की भूमिका अदा करनी थी। अत: आसुरी व्यक्तियों के रूप में वे इतने क्रुद्ध रहने लगे कि श्रीभगवान् से उनका कोई प्रयोजन नहीं रहा और वे भौतिक तथा शारीरिक उन्नति में ही लगे रहे।

दिविस्पृशौ हेमकिरीटकोटिभिर्
निरुद्धकाष्ठौ स्फुरदङ्गदाभुजौ ।
गां कम्पयन्तौ चरणैः पदे पदे
कट्या सुकाञ्च्यार्कमतीत्य तस्थतुः ॥ १७॥

शब्दार्थ

दिवि-स्पृशौ—आकाश को छूने वाला; हेम—स्वर्णिम; किरीट—उनके मुकुटों का; कोटिभिः—शिखरों से; निरुद्ध—अवरुद्ध; काष्ठौ—दिशाएँ; स्फुरत्—चमकीले; अङ्गदा—बाजूबंद; भुजौ—जिनकी बाँहों में; गाम्—पृथ्वी

को; कम्पयन्तौ—हिलाते हुए; चरणैः—अपने पाँवों से; पदे पदे—पत्येक पद पर; कट्या—अपनी कमर से; सु-काञ्च्या—आभूषित करधनियों से; अर्कम्—सूर्य; अतीत्य—पार करके; तस्थतुः—वे खड़े हुए।

उनके शरीर इतने ऊँचे हो गये कि उनके स्वर्ण-मुकुटों के शिखर मानो आकाश को चूम रहे हों। उनके कारण सभी दिशाएँ अवरुद्ध हो जाती थीं और जब वे चलते तो उनके प्रत्येक पग पर पृथ्वी हिलती थी। उनके बाहुओं में चमकीले बाजूबन्द सुशोभित थे। उनकी कमर में परम सुन्दर करधनियाँ बँधी थीं और जब वे खड़े होते तो ऐसा लगता मानो उनकी कमर से सूर्य ढक गया हो।

तात्पर्य : आसुरी सभ्यता में लोग अपने शरीर को इस प्रकार गठित करते हैं कि जब वे सड़क पर चलें तो धरती काँपे और जब वे खड़े हों तो सूर्य ढक जाय और चारों दिशाएँ न दिखें। यदि किसी देश की कोई जाति बलिष्ठ शरीर वाली प्रकट हो जाती है, तो वह देश भौतिक दृष्टि विश्व के उन्नत राष्ट्रों में गिना जाता है।

प्रजापतिर्नाम तयोरकार्षीद्
यः प्राक्स्वदेहाद्यमयोरजायत ।
तं वै हिरण्यकशिपुं विदुः प्रजा
यं तं हिरण्याक्षमसूत साग्रतः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

प्रजापतिः—कश्यप ने; नाम—नाम; तयोः—दोनों के; अकार्षीत्—रखा; यः—जो; प्राक्—प्रथम; स्व-देहात्—अपने शरीर से; यमयोः—जुड़वों में से; अजायत—उत्पन्न हुआ; तम्—उसको; वै—निस्सन्देह; हिरण्यकशिपुम्—हिरण्यकशिपु; विदुः—जानते हैं; प्रजाः—लोग; यम्—जिसको; तम्—उसको; हिरण्याक्षम्—हिरण्याक्ष; असूत—जन्म दिया; सा—वह (दिति); अग्रतः—पहले।

जीवात्माओं के सृष्टा कश्यप ने अपने जुड़वां पुत्रों का नामकरण किया। जो पहले उत्पन्न हुआ उसका नाम उन्होंने हिरण्याक्ष रखा और जिसको दिति ने पहले गर्भ में धारण किया था उसका नाम हिरण्यकशिपु रखा।

तात्पर्य : *पिंड सिद्धि* नामक प्रामाणिक वैदिक ग्रंथ में गर्भावस्था का बहुत ही सुन्दर वैज्ञानिक वर्णन मिलता है। यह बताया गया है कि मनुष्य के वीर्य के दो बिन्दु क्रमशः स्त्री के गर्भाशय में प्रविष्ट होते हैं, तो दो भ्रूणों का विकास होता है और जब वे गर्भ से बाहर निकलते हैं, तो वे गर्भधारण के क्रम से विपरीत क्रम में निकलते हैं। अतः जिस शिशु का पहले गर्भ-

धारण होता है, वह बाद में जन्म लेता है और बाद वाला पहले जन्म लेता है। यहाँ पर हिरण्याक्ष पहले प्रकट होता है, जिसका तात्पर्य यह हुआ कि वह बाद में गर्भ में आया था जबकि हिरण्यकशिपु पहले गर्भ में आया था इसलिए वह बाद में प्रकट हुआ।

चक्रे हिरण्यकशिपुर्दोर्भ्यां ब्रह्मवरेण च ।
वशे सपालाँल्लोकांस्त्रीनकुतोमृत्युरुद्धतः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

चक्रे—बनाया; हिरण्यकशिपुः—हिरण्यकशिपु; दोर्भ्याम्—अपने दोनों हाथों से; ब्रह्म-वरेण—ब्रह्मा के वरदान से; च—तथा; वशे—नियन्त्रण में; स-पालान्—उनके पालने वालों सहित; लोकान्—लोक; त्रीन्—तीन; अकुतः-मृत्युः—किसी से भी मृत्यु का भय न होना; उद्धतः—गर्वित, उद्धत।

ज्येष्ठ पुत्र हिरण्यकशिपु को तीनों लोकों में किसी से भी अपनी मृत्यु का भय न था, क्योंकि उसे ब्रह्मा से वरदान प्राप्त हुआ था। इस वरदान के कारण यह अत्यन्त दंभी तथा अभिमानी हो गया था और तीनों लोकों को अपने वश में करने में समर्थ था।

तात्पर्य : अगले अध्यायों में पता चलेगा कि ब्रह्मा को प्रसन्न करने के लिए हिरण्यकशिपु ने कठिन तपस्या की थी और तब उसे अमर रहने का वरदान प्राप्त हुआ था। वस्तुत: ब्रह्माजी किसी को अमर होने का वर नहीं दे सकते, किन्तु अप्रत्यक्षत: हिरण्यकशिपु ने यह वरदान प्राप्त कर लिया था कि इस भौतिक संसार का कोई भी व्यक्ति उसको मार न सके। दूसरे शब्दों में, चूँकि वह मूलत: वैकुण्ठ धाम से आया था, अत: इस लोक का कोई भी व्यक्ति उसे मार नहीं सकता था। इसीलिए उसे मारने के लिए स्वयं भगवान् को प्रकट होना पड़ा। भले ही कोई अपने ज्ञान के भौतिक विकास पर इतरा ले, किन्तु वह जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि इन चार भौतिक नियमों के प्रति निश्चेष्ट नहीं रह सकता। यह भगवान् की योजना थी कि वे जनता को बता दें कि हिरण्यकशिपु जैसा बलशाली व्यक्ति भी निश्चित अवधि से अधिक जीवित नहीं रह सका था। भले ही कोई हिरण्यकशिपु के समान बलशाली तथा अभिमानी और तीनों लोकों को अपने वश में करने वाला क्यों न हो ले, किन्तु उसे चिरकाल तक जीवित रहने या लूट का माल रखने की छूट नहीं है। न जाने कितने सम्राटों ने शासन किया होगा, किन्तु वे सभी अब विस्मृति के गर्भ में विलीन हो गये। यही इस संसार का इतिहास है।

हिरण्याक्षोऽनुजस्तस्य प्रियः प्रीतिकृदन्वहम् ।
गदापाणिर्दिवं यातो युयुत्सुर्मृगयन्रणम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

हिरण्याक्षः—हिरण्याक्ष; अनुजः—छोटा भाई; तस्य—उसका; प्रियः—प्रिय; प्रीति-कृत्—प्रसन्न करने के लिए उद्यत; अनु-अहम्—प्रतिदिन; गदा-पाणिः—गदा धारण किये; दिवम्—उच्च लोकों को; यातः—घूमा; युयुत्सुः—लड़ने की इच्छावाला; मृगयन्—खोजते हुए; रणम्—युद्ध।

छोटा भाई हिरण्याक्ष अपने कार्यों से अपने अग्रज भ्राता को प्रसन्न रखने के लिए उद्यत रहता था। हिरण्यकशिपु को प्रसन्न रखने के उद्देश्य से ही उसने अपने कंधे पर गदा रखी और लड़ने की इच्छा से पूरे ब्रह्माण्ड में घूम आया।

तात्पर्य : यह आसुरी प्रवृत्ति है कि परिवार के सभी सदस्यों को अपनी इन्द्रिय-तृप्ति के लिए इस ब्रह्माण्ड के समस्त साधनों का उपभोग करना सिखाया जाय जब कि दैवी प्रवृत्ति भगवान् की सेवा में प्रत्येक वस्तु को लगाने के लिए प्रेरित करती है। हिरण्यकशिपु स्वयं अत्यन्त बलशाली था और उसने अपने छोटे भाई हिरण्याक्ष को भी बलवान बनाया था जिससे वह हर एक से लड़ने और प्रकृति पर जहाँ तक सम्भव हो, स्वामित्व प्राप्त करने में उसकी सहायता कर सके और यदि सम्भव हो तो वह सदा के लिए ब्रह्माण्ड पर शासन करना चाहता था। ये सब आसुरी जीव की प्रवृत्ति के प्रदर्शन हैं।

तं वीक्ष्य दुःसहजवं रणत्काञ्चननूपुरम् ।
वैजयन्त्या स्रजा जुष्टमंसन्यस्तमहागदम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; वीक्ष्य—देखकर; दुःसह—वश में करना कठिन; जवम्—वेग; रणत्—बजती हुई; काञ्चन—स्वर्ण; नूपुरम्—नूपुर, पाँव का आभूषण; वैजयन्त्या स्रजा—वैजयन्ती माला से; जुष्टम्—आभूषित; अंस—कंधे पर; न्यस्त—टिका; महा-गदम्—बड़ी गदा।

हिरण्याक्ष के आवेग को नियंत्रण कर पाना कठिन था। उसके पैरों में सोने के नूपुरों की झनकार हो रही थी, उसके गले में विशाल माला सुशोभित थी और वह अपनी विशाल गदा को अपने एक कंधे पर धारण किये था।

मनोवीर्यवरोत्सिक्तमसृण्यमकुतोभयम् ।
भीता निलिल्यिरे देवास्तार्क्ष्यत्रस्ता इवाहयः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

मनः-वीर्य—मनोबल तथा शारीरिक बल; वर—वरदान से; उत्सिक्तम्—दंभी, गर्वीला; असृण्यम्—रोक पाने में असमर्थ; अकुतः-भयम्—किसी से न डरने वाला; भीताः—डरे हुए; निलिल्यिरे—छिपा लिया; देवाः—देवताओं ने; तार्क्ष्य—गरुड़ से; त्रस्ताः—भयभीत; इव—के समान; अहयः—सर्प।

उसके मनोबल, शारीरिक बल तथा ब्रह्मा द्वारा प्राप्त वरदान ने उसे दंभी बना दिया था। उसे न तो किसी से अपनी मृत्यु का भय था और न उस पर किसी का अंकुश था। अत: देवता उसे देखकर ही भयभीत हो उठते थे और अपने को उसी प्रकार छिपा लेते जिस तरह गरुड़ के भय से सर्प छिप जाते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि यहाँ पर वर्णन हुआ है, सामान्य रूप से असुर अत्यन्त बलिष्ठ होते हैं, अत: उनकी मानसिक दशा भी ठीक रहती है और उनका शौर्य असाधारण होता है। हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकशिपु इस ब्रह्माण्ड के भीतर किसी के द्वारा न मारे जा सकने का वर प्राप्त करके प्राय: अमर बन गये थे और पूर्णतया निर्भय हो चले थे।

स वै तिरोहितान्दृष्ट्वा महसा स्वेन दैत्यराट् ।
सेन्द्रान्देवगणान्क्षीबानपश्यन्व्यनदद्भृशम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने; वै—निस्सन्देह; तिरोहितान्—लुप्त; दृष्ट्वा—देखकर; महसा—शक्ति से; स्वेन—अपनी; दैत्य-राट्—दैत्यों (असुरों) का प्रधान; स-इन्द्रान्—इन्द्र सहित; देव-गणान्—देवताओं को; क्षीबान्—मदान्ध; अपश्यन्—न पाकर; व्यनदत्—गर्जना की; भृशम्—उच्च स्वर से।

पहले अपनी शक्ति के मद से चूर रहने वाले इन्द्र तथा अन्य देवताओं को अपने समक्ष न पाकर तथा यह देखकर कि उसकी शक्ति के सम्मुख वे सभी छिप गये हैं, उस दैत्यराज ने गम्भीर गर्जना की।

ततो निवृत्तः क्रीडिष्यन्गम्भीरं भीमनिस्वनम् ।
विजगाहे महासत्त्वो वार्धिं मत्त इव द्विपः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; निवृत्तः—लौट आया; क्रीडिष्यन्—क्रीड़ा (कौतुक) करने के लिए; गम्भीरम्—गहरे; भीम-निस्वनम्—घोर गर्जना करता; विजगाहे—डुबकी लगाई; महा-सत्त्वः—शक्तिमान प्राणी; वार्धिम्—समुद्र में; मत्तः—क्रोध में; इव—समान; द्विपः—हाथी।

स्वर्गलोक से लौटने के बाद मतवाले हाथी के समान उस महाबली असुर ने भयानक गर्जना करते हुए गहरे समुद्र में क्रीड़ावश डुबकी लगाई।

तस्मिन्प्रविष्टे वरुणस्य सैनिका
यादोगणाः सन्नधियः ससाध्वसाः ।
अहन्यमाना अपि तस्य वर्चसा
प्रधर्षिता दूरतरं प्रदुद्रुवुः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन् प्रविष्टे—समुद्र में घुसने पर; वरुणस्य—वरुण के; सैनिकाः—रक्षक; यादः-गणाः—जलचर जीव; सन्न-धियः—हकबकाये हुए; स-साध्वसाः—डर से; अहन्यमानाः—न मारा जाकर; अपि—भी; तस्य—उनकी; वर्चसा—धाक से; प्रधर्षिताः—घबड़ाकर; दूर-तरम्—बहुत दूर; प्रदुद्रुवुः—तेजी से भाग गये।.

समुद्र में उसके प्रवेश करते ही वरुण के सैनिक समस्त जलचर प्राणी डर गये और बहुत दूर भाग गये। इस प्रकार बिना वार किये ही हिरण्याक्ष ने अपनी धाक जमा ली।

तात्पर्य :कभी-कभी भौतिकतावादी असुर अत्यधिक बलशाली प्रतीत होते हैं और सारे संसार में अपना प्रभुत्व स्थापित करते दिखाई पड़ते हैं। यहाँ पर, हिरण्याक्ष ने अपनी आसुरी शक्ति से पूरे ब्रह्माण्ड में अपनी धाक जमा ली थी और देवतागण उसकी असाधारण शक्ति से भयभीत हो उठे थे। हिरण्यकशिपु तथा हिरण्याक्ष से न केवल अन्तरिक्ष में देवता भयभीत जान पड़े, वरन् समुद्र के जल जीव भी भयभीत थे।

स वर्षपूगानुदधौ महाबल-
श्चरन्महोर्मीञ्छ्वसनेरितान्मुहुः ।
मौर्व्याभिजघ्ने गदया विभावरी-
मासेदिवांस्तात पुरीं प्रचेतसः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; वर्ष-पूगान्—अनेक वर्षों तक; उदधौ—समुद्र में; महा-बलः—शक्तिशाली; चरन्—घूमते हुए; महा-ऊर्मीन्—उत्ताल तरंगें; श्वसन—वायु से; ईरितान्—ऊपर नीचे उठते हुए; मुहुः—पुनः पुनः; मौर्व्या—लोहे की; अभिजघ्ने—वार किया; गदया—गदा से; विभावरीम्—विभावरी; आसेदिवान्—पहुँचा; तात—हे विदुर; पुरीम्—राजधानी; प्रचेतसः—वरुण की।.

हे विदुर, वह महाबली हिरण्याक्ष अनेकानेक वर्षों तक समुद्र में घूमता हुआ वायु से दोलायमान उत्ताल तरंगों पर अपनी लोहे की गदा से बारम्बार प्रहार करता हुआ वरुण

की राजधानी विभावरी में जा पहुँचा।

तात्पर्य :वरुण को जल का प्रमुख देवता माना जाता है और विभावरी नाम से विख्यात उसकी राजधानी उसके जल-साम्राज्य के भीतर है।

तत्रोपलभ्यासुरलोकपालकं
यादोगणानामृषभं प्रचेतसम् ।
स्मयन्प्रलब्धुं प्रणिपत्य नीचव-
ज्जगाद मे देह्यधिराज संयुगम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; उपलभ्य—पहुँचकर; असुर-लोक—असुरों के रहने के भूभाग का; पालकम्—रक्षक; यादः-गणानाम्—जलचरों का; ऋषभम्—राजा; प्रचेतसम्—वरुण; स्मयन्—हँसते हुए; प्रलब्धुम्—हँसी उड़ाते; प्रणिपत्य—झुक करके; नीच-वत्—नीच मनुष्य की तरह; जगाद—कहा; मे—मुझको; देहि—दो; अधिराज—हे महान् राजा; संयुगम्—युद्ध।

विभावरी वरुण की पुरी है और वरुण समस्त जलचरों का स्वामी तथा ब्रह्माण्ड के अधः क्षेत्रों का रक्षक है, जहाँ सामान्य रूप से असुर वास करते हैं। वहाँ पहुँचकर हिरण्याक्ष नीच पुरुष के समान वरुण के चरणों पर गिर पड़ा और उसकी हँसी उड़ाने के लिए उसने मुस्कुराते हुए कहा, ''हे परमेश्वर, मुझे युद्ध की भिक्षा दीजिये।''

तात्पर्य :आसुरी पुरुष सदैव दूसरों को ललकारता है और उनकी सम्पत्ति पर बलपूर्वक अधिकार जमाने का प्रयत्न करता है। यहाँ पर ये लक्षण हिरण्याक्ष में पूर्णरूपेण देखे जाते हैं जिसने ऐसे पुरुष से युद्ध की भिक्षा माँगी जो लड़ना नहीं चाहता था।

त्वं लोकपालोऽधिपतिर्बृहच्छ्रवा
वीर्यापहो दुर्मदवीरमानिनाम् ।
विजित्य लोकेऽखिलदैत्यदानवान्
यद्राजसूयेन पुरायजत्प्रभो ॥ २८॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम (वरुण); लोक-पालः—लोक का रक्षक; अधिपतिः—शासक; बृहत्-श्रवाः—कीर्तिवान्; वीर्य—शक्ति; अपहः—घटा हुआ; दुर्मद—घमंडी का; वीर-मानिनाम्—अपने को महान् वीर समझते हुए; विजित्य—जीतकर; लोके—संसार में; अखिल—समस्त; दैत्य—असुर; दानवान्—दानवों को; यत्—जहाँ से; राज-सूयेन—राजसूय यज्ञ द्वारा; पुरा—प्राचीनकाल में; अयजत्—पूजा की; प्रभो—हे भगवान्।

आप समस्त गोलक के रक्षक तथा अत्यन्त कीर्तिवान शासक हैं। आपने अहंकारी

तथा मोहग्रस्त वीरों के दर्प को दल कर तथा इस संसार के सभी दैत्यों तथा दानवों को जीत कर भगवान् के हेतु एक बार राजसूय यज्ञ सम्पन्न किया था।

स एवमुत्सिक्तमदेन विद्विषा
दृढं प्रलब्धो भगवानपां पतिः ।
रोषं समुत्थं शमयन्स्वया धिया
व्यवोचदङ्गोपशमं गता वयम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सः—वरुण; एवम्—इस प्रकार; उत्सिक्त—चूर; मदेन—मद से; विद्विषा—शत्रु के द्वारा; दृढम्—अत्यधिक; प्रलब्धः—हँसी उड़ाए जाने पर; भगवान्—पूज्य; अपाम्—जल का; पतिः—स्वामी; रोषम्—क्रोध; समुत्थम्—उठकर; शमयन्—शान्त करते हुए; स्वया धिया—अपने तर्क से; व्यवोचत्—उसने उत्तर दिया; अङ्ग—हे प्रिय; उपशमम्—युद्ध से विरत; गताः—गये हुए; वयम्—हम।

अत्यन्त दंभी शत्रु के द्वारा इस प्रकार उपहास किये जाने पर जल के पूज्य स्वामी को क्रोध तो आया, किन्तु तर्क के बल पर वे उस क्रोध को पी गये और उन्होंने इस प्रकार उत्तर दिया—हे प्रिय, युद्ध के लिए अत्यधिक बूढ़ा होने के कारण अब मैं युद्ध से दूर रहता हूँ।

तात्पर्य :जैसाकि हम देखते हैं, युद्धप्रिय भौतिकतावादी लोग सदैव अकारण ही युद्ध थोप देते हैं।

पश्यामि नान्यं पुरुषात्पुरातनाद्
यः संयुगे त्वां रणमार्गकोविदम् ।
आराधयिष्यत्यसुरर्षभेहि तं
मनस्विनो यं गृणते भवादृशाः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

पश्यामि—देखता हूँ; न—नहीं; अन्यम्—अन्य; पुरुषात्—पुरुष की अपेक्षा; पुरातनात्—अत्यन्त प्राचीन; यः—जो; संयुगे—युद्ध में; त्वाम्—तुमको; रण-मार्ग—युद्ध कला में; कोविदम्—अत्यन्त पटु; आराधयिष्यति—सन्तोष मिलेगा; असुर-ऋषभ—हे असुरों के प्रमुख; इहि—पास जाओ; तम्—उसको; मनस्विनः—बहादुर; यम्—जिसको; गृणते—प्रशंसा करते हैं; भवादृशाः—तुम्हारी तरह।

तुम युद्ध में इतने कुशल हो कि मुझे परम पुरातन पुरुष भगवान् विष्णु के अतिरिक्त कोई ऐसा नहीं दिखता, जो तुम्हें युद्ध में तुष्टि प्रदान कर सके। अतः हे असुरश्रेष्ठ, तुम उन्हीं के पास जाओ, जिनकी तुम जैसे योद्धा भी बड़ाई करते हैं।

तात्पर्य :आक्रामक योद्धाओं को वास्तव में परमेश्वर ही दण्डित करते हैं, क्योंकि वे वृथा ही विश्वशान्ति को भंग करते हैं। अत: वरुण ने हिरण्याक्ष को सलाह दी कि वह अपनी युद्ध-लालसा को विष्णु के साथ युद्ध करके पूरा करे।

तं वीरमारादभिपद्य विस्मयः
शयिष्यसे वीरशये श्वभिर्वृतः ।
यस्त्वद्विधानामसतां प्रशान्तये
रूपाणि धत्ते सदनुग्रहेच्छया ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; वीरम्—परम वीर; आरात्—तुरन्त; अभिपद्य—पहुँचने पर; विस्मयः—गर्व से रहित; शयिष्यसे—तुम सो जाओगे; वीरशये—युद्ध भूमि में; श्वभिः—कुत्तों के द्वारा; वृतः—घिरे हुए; यः—जो; त्वत्-विधानाम्—तुम समान; असताम्—दुष्ट पुरुषों का; प्रशान्तये—मार भगाने; रूपाणि—विविध रूप; धत्ते—धारण करता है; सत्—सत्पुरुषों के लिए; अनुग्रह—अपनी कृपा दिखाने के लिए; इच्छया—इच्छा से।.

वरुण ने आगे कहा—उनके पास पहुँचते ही तुम्हारा सारा अभिमान दूर हो जाएगा और तुम युद्धभूमि में कुत्तों से घिरकर चिर निद्रा में सो जाओगे। तुम जैसे दुष्टों को मार भगाने तथा सत्पुरुषों पर अपनी कृपा प्रदर्शित करने के लिए ही वे वराह जैसे विविध रूपों में अवतरित होते रहते हैं।

तात्पर्य : असुरों को यह पता नहीं रहता कि उनके शरीर पंचतत्त्वों से निर्मित हैं और मरने पर इन्हें कुत्ते तथा गीध आनन्दपूर्वक खा जाएँगे। वरुण ने हिरण्याक्ष को सलाह दी कि वह विष्णु के वराह अवतार के पास जाए जिससे उसकी युद्ध-कामना पूरी हो और उसका बलिष्ठ शरीर छिन्न-भिन्न हो जाय।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के तीसरे स्कन्ध के अन्तर्गत "हिरण्याक्ष की दिग्विजय" नामक सत्रहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter अठारह

भगवान् वराह तथा असुर हिरण्याक्ष के मध्य युद्ध

मैत्रेय उवाच
तदेवमाकर्ण्य जलेशभाषितं
महामनास्तद्विगणय्य दुर्मदः ।
हरेर्विदित्वा गतिमङ्ग नारदाद्
रसातलं निर्विविशे त्वरान्वितः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—परम संत मैत्रेय ने; उवाच—कहा; तत्—वह; एवम्—इस प्रकार; आकर्ण्य—सुनकर; जल-ईश—जल का स्वामी, वरुण का; भाषितम्—शब्द; महा-मनाः—घमंडी; तत्—वे शब्द; विगणय्य—उपेक्षा करके; दुर्मदः—अहंकारी; हरेः—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के; विदित्वा—पता लगाकर; गतिम्—पता; अङ्ग—हे विदुर; नारदात्—नारद से; रसातलम्—समुद्र के नीचे; निर्विविशे—प्रवेश किया; त्वरा-अन्वितः—अत्यन्त वेग से।

मैत्रेय ने आगे कहा—उस घंमडी तथा अभिमानी दैत्य ने वरुण के शब्दों की तनिक भी परवाह नहीं की। हे विदुर, उसे नारद से श्रीभगवान् के बारे में पता लगा और वह अत्यन्त वेग से समुद्र की गहराइयों में पहुँच गया।

तात्पर्य : युद्धप्रिय भौतिकतावादी अपने परम बलशाली शत्रु श्रीभगवान् से भी लड़ने में नहीं डरते। वरुण से यह जानकर कि एक ऐसा योद्धा है, जिससे वह सचमुच लड़ सकता है, वह असुर अत्यन्त प्रोत्साहित हुआ। वह श्रीभगवान् को ढूँढ़ने के लिए उतावला हो उठा जिससे वह युद्ध कर सके, यद्यपि वरुण ने भविष्यवाणी कर दी थी कि विष्णु से युद्ध करने पर वह कुत्तों, सियारों तथा गीधों का भोजन बन जाएगा। चूँकि आसुरी लोग कम बुद्धिमान होते हैं, अत: वे अजित कहे जाने वाले विष्णु से भी लड़ने के लिए तत्पर हो जाते हैं।

ददर्श तत्राभिजितं धराधरं
प्रोन्नीयमानावनिमग्रदंष्ट्रया ।
मुष्णन्तमक्ष्णा स्वरुचोऽरुणश्रिया
जहास चाहो वनगोचरो मृगः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ददर्श—देखा; तत्र—वहाँ; अभिजितम्—विजयी; धरा—पृथ्वी; धरम्—धारण किये हुए; प्रोन्नीयमान—ऊपर उठाई जाकर; अवनिम्—पृथ्वी को; अग्र-दंष्ट्रया—अपनी दाढ़ों की नोक से; मुष्णन्तम्—जो घटा रहा था; अक्ष्णा—अपनी

आँखों से; स्व-रुचः—हिरण्याक्ष का आत्मतेज; अरुण—लाल लाल; श्रिया—चमकीला; जहास—हँसा; च—तथा; अहो—ओह; वन-गोचरः—उभयचर; मृगः—पशु।.

वहाँ उसने सर्वशक्तिमान श्रीभगवान् को उनके वराह रूप में, अपनी दाढ़ों के अग्रभाग पर पृथ्वी को ऊपर की ओर धारण किये तथा अपनी लाल लाल आँखों से उसके समस्त तेज को हरते हुए देखा। इस पर वह असुर हँस पड़ा और बोला, ''ओह! कैसा उभयचर पशु है?''

तात्पर्य : पिछले अध्याय में हमने पूर्ण पुरुषोत्तम के वराह अवतार का वर्णन किया है। जब वराह अपनी दाढ़ों से जल के गर्त में डूबी पृथ्वी को ऊपर उठाने में व्यस्त थे तो यह महा असुर हिरण्याक्ष उनसे मिला और उन्हें पशु कहकर उसने ललकारा। असुरगण भगवान् के अवतारों को नहीं समझ पाते; वे सोचते हैं कि मत्स्य, वराह अथवा कुर्म जैसे अवतार मात्र बड़े बड़े पशु हैं। वे श्रीभगवान् के शरीर को, भले ही वह मनुष्य रूप में क्यों न हो, नहीं समझ पाते और उनके अवतरण की खिल्ली उड़ाते हैं। चैतन्य सम्प्रदाय में नित्यानन्द प्रभु के अवतरण के सम्बन्ध में भ्रान्त आसुरी धारणा है। नित्यानन्द प्रभु का शरीर दिव्य है, किन्तु आसुरी लोग श्री भगवान् के शरीर को हमारे शरीरों के समान भौतिक मानते हैं। अवजानन्ति मां मूढाः—जो अज्ञानी हैं, वे भगवान् के दिव्य रूप को भौतिक मानकर हँसी उड़ाते हैं।

आहैनमेह्यज्ञ महीं विमुञ्च नो
रसौकसां विश्वसृजेयमर्पिता ।
न स्वस्ति यास्यस्यनया ममेक्षतः
सुराधमासादितसूकराकृते ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

आह—हिरण्याक्ष ने कहा; एनम्—भगवान् से; एहि—आओ और लड़ो; अज्ञ—अरे मूर्ख; महीम्—पृथ्वी को; विमुञ्च—छोड़ दो; नः—हमारे लिए; रसा-ओकसाम्—निम्न लोकों के वासियों का; विश्व-सृजा—ब्रह्माण्ड की सृष्टि करने वाले के द्वारा; इयम्—यह पृथ्वी; अर्पिता—अर्पित; न—नहीं; स्वस्ति—कल्याण; यास्यसि—तुम जाओगे; अनया—इसके साथ; मम ईक्षतः—मेरे देखते देखते; सुर-अधम—हे देवताओं में नीच; आसादित—लेकर; सूकर-आकृते—वराह का रूप।.

असुर ने भगवान् को सम्बोधित करते हुए कहा—सूकर का रूप धारण किये हुए हे देवश्रेष्ठ, थोड़ा सुनिये तो। यह पृथ्वी हम अधोलोक के वासियों को सौंपी जा चुकी है, अतः तुम इसे मेरी उपस्थिति में मुझसे बचकर नहीं ले जा सकते।

तात्पर्य : इस श्लोक की टीका करते हुए श्रीधर स्वामी कहते हैं कि यद्यपि वह असुर वराह रूपी श्रीभगवान् का उपहास करना चाहता था, किन्तु वास्तव में उसने अनेक शब्दों से उनकी पूजा की। उदाहरणार्थ, उसने उन्हें वन-गोचर कहकर सम्बोधित किया जिसका अर्थ है, ''जो वन का वासी है,'' किन्तु ''वनगोचर'' का एक दूसरा भी अर्थ है, ''जो जल में लेटा रहता है।'' विष्णु जलशायी हैं, अतः परम पुरुषोत्तम भगवान् का यह सही सम्बोधन है। उस असुर ने उन्हें ''मृग'' कहकर सम्बोधित किया जिससे अनिच्छित यह अभिव्यक्त होता है कि भगवान् की खोज बड़े-बड़े ऋषि मुनि तथा दिव्य ज्ञानी करते रहते हैं। उसने उन्हें ''अज्ञ'' कहकर सम्बोधित किया। श्रीधर स्वामी कहते हैं कि, ''ज्ञ'' का अर्थ ज्ञान है, अतः कोई ऐसा ज्ञान नहीं जो भगवान् को ज्ञात न हो। अतः असुर ने अप्रत्यक्ष रूप से कहा कि विष्णु सर्वज्ञाता हैं। असुर ने उन्हें सुराधम भी कहा। सुर का अर्थ 'देवता' है और अधम का अर्थ है 'सबों' का। वे समस्त देवताओं के भगवान् हैं, अतः वे समस्त देवताओं में श्रेष्ठ हैं। जब असुर ने 'मेरी उपस्थिति' वाक्यांश का प्रयोग किया, तो उसका यही अर्थ था, ''मेरे उपस्थित रहने पर भी आप पृथ्वी को ले जा सकते हैं।'' न स्वस्ति यास्यसि—''जब तक कृपा करके आप इस पृथ्वी को हमारी निगरानी से ले नहीं लेते तब तक हमारा कल्याण नहीं।''

त्वं नः सपत्नैरभवाय किं भृतो
यो मायया हन्त्यसुरान्परोक्षजित् ।
त्वां योगमायाबलमल्पपौरुषं
संस्थाप्य मूढ प्रमृजे सुहृच्छुचः ॥ ४॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; नः—हम सबके; सपत्नैः—हमारे शत्रुओं के द्वारा; अभवाय—मारने के लिए; किम्—क्या ऐसा ही है; भृतः—पालित; यः—जो; मायया—छल से; हन्ति—मारता है; असुरान्—असुर को; परोक्ष-जित्—अदृश्य रहकर जीतने वाला; त्वाम्—तुमको; योगमाया-बलम्—जिसकी शक्ति मोहक शक्ति है; अल्प-पौरुषम्—कम शक्ति वाला; संस्थाप्य—मारकर; मूढ—मूर्ख; प्रमृजे—दूर कर दूँगा; सुहृत्-शुचः—अपने बन्धुओं का शोक।

अरे धूर्त, हमारे शत्रुओं ने हमारे वध के लिए तुम्हें पाला है और तुमने अदृश्य रहकर कुछ असुरों को मार दिया है। अरे मूर्ख! तुम्हारी शक्ति केवल योगमाया है, अतः आज मैं तुम्हें मारकर अपने बन्धुओं का शोक दूर कर दूँगा।

तात्पर्य : असुर ने अभवाय शब्द का प्रयोग किया जिसका अर्थ, ''मारने के लिए'' है। श्रीधर स्वामी की टीका है कि इस 'मारने' का अर्थ मुक्ति दिलाना अर्थात् जन्म-मरण के प्रक्रम को मारना है। भगवान् जन्म-मरण के प्रक्रम को मारते हैं, किन्तु स्वयं अदृश्य बने रहते हैं। भगवान् की अन्त:शक्ति अचिन्त्य है, किन्तु इस शक्ति के नाममात्र के प्रदर्शन से भगवान् की कृपावश अज्ञान से उद्धार हो जाता है। शुच: का अर्थ है शोक या कष्ट। भगवान् अपनी योगमाया से इस भौतिक संसार के सारे दुखों को दूर कर सकते हैं। उपनिषदों (*श्वेताश्वतर उपनिषद* ६.८) में कहा गया है—*परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते*। भगवान् सामान्य मनुष्य को दृष्टिगोचर नहीं होते, किन्तु उनकी शक्तियाँ अनेक प्रकार से कार्यशील रहती हैं। जब असुर संकट में होते हैं, तो वे कहते हैं कि ईश्वर अपने को छिपा रहा है और योगशक्ति से काम कर रहा है। वे सोचते हैं कि यदि ईश्वर उन्हें मिल जाय तो वे उसे मात्र दृष्टिपात से मार डालें। हिरण्याक्ष यही सोचता था इसीलिए उसने भगवान् को ललकारा—''तुमने देवताओं का पक्ष लेकर हमारी जाति को महान् क्षति पहुँचाई है और तुमने अपने को सदा अदृश्य रखते हुए न जाने हमारे कितने ही बन्धु-बान्धवों का वध किया है। अब मैं तुम्हें अपने समक्ष पा गया हूँ, अत: मैं तुम्हें जाने नहीं दूँगा। मैं तुम्हारा वध करके अपने कुटुम्बियों को तुम्हारे योगिक कुकृत्यों से मुक्त करूँगा।''

असुर सदैव ईश्वर को न केवल वचन तथा विचार से मारने के लिए उत्सुक रहते हैं वरन् वे यह भी सोचते हैं कि यदि कोई भौतिक शक्ति एकत्र कर ले तो घातक भौतिक आयुधों से भी ईश्वर को मारा जा सकता है। कंस, रावण तथा हिरण्याक्ष जैसे असुर सदा अपने आपको इतना बलशाली मानते थे कि चाहें तो ईश्वर का वध कर दें। असुर यह नहीं समझ पाते कि ईश्वर अपनी बहुमुखी शक्तियों से इस विलक्षणता से कार्य कर सकते हैं कि वे अपने सनातन धाम गोलोक वृन्दावन में रहकर सर्वत्र उपस्थित रह सकते हैं।

त्वयि संस्थिते गदया शीर्णशीर्ष-
ण्यस्मद्भुजच्युतया ये च तुभ्यम् ।

बलिं हरन्त्यृषयो ये च देवाः
स्वयं सर्वे न भविष्यन्त्यमूलाः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

त्वयि—जब तुम; संस्थिते—मारे जाओगे; गदया—गदा से; शीर्ण—छिन्न भिन्न; शीर्षणि—सिर; अस्मत्-भुज—मेरे हाथ से; च्युतया—छूटी हुई; ये—जो; च—तथा; तुभ्यम्—तुमको; बलिम्—भेंट; हरन्ति—प्रदान करते हैं; ऋषयः—ऋषिगण; ये—जो; च—तथा; देवाः—देवता; स्वयम्—अपने आप; सर्वे—सभी; न—नहीं; भविष्यन्ति—होंगे; अमूलाः—बिना जड़ के, निराधार।

असुर ने आगे कहा—जब मेरी भुजाओं से फेंकी गई गदा द्वारा तुम्हारा सिर फट जाएगा और तुम मर जाओगे तो वे देवता तथा ऋषि जो तुम्हें भक्तिवश नमस्कार करते तथा भेंट चढ़ाते हैं, स्वतः मृत हो जाएँगे जिस प्रकार बिना जड़ के वृक्ष नष्ट हो जाते हैं।

तात्पर्य : जब देवता शास्त्रोक्त विधि से भगवान् का अर्चन करते हैं, तो असुर अत्यन्त विचलित होते हैं। वेदों में नवजिज्ञासु भक्त के लिए नौ प्रकार की भक्ति बताई गई है—यथा ईश्वर के पवित्र नाम का श्रवण तथा जप, इसका सदा स्मरण, माला में हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे का जाप, मन्दिरों में श्रीविग्रह रूप में भगवान् की पूजा करना तथा कृष्णभक्ति में संलग्न रहना जिससे संसार में पूर्ण शान्ति के लिए साधु पुरुषों की संख्या में वृद्धि हो। असुरों को ऐसे कार्य पसंद नहीं है। असुर सदैव ईश्वर तथा उनके भक्तों से ईर्ष्या करते हैं। उनका यह प्रचार रहता है कि मन्दिर या गिरजाघर में पूजा न की जाय और इन्द्रिय-तुष्टि के लिए सारी भौतिक उन्नति की जाय। भगवान् को समक्ष पाकर हिरण्याक्ष अपनी शक्तिशाली गदा से उनका वध करके सदा सदा के लिए निश्चिन्त हो जाना चाहता था। यहाँ पर असुर द्वारा जड़विहीन वृक्ष का उदाहरण अत्यन्त सार्थक है। भक्त लोग मानते हैं कि ईश्वर सबों का मूल है। उनका कथन है कि जिस प्रकार उदर शरीर के भरण-पोषण के लिए ऊर्जा प्रदान करता है उसी प्रकार ईश्वर भौतिक तथा आध्यात्मिक लोकों में प्रकट होने वाली समस्त ऊर्जा का मूल स्रोत है, अतः जिस प्रकार उदर को भोजन-पूर्ति करने से शरीर के सभी अंग सन्तुष्ट होते हैं उसी प्रकार समस्त सुख के स्रोत को तुष्ट करने का एकमात्र दिव्य साधन कृष्ण की भक्ति है। असुर इस स्रोत को उच्छेदित करना चाहते हैं, क्योंकि यदि मूल रूप भगवान् को रुद्ध कर दिया जाए तो भगवान् तथा भक्तों के सारे

कार्यकलाप स्वत: रूक जाएंगे। लेकिन समाज की ऐसी स्थिति से असुरों को अत्यन्त संतोष प्राप्त होता है। वे अपनी इन्द्रियतुष्टि के लिए सदैव ईश्वरविहीन समाज की कामना करते रहते हैं। श्रीधर स्वामी के अनुसार इस श्लोक का अर्थ यह है कि जब श्रीभगवान् असुर को गदाविहीन कर देंगे तो न केवल नवदीक्षित भक्त वरन् ईश्वर के प्राचीन न्याय प्रिय भक्त भी अत्यधिक संतुष्ट होंगे।

स तुद्यमानोऽरिदुरुक्ततोमरै-
दंष्ट्राग्रगां गामुपलक्ष्य भीताम् ।
तोदं मृषन्निरगादम्बुमध्याद्
ग्राहाहतः सकरेणुर्यथेभः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; तुद्यमानः—सताया जाकर; अरि—शत्रु का; दुरुक्त—दुर्वचनों से; तोमरैः—आयुधों से; दंष्ट्र-अग्र—अपनी दाढ़ों के अग्र भाग पर; गाम्—स्थित; गाम्—पृथ्वी को; उपलक्ष्य—देखकर; भीताम्—भयभीत; तोदम्—पीड़ा; मृषन्—सहते हुए; निरगात्—बाहर निकल आया; अम्बु-मध्यात्—जल के भीतर से; ग्राह—घड़ियाल से; आहतः—आक्रमण किया गया; स-करेणुः—हथिनी सहित; यथा—जिस प्रकार; इभः—हाथी।.

यद्यपि भगवान् असुर के तीर सदृश बेधने वाले दुर्वचनों से अत्यन्त पीड़ित हुए थे, किन्तु उन्होंने इस पीड़ा को सह लिया। वे अपनी दाढ़ों के अग्रभाग पर स्थित पृथ्वी को भयभीत देखकर जल में से निकलकर उसी प्रकार बाहर आ गये जिस प्रकार घड़ियाल द्वारा आक्रमण किये जाने पर हाथी अपनी सहचरी हथिनी के साथ बाहर आ जाता है।

तात्पर्य : मायावादी दार्शनिक यह कभी नहीं समझेंगे कि भगवान् के भी संवेदनाएँ होती हैं। यदि कोई उनकी स्तुति करता है, तो भगवान् प्रसन्न होते हैं। इसी प्रकार यदि कोई उनके अस्तित्व को नकारता है या उन्हें गाली देता है, तो वे अप्रसन्न होते हैं। मायावादी दार्शनिक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की निन्दा करते हैं, अत: वे असुर तुल्य ही हैं। उनका कथन है कि ईश्वर के न कोई सिर है, न आकार है, न पाँव, न हाथ तथा न कोई अन्य शारिरिक अंग है। दूसरे शब्दों में, वे यह कहते हैं कि ईश्वर मृत या पंगु है। परमेश्वर के सम्बन्ध में ऐसी भ्रान्त धारणाएँ उनके असंतुष्ट होने के कारण हैं। वे कभी भी ऐसे निराकार वर्णनों से संतुष्ट नहीं होते। यहाँ पर, यद्यपि भगवान् को असुर के मर्मभेदी शब्दों से पीड़ा हो रही थी, किन्तु उन्होंने अपने परम भक्त

देवताओं के सन्तोष के लिए पृथ्वी का उद्धार किया। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि ईश्वर हमारे ही समान संवेदनशील हैं। वे हमारी प्रार्थनाओं से प्रसन्न होते हैं और उनके प्रति दुर्वचनों से अप्रसन्न। वे अपने भक्तों को संरक्षण प्रदान करने के लिए नास्तिकों के दुर्वचन सहने के लिए सदैव तैयार रहते हैं।

तं निःसरन्तं सलिलादनुद्रुतो
हिरण्यकेशो द्विरदं यथा झषः ।
करालदंष्ट्रोऽशनिनिस्वनोऽब्रवीद्
गतह्रियां किं त्वसतां विगर्हितम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; निःसरन्तम्—बाहर निकलते हुए; सलिलात्—जल से; अनुद्रुतः—पीछा किया गया; हिरण्य-केशः—सुनहले बालों वाला; द्विरदम्—हाथी; यथा—जिस प्रकार; झषः—मकर, घड़ियाल; कराल-दंष्ट्रः—अत्यन्त भयावने दाँतों वाला; अशनि-निस्वनः—बिजली के समान कड़कते हुए; अब्रवीत्—बोला; गत-ह्रियाम्—निर्लज्ज; किम्—क्या; तु—निस्सन्देह; असताम्—दुष्टों के लिए; विगर्हितम्—निन्दनीय।

सुनहले बालों तथा भयावने दाँतों वाले उस असुर ने जल से निकलते हुए भगवान् का उसी प्रकार पीछा किया जिस प्रकार कोई घड़ियाल हाथी का पीछा कर रहा हो। उसने बिजली के समान कड़क कर कहा, ''क्या तुम अपने ललकारने वाले प्रतिद्वन्द्वी के समक्ष इस प्रकार भागते हुए लज्जित नहीं हुए हो?'' निर्लज्ज प्राणियों के लिए कुछ भी निन्दनीय नहीं है।

तात्पर्य : जब भगवान् पृथ्वी का उद्धार करने के लिए उसको अपनी भुजाओं में लेकर पानी के बाहर आ रहे थे तो उस असुर ने अपमानसूचक शब्दों के द्वारा उनका उपहास किया, किन्तु भगवान् ने इसकी परवाह नहीं की क्योंकि उन्हें अपने कर्तव्य का बोध था। कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति के लिए कोई भय नहीं रहता। इसी प्रकार जो शक्तिशाली हैं उन्हें अपने शत्रु के उपहास या कटु वचनों से किसी प्रकार का भय नहीं लगता। भगवान् को किसी से डरने की कोई बात नहीं, तो भी वे अपने शत्रु की उपेक्षा करते हुए उसके प्रति दयालु बने रहे। यद्यपि वे एक प्रकार से ललकार से भाग रहे थे, किन्तु पृथ्वी को संकट से बचाने के उद्देश्य से ही उन्होंने हिरण्याक्ष के व्यंग्य-वचनों को सहन कर लिया।

स गामुदस्तात्सलिलस्य गोचरे
विन्यस्य तस्यामदधात्स्वसत्त्वम् ।
अभिष्टुतो विश्वसृजा प्रसूनै-
रापूर्यमाणो विबुधैः पश्यतोऽरेः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (भगवान्); गाम्—पृथ्वी को; उदस्तात्—सतह पर; सलिलस्य—जल की; गोचरे—अपनी दृष्टि के अन्तर्गत; विन्यस्य—रखकर; तस्याम्—पृथ्वी को; अदधात्—सञ्चार किया; स्व—अपना, निज; सत्त्वम्—अस्तित्व; अभिष्टुतः—प्रशंसा की; विश्व-सृजा—ब्रह्मा (ब्रह्माण्ड के सृष्टा) द्वारा; प्रसूनैः—फूलों से; आपूर्यमाणः—प्रसन्न होकर; विबुधैः—देवताओं द्वारा; पश्यतः—देखते हुए; अरेः—शत्रु के।

भगवान् ने पृथ्वी को लाकर जल की सतह पर अपनी दृष्टि के सामने रख छोड़ा और अपनी निजी शक्ति को उसमें स्थानान्तरित कर दिया जिससे वह जल पर तैरती रहे। शत्रु के देखते-देखते, ब्रह्माण्ड के स्त्रष्टा ब्रह्माजी ने उनकी स्तुति की और अन्य देवताओं ने उन पर फूलों की वर्षा की।

तात्पर्य : असुर लोग यह कभी नहीं समझ पाएंगे कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने जल पर पृथ्वी को किस प्रकार तैरा दिया, किन्तु भक्तों के लिए भगवान् का यह कृत्य तनिक भी आश्चर्यजनक नहीं है। न केवल पृथ्वी, वरन् न जाने कितने लाखों-करोड़ों लोक, वायु में तैर रहे हैं, उन्हें तैरने की यह शक्ति ईश्वर ने प्रदान की है; इसकी कोई अन्य व्याख्या नहीं है। भौतिकतावादी यह व्याख्या कर सकते हैं कि सभी लोक गुरुत्वाकर्षण के नियमानुसार तैर रहे हैं, किन्तु यह आकर्षण-नियम परमेश्वर के ही नियन्त्रण पर कार्यशील होता है। *भगवद्गीता* का भी यही कथन है, जिसमें भगवान् के वचन द्वारा पुष्टि की गई है कि चाहे भौतिक नियम हों या प्राकृतिक, अथवा समस्त लोकों की वृद्धि, पालन, उत्पत्ति हो, इन सबके पीछे भगवान् का हाथ है। भगवान् के कार्यकलापों को ब्रह्मा आदि देवता ही समझ सकते हैं, अत: जब उन्होंने भगवान् के असाधारण शौर्य को देखा जिससे वे पृथ्वी को जल की सतह पर रख सके थे तो उन्होंने भगवान् के इस दिव्य कृत्य के लिए उन पर फूलों की बौछार कर दी।

परानुषक्तं तपनीयोपकल्पं
महागदं काञ्चनचित्रदंशम् ।

मर्माण्यभीक्ष्णं प्रतुदन्तं दुरुक्तैः
प्रचण्डमन्युः प्रहसंस्तं बभाषे ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

परा—पीछे से; अनुषक्तम्—पीछा करते हुए; तपनीय-उपकल्पम्—प्रचुर स्वर्ण आभूषण धारण किये हुए; महा-गदम्—भारी गदा सहित; काञ्चन—स्वर्णिम; चित्र—सुन्दर; दंशम्—कवच; मर्माणि—अन्तस्तल; अभीक्ष्णम्—लगातार; प्रतुदन्तम्—बेधकर; दुरुक्तैः—दुर्वचनों से; प्रचण्ड—उग्र; मन्युः—क्रोध; प्रहसन्—हँसते हुए; तम्—उससे; बभाषे—कहा।

शरीर में प्रचुर आभूषण, कंकण तथा सुन्दर स्वर्णिय कवच धारण किये हुए वह असुर एक बड़ी सी गदा लिए भगवान् का पीछा कर रहा था। भगवान् ने उसके भेदने वाले दुर्वचनों को तो सहन कर लिया, किन्तु प्रत्युत्तर में उन्होंने अपना प्रचण्ड क्रोध व्यक्त किया।

तात्पर्य : भगवान् चाहते तो उस असुर को तभी दण्ड दे देते जब वह उनका कटु वचनों से उपहास कर रहा था, किन्तु भगवान् उसको सहन करते रहे जिससे देवता प्रसन्न हों और समझें कि अपना कार्य करते हुए उन्हें असुरों से भयभीत नहीं होना चाहिए। अत: वे अपनी सहनशीलता इसीलिए प्रदर्शित करते रहे जिससे देवताओं का भय दूर हो जाए और वे समझें कि उनकी रक्षा के लिए भगवान् सदैव उपस्थित रहते हैं। असुर द्वारा भगवान् का उपहास कुत्तों के भूकने के समान था; उन्हें उसकी तनिक भी परवाह नहीं थी। वे तो जल में से पृथ्वी के उद्धार-कार्य में व्यस्त थे। भौतिकतावादी असुरों के पास पर्याप्त सोना रहता है और वे यह सोचते हैं कि स्वर्ण की बड़ी मात्रा, भौतिक बल तथा लोकप्रियता उन्हें भगवान् के क्रोध से बचा लेगी।

श्रीभगवानुवाच
सत्यं वयं भो वनगोचरा मृगा
युष्मद्विधान्मृगये ग्रामसिंहान् ।
न मृत्युपाशैः प्रतिमुक्तस्य वीरा
विकत्थनं तव गृह्णन्त्यभद्र ॥ १० ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; सत्यम्—निस्सन्देह; वयम्—हम; भोः—अरे; वन-गोचराः—जंगल में वास करने वाले; मृगाः—प्राणी; युष्मत्-विधान्—तुम्हारे जैसों को; मृगये—मारने के लिए खोज रहा हूँ; ग्राम-सिंहान्—

कुत्ते; न—नहीं; मृत्यु-पाशैः—मृत्यु के फन्दे से; प्रतिमुक्तस्य—बद्धजीवों का; वीराः—वीर पुरुष; विकत्थनम्—आत्मश्लाघा; तव—तुम्हारा; गृह्णन्ति—ध्यान देते हैं; अभद्र—अरे दुष्ट।

भगवान् ने कहा—सचमुच हम जंगल के प्राणी हैं और तुम जैसे ही शिकारी कुत्तों का हम पीछा कर रहे हैं। जो मृत्यु के बन्धन से मुक्त हो चुका है, वह तुम्हारी आत्मश्लाघा से नहीं डरता, क्योंकि तुम मृत्यु-बन्धन के नियमों से बँधे हुए हो।

तात्पर्य : भले ही असुर तथा नास्तिक लोग श्रीभगवान् का लगातार अपमान करें, किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि वे जन्म-मृत्यु के नियमों से बँधे हैं। वे सोचते हैं कि परमेश्वर के अस्तित्व को नकारने मात्र से अथवा प्रकृति के कठोर नियमों का अतिक्रमण करने से वे जन्म-मृत्यु के चंगुल से बच सकते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि ईश्वर की दिव्य प्रकृति को समझ लेने मात्र से मनुष्य भगवान् के धाम लौट सकता है। असुर तथा नास्तिक लोग भगवान् के स्वभाव से परिचित नहीं होना चाहते, फलत: वे जन्म-मृत्यु के बन्धन में पड़े रहते हैं।

एते वयं न्यासहरा रसौकसां
गतह्रियो गदया द्रावितास्ते ।
तिष्ठामहेऽथापि कथञ्चिदाजौ
स्थेयं क्व यामो बलिनोत्पाद्य वैरम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

एते—अपने आप; वयम्—हम; न्यास—धरोहर का; हराः—चोर; रसा-ओकसाम्—रसातल के वासियों का; गत-ह्रियः—निर्लज्ज; गदया—गदा से; द्राविताः—पीछा किया जाकर; ते—तुम्हारा; तिष्ठामहे—हम बैठे रहेंगे; अथ अपि—तो भी; कथञ्चित्—कुछ-कुछ; आजौ—युद्धभूमि में; स्थेयम्—हम ठहर सकें; क्व—कहाँ; यामः—हम जा सकते हैं; बलिना—शक्तिशाली शत्रु से; उत्पाद्य—उत्पन्न करके; वैरम्—शत्रुता।

निस्सन्देह, मैंने रसातलवासियों की धरोहर चुरा ली है और सारी शर्म खो दी है। यद्यपि तुम्हारी शक्तिशाली गदा से मुझे कष्ट हो रहा है, किन्तु मैं जल में कुछ काल तक और रहूँगा क्योंकि तुम जैसे पराक्रमी शत्रु से शत्रुता ठान कर अन्यत्र जाने के लिए मेरे पास कोई ठौर भी नहीं है।

तात्पर्य : असुर को समझ लेना चाहिए था कि ईश्वर को किसी दूसरे स्थान में नहीं भगाया जा सकता था क्योंकि वह सर्वव्यापी है। असुर अपनी अधिकृत भूमि को अपनी सम्पत्ति मानते हैं, किन्तु वास्तव में प्रत्येक वस्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की है। वह जब चाहे कोई भी वस्तु

ले सकता है।

त्वं पद्रथानां किल यूथपाधिपो
घटस्व नोऽस्वस्तय आश्वनूहः ।
संस्थाप्य चास्मान्प्रमृजाश्रु स्वकानां
यः स्वां प्रतिज्ञां नातिपिपर्त्यसभ्यः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; पद्-रथानाम्—पैदल सैनिकों का; किल—निस्सन्देह; यूथप—नायकों का; अधिपः—सरकार; घटस्व—प्रयत्न करो; नः—हमारा; अस्वस्तये—हार के लिए; आशु—शीघ्रतापूर्वक; अनूहः—बिना विचार किए; संस्थाप्य—मार कर; च—तथा; अस्मान्—हमको; प्रमृज—पोछ डालो; अश्रु—आँसू; स्वकानाम्—अपने सम्बन्धियों का; यः—वह जो; स्वाम्—अपना, निज; प्रतिज्ञाम्—प्रतिज्ञा किये हुए वचन; न—नहीं; अतिपिपर्ति—पूरा करते हैं; असभ्यः—सभा के अयोग्य।

तुम पैदल सेना के नायक की तरह हो अतः तुम शीघ्र ही हमें हराने का प्रयत्न करो। तुम अपनी बकवास बन्द कर दो और हमारा वध करके अपने सम्बन्धियों की चिन्ताओं को मिटा दो। कोई भले ही गर्वित हो, किन्तु यदि वह जो अपने दिये गये वचनों (प्रतिज्ञा) को पूरा नहीं कर पाता, सभा में आसन प्राप्त करने का पात्र नहीं है।

तात्पर्य : असुर, भले ही शूरवीर हो और विशाल पैदल सेना का नायक हो, किन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के सामने वह शक्तिहीन रहता है और उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है। अतः भगवान् ने असुर को ललकारा कि भागो नहीं, अपितु मेरा वध करने का अपना वचन पूरा करो।

मैत्रेय उवाच
सोऽधिक्षिप्तो भगवता प्रलब्धश्च रुषा भृशम् ।
आजहारोल्बणं क्रोधं क्रीड्यमानोऽहिराडिव ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—परम ऋषि मैत्रेय ने; उवाच—कहा; सः—असुर ने; अधिक्षिप्तः—अपमानित होकर; भगवता—भगवान् द्वारा; प्रलब्धः—उपहास किया; च—तथा; रुषा—क्रुद्ध; भृशम्—अत्यधिक; आजहार—जुटाया; उल्बणम्—अधिक; क्रोधम्—क्रोध, गुस्सा; क्रीड्यमानः—खेला जाकर; अहि-राट्—विशाल विषधर (सर्प); इव—सदृश।

श्रीमैत्रेय ने कहा—जब श्रीभगवान् ने उस राक्षस को इस प्रकार ललकारा तो वह क्रुद्ध और क्षुब्ध हुआ और क्रोध से इस प्रकार काँपने लगा, जिस प्रकार छेड़ा गया हुआ विषधर सर्प।

तात्पर्य : सामान्य पुरुषों के समक्ष नाग (सर्प) अत्यन्त ड़रावना हो जाता है, किन्तु सँपेरे के समक्ष तो वह खेलने की वस्तु बन जाता है। इसी तरह भले ही कोई असुर अपने प्रभाव क्षेत्र में कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, किन्तु भगवान् के समक्ष वह निरीह होता है। रावण देवताओं के समक्ष अत्यन्त भयावना व्यक्ति था, किन्तु जब वह भगवान् रामचद्र के समक्ष आया तो काँप रहा था और उसने अपने देव शिवजी से प्रार्थना की, किन्तु कोई लाभ नहीं हुआ।

सृजन्नमर्षितः श्वासान्मन्युप्रचलितेन्द्रियः ।
आसाद्य तरसा दैत्यो गदया न्यहनद्धरिम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

सृजन्—निकालते हुए; अमर्षितः—अत्यन्त क्रुद्ध; श्वासान्—साँसें; मन्यु—क्रोध से; प्रचलित—विक्षुब्ध; इन्द्रियः—जिसकी इन्द्रियाँ; आसाद्य—आक्रमण करके; तरसा—शीघ्रता से; दैत्यः—असुर; गदया—गदा से; न्यहनत्—वार किया; हरिम्—भगवान् हरि पर।

क्रोध के मारे सारे अंगों को कँपाते तथा फुफकारता हुआ वह राक्षस तुरन्त भगवान् के ऊपर झपट पड़ा और उस ने अपनी शक्तिशाली गदा से उन पर प्रहार किया।

भगवांस्तु गदावेगं विसृष्टं रिपुणोरसि ।
अवञ्चयत्तिरश्चीनो योगारूढ इवान्तकम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

भगवान्—भगवान्; तु—लेकिन; गदा-वेगम्—गदा के प्रहार को; विसृष्टम्—चलाया गया; रिपुणा—शत्रु द्वारा; उरसि—वक्षस्थल पर; अवञ्चयत्—धोखा देते हुए; तिरश्चीनः—एक ओर; योग-आरूढः—सिद्ध योगी; इव—सदृश; अन्तकम्—मृत्यु।

किन्तु भगवान् ने एक ओर सरक कर शत्रु द्वारा अपने वक्षस्थल पर चलाई गई गदा के प्रखर प्रहार को उसी प्रकार झुठला दिया जिस प्रकार सिद्ध योगी मृत्यु को चकमा दे देता है।

तात्पर्य : यहाँ यह उदाहरण दिया गया है कि परम योगी प्राकृतिक नियमों से प्रदत्त मृत्यु को भी जीत सकता है। भगवान् के दिव्य शरीर पर शक्तिशाली गदा से प्रहार करना असुर के लिए निष्प्रयोजन होता है, क्योंकि भगवान् के शौर्य से कोई पार नहीं पा सकता। सिद्ध योगी प्रकृति के नियमों से मुक्त होते हैं, अतः उन पर मृत्यु का भी वश नहीं चलता। ऊपर-ऊपर से

ऐसा लगता है कि योगी पर मृत्यु का प्रहार हो रहा है, किन्तु भगवान् की सेवा करते रहने के लिए वह उन की कृपा से ऐसे अनेक प्रहारों पर विजय प्राप्त कर लेता है। चूँकि भगवान् अपने शौर्य के बल पर स्वच्छन्द रहते हैं, अत: भक्त भी उनके अनुग्रह से उनकी सेवा के लिए जीवित रहते हैं।

पुनर्गदां स्वामादाय भ्रामयन्तमभीक्ष्णशः ।
अभ्यधावद्धरिः क्रुद्धः संरम्भाद्दष्टदच्छदम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

पुनः—फिर; गदाम्—गदा; स्वाम्—अपना; आदाय—लेकर; भ्रामयन्तम्—घुमाता हुआ; अभीक्ष्णशः—बारम्बार; अभ्यधावत्—भेंट करने के लिए दौड़ा; हरिः—श्रीभगवान्; क्रुद्धः—नाराज; संरम्भात्—क्रोध में; दष्ट—काटता हुआ, चबाता हुआ; दच्छदम्—अपना होठ।

तब श्री भगवान् अपना क्रोध प्रदर्शित करते हुए उस राक्षस की ओर झपटे जो क्रोध के कारण अपने होठ चबा रहा था। उसने फिर से अपनी गदा उठाई और उसे बारम्बार घुमाने लगा।

ततश्च गदयारातिं दक्षिणस्यां भ्रुवि प्रभुः ।
आजघ्ने स तु तां सौम्य गदया कोविदोऽहनत् ॥ १७॥

शब्दार्थ

ततः—तब; च—तथा; गदया—अपनी गदा से; अरातिम्—शत्रु को; दक्षिणस्याम्—दाईं ओर; भ्रुवि—भौंह पर; प्रभुः—भगवान् ने; आजघ्ने—प्रहार किया; सः—भगवान्; तु—लेकिन; ताम्—गदा; सौम्य—हे भद्र विदुर; गदया—अपनी गदा से; कोविदः—कुशल; अहनत्—उसने अपने को बचा लिया।

तब भगवान् ने अपनी गदा से शत्रु की दाहिनी भौंह पर प्रहार किया, किन्तु वह असुर युद्ध में कुशल था, इसलिए, हे भद्र विदुर, उसने अपनी गदा की चाल से अपने आपको बचा लिया।

एवं गदाभ्यां गुर्वीभ्यां हर्यक्षो हरिरेव च ।
जिगीषया सुसंरब्धावन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; गदाभ्याम्—अपनी गदाओं से; गुर्वीभ्याम्—विशाल; हर्यक्षः—हर्यक्ष नामक असुर (हिरण्याक्ष); हरिः—भगवान् हरि; एव—निश्चय ही; च—तथा; जिगीषया—विजय की लालसा से; सुसंरब्धौ—क्रुद्ध; अन्योन्यम्—परस्पर; अभिजघ्नतुः—उन्होंने प्रहार किया।

इस प्रकार असुर हिरण्याक्ष तथा भगवान् हरि ने एक दूसरे को जीतने की इच्छा से क्रुद्ध होकर अपनी अपनी विशाल गदाओं से एक-दूसरे पर प्रहार किया।

तात्पर्य : हर्यक्ष हिरण्याक्ष का दूसरा नाम है।

तयोः स्पृधोस्तिग्मगदाहताङ्गयोः
क्षतास्रवघ्राणविवृद्धमन्य्वोः ।
विचित्रमार्गांश्चरतोर्जिगीषया
व्यभादिलायामिव शुष्मिणोर्मृधः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

तयोः—उन दोनों में; स्पृधोः—दोनों प्रतिस्पर्धा करने वाले; तिग्म—नुकीली; गदा—गदाओं से; आहत—घायल; अङ्गयोः—उनके शरीर; क्षत-आस्रव—घावों से बहता रक्त; घ्राण—गन्ध; विवृद्ध—बढ़ गई; मन्य्वोः—क्रोध; विचित्र—अनेक प्रकार के; मार्गान्—चालें; चरतोः—करते हुए; जिगीषया—जीतने की इच्छा से; व्यभात्—के समान प्रतीत होता था; इलायाम्—गाय (अथवा पृथ्वी) के लिए; इव—सदृश; शुष्मिणोः—दो साँड़ों की; मृधः—मुठभेड़।

दोनों योद्धाओं में तीखी स्पर्धा थी, दोनों के शरीरों पर एक दूसरे की नुकीली गदाओं से चोटें लगी थीं और अपने-अपने शरीर से बहते हुए रक्त की गन्ध से वे अधिकाधिक क्रुद्ध हो चले थे। जीतने की उत्कण्ठा से वे तरह-तरह की चालें चल रहे थे और उनकी यह मुठभेड़ वैसी ही प्रतीत होती थी जैसे किसी गाय के लिए दो बलवान् साँड़ लड़ रहे हों।

तात्पर्य : यहाँ पर पृथ्वीलोक को इला कहा गया है। पृथ्वी पहले इलावृत-वर्ष कहलाती थी, किन्तु जब महाराज परीक्षित ने पृथ्वी पर शासन किया, तो यह भारतवर्ष कहलाती थी। वास्तव में भारतवर्ष पूरे लोक का नाम है, किन्तु कालान्तर में भारतवर्ष से भारत (इंडिया) का बोध होने लगा है। जिस प्रकार कुछ काल पूर्व भारत का विभाजन पाकिस्तान तथा हिन्दुस्तान में हुआ उसी प्रकार पृथ्वी पहले इलावृत-वर्ष कहलाती थी, किन्तु ज्यों ज्यों समय बीतता गया इसकी अनेक राष्ट्रों की सीमाओं में बटंता गया।

दैत्यस्य यज्ञावयवस्य माया-
गृहीतवाराहतनोर्महात्मनः ।

कौरव्य मह्यां द्विषतोर्विमर्दनं
दिदृक्षुरागादृषिभिर्वृत: स्वराट् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

दैत्यस्य—असुर का; यज्ञ-अवयवस्य—श्रीभगवान् का (यज्ञ जिसके शरीर का एक अंग है); माया—अपनी शक्ति से; गृहीत—धारण किया गया; वाराह—सूकर का; तनो:—जिसका रूप; महा-आत्मन:—परमेश्वर का; कौरव्य—हे विदुर (कौरवों के वंशज); मह्याम्—संसार के कल्याण हेतु; द्विषतो:—दोनों शत्रुओं का; विमर्दनम्—युद्ध; दिदृक्षु:—देखने के लिए इच्छुक; आगात्—आये; ऋषिभि:—ऋषियों द्वारा; वृत:—साथ साथ आये हुए; स्वराट्—ब्रह्मा।

हे कुरुवंशी, वाराह रूप में प्रकट श्री भगवान् तथा असुर के मध्य विश्व के निमित्त होने वाले इस भयंकर युद्ध को संसार के हेतु देखने के लिए ब्रह्माण्ड के परम स्वतन्त्र देवता ब्रह्मा अपने अनुयायियों सहित आये।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तथा असुर के युद्ध की तुलना गाय के लिए लड़ने वाले दो साँड़ों के युद्ध से की गई है। पृथ्वी लोक को गो अर्थात् गाय भी कहा जाता है। जिस प्रकार गाय से संसर्ग करने के लिए दो साँड़ परस्पर लड़ते हैं उसी प्रकार से इस पृथ्वी पर आधिपत्य जमाने के लिए असुरों तथा परमेश्वर या उनके प्रतिनिधियों के मध्य अनवरत संग्राम चलता रहता है। यहाँ पर भगवान् को *यज्ञावयव* के रूप में विशेषरूप से वर्णित किया गया है। किसी को यह नहीं सोचना चाहिए कि भगवान् का शरीर सामान्य शूकर का था। वे कोई भी रूप धारण कर सकते हैं और वे ऐसे रूपों से नित्य युक्त रहते हैं। उन्हीं से सारे रूपों का उदय हुआ है। उनके वराद्र रूपी शरीर को सामान्य शूकर नहीं मानना चाहिए, उनका शरीर वास्तव में यज्ञ से पूर्ण रहता है। यज्ञ (हवि) विष्णु को प्रदान किया जाता है। यज्ञ का अर्थ है भगवान् विष्णु का शरीर। उनका शरीर भौतिक नहीं होता, अत: उन्हें सामान्य शूकर नहीं समझना चाहिए।

इस श्लोक में ब्रह्मा को स्वराट् कहा गया है। वस्तुत: पूर्ण स्वतन्त्रता तो भगवान् को ही प्राप्त है, किन्तु भगवान् का अंश होने से प्रत्येक जीवात्मा में कुछ न कुछ स्वतन्त्रता निहित है। ब्रह्मा को समस्त जीवात्माओं में प्रमुख होने के कारण अन्यों की अपेक्षा कुछ अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त है। वे भगवान् श्रीकृष्ण के प्रतिनिधि हैं और सांसारिक व्यापारों की अध्यक्षता करने के लिए नियुक्त हैं। अन्य सभी देवता उनके लिए कार्य करते हैं इसीलिए उन्हें यहाँ स्वराट् कहा गया है। महान् ऋषि तथा योगी सदैव उनके साथ-साथ रहते हैं, अत: वे सभी, असुर तथा

भगवान् का युद्ध देखने के लिए आये थे।

आसन्नशौण्डीरमपेतसाध्वसं
कृतप्रतीकारमहार्यविक्रमम् ।
विलक्ष्य दैत्यं भगवान्सहस्रणी-
र्जगाद नारायणमादिसूकरम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

आसन्न—प्राप्त करके; शौण्डीरम्—शक्ति; अपेत—विहीन; साध्वसम्—भय; कृत—करके; प्रतीकारम्—विरोध; अहार्य—निर्विरोध होकर; विक्रमम्—शक्ति युक्त; विलक्ष्य—देखकर; दैत्यम्—असुर को; भगवान्—पूज्य ब्रह्मा ने; सहस्र-नीः—हजारों ऋषियों के नायक; जगाद—सम्बोधित किया; नारायणम्—भगवान् नारायण को; आदि—मूल; सूकरम्—सूकर रूप।

युद्धस्थल में पहुँचकर हजारों ऋषियों तथा योगियों के नायक ब्रह्माजी ने असुर को देखा, जिसने अभूतपूर्व शक्ति प्राप्त कर ली थी जिससे कोई भी उससे युद्ध नहीं कर सकता था। तब ब्रह्मा ने आदि सूकर रूप धारण करने वाले नारायण को सम्बोधित किया।

एष ते देव देवानामङ्घ्रिमूलमुपेयुषाम् ।
विप्राणां सौरभेयीणां भूतानामप्यनागसाम् ॥ २२ ॥
आगस्कृद्भयकृद्दुष्कृदस्मद्राद्धवरोऽसुरः ।
अन्वेषन्नप्रतिरथो लोकानटति कण्टकः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा उवाच—ब्रह्माजी ने कहा; एषः—यह असुर; ते—आपका; देव—हे भगवान्; देवानाम्—देवताओं का; अङ्घ्रि-मूलम्—आपके चरण; उपेयुषाम्—शरणागत; विप्राणाम्—ब्राह्मणों को; सौरभेयीणाम्—गायों को; भूतानाम्—सामान्य जीवात्माओं को; अपि—भी; अनागसाम्—निर्दोष; आगः-कृत्—अपराधी; भय-कृत्—भय का कारण; दुष्कृत्—दोषी; अस्मत्—मुझसे; राद्ध-वरः—वरदान प्राप्त; असुरः—असुर; अन्वेषन्—ढूँढ़ते हुए; अप्रतिरथः—योग्य जोड़ न होने से; लोकान्—समूचे ब्रह्माण्ड में; अटति—घूमता है; कण्टकः—सबों के लिए काँटे के समान बना हुआ।

ब्रह्माजी ने कहा—हे भगवन्, यह राक्षस, देवताओं, ब्राह्मणों, गौवों तथा आपके चरणकमलों में समर्पित निष्कलुष व्यक्तियों के लिए निरन्तर चुभने वाला काँटा बना हुआ है। उन्हें अकारण सताते हुए यह भय का कारण बन गया है। इन्हें अकारण सताते हुए यह भय का कारण बन गया है। मुझसे वरदान प्राप्त करने के कारण यह असुर बना है और समस्त भूमण्डल में अपनी जोड़ के योद्धा की तलाश में इस अशुभ कार्य के लिए

घूमता रहता है।

तात्पर्य : जीवात्मा दो प्रकार के होते हैं—एक सुर अर्थात् देवता कहलाती हैं और दूसरी असुर या दैत्य। असुर प्राय: देवताओं की पूजा करते हैं और ऐसे अनेक उदाहरण प्राप्त हैं कि पूजा से उन्हें इन्द्रियतृप्ति की असीम शक्ति प्राप्त हुई है। इसी कारण से ब्राह्मणों, देवताओं तथा अन्य निर्दोष जीवात्माओं को कष्ट मिलता है। वे इनके दोष निकालते रहते हैं और उनके लिए निरन्तर भय का कारण बने रहते हैं। आसुरी ढंग ही ऐसा है कि देवताओं से शक्ति प्राप्त करके उन्हीं को सताया जाय। शिवजी के एक महान् भक्त का उदाहरण मिलता है, जिसे शिव ने यह वर दिया था कि वह जिस किसी के सिर को छू देगा, उस का सिर धड़ से अलग हो जाएगा। ज्यों ही उसे यह वर प्राप्त हुआ उसने शिवजी का ही सिर छूना चाहा। यही उनकी रीति है। किन्तु भगवान् के भक्त कभी इन्द्रियतृप्ति के लिए कोई वर नहीं चाहते। यदि उन्हें मुक्ति भी भेंट की दी जाती है वे उसे अस्वीकार कर देते हैं। वे तो भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहने में प्रसन्न रहते हैं।

मैनं मायाविनं दृप्तं निरङ्कुशमसत्तमम् ।
आक्रीड बालवद्देव यथाशीविषमुत्थितम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

मा—मत; एनम्—उसको; माया-विनम्—माया करने वाला; दृप्तम्—हेकड़ीबाज; निरङ्कुशम्—आत्मनिर्भर; असत्-तमम्—अत्यन्त दुष्ट; आक्रीड—खेल करें; बाल-वत्—बच्चे के समान; देव—हे भगवान्; यथा—जिस प्रकार; आशीविषम्—सर्प; उत्थितम्—जगा हुआ।

ब्रह्माजी ने आगे कहा—हे भगवन्, इस सर्पतुल्य असुर से खेल करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह सदैव मायावी करतब में दक्ष तथा हेकड़ी बाज है, साथ ही निरंकुश एवं अत्यधिक दुष्ट भी।

तात्पर्य : जब सर्प मारा जाता है, तो कोई दुखी नहीं होता। देहातों के लड़के अब भी साँप को पूँछ से पकड़ कर कुछ समय तक खेल करते हैं और फिर उसे मार डालते हैं। इसी प्रकार भगवान् चाहते तो असुर को तुरन्त मार डालते, किन्तु वे उससे उसी प्रकार खेल रहे थे जैसे साँप को मारने के पहले लड़के उससे खेल करते हैं। फिर भी ब्रह्मा ने प्रार्थना की कि चूँकि

यह असुर अत्यन्त दुष्ट है और साँप से भी अधिक त्याज्य है, अत: उसके साथ खिलवाड़ करने की आवश्यकता नहीं है। वे चाहते थे कि उसका तुरन्त वध कर दिया जाय।

न यावदेष वर्धेत स्वां वेलां प्राप्य दारुणः ।
स्वां देव मायामास्थाय तावज्जह्यघमच्युत ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

न यावत्—इसके पूर्व कि; एषः—यह असुर; वर्धेत—बढ़े; स्वाम्—स्वतः; वेलाम्—आसुरी वेला; प्राप्य—प्राप्त करके; दारुणः—भयंकर, दुर्जय; स्वाम्—निजी; देव—हे भगवान्; मायाम्—अन्तरंगा शक्ति; आस्थाय—प्रयोग करके; तावत्—तुरन्त; जहि—मार डालें; अघम्—पापी; अच्युत—हे अच्युत या अमोघ।

ब्रह्माजी ने आगे कहा—हे भगवान्, आप अच्युत हैं। कृपा करके इस पापी असुर को इसके पूर्व कि आसुरी घड़ी आए और यह अपने अनुकूल दूसरा भयंकर शरीर धारण कर सके, आप इसका वध कर दें। निस्सन्देह आप इसे अपनी अन्तरंगा शक्ति से मार सकते हैं।

एषा घोरतमा सन्ध्या लोकच्छम्बट्करी प्रभो ।
उपसर्पति सर्वात्मन्सुराणां जयमावह ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एषा—यह; घोर-तमा—परम अँधेरी; सन्ध्या—सायंकाल; लोक—संसार; छम्बट्-करी—विनाशकारी; प्रभो—हे भगवान्; उपसर्पति—पास आती है; सर्व-आत्मन्—समस्त आत्माओं का आत्मा, परमात्मा; सुराणाम्—देवताओं का; जयम्—विजय; आवह—लाएं।

हे भगवन्, संसार को आच्छादित करने वाली अत्यन्त अँधेरी सन्ध्या वेला निकट आ रही है चूँकि आप सभी आत्माओं के आत्मा हैं, अत: आप इसका वध करके देवताओं को विजयी बनाएँ।

अधुनैषोऽभिजिन्नाम योगो मौहूर्तिको ह्यगात् ।
शिवाय नस्त्वं सुहृदामाशु निस्तर दुस्तरम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

अधुना—इस समय; एषः—यह; अभिजित् नाम—अभिजित कहलाने वाला; योगः—शुभ; मौहूर्तिकः—घड़ी; हि—निस्सन्देह; अगात्—प्राय: बीत चुकी है; शिवाय—कल्याण के लिए; नः—हम सबों के; त्वम्—तुम (आप); सुहृदाम्—अपने मित्रों का; आशु—तुरन्त; निस्तर—निपट लीजिये; दुस्तरम्—दुर्जय शत्रु।

विजय के लिए सर्वाधिक उपयुक्त अभिजित नामक शुभ मुहूर्त (घड़ी) का योग

दोपहर से हो चुका है और अब बीतने ही वाला है, अतः अपने मित्रों के हित में आप इस दुर्जय शत्रु का अविलम्ब सफाया कर दें।

दिष्ट्या त्वां विहितं मृत्युमयमासादितः स्वयम् ।
विक्रम्यैनं मृधे हत्वा लोकानाधेहि शर्मणि ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—**सौभाग्यवश**; त्वाम्—**तुमको**; विहितम्—**विहित**; मृत्युम्—**मृत्यु**; अयम्—**यह असुर**; आसादितः—**आया है**; स्वयम्—**स्वेच्छा से**; विक्रम्य—**अपना शौर्य प्रदर्शन करके**; एनम्—**उसको**; मृधे—**द्वन्द्व में**; हत्वा—**मारकर**; लोकान्—**लोकों को**; आधेहि—**स्थापित करें**; शर्मणि—**शान्ति में**।.

सौभाग्य से यह असुर स्वेच्छा से आपके पास आया है और आपके द्वारा ही इसकी मृत्यु विहित है, अतः आप इसे अपने ढंग से युद्ध में मारिये और लोकों में शान्ति स्थापित कीजिये।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तीसरे स्कन्ध के अन्तर्गत ''भगवान् वराह तथा हिरण्याक्ष के मध्य युद्ध'' नामक अठारहवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter उन्नीस

असुर हिरण्याक्ष का वध

मैत्रेय उवाच
अवधार्य विरिञ्चस्य निर्व्यलीकामृतं वचः ।
प्रहस्य प्रेमगर्भेण तदपाङ्गेन सोऽग्रहीत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; अवधार्य—सुनकर; विरिञ्चस्य—ब्रह्माजी का; निर्व्यलीक—समस्त पापों से मुक्त; अमृतम्—अमृतमय; वचः—शब्द; प्रहस्य—खूब हँसकर; प्रेम-गर्भेण—प्रेम से पूरित; तत्—वे शब्द; अपाङ्गेन—चितवन से; सः—श्रीभगवान् ने; अग्रहीत्—स्वीकार किया।

श्री मैत्रेय ने कहा—स्त्रष्टा ब्रह्मा के निष्पाप, निष्कपट तथा अमृत के समान मधुर वचनों को सुनकर भगवान् जीभरकर हँसे और उन्होंने प्रेमपूर्ण चितवन के साथ उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

तात्पर्य : *निर्व्यलीक* शब्द अत्यन्त सार्थक है। देवताओं अथवा भक्तों की प्रार्थनाएँ निष्कपट होती हैं, किन्तु असुरों की प्रार्थनाएँ सदा कपटपूर्ण होती हैं। ब्रह्मा से वर प्राप्त करके हिरण्याक्ष अत्यन्त शक्तिशाली बना, किन्तु वर प्राप्त करने के बाद अपने पापपूर्ण मनोभावों के कारण उसने उत्पात प्रारम्भ कर दिया। ब्रह्मा तथा अन्य देवताओं द्वारा की गई प्रार्थनाओं की तुलना असुरों की प्रार्थनाओं से नहीं करनी चाहिए। देवों का अभिप्राय भगवान् को प्रसन्न करना था, अत: भगवान् हँस पड़े और असुर को मारने की उनकी प्रार्थना उन्होंने स्वीकार कर ली। असुर कभी भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की प्रशंसा नहीं करना चाहते, क्योंकि उनको इनका पता भी नहीं हैं, अत: वे देवताओं के पास ही जाते हैं। *भगवद्गीता* में इस कृत्य की निन्दा की गई है। जो लोग देवताओं के पास जाकर पापपूर्ण कृत्यों में उन्नति के लिए प्रार्थना करते हैं, वे बुद्धि से विहीन माने गये हैं। असुरों की बुद्धि इसीलिए मारी जाती है, क्योंकि उन्हें इसका पता नहीं रहता कि उनका हित वास्तव में किसमें है। यदि उन्हें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की जानकारी होती भी है, तो वे उनके पास नहीं जाते, वे श्रीभगवान् से मनोवांछित वर प्राप्त भी नहीं कर सकते, क्योंकि उनके उद्देश्य सदा पापपूर्ण रहते हैं। कहा जाता है कि बंगाल में डाकू अन्यों की सम्पत्ति लूटने की अपनी पापपूर्ण कामनाओं की पूर्ति के लिए देवी काली की पूजा करते थे,

किन्तु वे विष्णु मन्दिर में कभी नहीं जाते थे, क्योंकि विष्णु की प्रार्थना करने से उनके मनोरथ पूरे न हो पाते। अत: श्रीभगवान् के भक्तों या देवताओं की प्रार्थनाएँ सदैव निष्कपट होती हैं।

ततः सपत्नं मुखतश्चरन्तमकुतोभयम् ।
जघानोत्पत्य गदया हनावसुरमक्षजः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; सपत्नम्—शत्रु; मुखतः—समक्ष; चरन्तम्—विचरण करते हुए; अकुतः-भयम्—निर्भीक; जघान—प्रहार किया; उत्पत्य—उछल कर; गदया—अपनी गदा से; हनौ—ठोड़ी पर; असुरम्—असुर; अक्ष-जः—ब्रह्मा के नथुने से उत्पन्न भगवान् ने।

ब्रह्मा के नथुने से प्रकट भगवान् उछल पड़े और अपने सामने निर्भय होकर विचरण करने वाले अपने असुर शत्रु हिरण्याक्ष की ठोड़ी पर उन्होंने अपनी गदा से प्रहार किया।

सा हता तेन गदया विहता भगवत्करात् ।
विघूर्णितापतद्रेजे तदद्भुतमिवाभवत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सा—वह गदा; हता—प्रहार की गई; तेन—हिरण्याक्ष द्वारा; गदया—उसकी गदा से; विहता—छुट गयी; भगवत्—श्रीभगवान् के; करात्—हाथ से; विघूर्णिता—घूमती हुई; अपतत्—गिर पड़ी; रेजे—चमक रही थी; तत्—वह; अद्भुतम्—विचित्र; इव—निस्सन्देह; अभवत्—था।

किन्तु असुर की गदा से टकराकर भगवान् की गदा उनके हाथ से छिटक गई और घूमती हुई जब वह नीचे गिरी तो अत्यन्त मनोरम लग रही थी। यह अद्भुत दृश्य था, क्योंकि गदा विचित्र ढंग से प्रकाशमान थी।

स तदा लब्धतीर्थोऽपि न बबाधे निरायुधम् ।
मानयन्स मृधे धर्मं विष्वक्सेनं प्रकोपयन् ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

सः—उस हिरण्याक्ष ने; तदा—तब; लब्ध-तीर्थः—सुअवसर पाकर; अपि—यद्यपि; न—नहीं; बबाधे—आक्रमण किया; निरायुधम्—अस्त्र-शस्त्र विहीन; मानयन्—आदर करते हुए; सः—हिरण्याक्ष; मृधे—युद्ध में; धर्मम्—युद्ध की आचार संहिता; विष्वक्सेनम्—श्रीभगवान् ने; प्रकोपयन्—कुपित हो करके।

यद्यपि हिरण्याक्ष को अपने निरस्त्र शत्रु पर बिना किसी रुकावट के वार करने का अच्छा अवसर प्राप्त हुआ था, किन्तु उसने युद्ध-धर्म का आदर किया जिससे कि श्रीभगवान् का रोष बढ़ जाए।

गदायामपविद्धायां हाहाकारे विनिर्गते ।
मानयामास तद्धर्मं सुनाभं चास्मरद्विभुः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

गदायाम्—ज्योंही उनकी गदा; अपविद्धायाम्—गिरी; हाहा-कारे—हाहाकार, कुहराम; विनिर्गते—मच गया; मानयाम् आस—स्वीकार किया; तत्—हिरण्याक्ष की; धर्मम्—सत्यता; सुनाभम्—सुदर्शन चक्र; च—तथा; अस्मरत्—स्मरण किया; विभुः—श्रीभगवान् ने।

ज्योंही भगवान् की गदा भूमि पर गिर गई और देखने वाले देवताओं तथा ऋषियों के समूह में हाहाकार मच गया, त्योंही श्रीभगवान् ने असुर की धर्मप्रियता की प्रशंसा की और फिर अपने सुदर्शन चक्र का आवाहन किया।

तं व्यग्रचक्रं दितिपुत्राधमेन
स्वपार्षदमुख्येन विषज्जमानम् ।
चित्रा वाचोऽतद्विदां खेचराणां
तत्र स्मासन्स्वस्ति तेऽमुं जहीति ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तम्—श्रीभगवान् को; व्यग्र—घूमते हुए; चक्रम्—जिसका चक्र; दिति-पुत्र—दिति का पुत्र; अधमेन—नीच; स्व-पार्षद—अपने सहयोगियों का; मुख्येन—प्रमुख सहित; विषज्जमानम्—खेलते हुए; चित्राः—विविध; वाचः—अभिव्यक्तियाँ; अ-तत्-विदाम्—न जानने वालों का; खे-चराणाम्—आकाश में उड़ते हुए; तत्र—वहाँ; स्म आसन्—घटित हुआ; स्वस्ति—कल्याण; ते—आपका; अमुम्—उसको; जहि—मार डालें; इति—इस प्रकार।

जब चक्र भगवान् के हाथों में घूमने लगा और वे अपने वैकुण्ठवासी पार्षदों के मुखिया से, जो दिति के नीच पुत्र हिरण्याक्ष के रूप में प्रकट हुआ था, खेलने लगे तो अपने-अपने विमानों से देखने वाले देवता इत्यादि प्रत्येक दिशा से विचित्र-विचित्र शब्द निकालने लगे। उन्हें भगवान् की वास्तविकता ज्ञात न थी, अतः वे उद्घोष करने लगे ''आपकी जय हो, कृपा करके उसे मार डालें, अब उसके साथ अधिक खिलवाड़ न करें।''

स तं निशाम्यात्तरथाङ्गमग्रतो
व्यवस्थितं पद्मपलाशलोचनम् ।
विलोक्य चामर्षपरिप्लुतेन्द्रियो
रुषा स्वदन्तच्छदमादशच्छ्वसन् ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सः—उस असुर ने; तम्—श्रीभगवान् को; निशाम्य—देखकर; आत्त-रथाङ्गम्—सुदर्शन चक्र धारण किए हुए; अग्रतः—समक्ष; व्यवस्थितम्—खड़े हुए; पद्म—कमल-पुष्प; पलाश—पंखड़ियाँ; लोचनम्—नेत्र; विलोक्य—देखकर; च—यथा; अमर्ष—क्रोध से; परिप्लुत—तिलमिलाई हुई; इन्द्रियः—उसकी इन्द्रियाँ; रुषा—अत्यन्त रोष से; स्व-दन्त-छदम्—अपने ही होंठ; आदशत्—काट लिया; श्वसन्—फुफकारता।

जब असुर ने कमल की पंखड़ियों जैसे नेत्र वाले श्रीभगवान् को सुदर्शन चक्र से युक्त अपने समक्ष खड़ा देखा तो क्रोध के मारे उसके अंग तिलमिला उठे। वह साँप की तरह फुफकारने लगा और अत्यन्त क्रोध में अपने ही होठ चबाने लगा।

करालदंष्ट्रश्चक्षुर्भ्यां सञ्चक्षाणो दहन्निव ।
अभिप्लुत्य स्वगदया हतोऽसीत्याहनद्धरिम् ॥ ८॥

शब्दार्थ

कराल—भयावने; दंष्ट्रः—दाढ़ों वाले; चक्षुर्भ्याम्—दोनों आँखों से; सञ्चक्षाणः—घूरते हुए; दहन्—जलता हुआ; इव—मानो; अभिप्लुत्य—आक्रमण करके; स्व-गदया—अपनी गदा से; हतः—बधे हुए; असि—तुम हो; इति—इस प्रकार; आहनत्—प्रहार किया; हरिम्—हरि पर।

भयावनी दाढ़ों वाला वह असुर श्रीभगवान् को इस प्रकार घूर रहा था मानो वह उन्हें भस्म कर देगा। उसने हवा में उछलकर भगवान् पर अपनी गदा तानी और तभी जोर से चीखा, ''तुम मारे जा चुके।''

पदा सव्येन तां साधो भगवान्यज्ञसूकरः ।
लीलया मिषतः शत्रोः प्राहरद्वातरंहसम् ॥ ९॥

शब्दार्थ

पदा—अपने पाँव से; सव्येन—बायें; ताम्—उस गदा को; साधो—हे विदुर; भगवान्—श्रीभगवान्; यज्ञ-सूकरः—समस्त यज्ञों के भोक्ता, अपने शूकर रूप में; लीलया—खिलवाड़ में; मिषतः—देखते हुए; शत्रोः—अपने शत्रु (हिराण्याक्ष) का; प्राहरत्—गिरा दिया; वात-रंहसम्—तूफान के वेग से।

हे साधु विदुर, समस्त यज्ञों की बलि के भोक्ता श्रीभगवान् ने अपने सूकर रूप में अपने शत्रु के देखते-देखते खेल-खेल में उसकी उस गदा को अपने बाँए पाँव से नीचे गिरा दिया यद्यपि वह तूफान के वेग से उनकी ओर आ रही थी।

आह चायुधमाधत्स्व घटस्व त्वं जिगीषसि ।
इत्युक्तः स तदा भूयस्ताडयन्व्यनदद्भृशम् ॥ १०॥

शब्दार्थ

आह—उसने कहा; च—तथा; आयुधम्—हथियार; आधत्स्व—ग्रहण करो; घटस्व—प्रयत्न करो; त्वम्—तुम; जिगीषसि—जीतने के लिए इच्छुक हो; इति—इस प्रकार; उक्तः—ललकारते हुए; सः—हिरण्याक्ष ने; तदा—उस समय; भूयः—पुनः; ताडयन्—प्रहार करते हुए; व्यनदत्—गर्जना की; भृशम्—जोर से।

तब भगवान् ने कहा, ''तुम अपना शस्त्र उठा लो और मुझे जीतने के इच्छुक हो तो पुनः प्रयत्न करो।'' इन शब्दों से ललकारे जाने पर असुर ने अपनी गदा भगवान् पर तानी और पुनः जोर से गरजा।

तां स आपततीं वीक्ष्य भगवान्समवस्थितः ।
जग्राह लीलया प्राप्तां गरुत्मानिव पन्नगीम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उस गदा को; सः—वह; आपततीम्—अपनी ओर आते हुए; वीक्ष्य—देखकर; भगवान्—श्रीभगवान्; समवस्थितः—दृढ़तापूर्वक खड़े; जग्राह—पकड़ लिया; लीलया—सरलतापूर्वक; प्राप्ताम्—वहीं से; गरुत्मान्—गरुड़; इव—सदृश; पन्नगीम्—सर्पिणी को।

जब भगवान् ने गदा को अपनी ओर आते देखा तो वे वहीं पर दृढ़तापूर्वक खड़े रहे और उसे अनायास उसी प्रकार पकड़ लिया जिस प्रकार पक्षिराज गरुड़ किसी सर्प को पकड़ ले।

स्वपौरुषे प्रतिहते हतमानो महासुरः ।
नैच्छद्गदां दीयमानां हरिणा विगतप्रभः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

स्व-पौरुषे—अपना पौरुष या उद्यम; प्रतिहते—व्यर्थ हुआ; हत—विनष्ट किया; मानः—गर्व; महा-असुरः—महान् असुर ने; न ऐच्छत्—(लेने की) इच्छा न की; गदाम्—गदा; दीयमानाम्—देने पर; हरिणा—हरि के द्वारा; विगत-प्रभः—तेज घटने से।

इस प्रकार अपने पुरुषार्थ को व्यर्थ हुआ देखकर, वह महान् असुर अत्यन्त लज्जित हुआ और उसका तेज जाता रहा। अब वह श्रीभगवान् द्वारा लौटा दी जाने वाली गदा को ग्रहण करने में संकोच कर रहा था।

जग्राह त्रिशिखं शूलं ज्वलज्ज्वलनलोलुपम् ।
यज्ञाय धृतरूपाय विप्रायाभिचरन्यथा ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

जग्राह—उठाया; त्रि-शिखम्—तीन नोकों वाला; शूलम्—त्रिशूल; ज्वलत्—जलती हुई; ज्वलन—अग्नि; लोलुपम्—लपलपाता; यज्ञाय—समस्त यज्ञों के भोक्ता; धृत-रूपाय—वराह रूप में; विप्राय—ब्राह्मण को; अभिचरन्—दुष्टतावश प्रयोग करके; यथा—जिस प्रकार।

अब उसने प्रज्ज्वलित अग्नि के समान लपलपाता त्रिशूल निकाला और समस्त यज्ञों के भोक्ता भगवान् पर फेंका, जिस प्रकार कोई व्यक्ति किसी पवित्र ब्राह्मण पर दुर्भावनावश अपनी तपस्या का प्रयोग करे।

तदोजसा दैत्यमहाभटार्पितं
चकासदन्तःख उदीर्णदीधिति ।
चक्रेण चिच्छेद निशातनेमिना
हरिर्यथा तार्क्ष्यपतत्रमुज्झितम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

तत्—वह त्रिशूल; ओजसा—अपनी सारी शक्ति से; दैत्य—असुरों में से; महा-भट—परम योद्धा के द्वारा; अर्पितम्—फेंका हुआ; चकासत्—चमकता हुआ; अन्तः-खे—आकाश के बीच में; उदीर्ण—बढ़ा हुआ; दीधिति—प्रकाश; चक्रेण—सुदर्शनचक्र से; चिच्छेद—खण्ड खण्ड कर दिये; निशात—तीखी; नेमिना—धार (परिधि); हरिः—इन्द्र; यथा—जिस तरह; तार्क्ष्य—गरुड़ का; पतत्रम्—पंख; उज्झितम्—त्याग दिया।

उस परम योद्धा असुर के द्वारा पूरे बल फेंका गया वह त्रिशूल आकाश में तेजी से चमक रहा था। किन्तु श्रीभगवान् ने अपने तेज धार वाले सुदर्शन चक्र से उसके खण्ड-खण्ड कर दिये मानो इन्द्र ने गरुड़ का पंख काट दिया हो।

तात्पर्य : यहाँ पर आये हुए गरुड़ और इन्द्र का प्रसंग इस प्रकार है। एक बार गरुड़ ने अपनी माँ विनता को सर्पों की माता और अपनी सौतेली माँ कद्रू के चंगुल से छुड़ाने के लिए स्वर्ग में देवताओं से अमृत का पात्र छीन लिया। जब इसका पता चला तो स्वर्ग के राजा इन्द्र ने गरुड़ पर अपना वज्र चलाया। यद्यपि गरुड़ अजेय था, किन्तु इन्द्र के अचूक आयुध का सम्मान करने के लिए तथा स्वयं भगवान् का वाहन होने के कारण उसने अपना वह एक पंख गिरा दिया जो वज्र से चूर-चूर हो गया था। उच्चलोकों के निवासी इतने संवेदनशील होते हैं कि लड़ाई में भी वे भद्रता के नियमों का अनुसरण करते हैं। गरुड़ इन्द्र के प्रति सम्मान व्यक्त करना चाह रहा था और उसे पता था कि इन्द्र के वज्र से कुछ न कुछ नष्ट होना है, अतः उसने अपना एक पंख दे दिया।

वृक्णे स्वशूले बहुधारिणा हरेः
प्रत्येत्य विस्तीर्णमुरो विभूतिमत् ।
प्रवृद्धरोषः स कठोरमुष्टिना
नदन्प्रहृत्यान्तरधीयतासुरः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

वृक्णे—कटने पर; स्व-शूले—अपना त्रिशूल; बहुधा—अनेक खण्डों में; अरिणा—सुदर्शन चक्र द्वारा; हरेः—श्रीभगवान् की; प्रत्येत्य—ओर बढ़कर; विस्तीर्णम्—चौड़ा; उरः—वक्षस्थल; विभूति-मत्—धन की देवी का आवास; प्रवृद्ध—बढ़ा हुआ; रोषः—क्रोध; सः—हिरण्याक्ष; कठोर—कठोर; मुष्टिना—अपनी मुट्ठी से; नदन्—गर्जना करते; प्रहृत्य—प्रहार करके; अन्तरधीयत—अन्तर्धान हो गया; असुरः—असुर।

जब श्रीभगवान् के चक्र से उसका त्रिशूल खण्ड खण्ड हो गया तो असुर अत्यन्त क्रोधित हुआ। अतः वह भगवान् की ओर लपका और तेज गर्जना करते हुए उनके चौड़े वक्षस्थल पर, जिस पर श्रीवत्स का चिह्न था, अपनी कठोर मुष्टिका से प्रहार किया। फिर वह अदृश्य हो गया।

तात्पर्य : श्रीवत्स श्वेत बालों की भौंरी है, जो भगवान् के वक्षस्थल पर है और उनके श्रीभगवान् होने का विशिष्ट चिह्न है। वैकुण्ठ लोक अथवा गोलोक वृन्दावन के सभी निवासी श्रीभगवान् की ही समरूप होते हैं अतः इसी श्रीवत्स चिह्न के द्वारा भगवान् को अन्यों के बीच पहचाना जाता है।

तेनेत्थमाहतः क्षत्तर्भगवानादिसूकरः ।
नाकम्पत मनाक्क्वापि स्रजा हत इव द्विपः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तेन—हिरण्याक्ष द्वारा; इत्थम्—इस प्रकार; आहतः—प्रहार किया गया; क्षत्तः—हे विदुर; भगवान्—श्रीभगवान्; आदि-सूकरः—प्रथम शूकर; न अकम्पत—हिला-डुला नहीं; मनाक्—तनिक भी; क्व अपि—कहीं भी; स्रजा—पुष्प की माला से; हतः—मारा गया; इव—सदृश; द्विपः—हाथी।

हे विदुर, असुर द्वारा इस प्रकार प्रहार किये जाने पर आदि वराह रूप भगवान् के शरीर का कोई अंग तनिक भी हिला-डुला नहीं मानो किसी हाथी पर फूलों की माला से प्रहार किया गया हो।

तात्पर्य : जैसाकि बताया जा चुका है यह असुर पहले वैकुण्ठलोक में भगवान् का पार्षद था, किन्तु किसी कारणवश वह असुर बन गया। वह अपनी मुक्ति के लिए भगवान् से युद्ध कर रहा था। भगवान् को अपने दिव्य शरीर में उसके द्वारा किया गया प्रहार वैसा ही आनन्द दे रहा

था जिस प्रकार प्रौढ़ पिता से छोटा शिशु लड़े। कभी-कभी बाप और बेटे में बनावटी युद्ध होता है, तो बाप को आनन्द मिलता है। उसी प्रकार भगवान् को हिरण्याक्ष द्वारा किया गया प्रहार पूजा में चढ़ाये गये फूलों के समान प्रतीत हुआ। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि भगवान् अपना दिव्य आनन्द लेने के लिए लड़ना चाहते थे इसीलिए उन्हें इस आक्रमण से सुख मिल रहा था।

अथोरुधासृजन्मायां योगमायेश्वरे हरौ ।
यां विलोक्य प्रजास्त्रस्ता मेनिरेऽस्योपसंयमम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

अथ—तब; उरुधा—अनेक प्रकार से; असृजत्—चलाईं; मायाम्—कपटपूर्ण चालें; योग-माया-ईश्वरे—योगमाया के ईश्वर; हरौ—हरि पर; याम्—जिसको; विलोक्य—देखकर; प्रजाः—लोग; त्रस्ताः—भयभीत; मेनिरे—सोचा; अस्य—इस ब्रह्माण्ड का; उपसंयमम्—संहार, प्रलय।

किन्तु असुर ने योगेश्वर श्रीभगवान् पर अनेक कपटपूर्ण चालों का प्रयोग किया। यह देखकर सभी लोग भयभीत हो उठे और सोचने लगे कि ब्रह्माण्ड का संहार निकट है।

तात्पर्य : भगवान् तथा उनके भक्त का, जो असुर रूप में परिणत हो गया था, यह युद्ध इतना भीषण प्रतीत होने लगा मानो ब्रह्माण्ड में प्रलय होने वाली है। यह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की महानता है। उनकी एक उँगली का उठना ही ब्रह्माण्ड के वासियों की दृष्टि में अत्यन्त अनिष्टकारी माना जाता है।

प्रववुर्वायवश्चण्डास्तमः पांसवमैरयन् ।
दिग्भ्यो निपेतुर्ग्रावाणः क्षेपणैः प्रहिता इव ॥ १८॥

शब्दार्थ

प्रववुः—बह रही थी; वायवः—हवाएँ; चण्डाः—भयानक; तमः—अन्धकार; पांसवम्—धूल से उत्पन्न; ऐरयन्—फैल रहे थे; दिग्भ्यः—सभी दिशाओं से; निपेतुः—गिरे; ग्रावाणः—पत्थर; क्षेपणैः—मशीनगनों से; प्रहिताः—फेंके गये; इव—मानो।

सभी दिशाओं से प्रचण्ड वायु बहने लगी और धूल तथा उपलवृष्टि से अन्धकार फैल गया, प्रत्येक दिशा से पत्थर गिरने लगे मानो वे मशीनगनों द्वारा फेंके जा रहे हों।

द्यौर्नष्टभगणाभ्रौघैः सविद्युत्स्तनयित्नुभिः ।
वर्षद्भिः पूयकेशासृग्विण्मूत्रास्थीनि चासकृत् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

द्यौः—आकाश; नष्ट—विलुप्त; भ-गण—नक्षत्र गण; अभ्र—बादलों के; ओघैः—समूहों से; स—सहित; विद्युत्—बिजली; स्तनयित्नुभिः—तथा कड़क (गर्जना) से; वर्षद्भिः—बरसने से; पूय—पीब; केश—बाल; असृक्—रक्त; विट्—विष्ठा; मूत्र—मूत्र; अस्थीनि—हड्डियाँ; च—यथा; असकृत्—पुनःपुनः।

बिजली तथा गर्जना से युक्त आकाश में बादलों के समूह घिर आने से नक्षत्रगण विलुप्त हो गए। आकाश से पीब, बाल, रक्त, मल, मूत्र तथा हड्डियों की वर्षा होने लगी।

गिरयः प्रत्यदृश्यन्त नानायुधमुचोऽनघ ।
दिग्वाससो यातुधान्यः शूलिन्यो मुक्तमूर्धजाः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

गिरयः—पर्वत; प्रत्यदृश्यन्त—दिखने लगे; नाना—अनेक प्रकार के; आयुध—अस्त्र-शस्त्र; मुचः—छोड़ते हुए; अनघ—हे पापमुक्त विदुर; दिक्-वाससः—नंगी; यातुधान्यः—राक्षसिनियाँ; शूलिन्यः—त्रिशूलों से सज्जित; मुक्त—लटकते; मूर्धजाः—बाल।

हे अनघ विदुर, पर्वतों से नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र निकलने लगे और त्रिशूल धारण किये हुए नग्न राक्षसिनियाँ अपने खुले केश लटकाते हुए प्रकट हो गईं।

बहुभिर्यक्षरक्षोभिः पत्त्यश्वरथकुञ्जरैः ।
आततायिभिरुत्सृष्टा हिंस्रा वाचोऽतिवैशसाः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

बहुभिः—अनेक; यक्ष-रक्षोभिः—यक्षों तथा राक्षसों के द्वारा; पत्ति—पैदल; अश्व—घुड़सवार; रथ—रथ पर चढ़े हुए; कुञ्जरैः—अथवा हाथियों से; आततायिभिः—आततायियों द्वारा; उत्सृष्टाः—उच्चारित; हिंस्राः—क्रूर; वाचः—शब्द; अति-वैशसाः—हिंसक।

यक्षों तथा राक्षस आततायियों के समूह के समूह अत्यन्त क्रूर एवं अशिष्ट नारे लगा रहे थे, जिनमें से अनेक या तो पैदल जा रहे थे, या घोड़े, हाथियों अथवा रथों पर सवार थे।

प्रादुष्कृतानां मायानामासुरीणां विनाशयत् ।
सुदर्शनास्त्रं भगवान्प्रायुङ्क्त दयितं त्रिपात् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

प्रादुष्कृतानाम्—प्रदर्शित; मायानाम्—जादुई शक्तियाँ, इन्द्रजाल; आसुरीणाम्—असुर द्वारा प्रदर्शित; विनाशयत्—विनष्ट करने का इच्छुक; सुदर्शन-अस्त्रम्—सुदर्शन चक्र; भगवान्—श्रीभगवान् ने; प्रायुङ्क्त—फेंका; दयितम्—प्रिय; त्रि-पात्—समस्त यज्ञों के भोक्ता।

तब समस्त यज्ञों के भोक्ता श्रीभगवान् ने अपना प्रिय सुदर्शन चक्र छोड़ा जो असुर द्वारा प्रदर्शित समस्त इन्द्रजाल की शक्तियों (माया जाल) को तहस-नहस करने में समर्थ था।

तात्पर्य : प्रख्यात योगी तथा असुर कभी-कभी अपनी योगशक्ति से अत्यन्त जादुई करामातें दिखलाते हैं, किन्तु जब भगवान् अपने सुदर्शन चक्र को छोड़ देते हैं, तो ये सारे इन्द्रजाल विलुप्त हो जाता है। इस प्रसंग में दुर्वासा मुनि तथा महाराज अम्बरीष के बीच युद्ध का उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। दुर्वासा मुनि अनेक आश्चर्यजनक योग-युक्तियाँ दिखाना चाह रहे थे, किन्तु जब सुदर्शन चक्र प्रकट हुआ तो वे स्वंय डर गये और अपनी रक्षा के लिए विभिन्न लोकों में दौड़ते फिरे। भगवान् को यहाँ पर *त्रिपात्* कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वे तीन प्रकार के यज्ञों के भोक्ता हैं।*भगवद्गीता* में भगवान् ने स्वयं इसकी पुष्टि की है कि वे समस्त यज्ञों, तपों तथा तपस्याओं के भोक्ता हैं। भगवान् तीन प्रकार के यज्ञों के भोक्ता हैं। *भगवद्गीता* में आगे यह भी वर्णन आया है कि द्रव्य, ध्यान तथा चिन्तन के भी यज्ञ होते हैं। जो ज्ञान, योग तथा कर्म मार्गों पर चलने वाले हैं उन सबको अन्तत: परमेश्वर के पास जाना होता है, क्योंकि *वासुदेव: सर्वम् इति*—समस्त वस्तुओं का परम भोक्ता परमेश्वर ही हैं। समस्त यज्ञ की यही सिद्धि है।

तदा दितेः समभवत्सहसा हृदि वेपथुः ।
स्मरन्त्या भर्तुरादेशं स्तनाच्चासृक्प्रसुस्रुवे ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तदा—उसी क्षण; दितेः—दिति के; समभवत्—उत्पन्न हुआ; सहसा—अचानक; हृदि—हृदय में; वेपथुः—कम्पन; स्मरन्त्याः—स्मरण करके; भर्तुः—अपने पति, कश्यप के; आदेशम्—वचन; स्तनात्—स्तन से; च—यथा; असृक्—रक्त; प्रसुस्रुवे—बहने लगा।

उसी क्षण, हिरण्याक्ष की माता दिति के हृदय में सहसा एक थरथराहट हुई। उसे अपने पति कश्यप के वचनों का स्मरण हो आया और उसके स्तनों से रक्त बहने लगा।

तात्पर्य : हिरण्याक्ष के अन्तिम समय पर उसकी माता दिति को अपने पति के वचनों का स्मरण हो आया कि यद्यपि उसके पुत्र असुर होंगे, किन्तु स्वयं भगवान् के हाथों से मारे जाने का वे लाभ उठाएंगे। भगवत्कृपा से उसे ये वचन स्मरण हो आये और उसके स्तनों से दूध के बजाय रक्त बह निकला। यह कई बार देखा गया है कि जब माता अपने पुत्रों के स्नेह से विचलित हो उठती है, तो उसके स्तनों से दूध बहने लगता है। यहाँ पर असुर की माता का रक्त दूध में नहीं बदल सका वरन् उसी रूप में बह निकला। रक्त ही दूध में बदलता है। दूध का पीना शुभ है, किन्तु रक्त पीना अशुभ है, यद्यपि दोनों एक ही हैं। यही बात गाय के दूध पर भी लागू होती है।

विनष्टासु स्वमायासु भूयश्चाव्रज्य केशवम् ।
रुषोपगूहमानोऽमुं ददृशेऽवस्थितं बहिः ॥ २४॥

शब्दार्थ

विनष्टासु—दूर हो जाने पर; स्व-मायासु—अपनी माया शक्ति; भूयः—पुनः; च—यथा; आव्रज्य—सामने आकर; केशवम्—श्रीभगवान् को; रुषा—क्रोध से पूर्ण; उपगूहमानः—आलिंगन करते; अमुम्—भगवान् को; ददृशे—देखा; अवस्थितम्—खड़े हुए; बहिः—बाहर।

जब असुर ने देखा कि उसकी मायाशक्ति विलुप्त हो गई है, तो वह एक बार फिर श्रीभगवान् केशव के सामने आया और उन्हें रौंद देने की इच्छा से तमतमाते हुए अपने बाहुओं में भर कर उनको जकड़ लेना चाहा। किन्तु उसके आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब उसने भगवान् को अपने बाहु-पाश से बाहर खड़े देखा।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् को केशव कहा गया हैं क्योंकि उन्होंने सृष्टि के प्रारम्भ में केशी असुर का वध किया था। कृष्ण का नाम केशव भी है। श्रीकृष्ण समस्त अवतारों के मूल हैं और *ब्रह्म-संहिता* में इसकी पुष्टि हुई है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् गोविन्द समस्त कारणों के कारण हैं और वे एकसाथ ही विभिन्न अवतारों तथा अंशों में विद्यमान रहने वाले हैं। असुर हमेशा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को आँकने का प्रयत्न करता रहता है। यह सोचकर कि वह अपनी भौतिक शक्ति से अपनी सीमित बाहों के भीतर भगवान् को जकड़ सकेगा, उसने अपनी बाहों में उन्हें भरना चाहा। उसे यह ज्ञात न था कि भगवान् महान् से महानतम और सूक्ष्म से

सूक्ष्मतम हैं। कोई भी व्यक्ति न तो उन्हें बन्दी बना सकता हैं और न अपने वश में रख सकता है। किन्तु आसुरी व्यक्ति सदैव भगवान् की लम्बाई चौड़ाई मापने का प्रयास करता रहता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्ति से विराट रूप धारण कर सकते हैं और साथ ही साथ अपने भक्तों के पूज्य विग्रह के रूप में उनके डिब्बे में बन्द हो सकते हैं। ऐसे अनेक भक्त हैं, जो भगवान् की मूर्ति को छोटे से डिब्बे में रखते हैं और जहाँ भी जाते हैं उसे अपने साथ ले जाते हैं और प्रतिदिन प्रात: काल वे डिब्बे में रखे भगवान की पूजा करते हैं। श्रीभगवान् केशव या श्रीकृष्ण हमारी गणना की किसी माप से बँधे हुए नहीं हैं। वे अपने भक्त के साथ किसी भी उपयुक्त रूप में रह सकते हैं किन्तु आसुरी क्रिया-कलापों द्वारा उनको पा सकना कठिन है।

तं मुष्टिभिर्विनिघ्नन्तं वज्रसारैरधोक्षजः ।
करेण कर्णमूलेऽहन्यथा त्वाष्ट्रं मरुत्पतिः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

तम्—हिरण्याक्ष को; मुष्टिभिः—अपने मुक्कों से; विनिघ्नन्तम्—प्रहार करते हुए; वज्र-सारैः—वज्र के समान कठोर; अधोक्षजः—भगवान् अधोक्षज ने; करेण—हाथ से; कर्ण-मूले—कनपटी पर; अहन्—मारा; यथा—जैसे; त्वाष्ट्रम्—वृत्रासुर (त्वष्टा का पुत्र) को; मरुत्-पतिः—मरुतों के स्वामी इन्द्र ने।

तब वह असुर भगवान् को कठोर मुक्कों से मारने लगा किन्तु भगवान् अधोक्षज ने उसकी कनपटी में उस तरह थप्पड़ मारा जिस प्रकार मरुतों के स्वामी इन्द्र ने वृत्रासुर को मारा था।

तात्पर्य : भगवान् को यहाँ अधोक्षज अर्थात् समस्त गणनाओं से परे कहा गया है। अक्षज का अर्थ है, ''हमारी इन्द्रियों की माप'' और अधोक्षज का अर्थ है, ''जो हमारी इन्द्रियों की माप से परे है।''

स आहतो विश्वजिता ह्यवज्ञया
परिभ्रमद्गात्र उदस्तलोचनः ।
विशीर्णबाह्वङ्घ्रिशिरोरुहोऽपतद्
यथा नगेन्द्रो लुलितो नभस्वता ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; आहतः—चोट खाकर; विश्व-जिता—श्रीभगवान् द्वारा; हि—यद्यपि; अवज्ञया—उपेक्षापूर्वक; परिभ्रमत्—चकराकर; गात्रः—शरीर; उदस्त—बाहर निकली; लोचनः—आँखें; विशीर्ण—छिन्न-भिन्न; बाहु—भुजाएँ; अङ्घ्रि—पाँव; शिरः-रुहः—बाल; अपतत्—गिर पड़ा; यथा—जैसे; नग-इन्द्रः—विशाल वृक्ष; लुलितः—उखड़ा हुआ; नभस्वता—आँधी से।

सर्वजेता भगवान् ने यद्यपि अत्यन्त उपेक्षापूर्वक प्रहार किया था, किन्तु उससे असुर का शरीर चकराने लगा। उसकी आँखे बाहर निकल आईं। उसके हाथ तथा पैर टूट गये, सिर के बाल बिखर गये और वह अंधड़ से उखड़े हुए विशाल वृक्ष की भाँति मृत होकर गिर पड़ा।

तात्पर्य : भगवान् को किसी भी बलवान असुरों के (हिराण्याक्ष समेत) मारने में एक क्षण भी नहीं लगता। वे चाहते तो हिरण्याक्ष को बहुत पहले मार ड़ालते, किन्तु वे उस असुर को अपना पूरा मायाजाल दिखाने के लिए छोड़े रहे। मनुष्य को यह जान लेना चाहिए कि कोई इन्द्रजाल से, ज्ञान की वैज्ञानिक प्रगति से अथवा भौतिक शक्ति से भगवान् की समता नहीं कर सकता। उनके एक संकेत से हमारे सारे प्रयास निष्फल हो सकते हैं। उनकी शक्ति जो कि अनुमान के परे है जैसाकि यहाँ दिखाया गया है, इतनी प्रबल है कि समस्त आसुरी चालों के बावजूद भगवान् की इच्छा होते ही एक ही चाँटे से उस असुर की मृत्यु हो गई।

क्षितौ शयानं तमकुण्ठवर्चसं
करालदंष्ट्रं परिदष्टदच्छदम् ।
अजादयो वीक्ष्य शशंसुरागता
अहो इमं को नु लभेत संस्थितिम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

क्षितौ—पृथ्वी पर; शयानम्—लेटे हुए; तम्—हिरण्याक्ष को; अकुण्ठ—अमलिन; वर्चसम्—तेज; कराल—भयावने; दंष्ट्रम्—दाँत; परिदष्ट—काटे हुए; दत्-छदम्—ओंठ; अज-आदयः—ब्रह्मा इत्यादि ने; वीक्ष्य—देखकर; शशंसुः—प्रशंसा में कहा; आगताः—आये हुए; अहो—ओह; इमम्—यह; कः—कौन; नु—निस्सन्देह; लभेत—प्राप्त कर सकता है; संस्थितिम्—मृत्यु।

उस स्थान भूमि पर लेटे भयावने दाँतों वाले तथा अपने होंठों को काटते हुए उस असुर को देखने के लिए ब्रह्मा तथा अन्य देवता आ गये। उसके मुखमण्डल का तेज अब भी अमलिन था। ब्रह्मा ने उसकी प्रशंसा करते हुए कहा, ओह! ऐसी भाग्यशाली मृत्यु

किसकी हो सकती है?

तात्पर्य : यद्यपि असुर मर चुका था, किन्तु उसके शरीर का तेज कम नहीं हुआ था। यह अत्यन्त विलक्षण है, क्योंकि जब कोई मनुष्य या पशु मरता है, तो उसका शरीर तुरन्त पीला पड़ जाता है, धीरे-धीरे तेज घट जाता है और सड़न होने लगती है। किन्तु यहाँ यद्यपि हिरण्याक्ष मर चुका था, किन्तु उसके शरीर का तेज घटा नहीं था क्योंकि भगवान् ने उसके शरीर का स्पर्श किया था। शरीर का तेज तभी तक बना रहता है जब तक आत्मा उपस्थित रहता है। यद्यपि असुर के शरीर से आत्मा प्रयाण कर चुका था, किन्तु भगवान् द्वारा शरीर स्पर्श किये जाने से उसका तेज कम नहीं हुआ। व्यष्टि आत्मा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से भिन्न है। यदि कोई अपना शरीर छोड़ते समय पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को देखता है, तो निश्चय ही वह भाग्यशाली है, अत: ब्रह्मा आदि देवों ने उस असुर की मृत्यु की प्रशंसा की।

यं योगिनो योगसमाधिना रहो
ध्यायन्ति लिङ्गादसतो मुमुक्षया ।
तस्यैष दैत्यऋषभः पदाहतो
मुखं प्रपश्यंस्तनुमुत्ससर्ज ह ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

यम्—जिसको; योगिनः—योगी जन; योग-समाधिना—योग की समाधि में; रहः—एकान्त में; ध्यायन्ति—ध्यान धरते हैं; लिङ्गात्—शरीर से; असतः—मिथ्या; मुमुक्षया—मुक्ति की इच्छा से; तस्य—उसका; एषः—यह; दैत्य—दिति का पुत्र; ऋषभः—श्रेष्ठ मणि; पदा—पाँव से; आहतः—मारा गया; मुखम्—मुँह; प्रपश्यन्—देखते या ताकते हुए; तनुम्—शरीर; उत्ससर्ज—छोड़ दिया; ह—निस्सन्देह।

ब्रह्मा ने आगे कहा—योगीजन योगसमाधि में अपने मिथ्या भौतिक शरीरों से छूटने के लिए जिसका एकान्त में ध्यान करते हैं, उन श्रीभगवान् के पादाग्र से इस पर प्रहार हुआ है। दिति के पुत्रों में शिरोमणि इसने भगवान् का मुख देखते-देखते अपने मर्त्य शरीर का त्याग किया है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के इस श्लोक में योगविधि का स्पष्ट वर्णन हुआ है। कहा जाता है कि ध्यान करने वाले योगियों का चरम-लक्ष्य इस भौतिक शरीर से छुटकारा पाना है। फलत: वे समाधि प्राप्त करने के लिए एकान्त में ध्यान करते हैं। योग एकान्त में सम्पन्न होना चाहिए;

किसी सार्वजनिक स्थल या मंच पर नहीं जैसाकि आजकल के कई तथाकथित योगी करते हैं। वास्तविक योग का उद्देश्य भौतिक देह से छुटकारा पाना है। योगाभ्यास का उद्देश्य शरीर को चुस्त तथा तरुण बनाये रखना नहीं है। किसी भी आदर्श विधि में तथाकथित योग के ऐसे विज्ञापनों की अनुमति नहीं दी गई है। इस श्लोक में एक शब्द *यम्* अर्थात् 'उसको' आया है, जो इसका संकेत देता है कि ध्यान का लक्ष्य श्रीभगवान् होना चाहिए। यदि कोई भगवान् के वराह रूप का भी ध्यान धरता है, तो वह भी योग है। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है, जो मनुष्य भगवान् के विविध रूपों में से किसी एक पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है, वह उच्चकोटि का योगी है और वह भगवान् के स्वरूप का चिन्तन करता हुआ सरलता से समाधि को प्राप्त होता है। यदि कोई अपनी मृत्यु के समय भी भगवान् का ध्यान कर सके तो वह इस भौतिक शरीर से मुक्त होकर भगवान् के धाम को चला जाता है। भगवान् ने इस असुर को यह सुअवसर प्रदान किया, फलतः ब्रह्मा समेत सभी देवाताओं को आश्चर्य हुआ। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि भगवान् के केवल पाद-प्रहार से असुर को भी योगसिद्धि प्राप्त हो सकती है।

एतौ तौ पार्षदावस्य शापाद्यातावसद्गतिम् ।
पुनः कतिपयैः स्थानं प्रपत्स्येते ह जन्मभिः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

एतौ—ये दोनों; तौ—दोनों; पार्षदौ—पार्षद; अस्य—भगवान् के; शापात्—शाप के कारण; यातौ—गये हैं; असत्-गतिम्—आसुरी परिवार में जन्म लेना; पुनः—फिर; कतिपयैः—कुछ; स्थानम्—अपना स्थान; प्रपत्स्येते—पुनः प्राप्त करेंगे; ह—निस्सन्देह; जन्मभिः—जन्मों के पश्चात्।

भगवान् के इन दोनों पार्षदों को शापवश असुर-परिवारों में जन्म लेना पड़ा। ऐसे कुछ जन्मों के पश्चात् ये अपने-अपने स्थानों में लौट जायेंगे।

देवा ऊचुः

नमो नमस्तेऽखिलयज्ञतन्तवे
स्थितौ गृहीतामलसत्त्वमूर्तये ।
दिष्ट्या हतोऽयं जगतामरुन्तुद-

स्त्वत्पादभक्त्या वयमीश निर्वृताः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

देवाः—देवताओं ने; ऊचुः—कहा; नमः—नमस्कार; नमः—नमस्कार; ते—तुमको; अखिल-यज्ञ-तन्तवे—समस्त यज्ञों के भोक्ता; स्थितौ—स्थिति को बनाए रखने के निमित्त; गृहीत—धारण किया; अमल—शुद्ध; सत्त्व—अच्छाई; मूर्तये—रूप; दिष्ट्या—सौभाग्यवश; हतः—मारा गया; अयम्—यह; जगताम्—लोकों को; अरुन्तुदः—कष्ट देने वाला; त्वत्-पाद—आपके चरण की; भक्त्या—भक्ति से; वयम्—हमने; ईश—हे भगवान्; निर्वृताः—सुख प्राप्त किया है।.

देवताओं ने भगवान् को सम्बोधित करते हुए कहा—हम आपको नमस्कार करते हैं। आप समस्त यज्ञों के भोक्ता हैं और आपने शुद्ध सात्विक भाव में विश्व की स्थिति बनाये रखने के लिए वराह रूप धारण किया है। यह हमारा सौभाग्य है कि समस्त लोकों को कष्ट देने वाला असुर आपके हाथों मारा गया और हे भगवान्, अब हम आपके चरण-कमलों की भक्ति करने के लिए स्वतन्त्र हैं।

तात्पर्य : यह संसार तीन गुणों—सत्त्व, रज तथा तमोगुण—वाला है, किन्तु आध्यात्मिक जगत तो शुद्ध सत्त्व है। यहाँ यह बताया गया है कि भगवान् का रूप शुद्ध सत्त्व है, जिसका अर्थ है कि वह भौतिक नहीं है। इस भौतिक जगत में कहीं भी शुद्ध सत्त्व नहीं है। *भागवत* में शुद्ध सत्त्व अवस्था को *सत्त्वं विशुद्धम्* कहा गया है। विशुद्धम् का अर्थ है शुद्ध। शुद्ध सत्त्व में अन्य दो निम्न गुणों अर्थात् रजो तथा तमो गुणों के कारण कोई कल्मष नहीं होता है। अत: वराह रूप, जिसमें भगवान् प्रकट हुए थे, इस भौतिक जगत का न था। भगवान् के और भी कई रूप हैं, किन्तु इनमें से एक का भी सांसारिक गुणों से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। ये रूप विष्णुरूप से अभिन्न हैं और विष्णु समस्त यज्ञों के भोक्ता हैं।

वेदों में जिन यज्ञों की अनुशंसा की गई है वे सभी श्रीभगवान् को प्रसन्न करने के लिए हैं। तमोगुणी होने पर ही मनुष्य अन्य बिचौलियों (दूतों) को प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु जीवन का वास्तविक ध्येय परम पुरुष, भगवान् विष्णु को प्रसन्न करना है। यही नहीं, सभी यज्ञों का उद्देश्य भी भगवान् को प्रसन्न करना है। जो जीवात्मा इसे भलीभाँति समझते हैं, वे देवता, दैवी या देव-तुल्य माने जाते हैं। चूँकि प्रत्येक जीवात्मा परमेश्वर का ही अंश है, अत: यह उसका धर्म है कि भगवान् की सेवा करे और उन्हें प्रसन्न रखे। सभी देवता श्रीभगवान्

के प्रति आसक्त होते हैं। उन्हीं की प्रसन्नता के लिए विश्व भर को कष्ट प्रदान करने वाले असुर का भगवान् ने वध किया। पवित्र जीवन की सार्थकता भगवान् को प्रसन्न करने में है और पवित्र जीवन में जितने भी यज्ञ सम्पन्न किये जाते हैं, वे कृष्णभावनामृत कहलाते हैं। यह कृष्णभावनामृत भक्तियोग के द्वारा विकसित किया जाता है, जिसका यहाँ स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

मैत्रेय उवाच
एवं हिरण्याक्षमसह्यविक्रमं
स सादयित्वा हरिरादिसूकरः ।
जगाम लोकं स्वमखण्डितोत्सवं
समीडितः पुष्करविष्टरादिभिः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—श्रीमैत्रेय ने कहा; एवम्—इस प्रकार; हिरण्याक्षम्—हिरण्याक्ष को; असह्य-विक्रमम्—अत्यन्त शक्तिमान; सः—भगवान् ने; सादयित्वा—मारकर; हरिः—श्रीभगवान् ने; आदि-सूकरः—सूकर योनियों का मूल; जगाम—वापस गया; लोकम्—अपने धाम; स्वम्—निजी; अखण्डित—अनवरत्; उत्सवम्—उत्सव; समीडितः—प्रशंसित; पुष्कर-विष्टर—कमल-आसन (कमलासन); आदिभिः—तथा अन्य।

श्री मैत्रेय ने आगे कहा—इस प्रकार अत्यन्त भयानक असुर हिरण्याक्ष को मारकर आदि वराह-रूप भगवान् हरि अपने धाम वापस चले गये जहाँ निरन्तर उत्सव होता रहता है। ब्रह्मा आदि समस्त देवताओं ने भगवान् की प्रशंसा की।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् को आदि शूकर कहा गया है। जैसाकि *वेदान्त सूत्र* (१.१.२) में कहा गया है परम सत्य प्रत्येक वस्तु का मूल है। अतः यह माना जाता है कि समस्त चौरासी लाख योनियाँ भगवान् से उद्भूत हैं, वे ही आदि अथवा प्रारम्भ हैं। *भगवद्गीता* में अर्जुन ने श्रीकृष्ण को आद्यम् अर्थात् आदिकालीन (मूल) कहकर सम्बोधित किया है। इसी प्रकार *ब्रह्म-संहिता* में भगवान् को आदि-पुरुष कहा गया है। वस्तुतः *भगवद्गीता* (१०.८) में भगवान् स्वयं कहते हैं—*मत्तःसर्वं प्रवर्तते*—मुझी से प्रत्येक वस्तु आगे बढ़ती है।

प्रस्तुत स्थिति में हिरण्याक्ष का वध करने तथा पृथ्वी को गर्भ सागर से उठाने के लिए भगवान् ने वराह रूप धारण किया। वे आदि शूकर बने। इस भौतिक संसार में शूकर अत्यन्त गर्हित माना जाता है, किन्तु आदि शूकर अर्थात् श्रीभगवान् को समान्य शूकर नहीं समझा गया।

यहाँ तक कि ब्रह्मा तथा अन्य देवों तक ने भगवान् के शूकर रूप की प्रशंसा की।

इस श्लोक से *भगवद्गीता* के इस कथन की पुष्टि होती है कि दुष्टों का वध करने और भक्तों की रक्षा के लिए भगवान् अपने दिव्य धाम से अवतरित होते हैं। हिरण्याक्ष को मारकर उन्होंने असुरों को मारने और ब्रह्मा इत्यादि दूसरे देवताओं की रक्षा करने का अपना वचन पूरा किया। यह कथन कि भगवान् अपने धाम को वापस चले गये सूचित करता है कि भगवान् का अपना विशेष दिव्य आवास है। चूँकि वे समस्त शक्तियों से पूर्ण हैं, अत: वे गोलोक वृन्दावन में रहते हुए भी सर्वत्र व्याप्त हैं, ठीक वैसे ही जैसे सूर्य ब्रह्माण्ड के भीतर विशिष्ट स्थान में स्थित होकर समस्त ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करता है।

यद्यपि भगवान् का रहने का विशिष्ट आवास है, तथापि वे सर्वव्यापी हैं। निर्विशेषवादी भगवान् के इस सर्वव्यापी रूप को मानते हैं, किन्तु वे दिव्य आवास में स्थित उनके पद को नहीं समझ पाते, जहाँ वे निरन्तर दिव्य लीलाओं में संलग्न रहते हैं। इस श्लोक में आगत *अखण्डितोत्सवम्* शब्द विशेष महत्त्वपूर्ण है। उत्सव का अर्थ है 'आनन्द'। जब भी प्रसन्नता व्यक्त करने के लिए कोई कार्य किया जाता है, तो वह उत्सव कहलाता है। उत्सव पूर्ण प्रसन्नता का सूचक है और यह भगवान् के धाम वैकुण्ठलोक में सदैव विद्यमान रहता है। भगवान् जब ब्रह्मा जैसे देवताओं द्वारा पूजित हैं, तो मनुष्यों जैसी नगण्य आत्माओं का क्या कहना है।

भगवान् अपने धाम से इस धरा पर उतरते हैं इसीलिए उन्हें अवतार कहा जाता है। कभी-कभी अवतार से भौतिक रूप या जीता जागता हाड़-मांस युक्त रूप समझा जाता है, किन्तु वास्तव में अवतार वह व्यक्ति है, जो उच्चतर प्रक्षेत्रों से नीचे उतरता है। भगवान् का धाम भौतिक आकाश से ऊपर बहुत ऊँचाई पर है और वे उस उच्च पद से नीचे उतरते हैं; इसीलिए अवतार कहलाते हैं।

मया यथानूक्तमवादि ते हरेः
कृतावतारस्य सुमित्र चेष्टितम् ।
यथा हिरण्याक्ष उदारविक्रमो

महामृधे क्रीडनवन्निराकृतः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

मया—मेरे द्वारा; यथा—जिस रूप में; अनूक्तम्—कहा गया; अवादि—व्याख्या की गई; ते—तुमको; हरेः—श्रीभगवान् का; कृत-अवतारस्य—जिसने अवतार लिया; सुमित्र—हे विदुर; चेष्टितम्—कार्यकलाप; यथा—जिस प्रकार; हिरण्याक्षः—हिरण्याक्ष; उदार—अत्यन्त विस्तृत; विक्रमः—शौर्य; महा-मृधे—महान् युद्ध में; क्रीडन-वत्—खिलौन की तरह; निराकृतः—मारा गया।

मैत्रेय ने आगे कहा—हे विदुर, मैंने तुम्हें कह सुनाया कि भगवान् किस प्रकार प्रथम शूकर के रूप में अवतरित हुए और अद्वितीय शौर्य वाले असुर को महान् युद्ध में मार डाला मानो वह कोई खिलौना रहा हो। मैंने अपने पूर्ववर्ती गुरु से इसे जिस रूप में सुना था, वह तुम्हें सुना दिया।

तात्पर्य : यहाँ मैत्रेय मुनि स्वीकार करते हैं कि उन्होंने भगवान् द्वारा हिरण्याक्ष वध को ज्यों का त्यों आख्यान के रूप में कह सुनाया है; उन्होंने अपनी ओर से उसमें कुछ नहीं जोड़ा, वरन् जिस रूप में अपने गुरु से सुना था उसी को कह सुनाया। इस प्रकार उन्होंने परम्परा प्रणाली को प्रामाणिक माना है। जब तक इस प्रकार गुरु से प्रामाणिक विधि से सुना न जाय, किसी आचार्य का कथन वैध नहीं हो सकता।

यहां यह भी कहा गया है कि यद्यपि असुर हिरण्याक्ष का शौर्य असीम था, किन्तु भगवान् के लिए वह खिलौना मात्र था। बालक बिना किसी प्रयास के अनेक खिलौने तोड़ देता है उसी प्रकार संसारी मनुष्यों की दृष्टि में भले ही कोई असुर कितना ही शक्तिशाली क्यों न हो, भगवान् को ऐसे असुर के मारने में कोई कठिनाई नहीं होती। वे लाखों असुरों का वैसे ही वध कर सकते हैं जिस प्रकार बालक अनेक खिलौनों से खेलकर उन्हें तोड़ डालता है।

सूत उवाच

इति कौषारवाख्यातामाश्रुत्य भगवत्कथाम् ।
क्षत्तानन्दं परं लेभे महाभागवतो द्विज ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

सूतः—सूत गोस्वामी; उवाच—कहा; इति—इस प्रकार; कौषारव—मैत्रेय (कुषारु के पुत्र) से; आख्याताम्—कहा गया; आश्रुत्य—सुनकर; भगवत्-कथाम्—भगवान् विषयक आख्यान; क्षत्ता—विदुर ने; आनन्दम्—आनन्द; परम्—दिव्य; लेभे—प्राप्त किया; महा-भागवतः—परम भक्त; द्विज—हे ब्राह्मण (शौनक)।

श्री सूत गोस्वामी ने आगे कहा—हे शौनक, मेरे प्रिय ब्राह्मण, भगवान् के परम

भक्त, क्षत्ता (विदुर) को कौषारव (मैत्रेय) मुनि के आधिकारिक स्रोत से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की लीलाओं का वर्णन सुनकर दिव्य आनन्द प्राप्त हुआ और वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

तात्पर्य : यदि कोई भगवान् की लीलाओं को सुनकर दिव्य आनन्द उठाना चाहता है, तो उसे आधिकारिक स्रोत से सुनना चाहिए जैसाकि यहाँ कहा गया है। मैत्रेय ने इस आख्यान को अपने प्रामाणिक गुरु से सुना था और विदुर ने भी मैत्रेय से। जो कुछ अपने गुरु से सुना हो उसको उसी रूप में कहने से मनुष्य अधिकारी व्यक्ति बन जाता है और जो प्रामाणिक गुरु नहीं स्वीकार करता वह अधिकारी नहीं हो सकता—इसकी यहाँ स्पष्ट व्याख्या की गई है। यदि कोई दिव्य आनन्द चाहता है, तो उसे अधिकारी व्यक्ति की खोज करनी होगी। दिव्य आनन्द चाहने वाले को अधिकारी व्यक्ति की खोज करनी होगी। *भागवत* में यह भी कहा गया है कि केवल अधिकारी से मन एवं कानों से सुनकर भगवान् की लीलाओं का रसास्वादन किया जा सकता है अन्यथा यह सम्भव नहीं है। इसीलिए सनातन गोस्वामी ने विशेष रूप से आगाह किया है कि किसी अभक्त के मुख से भगवान् के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में कुछ भी न सुना जाय। अभक्त गण सर्प की तरह हैं। यद्यपि भगवान् की लीलाओं की कथा दूध के समान शुद्ध है किन्तु जिस प्रकार सर्प के स्पर्श से दुग्ध विषाक्त हो जाता है उसी तरह सर्पतुल्य अभक्तों से भगवत्कथा। इससे दिव्य आनन्द तो मिलेगा ही नहीं, साथ ही यह घातक भी होगी। भगवान् श्री चैतन्य महाप्रभु ने भी आगाह किया है कि मायावादी विचारधारा वालों से भगवान् की लीलाएँ नहीं सुनी जायँ। उन्होंने स्पष्ट कहा है—*मायावादी-भाष्य शुनिले हय सर्वनाश*—यदि कोई भगवान् की लीलाओं का विश्लेषण या भगवद्गीता, श्रीमद्भागवतम् अथवा अन्य किसी वैदिक साहित्य की व्याख्या किसी मायावादी के मुख से सुनता है, तो समझिये सर्वनाश हुआ। एक बार निर्गुणवादियों की संगति की नहीं कि भगवान् के सगुण रूप तथा उनकी दिव्य लीलाओं को समझ पाना दुष्कर हो जाता है।

सूत गोस्वामी शौनक आदि ऋषियों को संम्बोधित कर रहे थे, अत: उन्होंने इस श्लोक में

उन्हें द्विज अर्थात् द्वि-जन्मा कहकर सम्बोधित किया। नैमिषारण्य में एकत्र होकर सूत गोस्वामी से *श्रीमद्भागवत* सुन रहे समस्त ऋषि चूँकि ब्राह्मण ही थे, किन्तु ब्राह्मण की योग्यता प्राप्त कर लेना ही सब कुछ नहीं होता। मात्र द्विज होना सिद्धि नहीं है। सिद्धि तो तभी मिलती है जब कोई प्रामाणिक स्रोत से भगवान् की लीलाओं को सुने।

अन्येषां पुण्यश्लोकानामुद्दामयशसां सताम् ।
उपश्रुत्य भवेन्मोदः श्रीवत्साङ्कस्य किं पुनः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

अन्येषाम्—दूसरों का; पुण्य-श्लोकानाम्—पवित्र यश का; उद्दाम-यशसाम्—जिनकी ख्याति सर्वत्र फैली है; सताम्—भक्तों का; उपश्रुत्य—सुन करके; भवेत्—उठ सकते हैं; मोदः—आनन्द; श्रीवत्स-अङ्कस्य—श्रीवत्स चिह्न धारण करने वाले भगवान् का; किम् पुनः—फिर क्या कहना।

मनुष्य चाहें तो अमर यश वाले भक्तों के कार्यकलापों को सुनकर आनन्द उठा सकते हैं, फिर श्रीवत्सधारी श्रीभगवान् की लीलाओं के श्रवण का कहना ही क्या!

तात्पर्य : *भागवतम्* का शाब्दिक अर्थ है भगवान् तथा उनके भक्तों की लीलाएँ—उदाहरणार्थ, भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाएँ तथा प्रह्लाद, ध्रुव तथा महाराज अम्बरीश जैसे भक्तों के आख्यान। ये दोनों प्रकार की लीलाएँ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से सम्बद्ध हैं, क्योंकि भक्तों की लीलाएँ उन्हीं से सम्बन्धित हैं। उदाहरणार्थ, *महाभारत* में पाण्डवों का इतिहास एवं उनके कार्य-कलाप हैं, अतः वह पवित्र है, क्योंकि पाण्डवों का श्रीभगवान् से सीधा सम्बन्ध था।

यो गजेन्द्रं झषग्रस्तं ध्यायन्तं चरणाम्बुजम् ।
क्रोशन्तीनां करेणूनां कृच्छ्रतोऽमोचयद्द्रुतम् ॥ ३५॥

शब्दार्थ

यः—जो; गज-इन्द्रम्—हाथियों के राजा को; झष—मकर, घड़ियाल द्वारा; ग्रस्तम्—आक्रमण किया गया; ध्यायन्तम्—ध्यान करते हुए; चरण—पाँव; अम्बुजम्—कमल; क्रोशन्तीनाम्—विलाप करती हुई; करेणूनाम्—हथिनियों को; कृच्छ्रतः—संकट से; अमोचयत्—उबारा; द्रुतम्—शीघ्र।

वह गजराज जिस पर मगरमच्छ ने आक्रमण कर दिया था और जिसने तब भगवान् के चरणकमलों का ध्यान किया, उसे भगवान ने तुरंत उबार किया। उस समय उसके साथ की हथिनियाँ चिंघाड़ रही थीं, किन्तु भगवान् ने आसन्न संकट से उनको बचा

लिया।

तात्पर्य : यहाँ पर संकटग्रस्त हाथी, जिसकी रक्षा भगवान् ने की थी, उस का उदाहरण यहाँ विशेष रूप से दिया गया है, क्योंकि पशु भी भक्ति में भगवान् के पास याचना कर सकता है, जबकि देवता भी यदि भक्त नहीं है, तो उनके पास नहीं पहुँच सकता।

तं सुखाराध्यमृजुभिरनन्यशरणैर्नृभिः ।
कृतज्ञः को न सेवेत दुराराध्यमसाधुभिः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; सुख—सरलतापूर्वक; आराध्यम्—पूजनीय; ऋजुभिः—सरल लोगों द्वारा; अनन्य—अन्य कोई नहीं; शरणैः—शरणागत; नृभिः—मनुष्यों के द्वारा; कृत-ज्ञः—उपकार मानने वाला; कः—क्या; न—नहीं; सेवेत—सेवा करनी चाहिए; दुराराध्यम्—पूजा कर पाना दुष्कर; असाधुभिः—अभक्तों द्वारा।

ऐसा कौन कृतज्ञ जीव होगा जो श्रीभगवान् जैसे परम स्वामी की प्रेमाभक्ति नहीं करना चाहेगा? वे विमल भक्तों पर, जो उन्हीं पर अपनी रक्षा के लिए आश्रित रहते हैं, सरलता से प्रसन्न हो जाते हैं, किन्तु किसी अनुचित व्यक्ति को उन्हें प्रसन्न कर पाने में कठिनाई होती है।

तात्पर्य : प्रत्येक जीवात्मा को और विशेष रूप से मनुष्यों को परमेश्वर की कृपा से प्राप्त होने वाले वरदानों के लिए उनका कृतज्ञ होना चाहिए। अतः कृतज्ञ एवं सरल हृदय वाले को कृष्णभक्त होना चाहिए और कृष्णभक्ति करनी चाहिए। जो लोग वास्तविक चोर तथा उचक्के हैं, वे भगवान् द्वारा प्रदत्त वरदानों को न तो पहचानते हैं, न उसके लिए आभार प्रकट करते हैं, ईश्वर की भक्ति करना तो दूर की बात है। जो भगवान् की व्यवस्था से मिलने वाले लाभों को नहीं समझते वे कृतघ्न हैं। वे धूप तथा चाँदनी का आनन्द उठाते हैं और निःशुल्क जल प्राप्त करते हैं, किन्तु कृतज्ञता का अनुभव नहीं करते, तो भी वे भगवान् के इन उपहारों को भोगते रहते हैं। इसीलिए उन्हें चोर और उचक्के कहा ही जाना चाहिए।

यो वै हिरण्याक्षवधं महाद्भुतं
विक्रीडितं कारणसूकरात्मनः ।
शृणोति गायत्यनुमोदतेऽञ्जसा

विमुच्यते ब्रह्मवधादपि द्विजाः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

यः—जो; वै—निस्सन्देह; हिरण्याक्ष-वधम्—हिरण्याक्ष के वध का; महा-अद्भुतम्—अत्यन्त विस्मयजनक; विक्रीडितम्—लीला; कारण—समुद्र से पृथ्वी के उद्धार जैसे कारणों के लिए; सूकर—सूकर रूप में प्रकट होकर; आत्मनः—श्रीभगवान् का; शृणोति—सुनता है; गायति—जप करता है; अनुमोदते—आनन्द लेता है; अञ्जसा—तुरन्त; विमुच्यते—मुक्त हो जाता है; ब्रह्म-वधात्—ब्रह्महत्या के पाप से; अपि—भी; द्विजाः—हे ब्राह्मणो।

हे ब्राह्मणो, जगत के उद्धार हेतु आदि सूकर रूप में प्रकट होने वाले भगवान् द्वारा हिरण्याक्ष वध के इस अद्भुत आख्यान को जो कोई सुनता है, गाता है या इसमें रस लेता है, वह ब्रह्महत्या जैसे पापमय कर्मों के फल से भी तुरन्त मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : चूँकि श्रीभगवान् परम पद पर आसीन हैं, अतः उनकी लीलाओं तथा उनके व्यक्तित्व में कोई अन्तर नहीं है। अतः जो भी भगवान् की लीलाओं से अपना नाता जोड़ता है, वह भगवान् से प्रत्यक्ष जुड़ता है और जो इस प्रकार जुड़ जाता है, वह समस्त पापमय कर्मों से, यहाँ तक कि ब्रह्महत्या जैसे पाप से भी मुक्त हो जाता है, यद्यपि इसे संसार की सबसे अधिक पापमय कृत्य माना जाता है। मनुष्य को चाहिए कि शुद्ध भक्त जैसे अधिकृत स्रोत से भगवान् के कार्यकलापों को सुनने के लिए उत्सुक रहे। यदि कोई भगवान् के आख्यान का श्रवण मात्र करता है और भगवान् के गुणों को स्वीकार करता है, तो वह योग्य बन जाता है। मायावादी कभी भी भगवान् के कृत्यों को नहीं समझ सकते। वे उनके समस्त कार्यों को माया मानते हैं, इसीलिए तो वे मायावादी कहलाते हैं। चूँकि उनके लिए हर वस्तु माया है, अतः ऐसे आख्यान उनके लिए नहीं हैं। कुछ निर्विशेषवादी *श्रीमद्भागवत* को सुनना नहीं चाहते, यद्यपि उनमें से अनेक आर्थिक लाभ के लिए उसमें अब रुचि दिखाने लगे हैं। किन्तु वास्तविक रूप में वे श्रद्धा नहीं रखते। उल्टे, वे अपने ही ढंग से इसका वर्णन करते हैं। अतः हमें मायावादियों से इसको नहीं सुनना चाहिए। हमें तो सूत गोस्वामी या मैत्रेय से सुनना चाहिए जो आख्यानों को यावत् रूप में प्रस्तुत करने वाले हैं। तभी हम भगवान् की लीलाओं का रसास्वादन कर सकेंगे अन्यथा नवदीक्षित श्रोताओं पर विषतुल्य प्रभाव पड़ेगा।

एतन्महापुण्यमलं पवित्रं

धन्यं यशस्यं पदमायुराशिषाम् ।
प्राणेन्द्रियाणां युधि शौर्यवर्धनं
नारायणोऽन्ते गतिरङ्ग शृण्वताम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह आख्यान; महा-पुण्यम्—पुण्यप्रद; अलम्—अत्यन्त; पवित्रम्—पवित्र; धन्यम्—धन देनेवाला; यशस्यम्—यश की प्राप्ति करने वाला; पदम्—पात्र, भाजन; आयुः—दीर्घजीविता का; आशिषाम्—कामनाओं का; प्राण—जीवनदाता अंगों का; इन्द्रियाणाम्—कर्मेन्द्रियों का; युधि—युद्धभूमि में; शौर्य—पराक्रम; वर्धनम्—बढ़ाने वाला; नारायणः—भगवान् नारायण; अन्ते—जीवन के अन्त में; गतिः—शरण; अङ्ग—हे शौनक; शृण्वताम्—श्रोताओं का।

यह परम पवित्र आख्यान (चरित्र) अद्वितीय यश, सम्पत्ति, ख्याति, आयुष्य तथा मनवांछित फल देने वाला है। युद्ध भूमि में यह मनुष्य के प्राणों तथा कर्मेन्द्रियों की शक्ति वर्धित करने वाला है। हे शौनक, जो अपने अन्तकाल में इसे सुनता है, वह भगवान् के परम धाम को जाता है।

तात्पर्य : भक्त सामान्य रूप से भगवान् की लीलाओं के आख्यानों से आकृष्ट होते रहते हैं और तपस्या या ध्यान न करने पर भी इन लीलाओं के श्रवण मात्र से अनेक लाभ यथा सम्पत्ति, ख्याति, आयुष्य तथा जीवन की अन्य मनोकामनाएँ प्राप्त करते रहते हैं। यदि कोई अपने जीवन के अन्तकाल में भगवान् की लीलाओं के आख्यानों से परिपूर्ण *श्रीमद्भागवत* का श्रवण करता रहता है, तो वह निश्चित रूप से भगवान् के शाश्वतधाम को जाता है। इस प्रकार श्रोताओं को जब तक वे इस भौतिक लोक में रहते हैं तब भी और अन्त-समय में भी लाभ प्राप्त होता है। भक्ति करने का यही परम शुद्ध लाभ है। भक्ति का शुभारम्भ इसीसे होता है कि समय निकाल कर सही व्यक्ति से *श्रीमद्भागवत* का श्रवण किया जाय। श्रीचैतन्य महाप्रभु भी भक्ति की पाँच बातों की संस्तुति करते हैं। ये हैं भगवद्भक्तों की सेवा, हरे कृष्ण मन्त्र का जप, *श्रीमद्भागवत* का श्रवण, भगवान् के श्रीविग्रह की अर्चना तथा तीर्थस्थान में वास। इन पाँचों कृत्यों के करने मात्र से मनुष्य भौतिक जीवन की कष्टमय अवस्था से उबर सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तीसरे स्कन्ध के अन्तर्गत ''असुर हिरण्याक्ष का वध'' नामक उन्नीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बीस

मैत्रेय-विदुर संवाद

शौनक उवाच

महीं प्रतिष्ठामध्यस्य सौते स्वायम्भुवो मनुः ।
कान्यन्वतिष्ठद्द्वाराणि मार्गायावरजन्मनाम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

शौनकः—शौनक; उवाच—कहा; महीम्—पृथ्वी को; प्रतिष्ठाम्—स्थित; अध्यस्य—प्राप्त करके; सौते—हे सूत गोस्वामी; स्वायम्भुवः—स्वायंभुव; मनुः—मनु ने; कानि—क्या; अन्वतिष्ठत्—किया; द्वाराणि—मार्ग; मार्गाय—निकलने के लिए; अवर—बाद में; जन्मनाम्—जन्म लेनेवालों का।

श्री शौनक ने पूछा—हे सूत गोस्वामी, जब पृथ्वी अपनी कक्ष्या में पुनः स्थापित हो गई तो स्वायंभुव मनु ने बाद में जन्म ग्रहण करने वाले व्यक्तियों को मुक्ति-मार्ग प्रदर्शित करने के लिए क्या-क्या किया?

तात्पर्य : भगवान् का आदि शूकर अवतार स्वायंभुव मनु के काल में हुआ जबकि वर्तमान युग वैवस्वत मनु का काल है। प्रत्येक मनु का काल चारों युगों के चक्र से ७२ गुने काल तक रहता है और प्रत्येक चक्र ४३,२०,००० सौर वर्षों के तुल्य होता है। अतः एक मनु का राज्य ४३,२०,००० × ७२ सौर वर्षों तक रहता है। प्रत्येक मनु के काल में अनेक प्रकार के परिवर्तन होते हैं और ब्रह्मा के एक दिन में ऐसे चौदह मनु होते हैं। यहाँ यह बताया गया है कि उन बद्धजीवों के मोक्ष के लिए मनु धार्मिक नियम बनाता है, जो इस संसार में भौतिक भोग के लिए आये हैं। भगवान् इतने दयालु हैं कि जो भी इस संसार में आकर भौतिक सुख भोगना चाहता है भोग की सारी सुविधाएँ उसे दी जाती हैं, किन्तु उसी के साथ उसके लिए मोक्ष का मार्ग भी खुला रहता है। इसीलिए शौनक ऋषि ने सूत गोस्वामी से पूछा, "पृथ्वी के अपनी कक्ष्या में पुनः स्थापित हो जाने पर स्वांयभुव मनु ने फिर क्या किया?"

क्षत्ता महाभागवतः कृष्णस्यैकान्तिकः सुहृत् ।
यस्तत्याजाग्रजं कृष्णे सापत्यमघवानिति ॥ २ ॥

शब्दार्थ

क्षत्ता—विदुर; महा-भागवतः—भगवान् का परम भक्त; कृष्णस्य—श्रीकृष्ण का; एकान्तिकः—एकनिष्ठ भक्त; सुहृत्—मित्र; यः—जो; तत्याज—त्याग दिया; अग्र-जम्—अपने बड़े भाई (राजा धृतराष्ट्र) को; कृष्णे—कृष्ण के प्रति; स-अपत्यम्—अपने सौ पुत्रों सहित; अघ-वान्—अपराधी; इति—इस प्रकार।

शौनक ऋषि ने विदुर के बारे में जानना चाहा, जो भगवान कृष्ण का महान भक्त एवं सखा था और जिसने भगवान के लिए ही अपने उस ज्येष्ठ भाई का साथ छोड़ दिया था जिसने अपने पुत्रों के साथ मिलकर भगवान की इच्छा के विरुद्ध षड्यंत्र किया थो।

तात्पर्य : यहाँ उस घटना का उल्लेख है जब कि विदुर अपने बड़े भाई धृतराष्ट्र का आश्रय त्याग कर तीर्थस्थानों का भ्रमण करते हुए अन्त में हरद्वार में मैत्रेय से मिले थे। यहाँ पर शौनक ऋषि, विदुर एवं मैत्रेय के बीच हुई वार्ता के विषयों के सम्बन्ध में जिज्ञासा कर रहे हैं। विदुर की विशेषता यह थी कि वे न केवल भगवान् के मित्र थे, वरन् साथ ही महान् भक्त भी थे। श्रीकृष्ण युद्ध बन्द करने और चचेरे भाइयों के बीच अनबन को दूर करने का प्रयास कर रहे थे, किन्तु जब उन्होंने उनकी सलाह नहीं मानी तो क्षत्ता अर्थात् विदुर अत्यन्त अप्रसन्न हुए और उन्होंने उस स्थान को छोड़ दिया। भक्त के रूप में विदुर ने ऐसा उदाहरण प्रस्तुत किया कि जहाँ कहीं भी श्रीकृष्ण का आदर न हो वह स्थान मनुष्यों के रहने योग्य नहीं है। भक्त भले ही अपने निजी हितों के बारे में सहिष्णु बना रहे, किन्तु यदि भगवान् या उनके भक्तों का अनादर हो रहा हो तो उसे सहिष्णु नहीं बने रहना चाहिए। यहाँ पर *अघवान्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह सूचित करता है कि धृतराष्ट्र के पुत्र कौरवों की हार इसीलिए हुई, क्योंकि उन्होंने श्रीकृष्ण के उपदेश का उल्लंघन करके पापकर्म किया था।

द्वैपायनादनवरो महित्वे तस्य देहजः ।
सर्वात्मना श्रितः कृष्णं तत्परांश्चाप्यनुव्रतः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

द्वैपायनात्—व्यासदेव से; अनवरः—किसी प्रकार से हेय नहीं; महित्वे—महानता में; तस्य—उसका (व्यास का); देह-जः—उसके शरीर से उत्पन्न; सर्व-आत्मना—अपने सम्पूर्ण मन से; श्रितः—शरण ली; कृष्णम्—भगवान् श्रीकृष्ण की; तत्-परान्—उनमें अनुरक्त; च—तथा; अपि—भी; अनुव्रतः—पालन किया।

विदुर वेदव्यास के आत्मज थे और उनसे किसी प्रकार से कम न थे। इस तरह उन्होंने पूर्ण मनोभाव से श्रीकृष्ण के चरणकमलों को स्वीकार किया और वे उनके भक्तों के

प्रति अनुरक्त थे।

तात्पर्य : विदुर का इतिहास ऐसा है कि वे एक शूद्र माता के गर्भ से उत्पन्न हुए थे, किन्तु उनके रैतस पिता वेदव्यास थे; अत: वे किसी भी प्रकार से वेदव्यास से कम नहीं थे। चूँकि वे महान् पिता के पुत्र थे, जिन्हें नारायण का अवतार माना जाता था और जिन्होंने समस्त वैदिक साहित्य का सृजन किया था, अत: विदुर भी महान् व्यक्ति थे। उन्होंने श्रीकृष्ण को अपना आराध्य भगवान् स्वीकार किया और उनके उपदेशों का पूर्ण मनोभाव से पालन किया।

किमन्वपृच्छन्मैत्रेयं विरजास्तीर्थसेवया ।
उपगम्य कुशावर्त आसीनं तत्त्ववित्तमम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; अन्वपृच्छत्—पूछा; मैत्रेयम्—मैत्रेय ऋषि से; विरजा:—विदुर जो भौतिक कल्मष से रहित थे; तीर्थ-सेवया—तीर्थस्थलों में जाकर; उपगम्य—मिल कर; कुशावर्ते—कुशावर्त (हरद्वार) में; आसीनम्—स्थित; तत्त्व-वित्-तमम्—आत्म-विज्ञान के आदि ज्ञाता।.

तीर्थस्थलों की यात्रा करने से विदुर सारी विषय वासना से शुद्ध हो गये। अन्त में वे हरद्वार पहुँचे जहाँ आत्मज्ञान के ज्ञाता एक महर्षि से उनकी भेंट हुई जिससे उन्होंने कुछ प्रश्न किये। अत: शौनक ऋषि ने पूछा कि मैत्रेय से विदुर ने और क्या-क्या पूछा?

तात्पर्य : यहाँ पर *विरजास्तीर्थ सेवया* शब्द विदुर के लिए प्रयुक्त हैं, जो तीर्थस्थानों की यात्रा करने के कारण समस्त कल्मषों से पूरी तरह पवित्र हो चुके थे। भारत में सैकड़ों पवित्र तीर्थस्थल हैं जिनमें से प्रयाग, हरद्वार, वृन्दावन तथा रामेश्वरम प्रमुख हैं। राजनीति तथा कूटनीति से भरे हुए अपने घर को त्याग कर विदुर समस्त तीर्थों की यात्रा करके पवित्र होना चाहते थे, क्योंकि ये तीर्थ इस प्रकार स्थित हैं कि यदि कोई वहाँ जाय तो स्वत: पवित्र हो जाता है। वृन्दावन के लिए तो यह विशेष रूप से सत्य है। वहाँ कोई भी व्यक्ति जा सकता है और यदि वह पापी भी है, तो वहाँ तुरन्त उसे आध्यात्मिक जीवन का वातावरण अनुभव होने लगता है और वह स्वत: कृष्ण तथा राधा के नामों का जप करने लगता है। इसको हमने प्रत्यक्ष देखा है और अनुभव है। शास्त्रों में यह संस्तुति की गई है कि सक्रिय जीवन से विरक्त होकर वानप्रस्थ आश्रम ग्रहण करके मनुष्य को तीर्थों की यात्रा करनी चाहिए जिससे वह अपने आपको शुद्ध

कर सके। विदुर ने अपने इस कर्तव्य को भलीभाँति निबाहा और अन्त में वे कुशावर्त अर्थात् हरद्वार पहुँचे जहाँ मैत्रेय मुनि रह रहे थे।

दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मनुष्य को तीर्थों की यात्रा केवल स्नान करने के लिए नहीं करनी चाहिए, वरन् वहाँ पहुँचकर मैत्रेय जैसे परम ऋषियों की खोज करनी चाहिए और उनसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता तो तीर्थस्थलों मे जाना समय का अपव्यय मात्र होगा। वैष्णव सम्प्रदाय के महान् आचार्य नरोत्तम दास ठाकुर ने फिलहाल इस युग में ऐसे तीर्थस्थानों की यात्रा की मनाही की है, क्योंकि समय इतना बदल चुका है कि इन स्थानों के वर्तमान निवासियों का आचरण देखकर निष्ठावान व्यक्ति कुछ दूसरी ही धारणा बना सकता है। उन्होंने संस्तुति की है कि ऐसे स्थानों में न जाकर मनुष्य को चाहिए कि वह अपने मन को गोविन्द में केन्द्रित करे। इससे उसे लाभ होगा। दर असल, किसी स्थान में रहकर अपने मन को गोविन्द में रमाना आध्यात्मिकता में अत्यन्त प्रगति कर चुके पुरुषों का काम है यह सामान्य पुरुषों के वश की बात नहीं। सामान्य पुरुष तो अब भी प्रयाग, मथुरा, वृन्दावन तथा हरद्वार जैसे पवित्र स्थानों की यात्रा से लाभ उठा सकते हैं।

इस श्लोक में कहा गया है कि मनुष्य को चाहिए कि वह तत्त्ववित् अर्थात् ईश्वर के विज्ञान को जानने वाले की खोज करे। तत्त्ववित् का अर्थ है, ''परम सत्य को जानने वाला।'' तीर्थस्थानों में भी अनेक छद्म ब्रह्मविद् पाये जाते हैं। अत: मनुष्य को उपदेश ग्रहण करने के लिए वास्तविक व्यक्ति की तलाश करने के लिए समझ होनी चाहिए; तभी विभिन्न तीर्थस्थानों की यात्रा से लाभान्वित होने का उसका प्रयास सफल होगा। मनुष्य को समस्त कल्मषों से मुक्त होने के साथ ही साथ कृष्ण-विज्ञान को जानने वाले व्यक्ति की खोज करनी होगी। कृष्ण निष्ठावान व्यक्ति की सहायता करते हैं जैसाकि श्रीचैतन्य-चरितामृत में कहा गया है—गुरु-कृष्ण-प्रसादे—गुरु तथा कृष्ण की कृपा से मोक्ष का मार्ग प्राप्त होता है। यदि कोई निष्ठा से आध्यात्मिक मोक्ष चाहता है, तो प्रत्येक हृदय में स्थित श्रीकृष्ण उसे बुद्धि प्रदान करते हैं कि

वह उपयुक्त गुरु खोज निकाले। मैत्रेय जैसे गुरु की कृपा से मनुष्य को उचित शिक्षा प्राप्त होती है और वह आध्यात्मिक जीवन में आगे बढ़ता है।

तयोः संवदतोः सूत प्रवृत्ता ह्यमलाः कथाः ।
आपो गाङ्गा इवाघघ्नीर्हरेः पादाम्बुजाश्रयाः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

तयोः—जब दोनों (मैत्रेय तथा विदुर); संवदतोः—वार्तालाप कर रहे थे; सूत—हे सूत; प्रवृत्ताः—निकली हुई; हि—निश्चय ही; अमलाः—निर्मल; कथाः—आख्यान; आपः—जल; गाङ्गाः—गंगा नदी का; इव—सदृश; अघ-घ्नीः—समस्त पापों का नाश करने वाला; हरेः—भगवान् के; पाद-अम्बुज—चरणारविन्द; आश्रयाः—आश्रित, शरणागत।

शौनक ने विदुर तथा मैत्रेय के बीच होने वाले वार्तालाप के सम्बन्ध में प्रश्न किया कि भगवान् की निर्मल लीलाओं के अनेक आख्यान रहे होंगे। ऐसे आख्यानों को सुनना गंगाजल में स्नान करने के सदृश है क्योंकि इससे सभी पाप-बन्धन छूट सकते हैं।

तात्पर्य : गंगा नदी का जल इसलिए शुद्ध है, क्योंकि यह सीधे ही भगवान् के पाद-श्री से निकलता है। *भगवद्गीता* गंगाजल के ही समान उत्तम है, क्योंकि यह भगवान् के मुख से निकली है। यही बात भगवान् की किसी लीला या उनके दिव्य कार्यकलाप से सम्बन्धित प्रत्येक घटना के लिए सत्य है। भगवान् परमेश्वर हैं; उनके शब्दों, उनके प्रस्वेदन या उनकी लीलाओं में कोई अन्तर नहीं है। गंगा जल, उनकी लीलाओं का वर्णन तथा उनके शब्द ये सभी एक ही परम पद पर हैं, अतः इनमें से किसी एक की शरण ग्रहण करना समान रूप से उत्तम है। श्रील रूप गोस्वामी ने कहा है कि श्रीकृष्ण से सम्बन्धित कोई भी वस्तु दिव्य पद पर होती है। यदि हम अपने समस्त कार्यकलापों का तालमेल भगवान् से बैठा लें तो हम भौतिक पद पर नहीं वरन् आत्मिक पद पर स्थित होते हैं।

ता नः कीर्तय भद्रं ते कीर्तन्योदारकर्मणः ।
रसज्ञः को नु तृप्येत हरिलीलामृतं पिबन् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

ताः—उनकी वार्ता; नः—हमको; कीर्तय—सुनाइये; भद्रम् ते—आपका मंगल हो; कीर्तन्य—जपना चाहिए; उदार—उदार; कर्मणः—कार्य; रस-ज्ञः—भक्त जो रस को समझ सके, रसिक; कः—कौन; नु—निस्सन्देह; तृप्येत—तृप्ति का अनुभव करे; हरि-लीला-अमृतम्—भगवान् की लीलाओं का अमृत; पिबन्—पीते हुए।

हे सूत गोस्वामी, आपका मंगल हो, कृपा करके भगवान् के कार्यों को कह सुनाइये क्योंकि वे उदार एवं स्तुति के योग्य हैं। ऐसा कौन भक्त है, जो भगवान् की अमृतमयी लीलाओं को सुनकर तृप्त हो जाये?

तात्पर्य : भगवान् की लीलाओं का आख्यान भक्तों द्वारा अत्यन्त आदरपूर्वक सुना जाना चाहिए क्योंकि वे लीलाएँ सदैव दिव्य पद पर घटित होती हैं। जो वास्तव में दिव्य धरातल पर स्थित हैं, वे भगवान् की लीलाओं की कथा सुनते हुए कभी नहीं अघाते। उदाहरणार्थ, यदि कोई सिद्ध पुरुष *भगवद्गीता* पढ़ता है, तो वह कभी तृप्त नहीं होता। *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* की कथाओं को हजार-हजार बार पढ़ लेने पर भी भक्तों को उनकी नई-नई बातों में निश्चित रूप से आनन्द मिलता है।

एवमुग्रश्रवाः पृष्ट ऋषिभिर्नैमिषायनैः ।
भगवत्यर्पिताध्यात्मस्तानाह श्रूयतामिति ॥ ७॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; उग्रश्रवाः—सूत गोस्वामी; पृष्टः—पूछे जाने पर; ऋषिभिः—ऋषियों द्वारा; नैमिष-अयनैः—जो नैमिष के जंगल (नैमिषारण्य) में एकत्र हुए थे; भगवति—भगवान् को; अर्पित—अर्पित; अध्यात्मः—अपना मन; तान्—उनसे; आह—कहा; श्रूयताम्—सुनो; इति—इस प्रकार।

नैमिषारण्य के ऋषियों द्वारा इस प्रकार पूछे जाने पर रोमहर्षण के पुत्र सूत गोस्वामी ने, जिनका मन भगवान् की दिव्य लीलाओं में लीन था, कहा—अब जो मैं कहता हूँ, कृपया उसे सुनें।

सूत उवाच
हरेर्धृतक्रोडतनोः स्वमायया
निशम्य गोरुद्धरणं रसातलात् ।
लीलां हिरण्याक्षमवज्ञया हतं
सञ्जातहर्षो मुनिमाह भारतः ॥ ८॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत ने कहा; हरेः—भगवान् का; धृत—धारण किया; क्रोड—सूकर का; तनोः—शरीर; स्व-मायया—अपनी दैवी शक्ति से; निशम्य—सुनकर; गोः—पृथ्वी का; उद्धरणम्—उद्धार; रसातलात्—समुद्र के गर्भ से; लीलाम्—खिलवाड़; हिरण्याक्षम्—हिरण्याक्ष असुर; अवज्ञया—अवज्ञापूर्वक; हतम्—मारा गया; सञ्जात-हर्षः—परम प्रफुल्लित; मुनिम्—मुनि (मैत्रेय) से; आह—कहा; भारतः—विदुर ने।

सूत गोस्वामी ने आगे कहा—भरत के वंशज विदुर भगवान् की कथा सुन कर परम प्रफुल्लित हुए क्योंकि भगवान् ने अपनी दैवी शक्ति से शूकर का रूप धारण करके पृथ्वी को समुद्र के गर्भ से खेल-खेल में ऊपर लाने (लीला) तथा हिरण्याक्ष को उदासीन भाव से मारने का कार्य किया था। फिर विदुर मैत्रेय से इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : यहाँ यह कहा गया है कि भगवान् ने अपनी शक्ति से शूकर रूप धारण किया। उनका यह रूप वास्तव में बद्धजीव का रूप नहीं है। बद्धजीव को भौतिक नियमों के श्रेष्ठ नियन्ता के आदेश से विशेष देह धारण करनी होती है, किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् को किसी बाह्य शक्ति से बाध्य होकर शूकर रूप नहीं धारण करना पड़ा। *भगवद्गीता* में भी इसी तथ्य की पुष्टि की गई है—जब भगवान् पृथ्वी में उतरते हैं, तो वे अपनी अंतरंगा शक्ति के द्वारा कोई एक रूप धारण करते हैं। फलत: भगवान् का रूप भौतिक शक्ति से कदापि निर्मित नहीं होता। मायावादियों का यह कथन कि जब भी ब्रह्म कोई रूप धारण करता है, तो वह माया से उसे स्वीकार करता है, यह मान्य नहीं है क्योंकि यद्यपि बद्धजीव की अपेक्षा माया श्रेष्ठ है, किन्तु वह श्रीभगवान् से श्रेष्ठ नहीं है, वह उनके वश में है जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है। माया उनके अधीक्षण में है, माया भगवान् का अतिक्रमण नहीं कर सकती। यह मायावादी विचारधारा कि जीवात्मा ही परम सत्य है, किन्तु माया द्वारा प्रच्छन्न है, अवैध है क्योंकि माया इतनी विराट नहीं है कि परमेश्वर को प्रच्छन्न कर ले। प्रच्छन्न करने की शक्ति ब्रह्म के अंश पर लागू हो सकती है, परब्रह्म पर नहीं।

विदुर उवाच
प्रजापतिपतिः सृष्ट्वा प्रजासर्गे प्रजापतीन् ।
किमारभत मे ब्रह्मन्प्रब्रूह्यव्यक्तमार्गवित् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; प्रजापति-पतिः—भगवान् ब्रह्मा ने; सृष्ट्वा—सृष्टि करके; प्रजा-सर्गे—जीवों की सृष्टि करने के उद्देश्य से; प्रजापतीन्—प्रजापतियों को; किम्—क्या; आरभत—प्रारम्भ किया; मे—मुझको; ब्रह्मन्—हे पवित्र ऋषि; प्रब्रूहि—बताइये; अव्यक्त-मार्ग-वित्—न जानने वालों का ज्ञाता।

विदुर ने कहा—हे पवित्र मुनि, आप हमारी समझ में न आने वाले विषयों को भी

जानते हैं, अत: मुझे यह बताएँ कि जीवों के आदि जनक प्रजापतियों को उत्पन्न करने के बाद ब्रह्मा ने जीवों की सृष्टि के लिए क्या किया?

तात्पर्य : यहाँ पर *अव्यक्त-मार्ग-वित्* शब्द अत्यन्त सार्थक है, जिसका अर्थ है, ''जो हमारी कल्पना शक्ति के परे है उसे जानने वाला।'' अपनी कल्पना शक्ति से परे की बातें जानने के लिए शिष्य-परम्परा की श्रेणी के किसी श्रेष्ठ अधिकारी से सीखना पड़ता है। केवल इतना भी जान पाना कि हमारा पिता कौन है हमारी कल्पना के परे है। उसके लिए माता अधिकारी है। इसी प्रकार हमें कल्पना से परे प्रत्येक वस्तु को वास्तविक ज्ञाता अर्थात् विशेषज्ञ (अधिकारी) से जानना चाहिए। प्रथम *अव्यक्त-मार्ग-वित्* अर्थात् विशेषज्ञ ब्रह्मा हैं और उस शिष्य-परम्परा में दूसरे नारद हैं। मैत्रेय ऋषि का उसी शिष्य-परम्परा से सम्बन्ध है, अत: वे भी *अव्यक्त-मार्ग-वित्* हैं। कोई भी व्यक्ति जो प्रामाणिक शिष्य-परम्परा से सम्बद्ध है अव्यक्त मार्गवित् है अर्थात् ऐसा महापुरुष है, जो सामान्य बुद्धि से परे सब कुछ जानता है।

ये मरीच्यादयो विप्रा यस्तु स्वायम्भुवो मनुः ।
ते वै ब्रह्मण आदेशात्कथमेतदभावयन् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

ये—जो; मरीचि-आदयः—मरीचि आदि महर्षि; विप्राः—ब्राह्मण; यः—जो; तु—निस्सन्देह; स्वायम्भुवः मनुः—तथा स्वायंभुव मनु; ते—वे; वै—निस्सन्देह; ब्रह्मणः—भगवान् ब्रह्मा के; आदेशात्—आज्ञा से; कथम्—कैसे; एतत्—यह ब्रह्माण्ड; अभावयन्—उत्पन्न हुआ।

विदुर ने पूछा—प्रजापतियों (मरीचि तथा स्वायंभुव मनु जैसे जीवों के आदि जनक) ने ब्रह्मा के आदेश के अनुसार किस प्रकार सृष्टि की और इस दृश्य जगत का किस प्रकार विकास किया?

सद्वितीयाः किमसृजन्स्वतन्त्रा उत कर्मसु ।
आहो स्वित्संहताः सर्व इदं स्म समकल्पयन् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

स-द्वितीयाः—अपनी पत्नियों सहित; किम्—क्या; असृजन्—उत्पन्न किया; स्व-तन्त्राः—स्वतन्त्र रहकर; उत—अथवा; कर्मसु—अपने कार्यों में; आहो स्वित्—अथवा; संहताः—मिलकर, एकसाथ; सर्वे—सभी प्रजापति; इदम्—यह; स्म समकल्पयन्—रचना की।

क्या उन्होंने इस जगत की सृष्टि अपनी-अपनी पत्नियों के सहयोग से की अथवा वे स्वतन्त्र रूप से अपना कार्य करते रहे? या कि उन्होंने संयुक्त रूप से इसकी रचना की?

मैत्रेय उवाच
दैवेन दुर्वितर्क्येण परेणानिमिषेण च ।
जातक्षोभाद्भगवतो महानासीद्गुणत्रयात् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; दैवेन—प्रारब्ध (भाग्य) द्वारा; दुर्वितर्क्येण—कल्पना शक्ति से परे; परेण—महाविष्णु द्वारा; अनिमिषेण—सनातन काल की शक्ति से; च—यथा; जात-क्षोभात्—सन्तुलन बिगड़ गया; भगवतः—श्रीभगवान् का; महान्—समस्त भौतिक तत्त्व (महत्-तत्त्व); आसीत्—उत्पन्न हुए थे; गुण-त्रयात्—तीन गुणों से।.

मैत्रेय ने कहा—जब प्रकृति के तीन तत्त्वों के सहयोग का सन्तुलन जीवात्मा की अदृश्य क्रियाशीलता, महाविष्णु तथा कालशक्ति के द्वारा विक्षुब्ध हुआ तो समग्र भौतिक तत्त्व (महत्-तत्त्व) उत्पन्न हुए।

तात्पर्य : यहाँ पर भौतिक सृष्टि के कारण का अत्यन्त रोचक वर्णन हुआ है। प्रथम कारण दैव अर्थात् बद्धजीव का भाग्य है। यह भौतिक सृष्टि बद्धजीव के सुख के लिए विद्यमान है, जो इन्द्रियतृप्ति के लिए उसी का झूठा स्वामी बनना चाहता है। किसी को यह नहीं ज्ञात है कि बद्धजीव ने सबसे पहले कब इस भौतिक प्रकृति पर स्वामित्व प्राप्त करने की इच्छा की, किन्तु वैदिक साहित्य से यह ज्ञात होता है कि यह भौतिक सृष्टि बद्धजीव के इन्द्रिय-सुख के निमित्त है। एक सुन्दर श्लोक है, जिसमें कहा गया है कि बद्धजीव के इन्द्रिय सुख का निष्कर्ष यह है कि जब बद्धजीव अपने प्रमुख कर्तव्य, भगवान् के प्रति सेवा, को भूल जाता है, तो वह इन्द्रिय-सुख का वातावरण तैयार करता है, जिसे माया कहते हैं और यही भौतिक सृष्टि का कारण है।

इस श्लोक में एक अन्य शब्द *दुर्वितर्क्येण* भी प्रयुक्त है। कोई यह तर्क नहीं कर सकता कि कब और कैसे बद्धजीव को इन्द्रिय-सुख की इच्छा हुई, किन्तु इसका कारण तो होना ही चाहिए। भौतिक प्रकृति ही बद्धजीव के इन्द्रिय-सुख के निमित्त वह वातावरण है, जिसकी सृष्टि भगवान् ने की है। यहाँ यह बताया गया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकृति श्रीभगवान् विष्णु

द्वारा विक्षुब्ध की जाती है। तीन विष्णुओं का उल्लेख मिलता है। ये तीनों हैं—महाविष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध में इन तीनों विष्णुओं की व्याख्या की गई है और इस श्लोक में भी इसी की पुष्टि होती है कि विष्णु ही सृष्टि के कारण हैं। *भगवद्गीता* से भी हमें पता चलता है कि प्रकृति कृष्ण अथवा विष्णु की अध्यक्षता में कार्य करना शुरू करती है और अब भी कार्यशील है, किन्तु श्रीभगवान् अपरिवर्तित हैं। भूल से यह नहीं सोचना चाहिए कि चूँकि यह सृष्टि श्रीभगवान् से उद्भूत है, अत: उन्होंने अपने आपको भौतिक दृश्य जगत में रूपान्तरित कर दिया है। वे सदैव अपने सगुण रूप में विद्यमान हैं, किन्तु यह दृश्य जगत उनकी अचिन्त्य शक्ति से उत्पन्न होता है। उस शक्ति की कार्यविधि को समझ पाना कठिन है, किन्तु वैदिक ग्रंथों से पता चलता है कि बद्धजीव अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है और पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की अध्यक्षता में प्रकृति के नियमानुसार उसे विशेष देह धारण करना होता है। परमात्मा के रूप में भगवान् सदैव उसके संग रहते हैं।

रज:प्रधानान्महतस्त्रिलिङ्गो दैवचोदितात् ।
जातः ससर्ज भूतादिर्वियदादीनि पञ्चशः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

रजः-प्रधानात्—रजोगुण की प्रधानता से; महतः—महत्-तत्त्व से; त्रि-लिङ्गः—तीन प्रकार का; दैव-चोदितात्—श्रेष्ठ अधिकारी के द्वारा प्रेरित; जातः—उत्पन्न हुआ; ससर्ज—विकसित हुआ; भूत-आदिः—अहंकार (भौतिक तत्त्वों का मूल); वियत्—शून्य; आदीनि—इत्यादि; पञ्चशः—पाँच पाँच के समूहों में।.

जीव के भाग्य (दैव) की प्रेरणा से रजोगुण प्रधान महत्-तत्त्व से तीन प्रकार का अहंकार उत्पन्न हुआ। फिर अंहकार से पाँच-पाँच तत्त्वों के अनेक समूह उत्पन्न हुए।

तात्पर्य : आद्य प्रकृति में तीन गुण होते हैं जिनसे पाँच-पाँच तत्त्वों के चार समूह उत्पन्न होते हैं। प्रथम समूह तात्विक है, जिसमें पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश सम्मिलित हैं। पाँच तत्त्वों का दूसरा समूह *तन्मात्र* कहलाता है, जिससे सूक्ष्म तत्त्वों ध्वनि, स्पर्श, रूप, स्वाद तथा गंध का बोध होता है। तीसरा समूह पाँच ज्ञानेन्द्रियों आँख, कान, नाक, जीभ तथा त्वचा का है। चौथा समूह पाँच कर्मेन्द्रियों जीभ, हाथ, पाँव, गुदा तथा लिंग का हैं। कुछ लोगों का

विचार है कि पाँच पाँच के ऐसे पाँच समूह हैं—पहला पाँच तत्त्व, दूसरा पाँच भूत, तीसरा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, चौथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँचवाँ पंचदेवता जो इन विभागों पर नियन्त्रण रखते हैं।

तानि चैकैकशः स्त्रष्टुमसमर्थानि भौतिकम् ।
संहत्य दैवयोगेन हैममण्डमवासृजन् ॥ १४॥

शब्दार्थ

तानि—उन तत्त्वों का; च—यथा; एक-एकशः—पृथक्-पृथक्; स्त्रष्टुम्—उत्पन्न करने में; असमर्थानि—असमर्थ; भौतिकम्—भौतिक ब्रह्माण्ड; संहत्य—संगठित करके; दैव-योगेन—परमेश्वर की शक्ति से; हैमम्—सोने की तरह चमकीला; अण्डम्—गोलक; अवासृजन्—उत्पन्न किया।

अलग-अलग रहकर ब्रह्माण्ड की रचना करने में असमर्थ होने के कारण वे परमेश्वर की शक्ति के सहयोग से संगठित हुए और फिर एक चमकीले अण्डे का सृजन करने में सक्षम छुए।

सोऽशयिष्टाब्धिसलिले आण्डकोशो निरात्मकः ।
साग्रं वै वर्षसाहस्त्रमन्ववात्सीत्तमीश्वरः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

सः—यह; अशयिष्ट—पड़ा रहा; अब्धि-सलिले—कारणार्णव के जल में; आण्ड-कोशः—अण्डा; निरात्मकः—अचेत अवस्था में; साग्रम्—कुछ अधिक; वै—निस्सन्देह; वर्ष-साहस्त्रम्—एक हजार वर्षों तक; अन्ववात्सीत्—स्थित हो गया; तम्—अंडे में; ईश्वरः—भगवान्।

यह चमकीला अण्डा एक हजार वर्षों से भी अधिक काल तक अचेतन अवस्था में कारणार्णव के जल में पड़ा रहा। तब भगवान् ने इसके भीतर गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में प्रवेश किया।

तात्पर्य : इस श्लोक से प्रतीत होता है कि सभी ब्रह्माण्ड कारणार्णव में तैर रहे हैं।

तस्य नाभेरभूत्पद्मं सहस्त्रार्कोरुदीधिति ।
सर्वजीवनिकायौको यत्र स्वयमभूत्स्वराट् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

तस्य—भगवान् की; नाभेः—नाभि से; अभूत्—बाहर निकला; पद्मम्—कमल; सहस्त्र-अर्क—एक हजार सूर्यों से; उरु—अधिक; दीधिति—देदीप्यमान; सर्व—समस्त; जीव-निकाय—बद्धजीवों का आश्रय; ओकः—स्थान; यत्र—जहाँ; स्वयम्—अपने आप; अभूत्—आविर्भाव हुआ; स्व-राट्—सर्वशक्तिमान ब्रह्माजी।

गर्भोदकशायी भगवान् विष्णु की नाभि से हजार सूर्यों की दीप्ति सदृश प्रकाशमान

एक कमल पुष्प प्रकट हुआ। यह कमल पुष्प समस्त बद्धजीवों का आश्रय है और इस पुष्प से प्रकट होने वाले पहले जीवात्मा सर्वशक्तिमान ब्रह्मा थे।

तात्पर्य : इस श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि पिछली सृष्टि के प्रलय के पश्चात् भगवान् के शरीर के भीतर स्थित बद्ध जीवात्माएँ कमल के रूप में इकट्ठी हो कर बाहर निकल आईं। इसे हिरण्यगर्भ कहते हैं। इससे जो प्रथम जीवात्मा प्रकट हुआ वह ब्रह्मा जी थे, जो शेष दृश्य जगत की स्वतन्त्र रूप से सृष्टि करने में समर्थ हैं। इस कमल को एक हजार सूर्यों के प्रकाश के समान देदीप्यमान कहा गया है। इससे सूचित होता है कि परमेश्वर की अंशस्वरूप जीवात्माएँ भी उसी प्रकार की होंगी, क्योंकि भगवान् भी अपनी शारीरिक कान्ति को, जिसे ब्रह्मज्योति कहते हैं, चारों ओर फैलाते हैं। *भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक ग्रंथों में वैकुण्ठलोक का जो वर्णन है उसकी इससे पुष्टि होती है। वैकुण्ठलोक में न तो धूप, न चाँदनी, न अग्नि और न बिजली की आवश्यकता होती है। वहाँ प्रत्येक लोक सूर्य के समान स्वत: प्रकाशमान है।

सोऽनुविष्टो भगवता यः शेते सलिलाशये ।
लोकसंस्थां यथा पूर्वं निर्ममे संस्थया स्वया ॥ १७॥

शब्दार्थ

सः—ब्रह्माजी ने; अनुविष्टः—प्रविष्ट किया गया; भगवता—भगवान् द्वारा; यः—जो; शेते—शयन करता है; सलिल-आशये—गर्भोदक सागर में; लोक-संस्थाम्—ब्रह्माण्ड; यथा पूर्वम्—पूर्ववत्; निर्ममे—निर्माण किया; संस्थया—बुद्धि से; स्वया—अपनी।

जब गर्भोदकशायी भगवान् ब्रह्मा के हृदय में प्रवेश कर गये तो ब्रह्मा को बुद्धि आई और इस बुद्धि से उन्होंने ब्रह्माण्ड की पूर्ववत् सृष्टि प्रारम्भ कर दी।

तात्पर्य : किसी काल विशेष में कारणोदशकशायी भगवान् विष्णु-कारण सागर में शयन करते हैं और अपनी श्वास से हजारों ब्रह्माण्डों की सृष्टि करते हैं। तब वे प्रत्येक ब्रह्माण्ड़ में गर्भोदकशायी विष्णु के रूप में पुन: प्रवेश करते हैं और अपने पसीने से प्रत्येक ब्रह्माण्ड के अर्धांश को भर देते हैं। शेष आधा भाग शून्य रहता है, जिसे बाह्य आकाश (अन्तरिक्ष) कहते हैं। तब उनके उदर से कमलपुष्प प्रकट होता है और प्रथम जीव ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है। तब भगवान् पुन: क्षीरोदकशायी विष्णु के रूप में ब्रह्मा समेत प्रत्येक जीवात्मा के हृदय में प्रवेश

करते हैं। *भगवद्गीता* के पंद्रहवें अध्याय से इसकी पुष्टि हुई है। भगवान् कहते हैं, ''मैं सबों के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति तथा विस्मृति सम्भव हैं।'' कर्म के साक्षीस्वरूप भगवान् प्रत्येक जीवात्मा को विगत कल्पान्त के प्रलय के समय जिसकी जो इच्छा थी उसे तदनुसार स्मृति तथा बुद्धि प्रदान करते हैं। यह बुद्धि अपनी क्षमता के अनुसार अथवा कर्म के नियम द्वारा प्राप्त होती है।

ब्रह्मा प्रथम जीवात्मा हैं और श्रीभगवान् ने उन्हें रजोगुण का अधिकारी बनाया, अतः उन्हें आवश्यक बुद्धि प्रदान की गई जो इतनी व्यापक तथा शक्तिशाली है, जिससे वे श्रीभगवान् के नियन्त्रण से लगभग स्वतन्त्र हो गये। जिस प्रकार उच्च पद वाला मैनेजर किसी संस्थान के मालिक के ही समान स्वतन्त्र होता है उसी प्रकार यहाँ ब्रह्मा को स्वतन्त्र बताया गया है, क्योंकि ब्रह्माण्ड को वश में रखने वाले भगवान् के प्रतिनिधि-रूप में वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के ही समान शक्तिमान तथा स्वतन्त्र हैं। भगवान् ने ब्रह्मा के भीतर परमात्मा रूप में उन्हें सृजन करने की बुद्धि प्रदान की। अतः प्रत्येक जीवात्मा की बुद्धि उसकी अपनी नहीं होती; यह तो भगवान् की कृपा है कि मनुष्य सृष्टि कर सकता है। इसी संसार में ऐसे अनेक वैज्ञानिक तथा महान् कार्यकर्ता हैं जिनमें अद्भुत सृजन-शक्ति है, किन्तु वे परमेश्वर के निर्देशन के अनुसार ही सृष्टि करते हैं। कोई वैज्ञानिक भगवान् के निर्देशन से अनेक आश्चर्यमय आविष्कार कर सकता है, किन्तु उसके वश में न तो यह है कि अपनी बुद्धि से वह भौतिक प्रकृति के कठोर नियमों पर विजय पा ले, न ही भगवान् से ऐसी बुद्धि प्राप्त कर पाना सम्भव है, क्योंकि तब भगवान् की सर्वोच्चता बाधित होगी। इस श्लोक में कहा गया है कि ब्रह्मा ने ब्रह्माण्ड की सृष्टि की जैसी यह पहले थी। इसका अर्थ यह हुआ कि उन्होंने उसी नाम तथा रूपवाली प्रत्येक वस्तु की सृष्टि की जैसी कि वे पहले के दृश्य जगत में थीं।

ससर्ज च्छाययाविद्यां पञ्चपर्वाणमग्रतः ।
तामिस्रमन्धतामिस्रं तमो मोहो महातमः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ससर्ज—उत्पन्न किया; छायया—अपनी छाया से; अविद्याम्—अज्ञान; पञ्च-पर्वाणम्—पाँच प्रकार; अग्रतः—सर्वप्रथम; तामिस्रम्—तामिस्र; अन्ध-तामिस्रम्-अन्ध-तामिस्र; तमः-तमस्; मोहः-मोह; महा-तमः-महा-तमस्, ओर् महा-मोह.

ब्रह्मा ने सबसे पहले अपनी छाया से बद्धजीवों के अज्ञान के आवरण (कोश) उत्पन्न किये। इनकी संख्या पाँच है और ये तामिस्र, अन्ध-तामिस्र, तमस्, मोह तथा महामोह कहलाते हैं।

तात्पर्य : इस भौतिक संसार में इन्द्रियतृप्ति के उद्देश्य से जो बद्धजीव या जीवात्माएँ आती हैं, वे प्रारम्भ में पाँच विभिन्न दशाओं से आच्छादित रहती हैं। पहली दशा है तामिस्र कोश अर्थात् क्रोध। स्वाभाविक रूप से प्रत्येक जीवात्मा को थोड़ी स्वतन्त्रता प्राप्त है, किन्तु यदि जीवात्मा यह सोचे कि वह परमेश्वर के समान स्वतंत्र भोग क्यों नहीं करता या यह कि उन्हीं के समान मुक्त भोक्ता क्यों नहीं हो जाता तो यह उस किञ्चित स्वतन्त्रता का दुरुपयोग कहा जाएगा। उसका अपनी इस स्वाभाविक स्थिति को भूलने का कारण क्रोध या द्वेष है। जीवात्मा भगवान् का शाश्वत अंश होने के कारण कभी भी भगवान् के समान भोक्ता नहीं बन सकता। किन्तु जब यह इसे भूल जाता है और भगवान् से समता करने लगता है, तो उसकी इस अवस्था (दृश्य) को तामिस्र कहते हैं। आत्मसाक्षात्कार के क्षेत्र में भी जीवात्मा की तामिस्र प्रवृत्ति बनी रहती है। इस भौतिक जीवन के बन्धन से छुटकारा पाने का प्रयत्न करते हुए अनेक लोग परब्रह्म से तादात्म्य चाहते हैं। उनके दिव्य कर्मों में भी यह तामिस्र की निम्न प्रवृत्ति बनी रहती है।

अन्ध-तामिस्र में मृत्यु को परम अन्त माना जाता है। नास्तिक सामान्य रूप से सोचते हैं कि यह शरीर ही आत्मा है और इस शरीर के अन्त होते ही सब कुछ अन्त हो जाता है, फलतः जब तक यह शरीर है तब तक वे भौतिक जीवन का आनन्द उठाना चाहते हैं। उनका यह सिद्धान्त इस प्रकार है—"जब तक जीवित रहो तब तक ठाठ-बाट से रहो। सभी प्रकार के पापों को करते हुए उन पर ध्यान न दो। अच्छा-अच्छा खाओ। माँगकर, उधार लेकर तथा चुरा कर पेट भरो और यह न सोचो कि चुराने तथा माँगने से तुम पाप-कर्मों के भागी होगे। इस भ्रान्त धारणा को भूल जाओ, क्योंकि मृत्यु के बाद सब कुछ समाप्त हो जाएगा। अपने जीवन

में जो कुछ किया जाता है उसके लिए कोई उत्तरदायी नहीं है।'' इस नास्तिकतावादी विचारधारा से मानव सभ्यता विनष्ट हो रही है, यह नित्य जीवन के सातत्य का ज्ञान न होने के कारण है।

यह अंध-तामिस्र अज्ञान तमस् के कारण है। आत्मा के सम्बन्ध में कुछ भी न जानना तमस् है। यह भौतिक जगत भी प्राय: तमस् कहलाता है क्योंकि इसके ९९ प्रतिशत से अधिक जीव आत्मा के स्वरूप से अपरिचित रहते हैं। प्राय: प्रत्येक व्यक्ति सोचता है कि वह शरीर है, उसे आत्मा से सम्बन्ध में किसी प्रकार की जानकारी नहीं होती। इस भ्रान्त धारणावश वह सदैव सोचता रहता है, ''यह मेरा शरीर है और इस शरीर से सम्बन्धित सभी वस्तुएँ मेरी हैं।'' ऐसी दिग्भ्रमित जीवात्माओं के लिए संभोग-सुख ही इस भौतिक जगत का मूलाधार है। वस्तुत: इस भौतिक जगत में अज्ञानवश बद्धजीव संभोग जीवन से निर्देशित होते हैं और ज्योंही उन्हें विषयवासना का अवसर प्राप्त होता हैं, वे तथाकथित घर, मातृभूमि, सन्तान, सम्पत्ति तथा ऐश्वर्य के प्रति आसक्त हो उठते हैं। ज्यों-ज्यों यह आसक्ति बढ़ती जाती है त्यों-त्यों मोह भी बढ़ता जाता है। इस प्रकार, ''मैं तथा मेरा'' विचार की वृद्धि होती जाती है और जब यह बढ़ जाता है, तो सारा संसार मोहग्रस्त हो जाता है, जिससे साम्प्रदायिकता, समाज, परिवार तथा राष्ट्रों का जन्म होता है और वे एक दूसरे से झगड़ते रहते हैं। महा-मोह का अर्थ है भौतिक सुख के पीछे पागल रहना। विशेषरूप से इस कलियुग में प्रत्येक मनुष्य भौतिक सुख की साज-सामग्री संग्रह करने के पीछे दीवाना रहता है। ये परिभाषाएँ *विष्णुपुराण* में सुन्दर ढंग से दी गई हैं। यथा

तमोऽविवेको मोह: स्याद् अन्त:करणविभ्रम:।
महामोहस्तु विज्ञेयो ग्राम्यभोग-सुखैषणा॥
मरणं ह्यन्धतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते।
अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मन:॥

विससर्जात्मनः कायं नाभिनन्दंस्तमोमयम् ।
जगृहुर्यक्षरक्षांसि रात्रिं क्षुत्तृट्समुद्भवाम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

विससर्ज—फेंक दिया; आत्मनः—अपना; कायम्—शरीर; न—नहीं; अभिनन्दन्—प्रसन्न होकर; तमः-मयम्—अज्ञान से युक्त; जगृहुः—अधिकार कर लिया; यक्ष-रक्षांसि—यक्ष तथा राक्षस; रात्रिम्—रात; क्षुत्—भूख; तृट्—प्यास; समुद्भवाम्—स्रोत।

क्रोध के कारण ब्रह्मा ने उस अविद्यामय शरीर को त्याग दिया। इस अवसर का लाभ उठाकर यक्ष तथा राक्षसगण उस रात्रि रूप में स्थित शरीर पर अधिकार जमाने के लिए कूद-फाँद मचाने लगे। रात्रि भूख तथा प्यास की स्रोत है।

क्षुत्तृड्भ्यामुपसृष्टास्ते तं जग्धुमभिदुद्रुवुः ।
मा रक्षतैनं जक्षध्वमित्यूचुः क्षुत्तृडर्दिताः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

क्षुत्-तृड्भ्याम्—भूख तथा प्यास से; उपसृष्टाः—पराजित; ते—वे असुर (यक्ष तथा राक्षस); तम्—ब्रह्मा को; जग्धुम्—खाने को; अभिदुद्रुवुः—आगे को दौड़ा; मा—मत; रक्षत—बचाओ, छोड़ो; एनम्—उसको; जक्षध्वम्—खाओ; इति—इस प्रकार; ऊचुः—कहा; क्षुत्-तृट्-अर्दिताः—भूख तथा प्यास से आकुल।

भूख तथा प्यास से अभिभूत होकर वे चारों ओर से ब्रह्मा को खा जाने के लिए दौड़े और चिल्लाए, "उसे मत छोड़ो, उसे खा जाओ।"

तात्पर्य : आज भी विश्व के कुछ देशों में यक्षों तथा राक्षसों के प्रतिनिधि विद्यमान हैं। ऐसा माना जाता है कि ऐसे असभ्य मनुष्यों को अपने ही बाप-दादों को मारने में मजा आता है और वे उन शरीरों को भूनकर प्रेम-उत्सव मनाते हैं।

देवस्तानाह संविग्नो मा मां जक्षत रक्षत ।
अहो मे यक्षरक्षांसि प्रजा यूयं बभूविथ ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

देवः—ब्रह्माजी ने; तान्—उनको; आह—कहा; संविग्नः—चिन्तित; मा—मत; माम्—मुझको; जक्षत—खाओ; रक्षत—रक्षा करो; अहो—ओह; मे—मेरे; यक्ष-रक्षांसि—हे यक्ष तथा राक्षसों; प्रजाः—पुत्र; यूयम्—तुम सब; बभूविथ—उत्पन्न हुए थे।

देवताओं के प्रधान ब्रह्माजी ने घबराकर उनसे कहा, "मुझे खाओ नहीं, मेरी रक्षा करो। तुम मुझसे उत्पन्न हो और मेरे पुत्र हो चुके हो। अतः तुम लोग यक्ष तथा राक्षस हो।"

तात्पर्य : ब्रह्मा के शरीर से उत्पन्न असुर, यक्ष तथा राक्षस कहलाये क्योंकि उनमें से कुछ चिल्लाए कि ब्रह्मा को मारकर खा जाओ और कुछ ने कहा रक्षा मत करो। जिन्होंने कहा था कि ब्रह्मा को खा जाओ वे यक्ष कहलाए और जिन्होंने कहा इसकी रक्षा मत करो वे राक्षस अर्थात् मानवभक्षी कहलाए। यक्ष तथा राक्षस ये दोनों ब्रह्मा की आदि सृष्टि हैं और आज भी असभ्य मनुष्यों का प्रतिनिधित्व करते हैं और में सारे संसार में फैले हुए हैं। वे तमोगुण से उत्पन्न हैं, अत: अपने आचरण के कारण वे राक्षस अर्थात् मानवभक्षी कहलाते हैं।

देवताः प्रभया या या दीव्यन्प्रमुखतोऽसृजत् ।
ते अहार्षुर्देवयन्तो विसृष्टां तां प्रभामहः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

देवताः—देवतागण; प्रभया—प्रकाश के तेज से; याः याः—जो जो; दीव्यन्—चमकते हुए; प्रमुखतः—मुख्य रूप से; असृजत्—उत्पन्न किया; ते—उन्होंने; अहार्षुः—अधिकार जमा लिया; देवयन्तः—सक्रिय होने से; विसृष्टाम्—पृथक् किया हुआ; ताम्—उस; प्रभाम्—तेज को; अहः—दिन।

तब उन्होंने प्रमुख देवताओं की सृष्टि की जो सात्त्विक प्रभा से चमचमा रहे थे। उन्होंने देवताओं के समक्ष दिन का तेज फैला दिया जिस पर देवताओं ने खेल-खेल में ही अधिकार जमा लिया।

तात्पर्य : रात्रि की सृष्टि के साथ असुर और दिन की उत्पत्ति के साथ देवता उत्पन्न हुए। दूसरे शब्दों में, यक्ष तथा राक्षस जैसे असुर अविद्या के गुण से और देवता सात्त्विकता के गुण से उत्पन्न हुए हैं।

देवोऽदेवाञ्जघनतः सृजति स्मातिलोलुपान् ।
त एनं लोलुपतया मैथुनायाभिपेदिरे ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

देवः—ब्रह्माजी ने; अदेवान्—असुरों को; जघनतः—अपने नितंबों से; सृजति स्म—उत्पन्न किया; अति-लोलुपान्—अत्यन्त कामुक (विषयी); ते—वे; एनम्—ब्रह्माजी; लोलुपतया—कामवश; मैथुनाय—संभोग के लिए; अभिपेदिरे—निकट आये।

ब्रह्माजी ने अपने नितंब प्रदेश से असुरों को उत्पन्न किया जो अत्यन्त कामी थे। अत्यन्त कामी होने के कारण वे संभोग के लिए उनके निकट आ गये।

तात्पर्य : विषयी जीवन इस भौतिक संसार की आधारभूमि है। यहाँ पर भी यही दुहराया गया है कि असुर विषय-वासना के अत्यन्त प्रेमी होते हैं। जो विषय-वासना से जितना ही मुक्त होता जाता है, वह उतना ही देवत्व के स्तर की ओर अग्रसर होता है और जिसका काम-वासना के प्रति जितना झुकाव होता है, वह उतना ही आसुरी जीवन की अधोगति को प्राप्त होता है।

ततो हसन्स भगवानसुरैर्निरपत्रपैः ।
अन्वीयमानस्तरसा क्रुद्धो भीतः परापतत् ॥ २४॥

शब्दार्थ

ततः—तब; हसन्—हँसते हुए; सः भगवान्—पूज्य ब्रह्माजी; असुरैः—असुरों के द्वारा; निरपत्रपैः—निर्लज्ज; अन्वीयमानः—पीछा करते हुए; तरसा—तेजी से; क्रुद्धः—नाराज; भीतः—भयभीत; परापतत्—भाग गया।.

पहले तो पूज्य ब्रह्माजी उनकी मूर्खता पर हँसे, किन्तु उन निर्लज्ज असुरों को अपना पीछा करते देखकर वे क्रुद्ध हुए और भयभीत होकर हड़बड़ी में भागने लगे।

तात्पर्य : विषयी असुरों को अपने पिता के प्रति भी आदरभाव नहीं रह जाता, अतः ब्रह्मा जैसे साधु पिता के लिए सबसे अच्छी नीति यही है कि ऐसे असुर-पुत्रों का परित्याग कर दे।

स उपव्रज्य वरदं प्रपन्नार्तिहरं हरिम् ।
अनुग्रहाय भक्तानामनुरूपात्मदर्शनम् ॥ २५॥

शब्दार्थ

सः—ब्रह्माजी; उपव्रज्य—पास पहुँच कर; वर-दम्—समस्त वरों के दाता; प्रपन्न—चरणकमल की शरण लेने वाले; आर्ति—कष्ट; हरम्—दूर करने वाला; हरिम्—भगवान् श्री हरि के; अनुग्रहाय—कृपावश; भक्तानाम्—अपने भक्तों के प्रति; अनुरूप—उपयुक्त रूप में; आत्म-दर्शनम्—अपने आप को प्रकट करने वाला।.

वे भगवान् श्री हरि के पास पहुँचे जो समस्त वरों को देने वाले तथा अपने भक्तों एवं अपने चरणों की शरण ग्रहण करने वालों की पीड़ा को हरने वाले हैं। वे अपने भक्तों की तुष्टि के लिए असंख्य दिव्य रूपों में प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : *भक्तानाम् अनुरूपात्मदर्शनम्* शब्दों का अर्थ है कि भक्तों की इच्छानुरूप भगवान् अपने विविध रूपों को प्रकट करते हैं। उदाहरणार्थ, हनुमानजी (बज्राङ्ग जी) भगवान् को भगवान् श्रीरामचन्द्र के रूप में देखना चाहते थे जब कि कुछ अन्य वैष्णव राधाकृष्ण रूपमें

देखना चाहते हैं और कुछ ऐसे हैं, जो भगवान् को लक्ष्मीनारायण रूप में देखना चाहते हैं। मायावादी दार्शनिकों का विचार है कि यद्यपि भगवान् द्वारा ये सभी रूप भक्तों की इच्छानुसार धारण किये जाते हैं, किन्तु वास्तव में वे निराकार हैं। तो भी *ब्रह्म-संहिता* से हमें ज्ञात होता है कि ऐसा है नहीं, भगवान् के विविध रूप होते हैं। उसमें कहा गया है *अद्वैतम् अच्युतम्*। भगवान् भक्त की कल्पना के कारण भक्त के समक्ष प्रकट नहीं होते। *ब्रह्म-संहिता* यह भी बताती है कि भगवान् के अनेक रूप हैं—*रामादि-मूर्तिषु, कलानियमेन तिष्ठन्*। वे करोड़-करोड़ रूपों में विद्यमान हैं। जीवात्माओं की चौरासी लाख योनियाँ हैं, किन्तु परमेश्वर के अवतार अनन्त हैं। *भागवत* में कहा गया है कि जिस प्रकार समुद्र की तरंगें नहीं गिनी जा सकतीं, क्योंकि वे लगातार प्रकट और लुप्त होती रहती हैं, उसी प्रकार भगवान् के अवतार तथा रूप भी अनन्त हैं। भक्त किसी रूप विशेष के प्रति अनुरक्त होता है और वह इसी रूप को पूजता है। हम इस ब्रह्माण्ड में उनके आदि वराह रूप की चर्चा अभी अभी कर चुके हैं। ऐसे अनेक ब्रह्माण्ड हैं और इनमें से किसी एक में वराह रूप सम्प्रति विद्यमान होगा। भगवान् के समस्त रूप नित्य हैं। यह तो भक्त की रुचि पर निर्भर करता है कि वह भगवान् के किस रूप की पूजा करता है। रामायण के एक श्लोक में राम के परम भक्त हनुमान कहते हैं, "मैं जानता हूँ कि श्रीभगवान् के सीताराम तथा लक्ष्मीनारायण रूपों में कोई अन्तर नहीं है, तो भी मेरा अनुराग और प्रेम राम तथा सीता के रूप में घुल-मिल गया है। अत: मैं भगवान् के राम तथा सीता के ही रूप का दर्शन करना चाहता हूँ।" इसी प्रकार गौड़ीय वैष्णव राधा तथा कृष्ण और द्वारकावासी कृष्ण तथा रुक्मिणी रूपों से प्रेम करते हैं। *भक्तानाम् अनुरूपात्मदर्शनम्* शब्दों का अर्थ है कि भगवान् उसे उस विशेष रूप में दर्शन देते हैं जिस रूप में भक्त उनकी पूजा और सेवा करना चाहते हैं। इस श्लोक में बताया गया है कि ब्रह्माजी भगवान् हरि के पास पहुँचे। भगवान् का यह क्षीरोदकशायी विष्णु रूप है। जब कभी कोई संकट आता है और ब्रह्माजी को भगवान् के पास जाना पड़ता है, तो ब्रह्माजी, क्षीरोदकशायी विष्णु के पास ही पहुँच सकते हैं और यह भगवान् का अनुग्रह है कि जब भी ब्रह्माण्ड के उत्पातों के बारे में ब्रह्मा उनके पास

जाते हैं, वे अनेकानेक प्रकार से उनका संकट दूर करते हैं।

पाहि मां परमात्मंस्ते प्रेषणेनासृजं प्रजाः ।
ता इमा यभितुं पापा उपाक्रामन्ति मां प्रभो ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

पाहि—रक्षा कीजिये; माम्—मुझको; परम-आत्मन्—हे परमेश्वर; ते—तुम्हारी; प्रेषणेन—आज्ञा से; असृजम्—मैंने उत्पन्न किया; प्रजाः—समस्त जीव; ताः इमाः—वे ही; यभितुम्—संभोग की इच्छा से; पापाः—पापी जीव; उपाक्रामन्ति—पास आ रहे हैं; माम्—मेरे; प्रभो—हे भगवान्।

भगवान् के पास जाकर ब्रह्माजी ने उन्हें इस प्रकार सम्बोधित किया—हे भगवान्, इन पापी असुरों से मेरी रक्षा करें, जिन्हें आपकी आज्ञा से मैंने उत्पन्न किया था। ये विषय-वासना की भूख से क्रोधोन्माद में आकर मुझ पर आक्रमण करने आये हैं।

तात्पर्य : इस घटना से ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न असुरों की सृष्टि में पुरुषों के मध्य समलिंगी तृषा उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दों में, एक पुरुष द्वारा दूसरे पुरुष के लिए समलिंगी भूख आसुरी है और सामान्य जीवन में किसी भी बुद्धिमान मनुष्य के लिए उचित नहीं है।

त्वमेकः किल लोकानां क्लिष्टानां क्लेशनाशनः ।
त्वमेकः क्लेशदस्तेषामनासन्नपदां तव ॥ २७॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; एकः—अकेले; किल—निस्सन्देह; लोकानाम्—मनुष्यों के; क्लिष्टानाम्—क्लेशों से ग्रस्त; क्लेश—कष्ट; नाशनः—नाश करने के लिए; त्वम् एकः—तुम्हीं अकेले; क्लेश-दः—क्लेश देने वाले; तेषाम्—उन पर; अनासन्न—जो शरण नहीं लेते; पदाम्—पैरों की; तव—तुम्हारे।

हे भगवान्, केवल आप ही दुखियों के कष्ट दूर करने और आपके चरणों की शरण में न आने वालों को यातना देने में समर्थ हैं।

तात्पर्य : *क्लेशदस्तेषामनासन्नपदां तव* शब्द सूचित करते हैं कि भगवान् के दो काम हैं। प्रथम यह कि जो उनके चरणकमलों की शरण में आता है उसे सुरक्षा प्रदान करें और दूसरा यह कि जो आसुरी स्वभाव के हैं और भगवान् से वैर-भाव रखते हैं उन्हें कष्ट पहुँचाएं। माया का कार्य है अभक्तों को कष्ट पहुँचाना। यहाँ ब्रह्मा कहते हैं, ''आप शरणागत जीवों के रक्षक हैं

अत: मैं आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण करता हूँ। कृपा करके इन असुरों से मेरी रक्षा करें।''

सोऽवधार्यास्य कार्पण्यं विविक्ताध्यात्मदर्शनः ।
विमुञ्चात्मतनुं घोरामित्युक्तो विमुमोच ह ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

सः—परमेश्वर, हरि; अवधार्य—देखकर; अस्य—ब्रह्मा की; कार्पण्यम्—व्यथा; विविक्त—सन्देहरहित; अध्यात्म—अन्यों के मन; दर्शनः—जो देख सकता है; विमुञ्च—त्याग दो; आत्म-तनुम्—अपना शरीर; घोराम्—अपवित्र; इति उक्तः—इस प्रकार आदेशित होकर; विमुमोच ह—ब्रह्माजी ने छोड़ दिया।

सबों के मनों को स्पष्ट रूप से देख सकने वाले भगवान् ने ब्रह्मा की वेदना समझ ली और वे उनसे बोले, ''तुम अपना यह अशुद्ध शरीर त्याग दो।'' भगवान् से आदेश पाकर ब्रह्मा ने अपना शरीर त्याग दिया।

तात्पर्य : भगवान् को इस श्लोक में *विविक्ताध्यात्मदर्शन:* कहा गया है। यदि कोई पराये दुख को पूर्णरूपेण बिना सन्देह के देख सकता है, तो वह स्वयं भगवान् ही है। यदि कोई मनुष्य कष्ट में होता है और अपने मित्र से उसका निवारण चाहता है, तो ऐसा कभी कभी होता है कि मित्र उसके दुख की सघनता को नहीं समझ पाता, किन्तु भगवान् के लिए ऐसा कर पाना कठिन नहीं है। परमात्मा रूप में वह प्रत्येक जीवात्मा के शरीर में स्थित है और वह दुख के वास्तविक कारणों को प्रत्यक्ष देखता रहता है। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं *सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः*—मैं सबों के हृदय में स्थित हूँ और मुझी से स्मृति तथा विस्मृति उत्पन्न होती है। इस प्रकार जब कोई पूर्णतया भगवान् की शरण में चला जाता है, तो वह भगवान् को अपने हृदय में संस्थित पाता है। वे हमें संकट से उबरने अथवा अपनी भक्ति करने के उपाय के लिए आदेश दे सकते हैं। फिर भी भगवान् ने ब्रह्मा से अपना वर्तमान शरीर त्यागने के लिए कहा, क्योंकि उससे आसुरी तत्त्व उत्पन्न हुआ था। श्रीधर स्वामी के अनुसार ब्रह्मा के द्वारा निरन्तर शरीर त्याग यह सूचित नहीं करता कि वास्तव में वे अपना शरीर त्यागते हैं, वरन् वे यह सुझाव देते हैं कि ब्रह्मा ने एक विशेष प्रकार की मानसिकता का परित्याग किया। मन जीवात्मा का सूक्ष्म शरीर है। हम कभी ऐसे विचार में मग्न हो सकते हैं, जो पापमय हो, किन्तु यदि हम इस

पापमय विचार को त्याग दें तो यह कहा जा सकता है कि हम शरीर त्याग कर रहे हैं। जब ब्रह्मा ने असुरों को उत्पन्न किया, तो उनका मन ठिकाने पर नहीं था। हो सकता है कि वह काममय रहा हो, क्योंकि सारी सृष्टि कामुक थी। इसीलिए ऐसी कामुक सन्तानें उत्पन्न हुईं। इसका यह अर्थ हुआ कि माता-पिता को सन्तान उत्पन्न करते समय सतर्क रहना चाहिए। सन्तान की मानसिक अवस्था गर्भाधान के समय माता-पिता की मानसिक स्थिति पर निर्भर करती है। इसीलिए वैदिक पद्धति में सन्तानोत्पत्ति के लिए गर्भाधान संस्कार सम्पन्न किया जाता है। सन्तान उत्पन्न करने के पूर्व आतुर मन को शान्त करना आवश्यक है। जब माता-पिता भगवान् के पादपद्मों में अपने मन को रमाते हैं, तो ऐसी स्थिति में जो सन्तान उत्पन्न होती है, वह स्वभावत: भक्त बनती है और जब समाज ऐसे उत्तम लोगों से पूर्ण रहता है, तो आसुरी प्रवृत्तियों के कारण कोई कष्ट नहीं पहुँचता।

तां क्वणच्चरणाम्भोजां मदविह्वललोचनाम् ।
काञ्चीकलापविलसद्दुकूलच्छन्नरोधसम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उस शरीर को; क्वणत्—नुपुर ध्वनि करता; चरण-अम्भोजाम्—चरणकमल वाली; मद—नशा; विह्वल—विभोर; लोचनाम्—आँखों वाली; काञ्ची-कलाप—स्वर्णाभरण से निर्मित करधनी वाली; विलसत्—चमकती; दुकूल—महीन वस्त्र से; छन्न—ढकी; रोधसम्—कटि वाली।.

ब्रह्मा द्वारा परित्यक्त शरीर ने सन्ध्या का रूप धारण कर लिया जो काम को जगाने वाली दिन-रात की संधि वेला है। असुर जो स्वभाव से कामुक होते हैं और जिनमें रजोगुण का प्राधान्य होता है उसे सुन्दरी मान बैठे जिसके चरण-कमलों से नूपुरों की ध्वनि निकल रही थी, जिसके नेत्र मद से विस्तीर्ण थे और जिसका कटि भाग महीन वस्त्र से ढका था और जिस पर मेखला चमक रही थी।

तात्पर्य : जिस प्रकार प्रात:काल आत्मचिन्तन की वेला है उसी प्रकार संध्या काम (विषय वासना) की वेला है। आसुरी पुरुष प्राय: विषय-सुख के लिए लालायित रहते हैं, अत: संध्या का आना उन्हें प्रीतिकर लगता है। संध्या आगमन को असुरगण ने एक सुन्दरी स्त्री मान लिया और वे उसे कई प्रकार से चाहने लगे। उन्होंने उस संध्या को एक सुन्दरी मान लिया जिसके

पाँव के नूपुर से रुनझुन हो रही थी, जिसके कटि प्रदेश में मेखली थी, सुन्दर-सुन्दर उरोज थे और अपनी कामतुष्टि के लिए उन्हें इस सुन्दरी बाला को अपने समक्ष प्रकट होने का आयास हुआ।

अन्योन्यश्लेषयोत्तुङ्गनिरन्तरपयोधराम् ।
सुनासां सुद्विजां स्निग्धहासलीलावलोकनाम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अन्योन्य—परस्पर; श्लेषया—चिपकने से; उत्तुङ्ग—उठे हुए; निरन्तर—अन्तर हीन (सटे); पयः-धराम्—स्तन; सु-नासाम्—सुन्दर नाक; सु-द्विजाम्—सुन्दर दाँत; स्निग्ध—आकर्षक; हास—हँसी; लीला-अवलोकनाम्—विलासमयी चितवन।

एक दूसरे से सटे होने के कारण उसके स्तन ऊपर उठे हुए थे और उनके बीच में कोई रिक्त स्थान बचा न था। उसकी नाक तथा दाँतों की बनावट सुन्दर थी; उसके होठों पर आकर्षक हँसी नाच रही थी और वह असुरों को क्रीड़ापूर्ण चितवन से देख रही थी।

गूहन्तीं व्रीडयात्मानं नीलालकवरूथिनीम् ।
उपलभ्यासुरा धर्म सर्वे सम्मुमुहुः स्त्रियम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

गूहन्तीम्—छिपाते हुए; व्रीडया—लज्जावश; आत्मानम्—अपने आपको; नील—काले; अलक—बाल; वरूथिनीम्—गुच्छा; उपलभ्य—कल्पना करके; असुराः—असुरगण; धर्म—हे विदुर; सर्वे—सभी; सम्मुमुहुः—मोहित हो गये; स्त्रियम्—स्त्री को।

काले-काले बालसमूह से विभूषित वह मानो लज्जावश अपने को छिपा रही थी। उस बाला को देखकर सभी असुर विषय-वासना की भूख से मोहित हो गये।

तात्पर्य : असुरों तथा देवताओं में यही अन्तर है कि सुन्दर स्त्री असुरों के मन को आकृष्ट कर लेती है, किन्तु वह दैव-पुरुषों के मन को आकृष्ट नहीं कर पाती। दैव-पुरुष ज्ञान से पूर्ण होता है जब कि असुर अविद्या से। जिस प्रकार कोई शिशु किसी सुन्दर गुड़िया के द्वारा आकृष्ट हो उठता है उसी प्रकार से एक असुर कम बुद्धिमान होने तथा अविद्या से पूर्ण होने के कारण भौतिक सुन्दरता से तथा विषय-भोग की भूख से आकृष्ट होता है। दैव-पुरुष जानता है कि सुघड़ वेशभूषा और उन्नत उरोज, उठे नितम्ब, सुन्दर नासिका तथा सुन्दर रूप-रंग का यह

आकर्षण माया है। स्त्री में प्रदर्शित होने वाली सारी सुन्दरता रक्त तथा मांस के संयोग से बनी है। श्रीशंकराचार्य ने ऐसे समस्त पुरुषों को रक्त तथा मांस के इस संयोग के प्रति नहीं वरन् आध्यात्मिक-जीवन के वास्तविक सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होने का उपदेश दिया है। वास्तविक सौन्दर्य तो कृष्ण तथा राधा हैं। जो मनुष्य इनके सौन्दर्य से आकृष्ट हो चुका है, वह भौतिक जगत के मिथ्या सौन्दर्य से आकृष्ट नहीं हो सकता। एक असुर तथा दैव पुरुष अथवा भक्त में यही अन्तर होता है।

अहो रूपमहो धैर्यमहो अस्या नवं वयः ।
मध्ये कामयमानानामकामेव विसर्पति ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; रूपम्—कैसा सौन्दर्य; अहो—ओह; धैर्यम्—कैसा धैर्य (संयम); अहो—ओह; अस्याः—इसका; नवम्—उभरता हुआ; वयः—यौवन; मध्ये—बीच में; कामयमानानाम्—कामियों के; अकामा—कामरहित; इव—सदृश; विसर्पति—साथ टहल रही है।

असुरों ने उसकी प्रशंसा की—अहा! कैसा रूप, कैसा अप्रतिम धैर्य, कैसा उभरता यौवन, हम कामपीड़ितों के बीच वह इस प्रकार विचर रही है मानो काम-भाव से सर्वथा रहित हो।

वितर्कयन्तो बहुधा तां सन्ध्यां प्रमदाकृतिम् ।
अभिसम्भाव्य विश्रम्भात्पर्यपृच्छन्कुमेधसः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

वितर्कयन्तः—तर्क-वितर्क करते हुए; बहुधा—अनेक प्रकार से; ताम्—उस; सन्ध्याम्—संध्या वेला को; प्रमदा—तरुणी स्त्री; आकृतिम्—के रूप में; अभिसम्भाव्य—सम्मानपूर्वक; विश्रम्भात्—प्यार से; पर्यपृच्छन्—पूछी जाकर; कु-मेधसः—दुष्ट बुद्धि वाले।

तरुणी स्त्री के रूप में प्रतीत होने वाली संध्या के विषय में अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क करते हुए दुष्ट-बुद्धि असुरों ने उसका अत्यन्त आदर किया और उससे प्रेमपूर्वक इस प्रकार बोले।

कासि कस्यासि रम्भोरु को वार्थस्तेऽत्र भामिनि ।
रूपद्रविणपण्येन दुर्भगान्नो विबाधसे ॥ ३४॥

शब्दार्थ

का—कौन; असि—हो; कस्य—किसकी; असि—हो; रम्भोरु—हे सुन्दरी; कः—क्या; वा—अथवा; अर्थः—प्रयोजन; ते—तुम्हारा; अत्र—यहाँ; भामिनि—हे कामिनी; रूप—सौन्दर्य; द्रविण—अमूल्य; पण्येन—सामग्री से; दुर्भगान्—अभागे; नः—हमें; विबाधसे—तरसा रही हो।

हे सुन्दरी बाला, तुम कौन हो? तुम किसकी पत्नी या पुत्री हो और तुम हम सबों के समक्ष किस प्रयोजन से प्रकट हुई हो? हम अभागों को तुम अपने सौन्दर्य रूपी अमूल्य सामग्री से क्यों तरसा रही हो?

तात्पर्य : यहाँ पर भौतिक जगत के मिथ्या सौन्दर्य के प्रति असुरों का आकर्षण दिखाया गया है। असुर लोग इस संसार में त्वचा-सौन्दर्य के लिए कोई भी मूल्य चुका सकते हैं। वे अहर्निश कठोर श्रम करते हैं, किन्तु इस कठिन श्रम का प्रयोजन विषयी जीवन का आनन्द उठाना है। कभी-कभी वे योग का अर्थ न जानते हुए अपने आपको कर्मयोगी बतलाते हैं। योग का अर्थ है पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साथ अपने को जोड़ना अथवा कृष्णभावनामृत के लिए कर्म करना। ऐसा मनुष्य, जो कठोर श्रम करता है, वह चाहे जिस उद्यम में हो तथा ऐसा मनुष्य जो अपने कर्म के फल को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण की सेवा में अर्पित कर देता है, कर्मयोगी कहलाता है।

या वा काचित्त्वमबले दिष्ट्या सन्दर्शनं तव ।
उत्सुनोषीक्षमाणानां कन्दुकक्रीडया मनः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

या—जो कोई भी; वा—अथवा; काचित्—कोई; त्वम्—तुम; अबले—हे सुन्दरी बाला; दिष्ट्या—भाग्यवश; सन्दर्शनम्—दर्शन पाकर; तव—तुम्हारा; उत्सुनोषि—विचलित करती हो; ईक्षमाणानाम्—देखने वालों के; कन्दुक—गेंद के साथ; क्रीडया—खेल से; मनः—मन।

हे सुन्दरी बाला, तुम चाहे जो भी हो, हम भाग्यशाली हैं कि तुम्हारा दर्शन कर रहे हैं। तुमने गेंद के अपने खेल से हम दर्शकों के मन को विचलित कर दिया है।

तात्पर्य : असुर लोग सुन्दरी स्त्री की सुन्दरता को देखने के लिए नाना प्रकार के आयोजन करते हैं। यहाँ यह बताया गया है कि उन्होंने गेंद खेलती हुई तरुणी को देखा। कभी-कभी आसुरी लोग टेनिस जैसे खेलों का आयोजन विपरीत लिंगी (स्त्रियों) के साथ करते हैं। ऐसे आयोजनों का उद्देश्य सुन्दरी बाला के शारीरिक सौन्दर्य का अवलोकन तथा सूक्ष्म कामभाव का

आनन्द उठाना है। ऐसी आसुरी काम-प्रवृत्ति को कभी-कभी तथाकथित योगी भी बढ़ावा देते हैं, जो जनता को विभिन्न प्रकार से विषयी जीवन व्यतीत करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं और विज्ञापित करते हैं कि यदि कोई उनके द्वारा तैयार किए मन्त्र का ध्यान करेगा तो वह छह महीनों में ईश्वर बन सकता है। जनता चाहती है कि लोग उन्हें ठगें इसलिए श्रीकृष्ण ऐसे वंचकों को उत्पन्न करते हैं, जो ढोंग करते है और ठगते हैं। ये तथाकथित *योगी* योगियों के वेष में संसार के भोगी हैं। किन्तु *भगवद्गीता* की संस्तुति है कि यदि कोई जीवन का सुख उठाना चाहता है, तो वह इन स्थूल इन्द्रियों से नहीं उठा सकता। रोगी व्यक्ति को अनुभवी डाक्टर सलाह देता है कि रुग्णावस्था में सामान्य भोग से विलग रहे। रोगी प्रत्येक वस्तु का भोग नहीं कर सकता; रोग से बचने के लिए उसे भोग से दूर रहना होता है। इसी प्रकार हमारी भौतिक अवस्था रोगी जैसी है। यदि कोई सचमुच इन्द्रिय-सुख चाहता है, तो उसे इस संसार के बन्धन से मुक्त होना होगा। आत्मिक जीवन में हम अनन्त इन्द्रिय-सुख उठा सकते हैं। भौतिक तथा सात्त्विक (आत्मिक) सुख में यही अन्तर होता है कि भौतिक सुख सीमित है। यदि कोई भौतिक काम वासना के सुख में लिप्त रहना चाहे तो वह दीर्घकाल तक सुख नहीं भोग सकता। किन्तु काम-सुख त्याग देने पर आत्मिक जीवन का शुभारम्भ होता है और यह असीम होता है। *भागवत* (५.५.१) में कहा गया है कि *ब्रह्मसौख्य* अर्थात् आत्मिक सुख अनन्त है। मूर्ख प्राणी ही पदार्थ के सौन्दर्य पर रीझते हैं और इससे मिलने वाले सुख को सत्य मान बैठते हैं किन्तु वह वास्तविक आनन्द होता नहीं।

नैकत्र ते जयति शालिनि पादपद्मं
घ्नन्त्या मुहुः करतलेन पतत्पतङ्गम् ।
मध्यं विषीदति बृहत्स्तनभारभीतं
शान्तेव दृष्टिरमला सुशिखासमूहः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एकत्र—एक स्थान पर; ते—तुम्हारा; जयति—ठहरता है; शालिनि—हे सुन्दर स्त्री; पाद-पद्मम्—चरणकमल; घ्नन्त्याः—मार कर; मुहुः—पुनः पुनः; कर-तलेन—हथेली से; पतत्—उछालती; पतङ्गम्—गेंद को; मध्यम्—कटि; विषीदति—थक जाती है; बृहत्—पूर्ण विकसित; स्तन—तुम्हारे स्तनों के; भार—बोझ से; भीतम्—

दुखित; शान्ता इव—मानो थकित; दृष्टिः—दृष्टि; अमला—स्वच्छ; सु—सुन्दर; शिखा—तुम्हारी चोटी; समूहः—गुच्छा।.

हे सुन्दरी, जब तुम धरती से उछलती गेंद को अपने हाथों से बार-बार मारती हो तो तुम्हारे चरण-कमल एक स्थान पर नहीं रुके रहते। तुम्हारे पूर्ण विकसित स्तनों के भार से पीड़ित तुम्हारी कमर थक जाती है और स्वच्छ दृष्टि मन्द पड़ जाती है। कृपया अपने सुन्दर बालों को ठीक से गूँथ तो लो।

तात्पर्य : असुरों को उस सुन्दरी के प्रत्येक पग पर सुन्दर हाव-भाव दिख रहे थे। यहाँ पर वे गेंद खेलते समय उसके पूरी तरह उभरे उरोजों, बिखरे बालों तथा आगे-पीछे झुकने की गतियों की प्रशंसा करते हैं। वे पद-पद पर उसके स्त्रियोचित सौन्दर्य का आनंद लेते हैं और इस प्रकार आनन्द लेते हुए उनके मन कामवासना से उद्विग्न हो उठते हैं। जिस प्रकार रात्रि में अग्नि के चारों ओर पतंगे एकत्र होते और फिर मर जाते हैं उसी प्रकार से असुर सुन्दरी के कन्दुक सदृश स्तनों की हलचल के शिकार हो जाते हैं। सुन्दरी की बिखरी केश-राशि भी कामी असुरों के मन को आहत करती है।

इति सायन्तनीं सन्ध्यामसुराः प्रमदायतीम् ।
प्रलोभयन्तीं जगृहुर्मत्वा मूढधियः स्त्रियम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार से; सायन्तनीम्—सायंकाल; सन्ध्याम्—सन्ध्या का प्रकाश; असुराः—असुरगण; प्रमदायतीम्—गर्वीली स्त्री की भाँति आचरण करती; प्रलोभयन्तीम्—लुभाती हुई; जगृहुः—पकड़ लिया; मत्वा—मानकर; मूढ-धियः—मूर्ख; स्त्रियम्—स्त्री को।.

जिनकी बुद्धि पर पर्दा पड़ चुका है, ऐसे असुरों ने सन्ध्या को हावभाव करने वाली आकर्षक सुन्दरी मानकर उसको पकड़ लिया।

तात्पर्य : असुरों को *मूढ-धियः* कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वे गधों की तरह जड़तावश मोहित हो गये। असुर लोग मिथ्या, भौतिक रूप की प्रदीप्त सुन्दरता पर मोहित हो गये और उसका आलिंगन करने लगे।

प्रहस्य भावगम्भीरं जिघ्रन्त्यात्मानमात्मना ।

कान्त्या ससर्ज भगवान्गन्धर्वाप्सरसां गणान् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

प्रहस्य—हँस कर; भाव-गम्भीरम्—गम्भीर प्रयोजन से; जिघ्रन्त्या—समझकर; आत्मानम्—स्वयं को; आत्मना—अपने आप से; कान्त्या—अपनी कान्ति से; ससर्ज—उत्पन्न किया; भगवान्—पूज्य भगवान् ब्रह्मा; गन्धर्व—नैसर्गिक गायक; अप्सरसाम्—तथा स्वर्ग की नर्तकियाँ; गणान्—समूह।

तब गम्भीर भावपूर्ण हँसी हँसते हुए पूज्य ब्रह्मा ने अपनी कान्ति से, जो अपने सौन्दर्य का मानो आप ही आस्वादन करती थी, गन्धर्वों व अप्सराओं के समूह को उत्पन्न किया।

तात्पर्य : स्वर्गलोक के गायक गंधर्व कहलाते हैं और नर्तकियाँ अप्सराएँ। असुरों द्वारा आक्रमण किये जाने पर ब्रह्मा ने पहले संध्या समय एक सुन्दर स्त्री का रूप उत्पन्न किया और फिर गन्धर्व तथा अप्सराएँ उत्पन्न कीं। जब इन्द्रिय-तृप्ति के लिए गायन तथा वादन का प्रयोग होता है, तो वह आसुरी होता है किन्तु वही गायन-वादन जब कीर्तन के रूप में भगवान् की स्तुति के लिए प्रयुक्त होता है, तो वह दिव्य होता है और उससे ऐसा जीवन उत्पन्न होता है, जो सर्वथा आत्मसुख के योग्य है।

विससर्ज तनुं तां वै ज्योत्स्नां कान्तिमतीं प्रियाम् ।
त एव चाददुः प्रीत्या विश्वावसुपुरोगमाः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

विससर्ज—त्याग दिया; तनुम्—रूप को; ताम्—उस; वै—निस्सन्देह; ज्योत्स्नाम्—चाँदनी; कान्ति-मतीम्—चमकती हुई; प्रियाम्—प्रिया; ते—गन्धर्व; एव—निश्चय ही; च—तथा; आददुः—अपना लिया; प्रीत्या—प्रसन्नतापूर्वक; विश्वावसु-पुरः-गमाः—विश्वावसु जिनका अग्रणी था।

तत्पश्चात् ब्रह्मा ने वह चाँदनी सा दीप्तिमान तथा सुन्दर रूप त्याग दिया और विश्वावसु तथा अन्य गन्धर्वों ने प्रसन्नतापूर्वक उसे अपना लिया।

सृष्ट्वा भूतपिशाचांश्च भगवानात्मतन्द्रिणा ।
दिग्वाससो मुक्तकेशान्वीक्ष्य चामीलयद्दृशौ ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

सृष्ट्वा—उत्पन्न करके; भूत—भूत-प्रेत; पिशाचान्—पिशाचों को; च—तथा; भगवान्—ब्रह्माजी ने; आत्म—अपने; तन्द्रिणा—आलस्य से; दिक्-वाससः—नग्न; मुक्त—बिखरे; केशान्—बालों को; वीक्ष्य—देखकर; च—तथा; अमीलयत्—बन्द किया; दृशौ—दोनों नेत्र।

तब पूज्य ब्रह्मा ने अपनी तन्द्रा से भूतों तथा पिशाचों को उत्पन्न किया, किन्तु जब उन्हें नग्न एवं बिखरे बाल वाले देखा तो उन्होंने अपनी आँखें बन्द कर लीं।

तात्पर्य : भूत तथा प्रेत भी ब्रह्मा की सृष्टि हैं, वे अवास्तविक नहीं हैं। ये सब बद्धजीव को नाना प्रकार के कष्टों में डालने के साधन हैं। इनकी सृष्टि परमेश्वर के आदेश से ब्रह्मा द्वारा की गई समझी जाती है।

जगृहुस्तद्विसृष्टां तां जृम्भणाख्यां तनुं प्रभोः
निद्रामिन्द्रियविक्लेदो यया भूतेषु दृश्यते ।
येनोच्छिष्टान्धर्षयन्ति तमुन्मादं प्रचक्षते ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

जगृहुः—अपना लिया; तत्-विसृष्टाम्—उसके द्वारा फेंका गया; ताम्—उस; जृम्भण-आख्याम्—जम्हाई लेता हुआ; तनुम्—शरीर को; प्रभोः—भगवान् ब्रह्मा का; निद्राम्—नींद; इन्द्रिय-विक्लेदः—लार चुआता; यया—जिससे; भूतेषु—जीवों के मध्य; दृश्यते—देखा जाता है; येन—जिससे; उच्छिष्टान्—मलमूत्र से सना; धर्षयन्ति—आक्रमण करते हैं; तम्—उसे; उन्मादम्—पागलपन; प्रचक्षते—कहा जाता है।

जीवों के स्त्रष्टा ब्रह्मा द्वारा उस अँगड़ाई रूप में फेंके जाने वाले शरीर को भूत-पिशाचों ने उस शरीर को अपना लिया। इसी को निद्रा भी कहते हैं जिसमें लार चू जाती है। जो लोग अशुद्ध रहते हैं उन पर ये भूत-प्रेत आक्रमण करते हैं और उनका यह आक्रमण उन्माद (पागलपन) कहलाता है।

तात्पर्य : अशुद्ध रहने पर उन्माद रोग या भूतों का आक्रमण होता है। यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि जब मनुष्य गहरी निद्रा में सो जाता है, तो उसके मुख से जो थूक बहता है उससे वह अशुद्ध (गन्दा) हो जाता है और इस अवसर का लाभ उठाकर भूत-प्रेत उस पर आक्रमण कर देते हैं। दूसरे शब्दों में, जो सोते समय लार चुवाते हैं, वे गन्दे माने जाते हैं और उन्हें या तो भूत सताते हैं या वे पागल हो जाते हैं।

ऊर्जस्वन्तं मन्यमान आत्मानं भगवानजः ।
साध्यान्गणान्पितृगणान्परोक्षेणासृजत्प्रभुः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

ऊर्जः-वन्तम्—शक्ति से परिपूर्ण; मन्यमानः—मानकर; आत्मानम्—अपने आप को; भगवान्—परमपूज्य; अजः—ब्रह्मा ने; साध्यान्—देवता; गणान्—समूह; पितृ-गणान्—तथा पितर; परोक्षेण—अदृश्य होकर; असृजत्—उत्पन्न किया; प्रभुः—जीवों के स्वामी।

जीवात्माओं के स्त्रष्टा, पूज्य ब्रह्मा ने अपने आपको इच्छा तथा शक्ति से पूर्ण मानकर

अपने अदृश्य रूप, अपनी नाभि, से साध्यों तथा पितरों के समूह को उत्पन्न किया।

तात्पर्य : साध्य तथा पितरगण दिवंगत आत्माओं के अदृश्य रूप हैं। ये भी ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न हैं।

त आत्मसर्गं तं कायं पितरः प्रतिपेदिरे ।
साध्येभ्यश्च पितृभ्यश्च कवयो यद्वितन्वते ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

ते—वे; आत्म-सर्गम्—उनके अस्तित्व का स्रोत; तम्—उस; कायम्—शरीर को; पितरः—पितृगण ने; प्रतिपेदिरे—स्वीकार कर लिया; साध्येभ्यः—साध्यों के लिए; च—तथा; पितृभ्यः—पितरों को; च—भी; कवयः—कर्मकाण्ड में पटु; यत्—जिससे; वितन्वते—पिण्डदान करते हैं।.

पितृगण ने अपने अस्तित्व के स्रोत उस अदृश्य शरीर को स्वयं धारण कर लिया। इस अदृश्य शरीर के माध्यम से ही श्राद्ध के अवसर पर कर्मकाण्ड में पटु लोग साध्यों तथा पितरों (दिवंगत पूर्वजों के रूप में) को पिण्डदान करते हैं।

तात्पर्य : श्राद्ध एक कर्मकाण्ड है, जिसे वेदों के अनुयायी मानते हैं। प्रतिवर्ष पन्द्रह दिनों (एक पक्ष) का एक अवसर आता है जब कर्मकाण्डी धार्मिक लोग दिवंगत आत्माओं को भेंटें, प्रदान करने के नियम का पालन करते हैं। अतः वे पितृगण तथा पूर्वज जो किन्हीं कारणों से भौतिक सुख भोगने के लिए स्थूल शरीर धारण नहीं कर सके, अपने उत्तराधिकारियों द्वारा प्रदत्त श्राद्ध पिण्डदान से पुनः ऐसे शरीर प्राप्त कर सकें। श्राद्ध कर्म अथवा प्रसाद समेत पिण्डदान की प्रथा अब भी भारत में, विशिष्ट रूप से गया में, प्रचलित है जहाँ एक प्रसिद्ध मन्दिर में विष्णु के चरणकमलों पर हवि चढ़ाई जाती है। चूँकि इस प्रकार उत्तराधिकारियों की सेवा से भगवान् प्रसन्न होते हैं, अतः पितरों की उन पतित आत्माओं को जिन्हें स्थूल शरीर नहीं मिला, वे मुक्त कर देते हैं और पुनः शरीर धारण करके आत्मोन्नति करने के लिए उन पर अनुग्रह करते हैं।

दुर्भाग्यवश माया के वशीभूत होकर बद्धजीव अपने इस प्रकार प्राप्त शरीर का उपयोग इन्द्रियतृप्ति के लिए करता है और वह यह भूल जाता है कि ऐसे कर्म से उसे पुनः अदृश्य शरीर धारण करना पड़ सकता है। भगवान् के भक्त अथवा कृष्ण-भावनाभावित मनुष्य को

श्राद्ध जैसे अनुष्ठान नहीं करने पड़ते क्योंकि वह परमेश्वर को निरन्तर प्रसन्न करता रहता है, फलत: उसके संकटग्रस्त पितृगण तथा पूर्वज, स्वत: मुक्त हो जाते हैं। इसके ज्वलन्त उदाहरण प्रह्लाद महाराज हैं। प्रह्लाद महाराज ने भगवान् नृसिंहदेव से प्रार्थना की कि वे उनके पापी पिता का, जिसने भगवान् के चरणों पर कई बार अपराध किया था, उद्धार करें। इस पर भगवान् ने उत्तर दिया कि जिस वैष्णव परिवार में प्रह्लाद जैसा पुत्र उत्पन्न होता है उसमें न केवल उसका पिता तथा पिता का पिता बल्कि इस प्रकार चौदह पीढ़ियाँ स्वत: तर जाती हैं। अत: निष्कर्ष यह निकला कि परिवार, समाज तथा समस्त जीवात्माओं के लिए सबसे उत्तम कार्य कृष्णभावनामृत है। *श्रीचैतन्य-चरितामृत* के रचयिता का कथन है कि कृष्णभावनामृत में पटु व्यक्ति कोई भी अनुष्ठान नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि पूर्ण कृष्णभावनामृत में श्रीकृष्ण की सेवा करने से सभी अनुष्ठान स्वत: सम्पन्न हो जाते हैं।

सिद्धान्विद्याधरांश्चैव तिरोधानेन सोऽसृजत् ।
तेभ्योऽददात्तमात्मानमन्तर्धानाख्यमद्भुतम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

सिद्धान्—सिद्धों को; विद्याधरान्—विद्याधरों को; च एव—तथा भी; तिरोधानेन—अदृश्य रहने के कारण; सः—ब्रह्मा ने; असृजत्—उत्पन्न किया; तेभ्यः—उनको; अददात्—दिया; तम् आत्मानम्—अपना वह रूप; अन्तर्धान-आख्यम्—अन्तर्धान नाम से ज्ञात; अद्भुतम्—विचित्र।

तब दृष्टि से अदृश्य रहने की अपनी क्षमता के कारण ब्रह्माजी ने सिद्धों तथा विद्याधरों को उत्पन्न किया और उन्हें अपना अन्तर्धान नामक विचित्र रूप प्रदान किया।

तात्पर्य : अन्तर्धान का अर्थ होता है कि ये जीवित प्राणियों के विद्यमान होने का मान तो होता है, किन्तु दृष्टि से दिखाई नहीं पड़ते।

स किन्नरान्किम्पुरुषान्प्रत्यात्म्येनासृजत्प्रभुः ।
मानयन्नात्मनात्मानमात्माभासं विलोकयन् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सः—ब्रह्मा ने; किन्नरान्—किन्नरों को; किम्पुरुषान्—किम्पुरुषों को; प्रत्यात्म्येन—अपने प्रतिबिम्ब (जल में) से; असृजत्—उत्पन्न किया; प्रभुः—जीवों के स्वामी (ब्रह्मा); मानयन्—प्रशंसा करते हुए; आत्मना आत्मानम्—अपने से अपने को; आत्म-आभासम्—अपना प्रतिबिम्ब; विलोकयन्—देखते हुए।

एक दिन समस्त जीवात्माओं के सर्जक ब्रह्मा ने जल में अपनी परछाई देखी और आत्मप्रशंसा करते हुए उन्होंने उस प्रतिबिम्ब (परछाई) से किन्नरों तथा किम्पुरुषों की सृष्टि की।

ते तु तज्जगृहू रूपं त्यक्तं यत्परमेष्ठिना ।
मिथुनीभूय गायन्तस्तमेवोषसि कर्मभिः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

ते—उन्होंने (किन्नर तथा किम्पुरुष); तु—लेकिन; तत्—वह; जगृहुः—अपना लिया; रूपम्—उस छाया रूप को; त्यक्तम्—परित्यक्त; यत्—जो; परमेष्ठिना—ब्रह्मा द्वारा; मिथुनी-भूय—पत्नियों सहित; गायन्तः—स्तुति; तम्—उसको; एव—केवल; उषसि—उषाकाल में; कर्मभिः—अपने कर्म के द्वारा।

किम्पुरुषों तथा किन्नरों ने ब्रह्मा द्वारा त्यक्त उस छाया-शरीर को ग्रहण कर लिया इसीलिए वे अपनी पत्नियों सहित प्रत्येक प्रातःकाल उनके कर्म का स्मरण कर करके उनकी प्रशंसा का गान करते हैं।

तात्पर्य : सूर्योदय के डेढ़ घंटे पहले प्रात:काल को ब्राह्म-मुहूर्त कहा जाता है। इस ब्राह्म-मुहूर्त में आध्यात्मिक कर्म किये जाते हैं। इस वेला (काल) में सम्पन्न क्रियाएँ दिन के अन्य भाग में सम्पन्न क्रियाओं से अधिक प्रभावात्मक होती हैं।

देहेन वै भोगवता शयानो बहुचिन्तया ।
सर्गेऽनुपचिते क्रोधादुत्ससर्ज ह तद्वपुः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

देहेन—शरीर से; वै—निस्सन्देह; भोगवता—पूरा फैलकर; शयानः—शयन करते हुए; बहु—अधिक; चिन्तया—चिन्ता से; सर्गे—सृष्टि; अनुपचिते—बढ़ती न देखकर; क्रोधात्—क्रोधवश; उत्ससर्ज—त्याग दिया; ह—निस्सन्देह; तत्—वह; वपुः—शरीर।

एक बार ब्रह्माजी अपने शरीर को पूरी तरह फैलाकर लेटे थे। वे अत्यधिक चिन्तित थे कि उनकी सृष्टि का कार्य आगे नहीं बढ़ रहा है, अतः उन्होंने रोष में आकर उस शरीर को भी त्याग दिया।

येऽहीयन्तामुतः केशा अहयस्तेऽङ्ग जज्ञिरे ।
सर्पाः प्रसर्पतः क्रूरा नागा भोगोरुकन्धराः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

ये—जो; अहीयन्त—गिर गये; अमुतः—उससे; केशाः—बाल; अहयः—सर्प; ते—वे; अङ्ग—हे विदुर; जज्ञिरे—के रूप में जन्म लिया; सर्पाः—साँप; प्रसर्पतः—रेंगने वाले शरीर से; क्रूराः—ईर्ष्यालु; नागाः—काले साँप; भोग—फनों से; उरु—विशाल; कन्धराः—जिनके कंधे।

हे विदुर, उस शरीर से जो बाल गिरे वे सर्पों में परिणत हो गये। उनके हाथ-पैर सिकोड़ कर चलने से उस शरीर से क्रूर सर्प तथा नाग उत्पन्न हुए जिनके फन फैले हुए होते हैं।

स आत्मानं मन्यमानः कृतकृत्यमिवात्मभूः ।
तदा मनून्ससर्जान्ते मनसा लोकभावनान् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

सः—ब्रह्मा ने; आत्मानम्—अपने आपको; मन्यमानः—मानकर; कृत-कृत्यम्—जीवन उद्देश्य को प्राप्त, धन्य; इव—मानो; आत्मभूः—परमेश्वर से उत्पन्न; तदा—तब; मनून्—सभी मनुओं को; ससर्ज—उत्पन्न किया; अन्ते—अन्त में; मनसा—अपने मन से; लोक—संसार का; भावनान्—कल्याणकारी।

एक दिन स्वयंजन्मा प्रथम जीवात्मा ब्रह्मा ने अनुभव किया कि उन्होंने अपने जीवन का उद्देश्य प्राप्त कर लिया है। उस समय उन्होंने अपने मन से मनुओं को उत्पन्न किया, जो ब्रह्माण्ड के कल्याण-कार्यों की वृद्धि करने वाले हैं।

तेभ्यः सोऽसृजत्स्वीयं पुरं पुरुषमात्मवान् ।
तान्दृष्ट्वा ये पुरा सृष्टाः प्रशशंसुः प्रजापतिम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

तेभ्यः—उनके लिए; सः—ब्रह्मा ने; असृजत्—प्रदान किया; स्वीयम्—निज; पुरम्—शरीर; पुरुषम्—मनुष्य का; आत्म-वान्—स्व-युक्त; तान्—उनको; दृष्ट्वा—देखकर; ये—जो; पुरा—इससे पूर्व; सृष्टाः—रचे गये (देव, गंधर्व आदि, जिनकी सृष्टि पहले हो चुकी थी); प्रशशंसुः—बड़ाई की; प्रजापतिम्—ब्रह्मा (उत्पन्न जीवों के स्वामी) की।

आत्मवान स्त्रष्टा ने उन्हें अपना मानवी रूप दे दिया। मनुओं को देखकर, उनसे पूर्व उत्पन्न देवता, गन्धर्व आदि ब्रह्माण्ड के स्वामी ब्रह्मा की स्तुति करने लगे।

अहो एतज्जगत्स्त्रष्टः सुकृतं बत ते कृतम् ।
प्रतिष्ठिताः क्रिया यस्मिन्साकमन्नमदाम हे ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; एतत्—यह; जगत्-स्रष्टः—हे ब्रह्माण्ड के स्रष्टा; सुकृतम्—अच्छा किया; बत—निस्सन्देह; ते—तुम्हारे द्वारा; कृतम्—उत्पन्न; प्रतिष्ठिताः—भलीभाँति स्थापित; क्रियाः—समस्त विधि-विधान; यस्मिन्—जिसमें; साकम्—इसके साथ साथ; अन्नम्—यज्ञ की आहुति, हव्य; अदाम—अपना अपना भाग लेंगे; हे—हे!.

उन्होंने स्तुति की—हे ब्रह्माण्ड के स्रष्टा, हम प्रसन्न हैं, आपने जो भी सृष्टि की है, वह सुन्दर है। चूँकि इस मानवी रूप में अनुष्ठान-कार्य पूर्णतया स्थापित हो चुके हैं, अतः हम हवि में साझा कर लेंगे।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.१०) में भी यज्ञ की महत्ता का उल्लेख हुआ है। भगवान् पुष्टि करते हैं कि सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा ने मनुओं को यज्ञ सम्बन्धी अनुष्ठान-विधि के सहित उत्पन्न किया और उन्हें यह आशीर्वाद दिया, "इन याज्ञिक कर्मों को करते रहो। धीरे-धीरे तुम्हें आत्म-साक्षात्कार का उचित पद प्राप्त होगा और तुम भौतिक सुख भी भोग सकोगे।" ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न समस्त जीवात्माएँ बद्धजीव हैं, जो भौतिक प्रकृति को वश में करना चाहते हैं। याज्ञिक अनुष्ठानों का उद्देश्य क्रमशः जीवात्माओं में आत्म-साक्षात्कार को पुनरुज्जीवित करना है। वही इस ब्रह्माण्ड में जीवन का शुभारम्भ है। किन्तु याज्ञिक अनुष्ठानों का उद्देश्य भगवान् को प्रसन्न रखना है। जब तक मनुष्य भगवान् को प्रसन्न नहीं कर लेता अथवा कृष्णभावनाभावित नहीं हो जाता तब तक वह न ही भौतिक सुख से अथवा न ही आत्मबोध से सुखी रह सकता है।

तपसा विद्यया युक्तो योगेन सुसमाधिना ।
ऋषीनृषिर्हृषीकेशः ससर्जाभिमताः प्रजाः ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

तपसा—तप से; विद्यया—पूजा से; युक्तः—संलग्न होकर; योगेन—भक्ति में मन को एकाग्र करके; सु-समाधिना—सुन्दर चिन्तन से; ऋषीन्—ऋषियों में; ऋषिः—प्रथम दूत (ब्रह्मा); हृषीकेशः—इन्द्रियों को वश में करने वाला; ससर्ज—उत्पन्न किया; अभिमताः—प्रिय; प्रजाः—पुत्र।

फिर आत्म-भू जीवित प्राणी ब्रह्मा ने अपने आपको कठोर तप, पूजा, मानसिक एकाग्रता तथा भक्ति-तल्लीनता से सुसज्जित करके एवं निष्काम भाव से अपनी इन्द्रियों को वश में करते हुए महर्षियों को अपने पुत्रों (प्रजा) के रूप में उत्पन्न किया।

तात्पर्य : यज्ञ के सारे अनुष्ठान भौतिक आर्थिक उन्नति के लिए हैं अर्थात् वे शरीर को

आत्मज्ञान के अनुशीलन हेतु सक्षम बनाये रखने के लिए हैं। किन्तु वास्तविक आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए अन्य योग्यताओं की आवश्यकता पड़ती है। इनमें विद्या अथवा परमेश्वर की पूजा अनिवार्य है। कभी-कभी योग शब्द का व्यवहार मन की एकाग्रता के लिए की गई शारीरिक क्रियाओं (आसनों) को बताने के लिए किया जाता है। सामान्य रूप से योग-पद्धति में अपनाई जाने वाली इन शारीरिक क्रियाओं को अल्पज्ञानी मनुष्य योग की परिणति समझ बैठते हैं, किन्तु ये वास्तव में परमात्मा में मन को केन्द्रित करने के लिए होती हैं। आर्थिक उन्नति हेतु मनुष्यों को उत्पन्न करने के पश्चात् ब्रह्मा ने ऋषियों की सृष्टि की, जिससे वे आत्मबोध का आदर्श प्रस्थापित कर सकें।

तेभ्यश्चैकैकशः स्वस्य देहस्यांशमदादजः ।
यत्तत्समाधियोगर्द्धितपोविद्याविरक्तिमत् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

तेभ्यः—उनको; च—तथा; एकैकशः—हर एक को; स्वस्य—अपने; देहस्य—देह का; अंशम्—अंश, भाग; अदात्—प्रदान किया; अजः—अजन्मा ब्रह्मा; यत्—जो; तत्—वह; समाधि—गहन ध्यान; योग—मन की एकाग्रता; ऋद्धि—नैसर्गिक शक्ति; तपः—तपस्या; विद्या—ज्ञान; विरक्ति—वैराग्य; मत्—युक्त।

ब्रह्माण्ड के अजन्मा स्रष्टा (ब्रह्मा) ने इन पुत्रों में से प्रत्येक को अपने शरीर का एक-एक अंश प्रदान किया जो गहन चिन्तन, मानसिक एकाग्रता, नैसर्गिक शक्ति, तपस्या, पूजा तथा वैराग्य के लक्षणों से युक्त था।

तात्पर्य : इस श्लोक में *विरक्तिमत्* शब्द का अर्थ है "वैराग्य गुण से युक्त।" भौतिकतावादी व्यक्तियों को आत्मबोध नहीं हो सकता। जो इन्द्रिय-भोग में लिप्त रहते हैं उनके लिए आत्मबोध प्राप्त कर पाना असम्भव है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जो मनुष्य सम्पत्ति तथा भौतिक सुख-भोग की खोज में आसक्त रहते हैं, वे योग-समाधि अर्थात् कृष्णभावनामृत में तल्लीनता प्राप्त नहीं कर सकते। जो यह विज्ञापित करते हैं कि मनुष्य इस जीवन में भौतिक सुख उठाते हुए आत्मिक (आध्यात्मिक) प्रगति कर सकते हैं वह मात्र आडम्बर है। वैराग्य के चार तत्त्व हैं—(१) अवैध विषयी जीवन से बचना, (२) मांसाहार से बचना, (३) मादक द्रव्य सेवन से बचना तथा (४) द्यूतक्रीड़ा से बचना। ये चारों तत्त्व तपस्या

कहलाते हैं। आत्मबोध का विधान यह है कि मन को कृष्णभावनामृत में परमेश्वर में तल्लीन कर दिया जाय।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत *के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत "मैत्रेय-विदुर संवाद" नामक बीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter इक्कीस

मनु-कर्दम संवाद

विदुर उवाच
स्वायम्भुवस्य च मनोर्वंशः परमसम्मतः ।
कथ्यतां भगवन्यत्र मैथुनेनैधिरे प्रजाः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

विदुरः उवाच—विदुर ने कहा; स्वायम्भुवस्य—स्वायम्भुव का; च—तथा; मनोः—मनु का; वंशः—वंश; परम—सर्वाधिक; सम्मतः—आदरणीय; कथ्यताम्—कृपया कहिये; भगवन्—हे पूज्य ऋषि; यत्र—जिसमें; मैथुनेन—संभोग से; एधिरे—वृद्धि की; प्रजाः—सन्तति ने।

विदुर ने कहा—स्वायम्भुव मनु की वंश परम्परा अत्यन्त आदरणीय थी। हे पूज्य ऋषि, मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप इस वंश का वर्णन करें जिसकी सन्तति-वृद्धि संभोग के द्वारा हुई।

तात्पर्य : अच्छी सन्तान उत्पन्न करने के लिए नियंत्रित विषयी जीवन अपनाना चाहिए। वास्तव में विदुर ऐसे व्यक्तियों का इतिहास सुनने के लिए इच्छुक नहीं थे, जो विषयी जीवन बिता रहे हों; वे तो स्वायंभुव मनु की सन्तति के विषय में जानना चाहते थे, क्योंकि इस वंश में अनेक भक्त राजा हुए हैं, जिन्होंने अपनी प्रजा का पालन आत्मज्ञान के साथ एवं अत्यन्त सावधानीपूर्वक किया था। अत: उनके कार्यकलापों का इतिहास सुनकर मनुष्य अधिक प्रबुद्ध बन सकता है। इस प्रसंग में एक महत्त्वपूर्ण शब्द *परम-सम्मत* आया है, जिससे संकेत मिलता है कि स्वायंभुव मनु तथा उनके पुत्रों की संतति बड़े-बड़े अधिकारियों को स्वीकार्य थी। दूसरे शब्दों में, आदर्श सन्तान उत्पन्न करने के लिए विषयी जीवन की मान्यता सभी ऋषि तथा वैदिक धर्म ग्रंथों के अधिकारी देते हैं।

प्रियव्रतोत्तानपादौ सुतौ स्वायम्भुवस्य वै ।
यथाधर्मं जुगुपतुः सप्तद्वीपवतीं महीम् ॥ २ ॥

शब्दार्थ

प्रियव्रत—महाराज प्रियव्रत; उत्तानपादौ—तथा महाराज उत्तानपाद; सुतौ—दो पुत्र; स्वायम्भुवस्य—स्वायंभुव मनु के; वै—निस्सन्देह; यथा—के अनुसार; धर्मम्—धार्मिक नियम; जुगुपतुः—शासन किया; सप्त-द्वीप-वतीम्—सात द्वीपों वाली; महीम्—पृथ्वी, संसार पर।

स्वायम्भुव मनु के दो पुत्रों—प्रियव्रत तथा उत्तानपाद—ने धार्मिक नियमानुसार सप्त द्वीपों वाले इस संसार पर राज्य किया।

तात्पर्य : *श्रीमद्‌भागवत* ब्रह्माण्ड के विभिन्न भागों में शासन करने वाले महान् राजाओं का इतिहास भी है। इस श्लोक में स्वायंभुव के दो पुत्रों—प्रियव्रत तथा उत्तानपाद के नामों का उल्लेख है। उन्होंने इस पृथ्वी पर राज्य किया जो सात द्वीपों में विभक्त है। ये सातों द्वीप आज भी हैं—यथा एशिया, यूरोप, अफ्रीका, अमरीका, आस्ट्रेलिया तथा उत्तरी और दक्षिणी ध्रुव। यद्यपि *श्रीमद्‌भागवत* में समस्त भारतीय राजाओं का तिथिवार इतिहास नहीं है, लेकिन महत्त्वपूर्ण राजाओं के कार्यों का, जैसे प्रियव्रत तथा उत्तानपाद और कई अन्यों का यथा भगवान् रामचन्द्र तथा महाराज युधिष्ठिर का लेखा-जोखा मिलता है, क्योंकि ऐसे पवित्र राजाओं के कार्य-कलाप सुनने योग्य हैं और मनुष्य उनके इतिहासों को पढ़कर लाभ उठा सकते हैं।

तस्य वै दुहिता ब्रह्मन्देवहूतीति विश्रुता ।
पत्नी प्रजापतेरुक्ता कर्दमस्य त्वयानघ ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस मनु की; वै—निस्सन्देह; दुहिता—पुत्री; ब्रह्मन्—हे पवित्र ब्राह्मण; देवहूति—देवहूति नामक; इति—इस प्रकार; विश्रुता—प्रसिद्ध थी; पत्नी—सहधर्मिणी; प्रजापतेः—उत्पन्न जीवों के स्वामी की; उक्ता—कहा गया; कर्दमस्य—कर्दम मुनि का; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अनघ—हे पापविहीन पुरुष।

हे पवित्र ब्राह्मण, हे पापविहीन पुरुष, आपने उनकी पुत्री के विषय में कहा है कि वे प्रजापति ऋषि कर्दम की पत्नी देवहूति थीं।

तात्पर्य : यहाँ हम स्वायम्भुव मनु के विषय में चर्चा कर रहे हैं; किन्तु *भगवद्‌गीता* में वैवस्वत मनु का वर्णन है। आधुनिक युग वैवस्वत मनु से सम्बन्धित है। स्वायंभुव मनु इसके पूर्व राज्य कर रहे थे और उनका इतिहास वराह युग से अर्थात् जब भगवान् शूकर रूप में प्रकट हुए तब से प्रारम्भ होता है। ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं और प्रत्येक मनु के जीवन काल में कुछ विशिष्ट घटनाएँ घटती हैं। *भगवद्‌गीता* का वैवस्वत मनु स्वायंभुव मनु से सर्वथा भिन्न है।

तस्यां स वै महायोगी युक्तायां योगलक्षणैः ।
ससर्ज कतिधा वीर्यं तन्मे शुश्रूषवे वद ॥ ४॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उसमें; सः—कर्दम मुनि; वै—निस्सन्देह; महा-योगी—परम योगी; युक्तायाम्—युक्त; योग-लक्षणैः—योगिक सिद्धि के आठ लक्षणों से; ससर्ज—आगे बढ़ाया; कतिधा—कितनी बार; वीर्यम्—सन्तान; तत्—वह आख्यान; मे—मुझको; शुश्रूषवे—सुनने का इच्छुक; वद—कहिये।

उस महायोगी ने, जिसे अष्टांग योग के सिद्धान्तों में सिद्धि प्राप्त थी, इस राजकुमारी से कितनी सन्तानें उत्पन्न कीं? कृपा करके आप मुझे यह बताएँ, क्योंकि मैं इसे सुनने का इच्छुक हूँ।

तात्पर्य : यहाँ पर विदुर ने कर्दम मुनि तथा उनकी पत्नी देवहूति तथा उनकी सन्तति के विषय में जिज्ञासा की है। यहाँ यह बताया गया है कि देवहूति अष्टांग योग में परम निपुण थीं। योग-क्रिया के आठ अंग इस प्रकार हैं—(१) इन्द्रिय निग्रह, (२) विधि विधानों का कठोर पालन, (३) विभिन्न आसनों का अभ्यास, (४) श्वास का नियन्त्रण, (५) विषयों पर से इन्द्रियों को हटाना (६) मन की एकाग्रता, (७) ध्यान तथा (८) आत्म-साक्षात्कार। आत्म-साक्षात्कार के पश्चात् भी आठ और सिद्धि-अवस्थाएँ होती हैं, जिन्हें योग सिद्धियाँ कहते हैं। पति-पत्नी दोनों योगाभ्यास में सिद्ध थे; पति *महायोगी* था और और पत्नी *योगलक्षण* थी। उन दोनों ने सम्भोग द्वारा सन्तति उत्पन्न की। पुराकाल में, ऋषि तथा मुनि अपने जीवन को पूर्ण बनाने के पश्चात् ही सन्तान उत्पन्न करते थे अन्यथा वे ब्रह्मचर्य व्रत धारण करते थे। आत्म-साक्षात्कार तथा योग की सिद्धि के लिए ब्रह्मचर्य परमावश्यक है। वैदिक धर्मग्रंथों में कहीं भी यह संस्तुत नहीं किया गया कि अपनी इच्छा के अनुसार जैसा भी चाहे कोई इन्द्रिय-तृप्ति के लिए भोग करे और किसी दुष्ट को कुछ धन देकर महान् ध्यानी बन जाए।

रुचिर्यो भगवान्ब्रह्मन्दक्षो वा ब्रह्मणः सुतः ।
यथा ससर्ज भूतानि लब्ध्वा भार्यां च मानवीम् ॥ ५॥

शब्दार्थ

रुचिः—रुचि; यः—जो; भगवान्—पूज्य; ब्रह्मन्—हे साधु; दक्षः—दक्ष; वा—तथा; ब्रह्मणः—भगवान् ब्रह्मा का; सुतः—पुत्र; यथा—जिस प्रकार; ससर्ज—उत्पन्न किया; भूतानि—सन्तान; लब्ध्वा—पा करके; भार्याम्—अपनी पत्नियों के रूप में; च—तथा; मानवीम्—स्वायम्भुव मनु की कन्याएँ।

हे ऋषि, कृपा करके मुझे बताएँ कि ब्रह्मा के पुत्र दक्ष तथा रुचि ने स्वायंभुव मनु की अन्य दो कन्याओं को पत्नी रूप में प्राप्त करके किस प्रकार सन्तानें उत्पन्न कीं?

तात्पर्य : वे महापुरुष जिन्होंने सृष्टि के प्रारम्भ में संतान वृद्धि में योगदान किया प्रजापति कहलाते हैं। ब्रह्मा भी प्रजापति कहलाते हैं ऐसे ही उनके कतिपय परवर्ती पुत्र भी। स्वायंभुव मनु भी प्रजापति हैं तथा ऐसे ही ब्रह्मा का दूसरा पुत्र दक्ष भी। स्वायंभुव मनु के दो कन्याएँ थीं—आकूति तथा प्रसूति। प्रजापति रुचि ने आकूति के साथ और दक्ष ने प्रसूति के साथ ब्याह किया। इन युग्मों तथा इनकी सन्तानों ने समग्र ब्रह्माण्ड को बसाने के लिए अनेक सन्तानें उत्पन्न कीं। विदुर का प्रश्न था, ''उन्होंने प्रारम्भ में किस प्रकार सन्ततियाँ उत्पन्न कीं?''

मैत्रेय उवाच
प्रजाः सृजेति भगवान्कर्दमो ब्रह्मणोदितः ।
सरस्वत्यां तपस्तेपे सहस्त्राणां समा दश ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; प्रजाः—सन्तानें; सृज—उत्पन्न करो; इति—इस प्रकार; भगवान्—पूज्य; कर्दमः—कर्दम मुनि; ब्रह्मणा—भगवान् ब्रह्मा द्वारा; उदितः—आदेशित; सरस्वत्याम्—सरस्वती नदी के तट पर; तपः—तपस्या; तेपे—अभ्यास किया; सहस्त्राणाम्—हजारों; समाः—वर्षों की; दश—दस।

महान् ऋषि मैत्रेय ने उत्तर दिया—भगवान् ब्रह्मा से लोकों में सन्तान उत्पन्न करने का आदेश पाकर पूज्य कर्दम मुनि ने सरस्वती नदी के तट पर दस हजार वर्षों तक तपस्या की।

तात्पर्य : यहाँ पर यह पता चलता है कि सिद्धि प्राप्त करने के पूर्व कर्दम मुनि ने दस हजार वर्षों तक योग में ध्यान धारण किया। इसी प्रकार हमें ज्ञात होता है कि बाल्मीकि मुनि ने भी सिद्धि प्राप्त करने के पूर्व साठ हजार वर्षों तक योग ध्यान का अभ्यास किया। अतः योगाभ्यास को सफलतापूर्वक वे ही सम्पन्न कर सकते हैं जिनका जीवन काफी दीर्घ, यथा एक लाख वर्ष तक हो। उसी स्थिति में योग में सिद्धि प्राप्त हो सकती है, अन्यथा वास्तविक सिद्धि मिलनी दुष्कर है। विधि-विधानों का पालन, इन्द्रियों का निग्रह तथा विभिन्न आसन करना—ये तो प्रारम्भिक अभ्यास मात्र हैं। हमारी समझ में नहीं आता कि मनुष्य इस निरर्थक योग पद्धति

से किस प्रकार आकर्षित हो सकते हैं जिसमें यह बताया जाता है कि प्रति दिन केवल पन्द्रह मिनट का ध्यान धरने से ईश्वर के साथ तादात्म्य सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यह कलियुग धोखा देने तथा झगड़ने का युग है। वस्तुत: ऐसे महत्त्वहीन प्रस्तावों से योग-सिद्धि प्राप्त करना असम्भव है। उदाहरणार्थ, वैदिक साहित्य स्पष्ट रूप से तीन बार बलपूर्वक कहता है कि इस कलियुग में हरि के पवित्र नाम (हरेर्नाम) के अतिरिक्त *कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव*—कोई विकल्प नहीं, कोई विकल्प नहीं, कोई विकल्प नहीं।

ततः समाधियुक्तेन क्रियायोगेन कर्दमः ।
सम्प्रपेदे हरिं भक्त्या प्रपन्नवरदाशुषम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

ततः—तब, उस तप में; समाधि-युक्तेन—समाधि अवस्था में; क्रिया-योगेन—भक्तियोग अथवा पूजा से; कर्दमः—कर्दम मुनि ने; सम्प्रपेदे—सेवा की; हरिम्—श्रीभगवान् की; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; प्रपन्न—शरणागत जीवों को; वरदाशुषम्—समस्त वरों के प्रदाता।.

समाधिकाल में कर्दम मुनि ने समाधि में अपनी भक्ति द्वारा शरणागतों को तुरंत समस्त वर देने वाले श्रीभगवान् की आराधना की।

तात्पर्य : यहाँ पर ध्यान की महत्ता का वर्णन है। कर्दम मुनि ने परम पुरुषोत्तम भगवान् हरि को प्रसन्न करने के लिए दस हजार वर्षों तक योग-ध्यान का अभ्यास किया। अत: कोई चाहे योग का अभ्यास करे या चिन्तन करे और ईश्वर की खोज करे, इन प्रयासों में भक्ति की प्रक्रिया मिश्रित की जानी चाहिए। बिना भक्ति के कुछ भी पूर्ण नहीं। सिद्धि तथा साक्षात्कार का लक्ष्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। *भगवद्गीता* के छठे अध्याय में यह स्पष्ट उल्लेख है कि जो कृष्णभावनामृत में निरन्तर संलग्न रहता है, वह सर्वोच्च योगी है। श्रीभगवान् हरि अपने शरणागत भक्तों की समस्त इच्छाओं को भी पूरा करते हैं। वास्तविक सफलता प्राप्त करने के लिए मनुष्य को श्रीभगवान् हरि या श्रीकृष्ण के चरणकमलों में समर्पण करना होता है। भक्ति अथवा कृष्णभावनामृत में लगे रहना प्रत्यक्ष विधि है और अन्य सभी विधियाँ संस्तुत किए जाने के बावजूद भी अप्रत्यक्ष हैं। इस कलिकाल में प्रत्यक्ष विधि अप्रत्यक्ष विधि से अधिक सहज है, क्योंकि मनुष्यों का जीवन-काल कम होता है, उनकी बुद्धि कमजोर है, वे गरीब हैं और

अनेक कठिनाइयों से ग्रस्त रहते हैं। अत: भगवान् चैतन्य ने जो सबसे बड़ा वरदान दिया, वह यह है कि अध्यात्मिक जीवन में सिद्धि प्राप्त करने के लिए ईश्वर के पवित्र नाम का कीर्तन ही पर्याप्त है।

सम्प्रपेदे हरिम् शब्दों का अर्थ है कि कर्दम मुनि ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हरि को अपनी भक्ति से अनके प्रकार से प्रसन्न किया। भक्ति को *क्रिया-योगेन* शब्द से भी व्यक्त किया गया है। कर्दम मुनि न केवल ध्यान करते थे, वरन् भक्ति में भी संलग्न रहते थे। चाहे योग हो या ध्यान मनुष्य को सिद्धि के लिए श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि के द्वारा भक्ति करनी होती है। स्मरण करना भी ध्यान है। किन्तु स्मरण किसका किया जाय? मनुष्य को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का स्मरण करना चाहिए। न केवल श्रीभगवान् का स्मरण करना चाहिए, वरन् भगवान् के कार्यों का श्रवण और उनकी महिमा का कीर्तन भी करना चाहिए। यह जानकारी प्रामाणिक धर्मग्रन्थों में मिलती है। दस हजार वर्षों तक विभिन्न प्रकार की भक्ति मय सेवा करने के बाद कर्दम मुनि को ध्यान में सिद्धि प्राप्त हुई, किन्तु इस कलियुग में ऐसा कर पाना सम्भव नहीं, क्योंकि मनुष्य अधिक से अधिक एक सौ वर्ष जीवित रह पाता है। इस समय ऐसा कौन होगा जो योग के अनेकानेक विधि-विधानों का कड़ाई से पालन कर सके? साथ ही, सिद्धि उन्हें ही प्राप्त होती है, जो समर्पित आत्माएँ हैं। जहाँ श्रीभगवान् के नाम का उल्लेख तक न हो वहाँ आत्मसमर्पण कैसा? और जहाँ श्रीभगवान् के नाम का ध्यान तक न हो वहाँ योग कैसा? दुर्भाग्यवश इस युग में, विशेषतया जो आसुरी प्रवृत्ति के लोग हैं, वे ठगे जाने में विश्वास करते हैं। अत: भगवान् ऐसे वंचकों (धोखा देने वालों) को भेजते हैं, जो उन्हें योग के नाम पर गुमराह करते हैं और उनके जीवन को निकम्मा बना देते हैं। अत: *भगवद्गीता* (१६.१७) में स्पष्ट उल्लेख है कि चालबाज लोग अवैध धन को संचित करके गर्व से फूल जाते हैं और किसी प्रामाणिक ग्रंथ का अनुसरण किये बिना योग का अभ्यास करते हैं। उन्हें इस धन का घमंड हो जाता है, जिसे उन्होंने निर्दोष व्यक्तियों से लूटा-खसोटा है और जो स्वयं धोखा खाना चाहते हैं।

तावत्प्रसन्नो भगवान्पुष्कराक्षः कृते युगे ।
दर्शयामास तं क्षत्तः शाब्दं ब्रह्म दधद्वपुः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तावत्—तब; प्रसन्नः—प्रसन्न होकर; भगवान्—श्रीभगवान् ने; पुष्कर-अक्षः—कमल के समान नेत्र वाले; कृते युगे—सत्ययुग में; दर्शयाम् आस—दिखलाया; तम्—कर्दम मुनि को; क्षत्तः—हे विदुर; शाब्दम्—जिसे वेदों के माध्यम से ही जाना जा सकता है; ब्रह्म—परम सत्य; दधत्—प्रकट करते हुए; वपुः—अपना दिव्य शरीर।

तब सत्ययुग में कमल-नयन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने प्रसन्न होकर कर्दम मुनि को अपने दिव्य रूप का दर्शन कराया, जिसे वेदों के माध्यम से ही जाना जा सकता है।

तात्पर्य : यहाँ पर दो बातें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम तो यह कि कर्दम मुनि ने सत्ययुग के प्रारम्भ में योगसिद्धि प्राप्त की जब मनुष्यों की आयु एक लाख वर्ष होती थी। कर्दम मुनि को सफलता मिलने के बाद भगवान् ने प्रसन्न होकर उन्हें अपने रूप का दर्शन दिया जो काल्पनिक न था। कभी-कभी निर्विशेषवादी सलाह देते हैं कि मनुष्य जिस रूप को चाहे अपने मन में धारण कर सकता है, किन्तु यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है भगवान् ने कर्दम मुनि को जो रूप दिखलाया वह वैदिक साहित्य में वर्णित है। *शाब्दं ब्रह्म* का अर्थ है वैदिक साहित्य में भगवान् के रूपों का स्पष्ट उल्लेख है। कर्दम मुनि ने भगवान् के किसी काल्पनिक रूप की खोज नहीं की जैसाकि आजकल के धूर्त कहते हैं। उन्होंने भगवान् के नित्य, आनन्दमय तथा दिव्य रूप को साक्षात् देखा।

स तं विरजमर्काभं सितपद्मोत्पलस्रजम् ।
स्निग्धनीलालकव्रातवक्त्राब्जं विरजोऽम्बरम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

सः—वह कर्दम मुनि; तम्—उसको; विरजम्—कल्मषहीन; अर्क-आभम्—सूर्य का सा तेज; सित—श्वेत; पद्म—कमल; उत्पल—कुमुदिनी की; स्रजम्—माला; स्निग्ध—चिकना; नील—श्याममिश्रित नीला; अलक—बालों के समूह की; व्रात—अधिकता; वक्त्र—मुख; अब्जम्—कमल-सदृश; विरजः—निर्मल; अम्बरम्—वस्त्र।

कर्दम मुनि ने भौतिक कल्मष से रहित, सूर्य के समान तेजमय, श्वेत कमलों तथा कुमुदिनियों की माला पहने श्रीभगवान् के नित्य रूप का दर्शन किया। भगवान् ने निर्मल पीला रेशमी वस्त्र धारण कर रखा था और उनका मुख-कमल घुँघराले नीले चिकने

बालों के गुच्छों से सुशोभित था।

किरीटिनं कुण्डलिनं शङ्खचक्रगदाधरम् ।
श्वेतोत्पलक्रीडनकं मनःस्पर्शस्मितेक्षणम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

किरीटिनम्—मुकुट धारण किये हुए; कुण्डलिनम्—कुण्डल पहने हुए; शङ्ख—शंख; चक्र—चक्र; गदा—गदा; धरम्—धारण किये; श्वेत—उज्ज्वल; उत्पल—कुमुदिनी; क्रीडनकम्—खिलौना; मनः—हृदय; स्पर्श—स्पर्श; स्मित—हँसी; ईक्षणम्—तथा चितवन।

मुकुट तथा कुण्डलों से आभूषित श्रीभगवान् अपने तीन हाथों में अपने विशिष्ट शंख, चक्र तथा गदा और चौथे में श्वेत कुमुदिनी धारण किये हुए थे। उन्होंने प्रसन्न तथा हासयुक्त मुद्रा में समस्त भक्तों के चित्त को चुराने वाली चितवन से देखा।

विन्यस्तचरणाम्भोजमंसदेशे गरुत्मतः ।
दृष्ट्वा खेऽवस्थितं वक्षःश्रियं कौस्तुभकन्धरम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

विन्यस्त—रखे हुए; चरण-अम्भोजम्—चरणकमल; अंस-देशे—कंधों पर; गरुत्मतः—गरुड़ के; दृष्ट्वा—देखकर; खे—आकाश में; अवस्थितम्—खड़े हुए; वक्षः—अपनी छाती पर; श्रियम्—शुभ चिह्न (श्रीवत्स); कौस्तुभ—कौस्तुभमणि; कन्धरम्—गले में।

अपने वक्षस्थल पर सुनहरी रेखा धारण किये तथा अपने गले में प्रसिद्ध कौस्तुभमणि लटकाये हुए वे गरुड़ के कन्धों पर अपने चरण-कमल रखे हुए आकाश (वायु) में खड़े थे।

तात्पर्य : श्लोक ९-११ में भगवान् के जिस दिव्य, नित्य रूप का वर्णन किया गया है, वह प्रामाणिक वैदिक विवरणों से है। ये विवरण निश्चय ही कर्दम मुनि की कल्पनाएँ नहीं हैं। भगवान् के अलंकरण भौतिक बुद्धि के परे (अगम्य) हैं जिसको शंकराचार्य जैसे निर्विशेषवादियों ने भी स्वीकार किया है कि श्रीभगवान् के विविध रूप—उनका शरीर, उनका रूप, उनका वस्त्र, उनका उपदेश, उनके वचन—ये किसी भौतिक शक्ति की उपज नहीं हैं वरन् इनकी पुष्टि वैदिक साहित्य द्वारा हुई है। भगवान् नारायण को भौतिक सृष्टि से कुछ लेना देना नहीं है। योग-साधना के द्वारा कर्दम मुनि वास्तव में देख सके कि भगवान् क्या हैं। दस हजार

वर्षों तक योगाभ्यास के बाद भगवान् के काल्पनिक रूप का दर्शन करना कोई अर्थ नहीं रखता। अत: योग की सिद्धि का अन्त शून्यता या निर्विशेषता में नहीं है, बल्कि इसके विपरीत जब कोई वास्तव में भगवान् को उसके नित्य रूप में देखता है, तो योग की सिद्धि प्राप्त होती है। श्रीकृष्णभावनामृत की पद्धति में श्रीकृष्ण के स्वरूप को प्रत्यक्ष प्रस्तुत किया जाता है। वैदिक साहित्य *ब्रह्म-संहिता* में कृष्ण का स्वरूप प्रामाणिक रूप में मिलता है—उनका धाम चिन्तामणि पत्थर का बना है, जिसमें भगवान् एक गोपबाल के रूप में खेलते हैं और हजारों गोपियाँ उनकी सेवा में तत्पर रहती हैं। ये वर्णन प्रामाणिक हैं और कृष्णभावनाभावित पुरुष इनको प्रत्यक्ष रूप में ग्रहण करता है, उन्हीं के अनुसार कार्य करता है, उनका उपदेश देता है और अधिकृत शास्त्रों में वर्णन किए गए ढंग से भक्तियोग का अभ्यास करता है।

जातहर्षोऽपतन्मूर्ध्ना क्षितौ लब्धमनोरथः ।
गीर्भिस्त्वभ्यगृणात्प्रीतिस्वभावात्मा कृताञ्जलिः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

जात-हर्षः—स्वाभाविक रूप से प्रमुदित; अपतत्—गिर पड़ा; मूर्ध्ना—अपने सिर के बल; क्षितौ—पृथ्वी पर; लब्ध—प्राप्त हुआ; मनः-रथः—अपनी इच्छा; गीर्भिः—स्तुतियों से; तु—तथा; अभ्यगृणात्—प्रसन्न किया; प्रीति-स्वभाव-आत्मा—जिनका हृदय स्वभाव से प्रेम पूर्ण है; कृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़कर।

जब कर्दम मुनि ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का साक्षात् दर्शन किया, तो वे अत्यधिक तुष्ट हुए, क्योंकि उनकी दिव्य इच्छा पूर्ण हुई थी। वे भगवान् के चरण-कमलों को नमस्कार करने के लिए नतमस्तक होकर पृथ्वी पर लेट गये। उनका हृदय स्वभाविक रूप में भगवत्प्रेम से पूरित था। उन्होंने हाथ जोड़कर स्तुतियों द्वारा भगवान् को तुष्ट किया।

तात्पर्य : भगवान् के साकार रूप का साक्षात्कार योग की सर्वोच्च सिद्धि अवस्था मानी जाती है। *भगवद्गीता* के षष्टम अध्याय में, जहाँ योग-साधना का वर्णन है, भगवान् के इस साकार रूप के दर्शन को योग की सिद्धि बतलाया गया है। आसनों तथा अन्य अनुष्ठानों का अभ्यास कर लेने के बाद अन्त में समाधि-अवस्था प्राप्त होती है। इस समाधि-अवस्था में श्रीभगवान् के अंश रूप परमात्मा का या फिर उनके यावत् रूप का दर्शन होता है। प्रामाणिक

योग धर्मग्रंथों में यथा पतञ्जलि-सूत्र में समाधि को दिव्य आनन्द कहा गया है। पतञ्जलि के ग्रंथों में योग की जो पद्धति वर्णित है, वह प्रामाणिक है और आधुनिक तथाकथित योगियों ने अधिकारी विद्वानों के ग्रंथों को देखे बिना अपनी-अपनी विधियाँ बना ली हैं, जो अत्यन्त रोचक हैं। पतञ्जलि योग पद्धति को अष्टांग योग कहा जाता है। कभी-कभी निर्विशेषवादी पतञ्जलि योग को दूषित कर देते हैं, क्योंकि वे अद्वैतवादी हैं। पतञ्जलि ने बताया है कि जब आत्मा परमात्मा से मिलता है और उसे देखता है, तो उसे दिव्य सुख मिलता है। यदि परमात्मा तथा व्यष्टि (व्यक्ति) के अस्तित्व को मान लिया जाय तो निर्विशेषदियों का अद्वैतवाद-सिद्धान्त अपने आप ध्वस्त हो जाता है, फलत: कुछ निर्विशेषवादी तथा शून्यवादी दार्शनिक पतञ्जलि विधि को तोड़-मरोड़ कर पूरी योग-प्रक्रिया को दूषित कर देते हैं।

पतञ्जलि के अनुसार जब मनुष्य समस्त भौतिक इच्छाओं से मुक्त हो जाता है, तो उसे वास्तविक दिव्य पद प्राप्त होता है और उस अवस्था की प्राप्ति को आध्यात्मिक शक्ति कहते हैं। भौतिक कार्यों में मनुष्य प्रकृति के गुणों को व्यवहार में लाता है। ऐसे व्यक्तियों की महत्त्वाकांक्षाएँ इस प्रकार हैं—(१) धार्मिक बनना, (२) आर्थिक रूप से समृद्ध होना, (३) इन्द्रियों की तुष्टि; तथा (४) परमेश्वर के साथ तादात्म्य। अद्वैतवादियों के अनुसार जब योगी ब्रह्म के साथ तदाकार प्राप्त कर लेता है और अपना व्यष्टि अस्तित्व खो देता है, तो उसे कैवल्य कहेजाने वाले परम पद की प्राप्ति होती है। किन्तु वस्तुत: पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साक्षात्कार की अवस्था ही कैवल्य है। यह समझ लेना कि परमेश्वर पूर्णतया आध्यात्मिक है और पूर्ण आत्मबोध की अवस्था में श्रीभगवान् को समझा जा सकता है कैवल्य कहलाता है—अथवा पतञ्जलि की भाषा में इसी को आत्मशक्ति का साक्षात्कार कहते हैं। उनके अनुसार जब मनुष्य भौतिक कामनाओं से मुक्त होकर आत्मा तथा परमात्मा के आत्मबोध में स्थिर हो जाता है, तो उसे चित्-शक्ति कहते हैं। पूर्ण आत्मबोध होने पर आत्मसुख का बोध होने लगता है, जिसे भगवद्गीता में परम सुख कहा गया है और जो भौतिक इन्द्रियों के परे है। समाधि दो प्रकार की बताई गई है—सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञात अर्थात् मानसिक चिन्तन तथा आत्मबोध।

असम्प्रज्ञात अथवा समाधि में मनुष्य अपनी आध्यात्मिक इन्द्रियों द्वारा भगवान् के आत्मरूप का साक्षात्कार कर सकता है। आत्म-साक्षात्कार का यही अनन्तिम उद्देश्य है।

पतञ्जलि के अनुसार जब मनुष्य ईश्वर के परम रूप का निरन्तर साक्षात्कार करता रहता है, तो उसे सिद्धावस्था प्राप्त हो जाती है जैसी कि कर्दममुनि को प्राप्त हुई थी। जब तक योगपद्धति की सामान्य सिद्धावस्था के परे किसी को यह सिद्धावस्था प्राप्त नहीं हो जाती तब तक परम साक्षात्कार नहीं होता। अष्टांग योगपद्धति में आठ सिद्धियाँ होती हैं। इन सिद्धियों को प्राप्त करने पर मनुष्य हल्के से हल्का और भारी से भारी हो सकता है और जो भी चाहे प्राप्त कर सकता है। किन्तु योग में ऐसी भौतिक सफलताएँ प्राप्त कर लेना न तो सिद्धि है न परम साध्य। परम साध्य तो यहाँ पर वर्णित है कि कर्दम मुनि ने परम पुरुषोत्तम भगवान् को उनके नित्य रूप में देखा। भक्ति का शुभारम्भ व्यष्टि आत्मा तथा परमात्मा या श्रीकृष्ण और श्रीकृष्ण के भक्तों के साथ सम्बन्ध होने पर होता है और इसे प्राप्त कर लेने पर च्युत होने का कोई प्रश्न नहीं उठता। यदि कोई योग-पद्धति से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का साक्षात् दर्शन करना चाहता है, किन्तु उसके साथ ही वह अन्य भौतिक शक्ति प्राप्त करने की इच्छा करता है, तो उसकी प्रगति रुक जाती है। दिव्य आत्मसुख के बोध से भौतिक सुख का कोई वास्ता नहीं, जिसको आडम्बरपूर्ण योगी प्रोत्साहन देते हैं। भक्तियोग के वास्तविक भक्त अपने जीवन-निर्वाह मात्र के लिए आवश्यक भौतिक वस्तुओं को ही स्वीकार करते हैं, वे अतिशयोक्तिपूर्ण भौतिक इन्द्रिय-तुष्टि से सर्वथा दूर रहते हैं। श्रीभगवान् के साक्षात्कार की दिशा में प्रगति के लिए वे सभी प्रकार के कष्टों को सहने के लिए उद्यत रहते हैं।

ऋषिरुवाच

जुष्टं बताद्याखिलसत्त्वराशेः
सांसिद्ध्यमक्ष्णोस्तव दर्शनान्नः ।
यद्दर्शनं जन्मभिरीड्य सद्भि-
राशासते योगिनो रूढयोगाः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

ऋषिः उवाच—ऋषि ने कहा; जुष्टम्—प्राप्त किया जाता है; बत—आह; अद्य—अब; अखिल—सभी; सत्त्व—सद्गुण का; राशेः—जो आगार है; सांसिद्ध्यम्—पूर्ण सफलता; अक्ष्णोः—दोनों नेत्रों का; तव—तुम्हारे; दर्शनात्—दर्शन से; नः—हमारे द्वारा; यत्—जिसका; दर्शनम्—दर्शन; जन्मभिः—जन्म के द्वारा; ईड्य—हे पूज्य स्वामी; सद्भिः—क्रमशः पद को प्राप्त; आशासते—महत्त्वाकांक्षा रखते हैं; योगिनः—योगी; रूढ-योगाः—योग में सिद्धिप्राप्त।

कर्दम मुनि ने कहा—हे परम पूज्य भगवान्, समस्त अस्तित्वों के आगार आपका दर्शन प्राप्त करके मेरी दर्शन की साध पूरी हो गई। महान् योगीजन बारम्बार जन्म लेकर गहन ध्यान में आपके दिव्य रूप का दर्शन करने की आकांक्षा करते रहते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर श्रीभगवान् को समस्त सद्गुणों एवं समस्त आनन्द का आगार कहा गया है। जब तक सत्त्वगुण को प्राप्त नहीं हो लिया जाता तब तक वास्तविक आनन्द नहीं मिलता। अतः जब कोई मनसा-वाचा-कर्मणा भगवान् की सेवा करता है, तो उसे सत्त्व की परम सिद्धि-अवस्था प्राप्त होती है। कर्दम मुनि कहते हैं, "आप सद्गुणों (सत्त्व) के नाम से ज्ञात समस्त वस्तुओं के आगार हैं और अब आपको अपने नेत्रों के सम्मुख देखकर दर्शन की सिद्धि प्राप्त हुई है।" ऐसे कथन विशुद्ध भक्तिपरक हैं, भक्त के लिए इन्द्रियों की सार्थकता भगवान् की सेवा करने में है। आँखों की सार्थकता भगवान् के सौन्दर्य अवलोकन में है, श्रवणेन्द्रिय की सार्थकता प्रभु के गुणगान सुनने में, जीभ की सार्थकता प्रसाद का स्वाद पाने में है। जब समस्त इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा में लगी रहती हैं, तो इस प्रकार की सिद्धि भक्तियोग कहलाती है, जिसका अर्थ होता है भौतिकता में लिप्त इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाना। जब मनुष्य सभी प्रकार के उपाधिमय बद्धजीवन से मुक्त होकर भगवान् की सेवा में अपने को पूर्णरूपेण अनुरक्त करता है, तो उसकी सेवा भक्तियोग कहलाती है, जिसका अर्थ होता है भौतिकता में लिप्त इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाना। कर्दम मुनि स्वीकार करते हैं कि भक्तियोग में स्वयं भगवान् का दर्शन पाना दर्शन की सार्थकता (सिद्धि) है। कर्दम मुनि ने दर्शन की महान् सिद्धि को बढ़ा-चढ़ा कर नहीं कहा है। वे इसका प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि जो वास्तव में योग में उन्नत हैं, वे जन्म-जन्मान्तर श्रीभगवान् के इस रूप का दर्शन करना चाहते हैं। वे कोई बनावटी योगी न थे। जो वास्तव में महान् हैं, वे भगवान् के नित्य रूप के दर्शन की ही कामना करते हैं।

ये मायया ते हतमेधसस्त्वत्-
पादारविन्दं भवसिन्धुपोतम् ।
उपासते कामलवाय तेषां
रासीश कामान्निरयेऽपि ये स्यु: ॥ १४॥

शब्दार्थ

ये—जो व्यक्ति; मायया—छलने वाली शक्ति से; ते—तुम्हारा; हत—भ्रष्ट; मेधसः—जिनकी बुद्धि; त्वत्—तुम्हारा; पाद-अरविन्दम्—चरणकमल; भव—संसार का; सिन्धु—सागर; पोतम्—पार करने की नाव; उपासते—पूजा करते हैं; काम-लवाय—क्षुद्र सुखों के लिए; तेषाम्—उनकी; रासि—देते हो; ईश—हे ईश्वर; कामान्—इच्छाएँ; निरये—नरक में; अपि—भी; ये—जो इच्छा करते हैं; स्युः—प्राप्त हो सकती हैं।

आपके चरण-कमल सांसारिक अज्ञान के सागर को पार करने के लिए सच्चे पोत (नाव) के तुल्य हैं। माया के वशीभूत केवल अज्ञानी पुरुष ही इन चरणों की पूजा इन्द्रियों के क्षुद्र तथा क्षणिक सुख की प्राप्ति हेतु करते हैं जिनकी प्राप्ति नरक में सड़ने वाले व्यक्ति भी कर सकते हैं। तो भी, हे भगवान्, आप इतने दयालु हैं कि उन पर भी आप अनुग्रह करते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* के सप्तम अध्याय में कहा गया है, भक्तों की दो कोटियाँ हैं—पहले वे जो भौतिक सुख चाहते हैं और दूसरे वे जो ईश्वर की सेवा के अतिरिक्त और कुछ नहीं सोचते। भौतिक सुख तो कूकर तथा शूकर भी प्राप्त कर सकते हैं जिनका जीवन अत्यन्त नारकीय होता है। शूकर भी खाता, सोता और संभोग का पूरा आनन्द उठाता है और इस संसार के ऐसे नारकीय सुख से अत्यन्त प्रसन्न रहता है। आधुनिक योगी उपदेश देता है कि चूँकि मनुष्य के इन्द्रियाँ हैं, अत: उसे भी कुत्ते तथा बिल्लियों की भाँति उनका पूरा उपयोग करना चाहिए और साथ ही योग का अभ्यास भी करना चाहिए। यहाँ पर कर्दम मुनि ने इसकी निन्दा की है। वे कहते हैं कि ऐसे भौतिक सुख नारकीय जीवन बिताने वाले कुत्तों तथा बिल्लियों के लिए हैं। भगवान् इतने दयालु हैं कि यदि तथाकथित योगी इन नारकीय सुखों से तृप्त हो जाते हैं, तो वे उन्हें उन समस्त भौतिक सुखों को इच्छानुसार प्राप्त करने की छूट देते हैं, किन्तु उन्हें कर्दम मुनि के समान सिद्ध अवस्था नहीं मिल सकती।

वास्तविकता तो यह है कि नारकीय तथा आसुरी लोग यह जानते ही नहीं कि सिद्धि का

परम साध्य क्या है, फलतः वे इन्द्रियतृप्ति को ही जीवन का उच्चतम लक्ष्य मान बैठते हैं। वे यह उपदेश देने लगते हैं कि इन्द्रियतृप्ति के साथ ही वे कुछ मन्त्र सुनाकर और कुछ आसन करके सिद्धि की कामना कर सकते हैं। ऐसे व्यक्तियों को यहाँ पर *हत-मेधसः* कहा गया है, अर्थात् "जिनके दिमाग खराब हो चुके हैं।" ऐसे लोग योगसिद्धि या ध्यान के द्वारा भौतिक सुख की कामना करते हैं। भगवान् ने *भगवद्गीता* में कहा है कि जो देवताओं की पूजा करते हैं उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो चुकी होती है। इसी प्रकार यहाँ भी कर्दम मुनि कहते हैं कि जो योगाभ्यास के द्वारा भौतिक सुख की कामना करता है, समझ लो, उसकी बुद्धि बिगड़ चुकी है और वह महामूर्ख है। वस्तुतः योग के उत्तम अभ्यासकर्ता को श्रीभगवान् की पूजा करके अज्ञान के सागर को पार करने और भगवान् के चरणकमलों के दर्शन प्राप्त करने के अतिरिक्त और कोई भी कामना नहीं करनी चाहिए। किन्तु ईश्वर ऐसे दयालु हैं कि ऐसे बुद्धिभ्रष्ट लोगों को वे आज भी कुत्ता, बिल्ली, शूकर बनाकर सम्भोग तथा इन्द्रियतृप्ति द्वारा सुख उठाने का वर देते हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् ने इस वरदान की पुष्टि की है, "जब भी कोई मनुष्य मुझसे कुछ प्राप्त करना चाहता है, तो मैं उसको मनवांछित वर देता हूँ।"

तथा स चाहं परिवोढुकामः
समानशीलां गृहमेधधेनुम् ।
उपेयिवान्मूलमशेषमूलं
दुराशयः कामदुघाङ्घ्रिपस्य ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

तथा—उसी प्रकार से; सः—मैं स्वयं; च—भी; अहम्—मैं; परिवोढु-कामः—ब्याह करने की इच्छा से; समान-शीलाम्—अनुरूप चरित्र वाली कन्या; गृह-मेध—विवाहित जीवन में; धेनुम्—कामधेनु; उपेयिवान्—पास आया हुआ; मूलम्—जड़ (चरणकमल); अशेष—प्रत्येक वस्तु का; मूलम्—स्रोत; दुराशयः—कामेच्छा से; काम-दुघ—समस्त इच्छाओं को प्रदान करने वाला; अङ्घ्रिपस्य—वृक्ष सदृश आपका।

अतः मैं भी ऐसी समान स्वभाव वाली कन्या से विवाह करने की इच्छा लेकर आपके चरणकमलों की शरण में आया हूँ, जो मेरे विवाहित जीवन में मेरी कामेच्छाओं को पूरा करने में कामधेनु के समान सिद्ध हो सके। आपके चरण प्रत्येक वस्तु के देने वाले हैं, क्योंकि आप कल्पवृक्ष के समान हैं।

तात्पर्य : यद्यपि कर्दम मुनि ऐसे व्यक्तियों की निन्दा करते हैं, जो भौतिक लाभों के लिए भगवान् के पास जाते हैं, किन्तु उन्होंने भगवान् के समक्ष अपनी भौतिक असमर्थता तथा आकांक्षा प्रकट करते हुए कहा, ''यद्यपि मुझे पता है कि आपसे कोई भी भौतिक वस्तु नहीं माँगनी चाहिए, किन्तु तो भी मेरी इच्छा है कि मैं समान शीलवती कन्या से विवाह करूँ।'' यहाँ *समानशीलम्* पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन काल में समान स्वभाव वाले लड़के तथा लड़कियों का विवाह होता था; समान स्वभाव वाले लड़के लड़कियों को इसलिए बन्धन-सूत्र में जोड़ा जाता था जिससे वे सुखी रहें। पच्चीस वर्ष से अधिक नहीं बीते होंगे और सम्भवत: आज भी, भारत में लड़की-लड़कों के माता-पिता उनकी कुण्डलियाँ यह जानने के लिए दिखवाते थे कि उनकी मनोदशाओं का वास्तविक योग हो सकता है या नहीं। ऐसे विचार महत्त्वपूर्ण हैं। आजकल ऐसा विचार किये बिना ब्याह होने लगे हैं, फलत: विवाह के तुरन्त बाद तलाक तथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। पहले के समय में पति तथा पत्नी आजीवन सुखपूर्वक जीवन बिताते थे, किन्तु आजकल यह अत्यन्त कठिन हो गया है।

कर्दम समान शील की पत्नी चाहते थे, क्योंकि आध्यात्मिक तथा सांसारिक उन्नति में सहायता पहुँचाने के लिए पत्नी आवश्यक है। कहा गया है कि पत्नी धर्म, अर्थ तथा काम (इन्द्रियतृप्ति) सम्बन्धी समस्त इच्छाओं की पूर्ति करती है। जिसे अच्छी पत्नी मिल जाती है, वह परम भाग्यशाली समझा जाता है। फलित ज्योतिष के अनुसार भाग्यवान पुरुष वह माना जाता है, जिसके पास परम सम्पत्ति हो, अच्छे पुत्र या श्रेष्ठ पत्नी हो। इन तीनों में से जिसके पास श्रेष्ठ पत्नी हो वह परम भाग्यशाली है। विवाह के पूर्व स्त्री का चुनाव समान शील के आधार पर करना चाहिए, इन्द्रियतृप्ति के हेतु तथाकथित शारीरिक सौन्दर्य या हाव-भाव से नहीं। *भागवत* के द्वादश स्कंध में कहा गया है कि कलियुग में विषयी जीवन के आधार पर विवाह होंगे और ज्योंही विषयी जीवन में कोई कमी आई नहीं कि तलाक का प्रश्न उठ खड़ा होगा।

कर्दम मुनि इस वरदान को उमा से प्राप्त कर सकते थे, क्योंकि शास्त्रों में कहा गया है कि

उत्तम पत्नी की कामना करने वालों को उमा की पूजा करनी चाहिए। किन्तु कर्दम ने श्रीभगवान् की पूजा करना श्रेयस्कर समझा, क्योंकि *भागवत* में संस्तुति की गई है कि चाहे कोई सकाम हो या निष्काम अथवा मुक्तिकामी, उसे परमेश्वर की पूजा करनी चाहिए। मनुष्यों की इन तीन कोटियों में से प्रथम कोटि के पुरुष भौतिक इच्छाओं की पूर्ति से प्रसन्न होते हैं, दूसरी कोटि के लोग परमेश्वर का तादात्म्य चाहते हैं और तीसरी कोटि के पुरुष पूर्ण मानव हैं, जो भक्त होते हैं। वे बदले में भगवान् से कुछ भी नहीं चाहते, वे तो केवल दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे रहना चाहते हैं। प्रत्येक दशा में श्रीभगवान् की पूजा करनी चाहिए, क्योंकि वे सबों के मनोरथ को पूरा करने वाले हैं। परमेश्वर की पूजा का लाभ यह है कि यदि किसी के हृदय में भौतिक सुख की कामना रहती भी है, तो श्रीकृष्ण की पूजा करने पर वह धीरे-धीरे शुद्ध भक्त बन जाता है और उसे किसी भौतिक लाभ की इच्छा नहीं रह जाती।

प्रजापतेस्ते वचसाधीश तन्त्या
लोकः किलायं कामहतोऽनुबद्धः ।
अहं च लोकानुगतो वहामि
बलिं च शुक्लानिमिषाय तुभ्यम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

प्रजापतेः—जो समस्त जीवात्माओं के स्वामी हैं; ते—तुम्हारे; वचसा—निर्देश से; अधीश—हे भगवान्; तन्त्या—डोरी से; लोकः—बद्धजीव; किल—निस्सन्देह; अयम्—ये; काम-हतः—काम वासनाओं से विजित; अनुबद्धः—बँधे हुए; अहम्—मैं; च—तथा; लोक-अनुगतः—बद्धजीवों का अनुसरण करता; वहामि—प्रदान करता हूँ; बलिम्—बलि, भेंट; च—तथा; शुक्ल—हे धर्मरूप; अनिमिषाय—शाश्वत समय के रूप में रहकर; तुभ्यम्—तुम्हें।

हे भगवान्, आप समस्त जीवात्माओं के स्वामी तथा नायक हैं। आपके आदेश से सभी बद्धजीव मानो डोरी से बँधकर अपनी-अपनी इच्छाओं की तुष्टि में निरन्तर लगे रहते हैं। उन्हीं का अनुसरण करते हुए, हे धर्ममूर्ते, शाश्वत काल रूप आपको मैं भी अपनी आहुति (बलि) अर्पण करता हूँ।

तात्पर्य : *कठ उपनिषद्* में कहा गया है कि परमेश्वर समस्त जीवात्माओं के नायक हैं। वे उनके पालक और समस्त आवश्यकताओं तथा इच्छाओं को पूरा करने वाले हैं। कोई भी जीवात्मा स्वतन्त्र नहीं है, सभी परमेश्वर की कृपा पर आश्रित हैं। अतः वेदों का आदेश है कि

परम नायक परमेश्वर के निर्देशानुसार जीवन का उपभोग किया जाय। *ईशोपनिषद* का आदेश है कि प्रत्येक वस्तु श्रीभगवान् की है, अत: मनुष्य को चाहिए कि वह व्यक्तिगत प्राप्तव्य का भोग करे, किसी अन्य की सम्पत्ति में घुसपैठ न करे। सर्वश्रेष्ठ कार्यक्रम तो यह होगा कि प्रत्येक जीवात्मा परम पुरुष से आदेश ले कर भौतिक या आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करे।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब कर्दम मुनि आध्यात्मिक जीवन में इतना आगे बढ़े हुए थे तो फिर उन्होंने मुक्ति की याचना क्यों नहीं की? परमेश्वर को समक्ष देखकर और अनुभव करके वे भौतिक जीवन का सुख भोगना क्यों चाह रहे थे? इसका उत्तर यह है कि प्रत्येक प्राणी भौतिक बन्धन से मुक्त होने में कुशल नहीं है। अत: यह प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि अपनी वर्तमान स्थिति के अनुसार भोग करे, किन्तु वेदों या भगवान् के निर्देशानुसार करे। वेद भगवान् के प्रत्यक्ष वचन हैं। भगवान् हमें अवसर देते हैं कि हम अपनी इच्छानुसार भौतिक जीवन को भोगें, किन्तु उसके साथ ही वे वेदों से बँधे हुए चलने का निर्देश भी करते हैं जिससे धीरे-धीरे भौतिक बन्धन से मुक्ति तक उठा जा सके। जो बद्धजीव इस संसार में प्रकृति के ऊपर अपना अधिकार जता कर अपनी इच्छाओं को पूरा करने आये हैं, वे प्रकृति के नियमों से बँधे हुए हैं। सर्वोत्तम मार्ग यही है कि वैदिक नियमों का पालन किया जाय। इससे मुक्ति-प्राप्ति में क्रमश: सहायता मिलेगी।

कर्दम मुनि भगवान् को *शुक्ल* कहकर सम्बोधित करते हैं जिसका अर्थ है, "धर्म का नायक।" जो पवित्र हैं उन्हें चाहिए कि वे धर्म के नियमों का पालन करें, क्योंकि ऐसे नियम भगवान् ने स्वयं बनाये हैं। कोई भी धर्म को बना नहीं सकता। 'धर्म' का अर्थ ही है भगवान् के आदेश या नियम। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि धर्म का अर्थ है, उनके शरणागत होना। अत: मनुष्य को चाहिए कि वैदिक नियमों का पालन करे और परमेश्वर को आत्मसमर्पण कर दे, क्योंकि मनुष्य जीवन में सिद्धि का परम लक्ष्य यही है। मनुष्य को पवित्रता का जीवन बिताना चाहिए, धार्मिक विधि-विधानों का पालन करना चाहिए, ब्याह करना चाहिए और आत्म-बोध के उच्च पद को प्राप्त करने के लिए शान्तिपूर्वक रहना चाहिए।

लोकांश्च लोकानुगतान्पशूंश्च
हित्वा श्रितास्ते चरणातपत्रम् ।
परस्परं त्वद्गुणवादसीधु-
पीयूषनिर्यापितदेहधर्माः ॥ १७॥

शब्दार्थ

लोकान्—सांसारिक कार्यकलाप; च—तथा; लोक-अनुगतान्—सांसारिकता का अनुसरण करने वाले; पशून्—पशुवत्; च—तथा; हित्वा—त्याग कर; श्रिताः—शरणागत; ते—तुम्हारे; चरण—चरणकमलों का; आतपत्रम्—छत्र; परस्परम्—एक दूसरे से; त्वत्—तुम्हारा; गुण—गुणों का; वाद—तर्क-वितर्क द्वारा; सीधु—मादक; पीयूष—अमृत से; निर्यापित—बुझाया गया; देह-धर्माः—शरीर की मूल आवश्यकताएँ।

फिर भी जिन पुरुषों ने रूढ़ सांसारिकता तथा इनके पशुतुल्य अनुयायियों का परित्याग कर दिया है और जिन्होंने परस्पर विचार-विनिमय के द्वारा आपके गुणों तथा कार्यकलापों के मादक अमृत (सुधा) का पान करके आपके चरण-कमलों की छत्र-छाया ग्रहण की है वे भौतिक देह की मूल आवश्यकताओं से मुक्त हो सकते हैं।

तात्पर्य : कर्दम मुनि विवाहित जीवन की आवश्यकता का वर्णन करने के बाद इस बात पर बल देते हैं कि जो लोग भौतिक इन्द्रिय-सुख में लिप्त रहते हैं उनके लिए विवाह तथा अन्य सामाजिक कार्य रूढ़ (घिसे-पिटे) नियम हैं। पशु जीवन के नियम—खाना, सोना, मैथुन तथा रक्षा करना—वास्तव में शरीर की आवश्यकताएँ हैं, किन्तु जो पुरुष इस भौतिक जगत के इन रूढ़ कार्य-कलापों को त्यागकर दिव्य कृष्णभक्ति में अपने को लगाता है, वह सामाजिक रूढ़ियों से छूट जाता है। बद्धजीव तो माया या शाश्वत काल—भूत, वर्तमान तथा भविष्य—के वश में रहता है, किन्तु ज्योंही वह कृष्णभक्ति में अपने को लगाता है त्योंही वह भूत-भविष्य तथा वर्तमान की सीमाओं को लाँघकर आत्मा के शाश्वत कार्य-कलापों में स्थित हो जाता है। भौतिक जीवन के सुखों व भोग के लिए मनुष्य को वैदिक आदेशों के अनुसार चलना होता है, किन्तु जिन्होंने भगवान् की भक्ति करनी स्वीकार कर ली है वे इस भौतिक जगत के किसी प्रकार के विधि-विधान से भयभीत नहीं होते। ऐसे भक्त भौतिक कार्यकलापों की रूढ़ियों की परवाह नहीं करते; वे निर्भीक होकर उस शरण को ग्रहण करते हैं, जो जन्म-मरण के चक्र रूपी धूप के लिये छाते का काम करती है।

भौतिक अस्तित्व में एक शरीर से दूसरे शरीर में आत्मा का निरन्तर स्थानान्तरण ही दुख का कारण है। बद्ध जीवन का यह भौतिक अस्तित्व ही *संसार* कहलाता है। कोई व्यक्ति अच्छा कार्य करके अत्यन्त सुन्दर भौतिक परिस्थिति में जन्म ग्रहण कर सकता है, किन्तु जिस प्रक्रम के अनुसार जन्म तथा मृत्यु होती है, वह भीषण अग्नि के समान है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने अपने गुरु की प्रार्थना में इसका वर्णन किया है। संसार अर्थात् जन्म-मरण का चक्र वन की अग्नि के सदृश है, वन की अग्नि लकड़ियों के घर्षण से स्वत: लगती है, किसी को प्रयास नहीं करना पड़ता और उसे न तो कोई दयावान पुरुष, न ही अग्नि-विभाग बुझा सकता है। वह तो तभी बुझ सकती है जब बादलों से मूसलाधार वर्षा हो। बादल की उपमा गुरु की कृपा से दी गई है। गुरु की कृपा से भगवान् का अनुग्रह रूपी बादल लाया जाता है तभी कृष्णभक्ति की वर्षा होने पर संसार की अग्नि बुझाई जा सकती है। इसकी भी यहाँ व्याख्या की गई है। भौतिक संसार के रूढ़ बद्धजीवन से मुक्ति पाने के लिए मनुष्य को भगवान् के चरणकमलों की शरण उस प्रकार से नहीं जिस प्रकार निर्विशेषवादी ग्रहण करते हैं, वरन् भगवान् का जप और उनके कार्यकलापों का श्रवण करते हुए भक्तिमय सेवा में ग्रहण करनी चाहिए। तभी सांसारिक कर्मों एवं बन्धनों से मुक्त हुआ जा सकता है। यहाँ पर यह संस्तुति की गई है कि मनुष्य को चाहिए कि वह इस संसार के बद्धजीवन और तथाकथित सभ्य पुरुषों की संगति का परित्याग कर दे जो शिष्ट रूप में केवल खाने, सोने, संभोग करने तथा रक्षा करने का वही घिसापिटा जीवन बिता रहे हैं। भगवान् की महिमा का कीर्तन तथा श्रवण यहाँ पर *त्वद्-गुण-वाद-सीधु* के रूप में वर्णित है। भगवान् की लीलाओं का कीर्तन तथा श्रवण रूपी अमृत का पान करके ही मनुष्य इस संसार की मादकता को भूल सकता है।

न तेऽजराक्षभ्रमिरायुरेषां
त्रयोदशारं त्रिशतं षष्टिपर्व ।
षण्नेम्यनन्तच्छदि यत्त्रिणाभि
करालस्रोतो जगदाच्छिद्य धावत् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; ते—तुम्हारे; अजर—अमर ब्रह्म का; अक्ष—धुरी; भ्रमिः—घूमती हुई; आयुः—जीवन काल, उम्र; एषाम्—भक्तों का; त्रयोदश—तेरह; अरम्—तीलियाँ, अरा; त्रि-शतम्—तीन सौ; षष्टि—साठ; पर्व—जोड़, गांठे; षट्—छह; नेमि—परिधियाँ, रिम; अनन्त—असंख्य; छदि—पत्तियाँ, पत्तर; यत्—जो; त्रि—तीन; नाभि—नाभियाँ; कराल-स्रोतः—प्रचण्ड वेग से; जगत्—ब्रह्माण्ड; आच्छिद्य—छेदन करता हुआ; धावत्—दौड़ता हुआ।

आपका तीन नाभिवाला (काल) चक्र अमर ब्रह्म की धुरी के चारों ओर घूम रहा है। इसमें तेरह तीलियाँ (अरे), ३६० जोड़, छह परिधियाँ तथा उस पर अनन्त पत्तियाँ (पत्तर) पिरोयी हुई हैं। यद्यपि इसके घूमने से सम्पूर्ण सृष्टि की जीवन-अवधि घट जाती है, किन्तु यह प्रचण्ड वेगवान् चक्र भगवान् के भक्तों की आयु का स्पर्श नहीं कर सकता।

तात्पर्य : काल द्वारा भक्तों की जीवन-अवधि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि थोड़ी सी भक्ति करने से मनुष्य बड़े से बड़े संकटों से बच जाता है। सबसे बड़ा संकट है आत्मा का एक शरीर से दूसरे में देहान्तरण और इससे बचने का एकमात्र उपाय है भगवान् की भक्ति करना। वैदिक साहित्य में कहा गया है—*हरिं विना न सृतिं तरन्ति*—भगवान् के अनुग्रह के बिना जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा नहीं मिल सकता। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् तथा उनके कार्यों की दिव्य प्रकृति, उनके प्राकट्य तथा अन्तर्धान को समझने पर ही मृत्यु का चक्र रुक सकता है और मनुष्य भगवान् के पास वापस जा सकता है। काल को कई अंशों में विभाजित किया गया है—यथा पल, घटिका, मास, वर्ष, अवधियाँ, ऋतुएँ इत्यादि। इस श्लोक में वर्णित सभी विभागों को वैदिक साहित्य की ज्योतिर्विदीय परिगणनाओं से आंका गया है। वर्ष में छह ऋतुएँ होती हैं और चार मास का चातुर्मास्य होता है। इस प्रकार के तीन चातुर्मास्यों से एक वर्ष बनता है। वैदिक ज्योतिर्गणना के अनुसार तेरह मास होते हैं। तेरहवाँ मास अधिमास या मलमास कहलाता है और प्रत्येक तीन वर्ष बाद जुड़ता रहता है, किन्तु यह काल भक्तों की आयु को छू नहीं सकता। एक अन्य श्लोक में कहा गया है कि उदय तथा अस्त होने के समय सूर्य समस्त जीवात्माओं का प्राण हर लेता है, किन्तु जो भक्ति में लिप्त रहते हैं सूर्य उनके प्राण नहीं ले सकता। यहाँ पर काल की तुलना एक विशाल चक्र से की गई है, जिससें ३६० जोड़, ऋतुओं के रूप में छह परिधियाँ तथा क्षणों के रूप में

असंख्य पत्तर लगे हैं। यह नित्य ब्रह्म की धुरी में घूमता है।

एकः स्वयं सञ्जगतः सिसृक्षया-
द्वितीययात्मन्नधियोगमायया ।
सृजस्यदः पासि पुनर्ग्रसिष्यसे
यथोर्णनाभिर्भगवन्स्वशक्तिभिः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

एकः—एक; स्वयम्—अपने से; सन्—होकर; जगतः—ब्रह्माण्ड; सिसृक्षया—सृष्टि करने की अभिलाषा से; अद्वितीयया—अद्वितीय; आत्मन्—अपने में; अधि—वश में करते हुए; योग-मायया—योगमाया से; सृजसि—उत्पन्न करते हो; अदः—वे ब्रह्माण्ड; पासि—भरण करते हो; पुनः—फिर; ग्रसिष्यसे—अन्त कर देते हो; यथा—जिस प्रकार; ऊर्ण-नाभिः—मकड़ी; भगवन्—हे भगवान्; स्व-शक्तिभिः—अपनी शक्ति से।

हे भगवान्, आप अकेले ही ब्रह्माण्डों की सृष्टि करते हैं। हे श्रीभगवान्, इन ब्रह्माण्डों की सृष्टि करने की इच्छा से, आप उनकी सृष्टि करते, उन्हें पालते और फिर अपनी शक्तियों से उनका अन्त कर देते हैं। ये शक्तियाँ आपकी दूसरी शक्ति योगमाया के अधीन हैं, जिस प्रकार एक मकड़ी अपनी शक्ति से जाला बुनती है और पुनः उसे निगल जाती है।

तात्पर्य : इस श्लोक के दो शब्दों से निर्विशेषवादियों का सिद्धान्त कि प्रत्येक वस्तु ईश्वर है निरस्त हो जाता है। यहाँ पर कर्दम मुनि कहते हैं, "हे भगवान्! आप अकेले हैं, किन्तु आपकी शक्तियाँ विविध हैं।" मकड़ी का उदाहरण भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मकड़ी व्यष्टि जीवात्मा है और यह अपनी शक्ति से जाला बुनती है और उस पर खेलती है और जब चाहती है जाले का अन्त करके खेल समाप्त कर देती है। जब मकड़ी की लार से जाला बुना जाता है, तो मकड़ी निर्गुण नहीं हो जाती। इसी प्रकार भौतिक या आध्यात्मिक शक्ति की सृष्टि या प्रादुर्भाव से कर्ता निर्गुण नहीं हो जाता। यह प्रार्थना बताती है कि भगवान् संवेदनशील है और भक्तों की प्रार्थनाएँ सुनते हैं और उन्हें पूरा करते हैं। अतः वे सच्चिदानन्द विग्रह हैं।

नैतद्बताधीश पदं तवेप्सितं
यन्मायया नस्तनुषे भूतसूक्ष्मम् ।
अनुग्रहायास्त्वपि यर्हि मायया

लसत्तुलस्या भगवान्विलक्षितः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतत्—यह; बत—निस्सन्देह; अधीश—हे भगवान्; पदम्—भौतिक संसार; तव—तुम्हारी; ईप्सितम्—इच्छा; यत्—जो; मायया—आपकी बहिरंगा शक्ति से; नः—हमारे लिए; तनुषे—प्रकट होते हो; भूत-सूक्ष्मम्—स्थूल तथा सूक्ष्म तत्त्व; अनुग्रहाय—अनुग्रह करने के लिए; अस्तु—हो; अपि—भी; यर्हि—जब; मायया—आपकी अहैतुकी कृपा से; लसत्—भव्य; तुलस्या—तुलसी दल की माला से; भगवान्—श्रीभगवान्; विलक्षितः—देखा जाता है।

हे भगवान्, इच्छा के न होते हुए भी आप स्थूल तथा सूक्ष्म तत्त्वों की इस सृष्टि को हमारी ऐन्द्रिय तुष्टि के लिए प्रकट करते हैं। आपकी अहैतुकी कृपा हमें प्राप्त हो, क्योंकि आप अपने नित्य रूप में तुलसीदल की माला से विभूषित होकर हमारे समक्ष प्रकट हुए हैं।

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि भौतिक जगत की सृष्टि परमेश्वर की निजी इच्छा से नहीं वरन् उनकी बहिरंगा शक्ति के द्वारा होती है, क्योंकि जीवात्माएँ उसका उपभोग करना चाहती हैं। यह संसार उन लोगों के लिए नहीं बनाया गया जो इन्द्रिय-तृप्ति का सुख नहीं उठाना चाहते, जो निरन्तर दिव्य प्रेमाभक्ति में व्यस्त रहते हैं और जो नित्य कृष्णभावना भावित रहते हैं। उनके लिए तो आध्यात्मिक जगत निरन्तर विद्यमान है, जिसे वे भोग सकते हैं। श्रीमद् *भागवत* में अन्यत्र कहा गया है कि जिन लोगों ने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली है उनके लिए यह संसार व्यर्थ है। चूँकि यह संसार पद-पद में संकट से पूर्ण है, अत: यह भक्तों के निमित्त न होकर उन जीवात्माओं के लिए है, जो अपने जोखिम पर भौतिक शक्ति को वश में रखना चाहते हैं। श्रीकृष्ण इतने दयालु हैं कि इन्द्रिय-सुख चाहने वालों के लिए उन्होंने पृथक् जगत की सृष्टि की है, जिसे वे अपनी इच्छानुसार भोग सकें; फिर भी वे अपने सगुण रूप में प्रकट होते हैं। भगवान् अनिच्छापूर्वक इस भौतिक संसार की सृष्टि करते हैं, किन्तु वे या तो स्वयं साकार होकर अवतरित होते हैं या अपने किसी विश्वासपात्र पुत्र या सेवक या फिर वेदव्यास जैसे विश्वसनीय लेखक को उपदेश देने के लिए भेजते हैं। वे *भगवद्गीता* के प्रवचनों के रूप में स्वयं उपदेश देते हैं। सृष्टि के साथ-साथ यह प्रचार कार्य भी चलता रहता है, जिससे इस संसार में सड़ रही पथभ्रष्ट जीवात्माएँ भगवान् के धाम पहुँच कर

उनकी शरण ग्रहण कर लें। इसीलिए *भगवद्गीता* का अन्तिम उपदेश है, "इस संसार के सारे बनावटी कार्यों को त्यागकर मेरी शरण में आओ। मैं समस्त पापमय कर्मफलों से तुम्हें बचा लूँगा।"

तं त्वानुभूत्योपरतक्रियार्थं
स्वमायया वर्तितलोकतन्त्रम् ।
नमाम्यभीक्ष्णं नमनीयपाद-
सरोजमल्पीयसि कामवर्षम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस; त्वा—तुमको; अनुभूत्या—अनुभूति द्वारा; उपरत—उपेक्षित; क्रिया—सकाम कर्मों का सुख; अर्थम्—जिससे कि; स्व-मायया—अपनी शक्ति से; वर्तित—लाया गया; लोक-तन्त्रम्—भौतिक लोक; नमामि—नमस्कार करता हूँ; अभीक्ष्णम्—निरन्तर; नमनीय—पूज्य; पाद-सरोजम्—चरणकमल; अल्पीयसि—अकिंचन; काम—आकांक्षाएँ; वर्षम्—वर्षा करते हुए।

मैं आपके चरण-कमलों में निरन्तर सादर नमस्कार करता हूँ, जिनकी शरण ग्रहण करना श्रेयस्कर है, क्योंकि आप अकिंचनों पर समस्त आशीर्वादों की वृष्टि करने वाले हैं। आपने इन भौतिक लोकों को अपनी ही शक्ति से विस्तार दिया है, जिससे समस्त जीवात्माएँ आपकी अनुभूति के द्वारा सकाम कर्मों से विरक्ति प्राप्त कर सकें।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति जो भौतिक सुख, मुक्ति या भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति का अभिलाषी है, उसे चाहिए कि भगवान् को नमस्कार करे, क्योंकि भगवान् प्रत्येक मनुष्य को मनवांछित फल देने वाले हैं। *भगवद्गीता* में भगवान् ने दृढ़तापूर्वक कहा है—*ये यथा मां प्रपद्यन्ते*—जो कोई इस संसार में सफलतापूर्वक भोग करना चाहता है भगवान् उसे भोग का वर देते हैं, जो इस संसार के बन्धन से मुक्त होना चाहता है उसे वे मुक्ति प्रदान करते हैं और जो पूर्ण कृष्णभावनामृत में जुटे रहना चाहता है भगवान उसे भक्ति का वर प्रदान करते हैं। भौतिक सुख के लिए उन्होंने वेदों में अनेक यज्ञ करने की संस्तुति की है और उन आदेशों के लाभ से या तो उच्चतर लोकों में या किसी सम्पन्न परिवार में रहकर भौतिक आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। ये विधियाँ वेदों में उल्लिखित हैं और लोग इन्हीं से लाभ उठा सकते हैं। इस भौतिक संसार से उद्धार चाहने वाले लोग भी उसी प्रकार लाभ उठा सकते हैं।

जब तक कोई इस भौतिक संसार के सुख से ऊब नहीं जाता वह मुक्ति की कामना नहीं कर सकता। मुक्ति भौतिक सुख से ऊबने वाले के लिए है। अत: *वेदान्त सूत्र* का कथन है—*अथातो ब्रह्म-जिज्ञासा*—जिन्होंने इस संसार में सुखी रहने की आशा छोड़ दी है वे ही परम सत्य की खोज के प्रति उन्मुख होते हैं। जो लोग परम सत्य को जानना चाहते हैं उनके लिए *वेदान्त सूत्र* तो उपलब्ध है और उसी प्रकार उसका भाष्य *श्रीमद्भागवत* भी है। चूँकि *भगवद्गीता* भी *वेदान्त सूत्र* ही है, अत: *श्रीमद्भागवत, वेदान्त सूत्र* अथवा *भगवद्गीता* को समझ कर वास्तविक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। वास्तविक ज्ञान हो जाने पर सिद्धान्तत: परमेश्वर से तदाकार हुआ जा सकता है और जब कोई ब्रह्म की सेवा या कृष्ण-भक्ति करने लगता है, तो वह न केवल मुक्त हो जाता है, वरन् आध्यात्मिक-जीवन में स्थित हो जाता है। इसी प्रकार जो भौतिक प्रकृति पर विजय प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए भौतिक सुख के लिए अनेक साधन रहते हैं। भौतिक ज्ञान तथा भौतिक विज्ञान सभी उपलब्ध हैं और जो इनका भोग करना चाहते हैं भगवान् उन्हें वह भी प्रदान करते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि किसी भी वरदान के लिए पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा करनी चाहिए। यहाँ *काम-वर्षम्* शब्द अत्यन्त सार्थक है, क्योंकि यह सूचित करता है कि जो कोई भी भगवान् के पास पहुँचता है वे उसकी आकांक्षाओं को पूरा करते हैं। किन्तु जो श्रीकृष्ण से प्रेम करने के साथ ही भौतिक सुख भी चाहता है, वह अत्यन्त दुविधा में रहता है। श्रीकृष्ण उसके प्रति अत्यन्त दयालु होने के कारण दिव्य प्रेमाभक्ति में अनुरक्त होने का उसे अवसर प्रदान करते हैं, जिससे वह क्रमश: व्यामोह को भूल जाता है।

ऋषिरुवाच
इत्यव्यलीकं प्रणुतोऽब्जनाभ-
स्तमाबभाषे वचसामृतेन ।
सुपर्णपक्षोपरि रोचमानः
प्रेमस्मितोद्वीक्षणविभ्रमद्भ्रूः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

ऋषिः उवाच—मैत्रेय ऋषि ने कहा; इति—इस प्रकार; अव्यलीकम्—निष्ठापूर्वक; प्रणुतः—प्रशंसित होकर; अब्ज-नाभः—भगवान् विष्णु ने; तम्—कर्दम मुनि को; आबभाषे—उत्तर दिया; वचसा—शब्दों से; अमृतेन—अमृत के समान मधुर; सुपर्ण—गरुड़; पक्ष—कंधे के; उपरि—ऊपर; रोचमानः—चमकते हुए; प्रेम—स्नेह का; स्मित—हँसी से; उद्वीक्षण—देखते हुए; विभ्रमत्—चलायमान; भ्रूः—भौंहें।

मैत्रेय ने कहा—इन शब्दों से प्रशंसित होने पर गरुड़ के कंधों पर अत्यन्त मनोहारी रूप से दैदीप्यमान भगवान् विष्णु ने अमृत के समान मधुर शब्दों में उत्तर दिया। उनकी भौंहें ऋषि की ओर स्नेहपूर्ण हँसी से देखने के कारण चञ्चल हो रही थीं।

तात्पर्य : *वचसामृतेन* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जब भी भगवान् बोलते हैं, तो वे दिव्यलोक से बोलते हैं, भौतिक जगत से नहीं। चूँकि वे दिव्य हैं, उनकी वाणी तथा उनके कार्य भी सभी दिव्य हैं, उनसे सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु दिव्य है। *अमृत* शब्द से उस व्यक्ति का बोध होता है, जिसकी मृत्यु नहीं होती। भगवान् के शब्द तथा उनके कार्य मृत्युविहीन (अमर) हैं, अतः वे इस भौतिक जगत के द्वारा निर्मित नहीं हो सकते। इस संसार तथा अध्यात्म-जगत की ध्वनियाँ भिन्न-भिन्न हैं। अध्यात्म-जगत की ध्वनि अमृत तथा नित्य होती है, जबकि इस संसार की ध्वनि घिसी-पिटी तथा नश्वर है। *हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे*—इस पवित्र नाम की ध्वनि जप करने वाले को निरन्तर प्रोत्साहन प्रदान करने वाली है। यदि कोई उबाऊ शब्दों का उच्चारण करता है, तो उसे थकान लगती है, किन्तु यदि कोई चौबीसों घण्टे हरेकृष्ण का जप करे तो थकान का अनुभव कभी नहीं होगा, बजाय इसके वह और उत्साह से अधिकाधिक जप करता ही जाएगा। जब भगवान् ने कर्दम मुनि को उत्तर दिया तो उसमें *वचसामृतेन* शब्द का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है, क्योंकि वे दिव्यलोक से बोल रहे थे। उनका उत्तर दिव्य शब्दों में था और जब वे बोल रहे थे तो उनकी भौंहें प्रेमवश चलायमान थीं। जब भक्त भगवान् के यश का गान करते हैं, तो वे अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और भक्तों को बिना हिचक दिव्य वर प्रदान करते हैं, क्योंकि वे अकारण भक्तों पर कृपालु रहते हैं।

श्रीभगवानुवाच
विदित्वा तव चैत्यं मे पुरैव समयोजि तत् ।
यदर्थमात्मनियमैस्त्वयैवाहं समर्चितः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—परमेश्वर से कहा; विदित्वा—जानकर; तव—तुम्हारी; चैत्यम्—मानसिक स्थिति; मे—मेरे द्वारा; पुरा—इसके पूर्व ही; एव—निश्चय ही; समयोजि—योजना की गई; तत्—वह; यत्-अर्थम्—जिसके लिए; आत्म—मन तथा इन्द्रियों का; नियमैः—संयम या अनुशासन से; त्वया—तुम्हारे द्वारा; एव—केवल; अहम्—मैं; समर्चितः—पूजित हुआ।

भगवान् ने कहा—जिसके लिए तुमने आत्मा संयमादि के द्वारा मेरी आराधना की है, तुम्हारे मन के उस भाव को पहले ही जानकर मैंने उसकी व्यवस्था कर दी है।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सबों के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित हैं, अत: वे प्रत्येक व्यक्ति के भूत, वर्तमान तथा भविष्य को जानने के साथ ही उसकी इच्छाओं, कार्यों तथा उसके विषय में सब कुछ जानते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि वे हृदय में साक्षीस्वरूप स्थित हैं। भगवान् कर्दम मुनि के हृदय की अभिलाषा को जान गये और उसकी पूर्ति के लिए उन्होंने पहले ही व्यवस्था कर दी थी। वे एकनिष्ठ भक्त को, चाहे वह जो कुछ भी चाहे, निराश नहीं करते, किन्तु उसकी भक्ति के मार्ग में किसी प्रकार की बाधा आने नहीं देते।

न वै जातु मृषैव स्यात्प्रजाध्यक्ष मदर्हणम् ।
भवद्विधेष्वतितरां मयि सङ्गृभितात्मनाम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

न—नहीं; वै—निस्सन्देह; जातु—कभी; मृषा—झूठा, वृथा; एव—केवल; स्यात्—होए; प्रजा—जीवात्माओं के; अध्यक्ष—हे प्रमुख; मत्-अर्हणम्—मेरी पूजा; भवत्-विधेषु—तुम जैसे लोगों को; अतितराम्—पूर्णतया; मयि—मुझमें; सङ्गृभित—स्थिर हैं; आत्मनाम्—उनका जिनके मन।

भगवान् ने आगे कहा—हे ऋषि, हे जीवात्माओं के अध्यक्ष, जो लोग मेरी पूजा द्वारा भक्तिपूर्वक मेरी सेवा करते हैं, विशेष रूप से तुम जैसे पुरुष जिन्होंने अपना सर्वस्व मुझे अर्पित कर रखा है, उन्हें निराश होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

तात्पर्य : भगवान् की सेवा में लगे पुरुष की यदि कोई इच्छाएँ होती भी है, तो वह कभी निराश नहीं होता। सेवा में लगे पुरुष *सकाम* तथा *अकाम* कहलाते हैं। जो भौतिक सुख की अभिलाषा से भगवान् की शरण में जाते हैं, वे *सकाम* कहलाते हैं और जो इन्द्रियतृप्ति के लिए किसी प्रकार की इच्छाएँ नहीं करते, किन्तु स्वत:जात प्रेमवश उनकी सेवा करते हैं, वे *अकाम* कहलाते हैं। *सकाम* भक्तों की भी चार श्रेणियाँ हैं—आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु तथा ज्ञानी। कोई

शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट के कारण, तो कोई धन की आवश्यकता के कारण, कोई ईश्वर को जानने की इच्छा से कि वह है क्या और कोई अपनी ज्ञानमयी खोज से दार्शनिक की तरह भगवान् को जानने की इच्छा से भगवान् की सेवा करते हैं। इनमें से किसी भी श्रेणी के पुरुषों को निराश नहीं होना पड़ता, प्रत्येक को अपनी पूजा का अभीष्ट फल प्राप्त होता है।

प्रजापतिसुतः सम्राण्मनुर्विख्यातमङ्गलः ।
ब्रह्मावर्तं योऽधिवसन्शास्ति सप्तार्णवां महीम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

प्रजापति-सुतः—भगवान् ब्रह्मा का पुत्र; **सम्राट्**—महान् राजा; **मनुः**—स्वायंभुव मनु; **विख्यात**—सुप्रसिद्ध; **मङ्गलः**—जिसके शुभ कार्य; **ब्रह्मावर्तम्**—ब्रह्मावर्त; **यः**—जो; **अधिवसन्**—रहते हुए; **शास्ति**—शासन करता है; **सप्त**—सात; **अर्णवाम्**—समुद्र; **महीम्**—पृथ्वी।.

भगवान् ब्रह्मा के पुत्र सम्राट स्वायंभुव मनु जो अपने सुकृत्यों के लिए विख्यात हैं, ब्रह्मावर्त में स्थित होकर सात समुद्रों वाली पृथ्वी पर शासन करते हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी ऐसा कहा जाता है कि ब्रह्मावर्त कुरुक्षेत्र का एक अंग है या कि कुरुक्षेत्र स्वयं ब्रह्मावर्त में स्थित है, क्योंकि देवताओं को कुरुक्षेत्र में दैवी कर्मकाण्ड सम्पन्न करने की संस्तुति की जाती है। कुछ अन्य लोगों का मत है कि ब्रह्मावर्त ब्रह्मलोक का एक स्थान है जहाँ स्वायंभुव शासन करते थे। इस पृथ्वी पर ऐसे अनेक स्थान हैं, जो उच्चलोक में भी जाने जाते हैं। उदाहरणार्थ, इस लोक में वृन्दावन, द्वारका तथा मथुरा जैसे स्थान हैं, किन्तु ये शाश्वत रूप में कृष्णलोक में भी स्थित हैं। पृथ्वी पर ऐसे ही अनेक नाम हैं और सम्भव है कि जैसे यहाँ कहा गया है वराह युग में स्वयांभुव मनु ने इस लोक पर भी शासन किया हो। *मंगल:* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। मंगल का अर्थ है, वह जो सभी प्रकार से धार्मिक अनुष्ठानों, शासन शक्ति, स्वच्छता तथा अन्य गुणों के ऐश्वर्य से सम्पन्न हो। *विख्यात* का अर्थ है सुप्रसिद्ध। स्वायंभुव मनु इन सभी के ऐश्वर्य से सद्गुणों तथा वैभवों के लिए सुप्रसिद्ध थे।

स चेह विप्र राजर्षिर्महिष्या शतरूपया ।
आयास्यति दिदृक्षुस्त्वां परश्वो धर्मकोविदः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सः—स्वायंभुव मनु; च—तथा; इह—यहाँ; विप्र—हे पवित्र ब्राह्मण; राज-ऋषिः—साधु राजा; महिष्या—अपनी रानी (महिषी) सहित; शतरूपया—शतरूपा नामक; आयास्यति—आएंगे; दिदृक्षुः—देखने की इच्छा से; त्वाम्—तुमको; परश्वः—परसों; धर्म—धार्मिक कृत्यों में; कोविदः—दक्ष।.

हे ब्राह्मण, धार्मिक कृत्यों में दक्ष सुप्रसिद्ध सम्राट अपनी पत्नी शतरूपा सहित तुम्हें देखने के लिए परसों यहाँ आएँगे।

आत्मजामसितापाङ्गीं वयःशीलगुणान्विताम् ।
मृगयन्तीं पतिं दास्यत्यनुरूपाय ते प्रभो ॥ २७॥

शब्दार्थ

आत्म-जाम्—अपनी पुत्री; असित—श्याम; अपाङ्गीम्—आँखें; वयः—तरुण आयु; शील—आचरण से; गुण—अच्छे गुणों से; अन्विताम्—युक्त; मृगयन्तीम्—खोजती हुई; पतिम्—पति को; दास्यति—दे देंगे; अनुरूपाय—अनुरूप, उपयुक्त; ते—तुमको; प्रभो—महोदय!.

उनके एक श्याम नेत्रों वाली तरुणी कन्या है। वह विवाह के योग्य है, वह उत्तम आचरण वाली तथा सर्व गुणसम्पन्न है। वह भी अच्छे पति की तलाश में है। महाशय, उसके माता-पिता तुम्हें देखने आएँगे। तुम उसके सर्वथा अनुरूप हो जिससे वे अपनी कन्या को तुम्हारी पत्नी के रूप में अर्पित कर देंगे।

तात्पर्य : अच्छी कन्या के लिए अच्छे वर का चुनाव सदैव माता पिता करते रहे हैं। यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि मनु तथा उनकी पत्नी अपनी कन्या को प्रदान करने के लिए कर्दम मुनि को देखने जा रहे थे, क्योंकि उनकी कन्या योग्य थी और वे समान गुण वाले वर की तलाश में थे। यही माता-पिता का कर्तव्य है। लड़कियों को कभी सड़क पर निकल कर पति की तलाश करने की आज्ञा नहीं दी जाती, क्योंकि युवती होकर यदि वे पति की तलाश करें तो वे भूल जाएँगी कि पति उनके अनुरूप भी है या नहीं। काम-पिपासा के कारण वे किसी को भी पति बना सकती हैं, किन्तु यदि माता-पिता उसके पति का चुनाव करते हैं, तो विचार कर सकते है कि किसे चुना जाय और किसे नहीं। फलतः वैदिक पद्धति में माता-पिता अनुरूप वर को कन्या का दान करते हैं, उसे स्वतन्त्र रूप से वर चुनने की आज्ञा नहीं दी जाती।

समाहितं ते हृदयं यत्रेमान्परिवत्सरान् ।
सा त्वां ब्रह्मन्नृपवधूः काममाशु भजिष्यति ॥ २८॥

शब्दार्थ

समाहितम्—स्थिर; ते—तुम्हारे; हृदयम्—हृदय; यत्र—जिस पर; इमान्—इतने; परिवत्सरान्—वर्षों तक; सा—वह; त्वाम्—तुमको; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; नृप-वधूः—राजकुमारी; कामम्—इच्छानुरूप; आशु—शीघ्र ही; भजिष्यति—सेवा करेगी।.

हे ऋषि, वह राजकुमारी उसी प्रकार की होगी जिस प्रकार की तुम इतने वर्षों से अपने मन में सोचते रहे हो। वह शीघ्र ही तुम्हारी हो जाएगी और वह जी भर तुम्हारी सेवा करेगी।

तात्पर्य : भगवान् भक्तों के मनोरथों को पूरा करने वाले हैं, अतः भगवान् ने कर्दम मुनि को बतलाया, ''जो कन्या तुमसे विवाहित होने जा रही है, वह स्वायंभुव मनु की पुत्री और राजकुमारी है, अतः वह तुम्हारे योग्य है।'' केवल ईश्वर की कृपा से किसी को मनवांछित पत्नी प्राप्त होती है; इसी प्रकार लड़की को भी ईश्वर की कृपा से मनानुकूल पति मिलता है। इस प्रकार यह कहा जाता है कि हम नित्यप्रति के कार्यों के लिए परमेश्वर से प्रार्थना करते रहें तो हर काम सुचारु रूप से और हमारी रुचि के अनुकूल सम्पन्न होगा। दूसरे शब्दों में, सभी परिस्थितियों में हमें श्रीभगवान् की शरण में जाना चाहिए और उनके निर्णय पर पूर्णतया निर्भर रहना चाहिए। मनुष्य सोचता कुछ है और होता कुछ है। अतः इच्छाओं की पूर्ति श्रीभगवान् पर छोड़ देना सबसे उत्तम हल है। कर्दम मुनि को पत्नी की आकांक्षा थी, किन्तु भगवद्भक्त होने के कारण भगवान् ने उनके लिए सम्राट की पुत्री, राजुकमारी को चुन दिया। इस प्रकार कर्दम मुनि को अपनी आशा से बढ़कर पत्नी-लाभ हुआ। यदि हम श्रीभगवान् की रुचि पर निर्भर करें तो हमारी आकांक्षा से भी अधिक, प्रचुर मात्रा में, वर प्राप्त हो सकते हैं।

यहाँ पर यह भी ध्यान देने की महत्त्वपूर्ण बात है कि कर्दम मुनि ब्राह्मण थे, जबकि सम्राट स्वायंभुव क्षत्रिय थे। अतः उस काल में भी अन्तर्जातीय विवाह प्रचलित था। प्रचलन यह था कि कोई ब्राह्मण क्षत्रिय की कन्या से विवाह कर सकता था, किन्तु क्षत्रिय किसी ब्राह्मण कन्या से विवाह नहीं कर सकता था। वैदिक काल के इतिहास से ऐसे प्रमाण प्राप्त हैं कि शुक्राचार्य ने अपनी पुत्री महाराज ययाति को दी, किन्तु राजा ने ब्राह्मण-पुत्री से विवाह करने से इनकार कर दिया। केवल ब्राह्मण की विशेष आज्ञा से ही वे विवाह कर सकते थे। अतः प्राचीन काल

में, लाखों वर्षों पूर्व अन्तर्जातीय विवाह वर्जित न था वरन् नियमित सामाजिक प्रथा के रूप में था।

या त आत्मभृतं वीर्यं नवधा प्रसविष्यति ।
वीर्ये त्वदीये ऋषय आधास्यन्त्यञ्जसात्मनः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

या—वह; ते—तुम्हारे द्वारा; आत्म-भृतम्—उसमें बोये गये; वीर्यम्—बीज से; नव-धा—नौ कन्याएँ; प्रसविष्यति—जन्म देगी; वीर्ये त्वदीये—तुम्हारे द्वारा उत्पन्न कन्याओं में; ऋषयः—ऋषिगण; आधास्यन्ति—उत्पन्न करेंगे; अञ्जसा—कुल मिलाकर; आत्मनः—सन्तानें।

वह तुम्हारा वीर्य धारण करके नौ पुत्रियाँ उत्पन्न करेगी और यथासमय इन कन्याओं से ऋषि सन्तानें उत्पन्न करेंगे।

त्वं च सम्यगनुष्ठाय निदेशं म उशत्तमः ।
मयि तीर्थीकृताशेषक्रियार्थो मां प्रपत्स्यसे ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुम; च—तथा; सम्यक्—उचित रीति से; अनुष्ठाय—अनुष्ठान करके; निदेशम्—आदेश; मे—मेरा; उशत्तमः—पूर्णतया पवित्र किया; मयि—मुझको; तीर्थी-कृत—अर्पित करके; अशेष—समस्त; क्रिया—कार्यों का; अर्थः—फल; माम्—मुझको; प्रपत्स्यसे—प्राप्त करोगे।

मेरी आज्ञा का अच्छी तरह से पालन करने के कारण स्वच्छ हृदय होकर तुम अपने सब कर्मों का फल मुझे अर्पित करके अन्त में मुझे ही प्राप्त करोगे।

तात्पर्य : *तीर्थी-कृताशेष-क्रियार्थः* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। तीर्थ का अर्थ है, वह पवित्र स्थान जहाँ दान दिया जाता है। लोग तीर्थस्थल में जाते थे और दिल खोलकर दान देते थे। यह प्रथा अब भी चालू है। अतः भगवान् ने कहा, ''अपने कर्मों तथा उनके फलों को पवित्र बनाने के लिए तुम प्रत्येक वस्तु मुझे अर्पित करोगे।'' इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में भी की गई है—''तुम जो भी करो, जो भी खाओ, जो भी यज्ञ करो, उसका फल केवल मुझे अर्पित होना चाहिए।'' अन्यत्र *भगवद्गीता* में भगवान् ने कहा है, ''समस्त यज्ञों, तपों तथा मनुष्य या समाज के लिए जो कुछ भी किया जाता है उन सबका भोक्ता मैं ही हूँ।'' उक्त समस्त कार्य, चाहे परिवार के कल्याण के लिए हो या समाज, देश अथवा मानवता के लिए, उन्हें कृष्ण-भावनामृत के लिए

सम्पन्न किया जाना चाहिए। यही भगवान् का कर्दम मुनि को उपदेश है। महाराज युधिष्ठिर ने नारद मुनि का सत्कार करते हुए कहा—"आप जहाँ भी उपस्थित रहते हैं वह स्थान पवित्र हो जाता है, क्योंकि आपके हृदय में स्वयं भगवान् सदैव स्थित रहते हैं।" इसी प्रकार यदि हम भगवान् तथा उनके प्रतिनिधि के आदेशों पर कृष्णभावनामृत के लिए कर्म करते हैं, तो प्रत्येक वस्तु पवित्र हो जाती है। यह संकेत कर्दम मुनि को किया गया जिन्होंने इसके अनुसार कार्य किया जिससे उन्हें सर्वोत्तम पत्नी मिली और पुत्र भी, जैसाकि आगे बताया जाएगा।

कृत्वा दयां च जीवेषु दत्त्वा चाभयमात्मवान् ।
मय्यात्मानं सह जगद्द्रक्ष्यस्यात्मनि चापि माम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

कृत्वा—प्रदर्शित करके; दयाम्—दया; च—तथा; जीवेषु—जीवों के प्रति; दत्त्वा—दे करके; च—तथा; अभयम्—सुरक्षा का आश्वासन; आत्म-वान्—आत्म-साक्षात्कार; मयि—मुझमें; आत्मानम्—अपने आप को; सह जगत्—ब्रह्माण्ड सहित; द्रक्ष्यसि—देखोगे; आत्मनि—अपने में; च—तथा; अपि—भी; माम्—मुझको।

समस्त जीवों पर दया करते हुए तुम आत्म-साक्षात्कार प्राप्त कर सकोगे; फिर सबको अभयदान देकर अपने सहित सम्पूर्ण जगत को मुझमें और मुझको अपने में स्थित देखोगे।

तात्पर्य : यहाँ पर प्रत्येक जीवात्मा के लिए आत्म-साक्षात्कार की सरल विधि का वर्णन हुआ है। जिस प्रथम नियम को समझ लेना होगा वह यह है कि यह जगत भगवान् की इच्छा का फल है। परमेश्वर से इस जगत की आत्मीयता है। किन्तु निर्विशेषवादी इस तादात्मता को गलत ढंग से ग्रहण करते हैं; उनका कहना है कि परम सत्य परमेश्वर अपने को ब्रह्माण्ड में रूपान्तरित करके अपनी पृथक् सत्ता को खो देता है। इस प्रकार वे जगत को तथा इसकी प्रत्येक वस्तु को भगवान् मानते हैं। यह सर्वेश्वरवाद है, जिसमें प्रत्येक वस्तु को भगवान् माना जाता है। यह निर्विशेषवादियों का मत है। किन्तु जो भगवान् के निजी भक्त हैं, वे प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सम्पत्ति मानते हैं। हम जो भी देखते हैं वह भगवान् का प्राकट्य है, अत: प्रत्येक वस्तु भगवान् की सेवा में अर्पित की जानी चाहिए। यही तादात्म्य है। सगुणवादियों तथा निर्गुणवादियों का यही अन्तर है कि निर्गुणवादी भगवान् की पृथक् सत्ता को स्वीकार नहीं

करते, किन्तु सगुणवादी इसे स्वीकार करते हैं, वे जानते हैं कि भगवान् अनेक प्रकार से विभक्त होने पर भी अपनी पृथक् सत्ता रखता है। इसका वर्णन *भगवद्गीता* में हुआ है, ''मैं सम्पूर्ण जगत में निराकार रूप में फैला हुआ हूँ। प्रत्येक वस्तु मुझ पर आधारित है, किन्तु मैं उसमें उपस्थित नहीं हूँ।'' सूर्य तथा सूर्यप्रकाश का दृष्टान्त अतीव सुन्दर है। सूर्य अपने प्रकाश से ब्रह्माण्ड भर में फैला हुआ है और सभी लोक सूर्यप्रकाश पर निर्भर हैं, किन्तु सभी लोक सूर्यलोक से भिन्न हैं। कोई यह नहीं कह सकता क्योंकि लोक सूर्यप्रकाश पर निर्भर हैं अत: वे भी सूर्य हैं। इसी प्रकार निर्विशेषदियों या सर्वेश्वरवादियों का यह मत कि प्रत्येक वस्तु ईश्वर है बुद्धिमत्तापूर्ण नहीं है। जैसाकि भगवान् ने स्वयं कहा है कि वास्तविक स्थिति यह है कि यद्यपि भगवान् के बिना किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता, किन्तु यह तथ्य नहीं है कि प्रत्येक वस्तु भगवान् है। वे प्रत्येक वस्तु से पृथक् हैं। अत: यहाँ भी भगवान् कहते हैं, ''तुम इस संसार में प्रत्येक वस्तु को मुझसे अभिन्न देखोगे।'' इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक वस्तु को भगवान् की शक्ति का फल मानना चाहिए, अत: प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सेवा में लगाना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि अपनी शक्ति का उपयोग अपने हित के लिए करे। यही शक्ति की सार्थकता (पूर्णता) है।

यदि कोई दयालु हो तो इस शक्ति का उपयोग वास्तविक आत्महित में किया जा सकता है। कृष्णभावनाभावित मनुष्य सदैव भगवान् का भक्त और सदय होता है। उसे इससे सन्तोष नहीं होता है कि वही एक भक्त है, वरन् वह अपनी भक्ति का ज्ञान प्रत्येक व्यक्ति में बाँटने का प्रयत्न करता है। भगवान् के ऐसे अनेक भक्त हैं जिनको इस प्रकार भक्ति-ज्ञान वितरित करने में अनेक संकट उठाने पड़े। वह तो करना ही चाहिए।

यह भी कहा गया है कि जो भगवान् के मन्दिर में जाकर अत्यन्त भक्तिपूर्वक पूजा करता है, किन्तु जो अन्यों पर दया नहीं करता या अन्य भक्तों का आदर नहीं करता वह तीसरी श्रेणी का भक्त है। दूसरी श्रेणी का भक्त वह है, जो पतितों पर दया एवं करुणा प्रदर्शित करता है। वह अपने को भगवान् का शाश्वत् दास समझता है, फलत: वह भक्तों से मित्रता स्थापित करता

है, जनसामान्य को भक्ति का उपदेश देता है और अभक्तों का साथ नहीं करता। जब तक भगवान् की भक्ति करते हुए गृहस्थ कोई जनसामान्य पर दया नहीं दिखाता वह तृतीय श्रेणी का भक्त होता है। प्रथम श्रेणी का भक्त समस्त जीवों को आश्वासन देता रहता है कि इस भौतिक संसार में कोई भय नहीं है, ''सभी लोग कृष्ण–भक्ति करें और संसार के अज्ञान को जीतें।''

यहाँ यह इंगित है कि भगवान् ने कर्दम मुनि को आदेशित किया कि वे अपने गृहस्थ जीवन में दयालु तथा उदार रहें और विरक्त होने पर लोगों को आश्वस्त करते रहें। संन्यासी इसी के लिए होता है कि लोगों को प्रकाश दे। उसे चाहिए कि लोगों को ज्ञान देने के लिए वह घर–घर जाए। गृहस्थ माया के वशीभूत होकर गृहस्थी के कार्यों में निमग्न हो जाता है और श्रीकृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाता है। यदि वह बिल्लियों तथा कुत्तों की तरह विस्मृति में ही मर जाता है, तो उसका जीवन नष्ट हो जाता है। अत: यह संन्यासी का कर्तव्य है कि वह जा जाकर विस्मृत जीवों को भगवान् के साथ उनके सम्बन्धों को बताये और उन्हें भक्ति में लगाए। भक्तों को पतितात्माओं पर दया दिखानी चाहिए और उन्हें निर्भय रहने का आश्वासन देना चाहिए। ज्योंही कोई भक्त बन जाता है उसे विश्वास हो जाता है कि वह भगवान् द्वारा रक्षित है। स्वयं भय भी भगवान् से भयभीत रहता है, अत: भय इत्यादि से उसे क्या लेना–देना ?

सामान्य जन को निर्भय बनाना सबसे बड़ा पुण्य कार्य है। संन्यासी को चाहिए कि वह द्वार द्वार, गाँव गाँव, नगर नगर, देश देश तथा विश्व भर में जहाँ भी सम्भव हो सके जाए और गृहस्थों में कृष्णभावनामृत जगाए। जो गृहस्थ रहकर संन्यासी से दीक्षा लेता है उसका भी परम कर्तव्य हो जाता है कि वह अपने स्थान पर कृष्णभावनामृत का प्रसार करे और जहाँ तक सम्भव हो, अपने मित्रों तथा पड़ोसियों को अपने घर बुलाए और कृष्णचेतना का पाठ पढ़ाए। पाठ पढ़ाने का अर्थ है श्रीकृष्ण के पवित्र नाम का कीर्तन तथा *भगवद्गीता* या *श्रीमद्भागवत* का उपदेश। कृष्णभावनामृत के प्रसार हेतु विपुल साहित्य है और प्रत्येक गृहस्थ का धर्म है कि वह अपने संन्यासी गुरु से श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में जाने। भगवान् की सेवा के हेतु श्रम विभाजन

होता है। गृहस्थ का कार्य है कि वह धन अर्जित करे, क्योंकि संन्यासी से धन-उपार्जन की आशा नहीं की जा सकती, वह तो गृहस्थ पर पूर्णतः आश्रित होता है। गृहस्थ को चाहिए कि व्यापार या किसी धंधे से धन कमाए और अपनी आय का कम से कम पचास प्रतिशत कृष्णभावनामृत के प्रसार में व्यय करे, शेष में से पच्चीस प्रतिशत अपने परिवार पर खर्चे और शेष पच्चीस प्रतिशत को विपत्ति के लिए बचा रखे। यह आदर्श रूप गोस्वामी ने प्रस्तुत किया जिसका अनुसरण सभी भक्तों को करना चाहिए।

वस्तुतः परमेश्वर से तादात्म्य का अर्थ है भगवान् की रुचि (हित) के साथ तादात्म्य। तादात्म्य का अर्थ भगवान् के समान महान् होना कदापि नहीं है। यह असम्भव है। अंश कभी भी सम्पूर्ण के तुल्य नहीं हो सकता। जीवात्मा तो सदैव क्षुद्र अंश है। अतः उसके तादात्म्य का अर्थ होता है कि भगवान् के हित में ही उसका भी हित है। भगवान् चाहते हैं कि प्रत्येक जीवात्मा निरन्तर उन्हीं का चिन्तन करे, उनका भक्त बने और सदैव उनकी आराधना करे। *भगवद्गीता* में इसका स्पष्ट उल्लेख हुआ है *मन्मना भव मद्भक्तः*। श्रीकृष्ण की इच्छा है कि सभी उनका ही चिन्तन करें, उन्हीं को सदैव नमस्कार करें। यही भगवान् की इच्छा है और भक्त को इसी की पूर्ति करनी होती है। चूँकि भगवान् अनन्त हैं, अतः उनकी इच्छा भी असीम है। इसमें कोई बन्धन नहीं है, इसीलिए भक्त की सेवा भी असीम है। दिव्यलोक में भगवान् तथा दास के बीच असीम स्पर्धा है। भगवान् चाहते हैं उनकी असीम इच्छाएँ पूर्ण हों और भक्त भी उनकी असीम इच्छाओं को पूरा करने के लिए सेवा करता रहता है। भगवान् तथा उनके भक्त के हित में अपार सामञ्जस्य (एकरूपता) है।

सहाहं स्वांशकलया त्वद्वीर्येण महामुने ।
तव क्षेत्रे देवहूत्यां प्रणेष्ये तत्त्वसंहिताम् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

सह—साथ; अहम्—मैं; स्व-अंश-कलया—अपने स्वांश से; त्वत्-वीर्येण—तुम्हारे वीर्य से; महा-मुने—हे ऋषि; तव क्षेत्रे—तुम्हारी पत्नी; देवहूत्याम्—देवहूति में; प्रणेष्ये—उपदेश दूँगा; तत्त्व—परम तत्त्वों का; संहिताम्—संहिता, शास्त्र।

हे ऋषि, मैं तुम्हारी नवों कन्याओं सहित तुम्हारी पत्नी देवहूति के माध्यम से अपने

स्वांश को प्रकट करूँगा और उसे उस दर्शनशास्त्र (सांख्य दर्शन) का उपदेश दूँगा जो परम तत्त्वों या श्रेणियों से सम्बद्ध है।

तात्पर्य : यहाँ पर आगत शब्द *स्वांश-कलया* सूचित करता है कि भगवान् देवहूति तथा कर्दम के पुत्र कपिलदेव के रूप में प्रकट होंगे जो सांख्य दर्शन के पहले संस्थापक हैं जिसे यहाँ *तत्त्व-संहिता* कहा गया है। भगवान् ने कर्दम मुनि को पहले ही बता दिया कि वे कपिलदेव के रूप में अवतार लेंगे और सांख्य दर्शन का प्रचार करेंगे। भगवान् ने सांख्य की स्थापना की, यह उस सांख्य दर्शन से भिन्न है, जिसे एक अन्य कपिलदेव द्वारा स्थापित बताया जाता है। सांख्य दर्शन दो प्रकार का है एक तो ईश्वरविहीन सांख्य दर्शन और दूसरा ईश्वरमय सांख्य दर्शन। देवहूति के पुत्र कपिलदेव ने जिस सांख्य का प्रचार किया वह ईश्वरमय दर्शन है।

भगवान् का अनेक प्रकार से प्राकट्य होता है। वह एक है, किन्तु वह अनेक हो गया है। वह अपने को दो भिन्न विस्तारों में विभाजित कर लेता है 'कला' तथा 'विभिन्नांश'। सामान्य जीवात्माएँ 'विभिन्नांश' विस्तार कहलाती हैं, किन्तु *विष्णु-तत्त्व* के अनन्त विस्तार यथा वामन, गोविन्द, नारायण, प्रद्युम्न, वासुदेव तथा अनन्त 'स्वांश-कला' कहलाते हैं। 'स्वांश' का अर्थ प्रत्यक्ष विस्तार है और 'कला' आदि भगवान् के विस्तार से विस्तार का द्योतक है। बलदेव श्रीकृष्ण के विस्तार हैं और बलदेव के अगले विस्तार संकर्षण हैं। इस प्रकार संकर्षण 'कला' हैं जबकि बलदेव 'स्वांश' हैं। किन्तु इनमें कोई अन्तर नहीं है। *ब्रह्म-संहिता* (५.४६) में इसकी बड़ी सुन्दर व्याख्या हुई है *दीपार्चिरेव हि दशान्तरम् अभ्युपेत्य*। एक दीपक से दूसरा और दूसरे से तीसरा इस प्रकार हजारों दीप जलाये जा सकते हैं, किन्तु प्रकाश फैलाने के मामले में इनमें से कोई किसी से घटकर नहीं है। प्रत्येक दीपक में पूर्ण प्रकाश क्षमता निहित है, किन्तु फिर भी इतना अन्तर तो है ही कि यह प्रथम दीप है, यह दूसरा या तीसरा और चौथा इत्यादि। इसी प्रकार भगवान् के *स्वांश* और *कला* में कोई अन्तर नहीं होता। चूँकि भगवान् परम पूर्ण हैं अत: भगवान् के नामों को ठीक उसी रुप में समझा जाता है और उनका नाम, रूप, लीलाएँ, सामग्रियाँ तथा उनके गुण इन सबों में एक सी शक्ति है। परम जगत में श्रीकृष्ण

नाम भगवान् की दिव्य ध्वनि का प्रतीक है। उनके गुण, नाम, रूप इत्यादि में कोई संभाव्य (शक्य) अन्तर नहीं है। यदि हम हरे कृष्ण नाम का जप करते हैं, तो इसमें उतनी ही शक्ति रहती है जितनी कि स्वयं भगवान् में है। हम जिस रूप में भगवान् की पूजा करते हैं और मन्दिर में भगवान् का जो रूप होता है, उन दोनों में कोई संभाव्य अन्तर नहीं होता। मनुष्य को चाहिए कि वह यह न सोचे कि कोई भगवान् की मूर्ति या खिलौने की पूजा कर रहा है, भले ही दूसरे लोग उसे मूर्ति मानें। चूँकि इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है, अत: भगवान् की मूर्ति तथा स्वयं भगवान् की पूजा करने का फल समान मिलता है। यही कृष्णभावनामृत का विज्ञान है।

मैत्रेय उवाच
एवं तमनुभाष्याथ भगवान्प्रत्यगक्षजः ।
जगाम बिन्दुसरसः सरस्वत्या परिश्रितात् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; एवम्—इस प्रकार; तम्—उसको; अनुभाष्य—सम्भाषण करके; अथ—तब; भगवान्—भगवान्; प्रत्यक्—प्रत्यक्ष; अक्ष—इन्द्रियों से; जः—जो देखा जाता है; जगाम—चला गया; बिन्दु-सरसः—बिन्दु सरोवर से; सरस्वत्या—सरस्वती नदी से; परिश्रितात्—घिरा हुआ।

मैत्रेय ने आगे कहा इस प्रकार कर्दम मुनि से बातें करने के बाद, इन्द्रियों के कृष्ण-भावनामृत में लीन रहने पर प्रकट होने वाले भगवान् उस बिन्दु नामक सरोवर से, जो सरस्वती नदी के द्वारा चारों ओर से घिरा हुआ था, अपने लोक को चले गये।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् को *प्रत्यग्-अक्षज* कहा गया है। यद्यपि वे भौतिक इन्द्रियों से नहीं दिखाई पड़ते तो भी वे देखे जा सकते हैं; यह विरोधाभास लगता है। हमारे पास भौतिक इन्द्रियाँ ही हैं, तो फिर हम भगवान् को कैसे देखें? वे *अधोक्षज* कहलाते हैं, जिसका अर्थ है कि वे भौतिक इन्द्रियों से नहीं देखे जा सकते। *अक्षज* का अर्थ है, ''भौतिक इन्द्रियों द्वारा दृश्य ज्ञान।'' चूँकि भगवान् हमारी इन्द्रियों की कल्पनाशक्ति से नहीं देखे जा सकते, अत: वे अजित भी कहलाते हैं, वे तो जीत सकते हैं, किन्तु उन्हें कोई नहीं जीत पाएगा। तो फिर यह क्या कि इतने पर भी वे देखे जा सकते हैं? यह व्याख्या की जाती है कि श्रीकृष्ण के दिव्य नाम को न

तो कोई सुन सकता है, न उनके दिव्य रूप को कोई समझ सकता है और न उनकी दिव्य लीलाओं को कोई आत्मसात् कर सकता है। यह सम्भव नहीं है। तो यह कैसे सम्भव है कि वे देखे या समझे जा सकते हैं? जब मनुष्य भक्तिमय सेवा में प्रशिक्षित होता है और भगवान् की सेवा करता रहता है, तो उसकी इन्द्रियाँ क्रमश: भौतिक कल्मष से परि-शुद्ध हो जाती हैं। जब इस प्रकार इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं तभी मनुष्य उन्हें देख सकता है, समझ सकता है, सुन सकता है। यहाँ पर प्रयुक्त एक ही शब्द *प्रत्यग्-अक्षज* में भौतिक इन्द्रियों की शुद्धता तथा श्रीकृष्ण के दिव्य रूप, गुण, नाम का बोध समाए हुए हैं।

निरीक्षतस्तस्य ययावशेष-
सिद्धेश्वराभिष्टुतसिद्धमार्गः ।
आकर्णयन्पत्ररथेन्द्रपक्षै-
रुच्चारितं स्तोममुदीर्णसाम ॥ ३४॥

शब्दार्थ

निरीक्षतः तस्य—उसके देखते देखते; ययौ—वे चले गये; अशेष—समस्त; सिद्ध-ईश्वर—मुक्त जीवों से; अभिष्टुत—प्रशंसित; सिद्ध-मार्गः—वैकुण्ठ लोक का रास्ता; आकर्णयन्—सुनते हुए; पत्र-रथ-इन्द्र—गरुड़ (पक्षिराज) के; पक्षैः—पंखों से; उच्चारितम्—निकलने वाले; स्तोमम्—स्तुति; उदीर्ण-साम—सामवेद की आधारस्वरूप।

खड़े हुए कर्दम मुनि के देखते-देखते भगवान्, वैकुण्ठ जानेवाले मार्ग से प्रस्थान कर गये, जिस मार्ग की प्रशंसा सभी महान् मुक्त आत्माएँ करती हैं। मुनि खड़े-खड़े, भगवान् के वाहन गरुड़ के फड़फड़ाते पंखों से गुंजादित, सामवेद के मंगलाचरण जैसे लगने वाली ध्वनि को सुनते रह गये।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य में बताया गया है कि भगवान् को सर्वत्र ले जाने वाले दिव्य पक्षी गरुड़ के दोनों पंख सामवेद के दो विभाग हैं, जिन्हें *बृहत्* तथा *रथान्तर* कहा जाता है। चूँकि गरुड़ भगवान् के वाहक का कार्य करता है, अत: उसे समस्त वाहनों का दिव्य राजकुमार कहा जाता है। गरुड़ ने अपने दोनों पंखों से सामवेद गुंजरित करना प्रारम्भ कर दिया, जिसका गायन बड़े-बड़े साधु-सन्त भगवान् को शान्त करने के लिए करते हैं। भगवान् की पूजा ब्रह्मा, शिव, गरुड़ तथा अन्य देवता चुने हुए श्लोकों से करते हैं, किन्तु बड़े-बड़े साधु (ऋषि) वैदिक साहित्य के यथा उपनिषदों तथा सामवेद के स्तोत्रों से उनकी पूजा करते हैं। ये ही सामवेद की

ध्वनियाँ भक्त को सुनाई पड़ती हैं, जब भगवान् के अन्य महान् भक्त गरुड़ अपने पंख को फड़फड़ाता है।

यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख हैं कि कर्दम मुनि उस मार्ग को देखने लगे जिससे होकर भगवान् वैकुण्ठ ले जाये जा रहे थे। इस प्रकार इसकी पुष्टि होती है कि भगवान् अपने धाम वैकुण्ठ से, जो दिव्य आकाश में है, उतरते हैं और गरुड़ उन्हें ले जाता है। सामान्य श्रेणी के दिव्य ज्ञानी वैकुण्ठ को जाने वाले मार्ग की पूजा नहीं करते। जो पहले से भव-बंधन से मुक्त हैं, वे ही भगवान् के भक्त हो सकते हैं और जो भव-बंधन से मुक्त नहीं हुए हैं, वे दिव्य भक्ति को नहीं समझ सकते। *भगवद्गीता* में स्पष्ट उल्लेख है *यततामपि सिद्धानाम्*। ऐसे अनेक लोग हैं, जो भव-बंधन से मुक्त होकर सिद्धि प्राप्त करना चाहते हैं और जो सचमुच मुक्त हो जाते हैं, वे ब्रह्मभूत या सिद्ध कहलाते हैं। केवल सिद्ध ही भक्त बन सकते हैं। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई है, जो कृष्ण-भावनामृत अथवा भक्ति-योग में संलग्न है, वह भौतिक प्रकृतिक गुणों के प्रभाव से पहले ही मुक्त हुआ रहता है। यहाँ इसकी भी पुष्टि होती है कि मुक्त पुरुष ही भक्ति-मार्ग की पूजा करते हैं, बद्धजीव नहीं। बद्धजीव भगवान् की भक्ति को नहीं समझ पाते। कर्दम मुनि मुक्त जीव थे, जिन्होंने भगवान् का साक्षात् दर्शन किया था। उनके मुक्त होने में कोई सन्देह नहीं था, अतः वे गरुड़ को भगवान् सहित वैकुण्ठ जाते देख सकने में समर्थ थे और गरुड़ के पंखों से सामवेद के सार 'हरे कृष्ण' की ध्वनि को निकलते हुए सुन सकते थे।

अथ सम्प्रस्थिते शुक्ले कर्दमो भगवानृषिः ।
आस्ते स्म बिन्दुसरसि तं कालं प्रतिपालयन् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; सम्प्रस्थिते शुक्ले—भगवान् के चले जाने पर; कर्दमः—कर्दम मुनि ने; भगवान्—परम शक्तिमान; ऋषिः—ऋषि; आस्ते स्म—रहते रहे; बिन्दु-सरसि—बिन्दु सरोवर के तट पर; तम्—उस; कालम्—समय; प्रतिपालयन्—प्रतीक्षा करते हुए।

तब भगवान् के चले जाने पर पूज्य साधु कर्दम भगवान् द्वारा बताये उस समय की प्रतीक्षा करते हुए बिन्दु सरोवर के तट पर ही ठहरे रहे।

मनुः स्यन्दनमास्थाय शातकौम्भपरिच्छदम् ।
आरोप्य स्वां दुहितरं सभार्यः पर्यटन्महीम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

मनुः—स्वायंभुव मनु; स्यन्दनम्—रथ; आस्थाय—चढ़कर; शातकौम्भ—स्वर्ण रचित; परिच्छदम्—बाहरी खोल; आरोप्य—बिठाकर; स्वाम्—अपनी; दुहितरम्—पुत्री; स-भार्यः—अपनी पत्नी के साथ-साथ; पर्यटन्—सर्वत्र घूमते हुए; महीम्—पृथ्वी मण्डल में।

स्वायंभुव मनु अपनी पत्नी सहित स्वर्णाभूषणों से सुसज्जित अपने रथ पर आरूढ़ हुए। अपनी पुत्री को भी उस पर चढ़ाकर वे समस्त भूमण्डल का भ्रमण करने लगे।

तात्पर्य : विश्व के सम्राट मनु चाहते तो अपनी पुत्री के लिए उपयुक्त पति की खोज के लिए कोई दूत नियुक्त कर सकते थे, किन्तु वे अपनी कन्या को, जैसे एक पिता को चाहिए, प्यार करते थे, अतः उसके लिए वर की तलाश करने केवल अपनी पत्नी सहित स्वर्णिम रथ पर आरूढ़ होकर अपने राज्य से रवाना हुए।

तस्मिन्सुधन्वन्नहनि भगवान्यत्समादिशत् ।
उपायादाश्रमपदं मुनेः शान्तव्रतस्य तत् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस पर; सु-धन्वन्—हे परम धनुर्धर विदुर; अहनि—दिन में; भगवान्—श्रीभगवान्; यत्—जो; समादिशत्—भविष्यवाणी की; उपायात्—पहुँच गया; आश्रम-पदम्—पवित्र कुटी में; मुनेः—मुनि की; शान्त—पूर्ण; व्रतस्य—जिसका तपस्या का व्रत; तत्—वह।

हे विदुर, वे मुनि की कुटी में पहुँचे, जिसने अपनी तपस्या का व्रत भगवान् द्वारा पहले से बताये गये दिन ही समाप्त किया था।

यस्मिन्भगवतो नेत्रान्न्यपतन्नश्रुबिन्दवः ।
कृपया सम्परीतस्य प्रपन्नेऽर्पितया भृशम् ॥ ३८ ॥
तद्वै बिन्दुसरो नाम सरस्वत्या परिप्लुतम् ।
पुण्यं शिवामृतजलं महर्षिगणसेवितम् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

यस्मिन्—जिसमें; भगवतः—भगवान् के; नेत्रात्—नेत्र से; न्यपतन्—गिरे हुए; अश्रु-बिन्दवः—आँसू की बूँदें; कृपया—दया से; सम्परीतस्य—अभिभूत होने वाला; प्रपन्ने—शरणागत (कर्दम); अर्पितया—चढ़ाया गया; भृशम्—अत्यधिक; तत्—वह; वै—निस्सन्देह; बिन्दु-सरः—अश्रुओं का सरोवर; नाम—नामक; सरस्वत्या—सरस्वती नदी से; परिप्लुतम्—उमड़ कर बहता हुआ; पुण्यम्—पवित्र; शिव—मंगलदायक; अमृत—अमृत; जलम्—जल; महा-ऋषि—परम साधु के; गण—समूह द्वारा; सेवितम्—सेवित।

सरस्वती नदी के बाढ़-जल से भरने वाले पवित्र बिन्दु सरोवर का सेवन ऋषियों का

समूह करता था। इसका पवित्र जल न केवल कल्याणकारी था वरन् अमृत के समान मीठा भी था। यह बिन्दु सरोवर कहलाता था, क्योंकि यहीं पर, जब भगवान् शरणागत ऋषि पर दयार्द्र हो उठे थे, उनके नेत्रों से आँसुओं की बूँदें गिरी थीं।

तात्पर्य : कर्दम मुनि ने भगवान् की अहैतुकी कृपा प्राप्त करने के उद्देश्य से तपस्या की थी और जब भगवान् वहाँ पहुँचे तो वे इतने दयार्द्र हो उठे कि प्रसन्नता वश उनके नेत्रों से आँसू टपक पड़े जिनसे बिन्दु सरोवर बन गया। अत: बिन्दु सरोवर को बड़े-बड़े साधु तथा विद्वान पूजते हैं, क्योंकि परम सत्य के दर्शनशास्त्र के अनुसार भगवान् और उनके नेत्रों के आँसू अभिन्न हैं। जिस प्रकार भगवान् के पाँव के अँगूठे का पसीना पवित्र गंगा नदी बन गया था, उसी प्रकार भगवान् के दिव्य नेत्रों से गिरे आँसू बिन्दु-सरोवर बन गया। ये दोनों ही दिव्य हैं जिनकी महान् साधु तथा विद्वान पूजा करते हैं। यहाँ पर बिन्दु सरोवर के जल को शिवामृत जल कहा गया है। शिव का अर्थ होता है "चंगा करने वाला।" जो कोई भी बिन्दु सरोवर के जल को पीता है उसके सारे रोग दूर हो जाते हैं; इसी प्रकार जो कोई भी गंगाजल में स्नान करता है उसके सारे भव-रोग जाते रहते हैं। ऐसे दावों को बड़े-बड़े विद्वानों तथा प्रामाणिक पुरुषों ने स्वीकार किया है और आज इस कलियुग में भी लोग ऐसा करते हैं।

पुण्यद्रुमलताजालैः कूजत्पुण्यमृगद्विजैः ।
सर्वर्तुफलपुष्पाढ्यं वनराजिश्रियान्वितम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

पुण्य—पवित्र; द्रुम—वृक्षों का; लता—बेलों के; जालैः—समूहों से; कूजत्—बोलते हुए; पुण्य—पवित्र; मृग—पशु; द्विजैः—पक्षियों के द्वारा; सर्व—समस्त; ऋतु—ऋतुओं में; फल—फलों से; पुष्प—फूलों से; आढ्यम्—सम्पन्न; वन-राजि—वृक्षों के कुंजों की; श्रिया—सुन्दरता से; अन्वितम्—सुशोभित।

सरोवर के तट पवित्र वृक्षों तथा लताओं के समूहों से घिरे थे, जो सभी ऋतुओं में फलों तथा फूलों से लदे रहते थे और जिनमें पवित्र पशु तथा पक्षी अपना-अपना बसेरा बनाते थे और विविध प्रकार से कूजन करते थे। यह स्थान वृक्षों के कुंजों की शोभा से विभूषित था।

तात्पर्य : यह बताया गया है कि बिन्दु सरोवर पवित्र वृक्षों तथा पक्षियों से घिरा रहता था।

जिस प्रकार मानव समाज में कुछ पुण्यात्मा तथा कुछ पापी लोग होते हैं उसी प्रकार वृक्षों तथा पक्षियों में भी कुछ पवित्र थे और कुछ अपवित्र। जिन वृक्षों में अच्छे फल या फूल नहीं लगते वे अपवित्र माने जाते हैं और जो पक्षी शैतान होते हैं, जैसे कौवे, वे अपवित्र माने जाते हैं। बिन्दु सरोवर के चारों ओर की भूमि में एक भी अपवित्र पक्षी या वृक्ष नहीं था। प्रत्येक वृक्ष फलित तथा पुष्पित था और प्रत्येक पक्षी प्रभु के गुणों का हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे; हरे राम, हरे राम, राम राम हरे हरे का गान करने वाला था।

मत्तद्विजगणैर्घुष्टं मत्तभ्रमरविभ्रमम् ।
मत्तबर्हिनटाटोपमाह्वयन्मत्तकोकिलम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

मत्त—प्रसन्नता से मतवाले; द्विज—पक्षियों के; गणैः—समूहों से; घुष्टम्—प्रतिध्वनित; मत्त—मतवाले; भ्रमर—भौरों का; विभ्रमम्—मँडराते हुए; मत्त—मतवाले; बर्हि—मोरों का; नट—नर्तकों का; आटोपम्—गर्व; आह्वयत्—एक दूसरे को बुलाते हुए; मत्त—प्रसन्न; कोकिलम्—कोयलें।.

यह प्रदेश मतवाले पक्षियों के स्वर से प्रतिध्वनित था। मतवाले भौंरे मँडरा रहे थे, प्रमत्त मोर गर्व से नाच रहे थे और प्रमुदित कोयलें एक दूसरे को पुकार रही थीं।

तात्पर्य : यहाँ पर बिन्दु-सरोवर के चारों ओर के क्षेत्र में सुनाई पड़ने वाली मधुर ध्वनियों की सुन्दरता का वर्णन है। मधु पीकर काले भौंरे मतवाले हो रहे थे और मादकता में गुनगुना रहे थे। प्रमुदित मोर नटों तथा नटियों की तरह नाच रहे थे और प्रमुदित कोयलें अपने जोड़ीदारों को पुकार रही थीं।

कदम्बचम्पकाशोककरञ्जबकुलासनैः ।
कुन्दमन्दारकुटजैश्चूतपोतैरलङ्कृतम् ॥ ४२ ॥
कारण्डवैः प्लवैर्हंसैः कुररैर्जलकुक्कुटैः ।
सारसैश्चक्रवाकैश्च चकोरैर्वल्गु कूजितम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

कदम्ब—कदम्ब के फूल; चम्पक—चम्पा के फूल; अशोक—अशोक के फूल; करञ्ज—करञ्ज पुष्प; बकुल—बकुल पुष्पा; आसनैः—आसन वृक्षों से; कुन्द—कुन्द; मन्दार—मन्दार; कुटजैः—तथा कुटज वृक्षों से; चूत-पोतैः—नव आम्र वृक्षों से; अलङ्कृतम्—सुशोभित; कारण्डवैः—कारण्डव, बत्तख पक्षी से; प्लवैः—प्लवों से; हंसैः—हंसों से; कुररैः—कुररी पक्षी से; जल-कुक्कुटैः—जल कुक्कुट से; सारसैः—सारसों से; चक्रवाकैः—चक्रवाक (चकई-

चकवा) पक्षियों से; च—तथा; चकोरैः—चकोर नामक पक्षियों से; वल्गु—मनोहर; कूजितम्—पक्षियों का कलरव।

बिन्दु-सरोवर कदम्ब, चम्पक, अशोक, करंज, बकुल, आसन, कुन्द, मन्दार, कुटज तथा नव-आम्र के पुष्पित वृक्षों से सुशोभित था। वायु कारण्डव, प्लव, हंस, कुररी, जलपक्षी, सारस, चक्रवाक तथा चकोर के कलरव से गुँजायमान थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में वर्णित सभी वृक्ष परम पवित्र हैं और उनमें से कई से, यथा चम्पक, कदम्ब तथा बकुल से अत्यन्त सुहावने पुष्प निकलते हैं। जलमुर्गी तथा सारस के मधुर स्वर से चारों ओर का प्रदेश अत्यन्त सुहावना लग रहा था और एक अति उपयुक्त आध्यात्मिक वातावरण की उत्पत्ति हो रही थी।

तथैव हरिणैः क्रोडैः श्वाविद्गवयकुञ्जरैः ।
गोपुच्छैर्हरिभिर्मर्कैर्नकुलैर्नाभिभिर्वृतम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

तथा एव—उसी प्रकार; हरिणैः—हिरनों से; क्रोडैः—सुअरों से; श्वावित्—साही; गवय—नील गाय; कुञ्जरैः—हाथियों से; गोपुच्छैः—लंगूरों से; हरिभिः—सिंहों से; मर्कैः—बन्दरों से; नकुलैः—नेवलों से; नाभिभिः—कस्तूरी मृग से; वृतम्—घिरा हुआ।

इसके तटों पर हिरन, सूकर, साही, नीलगाय, हाथी, लंगूर, शेर, बन्दर, नेवला तथा कस्तूरी मृगों की बहुलता थी।

तात्पर्य : कस्तूरी मृग सभी स्थानों पर नहीं मिलता, वह केवल बिन्दु-सरोवर जैसे स्थानों में ही पाया जाता है। ये अपनी नाभि में निकलती कसूरी की गन्ध से सैदव उन्मत्त रहते हैं। गवय अर्थात् नीलगायों की पूँछ में बालों का गुच्छा होता है। इन बाल के गुच्छों को मन्दिरों में पूजा के लिए मूर्तियों पर पंखा झलने के काम में लाया जाता है। कभी-कभी गवय को चमरी भी कहा जाता है, वे अत्यन्त पवित्र मानी जाती हैं। आज भी भारत में अनेक बनजारे हैं, जो कस्तूरी तथा चमरी के बालों का व्यापार करते हैं। उच्च श्रेणी के हिन्दुओं में इनकी अत्यधिक माँग है और आज भी भारत के बड़े-बड़े शहरों तथा ग्रावों में यह व्यापार चलता है।

प्रविश्य तत्तीर्थवरमादिराजः सहात्मजः

ददर्श मुनिमासीनं तस्मिन्हुतहुताशनम् ।
विद्योतमानं वपुषा तपस्युग्रयुजा चिरम् ॥ ४५ ॥
नातिक्षामं भगवतः स्निग्धापाङ्गावलोकनात् ।
तद्व्याहृतामृतकलापीयूषश्रवणेन च ॥ ४६ ॥
प्रांशुं पद्मपलाशाक्षं जटिलं चीरवाससम् ।
उपसंश्रित्य मलिनं यथार्हणमसंस्कृतम् ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

प्रविश्य—प्रवेश करने पर; तत्—उस; तीर्थ-वरम्—पवित्र स्थलों में श्रेष्ठ; आदि-राजः—प्रथम राजा (स्वायंभुव मनु); सह-आत्मजः—अपनी पुत्री के समेत; ददर्श—देखा; मुनिम्—मुनि को; आसीनम्—बैठे हुए; तस्मिन्—उस आश्रम में; हुत—आहुति करते हुए; हुत-अशनम्—पवित्र अग्नि; विद्योतमानम्—परम ज्योतिमान; वपुषा—अपने शरीर से; तपसि—तपस्या में; उग्र—कठिन; युजा—योग में लगे; चिरम्—दीर्घकाल से; न—नहीं; अतिक्षामम्—अत्यन्त दुर्बल; भगवतः—भगवान् की; स्निग्ध—स्नेहिल; अपाङ्ग—तिरछी; अवलोकनात्—चितवन से; तत्—उसका; व्याहृत—शब्दों से; अमृत-कला—चन्द्रमा के समान; पीयूष—अमृत; श्रवणेन—सुनकर; च—तथा; प्रांशुम्—लम्बा; पद्म—कमल-पुष्प; पलाश—पंखुड़ी; अक्षम्—आँखें; जटिलम्—जुड़ा; चीर-वाससम्—चिथड़े वस्त्र धारण किये; उपसंश्रित्य—निकट जाकर; मलिनम्—मलिन, गंदा; यथा—जिस प्रकार; अर्हणम्—मणि; असंस्कृतम्—बिना तराशा हुआ।

उस पवित्र स्थान में आदि राजा स्वयांभुव मनु अपनी पुत्री सहित प्रविष्ट हुए और उन्होंने जाकर देखा कि अभी-अभी पवित्र अग्नि में आहुति देकर वे मुनि अपने आश्रम में आसन लगाए थे। उनका शरीर अत्यन्त आभावान था। यद्यपि वे दीर्घ काल तक कठोर तपस्या में लगे हुए थे, किन्तु वे तनिक भी क्षीण नहीं थे, क्योंकि भगवान् ने उन पर कृपा-कटाक्ष किया था और उन्होंने भगवान् के चन्द्रमा के समान स्निग्ध अमृतमय शब्दों का पान किया था। मुनि लम्बे थे, उनकी आँखें बड़ी-बड़ी थीं मानो कमल-दल हों और उनके सिर पर जटा-जूट था। वे चिथड़े पहने थे। स्वायंभुव मनु उनके पास गये और उन्होंने देखा कि वे धूलधूसरित हैं मानो बिना तराशा हुआ कोई मणि हो।

तात्पर्य : यहाँ पर एक ब्रह्मचारी योगी का कुछ-कुछ वर्णन हुआ है। आत्मिक उन्नति के इच्छुक ब्रह्मचारी का प्रथम कर्तव्य है कि प्रात:काल *हुत-हुतासन* करे अर्थात् यज्ञ करके परमेश्वर को आहुति प्रदान करे। ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले कभी भी प्रात:काल सात या नौ बजे तक सोते नहीं रहते। उन्हें सूर्योदय के पूर्व, कम से कम डेढ़ घंटा पहले उठ जाना चाहिए और आहुति देनी चाहिए अथवा इस युग में वे भगवान् श्रीकृष्ण के पवित्र नाम, हरे कृष्ण का जप कर सकते हैं। जैसाकि भगवान् चैतन्य ने कहा है—*कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव*

गतिरन्यथा—अर्थात् इस कलियुग में भगवान् के पवित्र नाम के जप के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं और कोई विकल्प नहीं और कोई विकल्प नहीं है। ब्रह्मचारी को प्रात:काल जल्दी उठना चाहिए और सुस्थिर होकर भगवन्नाम का जप करना चाहिए। उस मुनि की आकृति से ही ऐसा लग रहा था कि उसने कठिन तप किया है और ब्रह्मचर्य पालन का यही लक्षण भी है। यदि कोई भिन्न प्रकार से रहता है, तो उसके मुख तथा शरीर में दिखने वाले काम-भाव से यह पता लग जाएगा। *विद्योतमानम्* शब्द बताता है कि उसके शरीर में ब्रह्मचारी के लक्षण दिखाई पड़ रहे थे। योग में कठिन तपस्या करने का यही सबसे बड़ा प्रमाण है। शराबी, धूम्रपान करने वाला या इन्द्रियलोलुप व्यक्ति कभी भी योग साधना के लिए उपयुक्त नहीं होता। सामान्य रूप से योगी अत्यन्त दुर्बल दिखते हैं, क्योंकि वे सुविधा सम्पन्न स्थिति में नहीं रहते, किन्तु कर्दम मुनि दुर्बल नहीं थे, क्योंकि उन्हें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साक्षात् दर्शन हुए थे। यहाँ पर *स्निग्धापाङ्गावलोकनात्* का अर्थ है कि उन्हें भगवान् का साक्षात् दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वे स्वस्थ लग रहे थे, क्योंकि उन्होंने भगवान् के कमल-अधरों से निस्सृत अमृतमय शब्दों का सीधे पान किया था। इसी प्रकार जो भगवान् के पवित्र नाम, 'हरे कृष्ण' की दिव्य ध्वनि को सुनता है उसका स्वास्थ्य सुधर जाता है। हमने वास्तव में देखा है कि अनेक ब्रह्मचारी तथा गृहस्थ, जो अन्तर्राष्ट्रीय कृष्णभावनामृत संघ से जुड़े हैं उनका स्वास्थ्य सुधर गया है और उनके मुखमंडल पर कान्ति आ गई है। जो ब्रह्मचारी आत्मिक उन्नति में लगा रहता है उसके लिए आवश्यक है कि वह अत्यन्त स्वस्थ और तेजवान दिखे। एक मुनि और बिना तराशे गये मणि की तुलना भी अत्यन्त उपयुक्त है। भले ही खान से निकला हुआ मणि बिना पालिश के हो, किन्तु उसकी आभा को कोई रोक नहीं सकता। इसी प्रकार भले ही कर्दम मुनि ने अच्छे वस्त्र धारण नहीं किये थे और उनका शरीर उचित रूप से भी स्वच्छ नहीं था, किन्तु कुल मिलाकर उनकी सूरत मणि तुल्य थी।

अथोटजमुपायातं नृदेवं प्रणतं पुरः ।
सपर्यया पर्यगृह्णात्प्रतिनन्द्यानुरूपया ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; उटजम्—कुटी, आश्रम; उपायातम्—पहुँचकर; नृदेवम्—राजा; प्रणतम्—नतमस्तक; पुरः—सामने; सपर्यया—आदर से; पर्यगृह्णात्—उसका स्वागत किया; प्रतिनन्द्य—सत्कार करके; अनुरूपया—राजा के योग्य।

राजा को अपने आश्रम में आकर प्रणाम करते देखकर उस मुनि ने आशीर्वाद देकर सत्कार किया और यथोचित सम्मान सहित उसका स्वागत किया।

तात्पर्य : सम्राट स्वायंभुव मनु न केवल कर्दम मुनि की पर्णशाला के निकट गये वरन् उन्होंने उन्हें सादर नमस्कार भी किया। इसी प्रकार मुनि का भी धर्म होता था कि वह जंगल में जाकर आश्रम के पास पहुँचने वाले राजाओं को आशीर्वाद दे।

गृहीतार्हणमासीनं संयतं प्रीणयन्मुनिः ।
स्मरन्भगवदादेशमित्याह श्लक्ष्णया गिरा ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

गृहीत—प्राप्त करके; अर्हणम्—सम्मान; आसीनम्—बैठा हुआ; संयतम्—शान्त; प्रीणयन्—प्रमुदित करता; मुनिः—मुनि; स्मरन्—स्मरण करते हुए; भगवत्—भगवान् की; आदेशम्—आज्ञा; इति—इस प्रकार; आह—बोला; श्लक्ष्णया—मीठी; गिरा—वाणी से।

मुनि से सम्मान पाकर राजा स्वयांभुव मनु बैठ गये और शान्त बने रहे। तब भगवान् की आदेशों का स्मरण करते हुए कर्दम मुनि अपनी मधुर वाणी से राजा को प्रमुदित करते हुए इस प्रकार बोले।

नूनं चङ्क्रमणं देव सतां संरक्षणाय ते ।
वधाय चासतां यस्त्वं हरेः शक्तिर्हि पालिनी ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निश्चय ही; चङ्क्रमणम्—यात्रा; देव—हे भगवान्; सताम्—सज्जनों की; संरक्षणाय—रक्षा के लिए; ते—तुम्हारा; वधाय—मारने के लिए; च—तथा; असताम्—असुरों को; यः—जो पुरुष; त्वम्—तुम; हरेः—श्रीभगवान् की; शक्तिः—शक्ति; हि—चूँकि; पालिनी—रक्षा करते हुए।

हे भगवान्, आपका यह भ्रमण (यात्रा) निश्चित रूप से सज्जनों की रक्षा तथा असुरों के वध के उद्देश्य से सम्पन्न हुआ है, क्योंकि आप श्री हरि की रक्षक-शक्ति से समन्वित हैं।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य से, विशेषतः *श्रीमद्भागवत* तथा पुराणों जैसे इतिहास ग्रंथों से यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में पवित्र राजा पवित्र नागरिकों को रक्षा प्रदान करने और

अपवित्र लोगों को दण्ड देने या मारने के लिए अपने राज्य का भ्रमण करते थे। कभी-कभी वे आखेट विद्या का अभ्यास करने के उद्देश्य से जंगलों में पशुओं को मारने जाते थे, क्योंकि बिना ऐसे अभ्यास के वे अवांछित तत्त्वों का वध करने में समर्थ नहीं हो पाते थे। क्षत्रियों को इस प्रकार से हिंसा करने की छूट होती थी, क्योंकि अच्छे कार्य के लिए हिंसा करना उनके धर्म का अंग होता था। यहाँ पर दो शब्दों का स्पष्ट उल्लेख है—*वधाय* अर्थात् मारने के प्रयोजनार्थ तथा *असताम्*—अर्थात् अवांछित (दुष्ट) जनों को। राजा की रञ्जक-शक्ति भगवान् की शक्ति मानी जाती है। *भगवद्गीता* (४.८) में भगवान् कहते हैं—*परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्*। भगवान् पुण्यात्माओं की रक्षा करने और असुरों के वध के लिए अवतरित होते हैं। अतः पुण्यात्माओं को शरण देने और दुष्टों या असुरों को वध करने के लिए परमेश्वर से सीधे शक्ति प्राप्त होती है और यह शक्ति राजा या राज्य के मुख्य कार्यकर्ता में निहित होती है। इस युग में ऐसा राज्याध्यक्ष पाना दुर्लभ है, जो दुष्टों को मारने में पटु हो। आधुनिक राज्याध्यक्ष सुन्दर प्रासादों के भीतर बैठे-बैठे निर्दोष व्यक्तियों को अकारण मारने का प्रयत्न करते हैं।

योऽर्केन्द्वग्नीन्द्रवायूनां यमधर्मप्रचेतसाम् ।
रूपाणि स्थान आधत्से तस्मै शुक्लाय ते नमः ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; अर्क—सूर्य का; इन्दु—चन्द्रमा का; अग्नि—अग्नि, अग्निदेव का; इन्द्र—स्वर्ग के स्वामी, इन्द्र का; वायूनाम्—वायु का; यम—यम का; धर्म—धर्म; प्रचेतसाम्—तथा वरुण का; रूपाणि—रूप; स्थाने—आवश्यकतानुसार; आधत्से—धारण करते हो; तस्मै—उसे; शुक्लाय—भगवान् विष्णु को; ते—तुमको; नमः—नमस्कार।

जब भी आवश्यक होता है, आप सूर्य, चन्द्र, अग्नि, इन्द्र, वायु, यम, धर्म, वरुण का अंश धारण करते हैं। आप भगवान् विष्णु के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं हैं, अतः आपको सभी प्रकार से नमस्कार है।

तात्पर्य : चूँकि कर्दम मुनि ब्राह्मण थे और स्वायंभुव क्षत्रिय थे, अतः सामाजिक रूप से मुनि के द्वारा राजा को नमस्कार नहीं किया जाना था, क्योंकि उसका स्थान राजा से ऊँचा था। किन्तु मुनि ने स्वायंभुव मनु को नमस्कार किया, क्योंकि राजा तथा सम्राट के रूप में मनु

भगवान् के प्रतिनिधि थे। परम प्रभु भगवान् सदैव सबों के पूज्य हैं चाहे कोई ब्राह्मण हो, क्षत्रिय या शूद्र। भगवान् के प्रतिनिधि रूप में राजा हर एक से सादर नमस्कार किये जाने का पात्र था।

न यदा रथमास्थाय जैत्रं मणिगणार्पितम् ।
विस्फूर्जच्चण्डकोदण्डो रथेन त्रासयन्नघान् ॥ ५२ ॥
स्वसैन्यचरणक्षुण्णं वेपयन्मण्डलं भुवः ।
विकर्षन्बृहतीं सेनां पर्यटस्यंशुमानिव ॥ ५३ ॥
तदैव सेतवः सर्वे वर्णाश्रमनिबन्धनाः ।
भगवद्रचिता राजन्भिद्येरन्बत दस्युभिः ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; यदा—जब; रथम्—रथ; आस्थाय—चढ़कर; जैत्रम्—विजयी; मणि—मणियों के; गण—समूह सहित; अर्पितम्—सज्जित; विस्फूर्जत्—टंकार करते; चण्ड—घोर शब्द; कोदण्डः—धनुष; रथेन—ऐसा रथ होने से; त्रासयन्—डराते हुए; अघान्—समस्त अपराधियों को; स्व-सैन्य—अपने सैनिकों के; चरण—पाँव से; क्षुण्णम्—मर्दित, कुचला; वेपयन्—हिलाते हुए; मण्डलम्—गोलक; भुवः—पृथ्वी का; विकर्षन्—पथ प्रदर्शन करते; बृहतीम्—विशाल; सेनाम्—सेना; पर्यटसि—घूम रहा हो; अंशुमान्—चमकीले सूर्य; इव—सदृश; तदा—तब; एव—निश्चय ही; सेतवः—धार्मिक आचार संहिता; सर्वे—सभी; वर्ण—वर्णों (जातियों) की; आश्रम—आश्रमों की; निबन्धनाः—मर्यादा, बन्धन; भगवत्—भगवान् के द्वारा; रचिताः—उत्पन्न; राजन्—हे राजा; भिद्येरन्—तोड़ डाले जाऐंगे; बत—हाय; दस्युभिः—बदमाशों के द्वारा।

यदि आप अपने विजयी रत्नजटित रथ पर जिसकी उपस्थिति मात्र से अपराधी भयभीत हो उठते हैं सवार न हों, यदि आप अपने धनुष की प्रचंड टंकार न करें और यदि आप तेजवान सूर्य की भाँति संसार भर में एक विशाल सेना लेकर विचरण न करें जिसके पदाघात से पृथ्वी मंडल हिलने लगती है, तो स्वंय भगवान् द्वारा बनाई गई समस्त वर्णों तथा आश्रमों की व्यवस्था चोरों तथा डाकुओं द्वारा छिन्न-भिन्न हो जाय।

तात्पर्य : उत्तरदायी राजा का धर्म है कि वह मानव समाज की सामाजिक तथा आध्यात्मिक व्यवस्थाओं की रक्षा करे। आध्यात्मिक व्यवस्था चार आश्रमों में बँटी है—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास जबकि सामाजिक व्यवस्था कर्म तथा गुण के अनुसार ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों से निर्मित है। *भगवद्गीता* में *कर्म* तथा गुण के अनुसार इस सामाजिक व्यवस्था (विभाग) का वर्णन हुआ है। दुर्भाग्यवश उत्तरदायी राजाओं द्वारा समुचित संरक्षण न दिये जाने के कारण सामाजिक तथा आध्यात्मिक आश्रम पद्धति वंशानुगत जाति प्रथा

बन चुकी है। किन्तु यह वास्तविक पद्धति नहीं है। मानव समाज का अभिप्राय ऐसे समाज से होता है, जो आत्मबोध की दिशा में अग्रसर हो। सर्वाधिक उन्नत समाज आर्यों का था। आर्य का अर्थ ही है, जो उन्नति शीत हैं। अत: प्रश्न है कि कौन सा समाज उन्नति पर अग्रसर है? उन्नति का अर्थ वृथा ही भौतिक आवश्यकताओं को उत्पन्न करना और तथाकथित भौतिक सुखों की सारे विश्व में वृद्धि करके मानव शक्ति को अपव्यय करना नहीं है। वास्तविक उन्नति तो आत्मबोध की दिशा में प्रगति है और जिस समुदाय में इस उद्देश्य से कार्य हुआ वह आर्य-सभ्यता कहलाई। इसमें बुद्धिमान पुरुष अर्थात् ब्राह्मण अध्यात्मिक कार्यों में लगे रहते थे, उदाहरणार्थ कर्दम मुनि सम्राट स्वायंभुव जैसे क्षत्रिय देश का शासन चलाते और आत्मबोध के लिए सभी साधन सुचारू रूप से जुटाते थे। राजा का धर्म है कि वह देश भर में घूम-घूम कर देखे कि राज्य-व्यवस्था ठीक है। वर्णों तथा आश्रमों पर आधारित भारतीय सभ्यता का ह्रास हो गया है, क्योंकि वह विदेशियों पर या जो वर्णाश्रम की सभ्यता का पालन नहीं करते थे उन पर निर्भर रहने लगी। इस प्रकार वर्णाश्रम पद्धति का अब जाति प्रथा में ह्रास हो चुका है।

यहाँ पर चारों वर्णों तथा आश्रमों की संस्था की पुष्टि भगवत् रचित कहकर की गई है, जिसका अर्थ है ''श्रीभगवान् द्वारा बनाई गई।'' *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई है—*चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्*। भगवान् कहते हैं कि चारों वर्ण तथा चारों आश्रम मेरे द्वारा बनाए गए हैं। भगवान् द्वारा सृष्ट कोई भी वस्तु न तो छिपाई जा सकती है और न समाप्त की जा सकती है। वर्णों तथा आश्रमों का विभाग चलता रहेगा चाहे वह अपने मूल रूप में हो या बिगड़े रूप में, किन्तु श्रीभगवान् द्वारा सृष्ट होने से उनको समाप्त नहीं किया जा सकता। वे भगवान् की सृष्टि होने के कारण सूर्य की भाँति बनी रहेंगी। चाहे मेघों आच्छादित हो या निर्मल आकाश में हो, तो सूर्य तो बना ही रहेगा इस प्रकार जब वर्णाश्रम पद्धति का ह्रास हो जाता है, तो यह वंशानुगत जाति प्रथा प्रतीत होने लगती है, किन्तु प्रत्येक समाज में बुद्धिमान, वीर, व्यापारी तथा श्रमिक वर्ग होता है। जब वैदिक नियमों के अनुसार विभिन्न जातियों को सहयोग के लिए नियमित कर लिया जाता है, तो शान्ति और आध्यात्मिक प्रगति होती है। किन्तु जब जाति प्रथा

में घृणा, अविश्वास तथा कुरीतियाँ घर कर जाती हैं, तो पूरी पद्धति का ह्रास होने लगता है और अत्यन्त शोचनीय अवस्था उत्पन्न हो जाती, जिसका यहाँ पर उल्लेख हुआ है। सम्प्रति, सारा विश्व शोचनीय स्थिति को प्राप्त है, क्योंकि नाना प्रकार के स्वार्थ समाये हैं। वर्णाश्रम के चारों वर्गों के ह्रास से ऐसा हुआ है।

अधर्मश्च समेधेत लोलुपैर्व्यङ्कुशैर्नृभिः ।
शयाने त्वयि लोकोऽयं दस्युग्रस्तो विनङ्क्ष्यति ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

अधर्मः—अधर्म, अनाचार; च—तथा; समेधेत—उन्नति करेगा; लोलुपैः—धन के लालची; व्यङ्कुशैः—अनियन्त्रित; नृभिः—मनुष्यों द्वारा; शयाने त्वयि—तुम्हारे लेट जाने पर; लोकः—संसार; अयम्—यह; दस्यु—दुराचारियों के द्वारा; ग्रस्तः—आक्रमण किये जाने पर; विनङ्क्ष्यति—विनष्ट हो जाएगा।.

यदि आप संसार की स्थिति के विषय में सोचना छोड़ दें (निश्चिन्त हो जायँ) तो अधर्म बढ़ेगा, क्योंकि धनलोलुप व्यक्ति निर्द्वन्द्व हो जाएँगे। ऐसे दुराचारियों के आक्रमणों से यह संसार विनष्ट हो जाएगा।

तात्पर्य : चूँकि वर्णों तथा आश्रमों के वैज्ञानिक विभाजन का लोप हो रहा है, अतः पूरा विश्व ऐसे अवांछित लोगों से शासित हो रहा है, जो धर्म, राजनीति या समाज-व्यवस्था में तनिक भी शिक्षित नहीं हैं, फलतः यह अत्यन्त शोचनीय स्थिति में है। चारों वर्णों तथा चारों आश्रमों में विभिन्न वर्ग के लोगों के लिए नियमित प्रशिक्षण सिद्धान्त होते हैं। जिस प्रकार आधुनिक युग में इंजीनियरों, डाक्टरों तथा विद्युतविदों की आवश्यकता पड़ती है और वे विभिन्न वैज्ञानिक संस्थानों में भली भाँति प्रशिक्षित होते हैं उसी प्रकार प्राचीन काल में उच्च सामाजिक वर्णों को, यथा बुद्धिमान वर्ग (ब्राह्मण), शासक वर्ग (क्षत्रिय), वणिक वर्ग (वैश्य) को समुचित प्रशिक्षण मिलता था। *भगवद्गीता* में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के कार्यों का उल्लेख है। जब ऐसी शिक्षा नहीं दी जाती तो मनुष्य दावा करता है कि चूँकि वह ब्राह्मण या क्षत्रिय कुल में उत्पन्न है इसलिए वह ब्राह्मण या क्षत्रिय है, भले ही वह शूद्रों का सा कार्य क्यों न करता हो। इस प्रकार उच्चजाति का होने का अनुचित दावा वैज्ञानिक सामाजिक व्यवस्था को जाति प्रथा में लाकर पटक देता है, जिससे मूल पद्धति का ह्रास हो जाता है। इस

प्रकार इस समय समाज में दुर्व्यवस्था है और उसमें न शान्ति है, न सम्पन्नता। यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि जब तक बलशाली राजा जागरूक नहीं रहता तब तक अपवित्र तथा अयोग्य व्यक्ति समाज में अमुक पद का दावा करते रहेंगे और सामाजिक व्यवस्था को विनष्ट कर देंगे।

अथापि पृच्छे त्वां वीर यदर्थं त्वमिहागतः ।
तद्वयं निर्व्यलीकेन प्रतिपद्यामहे हृदा ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

अथ अपि—इतने पर भी; पृच्छे—मैं पूछता हूँ; त्वाम्—तुमसे; वीर—हे पराक्रमी राजा; यत्-अर्थम्—प्रयोजन; त्वम्—तुम; इह—यहाँ; आगतः—आये हो; तत्—वह; वयम्—हम सब; निर्व्यलीकेन—बिना हिचक के; प्रतिपद्यामहे—पूरा करेंगे; हृदा—हृदय से।

तो भी, हे पराक्रमी राजा, मैं आपसे यहाँ आने का कारण पूछ रहा हूँ। वह चाहे जो भी हो, हम बिना हिचक के उसको पूरा करेंगे।

तात्पर्य : जब कोई अतिथि अपने मित्र के घर जाता है, तो यह माना जाता है कि उसका कुछ विशेष प्रयोजन है। कर्दम मुनि समझ गये कि स्वायंभुव जैसा महान् राजा, यद्यपि अपने साम्राज्य की स्थिति का निरीक्षण करने के उद्देश्य से निकला था, किन्तु कुटिया में उसका आना किसी विशेष प्रयोजन से हो सकता है। इस प्रकार वे राजा की इच्छा पूरी करने के लिए सन्नद्ध थे। प्राचीन काल में यह प्रथा थी कि मुनिगण राजा के यहाँ जाते थे और राजागण मुनियों की कुटियों में जाया करते थे। प्रत्येक को एक दूसरे के प्रयोजन को पूरा करने में प्रसन्नता होती थी। यह पारस्परिक आदान-प्रदान भक्ति कार्य कहलाता है। ब्राह्मण तथा क्षत्रिय के अन्योन्य सम्बन्ध को बताने वाला एक सुन्दर श्लोक है (*क्षत्रं द्विजत्वम्*)। *क्षत्रम्* का अर्थ है 'राजसी जाति', *द्विजत्वम्* का अर्थ 'ब्राह्मण जाति'। ये दोनों पारस्परिक हित के लिए थे। राजसी जाति समाज में ब्राह्मणों को आध्यात्मिक उन्नति के अनुशीलन के लिए सुरक्षा प्रदान करती थी और ब्राह्मण लोग राजसी जाति को बहुमूल्य शिक्षा प्रदान करते थे कि किस प्रकार राज्य तथा नागरिकों को आत्मसिद्धि के पद तक उठाया जाय।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत "मनु-कर्दम संवाद" नामक इक्कसीवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बाईस

कर्दममुनि तथा देवहूति का परिणय

मैत्रेय उवाच
**एवमाविष्कृताशेषगुणकर्मोदयो मुनिम् ।
सव्रीड इव तं सम्राडुपारतमुवाच ह ॥ १ ॥**

शब्दार्थ

मैत्रेयः—महान् साधु मैत्रेय ने; उवाच—कहा; एवम्—इस प्रकार; आविष्कृत—वर्णन कर लेने के पश्चात्; अशेष—समस्त; गुण—विशेषताओं की; कर्म—कार्यों की; उदयः—महानता; मुनिम्—महर्षि; स-व्रीडः—संकोचवश; इव—मानो; तम्—वह (कर्दम); सम्राट्—राजा मनु; उपारतम्—मौन; उवाच ह—बोला।

श्रीमैत्रेय ने कहा—सम्राट के अनेक गुणों तथा तथा कार्यों की महानता का वर्णन करने के पश्चात् मुनि शान्त हो गये और राजा ने संकोचवश उन्हें इस प्रकार से सम्बोधित किया।

मनुरुवाच
**ब्रह्मासृजत्स्वमुखतो युष्मानात्मपरीप्सया ।
छन्दोमयस्तपोविद्यायोगयुक्तानलम्पटान् ॥ २ ॥**

शब्दार्थ

मनुः—मनु ने; उवाच—कहा; ब्रह्मा—ब्रह्माजी ने; असृजत्—उत्पन्न किया; स्व-मुखतः—अपने मुख से; युष्मान्—आपको (ब्राह्मणों को); आत्म-परीप्सया—अपनी रक्षा के लिए विस्तार करके; छन्दः-मयः—वेदरूप; तपः-विद्या-योग-युक्तान्—तप, ज्ञान तथा योग से युक्त; अलम्पटान्—इन्द्रिय-तृप्ति से विमुख।

मनु ने कहा—वेदस्वरूप ब्रह्मा ने वैदिक ज्ञान के विस्तार हेतु अपने मुख से आप जैसे ब्राह्मणों को उत्पन्न किया है, जो तप, ज्ञान तथा योग से युक्त और इन्द्रियतृप्ति से विमुख हैं।

तात्पर्य : वेदों का उद्देश्य परम सत्य के दिव्य ज्ञान का प्रसार है। बाह्मणों की उत्पत्ति परम पुरुष के मुख से हुई, फलत: उनका कार्य वेद-ज्ञान का प्रसार करना है, जिससे भगवान् की महिमा का प्रसार हो। *भगवद्गीता* में भी श्रीकृष्ण कहते हैं कि समस्त वेद पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को जानने के लिए हैं। यहाँ विशेष रूप से उल्लेख है (*योगयुक्तानलम्पटान्*) कि ब्राह्मण योगयुक्त होते हैं और इन्द्रिय-तृप्ति से अनासक्त। वास्तव में दो प्रकार की वृत्तियां होती हैं। एक तो इस भौतिक संसार में इन्द्रियों की तृप्ति और दूसरी वृत्ति आध्यात्मिक अर्थात् ईश्वर का गुणगान करके उन्हें प्रसन्न करना। जो इन्द्रिय-तृप्ति में लगे रहते हैं, वे असुर कहलाते हैं

और जो भगवान् के यश को फैलाते हैं या भगवान् की दिव्य इन्द्रियों की तृप्ति करते हैं, वे देवता कहे जाते हैं। यहाँ इसका विशेष रुप से उल्लेख हुआ है कि ब्राह्मण उस विराट पुरुष के मुख से उत्पन्न हुए; इसी प्रकार क्षत्रिय उनकी भुजाओं से, वैश्य उनके कटि भाग से तथा शूद्र उनके पाँवों से उत्पन्न बताये गये हैं। ब्राह्मण तप, विद्या तथा ज्ञान के निमित्त उत्पन्न किये गये। वे समस्त प्रकार के विषय-भोगों से अनासक्त रहते हैं।

तत्त्राणायासृजच्चास्मान्दोःसहस्रात्सहस्रपात् ।
हृदयं तस्य हि ब्रह्म क्षत्रमङ्गं प्रचक्षते ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्-त्राणाय—ब्राह्मणों की रक्षा के लिए; असृजत्—उत्पन्न किया; च—तथा; अस्मान्—हमको (क्षत्रिय); दोः-सहस्रात्—उनका हजार भुजाओं से; सहस्र-पात्—हजार पाँव वाले परम पुरुष (विराट रूप); हृदयम्—हृदय; तस्य—उसका; हि—अतः; ब्रह्म—ब्राह्मण; क्षत्रम्—क्षत्रिय; अङ्गम्—भुजाएँ; प्रचक्षते—कहे जाते हैं।

ब्राह्मणों की रक्षा के लिए सहस्र-पाद विराट पुरुष ने हम क्षत्रियों को अपनी सहस्र भुजाओं से उत्पन्न किया। अतः ब्राह्मणों को उनका हृदय और क्षत्रियों को उनकी भुजाएँ कहते हैं।

तात्पर्य : क्षत्रिय विशेषतया ब्राह्मणों की सुरक्षा के निमित्त हैं, क्योंकि यदि ब्राह्मण सुरक्षित रहेंगे तो सभ्यता के मस्तिष्क की रक्षा होती है। ब्राह्मणों को सामाजिक शरीर का मस्तिष्क माना जाता है। यदि मस्तिष्क विमल रहे और पगलाये नहीं तो सब कुछ ठीक रहता है। भगवान् का वर्णन इस प्रकार हुआ है—*नमो ब्रह्मण्य-देवाय गो-ब्राह्मण हिताय च*। इस स्तुति का सारांश यह है कि भगवान् ब्राह्मणों तथा गायों की विशेष रक्षा करते हैं और तब समाज के अन्य समस्त सदस्यों (*जगद्-धिताय*) की। उनकी इच्छा है कि गो तथा ब्राह्मणों की रक्षा पर ही विश्व का कल्याण निर्भर है। इस प्रकार ब्राह्मण-संस्कृति तथा गो-रक्षा ये दोनों मानव सभ्यता के मूल सिद्धान्त हैं। क्षत्रिय ब्राह्मणों की रक्षा के निमित्त होते हैं जैसाकि भगवान् की इच्छा है—*गो-ब्राह्मण हिताय च*। जिस प्रकार शरीर के भीतर हृदय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है उसी प्रकार से ब्राह्मण मानव-समाज के महत्त्वपूर्ण अवयव हैं। क्षत्रिय सम्पूर्ण शरीर के समान हैं। जिस प्रकार हृदय की तुलना में शरीर भारी अवश्य होता है, किन्तु महत्त्वपूर्ण हृदय ही होता है।

अतो ह्यन्योन्यमात्मानं ब्रह्म क्षत्रं च रक्षतः ।
रक्षति स्माव्ययो देवः स यः सदसदात्मकः ॥ ४॥

शब्दार्थ

अतः—अतएव; हि—निश्चय ही; अन्योन्यम्—परस्पर; आत्मानम्—स्वयं; ब्रह्म—ब्राह्मण; क्षत्रम्—क्षत्रिय; च—तथा; रक्षतः—रक्षा करते हैं; रक्षति स्म—रक्षा करता है; अव्ययः—निर्विकार; देवः—भगवान्; सः—वह; यः—जो; सत्-असत्-आत्मकः—कार्य-कारण रूप।.

इसीलिए ब्राह्मण तथा क्षत्रिय एक दूसरे की और साथ ही स्वयं की रक्षा करते हैं। कार्य-कारण रूप तथा निर्विकार होकर भगवान् स्वयं एक दूसरे के माध्यम से उनकी रक्षा करते हैं।

तात्पर्य : वर्ण तथा आश्रम का समूचा सामाजिक ढाँचा सहयोग पर निर्भर है और सबों को आत्मबोध के उच्च पद तक उठाने के निमित्त है। ब्राह्मणों की रक्षा क्षत्रियों द्वारा की जानी चाहिए और ब्राह्मणों द्वारा क्षत्रियों को ज्ञान दिया जाना चाहिए। जब ब्राह्मण तथा क्षत्रिय सहयोग से रहते हैं, तो अन्य गौण विभाग, यथा वैश्य तथा शूद्र भी स्वयमेव फलते-फूलते हैं। फलतः वैदिक समाज की समग्र विकास प्रक्रिया ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों की महत्ता पर आश्रित थी। वास्तविक त्राता तो भगवान् ही हैं, किन्तु वे रक्षा कार्य से विरत रहते हैं। उन्होंने ब्राह्मणों की सुरक्षा के लिए क्षत्रिय और क्षत्रियों की रक्षा के लिए ब्राह्मण उत्पन्न किया। वे समस्त गतिविधियों से विलग रहने वाले हैं इसीलिए उन्हें निर्विकार कहा गया है। उन्हें कुछ भी नहीं करना होता। वे इतने महान् हैं कि वे कोई कार्य स्वयं नहीं करते वरन् उनकी शक्तियाँ कार्य करती हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा अन्य जो कुछ दीखता है वे उनकी शक्तियों के परिणाम हैं।

यद्यपि आत्माएँ पृथक्-पृथक् होती हैं, किन्तु परमात्मा तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं। व्यष्टि रुप से व्यक्ति का 'आत्मा' गुणों में अन्यों से कुछ-कुछ भिन्न हो सकता है और भिन्न कार्य भी कर सकता है यथा ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य के सम्बन्ध में, किन्तु जब इन विभिन्न आत्माओं में पूर्ण सहयोग (समन्वय) होता है, तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् परमात्मा रूप में प्रत्येक आत्मा में आसीन रहते हुए उन्हें रक्षा प्रदान करने में प्रसन्न होते हैं हैं। जैसाकि कहा जा चुका है, ब्राह्मण भगवान् के मुख से तथा क्षत्रिय उनके वक्षस्थल या बाहुओं से उत्पन्न हुए हैं। यदि विभिन्न

जातियाँ या सामाजिक विभाग भिन्न-भिन्न कार्यों में रत होकर भी पूर्ण सहयोग स्थापित रखते हैं, तो भगवान् प्रसन्न होते हैं। चार वर्णों तथा चार आश्रमों की संस्थापना का मन्तव्य यही है। यदि विभिन्न आश्रमों तथा वर्गों के सदस्य कृष्ण-भक्ति में परस्पर सहयोग करें तो इसमें सन्देह नहीं कि भगवान् द्वारा समाज पूर्णतया संरक्षित हो जाय।

भगवद्गीता में कहा गया है कि भगवान् समस्त देहों के स्वामी हैं। प्रत्येक जीव अपने-अपने शरीर का स्वामी है, किन्तु भगवान् ने स्पष्ट कहा है, ''हे भारत! तुम्हें ज्ञात हो कि मैं भी क्षेत्रज्ञ हूँ।'' क्षेत्रज्ञ का अर्थ है, ''शरीर का ज्ञाता अथवा स्वामी।'' प्रत्येक जीव अपने शरीर का स्वामी है, किन्तु श्रीभगवान् कृष्ण परमात्मा हैं, वे सर्वत्र समस्त शरीरों के स्वामी हैं। वे न केवल इस लोक के वरन् अन्य लोकों के मनुष्यों के ही नहीं वरन् पशु-पक्षी तथा अन्य जीवों के शरीरों के स्वामी हैं। वे परम स्वामी हैं फलतः पृथक्-पृथक् जीवों की रक्षा करते हुए भी वे विभक्त नहीं होते। वे एक ही रहते हैं। मध्याह्न के समय जब सूर्य सबों के सिर के ऊपर दिखता है, तो वह विभक्त नहीं होता। एक मनुष्य सोचता है कि सूर्य उसी के सिर के ऊपर है, किन्तु पाँच हजार मील दूसरा मनुष्य सोचता है कि सूर्य उसी के सिर पर है। इसी तरह परमात्मा एक है, परन्तु वह प्रत्येक शरीर के भीतर दिखाई पड़ता है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि आत्मा (जीव) तथा परमात्मा एक हैं। आत्मा होने के कारण वे गुण में समान हैं, किन्तु आत्मा तथा परमात्मा पृथक्-पृथक् हैं।

तव सन्दर्शनादेव च्छिन्ना मे सर्वसंशयाः ।
यत्स्वयं भगवान्प्रीत्या धर्ममाह रिरक्षिषोः ॥५॥

शब्दार्थ

तव—आपके; सन्दर्शनात्—दर्शन से; एव—केवल; छिन्नाः—दूर हो गये; मे—मेरे; सर्व-संशयाः—सारे सन्देह; यत्—यहाँ तक कि; स्वयम्—स्वतः; भगवान्—आपने; प्रीत्या—प्रीतीपूर्वक; धर्मम्—कर्तव्य; आह—बतलाया; रिरक्षिषोः—अपनी प्रजा की रक्षा के लिए उत्सुक राजा का।

अब आपके दर्शन मात्र से मेरे सारे सन्देह दूर हो चुके हैं, क्योंकि आपने कृपापूर्वक अपनी प्रजा की रक्षा के लिए उत्सुक राजा के कर्तव्य की सुस्पष्ट व्याख्या की है।

तात्पर्य : मनु ने यहाँ परम साधु पुरुष के दर्शन करने के फल का वर्णन किया है। भगवान्

चैतन्य का कथन है कि मनुष्य को चाहिए कि सदैव साधु पुरुषों की संगति करे, क्योंकि एक क्षण की भी सुसंगति से सम्पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो सकती है। यदि किसी प्रकार से साधु पुरुष से भेंट हो जावे और उसकी कृपा प्राप्त हो ले तो मनुष्य-जीवन का सारा उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। मनु के इस कथन का हमारा व्यक्तिगत अनुभव वास्तविक प्रमाण है। एक बार हमें विष्णुपाद श्री श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज के दर्शन का अवसर प्राप्त हुआ और उन महानुभाव ने पहली भेंट में ही हमें पाश्चात्य देशों में अपने सन्देश का प्रचार करने के लिए निवेदन किया। इसके लिए कोई तैयारी न थी, किन्तु चूँकि उनकी इच्छा थी, उनकी कृपा से उनके आदेश के पालन में हम लगे हुए हैं। इससे हमें दिव्य कार्य मिला और उन्होंने हमें भौतिक वृत्तियों के कार्य-व्यापारों से उबार लिया। अत: यह सच है कि यदि ऐसे साधु पुरुष से भेंट हो जाय जो दिव्य कार्यों में ही अनुरक्त हों और यदि उनकी कृपा हो जाय, तो मनुष्य के जीवन का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। जो हजारों जीवनों में भी प्राप्त नहीं हो पाता वह साधु पुरुष की एक क्षण की संगति से प्राप्त हो जाता है। अत: वैदिक साहित्य में यह आदेश है कि सदैव साधु पुरुष की संगति करनी चाहिए और सामान्य मनुष्य से अपने को अलग ही रखना चाहिए, क्योंकि साधु पुरुष के एक शब्द से ही भौतिक बन्धन से छुटकारा मिल सकता है। साधु पुरुष अपनी अध्यात्मिक उन्नति के कारण शक्तिसम्पन्न होता है और वह बद्धजीव को तुरन्त मुक्ति दिला सकता है। यहाँ पर मनु स्वीकार करते हैं कि कर्दम मुनि द्वारा कृपापूर्वक विभिन्न जीवों के कर्तव्यों का वर्णन करने के कारण उनके समस्त संशय दूर हो चुके हैं।

दिष्ट्या मे भगवान्दृष्टो दुर्दर्शो योऽकृतात्मनाम् ।
दिष्ट्या पादरजः स्पृष्टं शीर्ष्णा मे भवतः शिवम् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—सौभाग्य से; मे—मेरा; भगवान्—सर्व शक्तिमान; दृष्टः—देखा जाता है; दुर्दर्शः—सरलता से न दिखने वाला; यः—जो; अकृत-आत्मनाम्—जिन्होंने अपने मन तथा इन्द्रियों को वश में नहीं किया; दिष्ट्या—अपने भाग्य से; पाद-रजः—पैरों की धूलि; स्पृष्टम्—स्पर्श करने पर; शीर्ष्णा—शिर से; मे—मेरा; भवतः—आपका; शिवम्—कल्याणकारी।

यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे आपके दर्शन हो सके क्योंकि जिन लोगों ने अपने मन

तथा इन्द्रियों को वश में नहीं किया उन्हें आपके दर्शन दुर्लभ हैं। मैं आपके चरणों की धूलि को शिर से स्पर्श करके और भी कृतकृत्य हुआ हूँ।

तात्पर्य : दिव्य जीवन की पूर्णता पवित्र पुरुष के चरणकमलों की पवित्र धूल का स्पर्श करके प्राप्त की जा सकती है। *भागवत* में कहा गया है—*महत्-पाद-रजोऽभिषेकम्* अर्थात् महत अथवा महान् भक्त के चरणों की पवित्र धूल से अभिषिक्त। जैसाकि *भगवद्गीता* में उल्लेख है—*महात्मानस्तु*—महान् पुरुष आत्मिक शक्ति के वश में रहते हैं और उनका लक्षण यह है कि वे कृष्ण-भावनामृत में पूरी तरह से लीन रहते हैं। इसीलिए महत् कहलाते हैं। जब तक महात्मा के चरणों की धूलि को कोई अपने शिर पर चढ़ा नहीं लेता, तब तक आत्म-जीवन में सिद्धि मिलने की कोई सम्भावना नहीं रहती।

आत्म-उन्नति के लिए शिष्य-परम्परा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मनुष्य अपने महत् गुरु की कृपा से ही महत् बनता है। यदि कोई किसी महापुरुष के चरणों की शरण ग्रहण करता है, तो उसके महान् बनने की काफी सम्भावना रहती है। जब महाराज रहूगण ने जड़ भरत से उनकी अद्भुत आत्म-उन्नति के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तो उन्होंने राजा को उत्तर दिया कि केवल धार्मिक कर्मकाण्डों का पालन करने या केवल संन्यासी बनने अथवा शास्त्रोक्त विधि से यज्ञ करने से ही आध्यात्मिक उन्नति नहीं मिलती। ये विधियाँ निस्सन्देह आत्म-बोध में सहायक होती हैं, किन्तु वास्तविक प्रभाव तो महात्मा की कृपा से पड़ता है। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने गुरु की स्तुति में आठ श्लोक लिखे हैं। उसमें उन्होंने स्पष्ट कहा है कि गुरु को केवल प्रसन्न करने से जीवन में परम सफलता प्राप्त होती है और समस्त अनुष्ठानों को करते हुए भी यदि कोई गुरु को प्रसन्न नहीं कर पाता तो उसकी आत्मसिद्धि तक पहुँच नहीं हो पाती। यहाँ पर *अकृतात्मनाम्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। आत्मा के अर्थ हैं शरीर, आत्मा अथवा मन और अकृतात्मा का अर्थ है सामान्य व्यक्ति, जो अपनी इन्द्रियों या मन को वश में नहीं रख पाता। इसीलिए सामान्य व्यक्ति को महापुरुष या भगवान् के परम भक्त की शरण ढूँढनी चाहिए और उसे प्रसन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे उसका जीवन पूर्ण हो सकेगा। मात्र अनुष्ठानों एवं धार्मिक

सिद्धान्तों के पालन से सामान्य व्यक्ति आत्मिक-सिद्धि की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता। उसे प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण करनी होगी और उसके निर्देशन में श्रद्धा एवं निष्ठा के साथ कार्य करना होगा। तभी वह सिद्धि प्राप्त कर सकेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

दिष्ट्या त्वयानुशिष्टोऽहं कृतश्चानुग्रहो महान् ।
अपावृतैः कर्णरन्ध्रैर्जुष्टा दिष्ट्योशतीर्गिरः ॥ ७॥

शब्दार्थ

दिष्ट्या—सौभाग्यवश; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अनुशिष्टः—उपदेशित; अहम्—मैं; कृतः—प्रदान किया हुआ; च—और; अनुग्रहः—कृपा; महान्—महान; अपावृतैः—खुले; कर्ण-रन्ध्रैः—कानों के छिद्रों से; जुष्टाः—ग्रहण किया गया; दिष्ट्या—भाग्य से; उशतीः—शुद्ध; गिरः—शब्द।

सौभाग्य से मुझे आपके द्वारा उपदेश प्राप्त हुआ है और इस प्रकार आपने मेरे ऊपर महती कृपा की है। मैं भगवान् को धन्यवाद देता हूँ कि मैं अपने कान खोलकर आपके विमल शब्दों को सुन रहा हूँ।

तात्पर्य : श्रील रूप गोस्वामी ने अपने ग्रंथ *भक्तिरसामृत-सिन्धु* में निर्देश दिये हैं कि किस प्रकार प्रामाणिक गुरु ग्रहण किया जाय और उनके साथ कैसा व्यवहार किया जाय। पहले इच्छुक व्यक्ति को प्रामाणिक गुरु की खोज करनी चाहिए और तब अत्यन्त उत्सुकता के साथ उपदेश प्राप्त करना चाहिए और तदनुसार कार्य करना चाहिए। यह दोतरफी (पारस्परिक) सेवा है। प्रामाणिक गुरु या साधु पुरुष सदैव अपने पास आने वाले को ऊपर उठाने के लिए इच्छुक रहते हैं। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति माया के मोहसे वशीभूत है और वह अपने मुख्य कर्तव्य, कृष्ण-भक्ति, को भूलता रहता है, अतः साधु-पुरुष चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति संत स्वरूप बन जाय। प्रत्येक साधु पुरुष का कर्तव्य है कि वह प्रत्येक भुलक्कड़ सामान्य पुरुष में कृष्णभक्ति जागृत करे।

मनु ने कहा चूँकि कर्दम मुनि से उन्हें उपदेश प्राप्त हुआ, अतः वह कृतकृत्य हो गया। कानों से सन्देश प्राप्त करके वह अपने को भाग्यशाली मान रहा है। यहाँ इसका विशेष उल्लेख है कि मनुष्य को प्रामाणिक गुरु से कान खोलकर सन्देश सुनना चाहिए। लेकिन इसे कैसे प्राप्त किया जाय? मनुष्य को कानों से दिव्य सन्देश ग्रहण करना चाहिए। *कर्ण-रन्ध्रैः* शब्द का अर्थ

है "कान के छेदों के माध्यम से।" गुरु की कृपा शरीर के अन्य किसी भाग से न प्राप्त होकर केवल कानों से प्राप्त होती है। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि गुरु कुछ धन लेकर बदले में कान में कोई मन्त्र दे जिसके ध्यान से छह महीनों में ही सिद्धि प्राप्त करके ईश्वर बना जा सकता है। कान से ऐसी ग्राह्यता नकली है। वास्तविकता तो यह है कि प्रामाणिक गुरु जानता रहता है कि मनुष्य किस प्रकार का है और कृष्ण-भावनामृत में वह कैसे कार्य कर सकता है, अत: वह उसी प्रकार से उसे उपदेश देता है। वह उसे कान में चुपके से नहीं वरन् सबों के समक्ष उपदेश देता है, "तुम कृष्णभक्ति में अमुक अमुक कार्य के लिए उपयुक्त हो। तुम इस प्रकार कार्य कर सकते हो।" किसी व्यक्ति को श्रीविग्रह के कमरे में कृष्णभक्ति करने को कहा जा सकता है, तो दूसरे को साहित्य-सम्पादन कार्य करने को, तीसरे को उपदेश देने और अन्य किसी को रसोईघर का प्रबन्ध करने को कहा जा सकता है। कृष्णभक्ति में कार्य करने के लिए भिन्न-भिन्न विभाग हैं और गुरु व्यक्ति-विशेष की क्षमता को जानते हुए उसे इस प्रकार शिक्षा देता है कि वह पूर्ण बन सके। *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य अपनी क्षमता के अनुसार सेवा करके आध्यात्मिक जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त करता है, जिस प्रकार अर्जुन ने अपने सैन्य-कौशल से कृष्ण की सेवा की। अर्जुन एक सैनिक की भाँति अपनी सेवाएँ अर्पित करके पूर्ण बन सका। इसी प्रकार कोई कलाकार अपने गुरु के निर्देशन में कलात्मक कार्य करते हुए सिद्धि प्राप्त कर सकता है। यदि कोई व्यक्ति साहित्य में रुचि रखता है, तो वह गुरु के निर्देशन मे लेख अथवा कविताओं की रचना करके भगवान की सेवा कर सकता है। मनुष्य को अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करने के सम्बन्ध में अपने गुरु से सन्देश ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि गुरु ऐसा उपदेश देने में पटु होता है।

गुरु द्वारा उपदेश और शिष्य द्वारा निष्ठापूर्वक उसका पालन के संयोग से समूची प्रणाली पूर्ण बन जाती है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर *भगवद्गीता* के इस श्लोक—व्यवसायात्मिका बुद्धि:—की व्याख्या में कहते हैं कि जो आत्मिक उन्नति चाहता है उसे चाहिए कि अपने गुरु से आदेश प्राप्त करे कि उसका विशेष कार्य क्या है। उसे विशेष उपदेश को श्रद्धापूर्वक सम्पन्न

करना चाहिए और उसी को अपना सर्वस्व समझना चाहिए। शिष्य का एकमात्र कर्तव्य है कि वह अपने गुरु से प्राप्त उपदेश का श्रद्धापूर्वक पालन करे। इसीसे उसे सिद्धि मिलेगी। मनुष्य को कानों से गुरु का सन्देश ग्रहण करने में सतर्क रहना चाहिए और उसे श्रद्धापूर्वक निष्पन्न करना चाहिए। इससे उसका जीवन सफल हो सकेगा।

स भवान्दुहितृस्नेहपरिक्लिष्टात्मनो मम ।
श्रोतुमर्हसि दीनस्य श्रावितं कृपया मुने ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

सः—आप; भवान्—आप; दुहितृ-स्नेह—अपनी पुत्री के स्नेहवश; परिक्लिष्ट-आत्मनः—क्षुब्ध मन वाला; मम—मेरा; श्रोतुम्—सुनने के लिए; अर्हसि—प्रसन्न हों; दीनस्य—मुझ दीन की; श्रावितम्—प्रार्थना को; कृपया—कृपापूर्वक; मुने—हे मुनि।

हे मुनि, कृपापूर्वक मुझ दीन की प्रार्थना सुनें, क्योंकि मेरा मन अपनी पुत्री के स्नेह से अत्यन्त उद्विग्न है।

तात्पर्य : जब कोई शिष्य अपने गुरु से कोई संदेश प्राप्त करके उसे निष्ठापूर्वक सम्पन्न कर लेता है, तो उसे अधिकार है कि वह अपने गुरु से चाहे जिस प्रकार के अनुग्रह के लिए याचना करे। सामान्य रूप से भगवान् का शुद्ध भक्त अथवा प्रामाणिक गुरु का शुद्ध शिष्य भगवान् या गुरु से किसी अनुग्रह की याचना नहीं करता, किन्तु यदि कभी गुरु से किसी प्रकार का अनुग्रह प्राप्त करने की आवश्यकता आ पड़े तो जब तक वह उन्हें पूर्णतया प्रसन्न न कर ले तब तक उसकी याचना नहीं कर सकता। स्वायंभुव मनु अपनी पुत्री के स्नेह के कारण अपने मन की बात प्रकट करना चाह रहे थे कि वे कौन सा काम कराना चाहते हैं।

प्रियव्रतोत्तानपदोः स्वसेयं दुहिता मम ।
अन्विच्छति पतिं युक्तं वयःशीलगुणादिभिः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

प्रियव्रत-उत्तानपदोः—प्रियव्रत तथा उत्तानपद की; स्वसा—बहन; इयम्—यह; दुहिता—पुत्री; मम—मेरी; अन्विच्छति—खोज रही है; पतिम्—पति या वर; युक्तम्—अनुकूल; वयः-शील-गुण-आदिभिः—आयु, चरित्र, गुण आदि से।

मेरी पुत्री प्रियव्रत तथा उत्तानपाद की बहन है। वह आयु, शील, गुण आदि में अपने

अनुकूल पति की तलाश में है।

तात्पर्य : स्वायंभुव मनु की युवा पुत्री देवहूति का चरित्र उत्तम था और वह योग्य भी थी, अत: वह अपनी आयु, शील तथा गुण के अनुकूल पति की खोज में थी। मनु द्वारा अपनी पुत्री को प्रियव्रत तथा उत्तानपाद इन दो महान् राजाओं की बहन के रूप में परिचित कराने का उद्देश्य था मुनि को आश्वस्त करना कि कन्या उच्च कुल की है। वह उनकी पुत्री है और साथ ही क्षत्रियों की बहन है, वह निम्न वर्ग की नहीं है। अत: मनु ने कर्दम को उपयुक्त समझ कर उसे अपनी पुत्री को सौंप देना चाहा। यह स्पष्ट है कि यद्यपि देवहूति आयु तथा गुणों में वयस्क थी, किन्तु वह स्वत: पति का चुनाव करने के लिए वहाँ नहीं गई। उसने अपनी आयु, शील तथा गुण के अनुकूल उपयुक्त पति के लिए इच्छा व्यक्त की और पिता ने स्नेहवश उसके लिए ऐसा पति ढूँढने का भार अपने ऊपर ले लिया।

यदा तु भवत: शीलश्रुतरूपवयोगुणान् ।
अशृणोन्नारदादेषा त्वय्यासीत्कृतनिश्चया ॥ १० ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; तु—लेकिन; भवत:—तुम्हारा; शील—उत्तम चरित्र; श्रुत—विद्या; रूप—सुन्दर आकार, सूरत; वय:—युवावस्था; गुणान्—गुण; अशृणोत्—सुना; नारदात्—नारद मुनि से; एषा—देवहूति ने; त्वयि—तुममें; आसीत्—हो गयी; कृत-निश्चया—दृढ़ संकल्प।

जब से इसने नारद मुनि से आपके उत्तम चरित्र, विद्या, रूप, वय (आयु) तथा अन्य गुणों के विषय में सुना है तब से यह अपना मन आपमें स्थिर कर चुकी है।

तात्पर्य : देवहूति ने न तो स्वत: कर्दम मुनि को देखा था और न उसे उनके शील या गुण के विषय में कोई व्यक्तिगत अनुभव था, क्योंकि ऐसा कोई सामाजिक समागम न था जिससे उसे ऐसी जानकारी प्राप्त हो सकती। किन्तु उसने नारद मुनि से कर्दम मुनि के सम्बन्ध में सुन रखा था। किसी अधिकारी से सुनना व्यक्तिगत जानकारी प्राप्त करने से कहीं श्रेष्ठ है। उसने नारद मुनि से सुना था कि कर्दम मुनि उसके पति होने के योग्य हैं। अत: उसने अपने मन में निश्चय कर लिया था कि वह उन्हीं से ब्याह करेगी। उसने अपने पिता से अपना मन्तव्य प्रकट किया जिन्होंने उसे लाकर यहाँ उपस्थित किया।

तत्प्रतीच्छ द्विजाछ्येमां श्रद्धयोपहृतां मया ।
सर्वात्मनानुरूपां ते गृहमेधिषु कर्मसु ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तत्—अत:; प्रतीच्छ—कृपया स्वीकार करें; द्विज-अछ्य—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ; इमाम्—इसको; श्रद्धया—श्रद्धा से; उपहृताम्—भेंट स्वरूप प्रदत्त; मया—मेरे द्वारा; सर्व-आत्मना—सब प्रकार से; अनुरूपाम्—उपयुक्त; ते—तुम्हारे लिए; गृह-मेधिषु—गृहस्थी में; कर्मसु—कर्म, कर्तव्य।

अत: हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, आप इसे स्वीकार करें, क्योंकि मैं इसे श्रद्धापूर्वक अर्पित कर रहा हूँ। यह सभी प्रकार से आपकी पत्नी होने और आपकी गृहस्थी के कार्यों को चलाने में सर्वथा योग्य है।

तात्पर्य : *गृहमेधिषु कर्मसु* शब्दों का अर्थ है "गृहस्थोचित कार्यों में।" यहाँ एक अन्य शब्द भी प्रयुक्त हुआ है—*सर्वात्मनानुरूपाम्*। इसका सारांश यह है कि पत्नी को आयु, चरित्र तथा गुणों में न केवल पति के समान होना चाहिए किन्तु गृहस्थी के कार्यों में भी सहायक होना चाहिए। मनुष्य का गृहस्थोचित कार्य केवल इन्द्रियतृप्ति ही नहीं वरन् पत्नी, सन्तानों के साथ रहते हुए आध्यात्मिक जीवन में उन्नति करना है। जो ऐसा नहीं करता वह गृहस्थ नहीं वरन् गृहमेधी है। संस्कृत साहित्य में दो शब्द प्रयुक्त मिलते हैं—एक है गृहस्थ और दूसरा गृहमेधी है। गृहस्थ एक आश्रम भी है, किन्तु यदि कोई गृहस्थ होकर केवल इन्द्रियों की तुष्टि करता है, तो वह गृहमेधी है। गृहमेधी के लिए पत्नी बनाने का अर्थ इन्द्रियों की तुष्टि करना है, किन्तु गृहस्थ के लिए योग्य पत्नी आध्यात्मिक कार्यों में उन्नति के लिए सब प्रकार से सहायक के रूप में होती है। पत्नी का कर्तव्य है कि वह गृहस्थी के सारे कार्यों को सँभाले, न कि पति से स्पर्धा करे। पत्नी सहायता करने के निमित्त होती है, किन्तु वह अपने पति की तब तक सहायता नहीं कर सकती जब तक वह आयु, शील तथा गुण में उसके समान न हो।

उद्यतस्य हि कामस्य प्रतिवादो न शस्यते ।
अपि निर्मुक्तसङ्गस्य कामरक्तस्य किं पुन: ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

उद्यतस्य—स्वयं प्राप्त; हि—निस्सन्देह; कामस्य—भौतिक इच्छा का; प्रतिवादः—निरादर; न—नहीं; शस्यते—प्रशंसनीय; अपि—यद्यपि; निर्मुक्त—स्वतन्त्र; सङ्गस्य—आसक्ति का; काम—इन्द्रिय-सुख के प्रति; रक्तस्य—आसक्त का; किम् पुनः—क्या कहना है।

स्वतः प्राप्त होने वाली भेंट का निरादर नितान्त विरक्त पुरुष के लिए भी प्रशंसनीय नहीं है, फिर विषयासक्त के लिए तो कहना ही क्या है।

तात्पर्य : भौतिक जीवन में प्रत्येक व्यक्ति इन्द्रियों की तृप्ति चाहता है, अतः यदि किसी को बिना प्रयास के ही इन्द्रिय-तृप्ति हो रही हो तो उसे अस्वीकार नहीं करना चाहिए। कर्दम मुनि इन्द्रिय-तृप्ति के लिए नहीं बने थे तो भी वे विवाह करना चाहते थे और उन्होंने उपयुक्त पत्नी के लिए भगवान् से प्रार्थना की थी। यह स्वायंभुव मनु को ज्ञात था। उन्होंने कर्दम मुनि को परोक्ष रूप में यह आश्वस्त किया, "आपको मेरी पुत्री जैसी पत्नी चाहिए और वह आपके समक्ष है। आपको अपनी प्रार्थना की पूर्ति के को अस्वीकार नहीं करना चाहिए; मेरी पुत्री को स्वीकार करना चाहिए।"

य उद्यतमनादृत्य कीनाशमभियाचते ।
क्षीयते तद्यशः स्फीतं मानश्चावज्ञया हतः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; उद्यतम्—भेंट; अनादृत्य—अनादर करके; कीनाशम्—कंजूस से; अभियाचते—याचना करता है; क्षीयते—नष्ट होता है; तत्—उसका; यशः—कीर्ति; स्फीतम्—विस्तीर्ण; मानः—सम्मान; च—तथा; अवज्ञया—अवमानना से; हतः—नष्ट।

जो स्वतः प्राप्त भेंट का पहले अनादर करता है और बाद में कंजूस से वर माँगता है, वह अपने विस्तीर्ण यश को खो देता है और अन्यों द्वारा अवमानना से उसका मान भंग होता है।

तात्पर्य : वैदिक ब्याह की सामान्य विधि में पिता अपनी कन्या उपयुक्त वर को सुपुर्द करता है। यही अत्यन्त सम्माननीय विवाह है। वर कन्या के पिता के यहाँ जाकर विवाह की याचना करने नहीं जाना चाहिए। इससे उसके सम्मान को धक्का लगता है। मुनि उपयुक्त कन्या से विवाह करना चाहते थे और स्वायंभुव मनु कर्दम मुनि को आश्वस्त कर देना चाहते थे, "मैं आपको ऐसी ही पत्नी दे रहा हूँ। उसे अस्वीकार न करें, अन्यथा आपको किसी अन्य से

याचना करनी पड़ेगी, क्योंकि आपको उसकी आवश्यकता है और हो सकता है कि वह आपके साथ भद्र व्यवहार न करे। तब आपका मान भंग हो सकता है।''

इस घटना की दूसरी विशेषता यह है कि स्वायंभुव मनु सम्राट होकर भी अपनी योग्य कन्या एक निर्धन ब्राह्मण को भेंट करने गये थे। कर्दम मुनि के कोई गृहस्थी न थी, वे जंगल में कुटी में रह रहे थे, किन्तु सुसंस्कृत थे। अत: किसी व्यक्ति को अपनी कन्या प्रदान करते समय सम्पत्ति या अन्य सांसारिक बातों पर ध्यान न देकर संस्कृति तथा गुण को वरीयता प्रदान की जाती है।

अहं त्वाशृणवं विद्वन्विवाहार्थं समुद्यतम् ।
अतस्त्वमुपकुर्वाण: प्रत्तां प्रतिगृहाण मे ॥ १४॥

शब्दार्थ

अहम्—मैंने; त्वा—तुमको; अशृणवम्—सुना; विद्वन्—हे बुद्धिमान पुरुष; विवाह-अर्थम्—विवाह हेतु; समुद्यतम्—तैयार; अत:—अतएव; त्वम्—तुम; उपकुर्वाण:—आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत न लेने के कारण; प्रत्ताम्—भेंट किया गया; प्रतिगृहाण—कृपया स्वीकार कीजिये; मे—मेरा।

स्वायंभुव मनु ने कहा—हे विद्वान, मैंने सुना है कि आप ब्याह के इच्छुक हैं। कृपया मेरे द्वारा दान में दी जाने वाली (अर्पित) कन्या को स्वीकार करें, क्योंकि आपने आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत नहीं ले रखा है।

तात्पर्य : कुँवारा रहना ब्रह्मचर्य का सिद्धान्त है। ब्रह्मचारी दो प्रकार के होते हैं—एक तो नैष्ठिक-ब्रह्मचारी, जो आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत धारण किये रहता है और दूसरा उपकुर्वाण-ब्रह्मचारी जो एक निश्चित आयु तक ब्रह्मचारी रहता है। उदाहरणार्थ, कोई पच्चीस वर्ष तक ब्रह्मचारी रह कर अपने गुरु की आज्ञा से विवाहित जीवन में प्रवेश कर सकता है। ब्रह्मचर्य विद्यार्थी जीवन है और आध्यात्मिक आश्रम में प्रवेश का शुभारम्भ है। केवल गृहस्थ ही इन्द्रिय-तुष्टि या विषय-भोग में लिप्त रह सकता है, ब्रह्मचारी नहीं। स्वायंभुव मनु ने कर्दम मुनि से अपनी कन्या को स्वीकार करने के लिए इसीलिए प्रार्थना की, क्योंकि कर्दम ने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का व्रत नहीं ले रखा था। वे विवाह करने के इच्छुक थे और उन्हें राजपरिवार की योग्य कन्या मिल रही थी।

ऋषिरुवाच

बाढमुद्वोढुकामोऽहमप्रत्ता च तवात्मजा ।
आवयोरनुरूपोऽसावाद्यो वैवाहिको विधिः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

ऋषिः—परम साधु कर्दम ने; उवाच—कहा; बाढम्—एवमस्तु; उद्वोढु-कामः—विवाह का इच्छुक; अहम्—मैं; अप्रत्ता—अन्य किसी से वचनबद्ध न होना; च—तथा; तव—तुम्हारी; आत्म-जा—पुत्री; आवयोः—हम दोनों का; अनुरूपः—उपयुक्त; असौ—यह; आद्यः—प्रथम; वैवाहिकः—विवाह का; विधिः—अनुष्ठान।

महामुनि ने उत्तर दिया—निस्सन्देह मैं विवाह का इच्छुक हूँ और आपकी कन्या ने न किसी से विवाह किया है और न ही किसी दूसरे को वचन दिया है। अतः वैदिक पद्धति के अनुसार हम दोनों का विवाह हो सकता है।

तात्पर्य : स्वायंभुव मनु की कन्या को स्वीकार करने के पूर्व कर्दम मुनि के समक्ष विचारणीय बातें अनेक थीं। प्रथम तो यह कि देवहूति ने उन्हीं के साथ विवाह करने का निश्चय कर रखा था। वह अन्य किसी को अपना पति बनाना नहीं चाह रही थी। यह सबसे बड़ी विचारणीय बात थी, क्योंकि जब कोई स्त्री प्रथम दर्शन पर ही किसी पुरुष को अपना मन अर्पित कर देती है, तो उसे वापस लेना कठिन होता है। यही स्त्रियों का मनोविज्ञान है। साथ ही इसके पूर्व उसका विवाह भी नहीं हुआ था; वह कुँवारी थी। इन सब बातों से कर्दम मुनि ने उसे स्वीकार कर लिया। अतः उन्होंने कहा, ''हाँ, विवाह के धार्मिक नियमों के अनुसार मुझे आपकी कन्या स्वीकार है।'' विवाह के भी कई प्रकार हैं। उत्तम ब्याह वह है, जिसमें उपयुक्त वर को बुलाकर कन्या को वस्त्रों तथा आभूषणों से सुसज्जित करके तथा पिता की सामर्थ्य के अनुसार दहेज देकर कन्या अर्पित की जाती है। विवाह के अन्य प्रकार भी हैं यथा गंधर्व विवाह तथा प्रेम विवाह। इन्हें भी विवाह माना जाता है। यदि कोई कन्या बलपूर्वक हरी जाकर बाद में पत्नी रूप में स्वीकार कर ली जाती है, तो उसे भी विवाह मानते हैं। किन्तु कर्दम मुनि ने विवाह की उत्तम प्रणाली स्वीकार की, क्योंकि कन्या का पिता चाह रहा था और वह कन्या भी योग्य थी। उसने किसी अन्य के साथ प्रेम नहीं किया था। इन सब बातों से कर्दम मुनि को स्वायंभुव मनु की कन्या को ग्रहण करने के लिए राजी हुए।

कामः स भूयान्नरदेव तेऽस्याः
पुत्र्याः समाम्नायविधौ प्रतीतः ।
क एव ते तनयां नाद्रियेत
स्वयैव कान्त्या क्षिपतीमिव श्रियम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

कामः—इच्छा; सः—वह; भूयात्—पूरी हो; नर-देव—हे राजा; ते—तुम्हारी; अस्याः—इस; पुत्र्याः—पुत्री का; समाम्नाय-विधौ—वेदोक्त विधि से; प्रतीतः—मान्य; कः—कौन; एव—निस्सन्देह; ते—तुम्हारी; तनयाम्—पुत्री को; न आद्रियेत—आदर (पूजा) नहीं करेगा; स्वया—अपने से; एव—अकेले; कान्त्या—देह की कान्ति (आभा); क्षिपतीम्—तिरस्कृत करती; इव—मानो; श्रियम्—आभूषण।

आप अपनी पुत्री की, वेदों द्वारा स्वीकृत विवाह-इच्छा की पूर्ति करें। उसको कौन नहीं ग्रहण करना चाहेगा? वह इतनी सुन्दर है कि उसकी शारीरिक कान्ति ही उसके आभूषणों की सुन्दरता को मात कर रही है।

तात्पर्य : कर्दम मुनि देवहूति के साथ शास्त्रोक्त विधि से विवाह करना चाहते थे। वेदोक्त विधि के अनुसार सर्वोत्तम विधि यह है कि दुलहिन के घर दूल्हे को आमन्त्रित करके कन्या-दान किया जाय और साथ में आभूषण, स्वर्ण, साज-सामान तथा अन्य गृहस्थी की वस्तुएँ दहेज रूप में दी जायें। आज भी उच्च वर्ग के हिन्दुओं में ब्याह का यह रूप प्रचलित है और शास्त्रों में इसे कन्या के पिता के लिए अत्यन्त धार्मिक कृत्य कहा गया है। उपयुक्त दामाद को अपनी पुत्री का दान करना (कन्यादान) गृहस्थ का पुण्य कार्य माना जाता है। *मनुस्मृति* में आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख है, किन्तु इनमें से अब केवल एक ही विवाह-विधि, ब्रह्म या राजसिक विवाह प्रचलित है। इस कलियुग में अन्य प्रकार के विवाह—यथा प्रेम द्वारा, जयमाला द्वारा, अपहरण द्वारा विवाह वर्जित हैं। पहले क्षत्रिय अपनी इच्छानुसार दूसरे राजपरिवार की राजकुमारी का अपहरण करते थे, फिर उस क्षत्रिय तथा कन्या के परिवार वालों के बीच युद्ध होता था और यदि अपहरणकर्ता विजयी होता था, तो उसे कन्या दे दी जाती थी। यहाँ तक कि श्रीकृष्ण ने इसी विधि से रुक्मिणी को ब्याहा था और उनके और उनके कुछ पुत्रों तथा पौत्रों ने भी ऐसा ही किया था। श्रीकृष्ण के पौत्र ने दुर्योधन की कन्या का अपहरण किया जिससे कौरवों तथा यादवों में युद्ध हुआ। बाद में कौरव वंश के गुरुजनों ने समझौता करा

दिया। प्राचीनकाल में ऐसे विवाह प्रचलित थे, किन्तु आज के समय में क्षत्रिय जीवन के कठोर नियमों मे विघटन हो जाने से ऐसा होना दुष्कर है। चूँकि भारत विदेशों पर आश्रित रहने लगा, फलत: उसकी सामाजिक व्यवस्था छिन्न हो गई और शास्त्रों के अनुसार अब सभी लोग शूद्र हैं। तथाकथित ब्राह्मणों, क्षत्रियों तथा वैश्यों ने अपने पारम्परिक कृत्यों का परित्याग कर दिया है, फलत: वे शूद्र बन चुके हैं। शास्त्रों का कथन है—*कलौ शूद्र संभव:*—इस कलिकाल में सभी शूद्र के समान हैं। इस युग में सनातन सामाजिक रीति-रिवाजों का पालन नहीं किया जा रहा यद्यपि पिछले समय में उनका कड़ाई से पालन होता था।

यां हर्म्यपृष्ठे क्वणदङ्घ्रिशोभां
विक्रीडतीं कन्दुकविह्वलाक्षीम् ।
विश्वावसुर्न्यपतत्स्वाद्विमाना-
द्विलोक्य सम्मोहविमूढचेताः ॥ १७॥

शब्दार्थ

याम्—जिसको; हर्म्य-पृष्ठे—राज प्रासाद की छत पर; क्वणत्-अङ्घ्रि-शोभाम्—उसके चरणों के नूपरों की ध्वनि से जिसकी सुन्दरता बढ़ी हुई हैं; विक्रीडतीम्—खेलती हुई; कन्दुक-विह्वल-अक्षीम्—मोहित नेत्रों से अपनी गेंद का पीछा करती; विश्वावसुः—विश्वावसु; न्यपतत्—गिर पड़ा; स्वात्—स्वतः; विमानात्—विमान से; विलोक्य—देखकर; सम्मोह-विमूढ-चेताः—जिसका मन सम्मोहित था।

मैंने सुना है कि आपकी कन्या को महल की छत पर गेंद खेलते हुए देखकर महान् गन्धर्व विश्वावसु मोहवश अपने विमान से गिर पड़ा, क्योंकि वह अपने नूपुरों की ध्वनि तथा चञ्चल नेत्रों के कारण अत्यन्त सुन्दरी लग रही थी।

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि आजकल की तरह उस समय भी गगनचुम्बी भवन होते थे। यहाँ पर *हर्म्य-पृष्ठे* शब्द आया है। हर्म्य का अर्थ है, ''अत्यन्त विशाल महल।'' *स्वाद् विमानात्* का अर्थ है, ''अपने विमान से।'' इससे लगता है कि उन दिनों में भी व्यक्तिगत विमान या हेलीकाप्टर होते थे। आकाश में उड़ते हुए गंधर्व विश्वावसु ने देवहूति को अपने महल की छत पर गेंद खेलते देखा। उस काल में गेंद खेलना भी प्रचलित था, किन्तु राजपरिवारों की लड़कियाँ सार्वजनिक स्थान में नहीं खेलती थीं। गेंद खेलना तथा अन्य आमोद-प्रमोद सामान्य स्त्रियों तथा लड़कियों के लिए नहीं थे, ऐसे खेल केवल देवहूति जैसी राजकुमारियाँ ही खेल

सकती थीं। यहाँ यह बताया गया है कि उड़ते विमान से उसे देखा गया। इससे सूचित होता है कि वह महल बहुत ऊँचा था, अन्यथा वह विमान से कैसे देखी जा सकती थी? यह दृश्य इतना स्पष्ट था कि गंधर्व विश्वावसु उसकी सुन्दरता को देखकर तथा उसके नूपुरों की ध्वनि सुनकर सुन्दरता एवं ध्वनि से इतना आकर्षित हुआ कि मोहग्रस्त होकर गिर पड़ा। कर्दम मुनि ने इस घटना को जिस रूप में सुन रखा था, उसका वर्णन कर दिया।

तां प्रार्थयन्तीं ललनाललाम-
मसेवितश्रीचरणैरदृष्टाम् ।
वत्सां मनोरुच्चपदः स्वसारं
को नानुमन्येत बुधोऽभियाताम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको; प्रार्थयन्तीम्—खोजती हुई; ललना-ललामम्—स्त्रियों के आभूषण; असेवित-श्री-चरणैः—जिन्होंने लक्ष्मी के चरणों की पूजा नहीं की, उनके द्वारा; अदृष्टाम्—न देखी गई; वत्साम्—लाड़ली पुत्री को; मनोः—स्वायंभुव मनु की; उच्चपदः—उत्तानपाद की; स्वसारम्—बहन; कः—क्या; न अनुमन्येत—आदर नहीं करेगा; बुधः—बुद्धिमान; अभियाताम्—स्वेच्छा से आई हुई।

ऐसा कौन है, जो स्त्रियों में शिरोमणि, स्वायंभुव मनु की पुत्री और उत्तानपाद की बहन का समादर नहीं करेगा? जिन लोगों ने कभी श्रीलक्ष्मी जी के चरणों की पूजा नहीं की है, उन्हें तो इसका दर्शन तक नहीं हो सकता, फिर भी यह स्वेच्छा से मेरी अर्द्धांगिनी बनने आई है।

तात्पर्य : कर्दम मुनि ने देवहूति की सुन्दरता तथा पात्रता की कई प्रकार से प्रशंसा की है। वस्तुतः देवहूति आभूषणों से भूषित कन्याओं की शिरोमणि थीं। यद्यपि आभूषण पहन कर कन्या सुन्दर बन जाती है, किन्तु देवहूति आभूषणों से भी अधिक सुन्दर थी, वह अलंकृत सुन्दरी कन्याओं की शिरोमणि थी। देवता या गंधर्व उसकी सुन्दरता से आकृष्ट होते थे। कर्दम मुनि यद्यपि परम साधु थे, वे स्वर्ग के वासी न थे। किन्तु पिछले श्लोक में बताया गया है कि विश्वावसु स्वर्ग का वासी होकर भी देवहूति की सुन्दरता पर मोहित था। अपनी सुन्दरता के साथ ही साथ वह सम्राट स्वायंभुव की पुत्री और राजा उत्तानपाद की बहन थी। भला ऐसी सुन्दरी का पाणि-ग्रहण करने से कौन इनकार करेगा?

अतो भजिष्ये समयेन साध्वीं
यावत्तेजो बिभृयादात्मनो मे ।
अतो धर्मान्पारमहंस्यमुख्यान्
शुक्लप्रोक्तान्बहु मन्येऽविहिंस्रान् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अतः—अतएव; भजिष्ये—मैं स्वीकार करूँगा; समयेन—शर्त के साथ; साध्वीम्—कुमारी को; यावत्—जब तक; तेजः—वीर्य; बिभृयात्—धारण करे; आत्मनः—मेरे शरीर से; मे—मेरे; अतः—तत्पश्चात्; धर्मान्—कर्तव्य; पारमहंस्य-मुख्यान्—श्रेष्ठ परम हंसों का; शुक्ल-प्रोक्तान्—भगवान् विष्णु द्वारा बताये; बहु—अधिक; मन्ये—मैं विचार करूँगा; अविहिंस्रान्—द्वेष से रहित होकर।

अतः इस कुँवारी को मैं अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार करूँगा, किन्तु इस शर्त के साथ कि जब यह मेरा वीर्य धारण कर चुकेगी तो मैं परम सिद्ध पुरुषों के समान भक्ति-योग को स्वीकार करूँगा। इस विधि को भगवान् विष्णु ने बताया है और यह द्वेष रहित है।

तात्पर्य : कर्दम मुनि ने सम्राट स्वायंभुव से अत्यन्त सुन्दरी पत्नी के लिए अपनी इच्छा व्यक्त की और सम्राट की पुत्री से विवाह करना स्वीकार कर लिया। कर्दम मुनि आश्रम में रहकर पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे थे। यद्यपि उसके मन में विवाह करने की इच्छा थी, किन्तु वे आजीवन गृहस्थ जीवन भी नहीं बिताना चाह रहे थे, क्योंकि वे मनुष्य जीवन के वैदिक सिद्धान्तों से पूर्णतया भिज्ञ थे। वैदिक सिद्धान्तों के अनुसार जीवन के प्रारम्भिक भाग को चरित्र (शील) तथा गुणों के विकास के उद्देश्य से ब्रह्मचर्य में बिताना चाहिए। जीवन के बाद वाले भाग में वह विवाह करके सन्तान उत्पन्न कर सकता है, किन्तु मनुष्य को चाहिए कि कुत्तों-बिल्लियों की भाँन्ति सन्तान उत्पन्न न करे।

कर्दम मुनि ऐसी संतान उत्पन्न करना चाहते थे, जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की एक किरण हो। मनुष्य को चाहिए कि ऐसी सन्तान उत्पन्न करे जो भगवान् विष्णु की सेवा कर सके, अन्यथा कोई सन्तान न जने। उत्तम पिता के दोनों प्रकार की सन्तानें उत्पन्न होती हैं—एक तो वे जो कृष्णभक्ति में प्रशिक्षित हों जिससे उसी जीवन में माया के बंधन से मुक्त हो सकें और दूसरी जो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की किरण होती हैं, जो विश्व भर को जीवन के परम लक्ष्य

की शिक्षा देती हैं। आगे के अध्यायों में बताया जाएगा कि कर्दम मुनि के ऐसा ही पुत्र, कपिल, उत्पन्न हुआ जो भगवान् का अवतार था और जिसने सांख्य-दर्शन का प्रतिपादन किया। बड़े-बड़े गृहस्थ भगवान् से प्रार्थना करते रहते हैं कि वे अपना प्रतिनिधि भेजें जिससे मानव समाज में एक कल्याणकारी अभियान चलने लगे। सन्तान उत्पन्न करने का एक कारण यह है। दूसरा कारण यह है कि अत्यन्त प्रबुद्ध माता-पिता अपनी सन्तान को कृष्णभक्ति की शिक्षा देते हैं जिससे इस दुखमय संसार में उसका फिर से आना न हो। माता-पिता का यह उत्तरदायित्व है कि बच्चे को फिर से किसी माँ के गर्भ में न लौटना पड़े। यदि इसी जीवन में बच्चे को मुक्ति की शिक्षा नहीं दी जाती तो न तो ब्याह करने की और न सन्तान उत्पन्न करने की आवश्यकता है। यदि मानव समाज में सामाजिक व्यवस्था को भंग करने के लिए कुत्ते-बिल्लियों की तरह सन्तानें उत्पन्न की जावें तो यह संसार नरक बन जायेगा जैसाकि इस कलियुग में हो रहा है। इस युग में न तो माता-पिता, न ही सन्तानें प्रशिक्षित हैं। दोनों ही पशु सदृश हैं और वे केवल खाते, सोते, संभोग करते, रक्षा करते और अपनी इन्द्रियों को ही तुष्टि देते हैं। सामाजिक जीवन की इस अव्यवस्था से मानव समाज में शान्ति नहीं लाई जा सकती। कर्दम मुनि ने पहले ही यह बता दिया कि वे देवहूति के साथ आजीवन नहीं रह पावेंगे। वे उसके साथ तभी तक रहेंगे जब तक कोई सन्तान उत्पन्न नहीं हो जाती। दूसरे शब्दों में, विषयी जीवन का सदुपयोग उत्तम सन्तान उत्पन्न करने में होना चाहिए, अन्य किसी कार्य के लिए नहीं। मनुष्य जीवन भगवान् की पूर्ण भक्ति करने के लिए है। यही भगवान् चैतन्य का दर्शन है।

उत्तम सन्तान उत्पन्न करने के बाद मनुष्य को संन्यास ग्रहण करना चाहिए और सिद्धि की परमहंस अवस्था प्राप्त करनी चाहिए। *परमहंस* जीवन की सर्वोच्च सिद्धि की अवस्था है। संन्यास जीवन में चार अवस्थाएँ होती हैं जिनमें *परमहंस* सर्वोच्च अवस्था है। *श्रीमद्भागवत* को परमहंस संहिता कहते हैं, जो उच्च श्रेणी के मनुष्यों के हेतु ग्रंथ है। परमहंस द्वेषमुक्त होता है। अन्य अवस्थाओं में, यहाँ तक गृहस्थ जीवन में भी स्वार्थ और द्वेष पाया जाता है, किन्तु परमहंस अवस्था में मनुष्य कृष्णभावनामृत में पूर्णतया अनुरक्त रहता है, अत: द्वेष के लिए कोई

स्थान नहीं रहता। कर्दम मुनि की ही तरह लगभग १०० वर्ष पूर्व ठाकुर भक्तिविनोद भी ऐसा पुत्र उत्पन्न करना चाहते थे, जो भगवान् चैतन्य के दर्शन तथा उपदेशों का प्रचार कर सके। भगवत्कृपा से उनके एक पुत्र हुआ जिनका नाम भक्तिसिद्धान्त सरस्वती गोस्वामी महाराज था, जो सम्प्रति पूरे विश्व में अपने प्रामाणिक शिष्यों की सहायता से भगवान् चैतन्य के दर्शन का उपदेश दे रहे हैं।

यतोऽभवद्विश्वमिदं विचित्रं
संस्थास्यते यत्र च वावतिष्ठते ।
प्रजापतीनां पतिरेष मह्यं
परं प्रमाणं भगवाननन्तः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यतः—जिससे; अभवत्—प्रकट हुआ; विश्वम्—सृष्टि; इदम्—यह; विचित्रम्—आश्चर्यजनक; संस्थास्यते—विलीन हो जावेगा; यत्र—जिसमें; च—यथा; वा—या; अवतिष्ठते—इस समय उपस्थित है; प्रजा-पतीनाम्—प्रजापतियों का; पतिः—भगवान्; एषः—यह; मह्यम्—मुझको; परम्—सर्वोच्च; प्रमाणम्—प्रमाण; भगवान्—परमेश्वर; अनन्तः—असीम।

मेरे लिए तो सर्वोच्च अधिकारी अनन्त श्रीभगवान् हैं जिनसे यह विचित्र सृष्टि उद्भूत होती है और जिन पर इसका भरण तथा विलय आश्रित है। वे उन समस्त प्रजापतियों के मूल हैं, जो इस संसार में जीवात्माओं को उत्पन्न करने वाले महापुरुष हैं।

तात्पर्य : कर्दम मुनि के पिता प्रजापति ने उन्हें सन्तान उत्पन्न करने का आदेश दिया था। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रजापतियों का कार्य अनेक सन्तानों को जन्म देना था, जो इस विराट ब्रह्माण्ड लोकों में बस सकें। किन्तु कर्दम मुनि ने कहा कि यद्यपि मेरे पिता प्रजापति हैं, जिन्होंने मुझे सन्तानें उत्पन्न करने का आदेश दिया है, किन्तु वास्तव में उनके मूल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु ही हैं, क्योंकि भगवान् विष्णु ही सबों के मूल हैं। वे ही इस ब्रह्माण्ड के असली सृजनकर्ता हैं, वे ही इसके पालक हैं और जब प्रत्येक वस्तु विनष्ट हो जाती है, तो यह उन्हीं पर आश्रित रहता है। *श्रीमद्भागवत* का यही निष्कर्ष है। सृष्टि, पालन तथा संहार के तीन देवता ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश्वर (शिव) हैं, किन्तु ब्रह्मा तथा महेश्वर तो विष्णु के गुणात्मक अंश हैं। विष्णु मध्यवर्ती स्वरूप हैं, फलतः वे पालन का भार ग्रहण करते हैं। उनके

अतिरिक्त अन्य कोई समस्त सृष्टि का पालन नहीं कर सकता। जीव असंख्य हैं और उनकी आवश्यकताएँ भी अनन्त हैं। विष्णु के अतिरिक्त इन असंख्य जीवों की अनन्त आवश्यकताओं को कोई अन्य पूरा नहीं कर सकता। ब्रह्मा को सृष्टि करने तथा शिव को संहार करने का आदेश दिया गया है। बीच का कार्य, जो पालन का है, वह विष्णु के जिम्मे है। कर्दम मुनि अपने प्रगतिशील आत्म जीवन के कारण भलीभाँति जान रहे थे कि श्रीभगवान् विष्णु ही एकमात्र पूज्य विग्रह हैं। जो कुछ विष्णु चाहते हैं वही करणीय है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। वे अनेक सन्तानें उत्पन्न करने के लिए उद्यत न थे। वे एक ही पुत्र उत्पन्न करना चाहते थे, जो विष्णु के सन्देश का संवाहक बने। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, कि जब-जब धर्म की हानि होती है तब तब धर्म की रक्षा के लिए तथा असुरों के विनाश के लिए भगवान् इस पृथ्वी पर अवतरित होते हैं।

ब्याह करके सन्तान उत्पन्न करने से मनुष्य जिस परिवार में उत्पन्न होता है उसके ऋण-भार से वह मुक्त होता है। ऐसे अनेक ऋण हैं, जो सन्तान के जन्म के पश्चात् उस पर लाद दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त परिवार, देवता, पितर, ऋषि आदि के प्रति भी ऋण होते हैं। किन्तु यदि कोई श्रीभगवान् की ही सेवा में अपने को अनुरक्त रखता है, तो अन्य ऋणों को चुकाये बिना ही वह समस्त ऋणों से मुक्त हो जाता है। कर्दम मुनि ने भगवान् की सेवा में दास के रूप में परमहंस बनकर जीवन अर्पित करना और उसी उद्देश्य के लिए पुत्र उत्पन्न करना श्रेयस्कर समझा। वे विश्व के रिक्त-स्थानों को पूरा भरने के लिए अनेक सन्तानें उत्पन्न करना नहीं चाह रहे थे।

मैत्रेय उवाच
स उग्रधन्वन्नियदेवाबभाषे
आसीच्च तूष्णीमरविन्दनाभम् ।
धियोपगृह्णन्स्मितशोभितेन
मुखेन चेतो लुलुभे देवहूत्याः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—ऋषि मैत्रेय ने; उवाच—कहा; सः—वह (कर्दम); उग्र-धन्वन्—हे योद्धा विदुर; इयत्—इतना; एव—ही; आबभाषे—बोला; आसीत्—हो गया; च—यथा; तूष्णीम्—मौन; अरविन्द-नाभम्—भगवान् विष्णु (जिनकी नाभि कमल से भूषित है); धिया—विचार से; उपगृह्णन्—पकड़ते हुए; स्मित-शोभितेन—अपनी मुस्कान से सुशोभित; मुखेन—अपने मुखमण्डल से; चेतः—मन; लुलुभे—मोहित हो गया; देवहूत्याः—देवहूति के।

श्री मैत्रेय ने कहा—हे योद्धा विदुर, कर्दम मुनि ने केवल इतना ही कहा और कमलनाभ पूज्य भगवान् विष्णु का चिन्तन करते हुए वह मौन हो गये। वे उसी मौन में हँस पड़े जिससे उनके मुखमण्डल पर देवहूति आकृष्ट हो गई और वह मुनि का ध्यान करने लगी।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि कर्दम मुनि मौन होते ही कृष्णभावनामृत में लीन हो गये और भगवान् विष्णु का चिन्तन करने लगे। कृष्णभावनामृत (भक्ति) की यही विधि है। शुद्ध भक्त श्रीकृष्ण के चिन्तन में इतने लीन हो जाते हैं कि उनके कोई दूसरा कार्य ही नहीं रह जाता, भले ही ऊपर से वे कुछ करते दिखें, किन्तु वे मन में निरन्तर श्रीकृष्ण का चिन्तन करते हैं। ऐसे कृष्ण-भक्त की हँसी इतनी आकर्षक होती है कि वह अपनी हँसी से न जाने कितने प्रशंसकों, शिष्यों तथा अनुयायियों के हृदयों को जीत लेता है।

सोऽनु ज्ञात्वा व्यवसितं महिष्या दुहितुः स्फुटम् ।
तस्मै गुणगणाढ्याय ददौ तुल्यां प्रहर्षितः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

सः—वह (सम्राट मनु); अनु—तदनन्तर; ज्ञात्वा—जानकर; व्यवसितम्—दृढ़ संकल्प; महिष्याः—रानी का; दुहितुः—अपनी पुत्री का; स्फुटम्—स्पष्ट रूप से; तस्मै—उसको; गुण-गण-आढ्याय—अनेक गुणों से सम्पन्न; ददौ—अर्पित कर दिया; तुल्याम्—समान, सम (गुणों में); प्रहर्षितः—अत्यधिक प्रसन्न।

रानी (शतरूपा) तथा देवहूति दोनों के दृढ़ संकल्प को स्पष्ट रुप से जानलेने पर सम्राट (मनु) ने अपनी पुत्री को समान गुणों से युक्त मुनि (कर्दम) को अर्पित कर दिया।

शतरूपा महाराज्ञी पारिबर्हान्महाधनान् ।
दम्पत्योः पर्यदात्प्रीत्या भूषावासः परिच्छदान् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

शतरूपा—शतरूपा; महा-राज्ञी—महारानी; पारिबर्हान्—दहेज; महा-धनान्—बहुमूल्य भेंट; दम्-पत्योः—वर-वधू को; पर्यदात्—दिया; प्रीत्या—प्रेमपूर्वक; भूषा—आभूषण; वासः—वस्त्र; परिच्छदान्—गृहस्थी की वस्तुएँ।

महारानी शतरूपा ने वर-वधू (बेटी-दामाद) को प्रेमपूर्वक अवसर के अनुकूल अनेक बहुमूल्य भेंटें, यथा आभूषण, वस्त्र तथा गृहस्थी की वस्तुएँ प्रदान कीं।

तात्पर्य : आज भी भारत में कन्यादान के साथ दहेज देने की प्रथा प्रचलित है। दी जाने वाली भेंटें कन्या के पिता की हैसियत (स्थिति) के अनुसार होती हैं। *पारिबर्हान् महाधनान्* का अर्थ है विवाह के समय दूल्हे को दिया जाने वाला दहेज। यहाँ पर *महाधनान्* का अर्थ होगा एक महारानी के अनुकूल बहुमूल्य वस्तुओं का दहेज। *भूषावास: परिच्छदान्* का अर्थ गृहस्थी की वस्तुएँ हैं। एक सम्राट की पुत्री के विवाहोत्सव के अनुकूल सभी प्रकार की वस्तुएँ कर्दम मुनि को, जो अभी तक ब्रह्मचारी थे, दी गईं। दुलहिन के वेश में देवहूति बहुमूल्य आभूषणों एवं वस्त्रों से सुसज्जित थी।

इस प्रकार कर्दम मुनि का विवाह एक योग्य पत्नी के साथ सम्पन्न हुआ और साथ में गृहस्थी की सारी सामग्री प्राप्त हुई। विवाह की वैदिक रीति में आज भी कन्या के पिता द्वारा वर को ऐसा दहेज दिया जाता है, यहाँ तक कि भारत के अनेक निर्धन परिवार भी दहेज में सैकड़ों-हजारों रुपये व्यय करते हैं। दहेज-प्रथा अवैध नहीं है, जैसा कुछ लोग सिद्ध करने की कोशिश करते हैं। दहेज तो पिता द्वारा सदिच्छा के प्रतीक रूप में कन्या को दिया जाने वाला दान है, जो अनिवार्य है। जहाँ पिता अत्यन्त निर्धन होने के कारण दहेज नहीं दे पाता वहाँ पर फल तथा फूल ही दिये जाने का विधान है। जैसाकि *भगवद्गीता* में उल्लेख है, भगवान् फल तथा फूल से भी प्रसन्न होते हैं। जहाँ आर्थिक विपन्नता होती है और अन्य किसी प्रकार से दहेज की राशि संग्रह नहीं की जा सकती वहाँ दूल्हे को प्रसन्न करने के लिए फल तथा फूल दिये जा सकते हैं।

प्रत्तां दुहितरं सम्राट्सदृक्षाय गतव्यथः ।
उपगुह्य च बाहुभ्यामौत्कण्ठ्योन्मथिताशयः ॥ २४॥

शब्दार्थ

प्रत्ताम्—दान दी गई; **दुहितरम्**—कन्या को; **सम्राट्**—राजा (मनु); **सदृक्षाय**—उपयुक्त व्यक्ति को; **गत-व्यथः**—भार से मुक्त; **उपगुह्य**—चूमकर; **च**—तथा; **बाहुभ्याम्**—अपने दोनों हाथों से; **औत्कण्ठ्य-उन्मथित-आशयः**—अत्यन्त उत्सुक एवं क्षुब्ध मन।

इस प्रकार अपनी पुत्री को योग्य वर को प्रदान करके अपनी जिम्मेदारी से मुक्त होकर स्वायंभुव मनु का मन वियोग के कारण विचलित हो उठा और उन्होंने अपनी प्यारी पुत्री को दोनों बाहों में भर लिया।

तात्पर्य : पिता जब तक अपनी वयस्क पुत्री को किसी उपयुक्त वर को अर्पित नहीं कर देता तब तक वह चिन्ताग्रस्त रहता है। माता तथा पिता जब तक अपनी सन्तानों का विवाह नहीं कर लेते तब तक उनके ऊपर जिम्मेदारी बनी रहती है और जब पिता अपना कर्तव्य निबाह लेता है, तो वह अपनी जिम्मेदारी से मुक्त हो जाता है।

अशक्नुवंस्तद्विरहं मुञ्चन्बाष्पकलां मुहुः ।
आसिञ्चदम्ब वत्सेति नेत्रोदैर्दुहितुः शिखाः ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

अशक्नुवन्—न सह सकने के कारण; तत्-विरहम्—उसका वियोग; मुञ्चन्—गिराते हुए; बाष्प-कलाम्—आँसू; मुहुः—पुनः पुनः; आसिञ्चत्—भीग गया; अम्ब—मेरी माता; वत्स—मेरी प्रिय पुत्री; इति—इस प्रकार; नेत्र-उदैः—नेत्रों के जल से; दुहितुः—अपनी पुत्री का; शिखाः—बालों का गुच्छा।

सम्राट अपनी पुत्री के वियोग को न सह सके, अतः उनके नेत्रों से बारम्बार अश्रु झरने लगे और उनकी पुत्री का सिर भीग गया। वे विलख पड़े 'मेरी माता, मेरी प्यारी बेटी।'

तात्पर्य : *अम्ब* शब्द सार्थक है। कभी-कभी पिता अपनी पुत्री को प्यार में 'माता' अथवा कभी 'मेरी बिटिया' कहकर पुकारता है। विरह भाव इसलिए उत्पन्न होता है, क्योंकि जब तक कन्या का विवाह नहीं होता वह अपने पिता के घर पर रहती है, किन्तु ज्योंही उसकी शादी हो जाती है, वह परिवार की कन्या नहीं रह जाती। उसे अपने पति के घर जाना पड़ता है, क्योंकि विवाह के बाद वह अपने पति की सम्पत्ति बन जाती है। *मनु संहिता* के अनुसार स्त्री कदापि स्वतन्त्र नहीं रहती। जब तक विवाह नहीं होता वह अपने पिता की सम्पत्ति रहती है और जब तक उसके बाल-बच्चे बड़े नहीं हो जाते और स्वयं सयानी नहीं हो जाती, अपने पति की सम्पत्ति बनी रहती है। स्त्री सदा ही अपने पिता, पति अथवा पुत्रों पर आश्रित रहती है। ऐसा हमें देवहूति के जीवन में आगे देखने को मिलेगा। देवहूति के पिता ने अपना उत्तरदायित्व

उसके पति कर्दम मुनि को सौंप दिया और उसी तरह कर्दम मुनि अपने पुत्र कपिलदेव को सौंप कर गृहत्याग कर चले गये। इन घटनाओं का वर्णन अपने कथनों में एक-एक करके किया जाएगा।

आमन्त्र्य तं मुनिवरमनुज्ञातः सहानुगः ।
प्रतस्थे रथमारुह्य सभार्यः स्वपुरं नृपः ॥ २६ ॥
उभयोरृषिकुल्यायाः सरस्वत्याः सुरोधसोः ।
ऋषीणामुपशान्तानां पश्यन्नाश्रमसम्पदः ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

आमन्त्र्य—जाने की अनुमति लेकर; तम्—उससे; मुनि-वरम्—मुनियों में श्रेष्ठ, कर्दम से; अनुज्ञातः—जाने की अनुमति पाकर; सह-अनुगः—अपने सेवकों सहित; प्रतस्थे—प्रस्थान किया; रथम् आरुह्य—रथ में चढ़कर; स-भार्यः—अपनी पत्नी के साथ; स्व-पुरम्—अपनी राजधानी को; नृपः—राजा; उभयोः—दोनों पर; ऋषि-कुल्यायाः—ऋषियों को स्वीकार्य; सरस्वत्याः—सरस्वती नदी का; सु-रोधसोः—सुहावने किनारे; ऋषीणाम्—ऋषियों का; उपशान्तानाम्—शान्त; पश्यन्—देखते हुए; आश्रम-सम्पदः—सुन्दर आश्रम की समृद्धि।

तब महर्षि से आज्ञा लेते हुए और उनकी अनुमति पाकर राजा अपनी पत्नी के साथ रथ में सवार हुआ और अपने सेवकों सहित अपनी राजधानी के लिए चल पड़ा। रास्ते भर वे साधु पुरुषों के लिए अनुकूल सरस्वती नदी के दोनों ओर सुहावने तटों पर उनके शान्त एवं सुन्दर आश्रमों की समृद्धि को देखते रहे।

तात्पर्य : आधुनिक युग में जिस प्रकार बड़ी-बड़ी इंजीनियरी और वास्तुकला के कौशल से नगरों का निर्माण किया जाता है उसी प्रकार प्राचीनकाल में ऋषिकुल होते थे जहाँ साधु सदृश व्यक्ति रहा करते थे। आज भी भारत में दिव्य ज्ञान के अनेक भव्य स्थान हैं, अनेक ऋषि तथा साधु पुरुष आत्म-अनुशीलन के लिए गंगा तथा यमुना के तट पर सुन्दर कुटियों में रहते हैं। राजा अपने दल समेत इन ऋषिकुलों से होकर जाते समय कुटियों तथा आश्रमों की शोभा से बहुत प्रमुदित हुआ करते थे। यहाँ पर *पश्यन्न-आश्रम-सम्पदः* कहा गया है। ऋषियों के पास उच्च प्रासाद न थे, किन्तु उनके आश्रम इतने सुन्दर थे कि राजा उन्हें देखकर अत्यधिक प्रसन्न हुए।

तमायान्तमभिप्रेत्य ब्रह्मावर्तात्प्रजाः पतिम् ।

गीतसंस्तुतिवादित्रैः प्रत्युदीयुः प्रहर्षिताः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; आयान्तम्—आया हुआ; अभिप्रेत्य—समझ कर; ब्रह्मावर्तात्—ब्रह्मावर्त से; प्रजाः—उसकी प्रजा; पतिम्—अपने स्वामी को; गीत-संस्तुति-वादित्रैः—गीत, स्तुति तथा वाद्यसंगीत से; प्रत्युदीयुः—स्वागत के लिए आगे आये; प्रहर्षिताः—अत्यधिक प्रसन्न।

राजा का आगमन जानकर उसकी प्रजा अपार प्रसन्नता से ब्रह्मावर्त से बाहर निकल आई और वापस आते हुए अपने राजा का गीतों, स्तुतियों तथा वाद्य संगीत से सम्मान किया।

तात्पर्य : यह एक प्रथा है कि किसी राज्य की राजधानी के नागरिक यात्रा से लौटे अपने राजा की अगवानी करते हैं। कुरुक्षेत्र युद्ध के पश्चात् श्रीकृष्ण के द्वारका लौटने का ऐसा ही वर्णन मिलता है। उस अवसर पर सभी वर्ग के नागरिकों ने नगर के प्रवेशद्वार पर उनका स्वागत किया। प्राचीनकाल में राजधानियाँ प्राचीरों से घिरी होती थीं और प्रवेश के लिए विभिन्न द्वार होते थे। आज भी दिल्ली में अनेक प्राचीन द्वार हैं और कुछ अन्य प्राचीन नगरों में ऐसे द्वार हैं जहाँ नागरिक एकत्र होकर राजा का स्वागत करते थे। यहाँ पर भी ब्रह्मावर्त की राजधानी बर्हिष्मती के नागरिक सुन्दर-सुन्दर वस्त्र धारण करके सम्राट स्वायंभुव मनु का स्वागत अनेक प्रकार की सजावट करके तथा वाद्य यंत्रों द्वारा करने के लिए आये।

बर्हिष्मती नाम पुरी सर्वसम्पत्समन्विता ।
न्यपतन्यत्र रोमाणि यज्ञस्याङ्गं विधुन्वतः ॥ २९ ॥
कुशाः काशास्त एवासन्शश्वद्धरितवर्चसः ।
ऋषयो यैः पराभाव्य यज्ञघ्नान्यज्ञमीजिरे ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

बर्हिष्मती—बर्हिष्मती; नाम—नामक; पुरी—नगरी; सर्व-सम्पत्—सभी प्रकार की सम्पदा; समन्विता—से पूर्ण; न्यपतन्—गिर पड़े; यत्र—जहाँ; रोमाणि—बाल (रोएँ); यज्ञस्य—भगवान् शूकर के; अङ्गम्—शरीर; विधुन्वतः—हिलाने पर; कुशाः—कुश (एक घास); काशाः—काँस (एक घास); ते—वे; एव—निश्चय ही; आसन्—हो गया; शश्वत्-हरित—सदाबहार का; वर्चसः—रंग का; ऋषयः—ऋषिगण; यैः—जिससे; पराभाव्य—हराकर; यज्ञ-घ्नान्—यज्ञ में बाधक; यज्ञम्—भगवान् विष्णु; ईजिरे—उन्होंने पूजा की।

सभी प्रकार की सम्पदा में धनी बर्हिष्मती नगरी का यह नाम इसलिए पड़ा, क्योंकि जब भगवान् ने अपने आपको वराह रूप में प्रकट किया, तो भगवान् विष्णु का बाल (रोम) उनके शरीर से नीचे गिर पड़ा। जब उन्होंने अपना शरीर हिलाया तो जो बाल नीचे

गिरा वह सदैव हरे भरे रहने वाले उन कुश तथा काँस में बदल गया जिनके द्वारा ऋषियों ने भगवान् विष्णु की तब पूजा की थी जब उन्होंने यज्ञों को सम्पन्न करने में बाधा डालने वाले असुरों को हराया था।

तात्पर्य : परमेश्वर से सीधे सम्बद्ध कोई भी स्थान *पीठ-स्थान* कहलाता है। स्वायंभुव मनु की राजधानी बर्हिष्मती इसलिए महान् न थी कि उस नगरी में प्रचुर धन तथा ऐश्वर्य था, वरन् इसलिए कि उसी स्थान पर भगवान् वराह के बाल गिरे थे। ये ही बाल बाद में हरी घास के रूप में उग आये और ऋषिगण इस घास से भगवान् की उस समय पूजा करते थे जब उन्होंने हिरण्याक्ष असुर का वध किया था। यज्ञ का अर्थ है, भगवान् विष्णु। *भगवद्गीता* में कर्म को यज्ञार्थ कहा गया है। यज्ञार्थ कर्म का अर्थ है "विष्णु को प्रसन्न करने के लिए किया गया कार्य।" यदि कोई कार्य इन्द्रिय-तृप्ति या अन्य उद्देश्य से किया जाता है, तो यह काम करने वाले पर बन्धन होगा। यदि कोई कर्म-बन्धन से मुक्त होना चाहता है, तो उसे विष्णु या यज्ञ को प्रसन्न करने के लिए ही प्रत्येक कार्य करना चाहिए। स्वायंभुव मनु की राजधानी बर्हिष्मती में ये विशेष उत्सव ऋषियों तथा साधुओं द्वारा सम्पन्न किये जा रहे थे।

कुशकाशमयं बर्हिरास्तीर्य भगवान्मनुः ।
अयजद्यज्ञपुरुषं लब्धा स्थानं यतो भुवम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

कुश—कुश की; काश—तथा काँस की; मयम्—निर्मित; बर्हिः—आसनी; आस्तीर्य—फैलाकर; भगवान्—अत्यन्त भाग्यशाली; मनुः—स्वायंभुव मनु ने; अयजत्—पूजा की; यज्ञ-पुरुषम्—भगवान् विष्णु; लब्धा—प्राप्त किया; स्थानम्—वास, धाम; यतः—जिससे; भुवम्—पृथ्वी।

मनु ने कुश तथा काँस की बनी आसनी बिछाई और श्रीभगवान् की अर्चना की जिनकी कृपा से उन्हें पृथ्वी मंडल का राज्य प्राप्त हुआ था।

तात्पर्य : मनु मनुष्यजाति के पिता हैं, अतः मनु शब्द से ही मनुष्य बना है। जिनके पास प्रचुर सम्पत्ति है और अच्छे पद पर हैं उन्हें मनु से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए जो अपने राज्य तथा वैभव को श्रीभगवान् की देन समझ कर सदैव भक्ति में तल्लीन रहते थे। इसी प्रकार से मनु की सन्तान अर्थात् मनुष्यों को विशेषकर उच्चपदों पर आसीन लोगों को समझना चाहिए

कि समस्त ऐश्वर्य श्रीभगवान् द्वारा प्रदत्त है। उन्हें इस ऐश्वर्य का सदुपयोग यज्ञ सम्पन्न करके भगवान् को प्रसन्न करने में करना चाहिए। धन तथा ऐश्वर्य के सदुपयोग की यही विधि है। भगवान् की कृपा के बिना किसी को धन, ऐश्वर्य, उत्तम जन्म, सुन्दर शरीर या अच्छी शिक्षा प्राप्त नहीं होती। अत: जिन्हें ये सुविधाएँ प्राप्त हैं उन्हें चाहिए कि वे भगवान् की पूजा करते हुए उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करें और जो उन्हें प्राप्त है उसे भगवान् को समर्पित करें। जब किसी परिवार, राष्ट्र या समाज द्वारा इस प्रकार की कृतज्ञता व्यक्त की जाती है, तो उनके वास स्थान वैकुण्ठ से समान हो जाते हैं और वे इस संसार में व्याप्त तीनों तापों से मुक्त रहते हैं। आधुनिक युग में भगवान् श्रीकृष्ण की प्रधानता ज्ञापित करने के लिए ही कृष्णभावनामृत का ध्येय सबके लिए रखा गया है। जिसके पास जो कुछ है उसे भगवान् के अनुग्रह से प्राप्त दान समझना चाहिए। अत: प्रत्येक प्राणी को चाहिए कि कृष्णभावनामृत के माध्यम से भक्तिमय सेवा में लगे। कोई भी, चाहे वह गृहस्थ हो या नागरिक या मानव समाज का सदस्य, यदि सुखी रहना चाहता है, तो उसे भगवान् की प्रसन्नता के लिए भक्ति करनी चाहिए।

बर्हिष्मतीं नाम विभुर्यां निर्विश्य समावसत् ।
तस्यां प्रविष्टो भवनं तापत्रयविनाशनम् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

बर्हिष्मतीम्—बर्हिष्मती नगरी में; **नाम**—नामक; **विभु:**—परम शक्तिमान स्वायंभुव मनु; **याम्**—जिस; **निर्विश्य**—प्रवेश करके; **समावसत्**—पहले रहता था; **तस्याम्**—उस नगरी में; **प्रविष्ट:**—प्रवेश किया; **भवनम्**—महल; **ताप-त्रय**—तीन प्रकार के ताप; **विनाशनम्**—नष्ट करते हुए।

जिस बर्हिष्मती नगरी में मनु पहले से रहते थे उसमें प्रवेश करने के पश्चात् वे अपने महल में गये जो सांसारिक त्रय-तापों को नष्ट करने वाले वातावरण से परिव्याप्त था।

तात्पर्य : यह भौतिक संसार तीन प्रकार के तापों—दैहिक, दैविक तथा भौतिक तापों से पूर्ण है। मानव समाज की सार्थकता इसीमें है कि कृष्णभावनामृत को प्रसारित करके आध्यात्मिक वातावरण उत्पन्न करे। इस संसार के तापों का कृष्णभावनामृत पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसका अर्थ यह नहीं है कि कृष्ण-भक्ति करने पर संसार के सभी ताप लुप्त हो जाते हैं, वरन् यह कि जो कृष्णभक्त होता है उस पर इन तापों का प्रभाव नहीं पड़ता। हम भौतिक

वातावरण के तापों को रोक नहीं सकते, किन्तु कृष्णभावनामृत वह प्रतिरोधी ओषधि है, जो हमें इन तापों से बचाती है। कृष्णभक्त के लिए स्वर्ग तथा नरक का वास एकसमान है। अगले श्लोक में बताया गया है कि मनु ने वह वातावरण किस प्रकार उत्पन्न किया जिससे वे तीनों तापों से अप्रभावित रह आये।

सभार्यः सप्रजः कामान्बुभुजेऽन्याविरोधतः
सङ्गीयमानसत्कीर्तिः सस्त्रीभिः सुरगायकैः ।
प्रत्यूषेष्वनुबद्धेन हृदा शृण्वन्हरेः कथाः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

स-भार्यः—अपनी पत्नी के सहित; स-प्रजः—अपनी प्रजा के साथ; कामान्—जीवन की आवश्यकताएँ; बुभुजे—भोग किया; अन्य—दूसरों से; अविरोधतः—बिना अड़चन के; सङ्गीयमान—प्रशंसित होकर; सत्-कीर्तिः—पुण्य कार्यों के लिए प्रसिद्धि; स-स्त्रीभिः—अपनी-अपनी पत्नियों समेत; सुर-गायकैः—स्वर्गिक गायकों (गंधर्वों) के द्वारा; प्रति-ऊषेषु—प्रत्येक उषा (प्रातः) समय; अनुबद्धेन—बँधा हुआ; हृदा—हृदय से; शृण्वन्—सुनते हुए; हरेः—भगवान् की; कथाः—कथाएँ।

स्वायंभुव मनु अपनी पत्नी तथा प्रजा सहित जीवन का आनन्द उठाते रहे और उन्होंने धर्म के विरुद्ध अवांछित नियमों से विचलित हुए बिना अपनी इच्छाओं की पूर्ति की। गन्धर्वगण अपनी भार्याओं सहित सम्राट की कीर्ति का गान करते और सम्राट प्रतिदिन उषाकाल में अत्यन्त प्रेमभाव से पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की लीलाओं का श्रवण करते थे।

तात्पर्य : मानव समाज असल में कृष्णभावनामृत में पूर्णता प्राप्त करने के निमित्त है। इसमें अपनी पत्नी तथा सन्तान के साथ रहने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है, किन्तु जीवनपद्धति ऐसी हो कि मनुष्य धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के विपरीत न जाने पाए। वैदिक नियम इस प्रकार बनाये गये हैं कि बद्ध आत्मा जो इस संसार में आये हैं भौतिक इच्छाओं को पूरा करने में उनका मार्गदर्शन हो और साथ ही साथ मुक्त होकर भगवान् के धाम अर्थात् घर को वापस जा सकें।

ऐसा ज्ञात होता है कि स्वायंभुव मनु इन नियमों का पालन करते हुए गृहस्थ जीवन का आनन्द उठा रहे थे। यहाँ यह उल्लेख है कि नित्य प्रात:काल गायकवृन्द वाद्य-संगीत के साथ

भगवान् के यश का गान करते थे और सम्राट सपरिवार परमेश्वर की लीलाओं का श्रवण करते थे। भारत के कुछ मन्दिरों तथा राजपरिवारों में आज भी यह प्रथा प्रचलित है जहाँ वृत्तिक गवैये शहनाई बजाते हैं और घर के लोग प्रमुदित वातावरण में नींद से उठते हैं। सोते समय भी गवैये शहनाई के साथ भगवान् की लीलाओं का गान करते हैं और घर के लोग भगवान् का स्मरण करते हुए सोते हैं। ऐसे गायन कार्यक्रम के अतिरिक्त प्रत्येक घर में संध्या समय *भागवत* उपदेश की व्यवस्था रहती है, परिवार के सभी सदस्य बैठते हैं, हरेकृष्ण कीर्तन करते हैं, *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* के उपदेश सुनते हैं और सोने के पूर्व संगति का आनन्द उठाते हैं। ऐसे संकीर्तन से उत्पन्न वातावरण उनके मस्तिष्कों में बना रहता है और सोते हुए भी वे ऐसे ही संगति एवं भगवान की लीलाओं के स्वप्न देखते हैं। इस प्रकार से कृष्णभावनामृत में सिद्धि प्राप्त की जा सकती है। यह प्रथा अत्यन्त प्राचीन है, जैसाकि *भागवत* के इस श्लोक से ज्ञात होता है। लाखों वर्ष पूर्व स्वायंभुव मनु ने गृहस्थ जीवन में शान्ति एवं कृष्णभावनामृत के वातावरण में रहने के लिए इस सुअवसर का लाभ उठाया था।

जहाँ तक मन्दिरों का प्रश्न है, प्रत्येक राजमहल में या धनी व्यक्ति के घर में निश्चित रूप से एक सुन्दर मन्दिर रहता है जहाँ परिवार के सभी लोग प्रात:काल जाकर मंगलारात्रि का उत्सव देखते हैं। यह उत्सव प्रथम प्रात:कालीन पूजा होती है। आरात्रिका उत्सव में देवताओं के समक्ष आरती की जाती हैं, शंख बजाये जाते हैं और पुष्प अर्पित करके पंखा झला जाता है। ऐसा माना जाता है कि भगवान् भोर होते जगकर कुछ नाश्ता करते हैं और भक्तों को दर्शन देते हैं। तब भक्तगण अपने-अपने घर चले जाते हैं, अथवा मन्दिर में ही भगवान् के गुणों का गायन करते रहते हैं। अब भी भारतीय मन्दिरों तथा महलों में प्रात:काल का उत्सव सम्पन्न होता है। मन्दिर सामान्य लोगों के एकत्र होने के स्थान होते हैं। महलों के भीतर बने मन्दिर राजपरिवारों के लिए होते हैं, किन्तु इनमें से कई मन्दिरों में जनता को भी जाने दिया जाता है। जयपुर नरेश के महल के भीतर मन्दिर बना है, किन्तु उसमें जनता को जाने दिया जाता है और वहाँ सदैव कम से कम पाँच सौ भक्त एकत्र मिलेंगे। मंगलारात्रिका उत्सव के पश्चात् वे विविध वाद्ययन्त्रों

के द्वारा भगवान् का यशोगान करते हैं और इस प्रकार जीवन का आनन्द लूटते हैं। *भगवद्गीता* में भी राजपरिवार द्वारा मन्दिर पूजा का वर्णन हुआ है, जिसमें यह कहा गया है कि जो इस जीवन में भक्तियोग में असफल होते हैं उन्हें अगले जन्म में किसी धनी परिवार में या राजपरिवार में अथवा विद्वान ब्राह्मणों या भक्तों के परिवार में जन्म लेने का अवसर प्रदान किया जाता है। यदि उसे इन परिवारों में जन्म ग्रहण करने का सुयोग प्राप्त होता है, तो उसे बिना किसी कठिनाई के कृष्णभावनामृत का वातावरण प्राप्त कर सकता है। कृष्णभावनाभावित वातावरण में उत्पन्न बालक निश्चित रूप से कृष्ण-भक्त बनता है। जिस सिद्धि को वह पिछले जन्म में नहीं प्राप्त कर सका था उसे इस जीवन में अवसर दिया जाता है और निश्चिच उसे सिद्धि मिल सकती है।

निष्णातं योगमायासु मुनिं स्वायम्भुवं मनुम् ।
यदाभ्रंशयितुं भोगा न शेकुर्भगवत्परम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

निष्णातम्—लिप्त; योग-मायासु—क्षणिक सुख में; मुनिम्—मुनि तुल्य; स्वायम्भुवम्—स्वायंभुव; मनुम्—मनु को; यत्—जिससे; आभ्रंशयितुम्—विचलित होकर; भोगाः—सांसारिक सुख; न—नहीं; शेकुः—सक्षम थे; भगवत्-परम्—भगवान् का परम भक्त।

इस प्रकार स्वयंभुव मनु साधु-सदृश राजा थे। भौतिक सुख में लिप्त रहकर भी वे निम्नकोटि के जीवन की ओर आकृष्ट नहीं थे, क्योंकि वे निरन्तर कृष्णभावनामृत के वातावरण में भौतिक सुख का भोग कर रहे थे।

तात्पर्य : राजसी सुख प्राप्त होने पर मनमानी इन्द्रिय-तृप्ति के कारण मनुष्य निम्नकोटि के जीवन—अर्थात् पशु जीवन की ओर बढ़ता है। किन्तु स्वायंभुव मनु तो साधु के समान थे, क्योंकि उनके राज्य तथा घर में कृष्णभावनामृत का वातावरण था। बद्धजीवों के साथ भी ऐसा ही है; वे इन्द्रियतृप्ति के लिए भौतिक शरीर धारण करते हैं, किन्तु यदि वे जैसा यहाँ पर बताया गया है या शास्त्रोक्त विधि से मन्दिर पूजा तथा घरेलू देव-पूजा के द्वारा कृष्णभावनामृत का वातावरण उत्पन्न कर सकते हैं, तो भौतिक सुख भोगते हुए भी वे शुद्ध कृष्णभक्ति में प्रगति कर सकते हैं। आज के समय में, आधुनिक सभ्यता इन्द्रियतृप्ति के प्रति अत्यधिक आसक्त है।

अत: कृष्णभावनामृत आन्दोलन मनुष्यों को भौतिक सुख भोगते हुए मानव जीवन का सदुपयोग करने का सुयोग प्रदान करता है। कृष्णभक्ति इन्हें भौतिक सुख के लिए वर्जित नहीं करती, वरन् इन्द्रियसुख सम्बन्धी आदतों को संयमित करती है। वे भौतिक लाभों को उठाते हुए इसी जीवन में कृष्णभक्ति का अभ्यास करते हुए भगवान् के पवित्र नाम—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे, कीर्तन-जप—करते हुए मुक्त हो सकते हैं।

अयातयामास्तस्यासन्यामा: स्वान्तरयापना: ।
शृण्वतो ध्यायतो विष्णो: कुर्वतो ब्रुवत: कथा: ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

अयात-यामा:—समय व्यर्थ नहीं गया; **तस्य**—मनु का; **आसन्**—थे; **यामा:**—घंटे; **स्व-अन्तर**—जीवनकाल; **यापना:**—व्यतीत करके; **शृण्वत:**—सुनते हुए; **ध्यायत:**—ध्यान करते; **विष्णो:**—भगवान् विष्णु का; **कुर्वत:**—करते हुए; **ब्रुवत:**—बोलते हुए; **कथा:**—कथाएँ।

फलत: धीरे-धीरे उनके जीवन का अन्त-समय आ पहुँचा आया; किन्तु उनका दीर्घ जीवन, जो मन्वन्तर कल्प से युक्त है, व्यर्थ नहीं गया क्योंकि वे सदैव भगवान् की लीलाओं के श्रवण, चिन्तन, लेखन तथा कीर्तन में व्यस्त रहे।

तात्पर्य : तुरन्त का तैयार भोजन अत्यन्त स्वादिष्ट होता है, किन्तु यदि उसे तीन-चार घंटे बाद खाया जाय तो वह बासी और स्वाद हीन हो जाता है, अत: जब तक जीवन में ताजगी है तब तक भौतिक सुख है किन्तु जीवन के अन्त समय प्रत्येक वस्तु नीरस, व्यर्थ तथा कष्टकारक लगती है। किन्तु सम्राट स्वायंभुव मनु का जीवन नीरस नहीं था; वृद्ध होने पर भी उसमें प्रारम्भिक जीवन की सी ताजगी थी क्योंकि वे निरन्तर कृष्णभावनाभावित बने रहे। कृष्णभक्ति में रहने वाले मनुष्य का जीवन सदैव ताजा बना रहता है। कहा जाता है कि सूर्य प्रात:काल उदय होता है, सायंकाल अस्त होता है और उसका कार्य प्रत्येक प्राणी के जीवन की अवधि को घटाना है। किन्तु जो प्राणी कृष्णभक्ति में रत है उसके जीवन को सूर्योदय तथा सायंकाल घटा नहीं पाते। स्वायंभुव मनु का जीवन कुछ काल बाद नीरस इसीलिए नहीं हुआ, क्योंकि वे निरन्तर भगवान् विष्णु का जप तथा ध्यान करते रहे। वे महानतम् योगी थे, क्योंकि अपना

समय नष्ट नहीं करते थे। यहाँ विशेष रूप से उल्लेख हुआ है कि *विष्णोः कुर्वतो ब्रुवतः कथाः*। जब वे कुछ बोलते तो भगवान् के विषय में और जब भी कुछ सुनते तो भगवान् के विषय में और जब भी ध्यान धरते तो श्रीकृष्ण और उनके कार्यकलापों के सम्बन्ध में।

कहा गया है कि उसकी आयु अत्यन्त दीर्घ अर्थात् एकहत्तर युग थी। एक युग ४३ लाख २० हजार वर्षों के तुल्य है। ऐसे एकहत्तर युग मनु की आयु थी। ब्रह्मा के एक दिन में ऐसे चौदह मनु आते-जाते हैं। इस प्रकार अपने पूरे जीवनकाल—४३,२०,००० × ७१ वर्ष—में मनु कृष्ण का कीर्तन, श्रवण, कथन तथा ध्यान धरते रहे। अतः उनका जीवन न तो व्यर्थ गया और न कभी नीरस लगा।

स एवं स्वान्तरं निन्ये युगानामेकसप्ततिम् ।
वासुदेवप्रसङ्गेन परिभूतगतित्रयः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सः—उसने (स्वायंभुव मनु ने); एवम्—इस प्रकार; स्व-अन्तरम्—अपना काल (जीवन); निन्ये—बिताया; युगानाम्—चार युगों के चक्रों का; एक-सप्ततिम्—एकहत्तर; वासुदेव—वासुदेव से; प्रसङ्गेन—सम्बद्ध कथाओं से; परिभूत—पार कर गया; गति-त्रयः—तीनों लक्ष्य (अवस्थाएँ)।

उन्होंने निरन्तर वासुदेव का ध्यान करते और उन्हीं का गुणानुवाद करते इकहत्तर चतुर्युग (७१ × ४३,२०,००० वर्ष) पूरे किये। इस प्रकार उन्होंने तीनों लक्ष्यों को पार कर लिया।

तात्पर्य : तीन लक्ष्य उन व्यक्तियों के लिए हैं, जो प्रकृति के तीन गुणों से बँधे हैं। इन लक्ष्यों को कभी-कभी जागृत, स्वप्न तथा तुरीय अवस्थाएँ कहा जाता है। *भगवद्गीता* में ये तीन लक्ष्य सतो, रजो तथा तमो—इन तीन गुणों के रूप में वर्णित हैं। गीता में कहा गया है कि सतोगुण वाले लोग स्वर्गलोक जाते हैं, रजोगुण वाले इसी पृथ्वीलोक या उच्चतर लोकों में रहते हैं और तमोगुणी लोग उन लोकों में पशु जीवन बिताते जहाँ मनुष्य जीवन से निम्नतर जीवन होता है। किन्तु जो कृष्णभक्त है, वह इन तीन गुणों से परे होता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जो कोई भगवान् की भक्ति करता है, वह प्रकृति के तीन लक्ष्यों को स्वतः पार कर लेता है और ब्रह्मभूत हो जाता है अर्थात् उसे आत्म-साक्षात्कार हो जाता है (मुक्त हो जाता है)।

यद्यपि इस भौतिक संसार के शासक स्वायंभुव मनु भौतिक सुख में निमग्न प्रतीत होते थे, किन्तु वे न तो सत्त्व गुण में अथवा न ही रजो गुण अथवा तमोगुण अवस्था में हो, वरन् दिव्य अवस्था को प्राप्त थे।

अतः जो कोई भक्तिमय सेवा में लगा रहता है, वह सदैव मुक्त रहता है। भगवान् के परम भक्त बिल्व मंगल ठाकुर ने कहा है, ''यदि श्रीकृष्ण के चरणकमल में मेरी एकनिष्ठ भक्ति है, तो माता मुक्ति सदैव मेरी सेवा के लिए तत्पर रहेगी। भौतिक सुख, धर्म तथा अर्थ की पूर्ण सिद्धि मेरे वश में है।'' सभी लोग धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष के फेर में रहते हैं। सामान्यतः वे कोई धार्मिक कृत्य इसलिए करते हैं जिससे कुछ भौतिक लाभ हो और कर्म इसलिए करते हैं जिससे इन्द्रिय-तृप्ति हो सके। सांसारिक इन्द्रिय-तृप्ति से उब कर मनुष्य मुक्त होना चाहता है और परम सत्य से तादात्म्य चाहता है। अल्पज्ञानियों के लिए ये चातुष्टय-दिव्य पथ का निर्माण करते हैं, किन्तु जो ज्ञानी हैं, वे इन चतुष्टयों की परवाह न करते हुए अपने आपको कृष्णभक्ति में लगाते हैं। वे तुरन्त ही उस दिव्य पद को प्राप्त होते हैं, जो मुक्ति से बड़ा है। भक्त के लिए मुक्ति कोई बड़ी उपलब्धि नहीं है। भक्तगण धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष की तनिक भी परवाह नहीं करते। वे सदैव आत्म-साक्षात्कार की ब्रह्म-भूत अवस्था पर आसीन रहते हैं, जो दिव्य पद है।

शारीरा मानसा दिव्या वैयासे ये च मानुषाः ।
भौतिकाश्च कथं क्लेशा बाधन्ते हरिसंश्रयम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

शारीराः—शरीर सम्बधी; मानसाः—मन सम्बन्धी; दिव्याः—दैवी शक्ति सम्बन्धी(दैवताओं का); वैयासे—हे विदुर; ये—जो; च—यथा; मानुषाः—अन्य मनुष्यों से सम्बन्धित; भौतिकाः—अन्य जीवों से सम्बन्धित; च—तथा; कथम्—कैसे; क्लेशाः—दुख; बाधन्ते—कष्ट पहुँचा सकते हैं; हरि-संश्रयम्—जिसने भगवान् कृष्ण की शरण ली हुई है।.

अतः हे विदुर, जो व्यक्ति भगवान् कृष्ण के शरणागत हैं, भला वे किस प्रकार शरीर, मन, प्रकृति, अन्य मनुष्यों तथा जीवित प्राणियों से सम्बन्धित कष्टों में पड़ सकते हैं।

तात्पर्य : इस संसार का प्रत्येक जीव किसी न किसी प्रकार के कष्ट से पीड़ित है, चाहे वह शरीर से सम्बन्धित हो या मन अथवा भौतिक विपदाओं से सम्बन्धित हो। इस संसार में अतिशीत तथा अतिताप से सबों को कष्ट पहुँचता है, किन्तु जिस किसी ने कृष्णभावनामृत के अंतर्गत भगवान् के चरणकमलों में शरण प्राप्त कर ली है, वह दिव्य अवस्था को प्राप्त होता है। वह किसी प्रकार के कष्ट से विचलित नहीं होता चाहे वह शरीर तथा मन से सम्बन्धित कष्ट हों या कि शीत तथा ग्रीष्म के प्राकृतिक उत्पात हों। वह इन कष्टों से परे है।

यः पृष्टो मुनिभिः प्राह धर्मान्नानाविधाञ्छुभान् ।
नृणां वर्णाश्रमाणां च सर्वभूतहितः सदा ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; पृष्टः—पूछे जाने पर; मुनिभिः—मुनियों के द्वारा; प्राह—बोला; धर्मान्—कर्तव्य; नाना-विधान्—अनेक प्रकार के; शुभान्—शुभ; नृणाम्—मनुष्य समाज का; वर्ण-आश्रमाणाम्—वर्णों तथा आश्रमों का; च—यथा; सर्व-भूत—सभी जीवों के लिए; हितः—कल्याणकर; सदा—सदैव।

कुछ मुनियों के पूछे जाने पर उन्होंने (स्वायंभुव मनु ने) समस्त जीवों पर दया करके मनुष्य के सामान्य पवित्र कर्तव्यों तथा वर्णों और आश्रमों का उपदेश दिया।

एतत्त आदिराजस्य मनोश्चरितमद्भुतम् ।
वर्णितं वर्णनीयस्य तदपत्योदयं शृणु ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; ते—तुम; आदि-राजस्य—प्रथम सम्राट के; मनोः—स्वायंभुव मनु के; चरितम्—चरित्र; अद्भुतम्—आश्चर्यजनक; वर्णितम्—वर्णन किया गया; वर्णनीयस्य—जिनका यश वर्णन करने के योग्य है; तत्-अपत्य—उनकी पुत्री का; उदयम्—अभ्युदय; शृणु—सुनो।

मैंने तुमसे आदि सम्राट स्वायंभुव मनु के अद्‌भुत चरित्र का वर्णन किया। उनकी ख्याति वर्णन के योग्य है। अब ध्यान से उनकी पुत्री देवहूति के अभ्युदय का वर्णन सुनो।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत तृतीय स्कंध के अन्तर्गत ''कर्दम मुनि तथा देवहूति का परिणय'' नामक बाइसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तेईस

देवहूति का शोक

मैत्रेय उवाच
पितृभ्यां प्रस्थिते साध्वी पतिमिङ्गितकोविदा ।
नित्यं पर्यचरत्प्रीत्या भवानीव भवं प्रभुम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; पितृभ्याम्—माता-पिता के द्वारा; प्रस्थिते—प्रस्थान करने पर; साध्वी—पतिव्रता; पतिम्—अपने पति की; इङ्गित-कोविदा—मनोभावों को जानने वाली; नित्यम्—निरन्तर; पर्यचरत्—सेवा की; प्रीत्या—प्रेमपूर्वक; भवानी—देवी पार्वती; इव—समान; भवम्—शिवजी की; प्रभुम्—अपने स्वामी।

मैत्रेय ने कहा—अपने माता-पिता के चले जाने पर अपने पति की इच्छाओं को समझनेवाली पतिव्रता देवहूति अपने पति की प्रतिदिन प्रेमपूर्वक सेवा करने लगी जिस प्रकार भवानी अपने पति शंकर जी की करती हैं।

तात्पर्य : भवानी का विशेष रूप से दिया गया उदाहरण महत्त्वपूर्ण है। *भवानी* का अर्थ है भव अर्थात् शिवजी की पत्नी। हिमालयराज की कन्या भवानी अथवा पार्वती ने शिवजी को अपना पति चुना जो भिक्षुक की तरह प्रतीत होते हैं। राजकुमारी होते हुए भी उन शिवजी को पाने के लिए उन्होंने अनेक कष्ट सहे, जिनके पास घर तक न था और जो एक वृक्ष के नीचे बैठकर ध्यान में अपना सारा समय बिताते थे। यद्यपि भवानी एक बहुत बड़े राजा की कन्या थीं, किन्तु वे भिक्षुणी के समान शिवजी की सेवा किया करती थीं। इसी प्रकार देवहूति सम्राट स्वायंभुव मनु की कन्या थी तो भी उसने कर्दममुनि को अपने पति के रूप में वरण किया। वह उनकी अत्यन्त प्रेमपूर्वक सेवा करती और उन्हें प्रसन्न करना जानती थी। अत: उसे यहाँ पर साध्वी कहा गया है, जिसका अर्थ होता है, 'पतिपरायणा पत्नी या पतिव्रता स्त्री''। यह दुर्लभ उदाहरण वैदिक सभ्यता का आदर्श है। प्रत्येक स्त्री को देवहूति या भवानी के सदृश श्रेष्ठ तथा पतिव्रता होना चाहिए। आज भी हिन्दू समाज में अविवाहित लड़कियों को शंकर जी की पूजा करने के लिए कहा जाता है, जिससे उन्हें उनके समान पति मिले। शिव जी ऐश्वर्य या इन्द्रियतृप्ति की दृष्टि से नहीं वरन् भक्तों में सर्वश्रेष्ठ होने के कारण आदर्श पति हैं। *वैष्णवानां यथा शुम्भ:*—शुम्भ या शिवजी आदर्श वैष्णव हैं। वे भगवान् राम का निरन्तर ध्यान करते हैं

और हरे राम, हरे राम, हरे हरे, मन्त्र का जप करते रहते हैं। शिवजी का एक वैष्णव-सम्प्रदाय है, जो विष्णुस्वामी सम्प्रदाय कहलाता है। अविवाहित कन्याएँ शिवजी की पूजा इसीलिए करती हैं जिससे उनके समान ही वैष्णव पति प्राप्त हो। लड़कियों को कभी भी धनी या ऐश्वर्यवान पति चुनने की शिक्षा नहीं दी जाती, किन्तु यदि लड़की इतनी भाग्यवान होती है कि उसे शिवजी के समान उत्तम भक्त पति प्राप्त हो तो उसका जीवन सफल हो जाता है। पत्नी अपने पति पर आश्रित होती है और यदि पति वैष्णव हुआ तो वह अपने पति की भक्ति में हिस्सा बँटाती है, क्योंकि वह उसकी सेवा करती है। पति तथा पत्नी के बीच इस प्रकार सेवा तथा प्रेम का आदान-प्रदान गृहस्थ जीवन के लिए आदर्श है।

विश्रम्भेणात्मशौचेन गौरवेण दमेन च ।
शुश्रूषया सौहृदेन वाचा मधुरया च भोः ॥ २॥

शब्दार्थ

विश्रम्भेण—आत्मीयता से; **आत्म-शौचेन**—मन तथा देह की शुद्धता से; **गौरवेण**—सम्मान से; **दमेन**—इन्द्रियों को वश में करके; **च**—तथा; **शुश्रूषया**—सेवा से; **सौहृदेन**—प्रेम से; **वाचा**—वाणी से; **मधुरया**—मीठी; **च**—तथा; **भोः**—हे विदुर!.

हे विदुर, देवहूति ने अत्यन्त आत्मीयता और आदर के साथ, इन्द्रियों को वश में रखते हुए, प्रेम तथा मधुर वचनों से अपने पति की सेवा की।

तात्पर्य : यहाँ पर *विश्रम्भेण* तथा *गौरवेण*—ये दो शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। देवहुति ने इन्हीं दो विधियों से अपने-पति की सेवा की। ये दोनों विधियाँ हैं जिनके द्वारा पति अथवा श्रीभगवान् की सेवा की जाती है। *विश्रम्भेण* का अर्थ है "आत्मीयतापूर्वक" और *गौरवेण* का अर्थ है "अत्यन्त सम्मानपूर्वक।" पति अत्यन्त आत्मीय मित्र होता है, अत: पत्नी को चाहिए कि आत्मीय मित्र की भाँति पति की सेवा करे और साथ ही पति की स्थिति की श्रेष्ठता को भी समझे। इस प्रकार वह उसका सभी प्रकार से सम्मान करे। एक पुरुष तथा एक स्त्री के मनोभावों में अन्तर होता है। अपनी शारीरिक संरचना के कारण पति सदैव पत्नी से श्रेष्ठ (विशिष्ट) बने रहना चाहता है और स्त्री शारीरिक संरचना के कारण स्वाभाविक रुप से अपने पति से अवर कोटि की होती है। अत: स्वाभाविक प्रवृत्ति यही है कि पति अपने को पत्नी से

श्रेष्ठ मानता है और इसका पालन किया जाना चाहिए। यदि पति से कोई गलती हो जाए, तो भी पत्नी को सह लेना चाहिए और इस प्रकार पति तथा पत्नी के बीच मनमुटाव नहीं रहेगा। *विश्रम्भेण* का अर्थ ''आत्मीयता के साथ'' है, किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि, ''मान घटे नित घर के जाये।'' वैदिक सभ्यता के अनुसार पत्नी अपने पति को नाम से सम्बोधित नहीं कर सकती। आधुनिक सभ्यता में पत्नी अपने पति का नाम लेकर बुला सकती है, किन्तु हिन्दू सभ्यता में ऐसा नहीं है। इस प्रकार निम्नता तथा श्रेष्ठता का द्वैत चलता है। *दमेन च*—पत्नी को किसी प्रकार का मनमुटाव होने पर अपने को वश में रखना सीखना चाहिए। *सौहृदेन वाचा मधुरया* का अर्थ है सदैव पति के कल्याण की आकांक्षा करना और उसमें मीठे वचन बोलना। बाह्य जगत में मनुष्य अनेक कारणों से विक्षुब्ध हो सकता है, अत: स्त्री को चाहिए कि घर में उससे मीठे बचन बोले।

विसृज्य कामं दम्भं च द्वेषं लोभमघं मदम् ।
अप्रमत्तोद्यता नित्यं तेजीयांसमतोषयत् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

विसृज्य—त्याग कर; कामम्—काम-वासना; दम्भम्—गर्व; च—तथा; द्वेषम्—द्वेष; लोभम्—लोभ, लालच; अघम्—पापपूर्ण कृत्य; मदम्—मद, घमण्ड; अप्रमत्ता—समझदार; उद्यता—तत्पर रहकर; नित्यम्—सदैव; तेजीयांसम्—अपने अत्यन्त शक्तिशाली पति को; अतोषयत्—प्रसन्न कर लिया।

बुद्धिमानी तथा तत्परता के साथ कार्य करते हुए उसने समस्त काम, दम्भ, द्वेष, लोभ, पाप तथा मद को त्यागकर अपने शक्तिशाली पति को प्रसन्न कर लिया।

तात्पर्य : यहाँ पर एक महान् पति की महान् पत्नी के कुछ गुण दिये गये हैं। कर्दम मुनि अपनी आध्यात्मिक योग्यता के कारण महान् हैं। ऐसा पति *तेजीयांसम्* अर्थात् परम शक्तिमान कहलाता है। भले ही पत्नी आध्यात्मिक ज्ञान में अपने पति के समान योग्य हो, किन्तु उसे इसका वृथा गर्व नहीं होना चाहिए। कभी-कभी पत्नी अत्यन्त सम्पन्न परिवार की होती है, जिस प्रकार कि सम्राट स्वायंभुव मनु की पुत्री देवहूति थी। वह अपने पितृकुल पर इतरा सकती थी, किन्तु ऐसा करना वर्जित है, उसे ऐसा नहीं करना चाहिए। उसे अपने पति के प्रति विनम्र होना चाहिए और समस्त प्रकार के मिथ्या घमंड को त्याग देना चाहिए। ज्योंही पत्नी को अपने मायके पर गर्व

होने लगता है त्योंही इससे पति-पत्नी के बीच मनमुटाव उत्पन्न होता है और उनका वैवाहिक जीवन चौपट हो जाता है। देवहूति इस मामले में अत्यन्त सतर्क थी इसीलिए यह कहा गया है कि उसने पूर्णतया गर्व का परित्याग कर दिया था। देवहूति कृतघ्न न थी। पत्नी का सबसे पापमय कृत्य है दूसरा पति या प्रेमी बनाना। चाणक्य पण्डित ने घर के चार शत्रु बताये हैं। यदि पिता ऋणी हो तो वह शत्रु है; यदि माता अपने वयस्क संतान के होते हुए दूसरा पति चुन ले तो वह शत्रु है; यदि पत्नी अपने पति के साथ अभद्र व्यवहार करे तो वह शत्रु है; और यदि पुत्र मूर्ख हो तो वह भी शत्रु है। पारिवारिक जीवन की सम्पत्ति पिता, माता, पत्नी तथा सन्तान हैं किन्तु यदि पत्नी या माता अपने पति या पुत्र के होते हुए दूसरा पति चुन ले तो वैदिक सभ्यता के अनुसार वह शत्रु है। साध्वी तथा आज्ञाकारी पत्नी को कभी परपुरुष-गमन नहीं करना चाहिए—यह सबसे बड़ा पाप है।

स वै देवर्षिवर्यस्तां मानवीं समनुव्रताम् ।
दैवाद्गरीयसः पत्युराशासानां महाशिषः ॥४॥
कालेन भूयसा क्षामां कर्शितां व्रतचर्यया ।
प्रेमगद्गदया वाचा पीडितः कृपयाब्रवीत् ॥५॥

शब्दार्थ

सः—वह (कर्दम); वै—निश्चय ही; देव-ऋषि—दैवी साधुओं में; वर्यः—सर्वश्रेष्ठ; ताम्—उस; मानवीम्—मनु की पुत्री को; समनुव्रताम्—पूर्णतः अनुरक्त; दैवात्—विधाता की अपेक्षा; गरीयसः—महान्; पत्युः—अपने पति से; आशासानाम्—आशावान्; महा-आशिषः—महान् आशीर्वाद; कालेन भूयसा—दीर्घकाल तक; क्षामाम्—दुर्बल; कर्शिताम्—क्षीण; व्रत-चर्यया—धार्मिक चर्या से; प्रेम—प्रेम से; गद्गदया—विह्वल, रुद्ध; वाचा—वाणी से; पीडितः—विजित; कृपया—दया से; अब्रवीत्—कहा।

पतिपरायणा मनु की पुत्री अपने पति को विधाता से भी बड़ा मानती थी। इस प्रकार वह उनसे बड़ी-बड़ी आशाएँ किये रहती थी। दीर्घकाल तक सेवा करते रहने से धार्मिक व्रतों को रखने के कारण वह अत्यन्त क्षीण हो गई। उसकी दशा देखकर देवर्षिश्रेष्ठ कर्दम को उस पर दया आ गई और वे अत्यन्त प्रेम से गद्गद वाणी में बोले।

तात्पर्य : पत्नी के पति की ही कोटि की होने की अपेक्षा की जाती है। उसे पति के सिद्धान्तों के पालन के लिए उद्यत रहना चाहिए तभी जीवन सुखी रह सकता है। यदि पति

भक्त हुआ और पत्नी भौतिकवादी, तो घर में शान्ति नहीं रह सकती। पत्नी को पति की रुचि देखकर तदनुरूप आचरण करना चाहिए। *महाभारत* से हमें पता चलता है कि गांधारी को ज्ञात हो गया कि उसका भावी पति धृतराष्ट्र अन्धा है, तो वह स्वयं अंधेपन का अभ्यास करने लगी। इस तरह उसने आँखें बन्द कर लीं और अंधी स्त्री की भाँति व्यवहार करने लगी अन्यथा उसे अपनी आँखों का गर्व होता और उसका पति उसे निकृष्ट लगता। *समनुव्रत* शब्द सूचित करता है कि यह पत्नी का कर्तव्य है कि वह जिस परिस्थिति में उसका पति हो उसके अनुसार अपने को ढाले। निस्सन्देह, यदि पति कर्दम के समान महान् हुआ तो उसके अनुगमन से अच्छा फल निकलता है। किन्तु यदि पति कर्दम के समान महान् भक्त न हो तो भी पत्नी का यह कर्तव्य है कि वह अपने पति की रुचि के अनुसार ढले। इससे विवाहित जीवन सुखमय बन जाता है। यहाँ इसका भी वर्णन हुआ है कि साध्वी स्त्री का कठोर व्रत साधने से राजकुमारी देवहूति अत्यन्त दुबली हो गई थी जिससे उसके पति को दया आ गई। उन्हें पता था कि वह एक सम्राट की पुत्री हो कर भी सामान्य स्त्री की भाँति उनकी सेवा में लगी है। ऐसा करने से उसका स्वास्थ्य दुर्बल हो गया, फलतः मुनि दयार्द्र हो उठे और उससे इस प्रकार बोले।

कर्दम उवाच
तुष्टोऽहमद्य तव मानवि मानदायाः
शुश्रूषया परमया परया च भक्त्या ।
यो देहिनामयमतीव सुहृत्स देहो
नावेक्षितः समुचितः क्षपितुं मदर्थे ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

कर्दमः उवाच—परम साधु कर्दम ने कहा; तुष्टः—प्रसन्न हूँ; अहम्—मैं; अद्य—आज; तव—तुमसे; मानवि—हे मनु की पुत्री; मान-दायाः—सम्माननीय; शुश्रूषया—सेवा से; परमया—सर्वश्रेष्ठ; परया—उच्चतम; च—तथा; भक्त्या—भक्ति से; यः—जो; देहिनाम्—देहधारियों को; अयम्—यह; अतीव—अत्यन्त; सुहृत्—प्रिय; सः—वह; देहः—देह; न—नहीं; अवेक्षितः—ध्यान दिया गया; समुचितः—ठीक से; क्षपितुम्—व्यय करना; मत्-अर्थे—मेरे लिए।.

कर्दम मुनि ने कहा—हे स्वायंभुव मनु की मानिनी पुत्री, आज मैं तुम्हारी अत्यधिक अनुरक्ति तथा प्रेमपूर्ण सेवा से बहुत प्रसन्न हूँ। चूँकि देहधारियों को शरीर अत्यन्त प्रिय है, अतः मुझे आश्चर्य हो रहा है कि तुमने मेरे लिये अपने शरीर को उपेक्षित कर रखा है।

तात्पर्य : यहाँ यह बतलाया गया है कि सबको अपना शरीर अत्यन्त प्रिय है, किन्तु

देवहूति अपने पति के प्रति इतनी श्रद्धालु थी कि वह न केवल अत्यन्त अनुरक्ति, सेवा तथा सम्मान से पति की सेवा कर रही थी, वरन् उसे अपने स्वास्थ्य तक की परवाह नहीं थी। इसी को नि:स्वार्थ सेवा कहते हैं। ऐसा लगता है कि उसे अपने पति से इन्द्रिय-सुख नहीं प्राप्त था, अन्यथा उसका स्वास्थ्य क्षीण न होता। कर्दम मुनि की आध्यात्मिक उन्नति के लिए वह कार्य कर रही थी, निरन्तर उनकी सहायता करती थी और उसे अपने शारीरिक सुख की परवाह न थी। आज्ञाकारिणी तथा साध्वी पत्नी का यह धर्म है कि सब प्रकार से पति की सहायता करे, विशेष रूप से जब पति कृष्णभावनामृत में संलग्न हो। इस दृष्टान्त में, पति ने भी पत्नी को ठीक से पुरस्कृत किया। सामान्य पुरुष की पत्नी को कभी ऐसी आशा नहीं रहती।

ये मे स्वधर्मनिरतस्य तप:समाधि
विद्यात्मयोगविजिता भगवत्प्रसादाः ।
तानेव ते मदनुसेवनयावरुद्धान्
दृष्टिं प्रपश्य वितराम्यभयानशोकान् ॥ ७॥

शब्दार्थ

ये—जो; मे—मेरे द्वारा; स्व-धर्म—अपना धार्मिक जीवन; निरतस्य—पूर्णतया लगे रहकर; तपः—तपस्या में; समाधि—ध्यान में; विद्या—कृष्णभावनामृत में; आत्म-योग—मन को स्थिर करके; विजिताः—प्राप्त किया गया; भगवत्-प्रसादाः—भगवान् के आशीर्वाद; तान्—उनको; एव—भी; ते—तुम्हारे द्वारा; मत्—मुझको; अनुसेवनया—भक्ति से; अवरुद्धान्—प्राप्त की गई; दृष्टिम्—दिव्य दृष्टि; प्रपश्य—देखो; वितरामि—मैं दे रहा हूँ; अभयान्—भयसे रहित; अशोकान्—शोक से रहित।

कर्दम मुनि ने आगे कहा—मैंने तप, ध्यान तथा कृष्णभक्ति का अपना धार्मिक जीवन बिताते हुए भगवान् का आशीर्वाद प्राप्त किया है। यद्यपि तुम्हें भय तथा शोक से रहित इन उपलब्धियों (विभूतियों) का अभी तक अनुभव नहीं है, किन्तु इन सबों को मैं तुम्हें प्रदान करूँगा, क्योंकि तुम मेरी सेवा में लगी हुई हो। अब उन्हें देखो तो। मैं तुम्हें दिव्यदृष्टि प्रदान कर रहा हूँ जिससे तुम देख सको कि वे कितनी सुन्दर हैं।

तात्पर्य : देवहूति केवल कर्दम मुनि की सेवा में लगी रहती। वह तप, ध्यान या कृष्णभावनामृत में इतनी अग्रसर न थी, किन्तु अदृष्ट रूप से अपने पति की उपलब्धियों में हिस्सा प्राप्त कर रही थी, जिन्हें वह न तो देख सकती थी, न अनुभव कर सकती थी। उसे ये समस्त भगवान् की कृपाएँ स्वत: प्राप्त हो गईं।

भगवान् की ये कृपाएँ हैं क्या? यहाँ पर कहा गया है कि अभय ही वह कृपा है। इस भौतिक जगत में यदि कोई दस लाख डालर एकत्र कर लेता है, तो वह सदा डरा रहता है, क्योंकि सोचता है कि यदि यह धन चला गया तो फिर क्या होगा। किन्तु भगवत्-प्रसाद अर्थात् भगवान् द्वारा प्रदत्त आशीर्वाद कभी व्यर्थ नहीं जाता। इसका तो उपभोग ही करना होता है। उसकी क्षति का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। मनुष्य को सुलभ उपलब्धि होती है और इस उपलब्धि का आनन्द मिलता है। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई है—जब भगवान् की कृपा प्राप्त होती है, तो *सर्व-दु:खानि* अर्थात् सभी प्रकार के दुख नष्ट हो जाते हैं। दिव्य स्थिति प्राप्त होने पर अहंकार तथा शोक इन दो भव-रोगों से मनुष्य मुक्त हो जाता है। *भगवद्गीता* में भी इसका उल्लेख है। भक्तिमय जीवन प्रारम्भ होते ही हमें भगवत्प्रेम का पूरा-पूरा फल प्राप्त हो जाता है। भगवत्-प्रसाद अर्थात् ईश्वरीय कृपा की सर्वोच्च सिद्धि कृष्ण का प्रेम है। यह दिव्य उपलब्धि इतनी मूल्यवान है कि कोई भौतिक सुख इसकी तुलना नहीं कर सकता। प्रबोधानन्द सरस्वती ने कहा है कि यदि किसी को भगवान् चैतन्य का अनुग्रह प्राप्त हो जाय तो वह इतना महान् बन जाता है कि वह देवताओं की परवाह नहीं करता, अद्वैतवाद को नरक तुल्य मानता है और इन्द्रियों को वश में करना उसके लिए अत्यन्त सरल कार्य है। स्वर्गिक आनन्द कथा-कहानियों से अधिक कुछ नहीं लगता। वस्तुत: भौतिक सुख तथा दिव्य सुख की कोई तुलना ही नहीं है।

कर्दम मुनि के अनुग्रह से देवहूति को मात्र सेवा करने से वास्तविक बोध हो गया। ऐसा ही उदाहरण हमें नारद मुनि के जीवन में प्राप्त होता है। अपने पूर्वजन्म में वे दासी के पुत्र थे, किन्तु उनकी माता परम भक्तों की सेवा में लगी रहती थी। उसे इन भक्तों की सेवा करने का अवसर मिला और वे उनका जूठन खाकर तथा उनकी आज्ञा का पालन करके ही अगले जन्म में इतने महान् बन सके। आध्यात्मिक उन्नति के लिए सबसे सुगम मार्ग है कि प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण की जाय और मनोयोग से उसकी सेवा की जाय। सफलता का यही रहस्य है। जैसाकि विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने गुरु की प्रार्थना में कहा है—*यस्य प्रसादाद्-भगवत्-*

प्रसादः—गुरु की सेवा करने या उनकी कृपा के प्रसाद से मनुष्य को परमेश्वर की कृपा प्राप्त होती है। अपने भक्त पति कर्दम की सेवा करके देवहूति उनकी उपलब्धियों में साझेदार बनी। इसी प्रकार एकनिष्ठ शिष्य प्रामाणिक गुरु की सेवा करके एकसाथ भगवान् तथा गुरु की कृपा प्राप्त कर सकता है।

अन्ये पुनर्भगवतो भ्रुव उद्विजृम्भ-
विभ्रंशितार्थरचनाः किमुरुक्रमस्य ।
सिद्धासि भुङ्क्ष्व विभवान्निजधर्मदोहान्
दिव्यान्नरैर्दुरधिगान्नृपविक्रियाभिः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अन्ये—अन्य; पुनः—फिर; भगवतः—भगवान् की; भ्रुवः—भृकुटी के; उद्विजृम्भ—हिलने से; विभ्रंशित—नष्ट; अर्थ-रचनाः—भौतिक उपलब्धियों (भोग) के; किम्—क्या लाभ; उरुक्रमस्य—भगवान् विष्णु का; सिद्धा—सफल; असि—तुम हो; भुङ्क्ष्व—भोगो; विभवान्—भेंटें; निज-धर्म—अपनी भक्ति से; दोहान्—प्राप्त; दिव्यान्—दिव्य; नरैः—पुरुषों द्वारा; दुरधिगान्—दुर्लभ; नृप-विक्रियाभिः—राजमद से गर्वित।

कर्दम मुनि ने कहा—भगवान् की कृपा के अतिरिक्त अन्य भोगों से कौन सा लाभ है? सभी भौतिक उपलब्धियाँ श्रीभगवान् विष्णु के भृकुटि-चालन से ही ध्वंस हो जाने वाली हैं। तुमने अपने पति की भक्ति करके वे दिव्य भेंटें प्राप्त की हैं और उनका भोग कर रही हो जो राजमद तथा भौतिक सम्पत्ति से गर्वित मनुष्यों के लिए भी दुर्लभ हैं।

तात्पर्य : भगवान् चैतन्य ने बतलाया है कि मानव जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि भगवत्कृपा या ईश्वर-प्रेम है। उनका कथन है—*प्रेमा पुमर्थो महान्*—ईश्वर का प्रेम प्राप्त करना जीवन की महान् सिद्धि है। इसी सिद्धि की संस्तुति कर्दम मुनि ने अपनी पत्नी के लिए की है। उनकी पत्नी एक सुसम्पन्न राजसी परिवार की थी। सामान्यतः जो भौतिकतावादी हैं या सम्पत्तिवान तथा ऐश्वर्यवान हैं, वे भगवान् के दिव्य प्रेम को नहीं पहचान पाते। यद्यपि देवहूति का सम्बन्ध महान् राज-कुल से था, किन्तु सौभाग्यवश वह अपने महान् पति कर्दम मुनि के अधीक्षण में थी, जिन्होंने उसे मनुष्य जीवन में प्राप्त होने वाली सर्वोत्तम भेंट—भगवत्कृपा या ईश्वर प्रेम—प्रदान की। देवहूति को यह भगवत्कृपा अपने पति की सद्भावना एवं संतोष के कारण प्राप्त हुई। उसने अपने पति की सेवा की जो एक परम भक्त एवं साधु पुरुष थे और

निष्ठा, प्रेम, वात्सल्य तथा सेवा से परिपूर्ण थे। कर्दम मुनि अत्यन्त संतुष्ट हो गये। उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक ईश्वर-प्रेम प्रदान किया और पत्नी से कहा कि इसका भोग करो, क्योंकि यह उसे पहले ही प्राप्त हो चुका है।

ईश्वर का प्रेम कोई सामान्य वस्तु नहीं। रूप गोस्वामी चैतन्य महाप्रभु की पूजा करते थे, क्योंकि वे सबों को ईश्वर का प्रेम—कृष्णप्रेम—वितरित करते थे। रूप गोस्वामी उन्हें महावदान्य कह कर उनकी प्रशंसा करते थे, क्योंकि वे सबों को मुक्तहस्त कृष्ण-प्रेम वितरित कर रहे थे, जो ज्ञानियों को अनेक जन्मों में कठिनाई से प्राप्त होता है। कृष्णप्रेम अर्थात् कृष्णभावनामृत सर्वोच्च भेंट है, जिसे हम हर किसी को प्रदान कर सकते हैं जिससे हम प्रेम करते हैं।

इस श्लोक में आगत *निज-धर्म-दोहान्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। देवहूति को कर्दम मुनि की पत्नी होने के कारण अपने पति से अमूल्य भेंट प्राप्त हुई, क्योंकि वह अपने पति के प्रति अत्यन्त निष्ठावान थी। स्त्री का सबसे बड़ा धर्म है कि अपने पति के प्रति निष्ठावान रहे। यदि सौभाग्य से पति महापुरुष हो तो जोड़ी अत्यन्त पूर्ण होती है और पति तथा पत्नी दोनों का जीवन तुरन्त परिपूर्ण हो जाता है।

एवं ब्रुवाणमबलाखिलयोगमाया-
विद्याविचक्षणमवेक्ष्य गताधिरासीत् ।
सम्प्रश्रयप्रणयविह्वलया गिरेषद्-
व्रीडावलोकविलसद्धसिताननाह ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; ब्रुवाणम्—बोलते हुए; अबला—स्त्री; अखिल—सम्पूर्ण; योग-माया—दिव्य ज्ञान का; विद्या-विचक्षणम्—ज्ञान में अद्वितीय; अवेक्ष्य—सुनकर; गत-आधिः—सन्तुष्ट; आसीत्—हो गई; सम्प्रश्रय—विनय के साथ; प्रणय—तथा प्रेम से; विह्वलया—विह्वल होकर; गिरा—वाणी से; ईषत्—कुछ-कुछ; व्रीडा—लज्जा, संकोच; अवलोक—चितवन से; विलसत्—चमकती; हसित—हँसती; आनना—मुख वाली; आह—बोली।

समस्त प्रकार के दिव्य ज्ञान में अद्वितीय, अपने पति को बोलते हुए सुनकर निष्पाप देवहूति अत्यन्त प्रसन्न हुई, उसका मुख किंचित् संकोच भरी चितवन और मधुर मुस्कान से खिल उठा और वह अत्यन्त विनय एवं प्रेमवश गद्गद वाणी में (रुद्ध कण्ठ से)

बोली।

तात्पर्य : कहा जाता है कि यदि कोई कृष्ण भावनामृत में लगा हुआ हो और भगवान् की दिव्य प्रेम-पूर्ण सेवा कर रहा हो तो यह कहा जा सकता है कि उसने तप, धर्म, यज्ञ, योग तथा ध्यान के निमित्त संस्तुत सभी अभ्यास प्राप्त कर लिया है। देवहूति का पति दिव्य ज्ञान में इतना दक्ष था कि उसके विषय में तर्क करने की आवश्यकता नहीं रह गई, अत: जब उसने उन्हें बोलते हुए सुना तो उसे विश्वास हो गया कि वे समस्त दिव्य विद्याओं में प्रवीण हो चुके हैं। उसे अपने पति द्वारा प्रदत्त भेंट पर कोई सन्देह नहीं रहा और जब उसे यह ज्ञात हुआ कि वे उसे सर्वोच्च भेंट देने जा रहे हैं, तो वह अत्यधिक प्रसन्न हुई। वह प्रेमभाव से अभिभूत हो गई, अत: वह उत्तर न दे पाई; तब रुद्ध वाणी में उसने परम रूपवती पत्नी की भाँति निम्नलिखित शब्द कहे।

देवहूतिरुवाच

राद्धं बत द्विजवृषैतदमोघयोग-
मायाधिपे त्वयि विभो तदवैमि भर्त: ।
यस्तेऽभ्यधायि समय: सकृदङ्गसङ्गो
भूयाद्गरीयसि गुण: प्रसव: सतीनाम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

देवहूति: उवाच—देवहूति ने कहा; राद्धम्—प्राप्त हुआ; बत—निस्सन्देह; द्विज-वृष—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ; एतत्—यह; अमोघ—अचूक; योग-माया—योगशक्ति के; अधिपे—स्वामी; त्वयि—तुम में; विभो—हे महान्; तत्—वह; अवैमि—मैं जानती हूँ; भर्त:—हे पति; य:—जो; ते—तुम्हारे द्वारा; अभ्यधायि—दिया गया; समय:—वचन, प्रतिज्ञा; सकृत्—एक बार; अङ्ग-सङ्ग:—शारीरिक संयोग; भूयात्—होवे; गरीयसि—जब अत्यन्त यशस्वी; गुण:—सद्गुण; प्रसव:—सन्तान; सतीनाम्—पतिव्रता स्त्रियों का।

श्री देवहूति ने कहा—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, मेरे प्रिय पति, मैं जानती हूँ कि आपने सिद्धि प्राप्त कर ली है और समस्त अचूक योगशक्ति के स्वामी हैं, क्योंकि आप दिव्य प्रकृति योगमाया के संरक्षण में हैं। किन्तु आपने एक बार वचन दिया था कि अब हमारा शारीरिक संसर्ग होना चाहिए, क्योंकि तेजस्वी पति वाली साध्वी पत्नी के लिए सन्तान बहुत बड़ा गुण है।

तात्पर्य : देवहूति ने अपनी प्रसन्नता *बत* शब्द द्वारा व्यक्त की, क्योंकि वह जानती थी कि उसके पति अति उच्च दिव्य पद पर योगमाया की शरण में थे। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है कि महात्मा भौतिक शक्ति के वश में नहीं रहते। परमेश्वर की दो शक्तियाँ हैं—भौतिक तथा आत्मिक। जीवात्माएँ तटस्था शक्ति हैं। तटस्था शक्ति के अन्तर्गत मनुष्य भौतिक शक्ति या फिर आत्मिक शक्ति (योगमाया) के वश में होते हैं। कर्दम मुनि महात्मा थे, अत: वे योगमाया के वश में थे जिसका अर्थ है कि वे प्रत्यक्षत: परमेश्वर से सम्बन्धित थे। इसका लक्षण है कृष्णभावनामृत या निरन्तर भक्ति में लगे रहना। यह देवहूति को ज्ञात था, तो भी वह मुनि के शारीरिक संयोग (संभोग) से पुत्र-प्राप्ति चाहती थी। अत: उसने अपने माता-पिता को दिये गये वचन की याद दिलाई, ''मैं देवहूति के गर्भधारण काल तक रहूँगा।'' उसने याद दिलाई कि महापुरुष से सन्तान-लाभ करना साध्वी स्त्री के लिए अत्यन्त गौरवास्पद है। वह गर्भधारण करना चाहती थी, अत: उसके लिए विनती की। स्त्री शब्द का अर्थ है ''विस्तार।'' पति तथा पत्नी के कायिक संयोग से उनके गुणों का विस्तार होता है; अच्छे माता-पिता से उत्पन्न संतानें उनके व्यक्तिगत गुणों के ही विस्तार होती हैं। कर्दम मुनि तथा देवहूति दोनों को आत्मिक प्रकाश प्राप्त था, अत: देवहूति शुरू से ही चाह रही थी कि पहले वह गर्भ धारण करे तब उसे भगवत्कृपा तथा भगवत्प्रेम प्राप्त हो। स्त्री की सबसे बड़ी अभिलाषा यही होती है कि उसे पति के ही समान योग्य पुत्र की प्राप्ति हो। चूँकि उसे पति रूप में कर्दम मुनि प्राप्त थे, अत: वह संभोग द्वारा पुत्र के लिए इच्छुक थी।

तत्रेतिकृत्यमुपशिक्ष यथोपदेशं
येनैष मे कर्शितोऽतिरिंसयात्मा ।
सिद्ध्येत ते कृतमनोभवधर्षिताया
दीनस्तदीश भवनं सदृशं विचक्ष्व ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तत्र—उसमें; इति-कृत्यम्—जो करणीय था; उपशिक्ष—सम्पन्न करो; यथा—के अनुसार; उपदेशम्—शास्त्रों के उपदेश; येन—जिससे; एषः—यह; मे—मेरा; कर्शितः—क्षीण; अतिरिरं-सया—तीव्र कामेच्छा के तुष्ट न होने से; आत्मा—शरीर; सिद्ध्येत—उपयुक्त बन सकता है; ते—तुम्हारे लिए; कृत—उत्तेजित; मनः-भव—कामेच्छा से;

धर्षितायाः—पीड़ित; **दीनः**—दीन; **तत्**—अतः; **ईश**—हे भगवान्; **भवनम्**—घर; **सदृशम्**—उपयुक्त; **विचक्ष्व**—के विषय में सोचो।.

देवहूति ने आगे कहा—हे प्रभु, मैं कामवेदना से पीड़ित हो रही हूँ। अतः आप शास्त्रों के अनुसार जो भी व्यवस्था की जानी हो, करें जिससे कामेच्छा सन्तुष्ट न हो पाने से यह मेरा दुर्बल शरीर आपके योग्य हो जाय। हाँ, स्वामी, इस कार्य के लिए उपयुक्त घर के विषय में भी विचार करें।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य केवल शिक्षाओं से ही पूर्ण नहीं है, अपितु सिद्धि प्राप्त करने के उद्देश्य से भौतिक अस्तित्व के लिए करणीय के विषय में भी सहायक है। अतः देवहूति ने अपने पति से पूछा कि वैदिक शिक्षाओं के अनुसार विषयी जीवन के लिए वह किस प्रकार अपने को तैयार करे। विषयी जीवन का मुख्य उद्देश्य अच्छी सन्तान उत्पन्न करना है। अच्छी सन्तान उत्पन्न करने की परिस्थितियों का वर्णन कामशास्त्र में प्राप्त है। शास्त्रों में जिस-जिस वस्तु की आवश्यकता होती है, सब कुछ वर्णित है—कैसा घर हो, कैसी सजावट हो, पत्नी कैसा वस्त्र धारण करे, किस प्रकार उबटन, सुगंधि लगाए तथा अन्य हाव-भाव बनाए। ऐसा करने से पति उसकी सुन्दरता से आकृष्ट होगा और उपयुक्त मानसिक स्थिति तैयार हो सकेगी। तब संभोग-काल की यह मानसिक स्थिति पत्नी के गर्भ में स्थानान्तरित हो सकेगी और उस गर्भधारण से अच्छी सन्तान उत्पन्न हो सकती है। यहाँ पर देवहूति के शारीरिक वैशिष्ट्य का विशेष उल्लेख है। वह अत्यन्त कृशकाय हो गई थी, अतः उसे भय था कि हो सकता है, वह कर्दम को आकर्षक न लगे। वह जानना चाहती थी कि पति को आकर्षित करने के लिए शरीर को किस तरह सुधारे। जब संभोग काल में पति आकृष्ट होता है, तो पुत्र उत्पन्न हो सकता है, किन्तु जब पति पर पत्नी आकृष्ट होती है, तो कन्या उत्पन्न हो सकती है। इसका उल्लेख आयुर्वेद में है। जब स्त्री की कामेच्छा प्रबल होती है, तो कन्या के उत्पन्न होने की और जब पुरुष की कामेच्छा प्रबल हो तो पुत्र उत्पन्न होने की सम्भावना रहती है। देवहूति काम-शास्त्र में वर्णित व्यवस्था के अनुसार अपने पति की कामेच्छा को प्रबल बनाना चाह रही थी। वह ऐसी ही शिक्षा चाह रही थी। साथ ही उसने विनय की कि एक उपयुक्त घर की भी व्यवस्था हो,

क्योंकि जिस कुटी में कर्दम मुनि रह रहे थे वह अत्यन्त सादी और सत्त्वगुण से युक्त थी जिसमें कामेच्छा के उत्पन्न होने की सम्भावना कम थी।

मैत्रेय उवाच
प्रियायाः प्रियमन्विच्छन्कर्दमो योगमास्थितः ।
विमानं कामगं क्षत्तस्तर्ह्येवाविरचीकरत् ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—मैत्रेय मुनि ने; उवाच—कहा; प्रियायाः—अपनी प्रिय पत्नी की; प्रियम्—इच्छा, चाह; अन्विच्छन्—खोजते हुए; कर्दमः—कर्दम मुनि ने; योगम्—योगशक्ति; आस्थितः—प्रयोग किया; विमानम्—विमान; काम-गम्—इच्छानुसार चलने वाला; क्षत्तः—हे विदुर; तर्हि—तुरन्त; एव—ही; आविरचीकरत्—उत्पन्न किया।

मैत्रेय ने आगे कहा—हे विदुर, अपनी प्रिया की इच्छा को पूरा करने के लिए कर्दम मुनि ने अपनी योगशक्ति का प्रयोग किया और तुरन्त ही एक हवाई महल (विमान) उत्पन्न कर दिया जो उनकी इच्छानुसार यात्रा कर सकता था।

तात्पर्य : यहाँ पर *योगम् आस्थितः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। कर्दम मुनि योग में पूर्णतया सिद्ध थे। योगाभ्यास के फलस्वरूप आठ प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—योगी लघुतम से भी लघु, गुरुतम से भी गुरु एवं अत्यन्त हल्का हो सकता है। वह इच्छानुसार जो भी चाहे प्राप्त कर सकता है, चाहे तो लोक की सृष्टि कर दे, किसी पर भी अपना प्रभाव डाल दे इत्यादि। इस प्रकार योगसिद्धि प्राप्त की जाती है और इसी के बाद आत्म-जीवन की सिद्धि प्राप्त होती है। इस प्रकार अपनी इच्छानुसार अपनी प्राणप्रिया की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए वायु में प्रासाद खड़ा कर देना कर्दम मुनि के लिए कोई आश्चर्य की बात न थी। अत: उन्होंने तुरन्त ही प्रासाद (महल) उत्पन्न कर दिया, जिसका वर्णन अगले श्लोकों में हुआ है।

सर्वकामदुघं दिव्यं सर्वरत्नसमन्वितम् ।
सर्वर्द्ध्युपचयोदर्कं मणिस्तम्भैरुपस्कृतम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सर्व—समस्त; काम—इच्छाएँ; दुघम्—प्रदायक; दिव्यम्—आश्चर्यमय; सर्व-रत्न—सभी प्रकार की मणियों; समन्वितम्—से जटित; सर्व—समस्त; ऋद्धि—सम्पत्ति की; उपचय—वृद्धि; उदर्कम्—क्रमिक; मणि—बहुमूल्य रत्नों के; स्तम्भैः—ख भों से; उपस्कृतम्—सुशोभित।

यह सभी प्रकार के रत्नों से जटित, बहुमूल्य मणियों के ख भों से सुशोभित तथा

इच्छित फल प्रदान करने वाली विस्मयजनक संरचना (महल) थी। यह सभी प्रकार के साज-सामान तथा सम्पदा से सुसज्जित था, जो दिन-प्रति-दिन बढ़ने वाले थे।

तात्पर्य : कर्दम मुनि द्वारा सृजित प्रासाद ''हवाई किला'' कहा जा सकता है, किन्तु उन्होंने अपनी योगशक्ति से सचमुच वायु में बहुत बड़ा प्रासाद खड़ा कर दिया था। हम लोगों की कल्पना में हवाई किला असम्भव है, किन्तु यदि हम ठीक से विचार करें तो ऐसा असम्भव नहीं है। यदि श्रीभगवान् अनेक लोकों की सृष्टि कर सकते हैं, जो लाख-लाख हवाई किलों का वहन करते रहते हैं, तो क्या कर्दम जैसे सिद्ध योगी के लिए हवा में एक किला बनाना कठिन है ? इस किले को *सर्वकामदुघम्* अर्थात् ''इच्छित वस्तु को देने वाला'' कहा गया है। यह मणियों से पूर्ण था। यहाँ तक कि इसमें ख भे भी मोती तथा अन्य बहुमूल्य पत्थरों से बने थे। ये अमूल्य मणि तथा रत्न कभी क्षय होने वाले न थे, वरन् नित्यप्रति इनकी कान्ति बढ़ने वाली थी। हमने इस पृथ्वी पर भी ऐसे प्रासादों के बारे में सुना है। भगवान् श्रीकृष्ण ने सोलह हजार एक सौ आठ पत्नियों के लिए जो प्रासाद बनाये थे वे मणियों से जटित थे जिससे रात्रि में प्रकाश की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी।

दिव्योपकरणोपेतं सर्वकालसुखावहम् ।
पट्टिकाभिः पताकाभिर्विचित्राभिरलङ्कृतम् ॥ १४॥
स्रग्भिर्विचित्रमाल्याभिर्मञ्जुशिञ्जत्षडङ्घ्रिभिः ।
दुकूलक्षौमकौशेयैर्नानावस्त्रैर्विराजितम् ॥ १५॥

शब्दार्थ

दिव्य—विचित्र; उपकरण—सामग्री से; उपेतम्—युक्त; सर्व-काल—सभी ऋतुओं में; सुख-आवहम्—सुखदायक; पट्टिकाभिः—बंदनवारों से; पताकाभिः—पताकाओं से; विचित्राभिः—विभिन्न रंगों तथा धागों से; अलङ्कृतम्—सज्जित; स्रग्भिः—हारों से; विचित्र-माल्याभिः—आकर्षक पुष्पों से; मञ्जु—मधुर; शिञ्जत्—गुंजार करता; षट्-अङ्घ्रिभिः—भौरों से; दुकूल—महीन वस्त्र; क्षौम—लिनेन; कौशेयैः—रेशमी वस्त्र से; नाना—विविध; वस्त्रैः—पर्दों से; विराजितम्—शोभायमान।

यह प्रासाद (दुर्ग) सभी प्रकार की सामग्री से सुसज्जित था और यह सभी ऋतुओं में सुखदायक था। यह चारों ओर से पताकाओं, बन्दनवारों तथा नाना-विधिक रंगों की कला-कृतियों से सजाया गया था। यह आकर्षक पुष्पों के हारों से, जिससे मधुर गुंजार

करते भौंरे आकृष्ट हो रहे थे तथा लिनेन, रेशमी तथा अन्य तन्तुओं से बने पर्दों से शोभायमान था।

उपर्युपरि विन्यस्तनिलयेषु पृथक्पृथक् ।
क्षिप्तैः कशिपुभिः कान्तं पर्यङ्कव्यजनासनैः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

उपरि उपरि—एक के ऊपर एक; विन्यस्त—रखे हुए; निलयेषु—मंजिलों में; पृथक् पृथक्—अलग अलग; क्षिप्तैः—व्यवस्थित; कशिपुभिः—बिस्तरे (शय्या) से; कान्तम्—कमनीय; पर्यङ्क—पलंग; व्यजन—पंखे; आसनैः—आसनों (बैठने के स्थान, सीट) सहित।

यह प्रासाद शय्याओं, पलंगों, पंखों तथा आसनों से युक्त सात पृथक्-पृथक् मंजिलों (तल्लों) वाला होने से अत्यन्त मनोहर लग रहा था।

तात्पर्य : इस श्लोक से पता चलता है कि प्रासाद में कई मंजिलें थीं। *उपरि उपरि विन्यस्त* शब्द सूचित करते हैं कि गगनचुम्बी भवन नये ईजाद नहीं हैं। उन दिनों लाखों वर्ष पूर्व भी कई मंजिलो के मकान बनाने का प्रचलन था। उनमें एक या दो कमरे नहीं थे वरन् अनेक खण्ड होते थे और प्रत्येक कुशन, गद्दों, कुर्सियों, गलीचों से सज्जित होते थे।

तत्र तत्र विनिक्षिप्तनानाशिल्पोपशोभितम् ।
महामरकतस्थल्या जुष्टं विद्रुमवेदिभिः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

तत्र तत्र—जहाँ तहाँ; विनिक्षिप्त—रखे हुए; नाना—विविध; शिल्प—कला-कृतियों से; उपशोभितम्—अत्यधिक सुन्दर; महा-मरकत—विशाल मरकत (पन्ना) के; स्थल्या—फर्श से; जुष्टम्—सुसज्जित; विद्रुम—मूँगे के; वेदिभिः—उठे हुए (ऊँचे) चबूतरों से।

दीवालों में जहाँ तहाँ कलापूर्ण संरचना होने से उनकी सुन्दरता बढ़ गई थी। उसकी फर्श मरकत मणि की थी और चबूतरे मूँगे के बने थे।

तात्पर्य : आजकल के मनुष्य को स्थापत्यकला पर गर्व है फिर भी फर्शें सामान्यतः रंगीन सीमेंट से बनी रहती हैं। किन्तु कर्दममुनि ने योगशक्ति से जिस प्रासाद का निर्माण किया था उसकी फर्श पन्ने की थी और चबूतरे मूँगे के थे।

द्वाःसु विद्रुमदेहल्या भातं वज्रकपाटवत् ।
शिखरेष्विन्द्रनीलेषु हेमकुम्भैरधिश्रितम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

द्वाःसु—द्वारों पर; विद्रुम—मूँगे की; देहल्या—देहली से युक्त; भातम्—सुन्दर; वज्र—हीरों से जटित; कपाट-वत्—दरवाजों से युक्त; शिखरेषु—गुम्बदों पर; इन्द्र-नीलेषु—इन्द्र नीलमणि के; हेम-कुम्भैः—सोने के कलशों से युक्त; अधिश्रितम्—रखे हुए।

वह महल अतीव सुन्दर था, उसके द्वारों की देहलियाँ मूँगे की थीं और दरवाजे हीरों से जटित थे। इन्द्र नीलमणि के बने गुम्बदों पर सोने के कलश रखे हुए थे।

चक्षुष्मत्पद्मरागाछ्यैर्वज्रभित्तिषु निर्मितैः ।
जुष्टं विचित्रवैतानैर्महार्हैर्हेमतोरणैः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

चक्षुः-मत्—मानो आँखों से युक्त हो; पद्म-राग—लालमणि, माणिक; अछ्यैः—चुने हुए; वज्र—हीरे की; भित्तिषु—दीवालों पर; निर्मितैः—जड़े हुए; जुष्टम्—सुसज्जित; विचित्र—तरह तरह के; वैतानैः—वितानों (चँदोवों) से; महा-अर्हैः—अत्यन्त बहुमूल्य; हेम-तोरणैः—सोने के तोरणों (द्वारों) से।

वह हीरों की दीवालों में जड़े हुए मनभावने माणिक से ऐसा प्रतीत होता था मानो नेत्रों से युक्त हो। वह विचित्र चँदोवों और अत्यधिक मूल्यवान सोने के तोरणों से सुसज्जित था।

तात्पर्य : ऐसे कलापूर्ण आभूषण और सजावट, जिससे आँखों जैसी आकृति प्रकट हो, काल्पनिक नहीं हैं। यहाँ तक कि अर्वाचीन वर्षों में मुगल सम्राटों ने बहुमूल्य हीरे-मोतियों की पच्चीकारी वाले पक्षी, जिनके नेत्र बहुमूल्य प्रस्तरों के बने थे, निर्मित कराये थे। यद्यपि अधिकारियों ने इन प्रस्तरों को निकाल लिया है, किन्तु तो भी नई दिल्ली के मुगल सम्राटों द्वारा निर्मित किलों में पच्चीकारी अब भी विद्यमान है। शाही महलों का निर्माण मणियों तथा नेत्र के समान दुर्लभ पत्थरों से हुआ था कि इस प्रकार इनसे रात्रि के समय प्रकाश फेंक सकें और दीपकों की आवश्यकता नहीं रहेगी।

हंसपारावतव्रातैस्तत्र तत्र निकूजितम् ।
कृत्रिमान्मन्यमानैः स्वानधिरुह्याधिरुह्य च ॥ २० ॥

शब्दार्थ

हंस—हंसों के; पारावत—कबूतरों के; व्रातैः—झुंड के झुंड से; तत्र तत्र—इधर उधर; निकूजितम्—शोर करते; कृत्रिमान्—कृत्रिम; मन्यमानैः—सोचते हुए; स्वान्—अपनी तरह के; अधिरुह्य अधिरुह्य—बार-बार उड़कर; च—तथा।

उस प्रासाद में जहाँ तहाँ जीवित हंसों तथा कबूतरों के साथ ही कृत्रिम हंस तथा कबूतर इतने सजीव थे कि असली हंस उन्हें अपने ही तुल्य सजीव पक्षी समझ कर अपनी गर्दनें ऊपर उठा रहे थे। इस प्रकार वह प्रासाद इन पक्षियों के ध्वनियों से गूँज रहा था।

विहारस्थानविश्रामसंवेशप्राङ्गणाजिरैः ।
यथोपजोषं रचितैर्विस्मापनमिवात्मनः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

विहार-स्थान—क्रीड़ा-स्थल; विश्राम—आराम करने के कक्ष; संवेश—शयनगृह; प्राङ्गण—आँगन; अजिरैः—बाहरी खुला स्थान, चौक; यथा-उपजोषम्—सुविधानुसार; रचितैः—निर्मित; विस्मापनम्—विस्मय उत्पन्न करने वाले; इव—निस्सन्देह; आत्मनः—स्वयं (कर्दम द्वारा)।

उस प्रासाद में क्रीड़ास्थल, विश्रामघर, शयनगृह, आँगन तथा चौकें थीं जो नेत्रों को सुख देने वाली थीं। इन सबसे स्वयं मुनि को विस्मय हो रहा था।

तात्पर्य : साधु-संत पुरुष होने के कारण कर्दम मुनि एक सादी झोपड़ी में रह रहे थे, अतः जब उन्होंने अपनी योगशक्ति से निर्मित प्रासाद को देखा जिसमें विश्रामगृह, काम-क्रीड़ा के कक्ष तथा भीतरी एवं बाहरी आँगन थे, तो वे स्वयं विस्मित हुए। देव-तुल्य पुरुष का यही ढंग है। कर्दम मुनि जैसे भक्त ने अपनी पत्नी की विनती पर अपनी योगशक्ति से जितना ऐश्वर्य प्रदर्शित किया उस पर स्वयं उन्हें आश्चर्य हो रहा था। जब योगी की शक्ति प्रदर्शित होती है, तो कभी-कभी योगी स्वयं विस्मित हो जाता है।

ईदृग्गृहं तत्पश्यन्तीं नातिप्रीतेन चेतसा ।
सर्वभूताशयाभिज्ञः प्रावोचत्कर्दमः स्वयम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

ईदृक्—ऐसे; गृहम्—घर को; तत्—वह; पश्यन्तीम्—देखती हुई; न अतिप्रीतेन—अधिक प्रसन्न नहीं हुई; चेतसा—हृदय से; सर्व-भूत—प्रत्येक प्राणी के; आशय-अभिज्ञः—हृदय को जानते हुए; प्रावोचत्—सम्बोधित किया; कर्दमः—कर्दम ने; स्वयम्—स्वयं।

जब उन्होंने देखा कि देवहूति इतने विशाल, ऐश्वर्ययुक्त प्रासाद (भवन) को अप्रसन्न हृदय से देख रही है, तो कर्दम मुनि को उसकी भावनाओं का पता चला, क्योंकि वे

किसी के हृदय की बात जान सकते थे। अत: उन्होंने अपनी पत्नी को स्वयं ही इस प्रकार सम्बोधित किया।

तात्पर्य : देवहूति ने अपने देह की परवाह किये बिना कुटी में ही दीर्घकाल बिताया था। वह धूल-धूसरित थी और उसके वस्त्र भी बहुत अच्छे न थे। कर्दम मुनि को आश्चर्य हो रहा था कि उन्होंने ऐसा प्रसाद कैसे निर्मित कर दिया और उनकी पत्नी देवहूति भी उसी तरह विस्मित थी। वह भला ऐसे प्रासाद में कैसे रहती? कर्दम मुनि को उसके आश्चर्य का पता चल गया इसीलिए वे इस प्रकार बोले।

निमज्ज्यास्मिन्ह्रदे भीरु विमानमिदमारुह ।
इदं शुक्लकृतं तीर्थमाशिषां यापकं नृणाम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

निमज्ज्य—स्नान करके; अस्मिन्—इसमें; ह्रदे—सरोवर में; भीरु—अरे डरपोक; विमानम्—विमान में; इदम्—इस; आरुह—चढ़ जाओ; इदम्—यह; शुक्ल-कृतम्—भगवान् विष्णु द्वारा निर्मित; तीर्थम्—पवित्र सरोवर; आशिषाम्—इच्छाओं को; यापकम्—देते हुए; नृणाम्—मनुष्यों की।

प्रिये देवहूति, तुम इतनी भयभीत क्यों हो? पहले स्वयं भगवान् विष्णु द्वारा निर्मित बिन्दु-सरोवर में स्नान करो, जो मनुष्य की समस्त इच्छाओं को पूरा करने वाला है और तब इस विमान पर चढ़ो।

तात्पर्य : आज भी तीर्थस्थानों में जाकर वहाँ जल में स्नान करने की प्रथा है। वृन्दावन में लोग यमुना नदी में स्नान करते हैं। अन्य स्थानों में भी, यथा प्रयाग में लोग गंगा नदी में स्नान करते हैं। *तीर्थम् आशिषां यापकम्* शब्द तीर्थस्थानों में स्नान करने से मनोवांछित फल प्राप्त होने का संकेत करते हैं। कर्दम मुनि ने अपनी पत्नी को बिन्दु-सरोवर में स्नान करने के लिए कहा जिससे वह अपना पूर्व शारीरिक सौन्दर्य तथा कान्ति प्राप्त कर सके।

सा तद्भर्तुः समादाय वचः कुवलयेक्षणा ।
सरजं बिभ्रती वासो वेणीभूतांश्च मूर्धजान् ॥ २४॥

शब्दार्थ

सा—वह; तत्—तब; भर्तुः—अपने पति का; समादाय—स्वीकार करके; वचः—शब्द; कुवलय-ईक्षणा—कमल के समान नेत्र वाली; स-रजम्—मैली-कुचैली; बिभ्रती—पहने हुए; वासः—वस्त्र; वेणी-भूतान्—जटा तुल्य लटें; च—तथा; मूर्ध-जान्—बाल।

कमललोचना देवहूति ने अपने पति की आज्ञा मान ली। मैले-कुचैले वस्त्रों तथा सिर पर बालों के जटों के कारण वह आकर्षक नहीं दिख रही थी।

तात्पर्य : ऐसा लगता है कि देवहूति के बाल वर्षों से सँवारे नहीं गये थे जिससे उसमें जटें पड़ गई थीं। कहने का तात्पर्य यह कि अपने पति की सेवा में व्यस्त रहने के कारण उसने अपने शारीरिक वस्त्र तथा सुख-सुविधा की तनिक परवाह नहीं की थी।

अङ्गं च मलपङ्केन सञ्छन्नं शबलस्तनम् ।
आविवेश सरस्वत्याः सरः शिवजलाशयम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

अङ्गम्—शरीर; च—तथा; मल-पङ्केन—धूल से; सञ्छन्नम्—ढकी; शबल—विवर्ण, कान्तिहीन; स्तनम्—वक्षस्थल; आविवेश—प्रवेश किया; सरस्वत्याः—सरस्वती नदी के; सरः—सरोवर झील; शिव—पवित्र; जल—जल; आशयम्—युक्त।

उसके शरीर पर धूल की मोटी पर्त चढ़ी थी और उसके स्तन कान्तिहीन हो गये थे। किन्तु उसने सरस्वती नदी के पवित्र जल से भरे सरोवर में डुबकी लगाई।

सान्तः सरसि वेश्मस्थाः शतानि दश कन्यकाः ।
सर्वाः किशोरवयसो ददर्शोत्पलगन्धयः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सा—उसने; अन्तः—भीतर; सरसि—सरोवर में; वेश्म-स्थाः—घर में स्थित; शतानि दश—एक हजार; कन्यकाः—कन्याएँ; सर्वाः—समस्त; किशोर-वयसः—किशोर अवस्था की; ददर्श—देखा; उत्पल—कमलों के समान; गन्धयः—सुगन्धित।

उसने सरोवर के भीतर एक घर में एक हजार कन्याएँ देखीं जो सब की सब अपनी किशोरावस्था में थीं और कमलों के समान सुगन्धित थीं।

तां दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रोचुः प्राञ्जलयः स्त्रियः ।
वयं कर्मकरीस्तुभ्यं शाधि नः करवाम किम् ॥ २७ ॥

शब्दार्थ

ताम्—उसको; दृष्ट्वा—देखकर; सहसा—एकाएक; उत्थाय—उठकर; प्रोचुः—उन्होंने कहा; प्राञ्जलयः—हाथ जोड़े; स्त्रियः—स्त्रियाँ; वयम्—हम; कर्म-करीः—दासियाँ; तुभ्यम्—तुम्हारे लिए; शाधि—कृपा करके कहो; नः—हमको; करवाम—हम कर सकती हैं; किम्—क्या।

उसे देखकर वे तरुणियाँ सहसा उठ खड़ी हुईं और हाथ जोड़कर कहा, "हम आपकी दासी हैं। कृपा करके बताएँ कि हम आपके लिए क्या करें?"

तात्पर्य : जब उस बड़े प्रासाद में मैले वस्त्र पहने देवहूति सोच रही थी कि वह क्या करे तो कर्दम मुनि ने अपनी योगशक्ति से एक हजार दासियाँ सेवा करने के लिए उत्पन्न कर दीं। वे जल के भीतर देवहूति के समक्ष प्रकट हुईं और दासियों के रूप में आज्ञा के लिए प्रतीक्षा करने लगीं।

स्नानेन तां महार्हेण स्नापयित्वा मनस्विनीम् ।
दुकूले निर्मले नूत्ने ददुरस्यै च मानदाः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

स्नानेन—नहाने के तेल से; ताम्—उसको; महा-अर्हेण—बहूमूल्य; स्नापयित्वा—स्नान कराकर; मनस्विनीम्—सच्चरित्र पत्नी को; दुकूले—सुन्दर वस्त्र में; निर्मले—स्वच्छ; नूत्ने—नवीन; ददुः—दिया; अस्यै—उसको; च—तथा; मान-दाः—सम्मान करने वाली।

देवहूति के प्रति अत्यन्त सम्मान प्रदर्शित करने वाली कन्याएँ उसे बाहर लाईं और बहुमूल्य तेलों तथा उबटनों को लगाकर नहलाया और उसे महीन, निर्मल, नये वस्त्र पहनने को दिये।

भूषणानि परार्ध्यानि वरीयांसि द्युमन्ति च ।
अन्नं सर्वगुणोपेतं पानं चैवामृतासवम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

भूषणानि—आभूषण; पर-अर्ध्यानि—अत्यन्त मूल्यवान; वरीयांसि—श्रेष्ठ; द्युमन्ति—चमकीले; च—तथा; अन्नम्—भोजन; सर्व-गुण—समस्त सद्गुण; उपेतम्—से युक्त; पानम्—पेय पदार्थ; च—तथा; एव—भी; अमृत—मधुर; आसवम्—मादक।

तब उन्होंने उसे उत्तम तथा बहुमूल्य आभूषणों से सजाया जो चमचमा रहे थे। फिर उन्होंने सर्वगुण सम्पन्न भोजन तथा मधुर मादक पेय पदार्थ आसवम् प्रदान किया।

तात्पर्य : आसव एक आयुर्वेदिक भेषज है, यह मद्य नहीं है। यह विशेष प्रकार की औषधियों से तैयार किया जाता है और स्वस्थ रहने, पाचन आदि सुधारने के लिए होता है।

अथादर्शे स्वमात्मानं स्रग्विणं विरजाम्बरम् ।
विरजं कृतस्वस्त्ययनं कन्याभिर्बहुमानितम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

अथ—तब; आदर्शे—दर्पण में; स्वम् आत्मानम्—अपने प्रतिबिम्ब को; स्रक्-विणम्—माला से सजी; विरज—निर्मल; अम्बरम्—वस्त्र; विरजम्—मलरहित; कृत-स्वस्ति-अयनम्—शुभ-चिह्नों से अलंकृत; कन्याभिः—दासियों द्वारा; बहु-मानितम्—अत्यन्त आदरपूर्वक सेवित।

तब उसने दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखा। उसका शरीर समस्त प्रकार के मल से रहित हो गया था और वह माला से सज्जित की गई थी। वह निर्मल वस्त्र पहने थी और शुभ तिलक से विभूषित थी। दासियाँ उसकी अत्यन्त आदरपूर्वक सेवा कर रही थीं।

स्नातं कृतशिरःस्नानं सर्वाभरणभूषितम् ।
निष्कग्रीवं वलयिनं कूजत्काञ्चननूपुरम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

स्नातम्—स्नान किये; कृत-शिरः—सिर सहित; स्नानम्—नहाते हुए; सर्व—सर्वत्र; आभरण—आभूषणों से; भूषितम्—अलंकृत; निष्क—लटकन से युक्त सोने का गले का हार; ग्रीवम्—गर्दन में; वलयिनम्—चूड़ियों से; कूजत्—ध्वनि करते; काञ्चन—सोने के बने; नूपुरम्—पायल।

सिर सहित उसका सारा शरीर नहलाया गया और उसके अंग-प्रत्यंग को आभूषणों से सजाया गया। उसने लटकन से युक्त हार (हार-हुमेल) पहना था। उसकी कलाइयों में चूड़ियाँ थीं और उसकी एड़ियों में सोने के खनकते पायल थे।

तात्पर्य : यहाँ *कृत-शिरः-स्नानम्* शब्द आया है। स्मृति शास्त्र में नित्यकर्मों में जो निर्देश दिये गये हैं उनमें स्त्रियों को प्रतिदिन गर्दन तक स्नान करने की अनुमति है। प्रतिदिन सिर के बालों को धोने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि बाल गीले रहने से ठंड पकड़ सकती है। अत: सामान्य रूप से स्त्रियों को गले तक स्नान करने का विधान है और कुछ विशेष अवसरों पर ही वे पूर्ण स्नान करती हैं। इस अवसर पर देवहूति ने पूर्ण स्नान किया और अपने केशों को ठीक से धोया। जब स्त्री सामान्य स्नान करती है, तो उसे *मल-स्नान* कहते हैं, किन्तु जब वह सिर समेत पूर्ण स्नान करती है, तो उसे *शिर-स्नान* कहते हैं। ऐसे अवसर पर सिर में लगाने के लिए काफी तेल लगता है। स्मृतिशास्त्र के टीकाकारों का यही आदेश है।

**श्रोण्योरध्यस्तया काञ्च्या काञ्चन्या बहुरत्नया ।
हारेण च महार्हेण रुचकेन च भूषितम् ॥ ३२ ॥**

शब्दार्थ

श्रोण्योः—कटि-भाग पर; अध्यस्तया—पहने हुए; काञ्च्या—करधनी से; काञ्चन्या—सोने की; बहु-रत्नया—अनेक रत्नों से भूषित; हारेण—मोती के हार से; च—तथा; महा-अर्हेण—बहुमूल्य; रुचकेन—शुभ समाग्रियों से; च—तथा; भूषितम्—सज्जित।

उसने कमर में अनेक रत्नों से जटित सोने की करधनी पहन रखी थी; वह बहुमूल्य मोतियों के हार तथा मंगल-द्रव्यों से सुसज्जित थी।

तात्पर्य : मंगल-द्रव्यों में केसर, कुमकुम तथा चन्दन का लेप सम्मिलित हैं। नहाने के पूर्व अन्य पदार्थ भी समूचे शरीर में मले जाते हैं यथा सरसों के तेल के साथ हल्दी। देवहूति को ऊपर से नीचे तक नहलाने के लिए सभी प्रकार की मंगल वस्तुएँ प्रयुक्त की गईं।

**सुदता सुभ्रुवा श्लक्ष्णस्निग्धापाङ्गेन चक्षुषा ।
पद्मकोशस्पृधा नीलैरलकैश्च लसन्मुखम् ॥ ३३ ॥**

शब्दार्थ

सुदता—सुन्दर दाँतों वाली; सु-भ्रुवा—मनोहर भौहों वाली; श्लक्ष्ण—सुन्दर; स्निग्ध—गीली; अपाङ्गेन—तिरछी चितवन से; चक्षुषा—आँखों से; पद्म-कोश—कमल की कलियाँ; स्पृधा—परास्त करने वाली; नीलैः—नीली-नीली; अलकैः—घुँघराले बाल से; च—तथा; लसत्—चमकती हुई; मुखम्—मुख।

उसका मुखमण्डल सुन्दर दाँतों तथा मनोहर भौहों से चमक रहा था। उसके नेत्र सुन्दर स्निग्ध कोरों से स्पष्ट दिखाई पड़ने के कारण कमल कली की शोभा को मात करते थे। उसका मुख काले घुँघराले बालों से घिरा हुआ था।

तात्पर्य : वैदिक संस्कृति के अनुसार श्वेत दाँतों को अत्यधिक पसन्द किया जाता है। देवहूति के श्वेत दाँतों से उसके मुख की सुन्दरता बढ़ गई और वह कमल पुष्प के समान दिखने लगा। जब मुख अत्यन्त आकर्षक लगता है, तो नेत्रों की तुलना कमलदलों से और मुख की उपमा कमल पुष्प से दी जाती है।

**यदा सस्मार ऋषभमृषीणां दयितं पतिम् ।
तत्र चास्ते सह स्त्रीभिर्यत्रास्ते स प्रजापतिः ॥ ३४॥**

शब्दार्थ

यदा—जब; सस्मार—स्मरण किया; ऋषभम्—अग्रगण्य; ऋषीणाम्—ऋषियों में; दयितम्—प्रिय; पतिम्—पति; तत्र—वहाँ; च—तथा; आस्ते—उपस्थित थी; सह—साथ; स्त्रीभिः—दासियों के; यत्र—जहाँ; आस्ते—उपस्थित था; सः—वह; प्रजापतिः—प्रजापति (कर्दम)।

जब उसने ऋषियों में अग्रगण्य अपने परम प्रिय पति कर्दम मुनि का स्मरण किया, तो वह अपनी समस्त दासियों सहित वहाँ प्रकट हो गई जहाँ मुनि थे।

तात्पर्य : इस श्लोक से लगता है कि प्रारम्भ में देवहूति अपने को मैली-कुचैली समझकर बेढंगे वस्त्र धारण किये थी। जब उसके पति ने सरोवर में प्रवेश करने के लिए कहा तो उसे दासियाँ दिखीं जिन्होंने उसकी देखभाल की। यह सब जल के भीतर हुआ और ज्योंही उसने अपने प्रिय पति कर्दम मुनि का स्मरण किया, तो तुरन्त ही वह उनके समक्ष उपस्थित हो गई। ये कुछ शक्तियाँ हैं, जिन्हें सिद्ध योगी प्राप्त करते हैं। वे इच्छानुसार कुछ भी कर सकते हैं।

भर्तुः पुरस्तादात्मानं स्त्रीसहस्रवृतं तदा ।
निशाम्य तद्योगगतिं संशयं प्रत्यपद्यत ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

भर्तुः—अपने पति की; पुरस्तात्—उपस्थिति में, समक्ष; आत्मानम्—स्वयं को; स्त्री-सहस्र—एक हजार दासियों से; वृतम्—घिरी; तदा—तब; निशाम्य—देखकर; तत्—उसका; योग-गतिम्—योगशक्ति; संशयम् प्रत्यपद्यत—वह चकित हुई।

अपने पति की उपस्थिति में अपने चारों ओर एक हजार दासियाँ और पति की योगशक्ति देखकर वह अत्यन्त चकित थी।

तात्पर्य : देवहूति ने प्रत्येक वस्तु को चमत्कारिक ढंग से होते देखा, किन्तु जब उसे पति के समक्ष लाया गया तो उसकी समझ में आया कि यह सब उनकी योगशक्ति से हुआ। वह समझ गई कि कर्दम मुनि जैसे योगी के लिए कुछ भी करना असम्भव नहीं है।

स तां कृतमलस्नानां विभ्राजन्तीमपूर्ववत् ।
आत्मनो बिभ्रतीं रूपं संवीतरुचिरस्तनीम् ॥ ३६ ॥
विद्याधरीसहस्रेण सेव्यमानां सुवाससम् ।
जातभावो विमानं तदारोहयदमित्रहन् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

सः—मुनि; ताम्—उसको (देवहूति को); कृत-मल-स्नानाम्—स्वच्छ स्नान किये हुए; विभ्राजन्तीम्—चमकती हुई; अपूर्व-वत्—अतुलनीय; आत्मनः—उसका निजी; बिभ्रतीम्—से युक्त; रूपम्—सौंदर्य; संवीत—कसे हुए; रुचिर—मोहक; स्तनीम्—वक्षस्थलों वाली; विद्याधरी—गंधर्वकुमारियों से; सहस्रेण—एक हजार; सेव्यमानाम्—सेवित; सु-वाससम्—श्रेष्ठ वस्त्रों से युक्त; जात-भावः—भाव से विभोर; विमानम्—प्रासाद जैसा विमान; तत्—उस; आरोहयत्—उसे चढ़ा लिया; अमित्र-हन्—हे शत्रुओं के नाशकर्ता।

मुनि ने देखा कि देवहूति ने स्नान कर लिया है और चमक रही है मानो वह उनकी पहले वाली पत्नी नहीं है। उसने राजकुमारी जैसा अपना पूर्व सौन्दर्य पुनः प्राप्त कर लिया था। वह श्रेष्ठ वस्त्रों से आच्छादित सुन्दर वक्षस्थलों वाली थी। उसकी आज्ञा के लिए एक हजार गंधर्व कन्याएँ खड़ी थीं। हे शत्रुजित, मुनि को उसकी चाह उत्पन्न हुई और उन्होंने उसे हवाई-प्रासाद में चढ़ा लिया।

तात्पर्य : विवाह के पूर्व जब देवहूति अपने माता-पिता के साथ कर्दम मुनि के समक्ष आई थी तो वह अत्यन्त सुन्दरी राजकुमारी थी। कर्दम मुनि को उसके पूर्व सौन्दर्य का स्मरण था। किन्तु ब्याह के बाद वह मुनि की सेवा में तल्लीन हो गई और उसने अपने शरीर की परवाह न की, क्योंकि कोई साधन नहीं था। वह पति के साथ कुटी में रहकर उसकी सेवा में लगी रहती थी, जिससे उसका राजसी सौन्दर्य जाता रहा और वह एक सामान्य दासी की तरह लगने लगी थी। जब कर्दम मुनि की आज्ञा से गंधर्व कुमारियों ने उसे स्नान कराया तो उसे पूर्ववत् सौन्दर्य प्राप्त हो गया जिससे कर्दम मुनि उससे आकृष्ट हुए। तरुणी का वास्तविक सौन्दर्य उसके स्तनों में है। जब कर्दम मुनि ने अपनी पत्नी के अलंकृत स्तनों को देखा, जिससे उसका सौंदर्य कई गुना बढ़ा हुआ था, तो एक महान् मुनि होते हुए भी वे आकर्षित हो गये। अतः श्रीपाद शंकराचार्य ने दिव्य ज्ञानियों को सचेत किया कि जो दिव्य-साक्षात्कार के लिए तत्पर रहते हैं उन्हें स्त्रियों के उन्नत स्तनों से आकृष्ट नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे शरीर के भीतर चर्बी तथा रक्त की अन्तःक्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं।

तस्मिन्नलुप्तमहिमा प्रिययानुरक्तो
विद्याधरीभिरुपचीर्णवपुर्विमाने ।
बभ्राज उत्कचकुमुद्गणवानपीच्य-
स्ताराभिरावृत इवोडुपतिर्नभःस्थः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उसमें; अलुप्त—बिना खोये हुए; महिमा—यश; प्रियया—अपनी प्रियतमा के साथ; अनुरक्तः—लुब्ध; विद्याधरीभिः—गंधर्व कन्याओं से; उपचीर्ण—सेवित; वपुः—शरीर; विमाने—विमान में; बभ्राज—चमकता था; उत्कच—खुला; कुमुत्-गणवान्—चन्द्रमा जिससे कुमुदिनियाँ खिलती हैं; अपीच्यः—अत्यन्त आकर्षक; ताराभिः—तारागणों से; आवृतः—घिरा हुआ; इव—जिस प्रकार; उडु-पतिः—चन्द्रमा (नक्षत्रों में मुख्य); नभः-स्थः—आकाश में।

अपनी प्रिया पर अत्यधिक अनुरक्त रहने तथा गंधर्व-कन्याओं द्वारा सेवित होने पर भी मुनि की महिमा कम नहीं हुई, क्योंकि उनको अपने पर नियंत्रण प्राप्त था। उस हवाई-प्रासाद में कर्दम मुनि अपनी प्रिया के साथ इस प्रकार सुशोभित हो रहे थे मानो आकाश में नक्षत्रों के बीच चन्द्रमा हो, जिससे रात्रि में जलाशयों में कुमुदिनियाँ खिलती हैं।

तात्पर्य : चूँकि प्रासाद आकाश में था, अतः इस श्लोक में पूर्ण चन्द्रमा तथा नक्षत्रों से दी गई उपमा अत्यन्त सुन्दर है। कर्दम मुनि पूर्ण चन्द्रमा के समान लग रहे थे और उनकी पत्नी देवहूति के चारों ओर एकत्र कन्याएँ नक्षत्रों के समान थीं। पूर्णिमा की रात्रि में नक्षत्र तथा चन्द्रमा मिलकर सुन्दर नक्षत्र-समूह की रचना करते हैं; उसी तरह आकाश स्थित उस प्रासाद में कर्दम मुनि गंधर्व कन्याओं से घिरी अपनी सुन्दर पत्नी के साथ चन्द्रमा तथा नक्षत्रों के समान प्रतीत हो रहे थे।

तेनाष्टलोकपविहारकुलाचलेन्द्र-
द्रोणीष्वनङ्गसखमारुतसौभगासु ।
सिद्धैर्नुतो द्युधुनिपातशिवस्वनासु
रेमे चिरं धनदवल्ललनावरूथी ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

तेन—उस विमान से; अष्ट-लोक-प—आठों स्वर्गलोकों के मुख्य देवताओं का; विहार—भ्रमणस्थली; कुल-अचल-इन्द्र—पर्वतों के राजा (मेरु) की; द्रोणीषु—घाटियों में; अनङ्ग—कामदेव का; सख—साथी; मारुत—वायु से; सौभगासु—सुन्दर; सिद्धैः—सिद्धों के द्वारा; नुतः—प्रशंसित; द्यु-धुनि—गंगा की; पात—गिरने की; शिव-स्वनासु—मंगलध्वनि से हिलती; रेमे—सुख भोगा; चिरम्—दीर्घकाल तक; धनद-वत्—कुबेर के समान; ललना—कन्याओं से; वरूथी—घिरे हुए।

उस हवाई-प्रासाद में आरूढ़ हो वे मेरु पर्वत की सुखद घाटियों में भ्रमण करते रहे जो शीतल, मन्द तथा सुगन्ध वायु से अधिक सुन्दर होकर कामवासना को उत्तेजित

करनेवाली थी। इन घाटियों में देवताओं का धनपति कुबेर सुन्दरियों से घिरा रहकर और सिद्धों द्वारा प्रशंसति होकर आनन्द लाभ उठाता है। कर्दम मुनि भी अपनी पत्नी तथा उन सुन्दर कन्याओं से घिरे हुए वहाँ गये और अनेक वर्षों तक सुख-भोग किया।

तात्पर्य : कुबेर उन आठ देवताओं में से एक हैं, जो ब्रह्माण्ड की विभिन्न दिशाओं के स्वामी हैं। कहा जाता है कि इन्द्र ब्रह्माण्ड की पूर्व दिशा के स्वामी हैं, जिधर स्वर्ग स्थित है। इसी प्रकार अग्नि आग्नेय दिशा (दक्षिण-पूर्व) के स्वामी हैं। पापियों को दण्ड देने वाले यम दक्षिण दिशा के और निर्ऋति नैऋत्य दिशा (दक्षिण-पश्चिम) के स्वामी है। जल के स्वामी वरुण पश्चिम दिशा के स्वामी हैं तथा हवा को वश में रखने वाले तथा पंखों से उड़ने वाले वायु वायव्य (उत्तर-पश्चिम) दिशा के स्वामी हैं। देवताओं के कोषाध्यक्ष कुबेर ब्रह्माण्ड की उत्तर दिशा के स्वामी हैं। ये सारे देवता सूर्य तथा पृथ्वी के मध्य कहीं पर स्थित मेरुपर्वत की घाटी में आनन्द मनाते हैं। कर्दम मुनि ने इस हवाई प्रासाद में आठों दिशाओं की यात्रा की जिसका नियन्त्रण विभिन्न देवता करते हैं। देवताओं की भाँति वे भी मेरु पर्वत में विहार करने गये। जब कोई मनुष्य तरुणी सुन्दरियों से घिरा हो तो कामवासना का जागृत होना स्वाभाविक है। कर्दम मुनि को भी उत्तेजना हुई और वे वर्षों तक वहीं अपनी पत्नी के साथ विहार करते रहे। किन्तु उनके इस काम-व्यापार की सिद्धों ने प्रशंसा की, क्योंकि विश्व-कल्याण के लिए एक उत्तम संतान की आवश्यकता थी।

वैश्रम्भके सुरसने नन्दने पुष्पभद्रके ।
मानसे चैत्ररथ्ये च स रेमे रामया रतः ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

वैश्रम्भके—वैश्रम्भक उद्यान में; सुरसने—सुरसन में; नन्दने—नन्दन में; पुष्पभद्रके—पुष्पभद्रक में; मानसे—मानसरोवर के तट पर; चैत्ररथ्ये—चैत्रपथ में; च—तथा; सः—वह; रेमे—भोग करता रहा; रामया—अपनी पत्नी से; रतः—तुष्ट।

अपनी पत्नी से संतुष्ट होकर वे उस विमान में न केवल मेरु पर्वत पर ही वरन् वैश्रम्भक, सुरसन, नन्दन, पुष्पभद्रक तथा चैत्ररथ्या में और मानसरोवर के तट पर भी विहार करते रहे।

भ्राजिष्णुना विमानेन कामगेन महीयसा ।
वैमानिकानत्यशेत चरँल्लोकान्यथानिलः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

भ्राजिष्णुना—कान्तिमान; **विमानेन**—विमान से; **काम-गेन**—इच्छानुसार उड़ने वाला; **महीयसा**—अत्यधिक; **वैमानिकान्**—अपने विमान में स्थित देवतागण; **अत्यशेत**—आगे बढ़ गया; **चरन्**—यात्रा करते हुए; **लोकान्**—लोकों से होकर; **यथा**—जिस प्रकार; **अनिलः**—वायु।

वे रास्ते में विभिन्न लोकों से होकर उसी तरह यात्रा करते रहे जिस प्रकार वायु प्रत्येक दिशा में अबाध रूप से चलती रहती है। उसी महान् तथा कान्तिमान हवाई-प्रासाद में, जो उनकी इच्छानुसार उड़ सकता था, बैठकर वे देवताओं से बाजी मार ले गये।

तात्पर्य : देवताओं द्वारा निवसित लोक अपनी-अपनी कक्ष्याओं तक ही सीमित रहते हैं, किन्तु कर्दम मुनि अपनी योगशक्ति से बिना रोक-टोक के ब्रह्माण्ड की किसी भी दिशा में यात्रा कर सके थे। इस ब्रह्माण्ड में रहने वाली जीवात्माएँ बद्धजीव कहलाती हैं अर्थात् वे अन्यत्र जाने के लिए स्वच्छन्द नहीं हैं। हम इस भूलोक के वासी हैं, हम अन्य लोकों में स्वच्छन्द विचरण नहीं कर सकते। आधुनिक युग में मानव अन्य लोकों (ग्रहों) में जाने का प्रयत्न कर रहा है, किन्तु अभी तक वह असफल रहा है। अन्य किसी लोक की यात्रा करना सम्भव नहीं है, क्योंकि प्राकृतिक नियमों के कारण देवता तक एक लोक से दूसरे में नहीं आ-जा सकते। किन्तु कर्दम मुनि अपनी योगशक्ति से देवताओं से भी आगे निकल गये थे और वे समस्त दिशाओं में आकाश में यात्रा कर सकते थे। यहाँ पर दी गई उपमा सटीक है। *यथा अनिलः* शब्द इस बात का सूचक है कि वायु बिना रोक-टोक के कहीं भी विचर सकती है, उसी तरह से कर्दम मुनि भी ब्रह्माण्ड की समस्त दिशाओं में भ्रमण कर रहे थे।

किं दुरापादनं तेषां पुंसामुद्दामचेतसाम् ।
यैराश्रितस्तीर्थपदश्चरणो व्यसनात्ययः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

किम्—क्या; **दुरापादनम्**—प्राप्त करना कठिन, दुर्लभ; **तेषाम्**—उनके लिए; **पुंसाम्**—मनुष्यों को; **उद्दाम-चेतसाम्**—जो दृढ़ संकल्प हैं; **यैः**—जिनके द्वारा; **आश्रितः**—शरण ली गई है; **तीर्थ-पदः**—श्रीभगवान् के; **चरणः**—पाँव; **व्यसन-अत्ययः**—भव-भय को हरने वाले।

जिन्होंने पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के चरण-कमलों की शरण प्राप्त कर ली है उन दृढ़प्रतिज्ञ मनुष्यों के लिए कौन सी वस्तु दुर्लभ है? उनके चरण तो गंगा जैसी पवित्र नदी के उद्गम हैं, जिनसे सांसारिक जीवन के समस्त अनिष्ट दूर हो जाते हैं।

तात्पर्य : यहाँ *यैराश्रितस्तीर्थपदश्चरणो* शब्द समूह अत्यन्त सार्थक है। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तीर्थपाद कहलाते हैं। गंगा पवित्र नदी कहलाती है, क्योंकि यह भगवान विष्णु के पाँव के अँगूठे से निकली है। गंगा बद्धजीवों के समस्त भौतिक संतापों का निवारण करने के निमित्त है। अत: जिस जीवात्मा ने भगवान् के पवित्र चरणकमलों की शरण ग्रहण कर ली है उसके लिए कुछ भी असम्भव नहीं है। कर्दम मुनि इसलिए विशिष्ट नहीं हैं, क्योंकि वे महान् योगी थे, वरन् इसलिए कि वे महान् भक्त थे। इसलिए यहाँ पर यह कहा गया है कि कर्दम जैसे महामुनि के लिए कुछ भी असम्भव न था। यद्यपि योगीजन आश्चर्यजनक कलाएँ दिखा सकते हैं जैसाकि कर्दम ने पहले ही कर दिखाया था, किन्तु वे किसी सामान्य योगी से बढ़कर थे, क्योंकि वे भगवान् के परम भक्त थे। इसलिए वे सामान्य योगी की अपेक्षा अधिक महिमांडित थे। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है, ''अनेक योगियों में वही सर्वश्रेष्ठ है, जो भगवान् का भक्त है।'' कर्दम मुनि जैसे व्यक्ति के लिए बद्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता। वे पहले से ही मुक्त थे और देवताओं से भी बढ़कर थे, क्योंकि वे भी बद्ध होते हैं। यद्यपि वे अपनी पत्नी तथा अन्य अनेक स्त्रियों के साथ विहार कर रहे थे, किन्तु भौतिक बद्धजीवन से ऊपर थे। इसीलिए *व्यसनात्यय:* शब्द प्रयुक्त हुआ है, जो यह सूचित करता है कि वे बद्धजीव की स्थिति से ऊपर थे। वे समस्त भौतिक सीमाओं से परे थे।

प्रेक्षयित्वा भुवो गोलं पत्न्यै यावान्स्वसंस्थया ।
बह्वाश्चर्यं महायोगी स्वाश्रमाय न्यवर्तत ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

प्रेक्षयित्वा—दिखलाकर; भुव:—ब्रह्माण्ड का; गोलम्—गोलक; पत्न्यै—अपनी पत्नी को; यावान्—जितना भी; स्व-संस्थया—अपनी रचना सहित; बहु-आश्चर्यम्—अनेक आश्चर्यों से पूर्ण; महा-योगी—परमयोगी (कर्दम); स्व-आश्रमाय—अपने आश्रम को; न्यवर्तत—लौट आया।

अपनी पत्नी को अनेक आश्चर्यों से पूर्ण ब्रह्माण्ड गोलक तथा इसकी रचना

दिखलाकर परमयोगी कर्दम मुनि अपने आश्रम को लौट आये।

तात्पर्य : यहाँ पर सभी लोकों को *गोल* अर्थात् गोला कहकर वर्णन किया गया है। प्रत्येक लोक (ग्रह) गोला होता है और वैसे ही विश्रामस्थल है, जिस प्रकार सागर के भीतर द्वीप होता है। लोकों को कभी-कभी द्वीप या वर्ष भी कहते हैं। यह पृथ्वीलोक भारतवर्ष कहलाता है, क्योंकि राजा भरत इसमें राज्य करते थे। इस श्लोक में प्रयुक्त दूसरा महत्त्वपूर्ण शब्द है *बह्वाश्चर्यम्* अर्थात् "अनेक आश्चर्यजनक वस्तुएँ"। यह इस बात का सूचक है कि विभिन्न लोक ब्रह्माण्ड भर में आठों दिशाओं में फैले हुए हैं और इनमें से प्रत्येक आश्चर्यमय है। इनमें से प्रत्येक लोक की अपनी जलवायु है और विशिष्ट प्रकार के निवासी हैं और हर एक में सभी वस्तुएँ हैं, यहाँ तक कि ऋतुओं की सुन्दरता भी है। इसी प्रकार *ब्रह्म-संहिता* (५.४०) में कहा गया है—विभूतिभिन्नम्—प्रत्येक लोक में भिन्न-भिन्न प्रकार का ऐश्वर्य है। ऐसा नहीं है कि एक लोक दूसरे के जैसा ही हो; भगवान् की कृपा से, प्रकृति के नियमानुसार प्रत्येक लोक की रचना भिन्न प्रकार से हुई है और उसका आश्चर्यजनक ढाँचा भी भिन्न है। कर्दम मुनि को ऐसे सभी आश्चर्यों का स्वयं को अनुभव तब हुआ जब वे अपनी पत्नी के साथ यात्रा कर रहे थे, किन्तु तो भी वे अपने सादे से आश्रम में लौट आये। उन्होंने अपनी राजकुमारी-पत्नी को दिखा दिया कि भले ही वे आश्रम में रह रहे थे, किन्तु वे अपने योगबल से कहीं भी जा सकते थे और कुछ भी कर सकते थे। यही योग की सिद्धि है। मात्र कतिपय आसनों का प्रदर्शन करके कोई पूर्ण योगी नहीं बन सकता और न ही ऐसे आसनों के प्रदर्शन एवं तथाकथित ध्यान से कोई ईश्वर बन सकता है, जैसाकि आजकल विज्ञापित किया जा रहा है। मूर्ख लोग विश्वास करके दिग्भ्रमित हो जाते हैं कि छ: मास के भीतर ध्यान के ढोंग तथा आसन करने मात्र से वे ईश्वर बन सकते हैं।

यहाँ पर ऐसे पूर्णयोगी का उदाहरण प्रस्तुत है, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की यात्रा कर सकता था। इसी प्रकार दुर्वासा मुनि का वर्णन है जिन्होंने अन्तरिक्ष की यात्रा की थी। वस्तुत: पूर्ण योगी ही ऐसा कर सकता है। किन्तु यदि कोई ब्रह्माण्ड भर की यात्रा कर ले और कर्दम मुनि

जैसी आश्चर्यजनक करामातें दिखावे तो भी उसकी तुलना पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से नहीं की जा सकती, क्योंकि उनकी अकल्पनीय शक्ति को कोई भी बद्धजीव या मुक्तजीव प्राप्त नहीं कर सकता। कर्दम मुनि के कार्यों से हम समझ सकते हैं कि महान् योगशक्ति होने पर भी वे भगवान् के भक्त बने रहे। प्रत्येक जीवात्मा की असली स्थिति यही है।

विभज्य नवधात्मानं मानवीं सुरतोत्सुकाम् ।
रामां निरमयन्रेमे वर्षपूगान्मुहूर्तवत् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

विभज्य—विभक्त करके; नव-धा—नौ रूपों में; आत्मानम्—स्वयं को; मानवीम्—मनु की पुत्री (देवहूति); सुरत—संभोग के लिए; उत्सुकाम्—अत्यन्त इच्छुक; रामाम्—अपनी पत्नी को; निरमयन्—आनन्द प्रदान करते हुए; रेमे—सुख भोगा; वर्ष-पूगान्—अनेक वर्षों तक; मुहूर्तवत्—एक क्षण के सृदश।

अपने आश्रम लौटने पर उन्होंने मनु की पुत्री देवहूति के सुख लिए, जो रति सुख के लिए अत्यधिक उत्सुक थी, अपने आपको नौ रूपों में विभक्त कर लिया। इस प्रकार उन्होंने उसके साथ अनेक वर्षों तक विहार किया, जो एक क्षण के समान व्यतीत हो गये।

तात्पर्य : यहाँ पर मनु की पुत्री देवहूति को *सुरतोत्सुक* बतलाया गया है। अपने पति के साथ समस्त ब्रह्माण्ड की यात्रा करके, मेरु पर्वत तथा स्वर्गलोक के मनोरम उद्यानों की सैर करने से वह स्वभाविक रुप से कामोत्तेजित हो उठी और कर्दम मुनि ने उसकी कामेच्छा को तुष्ट करने के लिए नौ रूपों में अपना विस्तार कर लिया। वे एक के स्थान पर नौ हो गये और इस प्रकार नौ व्यक्तियों ने देवहूति के साथ वर्षों तक संभोग किया। ऐसा समझा जाता है कि स्त्री की काम-क्षुधा पुरुष की अपेक्षा नौ-गुनी अधिक होती है। इसका यहाँ पर स्पष्ट उल्लेख है। अन्यथा कर्दम मुनि को नौ रूपों में अपना विस्तार करने की कोई आवश्यकता न थी। यहाँ पर योगशक्ति का अन्य उदाहरण प्राप्त होता है। जिस प्रकार श्रीभगवान् लाखों रूपों में अपना विस्तार कर सकते हैं उसी प्रकार योगी नौ रूपों में अपना विस्तार कर सकता है, किन्तु उससे अधिक नहीं। एक अन्य दृष्टान्त सौभरि मुनि का है। उन्होंने आठ रूपों में अपना विस्तार किया था। किन्तु योगी चाहे कितना ही शक्तिमान क्यों न हो वह आठ या नौ रूपों से अधिक में

अपना विस्तार नहीं कर सकता। किन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तो लाखों रूप ग्रहण कर सकते हैं, वे अनन्त रूप जो हैं जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में उन्हें कहा गया है। भगवान् की समता किसी भी कल्पनीय शक्ति से नहीं की जा सकती।

तस्मिन्विमान उत्कृष्टां शय्यां रतिकरीं श्रिता ।
न चाबुध्यत तं कालं पत्यापीच्येन सङ्गता ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—उस; विमाने—विमान में; उत्कृष्टाम्—सर्वश्रेष्ठ; शय्याम्—सेज; रति-करीम्—कामेच्छा को बढ़ाने वाली; श्रिता—स्थित; न—नहीं; च—तथा; अबुध्यत—उसने ध्यान दिया; तम्—उस; कालम्—समय; पत्या—अपने पति के साथ; अपीच्येन—अत्यन्त मनोहर; सङ्गता—संगति में, साथ में।

उस विमान में, देवहूति अपने पति के साथ उत्कृष्ट एवं कामेच्छा बढ़ाने वाली सेज में स्थित रह कर जान भी न पाई कि कितना समय कैसे बीत गया।

तात्पर्य : भौतिक मनुष्यों को रतिक्रीड़ा इतनी सुखकर लगती है कि उन्हें याद ही नहीं रहती कि समय किस प्रकार बीत गया। कर्दम मुनि तथा देवहूति भी अपनी रतिक्रीड़ा के समय भूल गये कि समय किस प्रकार बीत रहा है।

एवं योगानुभावेन दम्पत्यो रममाणयोः ।
शतं व्यतीयुः शरदः कामलालसयोर्मनाक् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; योग-अनुभावेन—योगशक्ति से; दम्-पत्योः—पति-पत्नी; रममाणयोः—स्वयं आनन्द भोगते हुए; शतम्—एक सौ; व्यतीयुः—बीते; शरदः—शरद ऋतुएँ; काम—रतिसुख; लालसयोः—जो लालायित थे; मनाक्—अल्प समय के समान।

रति सुख के उत्कट इच्छुक पति-पत्नी योग शक्तियों के बल पर विहार करते रहे और एक सौ वर्ष अल्प काल के समान व्यतीत हो गये।

तस्यामाधत्त रेतस्तां भावयन्नात्मनात्मवित् ।
नोधा विधाय रूपं स्वं सर्वसङ्कल्पविद्विभुः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—उसमें; आधत्त—स्थापित किया; रेतः—वीर्य; ताम्—उसको; भावयन्—मानते हुए; आत्मना—अपनी अर्धाङ्गिनी के रूप में; आत्म-वित्—आत्मा का ज्ञाता; नोधा—नौ में; विधाय—विभक्त करके; रूपम्—शरीर; स्वम्—अपने; सर्व-सङ्कल्प-वित्—समस्त इच्छाओं के ज्ञाता; विभुः—अत्यन्त शक्तिमान कर्दम।

शक्तिमान कर्दम मुनि सबों के मन की बात जानने वाले थे और जो कुछ माँगे उसे वही प्रदान कर सकते थे। आत्मा के ज्ञाता होने के कारण वे देवहूति को अपनी अर्धाङ्गिनी मानते थे। अपने आपको नौ रूपों में विभक्त करके उन्होंने देवहूति के गर्भ में नौ बार वीर्यपात किया।

तात्पर्य : चूँकि कर्दम मुनि जान गये थे कि देवहूति कई सन्तानें चाहती है, अत: उन्होंने एक ही बार में नौ सन्तानें उत्पन्न कीं। यहाँ पर उन्हें विभु कहा गया है—अर्थात् वे सर्वाधिक शक्तिमान स्वामी थे। उन्होंने अपनी योगशक्ति से देवहूति के गर्भ से नौ कन्याएँ उत्पन्न कीं।

अत: सा सुषुवे सद्यो देवहूति: स्त्रिय: प्रजा: ।
सर्वास्ताश्चारुसर्वाङ्ग्यो लोहितोत्पलगन्धय: ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

अत:—तब; सा—उसने; सुषुवे—जन्म दिया; सद्य:—एक ही दिन; देवहूति:—देवहूति ने; स्त्रिय:—स्त्रियाँ; प्रजा:—सन्तान; सर्वा:—सभी; ता:—वे; चारु-सर्व-अङ्ग्य:—सर्वांग सुन्दर; लोहित—लाल; उत्पल—कमल के समान; गन्धय:—सुगन्धित।

उसके तुरन्त बाद उसी दिन देवहूति ने नौ कन्याओं को जन्म दिया जिनके अंग अंग सुन्दर थे और उनसे लाल कमल की सी सुगन्धि निकल रही थी।

तात्पर्य : देवहूति अत्यधिक कामोत्तेजित थी जिससे उसके अधिक अण्डाणु स्खलित हुए और नौ कन्याएँ उत्पन्न हुईं। स्मृतिशास्त्र तथा साथ ही साथ आयुर्वेद में यह कहा गया है कि जब पुरुष का स्खलन अधिक होता है, तो पुत्र उत्पन्न होते हैं और जब स्त्री का स्खलन अधिक होता है, तो पुत्रियाँ होती हैं। परिस्थितियों से प्रतीत होता है कि देवहूति अधिक कामोत्तेजित थी, अत: उसने तुरन्त नौ कन्याओं को जन्म दिया। किन्तु सभी कन्याएँ अतीव सुन्दर थीं और उनके शरीर सुगठित थे, उनमें से प्रत्येक कमलपुष्प के समान थी और कमल के ही समान सुगन्धित भी।

पतिं सा प्रव्रजिष्यन्तं तदालक्ष्योशती बहि: ।
स्मयमाना विक्लवेन हृदयेन विदूयता ॥ ४९ ॥

शब्दार्थ

पतिम्—उसका पति; सा—वह; प्रव्रजिष्यन्तम्—घर छोड़ने को तत्पर; तदा—तब; आलक्ष्य—देखकर; उशती—सुन्दर; बहिः—बाहर से; स्मयमाना—हँसती हुई; विक्लवेन—विचलित, विकल; हृदयेन—हृदय से; विदूयता—संतप्त।

जब उसने देखा कि उसके पति गृह-त्याग करने ही वाले हैं, तो वह बाहर से हँसी, किन्तु हृदय में अत्यन्त विकल और सन्तप्त थी।

तात्पर्य : कर्दम मुनि ने अपनी योगशक्ति से अपने गृहस्थी के कार्यों को जल्दी ही समाप्त कर लिया। हवा में प्रासाद खड़ा करने, अपनी पत्नी तथा गंधर्व कन्याओं के साथ समग्र ब्रह्माण्ड का भ्रमण और फिर सन्तान उत्पन्न करने के कार्य समाप्त हो चुके और अब अपने पूर्व वचनों के अनुसार उन्हें अपना घर छोड़कर आत्म-बोध की अपनी असली रुचि के लिए प्रस्थान करना था। अपने पति को प्रस्थान की स्थिति मे देखकर देवहूति मन ही मन अत्यन्त विकल थी, किन्तु ऊपर से हँस रही थी। कर्दम मुनि के उदाहरण को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए; जिस व्यक्ति की प्रमुख रुचि कृष्णभावनामृत में है, यदि वह गृहस्थ जीवन में फँस भी जाता है, तो उसे घर के आकर्षण को जितनी जल्दी हो सके त्याग देने के लिए उद्यत रहना चाहिए।

लिखन्त्यधोमुखी भूमिं पदा नखमणिश्रिया ।
उवाच ललितां वाचं निरुध्याश्रुकलां शनैः ॥५०॥

शब्दार्थ

लिखन्ती—कुरेदती हुई; अधः-मुखी—अपना मुँह नीचे किये; भूमिम्—पृथ्वी को; पदा—अपने पाँव से; नख—नाखूनों; मणि—मणि के तुल्य; श्रिया—दमक से; उवाच—वह बोली; ललिताम्—मोहक; वाचम्—वाणी; निरुध्य—रोक कर; अश्रु-कलाम्—आँसू; शनैः—धीरे-धीरे।

वह खड़ी थी और मणितुल्य नाखूनों से मण्डित अपने पैर से पृथ्वी को कुरेद रही थी। उसका सिर झुका था और वह अपने आँसुओं को रोककर धीरे-धीरे मोहक वाणी से बोली।

तात्पर्य : देवहूति इतनी सुन्दर थी कि उसके पैर के नाखून मोतियों जैसे लग रहे थे। वह भूमि को नाखूनों से कुरेद रही थी तो ऐसा प्रतीत हो रहा था मानो भूमि पर मोती बिखरे हों। जब कोई स्त्री अपने पाँव से जमीन कुरेदती है, तो यह इसका संकेत है कि उसका मन

विचलित है। ऐसे ही संकेत कभी-कभी गोपियाँ श्रीकृष्ण के समक्ष प्रकट करती थीं। जब गोपियाँ अर्द्धरात्रि के समय श्रीकृष्ण के पास गईं तो उन्होंने उनसे अपने-अपने घरों को जाने के लिए कहा। उस समय गोपियाँ इसी प्रकार से भूमि कुरेदने लगीं, क्योंकि उनके मन अत्यधिक विक्षुब्ध थे।

देवहूतिरुवाच
सर्वं तद्भगवान्मह्यमुपोवाह प्रतिश्रुतम् ।
अथापि मे प्रपन्नाया अभयं दातुमर्हसि ॥५१॥

शब्दार्थ

देवहूतिः—देवहूति ने; उवाच—कहा; सर्वम्—सभी; तत्—वह; भगवान्—हे भगवान्; मह्यम्—मेरे लिए; उपोवाह—पूर्ण हुईं; प्रतिश्रुतम्—वचन दिया; अथ अपि—फिर भी; मे—मुझको; प्रपन्नायै—शरणागत को; अभयम्—निर्भीकता; दातुम्—देने के लिए; अर्हसि—योग्य हो।

देवहूति ने कहा—हे स्वामी, आपने जितने वचन दिये थे वे सब पूर्ण हुए, किन्तु मैं आपकी शरणागत हूँ इसलिए मुझे अभयदान भी दें।

तात्पर्य : देवहूति ने अपने पति से प्रार्थना की कि वे उसे अभय प्रदान करें। पत्नी रूप में वह अपने पति के प्रति पूर्णतया समर्पित थी, अत: यह पति का धर्म है कि वह अपनी पत्नी को अभयदान दे। *श्रीमद्भागवत* के पंचम स्कंध में बताया गया है कि अपने आश्रित को किस प्रकार अभयदान दिया जाता है। जो मृत्यु के चंगुल से नहीं छूट पाता वह आश्रित है, उसे चाहिए कि वह न तो गुरु बने, न पति, न परिजन, न पिता, न माता इत्यादि। यह तो श्रेष्ठों का धर्म है कि अपने अधीनस्थ को अभयदान दें। अत: पिता, माता, गुरु, नातेदार या पति के रूप में किसी की जिम्मेदारी लेने वाले को चाहिए कि अपने अधीनस्थ को संसार की भयावह स्थिति से छुटकारा दिलाए। भौतिक जीवन सदैव भयावह एवं चिन्ताओं से पूर्ण है। देवहूति कहती है, ‘‘आपने मुझे अपनी योगशक्ति से सभी प्रकार की भौतिक सुविधाएँ प्रदान की हैं और अब आप प्रस्थान करने वाले हैं, अत: आप अपना अन्तिम दान (वर) भी देते जाएँ जिससे मैं इस बद्धजीवन से मुक्त हो सकूँ’’।

ब्रह्मन्दुहितृभिस्तुभ्यं विमृग्याः पतयः समाः ।
कश्चित्स्यान्मे विशोकाय त्वयि प्रव्रजिते वनम् ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; दुहितृभिः—कन्याओं के द्वारा; तुभ्यम्—तुम्हारे लिए; विमृग्याः—ढूँढे जाने के हुए; पतयः—पति; समाः—उपयुक्त; कश्चित्—कोई; स्यात्—होना चाहिए; मे—मेरा; विशोकाय—सान्त्वना के लिए; त्वयि—तुम्हारे; प्रव्रजिते—जा चुकने पर; वनम्—जंगल को।

हे ब्राह्मण, जहाँ तक आपकी पुत्रियों का प्रश्न है, वे स्वयं ही अपने योग्य वर ढूँढ लेंगी और अपने अपने घर चली जाएँगी। किन्तु आपके संन्यासी होकर चले जाने पर मुझे कौन सान्त्वना देगा?

तात्पर्य : कहा गया है कि पिता ही दूसरे रूप में पुत्र बन जाता है। अत: पिता और पुत्र अभिन्न माने जाते हैं। पुत्रवती विधवा नहीं होती, क्योंकि उसके पास पति का प्रतिनिधि रहता है। इसी प्रकार देवहूति अप्रत्यक्ष रूप से कर्दम मुनि से एक प्रतिनिधि छोड़ जाने की याचना करती है, जिससे वह उनकी अनुपस्थिति में चिन्तामुक्त रह सके। गृहस्थ से यह आशा नहीं की जाती है कि वह सदैव घर पर रह सकेगा। अपने पुत्रों तथा पुत्रियों का ब्याह करके वह अपनी पत्नी को सयाने पुत्रों के संरक्षण में छोड़कर गृहस्थ जीवन से वैराग्य ले सकता है। वैदिक पद्धति की सामाजिक परम्परा ही ऐसी है। देवहूति अप्रत्यक्ष रूप से यह कह रही है कि घर से अनुपस्थित रहने की अवधि में कम से कम एक पुत्र अवश्य होना चाहिए जो उसे चिन्ताओं से मुक्ति दिला सके। इस मुक्ति का अर्थ है आध्यात्मिक शिक्षा। इस मुक्ति का अर्थ भौतिक सुविधाएँ नहीं है। भौतिक सुविधाएँ तो शरीर के साथ ही समाप्त हो जाएँगी, किन्तु आध्यात्मिक शिक्षा अन्त होता नहीं, यह तो आत्मा के साथ-साथ जाएगी। अध्यात्म की शिक्षा आवश्यक है, किन्तु योग्य पुत्र प्राप्त किये बिना देवहूति आध्यात्मिक ज्ञान कैसे प्राप्त कर पाती? पति का धर्म है कि वह स्त्री-ऋण से मुक्त हो जाय। पत्नी एकनिष्ठ होकर पति की सेवा करती है और वह ऋणी बन जाता है, क्योंकि कोई अपने आश्रित की सेवा तब तक स्वीकार नहीं करता जब तक वह बदले में कुछ दे न देता। गुरु कभी भी आध्यात्मिक शिक्षा दिए बिना शिष्य की सेवा स्वीकार नहीं करता। प्रेम तथा कर्तव्य का यही पारस्परिक आदान-प्रदान है। इस प्रकार देवहूति कर्दम मुनि को स्मरण दिलाती है कि उसने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक सेवा की है।

यदि वे स्त्री-ऋण से ही मुक्त होना चाहें तो प्रस्थान करने से पूर्व उन्हें चाहिए कि एक पुत्र दे जाँय। अप्रत्यक्ष रूप में देवहूति ने अपने पति से कुछ अधिक काल तक और या कम से कम जब तक एक पुत्र न हो ले, रहने के लिए प्रार्थना करती है।

एतावतालं कालेन व्यतिक्रान्तेन मे प्रभो ।
इन्द्रियार्थप्रसङ्गेन परित्यक्तपरात्मनः ॥५३॥

शब्दार्थ

एतावता—इतना; अलम्—व्यर्थ ही; कालेन—समय; व्यतिक्रान्तेन—बीतने पर; मे—मेरा; प्रभो—हे स्वामी; इन्द्रिय-अर्थ—इन्द्रिय-तृप्ति; प्रसङ्गेन—रतिक्रीड़ा में; परित्यक्त—परवाह न करके, उपेक्षा करके; पर-आत्मनः—परमेश्वर का ज्ञान।

अभी तक हमने अपना सारा समय परमेश्वर के ज्ञान के अनुशीलन की उपेक्षा करके इन्द्रियतृप्ति में ही व्यर्थ गँवाया है।

तात्पर्य : मनुष्य जीवन पशुओं की तरह इन्द्रियतृप्ति के कार्य में बिताने के लिए नहीं है। पशु सदैव इन्द्रियतृप्ति में—आहार, निद्रा, भय तथा मैथुन में—लगे रहते हैं, किन्तु यह मनुष्यों का व्यापार नहीं है, यद्यपि भौतिक देह पाने के कारण इन्द्रियतृप्ति की उन्हें भी आवश्यकता रहती है किन्तु नियामक सिद्धान्तों के अनुसार। अतः, वास्तव में देवहूति ने अपने पति से यह कहा, ''अभी तक हमारे ये पुत्रियाँ ही हैं और हमने सारे ब्रह्माण्ड की यात्रा करते हुए हवाई प्रासाद में सुखोपभोग किया है। आपकी कृपा से ही ये सारे वर प्राप्त हुए हैं, किन्तु वे सब इन्द्रियतृप्ति के हेतु थे। अब मुझे आत्मिक उन्नति के लिए कुछ चाहिए।''

इन्द्रियार्थेषु सज्जन्त्या प्रसङ्गस्त्वयि मे कृतः ।
अजानन्त्या परं भावं तथाप्यस्त्वभयाय मे ॥५४॥

शब्दार्थ

इन्द्रिय-अर्थेषु—इन्द्रियतृप्ति हेतु; सज्जन्त्या—अनुरक्त रह कर; प्रसङ्गः—आकर्षण; त्वयि—तुम्हारे लिए; मे—मेरे द्वारा; कृतः—किया गया था; अजानन्त्या—न जानते हुए; परम् भावम्—आपकी दिव्य स्थिति; तथा अपि—तो भी; अस्तु—होवे; अभयाय—भय दूर करने के लिए; मे—मेरा।

आपकी दिव्य स्थिति (पद) से परिचित न होने के कारण ही मैं इन्द्रियों के विषयों में लिप्त रह कर आपको प्यार करती रही। तो भी मैंने आपके लिए जो आकर्षण

(अनुराग) उत्पन्न कर लिया है, वह मेरे समस्त भय को दूर करे।

तात्पर्य : देवहूति अपनी दशा पर शोक प्रकट कर रही है। स्त्री होने के नाते वह प्रेम तो किसी से कर सकती थी। वह किसी कारणवश कर्दम मुनि से प्रेम करने लगी, किन्तु उनकी आध्यात्मिक उपलब्धि से वह अपरिचित ही रही। कर्दम मुनि देवहूति के मन की बात जान गये। सामान्यत: सभी स्त्रियाँ भौतिक सुख भोगना चाहती हैं। वे अल्पज्ञानी कही जाती हैं, क्योंकि भौतिक सुख के लिए उन्मुख रहती हैं। देवहूति को पछतावा है कि उसके पति ने सर्वश्रेष्ठ भौतिक सुख प्रदान किया, किन्तु उसे यह पता न चल पाया कि वे आत्म-बोध में इतने उठे हुए थे। उसका कहना है कि यद्यपि अपने महान् पति की महिमा को वह नहीं समझ पाई, किन्तु उनकी शरण में होने के कारण उसे भौतिक बन्धन से मुक्त होना चाहिए। महापुरुष की संगति बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। *चैतन्य-चरितामृत* में भगवान् चैतन्य ने कहा है कि साधु संग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि भले ही कोई ज्ञान में कितना बढ़ा-चढ़ा क्यों न हो, किसी महान् साधु पुरुष की संगति मात्र से वह तुरन्त आत्मजीवन में आगे बढ़ जाता है। एक स्त्री के रूप में सामान्य पत्नी बन कर देवहूति कर्दम मुनि से अपने इन्द्रिय सुख तथा अन्य सुविधाओं के लिए आसक्त थी, किन्तु वास्तव में उसे एक महान् पुरुष का सान्निध्य प्राप्त था। अब उसे इसका ज्ञान हुआ, अत: वह इस संगति का लाभ उठाना चाह रही थी।

सङ्गो यः संसृतेर्हेतुरसत्सु विहितोऽधिया ।
स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय कल्पते ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ

सङ्गः—संगति; यः—जो; संसृतेः—जन्म-मृत्यु के चक्र का; हेतुः—कारण; असत्सु—इन्द्रिय-तृप्ति में लगे रहने वालों के साथ; विहितः—किया गया; अधिया—अविद्या से; सः—वही वस्तु; एव—निश्चय ही; साधुषु—साधु पुरुषों के साथ; कृतः—किया गया; निःसङ्गत्वाय—मुक्ति के लिए; कल्पते—ले जाता है।

इन्द्रियतृप्ति हेतु संगति निश्चय ही बन्धन का मार्ग है। किन्तु जब वही संगति किसी साधु पुरुष से की जाती है, तो भले ही वह अनजाने में की जाय, मुक्ति के मार्ग पर ले जाने वाली है।

तात्पर्य : साधु पुरुष से चाहे जिस रूप में संगति की जाय, एक सा फल मिलता है।

उदाहरणार्थ, श्रीकृष्ण अनेक जीवात्माओं से मिलते हैं—कुछ उन्हें अपना शत्रु मानते हैं और कुछ इन्द्रिय-तृप्ति के साधनरूप। सामान्यतया कहा जाता है कि गोपियाँ इन्द्रिय-सुख के लिए कृष्ण पर आसक्त थीं तो भी वे भगवान् की उत्तम कोटि की भक्त थीं। किन्तु कंस, शिशुपाल, दंतवक्र तथा अन्य असुर कृष्ण के शत्रु थे। वे चाहे भयवश शत्रु के रूप में या इन्द्रिय-सुख के लिए भक्त रूप में कृष्ण की संगति में आये, मुक्ति तो सबों की हुई। भगवान् की संगति का यही परिणाम होता है। यदि कोई यह नहीं जानता कि भगवान् कौन हैं, तो भी वही परिणाम होता है। महान् साधु पुरुष की संगति से भी मुक्ति मिलती है, जिस प्रकार कोई जान कर या अनजाने ही आग की ओर जाता है, तो उसे गर्मी प्राप्त होती है। देवहूति ने अपनी कृतज्ञता प्रकट की, क्योंकि वह कर्दम मुनि से इन्द्रियतृप्ति के लिए ही संगति कर रही थी, किन्तु चूँकि वे महापुरुष थे, अत: उसे विश्वास था कि उनके आशीर्वाद से वह मुक्त हो जाएगी।

नेह यत्कर्म धर्माय न विरागाय कल्पते ।
न तीर्थपदसेवायै जीवन्नपि मृतो हि सः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; इह—यहाँ; यत्—जो; कर्म—कार्य; धर्माय—धार्मिक जीवन की सिद्धि के लिए; न—नहीं; विरागाय—विरक्ति के लिए; कल्पते—ले जाता है; न—नहीं; तीर्थ-पद—भगवान् के चरणकमलों का; सेवायै—भक्ति के लिए; जीवन्—जीवित रह कर; अपि—यद्यपि; मृतः—मरा हुआ; हि—निश्चय ही; सः—वह।

जिस पुरुष के कर्म से न तो धार्मिक जीवन का उत्कर्ष होता है, न जिसके धार्मिक विधि-विधानों से उसे वैराग्य प्राप्त हो पाता है और वैराग्य प्राप्त पुरुष यदि श्रीभगवान् की भक्ति को प्राप्त नहीं होता, तो उसे जीवित होते हुए भी मृत मानना चाहिए।

तात्पर्य : देवहूति का कहना है कि वह अपने पति से इन्द्रियतृप्ति के लिए अनुरक्त थी जिससे भौतिक बन्धनों से मुक्ति नहीं मिल सकती, अत: उसका जीवन वृथा गया। ऐसा कोई कार्य जिसे करने से धार्मिक जीवन की प्राप्ति न हो सके, वह व्यर्थ है। स्वभाव से प्रत्येक व्यक्ति कोई न कोई कार्य करना चाहता है और जब उस कार्य के करने से धार्मिक जीवन मिल सके और फिर इससे विरक्ति और विरक्ति से भक्ति प्राप्त हो सके तो समझना चाहिए कार्य सिद्ध हुआ। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जिस कार्य के करने से अन्तत: भक्ति

प्राप्त नहीं होती वह भवबन्धन का कारण बनता है। *यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः*। यदि कोई अपने सामान्य कार्य से प्रारम्भ करके क्रमशः भक्ति के पद को प्राप्त नहीं कर लेता, तो उसे मृतक के समान मानना चाहिए। जिस कार्य से कृष्णभक्ति का ज्ञान न हो ले, वह व्यर्थ है।

साहं भगवतो नूनं वञ्चिता मायया दृढम् ।
यत्त्वां विमुक्तिदं प्राप्य न मुमुक्षेय बन्धनात् ॥ ५७॥

शब्दार्थ

सा—वही व्यक्ति; अहम्—मैं; भगवतः—भगवान् की; नूनम्—अवश्य ही; वञ्चिता—ठगी गई; मायया—माया के द्वारा; दृढम्—दृढ़तापूर्वक; यत्—क्योंकि; त्वाम्—तुमको; विमुक्ति-दम्—मुक्तिदाता; प्राप्य—प्राप्त करके; न मुमुक्षेय—मैंने मुक्ति की याचना नहीं की; बन्धनात्—भवबन्धन से।

हे स्वामी, मैं निश्चित रूप से श्रीभगवान् की अलंघ्य माया द्वारा बुरी तरह से ठगी हुई हूँ, क्योंकि भवबन्धन से मुक्ति दिलाने वाली आपकी संगति में रह कर भी मैंने मुक्ति की चाहत नहीं की।

तात्पर्य : बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि सुअवसर का लाभ उठाए। पहला अवसर मनुष्य जीवन है और दूसरा अवसर ऐसे अनुकूल कुल में जन्म ग्रहण करना जहाँ आत्मज्ञान का अनुशीलन हो सके; यह अत्यन्त दुर्लभ है। किन्तु सबसे बड़ा अवसर है साधु पुरुष की संगति का प्राप्त होना। देवहूति को इसका आभास था कि वह एक सम्राट की पुत्री है, वह पर्याप्त शिक्षित और सुसंस्कृत भी थी और अन्त में उसे परम साधु तथा महान् योगी कर्दममुनि पति रूप में प्राप्त हुए थे। इतने पर भी उसे भवबन्धन से मुक्ति न मिल पाये तो अवश्य ही वह दुर्लंघ्य माया द्वारा ठगी गई है। वास्तव में यह माया सबों को ठग रही है। जब लोग वरदान प्राप्त करने के लिए देवी काली या दुर्गा के रूप में भौतिक शक्ति (माया) की पूजा करते हैं, तो वे नहीं जानते होते कि वास्तव में वे क्या कर रहे हैं। वे याचना करते हैं, ''माँ! मुझे धन दो, मुझे अच्छी पत्नी दो, मुझे यश दो, मुझे सफलता दो'' किन्तु मायादेवी या दुर्गादेवी के ये भक्त यह नहीं जानते कि वे उस देवी द्वारा ठगे जा रहे हैं। भौतिक उपलब्धि कोई उपलब्धि नहीं गिनी जाती, क्योंकि भौतिक वरदानों से वह ज्यों-ज्यों मोहित होता जाता है, त्यों-त्यों वह और

बंधता जाता है और उसकी मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। मनुष्य को इतना बुद्धिमान तो होना ही चाहिए कि आत्मबोध के लिए अपनी सम्पत्ति का किस प्रकार उपभोग करे। यही कर्म–योग या ज्ञानयोग कहलाता है। हमारे पास जो भी हो उसे परम पुरुष की सेवा के लिए उपयोग में लाना चाहिए। *भगवद्गीता* में उपदेश दिया गया है—*स्व कर्मणा तमभ्यर्चया*—मनुष्य को चाहिए कि अपने धनधान्य से वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की पूजा करने का प्रयत्न करे। भगवान् की सेवा करने के अनेक प्रकार हैं और कोई भी व्यक्ति अपनी सामर्थ्य भर भगवान् की सेवा कर सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत ''देवहूति का शोक'' नामक तेईसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter चौबीस

कर्दम मुनि का वैराग्य

मैत्रेय उवाच
निर्वेदवादिनीमेवं मनोर्दुहितरं मुनिः ।
दयालुः शालिनीमाह शुक्लाभिव्याहृतं स्मरन् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः—परम साधु मैत्रेय ने; उवाच—कहा; निर्वेद-वादिनीम्—वैराग्य से युक्त बातें करने वाली; एवम्—इस प्रकार; मनोः—स्वायंभुव मनु की; दुहितरम्—पुत्री को; मुनिः—कर्दम मुनि ने; दयालुः—दयालु; शालिनीम्—प्रशंसा की पात्र; आह—कहा; शुक्ल—भगवान् विष्णु द्वारा; अभिव्याहृतम्—कथित; स्मरन्—स्मरण करते हुए।

भगवान् विष्णु के वचनों का स्मरण करते हुए कर्दम मुनि ने वैराग्यपूर्ण बातें करने वाली, स्वायंभुव मनु की प्रशंसनीय पुत्री देवहूति से इस प्रकार कहा।

ऋषिरुवाच
मा खिदो राजपुत्रीत्थमात्मानं प्रत्यनिन्दिते ।
भगवांस्तेऽक्षरो गर्भमदूरात्सम्प्रपत्स्यते ॥ २ ॥

शब्दार्थ

ऋषिः उवाच—ऋषि ने कहा; मा खिदः—निराश मत हो; राज-पुत्रि—हे राजकुमारी; इत्थम्—इस प्रकार; आत्मानम्—अपने; प्रति—प्रति; अनिन्दिते—हे प्रशंसनीय देवहूति; भगवान्—श्रीभगवान्; ते—तुम्हारे; अक्षरः—अविनाशी; गर्भम्—गर्भ में; अदूरात्—देर किये बिना, शीघ्र; सम्प्रपत्स्यते—प्रवेश करेंगे।

मुनि ने कहा—हे राजकुमारी, तुम अपने आपसे निराश न हो। तुम निस्सन्देह प्रशंसनीय हो। अविनाशी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् शीघ्र ही पुत्र रूप में तुम्हारे गर्भ में प्रवेश करेंगे।

तात्पर्य : कर्दम मुनि ने अपनी पत्नी को, यह सोचकर कि वह कितनी अभागी है, दुखी न रहने के लिए प्रेरणा दी, क्योंकि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् उसके शरीर से अवतार रूप में प्रकट होने जा रहे थे।

धृतव्रतासि भद्रं ते दमेन नियमेन च ।
तपोद्रविणदानैश्च श्रद्धया चेश्वरं भज ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

धृत-व्रता असि—तुमने पवित्र व्रत ले रखा है; भद्रम् ते—ईश्वर तुम्हारा कल्याण करे; दमेन—इन्द्रियों को वश में करके; नियमेन—धर्म के पालन से; च—तथा; तपः—तपस्या; द्रविण—धन का; दानैः—दान करने से; च—तथा; श्रद्धया—श्रद्धा से; च—तथा; ईश्वरम्—परमेश्वर को; भज—पूजा करो।

तुमने पवित्र व्रत धारण किये हैं। ईश्वर तुम्हारा कल्याण करे। अब तुम ईश्वर की पूजा अत्यन्त श्रद्धा, संयम, नियम, तप तथा अपने धन के दान द्वारा करो।

तात्पर्य : भगवान् की कृपा प्राप्त करने अथवा आत्मिक दृष्टि से आगे बढ़ने के लिए मनुष्य को चाहिए कि आगे बताई गई विधि से आत्म-संयम रखे—इन्द्रियतृप्ति पर संयम रखे तथा धार्मिक सिद्धान्तों की विधियों एवं नियमों का पालन करे। संयम एवं तपस्या तथा सम्पत्ति का त्याग किये बिना मनुष्य को भगवत्कृपा प्राप्त नहीं हो सकती। कर्दम मुनि ने अपनी पत्नी को उपदेश दिया, ''तुम्हें धार्मिक नियमों का पालन करते हुए, दान देकर तपस्यापूर्वक भक्ति में तत्पर होना होगा। तभी परमेश्वर तुम पर प्रसन्न होंगे और तुम्हारे पुत्र रूप में अवतरित होंगे।''

स त्वयाराधितः शुक्लो वितन्वन्मामकं यशः ।
छेत्ता ते हृदयग्रन्थिमौदर्यो ब्रह्मभावनः ॥ ४॥

शब्दार्थ

सः—वह; त्वया—तुम्हारे द्वारा; आराधितः—पूजित होकर; शुक्लः—श्रीभगवान्; वितन्वन्—विस्तार करते हुए; मामकम्—मेरा; यशः—यश; छेत्ता—वे काट देंगे; ते—तुम्हारे; हृदय—हृदय की; ग्रन्थिम्—गाँठ; औदर्यः—तुम्हारा पुत्र; ब्रह्म—ब्रह्मज्ञान; भावनः—शिक्षा देते हुए।

तुम्हारे द्वारा पूजित होकर श्रीभगवान् मेरे नाम तथा यश का विस्तार करेंगे। वे तुम्हारे पुत्र बनकर तथा तुम्हें ब्रह्मज्ञान की शिक्षा देकर तुम्हारे हृदय में पड़ी गाँठ को छिन्न कर देंगे।

तात्पर्य : जब भगवान् आध्यात्मिक ज्ञान का प्रसार करने के लिए आते हैं, तो वे सामान्य रूप से किसी भक्त की सेवा से प्रसन्न होकर उसके पुत्र रूप में अवतरित होते हैं। पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सबके पिता हैं, अतः उनका कोई पिता नहीं, किन्तु अपनी अचिन्त्य शक्ति से वे किसी भक्त को अपना पिता बनाना तथा उसका वंशज बनना स्वीकार करते हैं। यहाँ पर कहा गया है कि आध्यात्मिक ज्ञान से हृदय की गाँठ का छेदन हो जाता है। पदार्थ तथा आत्मा मिथ्या अहंकार की ग्रंथि से जुड़े रहते हैं। पदार्थ तथा आत्मा को एक करके मानना ही हृदय

ग्रंथि कही जाती है और समस्त बद्धजीवों में विद्यमान रहती है। ज्यों-ज्यों विषयी जीवन के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है, त्यों-त्यों यह ग्रंथि कसती जाती है। भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रों को समझाया था कि यह भौतिक जगत स्त्री तथा पुरुष के मध्य आकर्षण के वातावरण के तुल्य है। यह आकर्षण हृदय में ग्रंथि का रूप धारण कर लेता है और भौतिक प्रेम के कारण यह गाँठ और अधिक कस जाती है। उदाहरण के लिए धन, समाज, मित्रता तथा प्यार के पीछे दौड़ने वाले व्यक्तियों के लिए प्रेम की यह गाँठ अत्यन्त मजबूत हो जाती है। यह हृदय ग्रंथि केवल ब्रह्मभावना से अर्थात् ऐसे उपदेश से जिससे आत्म-ज्ञान बढ़ता है—छिन्न-भिन्न होती है। इस ग्रंथि को काटने के लिए किसी भौतिक अस्त्र-शस्त्र की आवश्यकता नहीं पड़ती, वरन् इसके लिए प्रामाणिक आध्यात्मिक-उपदेश की आवश्यकता होती है। कर्दम मुनि ने अपनी पत्नी देवहूति को उपदेश दिया कि भगवान् उसके पुत्र के रूप में प्रकट होंगे और भौतिक स्वरूप की ग्रंथि को काटने के लिए आध्यात्मिक ज्ञान का प्रसार करेंगे।

मैत्रेय उवाच
देवहूत्यपि सन्देशं गौरवेण प्रजापतेः ।
सम्यक्श्रद्धाय पुरुषं कूटस्थमभजद्गुरुम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; देवहूती—देवहूति; अपि—भी; सन्देशम्—आदेश; गौरवेण—आदरपूर्वक; प्रजापतेः—कर्दम का; सम्यक्—पूर्ण; श्रद्धाय—श्रद्धापूर्वक; पुरुषम्—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्; कूट-स्थम्—प्रत्येक के हृदय में स्थित; अभजत्—पूजा की; गुरुम्—अत्यन्त पूज्य।

श्री मैत्रेय ने कहा—देवहूति में अपने पति कर्दम के आदेश के प्रति अत्यन्त श्रद्धा तथा सम्मान था, क्योंकि वे ब्रह्माण्ड में मनुष्यों के उत्पन्न करने वाले प्रजापतियों में से एक थे। हे मुनि, इस प्रकार वह ब्रह्माण्ड के स्वामी घट-घट के वासी श्रीभगवान् की पूजा करने लगी।

तात्पर्य : यह आत्मबोध की प्रक्रिया है—मनुष्य को प्रामाणिक गुरु से उपदेश ग्रहण करना पड़ता है। कर्दम मुनि देवहूति के पति थे, किन्तु आत्म-सिद्धि कैसे प्राप्त की जाय इस का उपदेश करने के कारण स्वाभाविक रुप से वे गुरु भी थे। ऐसे अनेक उदाहरण विद्यमान हैं जहाँ

पति गुरु बन जाता है। शिवजी भी अपनी प्रियतमा पार्वती के गुरु थे। पति को इतना ज्ञानी होना चाहिए कि वह कृष्णभावनामृत में प्रबुद्ध करने में अपनी पत्नी का गुरु बन सके। सामान्य तया एक स्त्री पुरुष की अपेक्षा कम बुद्धिमान होती है, अत: यदि पति बुद्धिमान होता है, तो स्त्री को अपनी आध्यात्मिक उन्नति के लिए अच्छा अवसर प्राप्त होता है।

यहाँ पर स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य को अत्यन्त श्रद्धापूर्वक (सम्यक् श्रद्धाय) गुरु से ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और अत्यन्त श्रद्धापूर्वक सेवा करनी चाहिए। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने *भगवद्गीता* की टीका करते हुए गुरु-उपदेश पर विशेष बल दिया है। मनुष्य को चाहिए कि गुरु उपदेश को अपना जीवन और आत्मा समझे। चाहे मुक्त हो या बद्ध, उसे चाहिए कि गुरु के अनुदेशों का श्रद्धापूर्वक पालन करे। यह भी कहा गया है कि ईश्वर सबों के हृदय में स्थित हैं। किसी को उन्हें बाहर ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है, वे तो वहीं हैं। मनुष्य को केवल श्रद्धापूर्वक गुरु के उपदेशानुसार पूजा में ध्यान लगाना चाहिए। इससे सारे प्रयास सफल होंगे। यह भी स्पष्ट है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् सामान्य बालक की तरह प्रकट नहीं होते, वे यावत् रूप में प्रकट होते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है वे अपनी आत्म-माया से प्रकट होते हैं। तो वे कब प्रकट होते हैं? जब वे भक्त की पूजा से प्रसन्न होते हैं तब। भक्त प्रार्थना कर सकता है कि वे उसके पुत्र रूप में जन्म लें। भगवान् प्रत्येक हृदय में पहले से आसीन हैं, अत: यदि भगवान् किसी भक्त के शरीर से प्रकट होते हैं, तो इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि अमुक स्त्री उनकी माता हो गई। वे तो सदैव विद्यमान रहते हैं और अपने भक्त को प्रसन्न करने के लिए उसके पुत्र रूप में प्रकट होते हैं।

तस्यां बहुतिथे काले भगवान्मधुसूदनः ।
कार्दमं वीर्यमापन्नो जज्ञेऽग्निरिव दारुणि ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तस्याम्—देवहूति में; बहु-तिथे काले—अनेक वर्षों बाद; भगवान्—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्; मधु-सूदनः—मधु असुर के संहारक; कार्दमम्—कर्दम; वीर्यम्—वीर्य में; आपन्नः—प्रविष्ट किया; जज्ञे—प्रकट हुआ; अग्निः—आग; इव—समान; दारुणि—काष्ठ में।

अनेक वर्षों बाद मधुसूदन अर्थात् मधु नामक असुर के संहारकर्ता, पूर्ण पुरुषोत्तम

भगवान् कर्दम मुनि के वीर्य में प्रविष्ट होकर देवहूति के गर्भ में उसी प्रकार प्रकट हुए जिस प्रकार किसी यज्ञ के काष्ठ में से अग्नि उत्पन्न होती है।

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भगवान् यद्यपि कर्दम मुनि के पुत्र रूप में प्रकट हुए, किन्तु वे हैं सदैव पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ही रहते हैं। काष्ठ में अग्नि सदैव विद्यमान रहती है, किन्तु एक निश्चित विधि से अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती है। इसी प्रकार ईश्वर सर्वव्यापी हैं। वे किसी भी वस्तु से प्रकट हो सकते हैं; वे अपने भक्त के वीर्य से प्रकट हुए। जिस प्रकार सामान्य जीवात्मा किसी जीवात्मा के वीर्य का आश्रय लेकर जन्म ग्रहण करता है उसी प्रकार श्रीभगवान् अपने भक्त के वीर्य में स्थित होकर उसके पुत्र रूप में अवतरित होते हैं। इससे उनकी परम स्वतन्त्रता प्रकट होती है। इससे यह कदापि लक्षित नहीं होता कि वे किसी के गर्भ से सामान्य जीवात्मा की तरह जन्म लेते हैं। भगवान् नृसिंह हिरण्यकशिपु के महल के ख भे से प्रकट हुए; भगवान् वराह ब्रह्मा जी के नथुनों से उत्पन्न हुए और श्री कपिल कर्दम के वीर्य से उत्पन्न हुए। इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि भगवान् के प्राकट्य का स्रोत ख भा, नथुना या वीर्य है। भगवान् भगवान् ही होते हैं। भगवान् मधुसूदनः—वे सभी प्रकार के असुरों का वध करने वाले हैं और यदि किसी भक्त के पुत्र-रूप में प्रकट भी होते हैं, तो भी भगवान् ही बने रहते हैं। कार्दमम् शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह बताता है कि कर्दम तथा देवहूति की सेवा से उनका प्रेम था। किन्तु हमें यह समझने की भूल नहीं करनी चाहिए कि वे सामान्य जीवात्मा की तरह कर्दम मुनि के वीर्य तथा देवहूति के गर्भ से उत्पन्न हुए थे।

अवादयंस्तदा व्योम्नि वादित्राणि घनाघनाः ।
गायन्ति तं स्म गन्धर्वा नृत्यन्त्यप्सरसो मुदा ॥ ७॥

शब्दार्थ

अवादयन्—बजाते हुए; तदा—उस समय; व्योम्नि—आकाश में; वादित्राणि—वाद्ययंत्र, बाजे; घनाघनाः—बादल; गायन्ति—गाने लगे; तम्—उसको; स्म—निश्चय ही; गन्धर्वाः—गंधर्वगण; नृत्यन्ति—नाचने लगे; अप्सरसः—अप्सराएँ; मुदा—आनन्दित होकर।

पृथ्वी पर उनके अवतरित होते समय, आकाश में देवताओं ने वाद्ययंत्रों के रूप में जल बरसाने वाले मेघों से वाद्यसंगीत की सी ध्वनियाँ बजायी। स्वर्गिक गवैये गंधर्वगण

भगवान् की महिमा का गान करने लगे और अप्सराओं के नाम से प्रसिद्ध स्वर्गिक नर्तकियाँ आनन्द विभोर होकर नाचने लगीं।

पेतुः सुमनसो दिव्याः खेचरैरपवर्जिताः ।
प्रसेदुश्च दिशः सर्वा अम्भांसि च मनांसि च ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

पेतुः—गिरे, बरसे; सुमनसः—फूल; दिव्याः—सुन्दर; खे-चरैः—आकाशचारी देवताओं द्वारा; अपवर्जिताः—गिराये गये; प्रसेदुः—संतुष्ट हुआ; च—तथा; दिशः—दिशाएँ; सर्वाः—सभी; अम्भांसि—जल; च—तथा; मनांसि—मन; च—यथा।

भगवान् के प्राकट्य के समय आकाश में मुक्त रुप से विचरण करनेवाले देवताओं ने फूल बरसाये। सभी दिशाएँ, सभी सागर तथा सबों के मन परम प्रसन्न हुए।

तात्पर्य : यहाँ यह ज्ञात होता है कि आकाश में ऐसी जीवात्माएँ हैं, जो बिना रोक-टोक के वायु में विचरण कर सकती हैं। यद्यपि हम लोग अन्तरिक्ष में यात्रा कर सकते हैं, पर अनेक प्रकार के व्यवधान आते हैं, किन्तु देवताओं के लिए ये व्यवधान नहीं हैं। *श्रीमद्भागवत* से हमें पता चलता है कि सिद्धलोक के वासी एक लोक से दूसरे की यात्रा बिना किसी व्यवधान के कर सकते हैं। जब कर्दम मुनि के पुत्र श्रीकपिल जी का जन्म हुआ तो उन्होंने पृथ्वी पर पुष्प - वर्षा की।

तत्कर्दमाश्रमपदं सरस्वत्या परिश्रितम् ।
स्वयम्भूः साकमृषिभिर्मरीच्यादिभिरभ्ययात् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; कर्दम—कर्दम के; आश्रम-पदम्—आश्रम के स्थान पर; सरस्वत्या—सरस्वती नदी के द्वारा; परिश्रितम्—घिरा हुआ; स्वयम्भूः—ब्रह्मा (आत्म-जन्मा); साकम्—साथ; ऋषिभिः—ऋषियों के; मरीचि—मरीचि मुनि; आदिभिः—तथा अन्य; अभ्ययात्—वहाँ आये।

सर्वप्रथम सृजित जीव ब्रह्मा मरीचि तथा अन्य मुनियों के साथ कर्दम के आश्रम गये, जो सरस्वती नदी से चारों ओर से घिरा था।

तात्पर्य : ब्रह्मा को स्वयम्भू कहा जाता है, क्योंकि वे भौतिक रूप से किसी माता पिता के बिना ही सृजित हैं। वे प्रथम जीव, हैं, जो भगवान् गर्भोदकशायी विष्णु के नाभि-कमल से

उत्पन्न हैं। इसीलिए उन्हें स्वयंभू अर्थात् स्वत: जन्मा कहा जाता है।

भगवन्तं परं ब्रह्म सत्त्वेनांशेन शत्रुहन् ।
तत्त्वसङ्ख्यानविज्ञप्त्यै जातं विद्वानजः स्वराट् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

भगवन्तम्—भगवान्; परम्—परम; ब्रह्म—ब्रह्म; सत्त्वेन—कल्मषरहित अस्तित्व वाला; अंशेन—अंश से; शत्रु-हन्—हे शत्रुओं के संहारक, विदुर; तत्त्व-सङ्ख्यान—चौबीस भौतिक तत्त्वों का दर्शन; विज्ञप्त्यै—व्याख्या के लिए; जातम्—उत्पन्न; विद्वान्—ज्ञाता; अजः—अजन्मा (ब्रह्मा); स्व-राट्—स्वच्छन्द।

मैत्रेय ने आगे कहा—हे शत्रुओं के संहारक, ज्ञान प्राप्त करने में प्राय: स्वच्छन्द, अजन्मा ब्रह्माजी समझ गये कि श्रीभगवान् का एक अंश अपने कल्मषरहि अस्तित्व में, सांख्ययोग रूप में समस्त ज्ञान की व्याख्या के लिए देवहूति के गर्भ से प्रकट हुआ है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के पन्द्रहवें अध्याय में बताया गया है कि भगवान् स्वयं ही वेदान्तसूत्र का संकलन करने वाले हैं और वे उसके पूर्ण ज्ञाता हैं। इसी प्रकार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने कपिल के रूप में प्रकट होकर सांख्य दर्शन का संकलन किया। एक नकली कपिल भी हैं जिनकी सांख्य दार्शनिक पद्धति प्रसिद्ध है, किन्तु भगवान् के अवतार श्रीकपिल इस कपिल से भिन्न हैं। कर्दम मुनि के पुत्र कपिल ने अपने सांख्य दर्शन में न केवल भौतिक जगत वरन् आध्यात्मिक जगत की अत्यन्त सुस्पष्ट रुप से व्याख्या की है। ब्रह्मा इस तथ्य को जान गये, क्योंकि वे स्वराट् अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने के लिए पूर्णत: स्वतन्त्र हैं। वे इसीलिए स्वराट् हैं, क्योंकि उन्होंने प्रत्येक वस्तु स्वत: भीतर से सीखी, इसके लिए वे किसी स्कूल या कालेज में शिक्षा प्राप्त करने नहीं गये। इस ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा के आदि जीव होने के कारण उनका कोई शिक्षक नहीं है; उनके शिक्षक स्वयं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं, जो प्रत्येक प्राणी के हृदय में आसीन हैं। ब्रह्मा ने हृदय के भीतर स्थित परमेश्वर से प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया। इसीलिए वे कभी-कभी स्वराट् तथा अज कहलाते हैं।

यहाँ एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात कही गई है। सत्त्वेनांशेन—जब पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् प्रकट होते हैं, तो वे अपने साथ वैकुण्ठ का सारा साज-सामान लेते आते हैं, फलत: उनके नाम, रूप, गुण, सामग्री तथा परिचारक (साथी) दिव्य जगत से सम्बन्धित रहते हैं। दिव्य

जगत में ही वास्तविक सत्त्व (अच्छाई) है। भौतिक जगत में सत्त्व गुण कभी शुद्ध नहीं होता। सतोगुण के अस्तित्व के साथ ही काम तथा अविद्या का भी अल्पांश रहता है। आध्यात्मिक जगत में सत्त्व प्रधान अमिश्रित गुण है; अतः सत्त्व गुण शुद्ध-सत्त्व कहलाता है। शुद्ध-सत्त्व का ही अन्य नाम वासुदेव है, क्योंकि ईश्वर का जन्म वसुदेव से होता है। अन्य अर्थ यह है कि जब कोई सत्त्व गुण को प्राप्त होता है, तो वह श्रीभगवान् के रूप, नाम, गुण, सामग्री तथा परिचारक को अच्छी तरह समझ सकता है। अंशेन शब्द भी बताता है कि श्रीभगवान् श्रीकृष्ण अपने एक अंश के भी अंश से कपिलदेव के रूप में प्रकट हुए। ईश्वर 'कला' अथवा 'अंश' रूप में विस्तार करते हैं। अंश का अर्थ प्रत्यक्ष विस्तार है और कला का अर्थ है विस्तार का भी विस्तार। विस्तार, विस्तार के भी विस्तार तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में उसी प्रकार से कोई अन्तर नहीं है जैसे एक दीपक तथा दूसरे दीपक में कोई भेद नहीं हैं, तो भी जिस दीपक से सब जलते हैं वह आदि दीपक कहलाता है। इसीलिए श्रीकृष्ण परब्रह्म तथा समस्त कारणों के कारण कहलाते हैं।

सभाजयन्विशुद्धेन चेतसा तच्चिकीर्षितम् ।
प्रहृष्यमाणैरसुभिः कर्दमं चेदमभ्यधात् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

सभाजयन्—पूजा करते हुए; **विशुद्धेन**—विशुद्ध; **चेतसा**—हृदय से; **तत्**—श्रीभगवान् का; **चिकीर्षितम्**—वांछित कार्यकलाप; **प्रहृष्यमाणैः**—प्रमुदित; **असुभिः**—इन्द्रियों से; **कर्दमम्**—कर्दम मुनि; **च**—तथा देवहूति से; **इदम्**—यह; **अभ्यधात्**—कहा।

अवतार रुप में भगवान के अभिप्रेत कार्यकलापों के लिए प्रमुदित इन्द्रियों तथा विशुद्ध हृदय से परमेश्वर की पूजा करके, ब्रह्माजी ने कर्दम तथा देवहूति से इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* के चतुर्थ अध्याय में बताया गया है, जो मनुष्य श्रीभगवान् के दिव्य कार्यों, उनके प्राकट्य तथा अन्तर्धान होने को समझ लेता है उसे मुक्त समझना चाहिए। अतः ब्रह्मा मुक्त जीव हैं। यद्यपि वे इस विश्व के प्रभारी हैं, किन्तु वे पूर्णतः सामान्य जीवात्मा की तरह नहीं हैं। चूँकि वे अधिकांश सामान्य जीवात्माओं की मूर्खताओं से मुक्त हैं,

अत: उन्हें श्रीभगवान् के प्राकट्य का ज्ञान था इसीलिए उन्होंने भगवान् के कार्यों की पूजा की और प्रसन्न मन से कर्दम मुनि की प्रशंसा की, क्योंकि उनके पुत्र कपिल के रूप में भगवान् ने अवतार ले लिया था। अत: जो मनुष्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का पिता बन सकता है, वह अवश्य ही महान् भक्त है। एक ब्राह्मण ने एक श्लोक पढ़ा जिसमें वह कहता है कि वह न तो वेद जानता है और न पुराण, न उसकी इनमें रुचि है, वह तो नन्द महाराज में प्रीति रखता है, जो श्रीकृष्ण के पिता स्वरूप प्रतीत होते हैं। वह ब्राह्मण नन्द महाराज की पूजा करना चाहता था, क्योंकि उसके आँगन में श्रीभगवान् घुटनों के बल चल रहे थे। ऐसे होते है, भक्तों के कुछ उत्तम उद्गार। यदि कोई मान्य भक्त श्रीभगवान् को पुत्र रूप में उत्पन्न करे, तो उसकी भी प्रशंसा की जानी चाहिए। इसीलिए ब्रह्मा ने न केवल भगवान् के अवतार कपिल की पूजा की वरन् उनके पिता कर्दम मुनि की भी प्रशंसा की।

ब्रह्मोवाच
त्वया मेऽपचितिस्तात कल्पिता निर्व्यलीकत: ।
यन्मे सञ्जगृहे वाक्यं भवान्मानद मानयन् ॥ १२॥

शब्दार्थ

ब्रह्मा—ब्रह्माजी ने; उवाच—कहा; त्वया—तुम्हारे द्वारा; मे—मेरा; अपचिति:—पूजा; तात—हे पुत्र; कल्पिता—सम्पन्न; निर्व्यलीकत:—बिना द्वैत के; यत्—चूँकि; मे—मेरा; सञ्जगृहे—पूर्णतया स्वीकार किया है; वाक्यम्—उपदेश; भवान्—आप; मान-द—हे कर्दम (अन्यों का सम्मान करने वाले); मानयन्—आदर करते हुए।

ब्रह्माजी ने कहा : प्रिय पुत्र कर्दम, चूँकि तुमने मेरे उपदेशों का आदर करते हुए उन्हें बिना किसी द्वैत के स्वीकार किया है, अत: तुमने मेरी समुचित तरह से पूजा की है। तुमने मेरे सारे उपदेशों का पालन किया है, ऐसा करके तुमने मेरा सम्मान किया है।

तात्पर्य : ब्रह्माजी इस ब्रह्माण्ड के प्रथम जीवात्मा के रूप में सबों के गुरु माने जाते हैं। वे सभी जीवों के अर्थात् पिता स्रष्टा भी हैं। कर्दम मुनि प्रजापतियों में से एक हैं और वे ब्रह्मा के पुत्र भी हैं। ब्रह्मा कर्दम की इसीलिए प्रशंसा करते हैं, क्योंकि उसने अपने गुरु की आज्ञाओं को किसी प्रकार के कपट के बिना पूर्ण रूप में पालन किया था। भौतिक जगत में बद्धजीव का सबसे बड़ा दुर्गुण है ठगना। उसमें चार दुर्गुण होते हैं—वह त्रुटि करता है, मोहग्रस्त होता है,

उसमें अन्यों को ठगने की प्रवृत्ति होती है और उसकी इन्द्रियाँ अपूर्ण होती हैं। किन्तु यदि कोई परम्परा प्रणाली से गुरु की आज्ञा का पालन करता है, तो वह इन दुर्गुणों पर विजय प्राप्त कर लेता है। अत: प्रामाणिक गुरु से प्राप्त ज्ञान ठगी नहीं है। ब्रह्माजी को यह भलीभाँति ज्ञात था कि कर्दम मुनि उनकी आज्ञाओं का अक्षरश: पालन कर रहे थे और इस प्रकार वे अपने गुरु को वास्तविक सम्मान प्रदान कर रहे थे। गुरु के सम्मान का अर्थ ही है उसके आदेशों का अक्षरश: पालन।

एतावत्येव शुश्रूषा कार्या पितरि पुत्रकैः ।
बाढमित्यनुमन्येत गौरवेण गुरोर्वचः ॥ १३॥

शब्दार्थ

एतावती—इस हद तक; एव—ठीक ठीक; शुश्रूषा—सेवा; कार्या—करनी चाहिए; पितरि—पिता की; पुत्रकैः—पुत्रों के द्वारा; बाढम् इति—स्वीकार करते हुए, 'जो आज्ञा'; अनुमन्येत—आज्ञा पालन करना चाहिए; गौरवेण—आदरपूर्वक; गुरोः—गुरु के; वचः—आदेश।.

पुत्रों को अपने पिता की ऐसी ही सेवा करनी चाहिए। पुत्र को चाहिए कि अपने पिता या गुरु के आदेश का पालन सम्मानपूर्वक ''जो आज्ञा'' कहते हुए करे,।

तात्पर्य : इस श्लोक में दो शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं एक तो पितरि और दूसरा गुरो:। पुत्र अथवा शिष्य को चाहिए कि वह अपने पिता या गुरु के वचनों को बिना झिझक के माने। पिता अथवा गुरु जो कुछ भी आदेश दे उसपर बिना तर्क के ''हाँ'' कह दे। ऐसा कोई अवसर नहीं आना चाहिए जब शिष्य या पुत्र यह कहे, ''यह उचित नहीं है, मैं इसे नहीं कर सकता।'' यदि वह यह कहता है, तो वह पतित हो चुका है। पिता तथा गुरु का समान पद है, क्योंकि गुरु दूसरा पिता होता है। उच्च वर्ग के लोग द्विज—दो बार जन्मा—कहलाते हैं। जब भी जन्म की बात उठेगी, पिता का होना आवश्यक होगा। पहला जन्म तो वास्तविक पिता के कारण होता है, किन्तु दूसरा जन्म गुरु द्वारा ही सम्भव हो पाता है। कभी पिता तथा गुरु एक ही व्यक्ति हो सकते हैं, तो कभी कभी भिन्न भिन्न। प्रत्येक अवस्था में पिता या गुरु की आज्ञा का तुरन्त हाँ करते हुए पालन होना चाहिए। उसमें किसी प्रकार का तर्क नहीं करना चाहिए। यही गुरु तथा पिता की असली सेवा है। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है कि गुरु की आज्ञा शिष्यों के

लिए जीवन और आत्मा तुल्य है। जिस प्रकार मनुष्य शरीर से आत्मा को पृथक् नहीं कर सकता उसी प्रकार शिष्य अपने जीवन से गुरु आज्ञा को दूर नहीं कर सकता। यदि शिष्य इस प्रकार से गुरु उपदेश का पालन करता है, तो वह अवश्य सिद्ध बनेगा। उपनिषदों में इसकी पुष्टि हुई है—जो लोग श्रीभगवान् तथा अपने गुरु में श्रद्धा रखते हैं उन्हें वैदिक शिक्षा स्वत: प्राप्त हो जाती है। कोई भौतिक दृष्टि से भले ही अनपढ़ हो, किन्तु यदि उसे गुरू के साथ ही साथ पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् पर उसकी श्रद्धा है, तो उसके समक्ष शास्त्रों का ज्ञान तुरन्त प्रकट हो जाता है।

इमा दुहितरः सत्यस्तव वत्स सुमध्यमाः ।
सर्गमेतं प्रभावैः स्वैर्बृंहयिष्यन्त्यनेकधा ॥ १४॥

शब्दार्थ

इमाः—ये; दुहितरः—पुत्रियाँ; सत्यः—साध्वी; तव—तुम्हारी; वत्स—हे पुत्र; सु-मध्यमाः—तन्वंगी, पतली कमर वाली; सर्गम्—सृष्टि; एतम्—यह; प्रभावैः—वंशों द्वारा; स्वैः—स्वतः; बृंहयिष्यन्ति—वे बढ़ावेंगी; अनेक-धा—नाना प्रकार से।.

तब ब्रह्माजी ने कर्दम मुनि की नवों कन्याओं की प्रशंसा यह कह कर की—तुम्हारी सभी तन्वंगी कन्याएँ निस्संदेह साध्वी हैं। मुझे विश्वास है कि वे अनेक प्रकार से अपने वंशों द्वारा इस सृष्टि का वर्धन करेंगी।

तात्पर्य : सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्माजी जन संख्या में वृद्धि के लिए चिन्तित रहते ही थे और जब उन्होंने देखा कि कर्दम मुनि के पहले से नौ सुन्दर कन्याएँ हो चुकी हैं, तो उन्हें आशा बँधी कि इन कन्याओं से अनेक सन्तानें उत्पन्न होंगी, जो सृष्टि करने का कार्यभार सँभालेंगी। अत: वे उन्हें देखकर प्रसन्न थे। *सुमध्यमा* शब्द का अर्थ है, ''सुन्दर स्त्री की उत्तम कन्या।'' यदि स्त्री की कमर पतली हो तो वह अत्यन्त सुन्दरी मानी जाती है। कर्दम मुनि की समस्त कन्याएँ ऐसी ही सुन्दरी थीं।

अतस्त्वमृषिमुख्येभ्यो यथाशीलं यथारुचि ।
आत्मजाः परिदेह्यद्य विस्तृणीहि यशो भुवि ॥ १५॥

शब्दार्थ

अतः—इसलिए; त्वम्—तुम; ऋषि-मुख्येभ्यः—प्रमुख ऋषियों को; यथा-शीलम्—स्वभावों के अनुसार; यथा-रुचि—रुचि के अनुसार; आत्म-जाः—अपनी पुत्रियाँ; परिदेहि—प्रदान करो; अद्य—आज; विस्तृणीहि—प्रसार करो; यशः—यश; भुवि—ब्रह्माण्ड भर में।

अतः आज तुम इन पुत्रियों को उनके स्वभाव तथा उनकी रुचियों के अनुसार श्रेष्ठ मुनियों को प्रदान कर दो और इस प्रकार सारे ब्रह्माण्ड में अपना सुयश फैलाओ।

तात्पर्य : नौ मुख्य ऋषि हैं—मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वसिष्ठ तथा अथर्वा। ये ऋषि सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं और ब्रह्मा यही चाह रहे थे कि कर्दम मुनि अपनी कन्याओं को इन्हीं ऋषियों को प्रदान कर दें। यहाँ पर प्रयुक्त दो शब्द अत्यन्त सार्थक हैं—यथाशीलम् तथा यथारुचि। कन्याओं को आँख मूँदकर ऋषियों को नहीं दे दिया जाना चाहिए, वरन् उनके शील तथा रुचि के अनुसार। पुरुष तथा स्त्री को मिलाने की यही कला है। मात्र विषयी जीवन के आधार पर स्त्री तथा पुरुष का संयोग नहीं होना चाहिए। अनेक अन्य विचारणीय बातें होती हैं, जिनमें शील तथा रुचि प्रमुख हैं। यदि उनके शील तथा रुचि पृथक् पृथक् हुए तो ऐसे युगल सदैव दुखी रहते हैं। अभी चालीस वर्ष पूर्व तक, भारतीय विवाहों में पहले वर तथा कन्या के शील तथा गुण पर विचार होता था और तब उन्हें ब्याह की अनुमति दी जाती थी। यह दोनों पक्षों के माता-पिता के निर्देशन में होता था। माता-पिता ज्योतिष के अनुसार वर तथा कन्या के शील तथा रुचि का निर्धारण करा लेते थे और जब वे मिल जाते थे तभी ब्याह होता था। अन्य विचार गौण होते थे। सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्माजी ने भी इसी पद्धति की सलाह दी, ''तुम अपनी कन्याओं को शील तथा रुचि के अनुसार ऋषियों के साथ ब्याहो।''

ज्योतिष गणना के अनुसार मनुष्य को देवता या असुर की श्रेणी में वर्गीकृत किया जाता है। इस प्रकार पति-पत्नी का चुनाव होता था। दैव गुणवाली कन्या को दैव गुणवाले वर को प्रदान करना चाहिए। इसी प्रकार आसुरी गुणवाली कन्या को असुर गुण वाले वर को प्रदान किया जाना चाहिए। तभी वे सुखी रहेंगे। किन्तु यदि कन्या असुर गुणवाली हुई और लड़का दैव गुणवाला, तो यह जोड़ा बेमेल होगा, वे ऐसे ब्याह से कभी सुखी नहीं रह पाएँगे। आज के समय में लड़कों तथा लड़कियों का विवाह उनके चरित्र तथा गुण को देखकर नहीं किया

जाता, इसीलिए वे सुखी नहीं रहते और तलाक होते रहते हैं।

भागवत के बारहवें स्कंध में यह भविष्यवाणी की गई है कि इस कलियुग में कामवासना के आधार पर विवाह होंगे। जब लड़के तथा लड़की की कामवासना से आनन्द लेते हैं, तो वे ब्याह करते हैं और यदि उसमें कोई कमी रह जाती है, तो वे विलग हो जाते हैं। ऐसा ब्याह कोई ब्याह नहीं, यह तो कुत्तों तथा बिल्लियों का सा नर तथा मादा का मिलन है। अत: आधुनिक युग में जो सन्तानें उत्पन्न हो रही हैं, वे सही अर्थों में मनुष्य नहीं हैं। मनुष्य को तो द्विजन्मा होना ही चाहिए। पहले बच्चे को उत्तम माता तथा पिता जन्म देते हैं और फिर गुरु तथा वेद उसे दूसरा जन्म देते हैं। पहले वाले माता-पिता उसे इस संसार में लाते हैं, तब गुरु तथा वेद उसके दूसरे माता पिता बनते हैं। वैदिक प्रथा के अनुसार विवाह सन्तानोत्पत्ति के लिए होता था और प्रत्येक पुरुष तथा स्त्री आध्यात्मिक ज्ञान से युक्त होते थे और सन्तान उत्पत्ति करते समय सभी बातों पर सम्यक रूप से विचार किया जाता था।

वेदाहमाद्यं पुरुषमवतीर्णं स्वमायया ।
भूतानां शेवधिं देहं बिभ्राणं कपिलं मुने ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

वेद—जानता हूँ; अहम्—मैं; आद्यम्—आदि; पुरुषम्—भोक्ता; अवतीर्णम्—अवतरित होकर; स्व-मायया—अपनी अन्तरंगा शक्ति से; भूतानाम्—समस्त जीवात्माओं का; शेवधिम्—सभी इच्छाओं का प्रदाता, जो विशाल कोष के तुल्य है; देहम्—शरीर; बिभ्राणम्—मानते हुए; कपिलम्—कपिल मुनि को; मुने—हे कर्दम मुनि!.

हे कर्दम मुनि, मुझे ज्ञात है कि अब आदि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति से अवतार रूप में प्रकट हुए हैं। वे जीवात्माओं के सभी मनोरथों को पूरा करने वाले हैं और उन्होंने अब कपिल मुनि का शरीर धारण किया है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *पुरुषम् अवतीर्णं स्वमायया* शब्द आये हैं। श्रीभगवान् सनातन पुरुष हैं, भोक्ता हैं और जब वे प्रकट होते हैं, तो इस भौतिक शक्ति से कुछ भी ग्रहण नहीं करते। आध्यात्मिक जगत उनकी निजी अन्तरंगा शक्ति का प्रकटीकरण है, जब कि यह भौतिक जगत उनकी भौतिक या भिन्नीकृत शक्ति का प्रकटीकरण है। *स्वमायया* शब्द सूचित करता है कि जब कभी श्रीभगवान् का अवतार होता है, तो वे अपनी स्वशक्ति के रूप में प्रकट होते हैं। वे मनुष्य

का शरीर धारण कर सकते हैं, किन्तु वह शरीर भौतिक नहीं होता। इसीलिए *भगवद्गीता* में स्पष्ट उल्लेख है कि केवल मूर्ख तथा धूर्त अर्थात् मूढ़ ही श्रीकृष्ण के शरीर को सामान्य मनुष्य का शरीर समझते हैं। शेवधिम् शब्द का अर्थ है कि वह समस्त जीवों की आवश्यकताओं को प्रदान करने वाला है। वेदों में भी उल्लेख है कि भगवान् प्रधान पुरुष हैं और अन्य जीवों की समस्त आवश्यकताओं को पूरा करने वाले हैं। अन्य सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के कारण वे ईश्वर कहलाते हैं। परम पुरुष भी व्यक्ति है, वह निराकार नहीं हैं। जिस प्रकार हम पृथक् पृथक् व्यक्तित्वहैं उसी प्रकार भगवान् भी पृथक् हैं, किन्तु वे परम पुरुष हैं। ईश्वर तथा सामान्य जीवात्माओं में यही अन्तर है।

ज्ञानविज्ञानयोगेन कर्मणामुद्धरन्जटाः ।
हिरण्यकेशः पद्माक्षः पद्ममुद्रापदाम्बुजः ॥ १७॥

शब्दार्थ

ज्ञान—शास्त्रीय ज्ञान का; विज्ञान—तथा व्यवहार; योगेन—योग के द्वारा; कर्मणाम्—कार्यों का; उद्धरन्—समूल विच्छेद करने के लिए; जटाः—जड़ें; हिरण्य-केशः—सुनहले बाल; पद्म-अक्षः—कमल से समान नेत्र वाला; पद्म-मुद्रा—कमल चिह्न से युक्त; पद-अम्बुजः—कमल सदृश चरणों वाले।

सुनहले बाल, कमल की पंखड़ियों जैसे नेत्र तथा कमल के पुष्प से अंकित कमल के समान चरणोवाले कपिल मुनि अपने योग तथा शास्त्रीय ज्ञान के व्यवहार से इस भौतिक जगत में कर्म की इच्छा को समूल नष्ट कर देंगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में कपिल मुनि के कार्यों तथा शारीरिक लक्षणों का सुन्दर वर्णन हुआ है। यहाँ पर कपिल मुनि के कार्यों की भविष्यवाणी की गई है—वे सांख्य दर्शन को इस प्रकार प्रस्तुत करेंगे कि लोग उनके दर्शन का अध्ययन करके कर्म अर्थात् सकाम कर्म की उत्कट अभिलाषा को जड़ से उखाड़ देंगे। इस भौतिक जगत में प्रत्येक व्यक्ति अपने श्रम के फल को प्राप्त करने में लगा हुआ है। मनुष्य अपने श्रम के फल को प्राप्त करके सुखी रहने का प्रयत्न करता है, किन्तु वस्तुतः वह अधिकाधिक उलझता जाता है। जब तक पूर्ण ज्ञान या भक्तियोग प्राप्त नहीं कर लिया जाता, तब तक इस बन्धन से वह छूट नहीं पाता।

केवल विचारशक्ति (कल्पना) के द्वारा जो लोग बन्धन से छूटने का प्रयत्न करते हैं, वे भी

भरसकप्रयास कर रहे होते हैं, किन्तु वैदिक धर्मशास्त्रों से पता चलता है, जिसने कृष्ण भावनामृत में भक्तिप्रिय सेवा अंगीकार ली है, वह कर्म की अभिलाषा को सरलता से उच्छेदित कर देता है। कपिल मुनि द्वारा इस कार्य हेतु सांख्य दर्शन का प्रसार होगा। यहाँ पर उनके शारीरिक लक्षणों का भी वर्णन हुआ हैं। ज्ञान सामान्य शोधकार्य का द्योतक नहीं है। ज्ञान तो शिष्य-परम्परा से गुरु के माध्यम से प्राप्त होने वाले शास्त्रीय ज्ञान का द्योतक है। इस आधुनिक युग में कल्पना एवं आडम्बर द्वारा शोधकार्य करने की प्रवृत्ति चल पड़ी है। किन्तु जो व्यक्ति कल्पना करता है, वह यह भूल जाता है कि वह स्वयं प्रकृति के चार अवगुणों के अधीन है—वह त्रुटि करता है, उसकी इन्द्रियाँ अपूर्ण हैं, उसे मोह हो सकता है और वह ठगता है। जब तक किसी को शिष्य-परम्परा से पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं होता, तब तक वह अपने गढ़े हुए कोरे सिद्धान्त प्रस्तुत करता रहता है, अत: वह लोगों को ठग रहा होता है। ज्ञान का अर्थ है शिष्य-परम्परा से प्राप्त ज्ञान और विज्ञान का अर्थ है ऐसे ज्ञान का व्यावहारिक सम्प्रयोग। कपिल मुनि का सांख्य दर्शन ज्ञान तथा विज्ञान पर आधारित है।

एष मानवि ते गर्भं प्रविष्टः कैटभार्दनः ।
अविद्यासंशयग्रन्थिं छित्त्वा गां विचरिष्यति ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

एषः—वही श्रीभगवान्; मानवि—हे मनु की पुत्री; ते—तुम्हारे; गर्भम्—गर्भ में; प्रविष्टः—प्रविष्ट हुआ है; कैटभ-अर्दनः—कैटभ असुर को मारने वाला; अविद्या—अज्ञान का; संशय—तथा सन्देह का; ग्रन्थिम्—गाँठ; छित्त्वा—काटकर; गाम्—संसार में; विचरिष्यति—विचरण करेगा।

तब ब्रह्माजी ने देवहूति से कहा : हे मनुपुत्री, जिन श्रीभगवान् ने कैटभ असुर का बध किया है, वे ही अब तुम्हारे गर्भ में आये हैं। वे तुम्हारे समस्त संशय तथा अज्ञान की गाँठ को नष्ट कर देंगे। तब वे सारे विश्व का भ्रमण करेंगे।

तात्पर्य : यहाँ पर अविद्या शब्द अत्यन्त सार्थक है। अविद्या का अर्थ है अपने स्वरूप को भूल जाना। हममें से प्रत्येक आत्मा है, किन्तु हम इसे भूल गये हैं। हम सोचते हैं, ''मैं यह शरीर हूँ।'' यही अविद्या कहलाती है। *संशय-ग्रंथि* का अर्थ है सन्देहात्मकता। जब आत्मा अपने को भौतिक जगत से अभिन्न मानता है, तो संदेहात्मकता की ग्रंथि जकड़ती जाती है।

यही ग्रंथि अहंकार कहलाती है, अर्थात् पदार्थ तथा आत्मा का गठबंधन। शिष्य-परम्परा से प्राप्त समुचित ज्ञान तथा उस ज्ञान के समुचित अनुशीलन से ही मनुष्य पदार्थ तथा आत्मा के गठबंधन से मुक्त हो सकता है। ब्रह्मा ने देवहूति को आश्वासन दिया कि उसका पुत्र उसे ज्ञान प्रदान करेगा और फिर सांख्य दर्शन की पद्धति का वितरण करने के लिए सारे विश्व का भ्रमण करेगा।

संशय शब्द का अर्थ 'संदेहास्पद ज्ञान' है। काल्पनिक तथा छद्म योग सम्बन्धी ज्ञान संशयात्मक होता है। आज के समय में तथाकथित योग पद्धति इस भावना पर आधारित है कि शारीरिक संरचना के विभिन्न अंगों के संचालन से मनुष्य ईश्वर बन सकता है। बौद्धिक कल्पनावादी भी ऐसा ही सोचते हैं, किन्तु वे सभी संशयग्रस्त रहते हैं। वास्तविक ज्ञान का प्रतिपादन *भगवद्गीता* में हुआ है, ''केवल कृष्णभावनाभावित बनो, कृष्ण की ही पूजा करो और कृष्ण के भक्त बन जाओ।'' यही असली ज्ञान है और जो भी इस पद्धति का अनुकरण करता है, वह निश्चित रूप से सिद्ध बन जाता है।

अयं सिद्धगणाधीशः साङ्ख्याचार्यैः सुसम्मतः ।
लोके कपिल इत्याख्यां गन्ता ते कीर्तिवर्धनः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अयम्—यह भगवान्; सिद्ध-गण—सिद्धमुनियों का; अधीशः—प्रमुख; साङ्ख्य-आचार्यैः—सांख्य दर्शन में दक्ष आचार्यों द्वारा; सु-सम्मतः—वैदिक नियमों के अनुसार मान्य; लोके—संसार में; कपिलः इति—कपिल रूप में; आख्याम्—विख्यात; गन्ता—वह घूमेगा; ते—तुम्हारा; कीर्ति—यश; वर्धनः—बढ़ाते हुए।

तुम्हारा पुत्र समस्त सिद्धगणों का अग्रणी होगा। वह वास्तविक ज्ञान का प्रसार करने में दक्ष आचार्यों द्वारा मान्य होगा और मनुष्यों में वह कपिल नाम से विख्यात होगा। देवहूति के पुत्र-रूप में वह तुम्हारे यश को बढ़ाएगा।

तात्पर्य : सांख्य दर्शन देवहूति के पुत्र कपिल द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक पद्धति है। दूसरे कपिल, जो देवहूति के पुत्र नहीं हैं, नकली हैं। यह ब्रह्मा का कथन है और चूँकि हम ब्रह्मा की शिष्य-परम्परा से सम्बन्धित हैं, अतः हमें उनके कथन को स्वीकार करना चाहिए कि असली कपिल देवहूति के पुत्र थे और वास्तविक सांख्य दर्शन का सूत्रपात उन्हीं के द्वारा हुआ जिसे

आध्यात्मिक प्रवग के संचालक आचार्य लोग स्वीकार करेंगे। सुसम्मत शब्द का अर्थ है ''उन व्यक्तियों द्वारा स्वीकृत जिनके अभिमत का महत्त्व होता है।''

मैत्रेय उवाच
तावाश्वास्य जगत्स्त्रष्टा कुमारैः सहनारदः ।
हंसो हंसेन यानेन त्रिधामपरमं ययौ ॥ २० ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; **तौ**—दम्पति; **आश्वास्य**—आश्वस्त करके; **जगत्-स्त्रष्टा**—ब्रह्माण्ड का निर्माता; **कुमारैः**—कुमारों के साथ साथ; **सह-नारदः**—नारद सहित; **हंसः**—ब्रह्माजी; **हंसेन यानेन**—अपने हंस वाहन द्वारा; **त्रि-धाम-परमम्**—सर्वोच्च लोक को; **ययौ**—चले गये।

श्रीमैत्रेय ने कहा—कर्दम मुनि तथा उनकी पत्नी देवहूति से इस प्रकार कह कर ब्रह्माण्ड के स्त्रष्टा ब्रह्माजी, जिन्हें हंस भी कहा जाता है, अपने वाहन हंस पर चढ़कर चारों कुमारों तथा नारद सहित तीनों लोकों में से सर्वोच्च लोक को वापस चले गये।

तात्पर्य : यहाँ पर *हंसेन यानेन* शब्द अत्यन्त सार्थक हैं। जिस विमान से ब्रह्मा बाह्य आकाश में यात्रा करते हैं वह हंसयान है और हंस की आकृति से मिलता जुलता है। ब्रह्मा को हंस भी कहा जाता है, क्योंकि वे प्रत्येक वस्तु के सार को ग्रहण कर सकते हैं। उनका धाम *त्रिधाम परमम्* कहलाता है। ब्रह्माण्ड के तीन विभाग हैं—उच्चतर लोक, मध्यलोक तथा निम्नलोक, किन्तु उनका धाम सिद्ध लोक, अर्थात् उच्चतर लोक से भी ऊपर है। वे अपने लोक चारों कुमारों तथा नारद के सहित वापस चले गये, क्योंकि उनका ब्याह नहीं होना था। अन्य ऋषि जो उनके साथ आये थे, यथा मारीचि तथा अत्रि, वे वहीं रहे, क्योंकि उनका विवाह कर्दम की कन्याओं के साथ होना था, परन्तु उनके अन्य पुत्र—सनत्, सनक, सनन्दन, सनातन तथा नारद उनके हंसयान से उनके साथ ही वापस चले गये। चारों कुमार तथा नारद नैष्ठिक ब्रह्मचारी हैं। नैष्ठिक ब्रह्मचारी वह है, जो कभी अपना वीर्य नष्ट नहीं होने देता। उन्हें अपने अन्य भाइयों मारीचि तथा अन्य ऋषियों के विवाहोत्सव में सम्मिलित नहीं होना था, इसीलिए वे अपने पिता हंस के साथ वापस चल गये।

गते शतधृतौ क्षत्तः कर्दमस्तेन चोदितः ।
यथोदितं स्वदुहितॄः प्रादाद्विश्वसृजां ततः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

गते—चले जाने के बाद; शत-धृतौ—भगवान् ब्रह्मा; क्षत्तः—हे विदुर; कर्दमः—कर्दम मुनि; तेन—उसके द्वारा; चोदितः—आदेशित होकर; यथा-उदितम्—कहे जाने के अनुसार; स्व-दुहितॄः—अपनी कन्याएँ; प्रादात्—प्रदान कर दिया; विश्व-सृजाम्—प्राणियों के स्रष्टा; ततः—तदनन्तर।

हे विदुर ब्रह्माजी, कर्दम मनि ने अपनी नवों पुत्रियों को ब्रह्मा द्वारा दिये गये आदेशों के अनुसार नौ ऋषियों को प्रदान कर दिया, जिन्होंने इस संसार के मनुष्यों का सृजन किया।

मरीचये कलां प्रादादनसूयामथात्रये ।
श्रद्धामङ्गिरसेऽयच्छत्पुलस्त्याय हविर्भुवम् ॥ २२ ॥
पुलहाय गतिं युक्तां क्रतवे च क्रियां सतीम् ।
ख्यातिं च भृगवेऽयच्छद्वसिष्ठायाप्यरुन्धतीम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

मरीचये—मरीचि को; कलाम्—कला; प्रादात्—प्रदान किया; अनसूयाम्—अनुसूया; अथ—तब; अत्रये—अत्रि को; श्रद्धाम्—श्रद्धा; अङ्गिरसे—अंगिरा को; अयच्छत्—दे दिया; पुलस्त्याय—पुलस्त्य को; हविर्भुवम्—हविर्भू; पुलहाय—पुलह को; गतिम्—गति; युक्ताम्—उपयुक्त; क्रतवे—क्रतु को; च—यथा; क्रियाम्—क्रिया; सतीम्—सती; ख्यातिम्—ख्याति; च—यथा; भृगवे—भृगु को; अयच्छत्—दे दिया; वसिष्ठाय—वसिष्ठ मुनि को; अपि—भी; अरुन्धतीम्—अरुन्धती।

कर्दम मुनि ने अपने पुत्री कला को मारीचि को और दूसरी कन्या अनुसूया को अत्रि को समर्पित कर दिया। श्रद्धा, हविर्भू, गति, क्रिया, ख्याति तथा अरुन्धती नामक कन्याएँ क्रमशः अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु और वसिष्ठ को प्रदान की गईं।

अथर्वणेऽददाच्छान्तिं यया यज्ञो वितन्यते ।
विप्रर्षभान्कृतोद्वाहान्सदारान्समलालयत् ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

अथर्वणे—अथर्वा को; अददात्—प्रदान किया; शान्तिम्—शान्ति; यया—जिसके द्वारा; यज्ञः—यज्ञ; वितन्यते—किया जाता है; विप्र-ऋषभान्—ब्राह्मणों में अग्रगण्य; कृत-उद्वाहान्—विवाह कर दिया; स-दारान्—उनकी पत्नियों सहित; समलालयत्—पालन किया।

उन्होंने शान्ति अथर्वा को प्रदान की। शान्ति के कारण यज्ञ अच्छी तरह सम्पन्न होने लगे। इस प्रकार उन्होंने अग्रणी ब्राह्मणों से उन सबका विवाह कर दिया और पत्नियों सहित उन सबका पालन करने लगे।

ततस्त ऋषयः क्षत्तः कृतदारा निमन्त्र्य तम् ।
प्रातिष्ठन्नन्दिमापन्नाः स्वं स्वमाश्रममण्डलम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; ते—वे; ऋषयः—ऋषिगण; क्षत्तः—हे विदुर; कृत-दाराः—इस प्रकार विवाहित; निमन्त्र्य—विदा लेकर; तम्—कर्दम से; प्रातिष्ठन्—चले गये; नन्दिम्—प्रसन्नता को; आपन्नाः—प्राप्त; स्वम् स्वम्—अपने अपने; आश्रम-मण्डलम्—आश्रम।

हे विदुर, इस प्रकार विवाहित होकर ऋषियों ने कर्दम से विदा ली और वे प्रसन्नतापूर्वक अपने अपने आश्रम को चले गये।

स चावतीर्णं त्रियुगमाज्ञाय विबुधर्षभम् ।
विविक्त उपसङ्गम्य प्रणम्य समभाषत ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

सः—कर्दम मुनि ने; च—तथा; अवतीर्णम्—अवतार लिया; त्रि-युगम्—विष्णु को; आज्ञाय—समझ कर; विबुध-ऋषभम्—देवताओं का मुखिया; विविक्ते—एकान्त स्थान में; उपसङ्गम्य—पास जाकर; प्रणम्य—प्रणाम करके; समभाषत—बोला।

जब कर्दम मुनि ने समझ लिया कि सब देवताओं के प्रधान पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु ने अवतार लिया है, तो वे एकान्त स्थान में जाकर उन्हें नमस्कार करते हुए इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु को *त्रि-युग* कहते हैं। वे तीन युगों—सत्य, त्रेता तथा द्वापर में प्रकट होते हैं, किन्तु कलियुग में नहीं प्रकट होते, लेकिन प्रह्लाद महाराज की स्तुतियों से समझ में आता है कि वे भक्त के वेश में कलियुग में प्रकट होते हैं। भगवान् चैतन्य ही वे भक्त हैं। किन्तु उन्होंने कभी इस भेद को प्रकट नहीं किया कि कृष्ण भक्त के रूप में प्रकट हुए हैं, फिर भी रूप गोस्वामी ने उन्हें पहचान लिया, क्योंकि भगवान् अपने को शुद्ध भक्त से छिपा नहीं पाते। जब रूप गोस्वामी ने पहली बार भगवान् चैतन्य को नमस्कार किया तभी उनको पहचान गये थे। वे जान गये कि भगवान् चैतन्य स्वयं श्रीकृष्ण थे, अतः उन्होंने इन शब्दों में उनको प्रणाम किया, ''मैं श्रीकृष्ण की प्रार्थना करता हूँ जो अब भगवान् चैतन्य के रूप में प्रकट हुए हैं।'' प्रह्लाद महाराज की स्तुतियों से भी इसकी पुष्टि होती है, वे कलियुग में प्रत्यक्ष रूप में नहीं वरन् भक्त के रूप में प्रकट होते हैं। इसीलिए विष्णु त्रियुग कहलाते हैं। त्रियुग की एक

अन्य व्याख्या है, जिसके अनुसार भगवान् में तीन युग्म दैवी गुण पाये जाते हैं जिनके नाम हैं शक्ति तथा समृद्धि, दया तथा यश और बुद्धि तथा शान्ति। श्रीधर स्वामी के अनुसार भगवान् के ऐश्वर्य के तीन जोड़े इस प्रकार हैं—समस्त धन तथा समस्त शक्ति, सम्पूर्ण यश तथा समग्र सौन्दर्य तथा समग्र बुद्धि और समग्र त्याग। त्रियुग की विभिन्न व्याख्याएँ हैं, किन्तु समस्त विद्वानों ने इसका अर्थ विष्णु माना है। जब कर्दम मुनि जान गये कि उनका पुत्र कपिल साक्षात् विष्णु है, तो उन्होंने उसको प्रणाम करना चाहा। अत: जब कपिल अकेले थे तो उन्होंने इस प्रकार से प्रणाम किया और अपने मन की बातें कहीं।

अहो पापच्यमानानां निरये स्वैरमङ्गलैः ।
कालेन भूयसा नूनं प्रसीदन्तीह देवताः ॥ २७॥

शब्दार्थ

अहो—ओह; पापच्यमानानाम्—सताये हुओं के साथ; निरये—नारकीय बंधन में; स्वैः—अपना, निजी; अमङ्गलैः—कुकृत्यों (पापों) से; कालेन भूयसा—दीर्घकाल बाद; नूनम्—निस्सन्देह; प्रसीदन्ति—प्रसन्न होते हैं; इह—इस संसार में; देवताः—देवतागण।

कर्दम मुनि ने कहा—ओह! इस ब्रह्माण्ड के देवता लम्बी अवधि के बाद कष्ट में पड़ी हुई उन आत्माओं पर प्रसन्न हुए हैं, जो अपने कुकृत्यों के कारण भौतिक बन्धन में पड़े हुए हैं।

तात्पर्य : यह भौतिक जगत दुख का स्थान है, जो बद्धजीवों द्वारा स्वयं किये गये कुकर्मों के कारण है। ये दुख उन पर बाहर से नहीं लादे जाते, अपितु बद्धजीव अपने कर्मों से अपने दुखों को उत्पन्न करते हैं। जंगल में आग स्वत: लगती है। ऐसा नहीं है कि कोई वहाँ जाता है और आग लगाता है—वृक्षों की रगड़ से आग स्वत: उत्पन्न होती है। जब इस संसार रूपी जंगल की अग्नि से अत्यधिक ताप उत्पन्न होता है, तो ब्रह्मा समेत सभी देवता इससे त्रस्त होकर परमेश्वर अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के पास जाते हैं और इस स्थिति से उबारने के लिए प्रार्थना करते हैं। तब श्रीभगवान् अवतरित होते हैं। दूसरे शब्दों में, कहा जा सकता है कि जब देवतागण बद्धजीवों के कष्टों को देखकर दुखी होते हैं, तो इनसे उद्धार पाने के लिए वे श्रीभगवान् के पास पहुँचते हैं और श्रीभगवान् का अवतार होता है। और जब श्रीभगवान्

अवतरित होते हैं, तो सभी देवता प्रसन्न होते हैं। अत: कर्दम मुनि ने कहा, ''अनेक वर्षों तक मानवीय कष्टों के सहने के बाद अब सभी देवता प्रसन्न हुए हैं, क्योंकि श्रीभगवान् के अवतार कपिलदेव प्रकट हुए हैं।''

बहुजन्मविपक्वेन सम्यग्योगसमाधिना ।
द्रष्टुं यतन्ते यतयः शून्यागारेषु यत्पदम् ॥ २८॥

शब्दार्थ

बहु—अनेक; जन्म—जन्मों के बाद; विपक्वेन—पका हुआ, प्रौढ़; सम्यक्—पूर्णतः; योग-समाधिना—योग में समाधि द्वारा; द्रष्टुम्—देखने के लिए; यतन्ते—प्रयत्न करते हैं; यतयः—योगीजन; शून्य-अगारेषु—एकान्त स्थानों में; यत्—जिसके; पदम्—पाँव।

परिपक्व योगीजन योग समाधि में अनेक जन्म लेकर एकान्त स्थानों में रह कर श्रीभगवान् के चरणकमलों को देखने का प्रयत्न करते रहते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर योग के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण बातें कही गई हैं। *बहुजन्म विपक्वेन* शब्द का अर्थ है, ''जन्म जन्मान्तरों तक प्रौढ़ योगाभ्यास।'' एक अन्य शब्द है, *सम्यग्-योग-समाधिना* जिसका अर्थ है, ''योग पद्धति का पूर्ण अभ्यास।'' योग के पूर्ण अभ्यास का अर्थ है भक्तियोग और जब तक मनुष्य भक्तियोग को प्राप्त नहीं होता अथवा श्रीभगवान् की शरण में नहीं जाता, तब तक उसका योगाभ्यास पूर्ण नहीं होता। *श्रीमद्भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि की गई है। बहूनाम् जन्मनाम् अन्ते—अनेक जन्मों के बाद दिव्य ज्ञान में पक्व (निष्णात्) ज्ञानी श्रीभगवान् की शरण में जाता है। कर्दम मुनि इसी कथन को दुहराते हैं। अनेकानेक वर्षों तथा अनेकानेक जन्मों तक योगाभ्यास करने पर मनुष्य एकान्त स्थान में परमेश्वर के चरणकमलों का दर्शन कर पाता है। केवल कुछ आसन कर लेने से कोई तुरन्त सिद्ध नहीं बन जाता। परिपक्व होने के लिए उसे दीर्घकाल तक—अनेक अनेक जन्मों तक—योगाभ्यास करना पड़ता है और वह भी एकान्त स्थान में जाकर। कोई किसी नगर या सार्वजनिक पार्क में योगाभ्यास नहीं कर सकता और न यह घोषित कर सकता है कि मात्र कुछ धन का आदान प्रदान करने से वह ईश्वर बन गया है। यह बेढंगा प्रचार है। जो असली योगी हैं, वे एकान्त स्थान में जाकर अभ्यास करते हैं और अनेकानेक जन्मों के बाद तभी सफल होते हैं जब वे श्रीभगवान् की शरण ग्रहण

करते हैं। यही योग की पूर्णता है।

स एव भगवानद्य हेलनं न गणय्य नः ।
गृहेषु जातो ग्राम्याणां यः स्वानां पक्षपोषणः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सः एव—वही; भगवान्—श्रीभगवान्; अद्य—आज; हेलनम्—उपेक्षा; न—नहीं; गणय्य—ऊँचा तथा नीचा मानकर; नः—हमारे; गृहेषु—घरों में; जातः—प्रकट हुआ; ग्राम्याणाम्—सामान्य गृहस्थों का; यः—जो; स्वानाम्—अपने भक्तों का; पक्ष-पोषणः—पक्षधर।

हम जैसे सामान्य गृहस्थों की उपेक्षा का ध्यान न करते हुए वही श्रीभगवान् अपने भक्तों की सहायता के लिए ही हमारे घरों में प्रकट होते हैं।

तात्पर्य : श्रीभगवान् को भक्त इतने प्रिय हैं कि भले ही वे एकान्त स्थान में अनेकानेक जन्मों से अभ्यास करने में रत योगियों के समक्ष न प्रकट हों, किन्तु वे गृहस्थों के घर में प्रकट होना स्वीकार करते हैं जहाँ भक्त भौतिक योग किये बिना ही भगवान् की भक्ति में लगे रहते हैं। दूसरे शब्दों में, भक्तिमय सेवा करना इतना सरल है कि गृहस्थ भी श्रीभगवान् को अपने परिवार के सदस्य के रूप में, अपने पुत्र रूप में देख सकता है जैसाकि कर्दम मुनि को अनुभव हुआ। योगी होते हुए भी वे गृहस्थ थे, किन्तु तो भी उन्हें अपने पुत्र कपिल मुनि के रूप में श्रीभगवान् का अवतार देखने को मिला।

भक्तियोग ऐसी शक्तिमान दिव्य विधि है, जो दिव्य साक्षात्कार की अन्य सभी विधियों से श्रेष्ठ है। इसीलिए भगवान् कहते हैं कि वे न तो वैकुण्ठ में रहते हैं, न योगी के हृदय में वरन् वे वहाँ वास करते हैं जहाँ शुद्ध भक्त निरन्तर उनका जप और गुणगान करते रहते हैं। श्रीभगवान् भक्तवत्सल कहे जाते हैं, उन्हें कभी भी *ज्ञानी-वत्सल* या *योगी-वत्सल* नहीं कहा जाता। वे सदैव भक्तवत्सल इसलिए कहे जाते हैं, क्योंकि अन्य दिव्य ज्ञानियों को अपेक्षा भक्तों के प्रति उनका अधिक झुकाव रहता है। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि हुई है कि केवल भक्त ही भगवान् को यथा रूप समझ सकते हैं। *भक्त्या माम् अभिजानाति*—मनुष्य मुझे केवल भक्तियोग से जान सकता है, अन्यथा नहीं। ऐसा जानना ही वास्तविक है, क्योंकि ज्ञानी लोग भगवान् के ऐश्वर्य या शारीरिक कान्ति को ही जान सकते हैं और योगी आंशिक रूप से श्रीभगवान् को प्राप्त कर पाते

हैं, किन्तु भक्त को न केवल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का बोध होता है, वरन् उनकी प्रत्यक्ष संगति भी प्राप्त होती है।

स्वीयं वाक्यमृतं कर्तुमवतीर्णोऽसि मे गृहे ।
चिकीर्षुर्भगवान्ज्ञानं भक्तानां मानवर्धनः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

स्वीयम्—निज के; वाक्यम्—शब्द; ऋतम्—सत्य; कर्तुम्—बनाने के लिए; अवतीर्णः—अवतरित; असि—हुए हो; मे गृहे—मेरे घर में; चिकीर्षुः—विस्तार करने के लिए इच्छुक; भगवान्—श्रीभगवान्; ज्ञानम्—ज्ञान; भक्तानाम्—भक्तों का; मान—सम्मान, आदर; वर्धनः—बढ़ाने वाला।

कर्दम मुनि ने कहा—सदैव अपने भक्तों का मानवर्धन करने वाले मेरे प्रिय भगवान्, आप अपने वचनों को पूरा करने तथा वास्तविक ज्ञान का प्रसार करने के लिए ही मेरे घर में अवतरित हुए हैं।

तात्पर्य : कर्दम मुनि की योग साधना के बाद जब भगवान् उनके समक्ष प्रकट हुए तो उन्होंने वचन दिया कि वे उनके पुत्र बनेंगे। अतः अपने वचन को पूरा करने के लिए ही वे कर्दम मुनि के पुत्र रूप में अवतरित हुए। उनके प्रकट होने का अन्य कारण था *चिकीर्षुर्भगवान् ज्ञानम्*—ज्ञान का वितरण करना। इसीलिए वे *भक्तानां मानवर्धनः* कहलाते हैं अर्थात् वे भक्तों के मान को बढ़ाते हैं। सांख्य का वितरण करके वे भक्तों का मानवर्धन करेंगे, अतः सांख्य दर्शन कोरा शुष्क ज्ञान नहीं है। सांख्य दर्शन का अर्थ है भक्तियोग। यदि सांख्य भक्तियोग के हेतु नहीं था, तो भक्तों का मान किस प्रकार बढ़ा होता? भक्त ज्ञान में रुचि नहीं रखते, अतः कपिल मुनि द्वारा प्रतिपादित सांख्य मनुष्य को उनकी भक्ति में दृढ़ बनाने के निमित्त है। असली ज्ञान तथा वास्तविक मुक्ति तो श्रीभगवान् की शरण में जाना और उनकी भक्तिमय सेवा में तत्पर होना है।

तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव ।
यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तानि—वे; एव—सचमुच; ते—तुम्हारे; अभिरूपाणि—अनुकूल; रूपाणि—रूप; भगवन्—हे भगवान्; तव—तुम्हारा; यानि यानि—जो जो; च—तथा; रोचन्ते—अच्छे लगते हैं; स्व-जनानाम्—अपने भक्तों को; अरूपिण:—बिना भौतिक रूप वाले का।

हे भगवन्, यद्यपि आपका कोई भौतिक रूप नहीं है, किन्तु आपके अपने ही अनन्त रूप हैं। वे सचमुच ही आपके दिव्य रूप हैं और आपके भक्तों को आनन्दित करनेवाले हैं।

तात्पर्य : *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि भगवान् तो एक ही परमपूर्ण हैं, परन्तु उनके अनन्त रूप हैं। *अद्वैतमच्युतमनादिम् अनन्तरूपम्*—भगवान् आदि रूप हैं किन्तु फिर भी उनके नाना रूप हैं। ये विविध रूप उनके अनेक प्रकार के भक्तों की रुचियों के अनुसार प्रकट होते रहते हैं। कहा जाता है कि एक बार भगवान् रामचन्द्र के परमभक्त हनुमान ने कहा कि लक्ष्मीपति नारायण तथा सीतापति राम एक ही हैं और सीता तथा लक्ष्मी में कोई अन्तर नहीं है, किन्तु स्वयं उन्हें भगवान् राम का रूप अधिक प्रिय था। इसी प्रकार कुछ भक्त श्रीकृष्ण के आदि रूप की पूजा करते हैं। जब हम 'कृष्ण' कहते हैं, तो हम न केवल कृष्ण वरन् भगवान् के सभी रूपों—राम, नृसिंह, वराह, नारायण आदि का उल्लेख करते हैं। दिव्य रूपों की ये किस्में एक साथ विद्यमान हैं। ब्रह्म-संहिता में भी इसका उल्लेख है—*रामादि मूर्तिषु...नानावतारम्*। वे पहले से नाना रूपों में विद्यमान हैं, किन्तु इनमें से कोई भी रूप भौतिक नहीं हैं। श्रीधर स्वामी ने टीका की है कि *अरूपिण:* अर्थात् ''रूपविहीन'' वास्तव में बिना भौतिक रूप के लिए प्रयुक्त है। भगवान् के रूप होता है अन्यथा यहाँ यह क्यों कहा जाता—*तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव*—आपके अपने रूप हैं, किन्तु वे भौतिक नहीं हैं। आपके भौतिक दृष्टि से कोई रूप नहीं है, किन्तु आध्यात्मिक, तात्त्विक दृष्टि से आप नाना रूपों वाले हैं। मायावादी दार्शनिक भगवान् के इन दिव्य रूपों को नहीं समझ पाते, अत: निराश होकर वे परमेश्वर को निराकर बताते हैं। किन्तु तथ्य यह नहीं है; जब भी कोई रूप होता है, तो व्यक्ति भी होता है। वैदिक साहित्य में अनेक बार भगवान् को *पुरुष* कहा गया है, जिसका अर्थ है, ''आदि रूप, आदि भोक्ता।'' निष्कर्ष यह निकला कि भगवान् के कोई रूप नहीं होता फिर भी विभिन्न कोटि

के भक्तों की रुचियों के अनुसार वे एकसाथ नाना रूपों में विद्यमान रहते हैं यथा राम, नृसिंह, वराह, नारायण तथा मुकुन्द। ऐसे हजारों लाखों रूप हैं, किन्तु वे सभी विष्णु तत्त्व, कृष्ण, हैं।

त्वां सूरिभिस्तत्त्वबुभुत्सयाद्धा
सदाभिवादार्हणपादपीठम् ।
ऐश्वर्यवैराग्ययशोऽवबोध-
वीर्यश्रिया पूर्तमहं प्रपद्ये ॥ ३२॥

शब्दार्थ

त्वाम्—तुमको; सूरिभिः—परम साधुओं द्वारा; तत्त्व—परम सत्य; बुभुत्सया—जानने की इच्छा से; अद्धा—निश्चय ही; सदा—सदैव; अभिवाद—अभिवादनों का; अर्हण—योग्य; पाद—आपके पैरों के; पीठम्—आसन को; ऐश्वर्य—ऐश्वर्य; वैराग्य—विराग; यशः—कीर्ति; अवबोध—ज्ञान; वीर्य—पौरुष; श्रिया—सौन्दर्य से; पूर्तम्—पूर्ण; अहम्—मैं; प्रपद्ये—शरण में हूँ, समर्पण करता हूँ।

हे भगवान्, आपके चरणकमल ऐसे कोष के समान हैं, जो परम सत्य को जानने के इच्छुक बड़े-बड़े ऋषियों-मुनियों का सदैव आदर प्राप्त करने वाला है। आप ऐश्वर्य, वैराग्य, दिव्य यश, ज्ञान, वीर्य और सौन्दर्य से ओत-प्रोत हैं अतः मैं आपके चरणकमलों की शरण में हूँ।

तात्पर्य : असल में जो परम सत्य की खोज में लगे हैं, उन्हें पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करके उनकी पूजा करनी चाहिए। *भगवद्गीता* में भगवान् ने अर्जुन को कई बार सलाह दी कि वह उनकी शरण में आवे, विशेष रूप से नवें अध्याय के अन्त में वे कहते हैं *मन्मना भव मद्भक्तः*—"यदि तुम सिद्ध बनना चाहते हो तो सदैव मेरा स्मरण करो, मेरे भक्त बनो, मेरी ही पूजा करो और मुझी को नमस्कार करो। इस प्रकार तुम मुझ श्रीभगवान् को जान सकोगे और अन्त में मेरे पास, मेरे धाम को वापस आ सकोगे।" ऐसा करों है भगवान् सदैव छः प्रकार के ऐश्वर्यों से युक्त रहते हैं। ये हैं—धन, वैराग्य, यश, ज्ञान, वीर्य तथा रूप। *पूर्तम्* शब्द का अर्थ "पूर्णतः" है। कोई यह दावा नहीं कर सकता कि सारी सम्पत्ति उसकी अपनी है, किन्तु श्रीकृष्ण ऐसा कह सकते हैं, क्योंकि वे सर्व ऐश्वर्यसम्पन्न हैं। इसी प्रकार वे ज्ञान, वैराग्य, वीर्य तथा रूप से भी परिपूर्ण हैं। वे प्रत्येक वस्तु से युक्त हैं, उनसे कोई पार नहीं पा सकता। श्रीकृष्ण का एक अन्य नाम *असमौर्ध्व* है, जिसका अर्थ है कि कोई

भी न तो उनके समान है और न बड़ा।

परं प्रधानं पुरुषं महान्तं
कालं कविं त्रिवृतं लोकपालम् ।
आत्मानुभूत्यानुगतप्रपञ्चं
स्वच्छन्दशक्तिं कपिलं प्रपद्ये ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

परम्—दिव्य; प्रधानम्—परम; पुरुषम्—व्यक्ति, पुरुष; महान्तम्—जो इस भौतिक जगत का मूल है; कालम्—जो काल (समय) है; कविम्—पूर्णतया ज्ञात; त्रि-वृतम्—तीन गुण; लोक-पालम्—समस्त लोकों का पालनकर्ता; आत्म—अपने आप में; अनुभूत्य—अनुभूति शक्ति से; अनुगत—मग्न; प्रपञ्चम्—जिनका भौतिक प्राकट्य; स्व-छन्द—स्वतन्त्र रीति से; शक्तिम्—जो शक्तिमान है; कपिलम्—भगवान् कपिल की; प्रपद्ये—शरण लेता हूँ।

मैं कपिल के रूप में अवतरित होने वाले पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण लेता हूँ, जो स्वतन्त्र रूप से शक्तिमान तथा दिव्य हैं, जो परम पुरुष हैं तथा पदार्थ और काल को मिलाकर सबों के भगवान् हैं, जो त्रिगुणमय सभी ब्रह्माण्डों के पालनकर्ता हैं और प्रलय के पश्चात् भौतिक प्रपञ्चों को अपने में लीन कर लेते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर कर्दम मुनि अपने पुत्र कपिल मुनि को *परम्* सम्बोधित करते हुए छः ऐश्वर्यों का उल्लेख करते हैं। ये हैं—धन, वीर्य, यश, रूप, ज्ञान तथा वैराग्य। परम् शब्द श्रीमद्भागवत के प्रारम्भ में परं *सत्यम्* पद में श्रीभगवान् के लिए आया है। परम् की व्याख्या उसके बाद आने वाले शब्द प्रधानम् से भी होती है, जिसका अर्थ है प्रमुख, मूल, प्रत्येक वस्तु का स्रोत—*सर्वकारणकारणम्*—सभी कारणों का कारण। श्रीभगवान् अरूप नहीं हैं, वे पुरुष या भोक्ता हैं। वे काल तत्व हैं और सर्वज्ञाता हैं। वे भूत, वर्तमान तथा भविष्य—सब कुछ जानने वाले हैं जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है। भगवान् कहते हैं, ''मैं ब्रह्माण्ड के कोने-कोने की प्रत्येक वस्तु—वर्तमान, भूत तथा भविष्य—को जानता हूँ।'' यह भौतिक जगत जो तीन गुणों के चक्र से गतिशील है, वह भी उन्हीं की शक्ति का ही प्रदर्शन है। *परास्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते*—जो कुछ भी हम देखते हैं वह उनकी शक्तियों का फल है (श्वेताश्वतर उप. ६८)। *परस्य ब्रह्मण: शक्तिस्तथेदम् अखिलं जगत्*। यह विष्णुपुराण की उक्ति है। हम समझ सकते हैं कि हम जो कुछ भी देखते हैं वह तीन गुणों का योगायोग है, किन्तु वास्तव में यह भगवान् की

शक्ति का फल है। *लोकपालम्*—वे वास्तव में समस्त जीवात्माओं के पालनकर्ता हैं। *नित्यो-नित्यानाम्*—वे समस्त जीवात्माओं के अगुआ हैं; वे एक हैं, किन्तु अनेकानेक जीवात्माओं का पालन करने वाले हैं। ईश्वर समस्त जीवों का पालन करते हैं, किन्तु कोई भी ईश्वर का पालन नहीं कर सकता। यह उनकी स्वच्छन्द शक्ति है, वे अन्यों पर आश्रित नहीं हैं। कोई कितना ही अपने को स्वच्छन्द क्यों न कहे फिर भी अपने से बड़े किसी न किसी के अधीन रहता है। किन्तु भगवान् परम पूर्ण हैं, न तो कोई उनसे बड़ा है, न उनके समान।

चूँकि कपिलमुनि कर्दममुनि के पुत्र के रूप में प्रकट हुए, किन्तु कपिल श्रीभगवान् के अवतार थे, अतः कर्दम मुनि ने शरणागत होकर उन्हें सादर नमस्कार किया। इस श्लोक का अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द *आत्मानुभूत्यानुगत-प्रपञ्चम्* है। भगवान् कपिल, राम, नृसिंह, वराह रूपों में से किसी एक में अवतरित होते हैं और इस संसार में वे जो भी रूप धारण करते हैं वह उनकी आत्मीय अन्तरंगा शक्ति का प्राकट्य होता है। ये भौतिक शक्ति के कोई रूप नहीं होते। इस संसार में प्रकट होने वाली सामान्य जीवात्माएँ भौतिक शक्ति द्वारा उत्पन्न शरीर हैं, किन्तु जब कृष्ण या उनका कोई एक विस्तार या भिन्नांश इस संसार में अवतार लेता है, तो ऐसा प्रतीत होता है कि वह भौतिक शरीर से युक्त है, किन्तु उसका यह शरीर भौतिक नहीं होता। वे सदैव दिव्य शरीर धारण करने वाले हैं। किन्तु मूर्ख तथा धूर्त अर्थात् मूढ़ लोग उन्हें अपने जैसा एक मानते हैं और इस प्रकार उनका उपहास करते हैं। वे न समझ सकने के कारण कृष्ण को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के रूप में स्वीकार नहीं करते। *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण कहते हैं—*अवजानन्ति मां मूढाः*—"जो मूढ़ हैं, वे मेरा उपहास करते हैं।" जब ईश्वर कोई रूप धारण करते हैं, तो इसका यह अर्थ नहीं होता कि वे भौतिक शक्ति की सहायता से रूप धारण करते हैं। वे अपना आत्मरूप प्रदर्शित करते हैं, क्योंकि वे अपने आध्यात्मिक धाम (वैकुण्ठ) में वास करते हैं।

आ स्माभिपृच्छेऽद्य पतिं प्रजानां
त्वयावतीर्णर्ण उताप्तकामः ।

परिव्रजत्पदवीमास्थितोऽहं
चरिष्ये त्वां हृदि युञ्जन्विशोकः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

आ स्म अभिपृच्छे—मैं पूछ रहा या आज्ञा माँग रहा हूँ; अद्य—अब; पतिम्—भगवान्; प्रजानाम्—समस्त प्राणियों का; त्वया—तुम्हारे द्वारा; अवतीर्ण-ऋणः—ऋणमुक्त; उत—तथा; आप्त—पूर्ण; कामः—इच्छाएँ; परिव्रजत्—परिव्राजक की; पदवीम्—पथ; आस्थितः—स्वीकार करते हुए; अहम्—मैं; चरिष्ये—भ्रमण करूँगा; त्वाम्—तुम; हृदि—मेरे हृदय में; युञ्जन्—रखते हुए; विशोकः—शोक से मुक्त।

समस्त जीवात्माओं के स्वामी मुझे आप से आज कुछ पूछना है। चूँकि आपने मुझे अब पितृ-ऋण से मुक्त कर दिया है और मेरे सभी मनोरथ पूरे हो चुके हैं, अतः मैं संन्यास-मार्ग ग्रहण करना चाहता हूँ। इस गृहस्थ जीवन को त्याग कर मैं शोकरहित होकर अपने हृदय में सदैव आपको धारण करते हुए सर्वत्र भ्रमण करना चाहता हूँ।

तात्पर्य : वस्तुतः संन्यास अथवा गृहस्थ जीवन के परित्याग के लिए आवश्यक है कृष्णभावनामृत में पूर्ण तल्लीन और अपने में डूबे रहना। कोई संन्यास इसलिए नहीं ग्रहण करता कि वह फिर से परिवार बसावेगा या संन्यास के नाम पर कोई षड्यंत्र खड़ा करेगा। संन्यासी का कार्य न तो अनेक वस्तुओं का स्वामी बनना है और न भोली भाली जनता से धन का संग्रह करना है। संन्यासी को सदैव गर्व रहता है कि अपने अन्तःकरण में वह सदैव श्रीकृष्ण का चिन्तन करता रहता है। निस्सन्देह भगवान् के भक्तों के दो प्रकार हैं। एक *गोष्ठ्य आनन्दी* कहलाते हैं, अर्थात् जो धर्मोंपदेश हैं और भगवान् की महिमा का उपदेश देने के लिए उनके अनेक अनुयायी होते हैं। दूसरे भक्त *आत्मानन्दी* अथवा आत्म-तुष्ट हैं, जो धर्मोंपदेश का कार्य नहीं करते। वे ईश्वर के साथ एकान्त में रहते हैं। कर्दममुनि इसी प्रकार के भक्त थे। वे सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होकर अपने अन्तःकरण में भगवान् को बसाकर अकेले रहना चाह रहे थे। *परिव्राज* का अर्थ है, "भ्रमण करने वाला साधु।" परिव्राजक संन्यासी को कहीं भी तीन दिन से अधिक नहीं रुकना चाहिए। उसे सदैव चलते रहना चाहिए, क्योंकि उसका धर्म है द्वार-द्वार जाकर मनुष्यों में कृष्णभावनामृत को बोध कराना।

श्रीभगवानुवाच
मया प्रोक्तं हि लोकस्य प्रमाणं सत्यलौकिके ।

अथाजनि मया तुभ्यं यदवोचमृतं मुने ॥ ३५॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; मया—मेरे द्वारा; प्रोक्तम्—कहा गया; हि—वास्तव में; लोकस्य—मनुष्यों के लिए; प्रमाणम्—प्रमाण, मानदण्ड; सत्य—शास्त्रोक्त (वैदिक); लौकिके—तथा सामान्य बोली में; अथ—अतः; अजनि—जन्म लिया; मया—मेरे द्वारा; तुभ्यम्—तुमको; यत्—जो; अवोचम्—मैंने कहा; ऋतम्—सत्य; मुने—हे मुनि!.

भगवान् कपिल ने कहा—मैं जो भी प्रत्यक्ष रूप से या शास्त्रों में कहता हूँ वह संसार के लोगों के लिए सभी प्रकार से प्रामाणिक है। हे मुने, चूँकि मैं तुमसे पहले ही कह चुका हूँ कि मैं तुम्हारा पुत्र बनूँगा, अतः उसी को सत्य करने हेतु मैंने अवतार लिया है।

तात्पर्य : भगवान् की सेवा में पूर्णतया तत्पर रहने के लिए कर्दममुनि अपना परिवार त्याग रहे थे। किन्तु उन्हें यह ज्ञात था कि भगवान् स्वयं कपिल रूप में उनके घर में उनके पुत्र बनकर जन्म ले चुके हैं, तो फिर वे आत्म-साक्षात्कार या ईश्वर बोध की खोज के लिए क्योंकर अपना घर छोड़ने जा रहे थे? जब भगवान् स्वयं उनके घर में विद्यमान थे तो वे घर क्यों छोड़ें? ऐसा प्रश्न उठ सकता है। किन्तु यहाँ पर यह कहा गया है कि जो कुछ वेदों में कथित है और जो कुछ लोक में प्रचलित है उसे ही प्रामाणिक मानना चाहिए। वैदिक प्रमाण के अनुसार पचासवें वर्ष में गृहस्थ को गृहत्याग कर देना चाहिए। पंचाशोर्ध्व वनं व्रजेत—मनुष्य को पचास वर्ष की आयु प्राप्त करने के बाद गृहस्थ जीवन त्यागकर वन में प्रवेश करना चाहिए। यह वेदों का प्रामाणिक कथन है, जो सामाजिक जीवन के कर्मानुसार चार विभागों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास पर आश्रित है।

कर्दममुनि ने विवाह के पूर्व ब्रह्मचारी रहकर कठोर योग-साधना की थी और इतनी योग-शक्ति प्राप्त कर ली थी कि उनके पिता ब्रह्मा ने उन्हें ब्याह करके गृहस्थ बनकर सन्तान उत्पन्न करने का आदेश दिया। कर्दम ने वह भी किया; उनके नौ उत्तम कन्याएँ तथा एक पुत्र उत्पन्न हुआ। इस प्रकार उनका गृहस्थ जीवन भी सुचारु रूप से बीत गया और अब उनको गृहत्याग करना था। यद्यपि उन्हें पुत्र रूप में पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् मिल गये थे, तो भी उन्हें वेदों के प्रमाण का आदर करना था। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शिक्षा है। भले ही क्यों न किसी को अपने घर में पुत्र रूप में भगवान् प्राप्त हों, फिर भी उसे वैदिक आदेशों का पालन करना चाहिए।

कहा गया है—*महाजनो येन गतः स पन्थाः*—मनुष्यों को चाहिए कि महापुरुषों द्वारा ग्रहण किये गये पथ का अनुसरण करे।

कर्दममुनि का उदाहरण अत्यन्त शिक्षाप्रद है, क्योंकि पुत्र रूप में श्रीभगवान् को प्राप्त करके भी वैदिक आज्ञाओं के पालन हेतु उन्होंने घर को छोड़ दिया। यहाँ कर्दममुनि अपने गृहत्याग का मुख्य प्रयोजन बताते हैं—संसार का भ्रमण करते हुए वे अपने हृदय में श्रीभगवान् का निरन्तर स्मरण करते रहेंगे और इस प्रकार समस्त भव-चिन्ताओं से मुक्त रहेंगे। कलियुग में संन्यास वर्जित है, क्योंकि इस युग के सारे मनुष्य शूद्र हैं और वे संन्यास जीवन के विधि-विधानों का ठीक से पालन नहीं कर सकते। सामान्य रूप से यह देखा जाता है कि तथाकथित संन्यासी भी कभी-कभी स्त्रियों के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध रखते हैं। यह इस युग की अत्यन्त अप्रिय स्थिति है। यद्यपि वे संन्यासियों का वस्त्र धारण करते हैं, किन्तु वे जीवन के चार प्रकार के पापों—अवैध यौनाचार, मांस भक्षण, मद्यपान तथा द्यूतक्रीड़ा से अपने को मुक्त नहीं रख सकते। चूँकि वे इन चारों से बच नहीं पाते, अतः वे स्वामी बनकर जनता को ठगते रहते हैं।

कलियुग में यह आदेश है कि कोई संन्यास न ग्रहण करे। निस्सन्देह, जो विधि-विधानों का ठीक से पालन कर सकते हैं, वे संन्यासी बन सकते हैं। किन्तु सामान्यतः लोग संन्यास जीवन स्वीकार करने में अक्षम रहते हैं इसीलिए चैतन्य महाप्रभु ने बलपूर्वक कहा है—*कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा*। इस युग में भगवान् के पवित्र नाम—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे—उच्चारण के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है, कोई विकल्प नहीं है, कोई विकल्प नहीं है। संन्यास जीवन का मुख्य उद्देश्य है चाहे हृदय में भगवान् का मनन करे या कानों से श्रवण करके परमेश्वर का निरन्तर साहचर्य प्राप्त करे। इस युग में मनन की अपेक्षा श्रवण करना अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि मानसिक विक्षोभ के कारण मनन में बाधा पहुँच सकती है, किन्तु यदि सुनने में ध्यान केन्द्रित रहे तो उसे बाध्य होकर 'कृष्ण-कृष्ण' की ध्वनि से साहचर्य स्थापित करना पड़ेगा। श्रीकृष्ण तथा 'कृष्ण' की ध्वनि का उच्चारण अभिन्न हैं अतः यदि कोई जोर से हरे कृष्ण का उच्चारण करता है, तो वह तुरन्त श्रीकृष्ण का मनन कर सकेगा।

इस युग में आत्म-साक्षात्कार के लिए कीर्तन (जप) की यह विधि सर्वश्रेष्ठ है, अतः भगवान् चैतन्य ने समग्र मानवता के कल्याण के लिए इसी का उपदेश दिया।

एतन्मे जन्म लोकेऽस्मिन्मुमुक्षूणां दुराशयात् ।
प्रसङ्ख्यानाय तत्त्वानां सम्मतायात्मदर्शने ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; मे—मेरा; जन्म—जन्म; लोके—संसार में; अस्मिन्—इस; मुमुक्षूणाम्—मुक्ति के इच्छुक परम साधुओं द्वारा; दुराशयात्—अनावश्यक भौतिक इच्छाओं से; प्रसङ्ख्यानाय—विवेचन करने के लिए; तत्त्वानाम्—सत्यों का; सम्मताय—अत्यन्त समादृत; आत्म-दर्शने—आत्म-साक्षात्कार में।

इस संसार में मेरा प्राकट्य विशेष रूप से सांख्य दर्शन का प्रतिपादन करने के लिए हुआ है। यह दर्शन उन व्यक्तियों के द्वारा आत्म-साक्षात्कार हेतु परम समादृत है, जो अनावश्यक भौतिक कामनाओं के बन्धन से मुक्ति चाहते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *दुराशयात्* शब्द अत्यन्त सार्थक है। *दुर* का अर्थ विपत्ति या दुख है। आशयात् का अर्थ है "आश्रय से।" हम बद्धजीवों ने भौतिक देह का आश्रय ले रखा है, जो कष्टों तथा दुखों से परिपूर्ण है। मूर्ख लोग इस स्थिति को नहीं समझ पाते और यही अज्ञान, मोह या माया की छड़ी कहलाता है। मानव समाज को गम्भीरतापूर्वक समझ लेना चाहिए कि शरीर स्वयं समस्त दुखी जीवन का मूल है। कहा जाता है कि आधुनिक सभ्यता वैज्ञानिक ज्ञान में प्रगति कर रही है, किन्तु यह वैज्ञानिक ज्ञान है क्या? यह मात्र शारीरिक सुख (सुविधा) पर निर्भर है, इसमें इसका ज्ञान नहीं रहता कि कोई कितने ही सुख से शरीर को क्यों न रखे वह नाशवान है। *भगवद्गीता* में कहा गया है—*अन्तवन्त इमे देहाः*—इन शरीरों का नाश होना निश्चित है। *नित्यस्योक्ताः शरीरिणः* से शरीर के भीतर जीवित आत्मा या चिनगारी का बोध होता है। वह आत्मा तो अमर है, किन्तु शरीर अमर नहीं है। कार्य करने के लिए हमें शरीर चाहिए; बिना शरीर, बिना इन्द्रियों के कोई क्रियाशीलता नहीं आती। किन्तु लोगों में यह जानने की इच्छा नहीं होती कि क्या शरीर अमर हो सकता है। वास्तव में वे अमर शरीर इसीलिए चाहते हैं जिससे इन्द्रिय-सुख भोग सकें, किन्तु यह भोग अमर नहीं है। अतः ऐसी वस्तु का अभाव उन्हें खलता है, जिसको वे निरन्तर भोग सकें, किन्तु वे यह नहीं जानते कि इसे किस प्रकार प्राप्त

किया जाय। अतः यहाँ पर कपिल देव द्वारा वर्णित सांख्य दर्शन *तत्त्वानाम्* है। सांख्य दर्शन वास्तविक सत्य का ज्ञान प्रदान करने के लिए तैयार किया गया है। तो वह वास्तविक सत्य क्या है? वास्तविक सत्य वह ज्ञान है, जिससे समस्त दुखों के मूल, इस भौतिक शरीर, से छुटकारा पाया जा सके। इस कार्य के लिए ही भगवान् कपिल का अवतार हुआ। इसका यहाँ स्पष्ट उल्लेख हुआ है।

एष आत्मपथोऽव्यक्तो नष्टः कालेन भूयसा ।
तं प्रवर्तयितुं देहमिमं विद्धि मया भृतम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

एषः—यह; आत्म-पथः—आत्म-साक्षात्कार का मार्ग; अव्यक्तः—समझने में दुरूह; नष्टः—खोया हुआ; कालेन भूयसा—बहुत समय से, कालक्रम से; तम्—इसको; प्रवर्तयितुम्—पुनः चालू करने के लिए; देहम्—देह को; इमम्—इस; विद्धि—जानो; मया—मेरे द्वारा; भृतम्—स्वीकार किया गया।

आत्म-साक्षात्कार का यह मार्ग, जिसको समझ पाना दुष्कर है, अब कालक्रम से लुप्त हो गया है। इस दर्शन को पुनः मानव समाज में प्रवर्तित करने और व्याख्या करने के लिए ही मैंने कपिल का यह शरीर धारण किया है—ऐसा जानो।

तात्पर्य : यह सत्य नहीं है कि सांख्य दर्शन, दर्शन की एक नवीन पद्धति है, जिसका सूत्रपात कपिल ने किया, जिस प्रकार कि भौतिकवादी दार्शनिक अन्य दार्शनिकों से आगे बढ़ने के लिए नए-नए विचार प्रस्तुत करते रहते हैं। भौतिक स्तर पर प्रत्येक व्यक्ति, विशेष रूप से ज्ञानी अन्यों की अपेक्षा अधिक विख्यात बनना चाहते हैं। ज्ञानियों की गतिविधियों का क्षेत्र मस्तिष्क (मन) है, मन को विचलित करने के अनन्त उपाय हैं और इस प्रकार असंख्य सिद्धान्त बन सकते हैं। किन्तु सांख्य दर्शन ऐसा नहीं है, यह मात्र ज्ञान (मानसिक कल्पना) नहीं है। यह तथ्यपरक है, किन्तु कपिल के समय में यह लुप्त हो चुका था।

समय के साथ विशिष्ट प्रकार का कोई भी ज्ञान लुप्त हो सकता है या प्रच्छन्न रहा आता है; यह इस भौतिक संसार का स्वभाव है। *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण ने भी ऐसा ही कहा है—स कालेनेह महता योगो नष्टः—काल-क्रम में *भगवद्गीता* में वर्णित योग पद्धति लुप्त हो गई। यह शिष्य-परम्परा से चली आ रही थी, किन्तु काल-क्रम में यह खो गई। काल इतना प्रबल है कि

काल से साथ प्रत्येक वस्तु नष्ट अथवा लुप्त हो जाती है। *भगवद्गीता* की योग पद्धति श्रीकृष्ण तथा अर्जुन के मिलाप के पूर्व लुप्त हो चली थी। इसीलिए श्रीकृष्ण ने उसी प्राचीन योग पद्धति को अर्जुन के समक्ष प्रतिपादित किया जो वास्तव में *भगवद्गीता* को समझ सकता था। इसी प्रकार कपिल ने भी कहा कि वे सांख्य दर्शन पद्धति का नये सिरे से प्रवर्तन नहीं करने जा रहे, यह तो पहले से प्रचलित थी और काल-क्रम में विलुप्त हो गई, अत: वे उसको पुन: चालू करने के लिए उत्पन्न हुए हैं। भगवान् के अवतार लेने का यह प्रयोजन है। यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। धर्म का अर्थ है जीवात्मा का वास्तविक कार्य। जब जीवात्मा के सनातन कार्य में गड़बड़ी आती है, तो भगवान् अवतरित होते हैं और जीवन के वास्तविक कार्य का पुन: संचालन करते हैं। ऐसी तथाकथित धार्मिक पद्धति जो भक्ति के पथ पर नहीं चलती वह अधर्म संस्थापन कहलाती है। जब लोग भगवान् के साथ अपने सनातन सम्बन्ध को भूल कर अन्य कार्य में लग जाते हैं, तो उनका यह व्यापार अधर्म कहलाता है। सांख्य दर्शन में बताया गया है कि मनुष्य भौतिक जीवन की दुखी अवस्था से किस प्रकार उबर सकता है। भगवान् स्वयं इस उत्तम पद्धति की व्याख्या कर रहे हैं।

गच्छ कामं मयापृष्टो मयि सन्न्यस्तकर्मणा ।
जित्वा सुदुर्जयं मृत्युममृतत्वाय मां भज ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

गच्छ—जाओ; **कामम्**—जैसी तुम्हारी इच्छा है; **मया**—मेरे द्वारा; **आपृष्टः**—आदिष्ट; **मयि**—मुझमें; **सन्न्यस्त**—पूरी तरह शरणागत; **कर्मणा**—अपने कार्य से; **जित्वा**—जीतकर; **सुदुर्जयम्**—अजेय; **मृत्युम्**—मृत्यु को; **अमृतत्वाय**—अमर जीवन के लिए; **माम्**—मुझको; **भज**—भजो, मेरी भक्ति में तत्पर हो।

अब मेरे द्वारा आदिष्ट तुम मुझे अपने समस्त कार्यों को अर्पित करके जहाँ भी चाहो जाओ। दुर्जेय मृत्यु को जीतते हुए शाश्वत जीवन के लिए मेरी पूजा करो।

तात्पर्य : यहाँ पर सांख्य दर्शन का उद्देश्य बताया गया है। यदि कोई वास्तविक शाश्वत जीवन चाहता है, तो उसे भक्तियोग या श्रीकृष्णभावना में अपने आपको लगाना चाहिए। जन्म तथा मृत्यु से मुक्त होना कोई सरल कार्य नहीं। भौतिक शरीर के लिए जन्म तथा मृत्यु स्वाभाविक हैं। *सुदुर्जय* का अर्थ है, ''जीत पाना अत्यन्त कठिन।'' आधुनिक तथाकथित

वैज्ञानिकों के पास पर्याप्त साधन उपलब्ध नहीं है कि वे जन्म तथा मृत्यु पर विजय पाने की प्रक्रिया को समझ सकें। अत: वे जन्म तथा मृत्यु के प्रश्न को ताक पर रख देते हैं, वे उस पर विचार ही नहीं करते। वे केवल नाशवान भौतिक शरीर से सम्बन्धित समस्याओं में लगे रहते हैं।

वस्तुत: मानवजीवन जन्म तथा मृत्यु के दुर्जय प्रक्रम पर विजय प्राप्त करना है। इसे यहाँ पर वर्णित विधि से किया जा सकता है। माम् भज—मनुष्य को भगवान् की भक्ति में लगना चाहिए। *भगवद्गीता* में भी भगवान् कहते हैं—*मन्मना भव मद्भक्त:*—"बस, मेरे भक्त बन जाओ और मेरी पूजा करो।" किन्तु मूढ़ तथाकथित विद्वान कहते हैं कि हमें जिसकी पूजा करनी है और जिसकी शरण में जाना है, वह कृष्ण न होकर कोई अन्य है। अत: श्रीकृष्ण की कृपा के बिना न तो कोई सांख्य दर्शन, न ही मुक्ति के प्रयोजन वाला अन्य दर्शन समझ सकता है। वैदिक ज्ञान इसकी पुष्टि करता है कि अविद्या के कारण मनुष्य इस भौतिक जीवन में उलझ जाता है और भौतिक झंझटों से तभी छुटकारा पाया जा सकता है जब उसे वास्तविक ज्ञान प्राप्त हो ले। सांख्य का अर्थ है तथ्यपरक ज्ञान जिससे मनुष्य भौतिक बंधन से छूट सके।

मामात्मानं स्वयंज्योति: सर्वभूतगुहाशयम् ।
आत्मन्येवात्मना वीक्ष्य विशोकोऽभयमृच्छसि ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

माम्—मुझे; आत्मानम्—परमात्मा को; स्वयम्-ज्योति:—आत्म-प्रकाश; सर्व-भूत—सभी जीवों को; गुहा—हृदयों में; आशयम्—निवास; आत्मनि—अपने हृदय में; एव—निस्सन्देह; आत्मना—अपनी बुद्धि से; वीक्ष्य—सदैव देख कर, सदैव सोच कर; विशोक:—शोक से रहित; अभयम्—निर्भीकता; ऋच्छसि—तुम प्राप्त करोगे।

तुम अपनी बुद्धि के द्वारा अपने हृदय में निरन्तर मेरा दर्शन करोगे, जो समस्त जीवात्माओं के हृदयों के भीतर वास करने वाला परम स्वत: प्रकाशमान आत्मा है। इस प्रकार तुम समस्त शोक व भय से रहित शाश्वत जीवन प्राप्त करोगे।

तात्पर्य : सभी मनुष्य परम सत्य को अनेक प्रकार से समझने के लिए इच्छुक रहते हैं—यथा ब्रह्मज्योति का अनुभव करके, ध्यान द्वारा अथवा चिन्तन द्वारा। किन्तु कपिलदेव माम् शब्द का प्रयोग बल देने के लिए करते हैं कि परमेश्वर परम सत्य की अन्तिम स्थिति है। *भगवद्गीता*

में श्रीभगवान् सदैव माम्—''मुझको''—का प्रयोग करते हैं, किन्तु दुष्ट लोग इसका दूसरा अर्थ लगाते हैं। माम् श्रीभगवान् ही हैं। यदि कोई श्रीभगवान् को जिस रूप में वे विभिन्न अवतारों में प्रकट होते हैं, देख सके और यह समझ सके कि उन्होंने भौतिक देह नहीं धारण की वरन् वे अपने नित्य, आत्म रूप में उपस्थित रहते हैं, तो वही श्रीभगवान् के स्वभाव को समझ सकता है। चूँकि अल्पज्ञानी इस बात को नहीं समझ पाते, इसीलिए इस पर बार-बार बल दिया गया है। जिस रूप में भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति के द्वारा कृष्ण, राम या कपिल रूप में उपस्थित होते हैं, यदि कोई इन रूपों का दर्शन भी कर ले तो वह ब्रह्मज्योति का दर्शन कर सकता है, क्योंकि ब्रह्मज्योति उनके शरीर की कान्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। जिस प्रकार सूर्य-प्रकाश, सूर्य की कान्ति है, अत: सूर्य को देखकर मनुष्य स्वत: ही सूर्य प्रकाश को देख लेता है, इसी प्रकार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का दर्शन कर लेने से मनुष्य एकसाथ परमात्मा स्वरुप के साथ ही साथ निर्गुण ब्रह्म का अनुभव करता है।

भागवत में पहले ही प्रतिपादित हो चुका है कि परम सत्य तीन रूपों में उपस्थित रहता है—प्रारम्भ में निर्गुण ब्रह्म के रूप में, फिर प्रत्येक मनुष्य के हृदय में परमात्मा रूप में और अन्त में परम सत्य, भगवान् के परम साक्षात्कार रूप में। जो परम पुरुष का दर्शन कर लेता है, वह स्वत: ही अन्य रूपों का अर्थात् परमात्मा तथा ब्रह्म रूपों का अनुभव कर लेता है। यहाँ पर *विशोकोऽभयम् ऋच्छसि* शब्द प्रयुक्त हैं। श्रीभगवान् के दर्शन मात्र से प्रत्येक वस्तु का बोध हो जाता है। फल यह होता है कि वह ऐसी दशा को प्राप्त होता है जहाँ न तो शोक है और न भय। श्रीभगवान् की भक्ति के द्वारा ही इसे प्राप्त किया जा सकता है।

मात्र आध्यात्मिकीं विद्यां शमनीं सर्वकर्मणाम् ।
वितरिष्ये यया चासौ भयं चातितरिष्यति ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

मात्रे—अपनी माँ को; आध्यात्मिकीम्—आत्मजीवन का द्वार खोलने वाली; विद्याम्—ज्ञान, विद्या को; शमनीम्—समाप्त करने वाली; सर्व-कर्मणाम्—समस्त सकाम कर्मों को; वितरिष्ये—मैं प्रदान करूँगा; यया—जिससे; च—भी; असौ—वह; भयम्—डर; च—भी; अतितरिष्यति—पार कर लेगी।

मैं इस परम ज्ञान को, जो आत्म जीवन का द्वार खोलने वाला है, अपनी माता को भी

बतलाऊँगा, जिससे वह भी समस्त सकाम कर्मों के बन्धनों को तोड़कर सिद्धि तथा आत्म दर्शन प्राप्त कर सके। इस प्रकार वह भी समस्त भौतिक भय से मुक्त हो जाएगी।

तात्पर्य : गृह-त्याग के समय कर्दम मुनि अपनी सुयोग्य पत्नी देवहूति के लिए अत्यधिक चिन्तित थे, अत: योग्य पुत्र ने वचन दिया कि न केवल कर्दममुनि भव-बन्धन से मुक्त हो जाएँगे, वरन् देवहूति भी अपने पुत्र के उपदेश से मुक्त हो सकेगी। यहाँ पर एक उत्तम दृष्टान्त प्रस्तुत हुआ है—पति आत्म-साक्षात्कार के हेतु संन्यास ग्रहण करके चला जाता है और उसका प्रतिनिधि, उसका पुत्र जो उसी के समान शिक्षित है, घर पर माता के उद्धार हेतु रहता है। संन्यासी अपने साथ अपनी पत्नी को नहीं ले जा सकता, वानप्रस्थ आश्रम में मनुष्य अपनी पत्नी को सहायक के रूप में अपने साथ रख सकता है, परन्तु उसके साथ संभोग नहीं कर सकता, किन्तु संन्यास आश्रम में वह पत्नी को अपने साथ नहीं रख सकता। अन्यथा कर्दम जैसा व्यक्ति अवश्य ही पत्नी को साथ रखे होता और आत्म-साक्षात्कार की साधना में उसे कोई अड़चन न हुई होती।

किन्तु कर्दम मुनि ने वैदिक आदेश का पालन किया जिसके अनुसार संन्यास जीवन बिताने वाला कोई भी व्यक्ति स्त्रियों के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रख सकता। किन्तु उस पत्नी का क्या होता है, जिसे पति त्याग कर जाता है ? वह पुत्र को सौंप दी जाती है और पुत्र वचन देता है कि वह उसे बन्धन से मुक्त करेगा। स्त्री संन्यास ग्रहण नहीं करती। आधुनिक युग में अनेक बनावटी तथाकथित आध्यात्मिक संस्थाएँ तथा समितियाँ स्त्रियों को भी संन्यास प्रदान करती हैं, यद्यपि वैदिक साहित्य में स्त्रियों द्वारा संन्यास ग्रहण करने का कोई उल्लेख नहीं है। अन्यथा विधान होने पर कर्दम मुनि अपनी पत्नी को साथ ले जाकर उसे भी संन्यास दिला देते। किन्तु स्त्री को तो घर पर ही रहना चाहिए। उसके जीवन की तीन अवस्थाएँ होती हैं—बालपन में पिता पर निर्भर रहना; युवावस्था में अपने पति पर आश्रित रहना और वृद्धावस्था में सयाने पुत्र, यथा कपिल पर आश्रित रहना। वृद्धावस्था में स्त्री की प्रगति उसके सयाने पुत्र पर निर्भर

करती है। आदर्श पुत्र कपिल अपने पिता को आश्वासन दे रहा है कि वह अपनी माता का उद्धार करेगा जिससे उसके पिता अपनी पत्नी के प्रति निश्चिन्त होकर शान्तिपूर्वक जा सके।

मैत्रेय उवाच
एवं समुदितस्तेन कपिलेन प्रजापतिः ।
दक्षिणीकृत्य तं प्रीतो वनमेव जगाम ह ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय मुनि ने कहा; **एवम्**—इस प्रकार; **समुदितः**—सम्बोधित होकर; **तेन**—उनके द्वारा; **कपिलेन**—कपिल द्वारा; **प्रजापतिः**—मानव-समाज का जनक; **दक्षिणी-कृत्य**—परिक्रमा करके; **तम्**—उसको; **प्रीतः**—शान्तिपूर्वक; **वनम्**—जंगल को; **एव**—निस्सन्देह; **जगाम**—प्रस्थान किया; **ह**—तब।

श्रीमैत्रेय ने कहा—इस प्रकार अपने पुत्र कपिल द्वारा सम्बोधित किये जाने पर मानव समाज के जनक श्रीकर्दमुनि ने उसकी परिक्रमा की और अच्छे तथा शान्त मन से उन्होंने तुरन्त जंगल के लिए प्रस्थान कर दिया।

तात्पर्य : जंगल जाना प्रत्येक मनुष्य के लिए अनिवार्य है। यह कोई मानसिक सैर (यात्रा) नहीं जिसे कोई एक करे और दूसरा न करे। प्रत्येक मनुष्य को कम से कम एक वानप्रस्थ के रूप में जंगल में जाना चाहिए। जंगल जाने का अर्थ होता है शत-प्रतिशत भगवान् की शरण में जाना, जैसाकि प्रह्लाद महाराज ने अपने पिता को बातोंबात में समझाया था—*सदा समुद्विग्नधियाम्* (*भागवत* ७.५.५)। मनुष्य क्षणिक भौतिक देह धारण करने के कारण चिन्ताओं से युक्त रहता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह शरीर के प्रति अधिक मोह न करे, उसे चाहिए कि वह मुक्त हो। मुक्त होने की प्रारम्भिक प्रक्रिया है जंगल जाना अर्थात् पारिवारिक सम्बन्धों का परित्याग करके पूर्णरूप से कृष्णभावनामृत में लग जाना। जंगल जाने का यही प्रयोजन है। अन्यथा जंगल केवल बन्दरों तथा पशुओं का स्थान रह जाएगा। जंगल जाने का यह अर्थ कदापि नहीं कि बंदर या हिंस्र पशु बना जाय। इसका अभिप्राय यह हुआ कि एकमात्र पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण ग्रहण की जाय और पूरी तरह सेवा में लगा जाय। वास्तव में मनुष्य को जंगल जाने की कोई आवश्यकता नहीं है। सम्प्रति जिस मनुष्य ने अपना सारा जीवन नगरों में व्यतीत किया है उसके लिए यह उचित नहीं है। जैसाकि प्रह्लाद

महाराज ने कहा है *(हित्वात्म-पातं गृहम् अन्धकूपम्),* मनुष्य को सदैव पारिवारिक झंझटों में ही नहीं लगे रहना चाहिए, क्योंकि कृष्णभक्ति के बिना गृहस्थ जीवन अन्धकूप के समान है। यदि कोई खेत में स्थित अंधे कुएँ में गिर पड़े तो वह वहाँ वर्षों चिल्लाता रहे, किन्तु न देख पाने के कारण कोई उसे बचाने नहीं जावेगा, न ही कोई समझ पावेगा कि यह चीख कहाँ से आ रही है। ऐसी दशा में मृत्यु निश्चित है। इसी प्रकार जो लोग भगवान् से अपने नित्य सम्बन्ध को भूल जाते हैं, वे गृहस्थजीवन के अन्धकूप में पड़े रहते हैं, उनकी स्थिति अत्यन्त अनिष्टकारी है। प्रह्लाद महाराज ने उपदेश दिया है कि मनुष्य को चाहिए कि किसी प्रकार इस कूप का परित्याग करे तथा कृष्णभावनामृत अपनाये और में लगे और इस तरह भव-बन्धन से मुक्त हो जाय।

व्रतं स आस्थितो मौनमात्मैकशरणो मुनिः ।
निःसङ्गो व्यचरत्क्षोणीमनग्निरनिकेतनः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

व्रतम्—व्रत; सः—वह (कर्दम); आस्थितः—स्वीकृत; मौनम्—मौन; आत्म—श्रीभगवान् द्वारा; एक—नितान्त; शरणः—शरण में आया; मुनिः—मुनि; निःसङ्गः—बिना संगति के; व्यचरत्—भ्रमण करने लगा; क्षोणीम्—पृथ्वी पर; अनग्निः—अग्निरहित; अनिकेतनः—आश्रमविहीन।

कर्दममुनि ने मौन व्रत धारण करना स्वीकार किया जिससे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का चिन्तन कर सकें और एकमात्र उन्हीं की शरण में जा सकें। बिना किसी संगी के वे संन्यासी रूप में पृथ्वी भर में भ्रमण करने लगे, अग्नि अथवा आश्रय से उनका कोई सम्बन्ध न रहा।

तात्पर्य : *अनग्निरनिकेतनः* शब्द अत्यन्त सार्थक हैं। संन्यासी को अग्नि तथा आवासीय मकानों से पूर्णतया विरक्त होना चाहिए। गृहस्थ को अग्नि की आवश्यकता यज्ञ करने या भोजन पकाने के लिए होती है, किन्तु संन्यासी को इन दोनों कार्यों से छुट्टी मिल जाती है। कृष्णभावनामृत में लगे रहने के कारण संन्यासी को न तो भोजन पकाना पड़ता है, न ही यज्ञ करना होता है, क्योंकि वह पहले ही समस्त धार्मिक अनुष्ठान पूरा कर चुका होता है। *अनिकेतनः* का अर्थ है, ''बिना किसी आवास के।'' उसके पास अपना मकान नहीं होना

चाहिए, वरन् उसे अपने भोजन तथा आवास के लिए पूर्णतः भगवान् पर आश्रित रहना चाहिए। उसे भ्रमण करना चाहिए।

मौन का अर्थ है "चुप्पी।" जब तक मनुष्य चुप (मौन) नहीं रहता तब तक वह भगवान् की लीलाओं के विषय में पूरी तरह सोच नहीं पाता। इसका यह अर्थ नहीं है कि मूर्ख होने तथा न बोल सकने के कारण मौन व्रत लिया जाता है। अपितु मनुष्य को मौन धारण करना पड़ता है, जिससे लोग उसे तंग न कर सकें। चाणक्य पंडित ने कहा है कि धूर्त जब तक बोलता नहीं अत्यन्त बुद्धिमान प्रतीत होता है। बोलना ही असली परीक्षा है। निर्गुणिया 'स्वामी' का तथाकथित मौन यह बताता है कि उसके पास कहने को कुछ नहीं है। वह केवल भीख माँगना चाहता है। किन्तु कर्दम मुनि ने ऐसा मौन नहीं धारण किया। वे तो अनर्गल बातों से मुक्ति पाने के लिए मौन रहे। जब मनुष्य गम्भीर बनकर अनर्गल बातें नहीं करता तो वह मुनि कहलाता है। महाराज अम्बरीष ने अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया था—जब भी वे बोलते तो भगवान् की लीलाओं के विषय में बोलते। मौन के लिए अनिवार्य है कि बकवास से बचा जाय और बोलने की शक्ति को भगवान् की लीलाओं में लगाया जाय। इस प्रकार अपना जीवन सफल बनाने के लिए मनुष्य भगवान् का जप तथा श्रवण कर सकता है। व्रतम् का अभिप्राय है—संकल्प करना जैसाकि *भगवद्गीता* में बताया गया है—अमानित्वम् अदम्भित्वम्—अपने सम्मान की परवाह किये बिना तथा अपने पद का गर्व किए बिना। अहिंसा का अर्थ है हिंसक न बनना। ज्ञान तथा सिद्धि प्राप्त करने की अठारह विधियाँ हैं और कर्दममुनि ने व्रत के द्वारा आत्म-साक्षात्कार के सिद्धान्तों को ग्रहण किया।

मनो ब्रह्मणि युञ्जानो यत्तत्सदसतः परम् ।
गुणावभासे विगुण एकभक्त्यानुभाविते ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

मनः—मन; ब्रह्मणि—परब्रह्म में; युञ्जानः—स्थिर करते हुए; यत्—जो; तत्—उस; सत्-असतः—कार्य तथा कारण; परम्—अतीत, परे; गुण-अवभासे—तीनों गुणों को प्रकट करने वाला; विगुणे—भौतिक गुणों से परे; एक-भक्त्या—एकान्तभक्ति से; अनुभाविते—देखा जाता है।

उन्होंने अपना मन परब्रह्म पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में स्थिर कर दिया जो कार्य-

कारण से परे हैं, जो तीनों गुणों को प्रकट करने वाले हैं किन्तु उन तीनों गुणों से अतीत हैं और जो केवल अटूट भक्तियोग के द्वारा देखे जा सकते हैं।

तात्पर्य : जहाँ भी भक्ति होगी वहाँ *भक्त, भक्ति* तथा *भगवान्* तीनों बातें अनिवार्यतः होंगी। भक्त, भक्ति एवं भगवान् इन तीनों के बिना भक्ति शब्द निरर्थक है। कर्दम मुनि ने अपने मन को परब्रह्म में स्थिर करके भक्ति के द्वारा आत्मदर्शन प्राप्त किया। यह इस बात का सूचक है कि उन्होंने अपने मन को भगवान् के साकार रूप पर केन्द्रित किया, क्योंकि भक्ति तब तक नहीं की जा सकती जब तक कि मनुष्य को परम सत्य के स्वरूप का बोध न हो। *गुणावभासे*—वे तीनों गुणों से परे हैं, किन्तु ये तीनों गुण उन्हीं के कारण प्रकट होते हैं। दूसरे शब्दों में, यद्यपि भौतिक शक्ति भगवान् से ही समुद्भूत है, किन्तु वे हमारी तरह उन गुणों से प्रभावित नहीं होते। हम तो बद्धजीव हैं, किन्तु उन पर प्रभाव नहीं पड़ता, यद्यपि यह भौतिक प्रकृति उन्हीं से उद्भूत है। वे सर्वोपरि व्यक्तित्व हैं और माया से कभी प्रभावित नहीं होते, किन्तु हम क्षुद्र जीवात्माएँ माया के अधीन हैं। यदि बद्धजीव भगवान् के निरन्तर सम्पर्क में रहे तो वह माया की छूत से मुक्त हो सकता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है—*सगुणान् समतीत्यैतान्*। कृष्णभक्ति में निरत व्यक्ति तुरन्त ही तीनों गुणों के प्रभाव से छूट जाता है अर्थात् यदि बद्धजीव भक्ति में प्रवृत्त होता है, तो वह भगवान् की ही तरह मुक्त हो जाता है।

निरहङ्कृतिर्निर्ममश्च निर्द्वन्द्वः समदृक्स्वदृक् ।
प्रत्यक्प्रशान्तधीर्धीरः प्रशान्तोर्मिरिवोदधिः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

निरहङ्कृतिः—अहंकार से रहित; निर्ममः—ममतारहित; च—यथा; निर्द्वन्द्वः—द्वैत भाव से रहित; सम-दृक्—समदर्शी; स्व-दृक्—आत्मदर्शी; प्रत्यक्—अन्तर्मुखी; प्रशान्त—पूर्णतया संयमित; धीः—मन; धीरः—अविचलित; प्रशान्त—शान्त; ऊर्मिः—जिसकी लहरें; इव—सदृश; उदधिः—समुद्र।

इस प्रकार वे अंहकार से रहित और भौतिक ममता से मुक्त हो गये। अविचलित, समदर्शी तथा अद्वैतभाव से वे अपने को भी देख सके (आत्मदर्शी)। वे अन्तर्मुखी हो गये और उसी तरह परम शान्त बन गये जिस प्रकार लहरों से अविचलित समुद्र।

तात्पर्य : जब किसी का मन पूरी तरह कृष्णभक्ति में रम जाता है और वह पूर्णतया

भगवान् की भक्ति में लगा रहता है, तो वह लहरों से अविचलित समुद्र के समान होता है। *भगवद्गीता* में भी यही उदाहरण दिया गया है—मनुष्य को समुद्र की भाँति बनना चाहिए। समुद्र में लाखों नदियाँ आ मिलती हैं, हजारों टन जल भाप बनकर बादल बनता है फिर भी समुद्र अविचलित रहता है। प्रकृति अपना काम करती रहे, किन्तु यदि कोई भगवान् के चरणकमलों की भक्ति में स्थिर हो चुका है, तो वह विचलित नहीं होता, वह तो अन्तर्मुखी हो जाता है। वह बाह्य प्रकृति को नहीं देखता, वह अपनी सत्ता की आत्म प्रकृति को देखता है, वह शान्त भाव से भगवान् की सेवा में लगा रहता है। इस प्रकार वह आत्म-दर्शन कर लेता है। ऐसा परम भक्त कभी अन्यों से उलझता नहीं, क्योंकि वह सबों को आत्मज्ञान के आसन (पद) से देखता है। वह अपने को तथा अन्यों को वास्तविक रूप में देखता है।

वासुदेवे भगवति सर्वज्ञे प्रत्यगात्मनि ।
परेण भक्तिभावेन लब्धात्मा मुक्तबन्धनः ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

वासुदेवे—वासुदेव को; भगवति—श्रीभगवान्; सर्व-ज्ञे—सर्वज्ञाता; प्रत्यक्-आत्मनि—प्रत्येक प्राणी के भीतर स्थिर परमात्मा; परेण—दिव्य; भक्ति-भावेन—भक्ति से; लब्ध-आत्मा—आत्मलीन होकर; मुक्त-बन्धनः—भवबन्धन से छूटा हुआ।.

इस प्रकार वे बद्ध जीवन से मुक्त हो गये और प्रत्येक व्यक्ति के भीतर स्थित सर्वज्ञ परमात्मा श्रीभगवान् वासुदेव की दिव्य सेवा में तल्लीन हो गये।

तात्पर्य : जब कोई भगवान् की दिव्य भक्ति में लग जाता है, तो वह जान लेता है कि वह परमेश्वर वासुदेव का निरन्तर दास है। आत्म-साक्षात्कार का यह अर्थ नहीं है कि परमात्मा तथा व्यष्टि आत्मा दोनों ही आत्माएँ होने के कारण वे सभी प्रकार से समान हैं। व्यष्टि आत्मा के बद्ध होने की संभावना रहती है, किन्तु परम-आत्मा कभी बद्ध नहीं होता। जब बद्ध-आत्मा को यह बोध हो जाता है कि वह परम-आत्मा के अधीन है, तो उसकी यह स्थिति *लब्धात्मा,* आत्म-साक्षात्कार अथवा *मुक्तबन्धन* अर्थात् भौतिक कल्मष से मुक्ति कहलाती है। भौतिक कल्पष तब तक बना रहता है जब तक वह अपने को परमेश्वर के समान मानता रहता है। यह अवस्था माया का अन्तिम जाल है। माया सदैव बद्धजीव को प्रभावित करती है। यदि पर्याप्त

चिन्तन तथा मनन के बाद भी कोई अपने को परमेश्वर से अभिन्न मानता है, तो यही समझना चाहिए कि वह माया के जाल में है।

परेण शब्द अत्यन्त सार्थक है। पर का अर्थ है "दिव्य, भौतिक कल्मष से अप्रभावित।" अपने को भगवान् का नित्य दास समझना *पराभक्ति* कहलाती है। यदि मनुष्य का भौतिक वस्तुओं से लगाव रहता है और वह किसी लाभवश भक्ति करता है, तो यह *विद्धाभक्ति*—कल्मषयुक्त भक्ति—कहलाती है। पराभक्ति के निष्पादन से ही वास्तव में मुक्त हुआ जा सकता है।

यहाँ पर अन्य शब्द सर्व-ज्ञे का उल्लेख हुआ है। प्रत्येक हृदय में स्थित परमात्मा सब कुछ जानता है। मुझे शरीर परिवर्तन के कारण विगत कर्मों का विस्मरण हो सकता है, किन्तु परमेश्वर परमात्मा रूप में मेरे भीतर स्थित है, अत: वह सब कुछ जानता है, फलत: मुझे पूर्वकर्मों का फल मिलता है। मैं भूल सकता हूँ, किन्तु भगवान् मेरे पूर्वजन्म के सुकर्मों या दुष्ककर्मों के अनुसार मुझे सुख या दुख प्रदान करते हैं। मनुष्य को यह नहीं सोचना चाहिए कि चूँकि उसे गत जीवन के कर्मों का स्मरण नहीं है, अत: वह बन्धन से मुक्त हो गया। बन्धन तो होंगे ही, किन्तु किस प्रकार के होंगे इसका निर्णय परमात्मा द्वारा होगा जो उनका साक्षी है।

आत्मानं सर्वभूतेषु भगवन्तमवस्थितम् ।
अपश्यत्सर्वभूतानि भगवत्यपि चात्मनि ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

आत्मानम्—परमात्मा; सर्व-भूतेषु—समस्त प्राणियों में; भगवन्तम्—श्रीभगवान् को; अवस्थितम्—स्थित; अपश्यत्—देखा; सर्व-भूतानि—सब जीवों को; भगवति—श्रीभगवान् में; अपि—और; च—तथा; आत्मनि—परमात्मा में।

उन्हें दिखाई पड़ने लगा कि सबों के हृदय में श्रीभगवान् स्थित हैं और प्रत्येक जीव उनमें स्थित है, क्योंकि वे प्रत्येक के परमात्मा हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक प्राणी श्रीभगवान् में स्थित है—इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि प्रत्येक प्राणी भी भगवान् है। *भगवद्गीता* में भी इसकी व्याख्या की गई है—परमेश्वर पर सभी वस्तुएँ आश्रित हैं, किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि परमेश्वर सर्वत्र है। इस रहस्य को

महान् भक्त ही समझ सकते हैं। भक्त भी तीन प्रकार के होते हैं—नवदीक्षित भक्त, मध्यम कोटि के भक्त तथा महान् भक्त। नवदीक्षित भक्त भक्ति-विज्ञान की युक्तियों को नहीं समझता, वह केवल मन्दिर जाकर श्रीविग्रह की सेवा करता है, मध्यम कोटि का भक्त यह समझता है कि ईश्वर कौन है, भक्त कौन है, कौन अभक्त है, कौन निर्दोष है। वह इन सबके साथ भिन्न प्रकार से आचरण करता है। किन्तु जो व्यक्ति प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में परमात्मा का दर्शन पाता है और जानता है कि प्रत्येक वस्तु परमेश्वर की दिव्य शक्ति पर आश्रित है, वह उच्चतम भक्तिपद को प्राप्त होता है।

इच्छाद्वेषविहीनेन सर्वत्र समचेतसा ।
भगवद्भक्तियुक्तेन प्राप्ता भागवती गतिः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थ

इच्छा—आकांक्षा; द्वेष—तथा ईर्ष्या; विहीनेन—से रहित; सर्वत्र—सभी जगह; सम—समान; चेतसा—मन से; भगवत्—श्रीभगवान् को; भक्ति-युक्तेन—भक्ति-भाव से; प्राप्ता—प्राप्त किया गया; भागवती गतिः—भक्त के धाम (परम धाम को वापस जाना)।

वे समस्त द्वेष तथा इच्छा से रहित, अकल्मष भक्ति करने के कारण समदर्शी होने से अन्त में भगवान् के धाम को प्राप्त हुए।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, केवल भगवद्भक्ति से ही भगवान् की दिव्य प्रकृति को समझा जा सकता है और उन्हें समझ लेने पर भगवान् के धाम में प्रवेश किया जा सकता है। भगवान् के धाम में प्रवेश करने की प्रक्रिया *त्रि-पाद-भूति-गति* अथवा भगवान् के परम धाम को जाना है, जिससे मनुष्य के जीवन का परम लक्ष्य सिद्ध हो जाता है। कर्दम मुनि ने अपने पूर्ण भक्ति-ज्ञान से तथा सेवा से परमलक्ष्य को प्राप्त किया जो भागवती गतिः कहलाती है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत ''कर्दम मुनि का वैराग्य'' नामक चौबीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter पच्चीस

भक्तियोग की महिमा

शौनक उवाच
कपिलस्तत्त्वसङ्ख्याता भगवानात्ममायया ।
जातः स्वयमजः साक्षादात्मप्रज्ञप्तये नृणाम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

शौनकः उवाच—श्री शौनक ने कहा; कपिलः—भगवान् श्रीकपिल; तत्त्व—सत्य का; सङ्ख्याता—व्याख्याता; भगवान्—श्रीभगवान्; आत्म-मायया—अपनी अन्तरंगा शक्ति से; जातः—जन्म लिया; स्वयम्—स्वयं ही; अजः—अजन्मा; साक्षात्—प्रकट रूप में; आत्म-प्रज्ञप्तये—दिव्य ज्ञान का विस्तार करने के लिए; नृणाम्—मानव जाति के लिए।.

श्री शौनक ने कहा : यद्यपि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अजन्मा हैं, किन्तु उन्होंने अपनी अन्तरंगा शक्ति से कपिल मुनि के रूप में जन्म धारण किया। वे सम्पूर्ण मानव जाति के लाभार्थ दिव्य ज्ञान का विस्तार करने के लिए अवतरित हुए।

तात्पर्य : *आत्म-प्रज्ञप्तये* शब्द इस बात का सूचक है कि भगवान् मानव जाति के लाभार्थ दिव्य ज्ञान प्रदान करने के लिए अवतरित होते हैं। वैदिक ज्ञान के अनुसार इतनी भौतिक सुविधाएँ प्राप्य हैं कि अच्छी तरह जीवनयापन करके सतोगुण पद तक उठा जा सके। सतोगुणी होने पर मनुष्य का ज्ञान व्यापक होता है। रजोगुणी होने पर कोई ज्ञान नहीं हो पाता, क्योंकि रजस का अर्थ है भौतिक भोगों की वाञ्छा। तमोगुणी होने पर न तो ज्ञान होता है और न किसी प्रकार का सुख (भोग) ही होता है, क्योंकि यह जीवन पशुतुल्य बन जाता है।

वेदों का उद्देश्य मनुष्य को तमोगुण से सतोगुण पद की ओर ले जाना है। सतोगुण को प्राप्त मनुष्य ही आत्मज्ञान अथवा दिव्य ज्ञान को समझ सकता है। सामान्य पुरुष इस ज्ञान को नहीं समझ पाता। चूँकि इसके लिए परम्परा आवश्यक है, फलतः यह ज्ञान या तो स्वयं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् द्वारा या उनके प्रामाणिक भक्त द्वारा व्याख्यायित होता है। यहाँ पर शौनक मुनि यह भी कहते हैं कि श्रीभगवान् के अवतार कपिल ने दिव्य ज्ञान का विस्तार करने के लिए ही जन्म धारण किया। मात्र इतना ही जान लेना कि मैं पदार्थ नहीं, अपितु आत्मा हूँ (अहं ब्रह्मास्मि—मैं ब्रह्म हूँ) आत्मा तथा उसके कार्यकलापों को जान पाने के लिए पर्याप्त नहीं है।

मनुष्य को ब्रह्म के कार्यकलापों में स्थित होना चाहिए। इन कार्यकलापों का ज्ञान स्वयं श्रीभगवान् द्वारा व्याख्यायित होता है। ऐसे दिव्य ज्ञान को मानव समाज ही समझ सकता है, पशु–समाज नहीं, जैसाकि यहाँ पर *नृणाम्* "अर्थात् मनुष्यों के लिए" शब्द के द्वारा सूचित है। मनुष्य नियमित जीवन के लिए बना है। पशु–जीवन में भी स्वाभाविक नियमन है, किन्तु यह शास्त्रों में वर्णित या अधिकारियों द्वारा निर्दिष्ट नियमित जीवन के समान नहीं होता है। मानव जीवन ही नियमित जीवन है, पशु जीवन नियमित नहीं है। केवल नियमित जीवन में ही दिव्य ज्ञान को समझा जा सकता है।

न ह्यस्य वर्ष्मणः पुंसां वरिम्णः सर्वयोगिनाम् ।
विश्रुतौ श्रुतदेवस्य भूरि तृप्यन्ति मेऽसवः ॥ २॥

शब्दार्थ

न—नहीं; हि—निस्सन्देह; अस्य—उसके विषय में; वर्ष्मणः—महानतम्; पुंसाम्—मनुष्यों में से; वरिम्णः—अग्रगण्य; सर्व—समस्त; योगिनाम्—योगियों का; विश्रुतौ—सुनने में; श्रुत-देवस्य—वेदों का स्वामी; भूरि—बारम्बार, पुनः पुनः; तृप्यन्ति—तृप्त होती हैं; मे—मेरी; असवः—इन्द्रियाँ।

शौनक ने आगे कहा : स्वयं भगवान् से अधिक जानने वाला कोई अन्य नहीं है। न तो कोई उनसे अधिक पूज्य है, न अधिक प्रौढ़ योगी। अतः वे वेदों के स्वामी हैं और उनके विषय में सुनते रहना इन्द्रियों को सदैव वास्तविक आनन्द प्रदान करने वाला है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि न तो कोई श्रीभगवान् के तुल्य है न उनसे बढ़ कर। वेदों में भी इसकी पुष्टि हुई है—*एको बहूनां यो विदधाति कामान्*। वे परम पुरुष हैं और अन्य समस्त जीवात्माओं की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले हैं। इस प्रकार अन्य समस्त जीवात्माएँ—*विष्णु-तत्त्व* तथा *जीव-तत्त्व* दोनों—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के अधीन हैं। यहाँ पर इसी अवधारणा की पुष्टि हुई है। *न ह्यस्य वर्ष्मणः पुंसाम्*—जीवात्माओं में से कोई भी परम पुरुष से बढ़कर नहीं है, क्योंकि कोई भी उनसे अधिक धनवान, विख्यात, बली, सुन्दर, ज्ञानवान या वैराग्यवान नहीं है। इन्हीं गुणों के कारण वे समस्त कारणों के कारणस्वरूप परमात्मा हैं। योगियों को आश्चर्यजनक चमत्कार कर दिखाने का बहुत गर्व रहता है, किन्तु वे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की समता नहीं कर सकते।

जो कोई भी परमात्मा से सम्बद्ध होता है उसे प्रथम कोटि का योगी स्वीकार किया जाता है। भले ही भक्तगण परमेश्वर के समान शक्तिशाली न हों, किन्तु भगवान् के निरन्तर साहचर्य से वे भगवान् की तरह हो सकते हैं। कभी-कभी तो वे भगवान् से भी अधिक शक्तिशाली बन जाते हैं। निस्सन्देह यह भगवान् द्वारा दिया गया अनुग्रह होता है।

यहाँ पर *वरिम्ण:* शब्द का भी प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है "समस्त योगियों में सर्वाधिक शक्तिमान।" कृष्ण के मुख से सुनना वास्तविक इन्द्रिय-सुख है, इसीलिए वे गोविन्द कहलाते हैं, क्योंकि वे अपने शब्दों, उपदेशों, आदेशों से—अपने से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु से इन्द्रियों को जीवन्त बना देते हैं। वे जो कुछ भी आदेश देते हैं वह दिव्य पद से रहता है और ये आदेश परम होने के कारण उनसे अभिन्न होते हैं। श्रीकृष्ण से या उनके अंश से या कपिल जैसे अंश के द्वारा श्रवण करना इन्द्रियों को अत्यन्त रुचिकर लगता है। *भगवद्गीता* को अनेक बार पढ़ा या सुना जा सकता है, क्योंकि यह परम आनन्द प्रदान करने वाला ग्रन्थ है, अत: कोी जितना ही *भगवद्गीता* को पढ़ता है उतनी ही उसे पढ़ने तथा समझने की भूख जागृत होती है और हर बार नया प्रकाश प्राप्त होता है। दिव्य सन्देश की यही प्रकृति है। इसी प्रकार का दिव्य सुख *श्रीमद्भागवत* से भी प्राप्त होता है। हम जितना ही भगवान् की महिमा के विषय में सुनते तथा कीर्तन करते हैं उतना ही हम सुखी होते हैं।

यद्यद्विधत्ते भगवान्स्वच्छन्दात्मात्ममायया ।
तानि मे श्रद्दधानस्य कीर्तन्यान्यनुकीर्तय ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यत् यत्—जो जो; विधत्ते—करते हैं; भगवान्—भगवान्; स्व-छन्द-आत्मा—आत्म इच्छा से पूर्ण, स्वतन्त्र; आत्म-मायया—अपनी अन्तरंगा शक्ति से; तानि—वे सब; मे—मुझको; श्रद्दधानस्य—श्रद्धावान; कीर्तन्यानि—प्रशंसा के योग्य; अनुकीर्तय—कृपया वर्णन करें।

अत: कृपया उन भगवान् के समस्त कार्यकलापों एवं लीलाओं का संक्षेप में वर्णन करें, जो स्वतन्त्र हैं और अपनी अन्तरंगा शक्ति से इन सारे कार्यकलापों को सम्पन्न करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर *अनुकीर्तय* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसका अर्थ है वर्णन को

समझना, किसी प्रकार का कल्पित मनोरथ उत्पन्न न करना केवल अनुरक्षण करना। शौनक ऋषि ने सूत गोस्वामी से प्रार्थना की कि उन्होंने अपने गुरु शुकदेव गोस्वामी से भगवान् द्वारा अपनी अन्तरंगा शक्ति के बल पर प्रकट की गई जिन दिव्य लीलाओं के विषय में सुना हो उन्हें उसी रूप में सुनावें। भगवान् के कोई भौतिक शरीर नहीं होता, किन्तु वे अपनी परम इच्छा से किसी प्रकार का शरीर धारण कर सकते हैं। यह उनकी अन्तरंगा शक्ति के द्वारा सम्भव है।

सूत उवाच
द्वैपायनसखस्त्वेवं मैत्रेयो भगवांस्तथा ।
प्राहेदं विदुरं प्रीत आन्वीक्षिक्यां प्रचोदितः ॥ ४॥

शब्दार्थ

सूतः उवाच—सूत गोस्वामी ने कहा; द्वैपायन-सखः—व्यासदेव के मित्र; तु—तब; एवम्—इस प्रकार; मैत्रेयः—मैत्रेय; भगवान्—पूज्य; तथा—इस तरह; प्राह—कहा; इदम्—यह; विदुरम्—विदुर से; प्रीतः—प्रसन्न होकर; आन्वीक्षिक्याम्—दिव्य ज्ञान के विषय में; प्रचोदितः—पूछे जाने पर।

श्रीसूत गोस्वामी ने कहा : परम शक्तिमान ऋषि मैत्रेय व्यासदेव के मित्र थे। दिव्य ज्ञान के विषय में विदुर की जिज्ञासा से प्रोत्साहित एवं प्रसन्न होकर मैत्रेय ने इस प्रकार कहा।

तात्पर्य : जब प्रश्नकर्ता प्रामाणिक हो और वक्ता भी अधिकारी हो तो प्रश्नोत्तर सन्तोषप्रद ढंग से चलता है। यहाँ पर मैत्रेय को शक्तिशाली ऋषि माना गया है, अत: उन्हें *भगवान्* कहा गया है। यह शब्द न केवल परमेश्वर के लिए प्रयुक्त किया जाता है, अपितु जो भी परमेश्वर के तुल्य शक्तिमान हो उसी के लिए प्रयुक्त होता है। मैत्रेय को भगवान् कहकर सम्बोधित किया गया है, क्योंकि आध्यात्मिक रूप से वे बहुत आगे बढ़े हुए थे। वे द्वैपायन व्यासदेव के मित्र थे, जो भगवान् के साहित्यावतार थे। विदुर के प्रश्नों से मैत्रेय अत्यन्त प्रसन्न हुए, क्योंकि ये प्रश्न एक प्रामाणिक सिद्ध भक्त के थे। इस तरह मैत्रेय को उत्तर देने में उत्साह प्रतीत हुआ। जब समान मानसिकता वाले भक्तों के मध्य आध्यात्मिक विषयों पर वार्ता होती है, तो प्रश्न तथा उत्तर अन्ततः फलप्रद एवं उत्साहवर्धक होते हैं।

मैत्रेय उवाच
पितरि प्रस्थितेऽरण्यं मातुः प्रियचिकीर्षया ।
तस्मिन्बिन्दुसरेऽवात्सीद्भगवान्कपिलः किल ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; पितरि—पिता के; प्रस्थिते—प्रस्थान करने पर; अरण्यम्—वन के लिए; मातुः—अपनी माता को; प्रिय-चिकीर्षया—प्रसन्न करने की इच्छा से; तस्मिन्—उस; बिन्दुसरे—बिन्दुसरोवर में; अवात्सीत्—रुका रहा; भगवान्—भगवान्; कपिलः—कपिल; किल—निस्सन्देह।

मैत्रेय ने कहा : जब कर्दम मुनि बन चले गये तो भगवान् कपिल अपनी माता देवहूति को प्रसन्न करने के लिए बिन्दु सरोवर के तट पर रहे आये।

तात्पर्य : वयस्क पुत्र का धर्म है कि अपने पिता की अनुपस्थिति में वह अपनी माता का भार अपने ऊपर ले और अपने सामर्थ्य भर उसकी सेवा करे, जिससे उसे पति-वियोग न खले। पति का भी यह कर्तव्य है कि ज्योंही पुत्र सयाना होकर अपनी पत्नी तथा गृहस्थी का भार सँभालने में समर्थ हो जाय कि वह गृहत्याग दे। गृहस्थ जीवन की यही वैदिक प्रणाली है। मनुष्य को मृत्युपर्यन्त गृहस्थी के कार्यों में निरन्तर व्यस्त नहीं रहे आना चाहिए। उसे घर छोड़ देना चाहिए। तब सयाने पुत्र को पारिवारिक मामलों तथा पत्नी का भार ग्रहण करना चाहिए।

तमासीनमकर्माणं तत्त्वमार्गाग्रदर्शनम् ।
स्वसुतं देवहूत्याह धातुः संस्मरती वचः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको (कपिल को); आसीनम्—स्थित; अकर्माणम्—फुरसत से; तत्त्व—परम सत्य का; मार्ग-अग्र—चरम लक्ष्य; दर्शनम्—जो दिखा सके; स्व-सुतम्—अपने पुत्र को; देवहूतिः—देवहूति ने; आह—कहा; धातुः—ब्रह्मा का; संस्मरती—स्मरण करते हुए; वचः—वचन, शब्द।

अपनी माँ देवहूति को परम सत्य का चरम लक्ष्य दिखला सकने में समर्थ कपिल जब उसके समक्ष फुरसत से बैठे थे तो देवहूति को वे शब्द याद आये जो ब्रह्मा ने उससे कहे थे, अतः वह कपिल से इस प्रकार प्रश्न पूछने लगी।

देवहूतिरुवाच
निर्विण्णा नितरां भूमन्नसदिन्द्रियतर्षणात् ।
येन सम्भाव्यमानेन प्रपन्नान्धं तमः प्रभो ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

देवहूतिः उवाच—देवहूति ने कहा; निर्विण्णा—ऊबी हुई; नितराम्—अत्यधिक; भूमन्—हे भगवान्; असत्—क्षणिक; इन्द्रिय—इन्द्रियों की; तर्षणात्—उत्तेजना से; येन—जिससे; सम्भाव्यमानेन—सम्भव होने से; प्रपन्ना—मैं गिर चुकी हूँ; अन्धम् तमः—अज्ञान के गर्त में; प्रभो—हे प्रभु!.

देवहूति ने कहा : हे प्रभु, मैं अपनी इन्द्रियों के विक्षोभ से ऊबी हुई हूँ और इसके फलस्वरूप मैं अज्ञान रूपी अन्धकार के गर्त में गिर गई हूँ।

तात्पर्य : यहाँ पर *असत् इन्द्रिय-तर्ष्णात्* शब्द सार्थक है। *असत्* का अर्थ है क्षणिक और *इन्द्रिय* का अर्थ है इन्द्रियाँ। इस तरह *असद्-इन्द्रिय तर्षणात्* का अर्थ हुआ "भौतिक शरीर की क्षणिक रूप से प्रकट इन्द्रियों द्वारा क्षुब्ध होकर।" हम भौतिक शरीर के विभिन्न स्तरों से होकर विकसित हो रहे हैं—कभी मानव शरीर में, तो कभी पशु शरीर में रहते हैं—फलतः हमारी इन्द्रियों के कार्य-व्यापार भी बदलते रहते हैं। जो भी वस्तु बदलती है, वह क्षणिक या असत् कहलाती है। हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि इन क्षणिक (*असत्*) इन्द्रियों से परे हमारी स्थायी इन्द्रियाँ होती हैं, जो इस समय भौतिक शरीर से ढकी हुई हैं। स्थायी इन्द्रियाँ पदार्थ से कुलषित होने के कारण सही ढंग से कार्य नहीं करतीं। फलतः इस कलुष (कल्मष) से इन्द्रियों को मुक्त करना ही भक्ति है। जब कल्मष पूर्णतः दूर हो जाता है और इन्द्रियाँ शुद्ध कृष्णचेतना से युक्त होकर कार्य करती हैं, तो हम सद् इन्द्रिय को अर्थात् शाश्वत ऐन्द्रिय कार्य-कलापों को प्राप्त होते हैं। शाश्वत ऐन्द्रिय कार्यकलाप भक्तियोग कहलाते हैं जबकि क्षणिक ऐन्द्रिय कार्य-कलापों को इन्द्रियतृप्ति कहते हैं। जब तक कोई इन्द्रियतृप्ति से ऊब नहीं जाता, तब तक उसे कपिल-जैसे व्यक्ति से दिव्य सन्देश सुनने का सुयोग प्राप्त नहीं होता। देवहूति ने कहा कि वे ऊब गई हैं। चूँकि अब उनके पति ने गृह-त्याग कर दिया है, अतः वे भगवान् कपिल के उपदेशों को सुनकर विश्राम प्राप्त कर सकती हैं।

तस्य त्वं तमसोऽन्धस्य दुष्पारस्याद्य पारगम् ।
सच्चक्षुर्जन्मनामन्ते लब्धं मे त्वदनुग्रहात् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तस्य—उस; त्वम्—तुम; तमसः—अज्ञान; अन्धस्य—अन्धकार का; दुष्पारस्य—पार करना दुष्कर; अद्य—अब; पार-गम्—पार जाना; सत्—दिव्य; चक्षुः—नेत्र; जन्मनाम्—जन्मों के; अन्ते—अन्त में; लब्धम्—प्राप्त किया; मे—मेरा; त्वत्-अनुग्रहात्—तुम्हारी कृपा से।.

हे प्रभो, आप ही अज्ञान के इस घने अन्धकार से बाहर निकलने के एकमात्र साधन हैं, क्योंकि आप ही मेरे दिव्य नेत्र हैं जिसे मैंने आपके अनुग्रह से अनेकानेक जन्मों के पश्चात् प्राप्त किया है।

तात्पर्य : यह श्लोक अत्यन्त शिक्षाप्रद है, क्योंकि यह गुरु तथा शिष्य के सम्बन्ध को बताने वाला है। शिष्य या बद्धजीव को अज्ञान के इस महानतम क्षेत्र में रखा जाता है, फलतः वह इन्द्रियतृप्ति के संसार में फँस जाता है। इस बन्धन से निकल कर स्वतन्त्रता प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है, किन्तु यदि कोई इतना भाग्यवान होता है कि उसे कपिलमुनि जैसे गुरु या उनके प्रतिनिधि की संगति प्राप्त हो जाती है, तो उनकी कृपा से अज्ञान के कीचड़ से उसका उद्धार किया जा सकता है। अतः गुरु की पूजा उस व्यक्ति के रूप में की जाती है, जो ज्ञान के प्रकाशपुंज से शिष्य को अज्ञान के कीचड़ से उबार लेता है। *पारगम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *पारगम्* उसके लिए आया है, जो शिष्य को उस पार ले जा सकता है। इस ओर बद्धजीव है और उस ओर (पार) उन्मुक्त जीवन है। गुरु ज्ञान के द्वारा शिष्य की आँखें खोलकर उस पार ले जाता है। हम सभी अज्ञान के कारण कष्ट भोगते हैं। गुरु के उपदेश से अज्ञान का अन्धकार हटता है और शिष्य स्वतन्त्रता की ओर जाने में समर्थ होता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि मनुष्य अनेकानेक जन्मों के बाद श्रीभगवान् की शरण ग्रहण करता है। इसी प्रकार यदि अनेक जन्मों के बाद किसी को प्रामाणिक गुरु मिल जाता है और वह कृष्ण के ऐसे किसी प्रामाणिक प्रतिनिधि की शरण लेता है, तो वह प्रकाश का किनारा प्राप्त कर सकता है।

य आद्यो भगवान्पुंसामीश्वरो वै भवान्किल ।
लोकस्य तमसान्धस्य चक्षुः सूर्य इवोदितः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; आद्यः—मूल; भगवान्—भगवान्; पुंसाम्—समस्त जीवों के; ईश्वरः—स्वामी; वै—वास्तव में; भवान्—आप; किल—निस्सन्देह; लोकस्य—ब्रह्माण्ड का; तमसा—अज्ञान के अन्धकार से; अन्धस्य—अन्धे का; चक्षुः—नेत्र; सूर्यः—सूर्य; इव—सदृश; उदितः—उदित, उदय हुआ।

आप श्रीभगवान् हैं, जो समस्त जीवों के मूल तथा परमेश्वर हैं। आप ब्रह्माण्ड के अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर करने के लिए सूर्य की किरणें विस्तारित करने के लिए

उदित हुए हैं।

तात्पर्य : कपिलमुनि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के अवतार माने जाते हैं। यहाँ पर *आद्य:* शब्द का अर्थ है, ''समस्त जीवों का मूल'' तथा *पुंसाम ईश्वर:* का अर्थ ''जीवों के ईश्वर (स्वामी)।'' कपिलमुनि कृष्ण के साक्षात् विस्तार हैं, जो आध्यात्मिक ज्ञान के सूर्य हैं। जिस प्रकार सूर्य ब्रह्माण्ड के अन्धकार को दूर करता है उसी प्रकार जब भगवान् का प्रकाश नीचे उतरता है, तो यह तुरन्त ही माया के अन्धकार को मिटा देता है। हमारे नेत्र हैं, किन्तु सूर्य के प्रकाश के बिना नेत्रों का कोई महत्त्व नहीं है। इसी तरह भगवान् के प्रकाश के बिना या गुरु की अलौकिक कृपा के बिना वह वस्तुओं को उसी रूप में नहीं देख सकता।

अथ मे देव सम्मोहमपाक्रष्टुं त्वमर्हसि ।
योऽवग्रहोऽहं ममेतीत्येतस्मिन्योजितस्त्वया ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अथ—अब; मे—मेरा; देव—हे भगवान्; सम्मोहम्—मोह, भ्रम; अपाक्रष्टुम्—भगाने के लिए; त्वम्—तुम; अर्हसि—प्रसन्न होवो; य:—जो; अवग्रह:—भ्रान्त धारणा; अहम्—मैं; मम—मेरा; इति—इस प्रकार; इति—इस प्रकार; एतस्मिन्—इसमें; योजित:—लगाया हुआ; त्वया—तुम्हारे द्वारा।

हे प्रभु, अब प्रसन्न हों और मेरे महा मोह को दूर करें। अहंकार के कारण मैं आपकी माया में व्यस्त रही और मैंने अपने आपको शरीर रूप में तथा फलस्वरूप शारीरिक सम्बन्धों के रूप में पहचाना।

तात्पर्य : अपने शरीर में आत्मबुद्धि का अहंकार तथा इस शरीर के साथ अपनी संग्रह की हुई वस्तुओं को जोड़ने का दावा माया कहलाता है। *भगवद्गीता* के पंद्रहवें अध्याय में भगवान् कहते हैं, ''मैं हर एक के हृदय में आसीन हूँ और सबों की स्मृति तथा विस्मृति मुझी से है।'' देवहूति ने कहा कि अपने आपको शरीर मानना तथा शारीरिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति भी भगवान् के निर्देशन में है, तो क्या इसका यह अर्थ हुआ कि भगवान् एक को भक्ति में और दूसरे को इन्द्रियतृप्ति में लगाकर भेदभाव बरतते हैं? यदि ऐसा हो तो भगवान् की ओर से यह असंगति होगी, किन्तु वास्तव में ऐसा है नहीं। ज्योंही जीव भगवान् के प्रति अपनी वास्तविक स्वाभाविक दासता की स्थिति भूल जाता है और इन्द्रियतृप्ति के माध्यम से भोग करना चाहता

है, तो वह माया द्वारा बन्दी बना लिया जाता है। माया द्वारा यह बन्धन शरीर तथा शारीरिक वस्तुओं के प्रति आसक्ति के साथ झूठी पहचान की चेतना है। ये माया के कार्य हैं और चूँकि माया भी भगवान् की एक एजेन्ट है, अत: परोक्षत: यह भगवान् का कार्य है। भगवान् दयालु हैं। यदि कोई उन्हें भुलाकर इस भौतिक जगत का सुखोपभोग करना चाहता है, तो उसे इसकी पूरी छूट प्रत्यक्ष रूपसे नहीं, अपितु उनकी भौतिक शक्ति (माया) के माध्यम से मिलती है। चूँकि यह भौतिक शक्ति भगवान् की शक्ति होती है, अत: प्रत्यक्ष रूप से विस्मृत करने की सुविधा प्रदान करने वाले भगवान् ही होते हैं। अत: देवहूति ने कहा, ''इन्द्रियतृप्ति में मेरी व्यस्तता का कारण आप ही थे। अब मुझे इस बन्धन से मुक्त करें।''

ईश्वर की कृपा से मनुष्य को इस भौतिक जगत का भोग करने की अनुमति प्राप्त है, किन्तु जब वह भौतिक सुख से ऊब कर हताश होता है और जब वह निष्ठापूर्वक भगवान् के चरणों में आत्मसमर्पण कर देता है, तो ईश्वर सदय होने के कारण उसे बन्धन से मुक्त कर देते हैं। अत: *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण कहते हैं, ''सबसे पहले मेरी शरण में आ जाओ तब तुम्हारा दायित्व मैं उठा लूँगा और मैं तुम्हें समस्त पापकर्मों के फल से मुक्त कर दूँगा।'' पापकर्म वे कर्म हैं, जिन्हें हम भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को भुला देने की स्थिति में करते हैं। इस संसार में भौतिक सुख के लिए जिन कर्मों को पवित्र माना जाता है वे भी पापपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ, कभी-कभी मनुष्य किसी गरजमंद व्यक्ति को इस दृष्टि से दान देता है कि बदले में उसे चारगुना अधिक धन मिलेगा। लाभ के उद्देश्य से दिया गया दान रजोगुणी दान है। यहाँ जो भी कर्म किया जाता है, वह भौतिक प्रकृति के गुणों के अधीन रहकर किया जाता है, फलत: भगवान् की सेवा के अतिरिक्त सारे कार्य पापपूर्ण हैं। पापकर्मों के कारण हम भौतिक आसक्ति द्वारा मोहित होते रहते हैं ''मैं यह शरीर हूँ।'' मैं शरीर को स्व तथा शारीरिक सम्पत्ति को 'मेरा' सोचता हूँ। देवहूति ने मिथ्या पहचान तथा मिथ्या सम्पत्ति के बन्धन से मुक्त करने के लिए भगवान् कपिल से प्रार्थना की।

तं त्वा गताहं शरणं शरण्यं
स्वभृत्यसंसारतरोः कुठारम् ।
जिज्ञासयाहं प्रकृतेः पूरुषस्य
नमामि सद्धर्मविदां वरिष्ठम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस व्यक्ति को; त्वा—तुम तक; गता—गया हुआ; अहम्—मैं; शरणम्—शरण; शरण्यम्—शरण ग्रहण करने योग्य; स्व-भृत्य—अपने आश्रितों के लिए; संसार—संसार के; तरोः—वृक्ष की; कुठारम्—कुल्हाड़ी; जिज्ञासया—जानने की इच्छा से; अहम्—मैं; प्रकृतेः—पदार्थ (स्त्री) का; पूरुषस्य—आत्मा (पुरुष) का; नमामि—नमस्कार करती हूँ; सत्-धर्म—शाश्वत वृत्ति के; विदाम्—ज्ञाताओं का; वरिष्ठम्—महानतम को।.

देवहूति ने आगे कहा : मैंने आपके चरणकमलों की शरण ग्रहण की है, क्योंकि आप ही एकमात्र व्यक्ति हैं जिनकी शरण ग्रहण की जा सकती है। आप वह कुल्हाड़ी हैं जिससे संसार रूपी वृक्ष काटा जा सकता है। अतः मैं आपको नमस्कार करती हूँ, क्योंकि समस्त योगियों में आप महानतम हैं। मैं आपसे पुरुष तथा स्त्री और आत्मा तथा पदार्थ के सम्बन्ध के विषय में जानना चाहती हूँ।

तात्पर्य : जैसाकि सर्वविदित है, सांख्य योग *प्रकृति* तथा *पुरुष* के विषय से सम्बन्धित है। श्रीभगवान् या भोक्ता के रूप में जो कोई पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का अनुकरण करता है, वह *पुरुष* है और *प्रकृति* का अभिप्राय प्रकृति से है। इस भौतिक जगत में पुरुषों या जीवों के द्वारा प्रकृति का उपभोग होता है। इस संसार में प्रकृति तथा पुरुष अथवा भोग्य तथा भोक्ता के सम्बन्ध की जटिलताएँ संसार अथवा भौतिक बन्धन कहलाती हैं। देवहूति भौतिक बन्धन रूपी वृक्ष को काटना चाह रही थीं और इसके लिए उन्हें कपिल मुनि के रूप में कुठार प्राप्त हुआ था। *भगवद्गीता* के पंद्रहवें अध्याय में संसार रूपी वृक्ष की व्याख्या उस अश्वत्थ वृक्ष के रूप में की गई है, जिसकी जड़ें ऊर्ध्वमुखी और शाखाएँ अधोमुखी हैं। यहाँ यह बताया गया है कि इस संसार रूपी वृक्ष की जड़ को विरक्ति के कुठार से काटना होता है। आसक्ति क्या है ? इसमें प्रकृति तथा पुरुष सन्निहित हैं। जीव प्रकृति पर अधिकार जताना चाहते हैं और चूँकि बद्धजीव प्रकृति को ही अपने भोग का लक्ष्य बनाता है और स्वयं भोक्ता बनता है, अतः वह पुरुष कहलाता है।

देवहूति ने कपिल मुनि से प्रश्न किया, क्योंकि उन्हें ज्ञात था कि वे इस भौतिक संसार के

प्रति उसकी आसक्ति को छिन्न कर सकते हैं। पुरुषों तथा स्त्रियों के वेश में जीवात्माएँ भौतिक शक्ति का आनन्द उठाना चाहती हैं, अत: एक प्रकार से प्रत्येक जीवात्मा पुरुष है, क्योंकि पुरुष का अर्थ है 'भोक्ता' और प्रकृति का अर्थ है 'भोग्या'। इस जगत में तथाकथित पुरुष तथा तथाकथित स्त्री दोनों ही वास्तविक पुरुष का अनुकरण करते हैं और आध्यात्मिक दृष्टि से वास्तविक भोक्ता हैं, जबकि शेष सभी प्रकृति हैं। जीवात्माएँ प्रकृति मानी जाती हैं। *भगवद्गीता* में पदार्थ को *अपरा* अर्थात् निकृष्ट प्रकृति कहा गया है। इस निकृष्ट प्रकृति से परे एक अन्य श्रेष्ठ प्रकृति है—जीवात्माएँ। जीवात्माएँ भी प्रकृति या भोग्या हैं, किन्तु माया के वश में आकर जीवात्माएँ अपने को भोक्ता मानती हैं। *संसार बन्धन* या बद्ध जीवन का यही कारण है। देवहूति बद्ध जीवन से निकलकर पूर्णतया समर्पित हो जाना चाहती थीं। भगवान् *शरण्य* हैं जिसका अर्थ यह होता है कि वे ही एकमात्र व्यक्ति हैं जिनको पूर्णरूप से समर्पण किया जा सकता है, क्योंकि वे ऐश्वर्यों से पूर्ण हैं। यदि कोई सचमुच विश्राम चाहता है, तो सर्वश्रेष्ठ मार्ग है कि वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण में जाय। भगवान् को यहाँ पर *सद्धर्म-विदां वरिष्ठम्* कहा गया है। यह बताता है कि दिव्य वृत्तियों में सर्वश्रेष्ठ वृत्ति श्रीभगवान् की प्रेमा-भक्ति है। कभी-कभी धर्म का धर्म के रूप में अर्थ किया जाता है, किन्तु इसका वास्तविक अर्थ है, ''वह जिसका परित्याग नहीं हो सकता, जिसे स्व से पृथक् नहीं किया जा सकता।'' अग्नि की उष्णता अग्नि से विलग नहीं की जा सकती इसलिए उष्णता को अग्नि का धर्म या प्रकृति (गुण) कहा जाता है। इसी प्रकार *सद्धर्म* का अर्थ है शाश्वत धर्म (वृत्ति)। यह शाश्वत वृत्ति है ईश्वर की दिव्य प्रेमा-भक्ति में लगना। कपिलदेव के सांख्य दर्शन का उद्देश्य विशुद्ध, कल्मषरहित भक्ति का प्रसार है, फलत: उन्हें जीव के दिव्य धर्म के ज्ञाताओं में सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति कहकर सम्बोधित किया गया है।

मैत्रेय उवाच

इति स्वमातुर्निरवद्यमीप्सितं
निशम्य पुंसामपवर्गवर्धनम् ।
धियाभिनन्द्यात्मवतां सतां गति-

र्बभाष ईषत्स्मितशोभिताननः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; स्व-मातुः—अपनी माता की; निरवद्यम्—कल्मषहीन; ईप्सितम्—इच्छा को; निशम्य—सुनकर; पुंसाम्—लोगों के; अपवर्ग—मोक्ष; वर्धनम्—बढ़ते हुए; धिया—मानसिक रूप से; अभिनन्द्य—धन्यवाद देकर; आत्म-वताम्—आत्म-साक्षात्कार में रुचि रखने वाले, आत्मज्ञ; सताम्—सत्यपुरुष, गुणातीतवादी; गतिः—पथ, मार्ग; बभाषे—कह सुनाया; ईषत्—कुछ-कुछ; स्मित—हँसते हुए; शोभित—सुन्दर; आननः—मुखमण्डल।

मैत्रेय ने कहा : दिव्य साक्षात्कार के लिए अपनी माता की कल्मषरहित इच्छा को सुनकर भगवान् ने मन-ही-मन उनके प्रश्नों के लिए धन्यवाद दिया और इस प्रकार मुस्कान-युत मुख से उन्होंने आत्म-साक्षात्कार में रुचि रखने वाले अध्यात्मवादियों के मार्ग की व्याख्या की।

तात्पर्य : देवहूति ने भवबन्धन अपने उलझे होने की स्वीकृति तथा उससे छुटकारे की इच्छा से आत्म–समर्पण कर दिया। जो लोग भवबन्धन से मोक्ष पाने के इच्छुक हैं और मानव जीवन की पूर्णता की अवस्था प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए देवहूति द्वारा कपिल से पूछे गये प्रश्न अत्यन्त रोचक हैं। जब तक कोई अपने आध्यात्मिक जीवन या अपनी स्वाभाविक स्थिति को समझने में रुचि नहीं रखता और जब तक इस संसार में असुविधा का अनुभव नहीं करता, तब तक उसका मनुष्य जीवन वृथा जाता है। जो जीवन की इन दिव्य आवश्यकताओं की परवाह न करके पशु की भाँति खाने, सोने, डरने तथा संभोग करने में लगा रहता है, वह अपना जीवन गँवा देता है। भगवान् कपिल अपनी माता के प्रश्नों से अत्यधिक प्रसन्न थे, क्योंकि उनके उत्तर संसार के बद्धजीवन से मुक्ति की इच्छा को जागरित करने वाले हैं। ऐसे प्रश्न *अपवर्ग वर्धनम्* कहलाते हैं। जिनमें वास्तविक आध्यात्मिक रुचि होती है वे *सत्* अथवा भक्त कहलाते हैं। *सतां प्रसङ्गात्। सत्* का अर्थ है "जिसका शाश्वत अस्तित्व है" और *असत्* का अर्थ है "जो शाश्वत नहीं है।" जब तक मनुष्य आध्यात्मिक स्थिति (पद) को प्राप्त नहीं होता वह *सत्* नहीं होता; वह *असत्* है। *असत्* ऐसी स्थिति में रहता है, जिसका अस्तित्व नहीं होता और जो भी आध्यात्मिक स्थिति पर होता है उसका अस्तित्व शाश्वत होता है। आत्मा के रूप में प्रत्येक व्यक्ति का अस्तित्व शाश्वत है, किन्तु *असत्* तो भौतिक जगत को अपना आश्रय

बनाता है, फलतः वह चिन्ता से पूर्ण रहता है। *असद्-ग्राहान्* जो आत्मा पदार्थ को भोगने का झूठा विचार रखे उसकी असंगत स्थिति उसके असत् होने का कारण है। वास्तव में, आत्मा *असत्* नहीं है। ज्योंही मनुष्य इस तथ्य के प्रति सचेत हो जाता है और वह कृष्णभावनामृत अपना लेता है, तो वह *सत्* बन जाता है। *सतां गतिः* या नित्य का मार्ग उन व्यक्तियों के लिए अत्यन्त रुचिकर है, जो मुक्ति चाहते हैं और भगवान् कपिल ने इसी मार्ग के विषय में कहना प्रारम्भ किया।

श्रीभगवानुवाच
योग आध्यात्मिकः पुंसां मतो निःश्रेयसाय मे ।
अत्यन्तोपरतिर्यत्र दुःखस्य च सुखस्य च ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; योगः—योग प्रणाली; आध्यात्मिकः—आत्मा से सम्बन्धित; पुंसाम्—जीवों का; मतः—स्वीकृत है; निःश्रेयसाय—चरम लाभ हेतु; मे—मेरे द्वारा; अत्यन्त—पूर्ण; उपरतिः—विरक्ति; यत्र—जहाँ; दुःखस्य—दुख से; च—तथा; सुखस्य—सुख से; च—तथा।

भगवान् ने उत्तर दिया : जो योग पद्धति भगवान् तथा व्यक्तिगत जीवात्मा को जोड़ती है, जो जीवात्मा के चरम लाभ के लिए है और जो भौतिक जगत में समस्त सुखों तथा दुखों से विरक्ति उत्पन्न करती है, वही सर्वोच्च योग पद्धति है।

तात्पर्य : इस भौतिक जगत में व्यक्ति कुछ-न-कुछ सुख प्राप्त करने का प्रयास करता है, किन्तु जैसे ही हमें थोड़ा सुख-लाभ होता है कि भौतिक दुख भी पड़ता है। इस संसार में किसी को एकान्तिक सुख प्राप्त नहीं हो सकता। किसी भी प्रकार का सुख दुख से कलुषित हो जाता है। उदाहरणार्थ, यदि हम दूध पीना चाहें तो हमें गाय पालना होगा और उसे दूध देने लायक बनाए रखना होगा। दूध पीना तो अच्छा है। और आनन्द भी है, किन्तु दूध पीने के लिए मनुष्य को इतनी सारी झंझटें उठानी पड़ती हैं। जैसाकि भगवान् ने यहाँ पर कहा है योग पद्धति समस्त सुख तथा दुख को समाप्त करने के लिए है। जैसी कि *भगवद्गीता* में कृष्ण ने शिक्षा दी है, सर्वोत्तम योग भक्तियोग है। *गीता* में यह भी कहा गया है कि मनुष्य को सहिष्णु बनना चाहिए और भौतिक सुख या दुख से विचलित नहीं होना चाहिए। निस्सन्देह मनुष्य यह

कह सकता है कि वह सुख से विचलित नहीं होता, किन्तु उसे यह पता नहीं कि तथाकथित सुख भोगने के बाद दुख आएगा। यही भौतिक जगत का नियम है। भगवान् कपिल कहते हैं कि योग पद्धति आत्मा का विज्ञान है। मनुष्य योग का अभ्यास आध्यात्मिक पद की पूर्णता प्राप्त करने के लिए करता है। इसमें भौतिक सुख या दुख का प्रश्न नहीं उठता। यह दिव्य होता है। अन्ततः भगवान् कपिल बताएँगे कि यह किस तरह दिव्य है, किन्तु यहाँ पर प्रारम्भिक प्रस्तावना दी गई है।

तमिमं ते प्रवक्ष्यामि यमवोचं पुरानघे ।
ऋषीणां श्रोतुकामानां योगं सर्वाङ्गनैपुणम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

तम् इमम्—वही; ते—तुमको; प्रवक्ष्यामि—बतलाऊँगा; यम्—जो; अवोचम्—मैंने बतलाया था; पुरा—पहले; अनघे—हे पूज्य माता; ऋषीणाम्—ऋषियों को; श्रोतु-कामानाम्—सुनने के लिए उत्सुक; योगम्—योग पद्धति; सर्व-अङ्ग—सभी प्रकार से; नैपुणम्—उपयोगी एवं व्यावहारिक।

हे परम पवित्र माता, अब मैं आपको वही प्राचीन योग पद्धति समझाऊँगा, जिसे मैंने पहले महान् ऋषियों को समझाया था। यही हर प्रकार से उपयोगी एवं व्यावहारिक है।

तात्पर्य : भगवान् किसी नई योग पद्धति का निर्माण नहीं करते। कभी-कभी यह दावा किया जाता है कि अमुक व्यक्ति ईश्वर का अवतार हो गया है और परम सत्य के एक नवीन नैतिक पक्ष की स्थापना कर रहा है। किन्तु यहाँ हम देखते हैं कि यद्यपि कपिल मुनि स्वयं भगवान् हैं और अपनी माता के लिए नवीन सिद्धान्त (वाद) निर्मित करने में समर्थ हैं, तो भी वे कहते हैं, ''मैं उस प्राचीन योग पद्धति को समझाऊँगा जिसे एक बार मैंने ऋषियों को समझाया था, क्योंकि वे इसके विषय में सुनने के लिए उत्कंठित थे।'' जब हमारे पास वैदिक शास्त्रों में पहले से सर्वश्रेष्ठ विधि उपलब्ध है, तो फिर नई पद्धति के गढ़ने और भोलीभाली जनता को गुमराह करने की क्या आवश्यकता है? आज के जमाने में मानक पद्धति को ठुकराना और योग के नाम पर नव आविष्कृत भ्रष्ट पद्धति प्रस्तुत करना एक फैशन बन चुका है।

चेत: खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् ।
गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

चेतः—चेतना; खलु—निस्सन्देह; अस्य—उसका; बन्धाय—बन्धन के लिए; मुक्तये—मुक्ति के लिए; च—तथा; आत्मनः—जीव का; मतम्—माना जाता है; गुणेषु—तीनों गुणों में; सक्तम्—मोहित; बन्धाय—बद्धजीवन के लिए; रतम्—आसक्त; वा—अथवा; पुंसि—परमात्मा में; मुक्तये—मुक्ति के लिए।

जीवात्मा की चेतना जिस अवस्था में प्रकृति के तीन गुणों के द्वारा आकृष्ट होती है, वह बद्धजीवन कहलाती है। किन्तु जब वही चेतना श्रीभगवान् के प्रति आसक्त होती है, तो मनुष्य मोक्ष की चेतना में स्थित हो।

तात्पर्य : कृष्णचेतना तथा मायाचेतना में अन्तर है। *गुणेषु* या मायाचेतना में प्रकृति के तीनों गुणों के प्रति आसक्ति होती है, जिसके अन्तर्गत मनुष्य कभी सतो, कभी रजो और कभी तमोगुण में कार्य करता है। ये विभिन्न गुणात्मक कार्य, जिनमें भौतिक भोग के लिए मुख्य आसक्ति रहती है, मनुष्य के बद्धजीवन के कारणस्वरूप हैं। जब वही *चेत:* या चेतना पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण में स्थानान्तरित हो जाती है या जब मनुष्य कृष्णभक्त बन जाता है, तो वह मुक्ति के पथ पर होता है।

अहं ममाभिमानोत्थैः कामलोभादिभिर्मलैः ।
वीतं यदा मनः शुद्धमदुःखमसुखं समम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; मम—मेरा; अभिमान—भ्रान्ति से; उत्थैः—उत्पन्न, जनित; काम—काम; लोभ—लालच; आदिभिः—इत्यादि; मलैः—मलों (विकारों) से; वीतम्—मुक्त, से रहित; यदा—जब; मनः—मन; शुद्धम्—शुद्ध; अदुःखम्—दुःखरहित; असुखम्—सुखविहीन; समम्—समभाव।

जब मनुष्य शरीर को ''मैं'' तथा भौतिक पदार्थों को ''मेरा'' मानने के झूठे भाव से उत्पन्न काम तथा लोभ के विकारों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है, तो उसका मन शुद्ध हो जाता है। उस विशुद्धावस्था में वह तथाकथित भौतिक सुख तथा दुख की अवस्था को लाँघ जाता है।

तात्पर्य : काम तथा लोभ संसार के लक्षण हैं। हर व्यक्ति सदैव कुछ न कुछ रखना चाहता है। यहाँ पर यह कहा गया है कि इच्छा तथा लालच शरीर के साथ स्वयं की गलत पहचान के

प्रति-फल हैं। जब मनुष्य इस कल्मष से मुक्त हो जाता है, तो उसके मन तथा चेतना भी मुक्त होकर अपनी आदि अवस्था प्राप्त कर लेते हैं। मन, चेतना तथा जीवात्मा विद्यमान रहते हैं। जब हम जीव की बात करते हैं, तो उसमें मन तथा चेतना भी सम्मिलित रहते हैं। जब हम मन तथा चेतना को शुद्ध कर लेते हैं, तो बद्ध जीवन तथा मुक्त जीवन में अन्तर आ जाता है। जब वे शुद्ध हो जाते हैं, तो मनुष्य भौतिक सुख तथा दुख से आगे निकल जाता है।

प्रारम्भ में ही भगवान् कपिल ने कहा है कि पूर्ण योग से मनुष्य सुख तथा दुख अवस्था के परे जा सकता है। यहाँ यह बताया गया है कि इसे कैसे किया जाता है—मनुष्य को अपना मन तथा चेतना को शुद्ध करना होता है। इसे भक्तियोग पद्धति द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है। जैसाकि *नारद पंचरात्र* में बताया गया है मनुष्य को मन तथा इन्द्रियों को शुद्ध बनाना चाहिए (*तत्परत्वेन निर्मलम्*)। मनुष्य की इन्द्रियाँ भगवान् की भक्ति में लगनी चाहिए। यही विधि है। मन को कुछ न कुछ काम में लगे रहना होता है। मनुष्य मन को खाली नहीं रख सकता। निस्सन्देह मन को खाली या रिक्त बनाने के कतिपय मूर्खतापूर्ण प्रयास किये जाते हैं, किन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। जिस एकमात्र विधि से मन शुद्ध हो सकता है, वह है इसे कृष्ण में लगाना। मन को लगाये रखना चाहिए। यदि हम अपने मन को कृष्ण में लगाएँ, तो यह स्वाभाविक है कि हमारी चेतना पूर्णतः शुद्ध हो जाय और भौतिक काम तथा लोभ के प्रवेश की गुंजाईश ही न रहे।

तदा पुरुष आत्मानं केवलं प्रकृतेः परम् ।
निरन्तरं स्वयंज्योतिरणिमानमखण्डितम् ॥ १७॥

शब्दार्थ

तदा—तब; पुरुषः—जीव; आत्मानम्—अपने आपको; केवलम्—शुद्ध; प्रकृतेः परम्—संसार से परे; निरन्तरम्—अभिन्न; स्वयम्-ज्योतिः—स्वयं-प्रकाश, स्वतः तेजवान; अणिमानम्—सूक्ष्म; अखण्डितम्—खंडित नहीं, अखण्ड।

उस समय जीव अपने आपको संसार से परे, सदैव स्वयंप्रकाशित, अखंडित एवं सूक्ष्म आकार में देख सकता है।

तात्पर्य : विशुद्ध चेतना या कृष्णभक्ति की स्थिति में मनुष्य अपने आपको परमेश्वर से

अभिन्न एक सूक्ष्म कण के रूप में देख सकता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है जीव परमेश्वर का शाश्वत अंश है। जिस प्रकार सूर्य की किरणें सूर्य की प्रकाशमान संरचना के सूक्ष्म कण हैं, उसी प्रकार जीवात्मा परमात्मा का सूक्ष्म कण है। परमेश्वर से जीव का विलगन भौतिक विभाजन जैसा नहीं होता। जीव प्रारम्भ से ही एक कण है। किन्तु हमें यह नहीं सोचना चाहिए कि जीव एक कण होने के कारण पूर्ण आत्मा से खण्डित है। मायावाद दर्शन बताता है कि पूर्ण आत्मा विद्यमान रहता है, किन्तु इसका एक अंश जिसे जीव कहते हैं मोहवश बन्दी हो जाता है। वह दर्शन हमें स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि आत्मा को पदार्थ की भाँति खण्डित नहीं किया जा सकता। वह खण्ड या जीव शाश्वत रूप से खण्ड रहता है। जब तक परम आत्मा विद्यमान रहता है तब तक उसका अंश भी विद्यमान रहता है। जब तक सूर्य का अस्तित्व है तब तक सूर्य किरणों के अणु भी विद्यमान रहेंगे।

वैदिक साहित्य में जीव–कण को बाल के अग्रभाग के दस हजारवें भाग के आकार का बताया गया है। अत: यह अतिसूक्ष्म है। परमात्मा अनन्त है, किन्तु जीव या जीवात्मा सूक्ष्म है, यद्यपि गुण में यह परमात्मा से भिन्न नहीं है। इस श्लोक में दो शब्द ध्यान देने योग्य हैं। एक है *निरन्तरम्*—जिसका अर्थ 'अभिन्न' अथवा "उसी गुण वाला।" जीव को यहाँ पर *अणिमानम्* भी कहा गया है। *अणिमानम्* का अर्थ है "अतिसूक्ष्म।" परम आत्मा सर्वव्यापी है, किन्तु जीव अति लघु आत्मा है। *अखिण्डतम्* का अर्थ वस्तुत: "खण्डित नहीं" अपितु स्वाभाविक रूप से सदैव अतिसूक्ष्म है। सूर्य से सूर्यप्रकाश के अणुवीय खण्डों को कोई भी विलग नहीं कर सकता, किन्तु सूर्यप्रकाश का अणुवीय खण्ड सूर्य जैसा व्यापक नहीं होता। इसी प्रकार जीवात्मा अपनी स्वाभाविक स्थिति के द्वारा गुणात्मक रूप से परम आत्मा के समान ही है, किन्तु अत्यन्त सूक्ष्म है।

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन चात्मना ।
परिपश्यत्युदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

ज्ञान—ज्ञान; वैराग्य—वैराग्य; युक्तेन—से युक्त; भक्ति—भक्ति; युक्तेन—से युक्त; च—तथा; आत्मना—मन से; परिपश्यति—देखता है; उदासीनम्—उदासीन; प्रकृतिम्—संसार को; च—तथा; हत-ओजसम्—शक्ति से वंचित।

आत्म-साक्षात्कार की उस अवस्था में मनुष्य ज्ञान तथा भक्ति में त्याग के अभ्यास से प्रत्येक वस्तु को सही रूप में देख सकता है, वह इस संसार के प्रति अन्यमनस्क हो जाता है और उस पर भौतिक प्रभाव अत्यल्प प्रबलता के साथ काम कर पाते हैं।

तात्पर्य : जिस प्रकार किसी रोग के कीटाणुओं के सम्पर्क से निर्बल मनुष्य प्रभावित हो सकता है उसी प्रकार से भौतिक प्रकृति या माया का प्रभाव दुर्बल या बद्धजीवों पर पड़ता है, मुक्त जीवों पर नहीं। आत्म-साक्षात्कार ही मुक्त अवस्था की स्थिति है। ज्ञान तथा वैराग्य के द्वारा मनुष्य को अपनी स्थिति का पता चलता है। ज्ञान के बिना अनुभूति सम्भव नहीं। यह अनुभूति कि वह परमात्मा का अति सूक्ष्म अंश है, उसे भौतिक बद्ध जीवन से अनासक्त बनाती है। यही भक्तियोग का शुभारम्भ है। भौतिक कल्मष से मुक्त हुए बिना भगवान् की भक्ति में नहीं लगा जा सकता। इसीलिए इस श्लोक में कहा गया है—*ज्ञानवैराग्ययुक्तेन*—जब मनुष्य अपनी स्थिति से पूर्णत: अवगत होता है और भौतिक आकर्षण से विलग होकर विरक्त जीवन बिताता है, तो शुद्ध भक्ति के द्वारा—*भक्तियुक्तेन*—वह भगवान् का प्रिय दास बन सकता है। *परिपश्यन्ति* का अर्थ है कि वस्तुओं को सही रूप में देख सकता है। तब भौतिक प्रकृति का प्रभाव प्राय: शून्य हो जाता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में भी हुई है—*ब्रह्मभूत: प्रसन्नात्मा*—स्वरूपसिद्ध होने पर मनुष्य प्रसन्न तथा भौतिक प्रकृति के प्रभाव से मुक्त हो जाता है और उसी के साथ वह शोक तथा चाह से भी मुक्त हो जाता है। भगवान् उस स्थिति को *मद्भक्तिं लभते पराम्*—अर्थात् भक्ति के शुभारम्भ की वास्तविक दशा कहते हैं। इसी प्रकार इसकी पुष्टि *नारद पंचरात्र* में हुई है कि इन्द्रियों के शुद्ध होने पर उन्हें भगवान् की भक्ति में लगाया जा सकता है। जो भौतिक कल्मष से आकृष्ट है, वह भक्त नहीं हो सकता।

न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि ।
सदृशोऽस्ति शिव: पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; युज्यमानया—सम्पन्न की जा रही; भक्त्या—भक्ति से; भगवति—भगवान् के प्रति; अखिल-आत्मनि—परमात्मा; सदृशः—के समान; अस्ति—है; शिवः—मंगलकारी, शुभ; पन्थाः—पथ; योगिनाम्—योगियों का; ब्रह्म-सिद्धये—आत्म-साक्षात्कार की सिद्धि के लिए।

किसी भी प्रकार का योगी जब तक श्रीभगवान् की भक्ति में प्रवृत्त नहीं हो जाता, तब तक आत्म-साक्षात्कार में पूर्णता नहीं प्राप्त की जा सकती, क्योंकि भक्ति ही एकमात्र शुभ मार्ग है।

तात्पर्य : यहाँ यह स्पष्ट बताया गया है कि भक्ति को मिलाए बिना ज्ञान तथा वैराग्य कभी पूर्ण नहीं होते। *न युज्यमानया* का अर्थ है, ''बिना एक साथ जोड़े।'' जब भक्तिमय सेवा होती है, तो यह प्रश्न उठता है कि सेवा किसको अर्पित की जाय? यह भक्ति श्रीभगवान् को ही अर्पित की जानी है, क्योंकि वे ही हर एक के परमात्मा हैं और आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्म-साक्षात्कार का यही एकमात्र विश्वस्त मार्ग है। *ब्रह्मसिद्धये* शब्द का अर्थ है अपने को पदार्थ से भिन्न समझना, अपने आपको ब्रह्म समझना। वैदिक शब्द है *अहं ब्रह्मास्मि*। ब्रह्मसिद्धि का अर्थ है कि मनुष्य समझे कि वह पदार्थ नहीं है—वह शुद्ध आत्मा है। योगी कई प्रकार के होते हैं, किन्तु प्रत्येक योगी आत्म-साक्षात्कार या ब्रह्म-साक्षात्कार करने में लगा रहता है। यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि जब तक पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की भक्ति में प्रवृत्त नहीं हुआ जाता, तब तक मनुष्य ब्रह्मसिद्धि के मार्ग तक नहीं पहुँच सकता।

श्रीमद्‌भागवत के द्वितीय अध्याय के प्रारम्भ में कहा गया है कि जब मनुष्य अपने आपको वासुदेव की भक्ति में लगाता है, तो आध्यात्मिक ज्ञान तथा वैराग्य स्वत: प्रकट होते हैं। फलस्वरूप भक्त को ज्ञान या वैराग्य के लिए अलग से प्रयास नहीं करना होता। भक्तिमय सेवा अपने आप में इतनी शक्तिमान होती है कि मनुष्य की सेवा की प्रवृत्ति के द्वारा सब कुछ प्रकट हो जाता है। यहाँ पर *शिव: पन्था:* कहा गया है—आत्म-साक्षात्कार का यही एकमात्र शुभ मार्ग है। ब्रह्म-साक्षात्कार के लिए भक्ति मार्ग परम गुह्य साधन है। यह तथ्य कि भक्ति के शुभ पथ के द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार की सिद्धि प्राप्त होती है, यह संकेत देता है कि तथाकथित ब्रह्म-साक्षात्कार या ब्रह्मज्योति तेज ब्रह्मसिद्धि नहीं है। ब्रह्मज्योति से भी आगे श्रीभगवान् हैं। उपनिषदों में भक्त को भगवान् से प्रार्थना करता बताया गया है कि कृपया ब्रह्मज्योति को एक

ओर कर लें जिससे वह ब्रह्मज्योति के भीतर भगवान् के वास्तविक शाश्वत रूप का दर्शन कर सके। जब तक मनुष्य भगवान् के दिव्य रूप की अनुभूति प्राप्त नहीं कर लेता तब तक भक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। भक्तिमय सेवा के लिए अनिवार्य है कि भक्ति का कोई ग्रहण कर्ता हो तथा भक्त हो जो भक्ति करता है। भक्ति के द्वारा ब्रह्मसिद्धि ही भगवान् का साक्षात्कार है। भगवान् के शरीर की तेजस्वी किरणों का ज्ञान हो जाना ब्रह्मसिद्धि की पूर्णावस्था नहीं है। न ही परम पुरुष के परमात्मा-स्वरूप का दर्शन ही पूर्ण है, क्योंकि भगवान् अखिलात्मा हैं—वे परमात्मा हैं। जो भगवान् का साक्षात्कार करता है, वह अन्य रूपों—यथा परमात्मा रूप तथा ब्रह्म रूप का भी दर्शन करता है और सम्पूर्ण साक्षात्कार ही ब्रह्मसिद्धि है।

प्रसङ्गमजरं पाशमात्मनः कवयो विदुः ।
स एव साधुषु कृतो मोक्षद्वारमपावृतम् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

प्रसङ्गम्—आसक्ति; अजरम्—प्रबल; पाशम्—बन्धन; आत्मनः—आत्मा का; कवयः—विद्वान पुरुष; विदुः—जानते हैं; सः एव—वही; साधुषु—भक्तों में; कृतः—प्रयुक्त; मोक्ष-द्वारम्—मुक्ति का दरवाजा; अपावृतम्—खुला हुआ।

प्रत्येक विद्वान व्यक्ति अच्छी तरह जानता है कि सांसारिक आसक्ति ही आत्मा का सबसे बड़ा बन्धन है। किन्तु वही आसक्ति यदि स्वरूपसिद्ध भक्तों के प्रति हो जाय तो मोक्ष का द्वार खुल जाता है।

तात्पर्य : यहाँ पर यह स्पष्ट कहा गया है कि किसी वस्तु के लिए आसक्ति होना बद्ध जीवन में बन्धन का कारण है, किन्तु यदि यही आसक्ति किसी अन्य के प्रति हो तो मोक्ष का द्वार खुल जाता है। आसक्ति की हत्या नहीं की जा सकती, इसे केवल स्थानान्तरित करना होता है। भौतिक वस्तुओं के लिए आसक्ति को भौतिक चेतना कहते हैं और कृष्ण या उनके भक्त के लिए आसक्ति को कृष्णचेतना (भावनामृत, भक्ति) कहते हैं। फलतः चेतना आसक्ति का अभिव्यक्ति-माध्यम है। यहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि जब हम अपनी भौतिक चेतना को शुद्ध करके कृष्णचेतना कर लेते हैं, तो हमें मोक्ष प्राप्त होता है। इस कथन के बावजूद कि आसक्ति का परित्याग किया जाय, जीवात्मा के लिए सम्भव नहीं कि वह अनासक्त (इच्छाविहीन) हो

सके। जीव में स्वभावत: किसी न किसी वस्तु से आसक्त होने का झुकाव होता है। हम देखते हैं कि यदि किसी के कोई आसक्ति की वस्तु नहीं होती, यदि उसके सन्तान नहीं होती तो वह अपनी आसक्ति कुत्तों तथा बिल्लियों में स्थानान्तरित कर देता है। इससे सूचित होता है कि आसक्ति के झुकाव को रोका नहीं जा सकता; इसे श्रेष्ठ कार्य के लिए उपयोग में लाना चाहिए। भौतिक वस्तुओं के प्रति हमारी आसक्ति होने से हमारी बद्ध अवस्था चलती रहती है, किन्तु यदि इसी आसक्ति को भगवान् में या उनके भक्त में लगा दिया जाय तो वह मोक्ष का स्रोत बन जाती है।

यहाँ संस्तुति की गई है कि आसक्ति को स्वरूपसिद्ध भक्तों या साधुओं में स्थानान्तरित कर दिया जाय। पर साधु है कौन? साधु कोई सामान्य व्यक्ति नहीं होता जो गेरुआ वस्त्र पहने हो या लम्बी सी दाढ़ी रखे हो। *भगवद्गीता* में बताया गया है कि साधु वह है, जो बिना हिचकिचाहट के भक्ति में लगा रहता है। भले ही वह भक्ति के नियमों का दृढ़ता से पालन न करता हो, किन्तु यदि परम पुरुष कृष्ण में उसकी अडिग आस्था है, तो वह साधु समझा जाता है। *साधुरेव स मन्तव्य:*। साधु भक्ति का कट्टर अनुयायी होता है। यहाँ यह संस्तुति की गई है कि जो ब्रह्म-साक्षात्कार करना चाहता है या आध्यात्मिक सिद्धि का इच्छुक है, उसे चाहिए कि साधु या भक्त से आसक्ति करे। भगवान् चैतन्य ने भी इसकी पुष्टि की है। *लव मात्र साधुसंगे सर्व सिद्धि हय*—साधु की क्षणमात्र की संगति से सिद्धि प्राप्त की जा सकती है।

महात्मा शब्द साधु का पर्यायवाची है। कहा जाता है कि महात्मा की सेवा मुक्ति का राज मार्ग है—*द्वारमाहुर्विमुक्ते:। महत् सेवां द्वारमाहुर्विमुक्तेस्तमोद्वारं योषितां सङ्गिसङ्गम्* (*भागवत* ५.५.२)। भौतिकतावादियों की सेवा करने से उल्टा प्रभाव होता है। यदि कोई किसी निरे भौतिकतावादी या इन्द्रियभोग में लिप्त व्यक्ति की सेवा करता है, तो ऐसे व्यक्ति की संगति से नर्क का द्वार खुल जाता है। यहाँ इसी सिद्धान्त की पुष्टि की गई है। भक्त के प्रति आसक्ति भगवद्सेवा के प्रति आसक्ति है, क्योंकि यदि कोई साधु की संगति करता है, तो वह शिक्षा देगा कि किस प्रकार भगवान् का भक्त, पूजक तथा निष्ठावान दास बना जाय। साधु के यही

वरदान हैं। यदि हम साधु की संगति करना चाहें तो हमें यह उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि वह हमें बतायेगा कि हम अपनी भौतिक स्थिति किस प्रकार सुधारें, अपितु वह हमें यह शिक्षा देगा कि भौतिक आकर्षण रूपी कल्मष की गाँठ कैसे काटी जाय और भक्ति में हम कैसे ऊपर उठें। साधु की संगति का यही फल है। कपिल मुनि सर्वप्रथम बताते हैं कि मुक्ति मार्ग ऐसी ही संगति से प्रारम्भ होता है।

तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् ।
अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तितिक्षवः—सहनशील; कारुणिकाः—दयालु; सुहृदः—सुहृद; सर्व-देहिनाम्—समस्त जीवों के; अजात-शत्रवः—किसी के प्रति शत्रुता न रखने वाले; शान्ताः—शान्त; साधवः—शास्त्रों के अनुसार चलने वाले; साधु-भूषणाः—अलौकिक गुणों से भूषित।

साधु के लक्षण हैं कि वह सहनशील, दयालु तथा समस्त जीवों के प्रति मैत्री-भाव रखता है। उसका कोई शत्रु नहीं होता, वह शान्त रहता है, वह शास्त्रों का पालन करता है और उसके सारे गुण अलौकिक होते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा गया है, साधु भगवान् का भक्त होता है, अत: उसका मुख्य कार्य लोगों में भगवान् की भक्ति जगाना है। यही उसकी दया है। वह जानता है कि भगवान् की भक्ति के बिना मनुष्य-जीवन चौपट हो जाता है। भक्त संसार भर में भ्रमण करके द्वार-द्वार जाकर उपदेश देता है, "कृष्ण-भक्त बनो, अपनी पाशविक प्रवृत्तियों को ही पूरा करने में अपना जीवन नष्ट न करो। यह मानव जीवन आत्म-साक्षात्कार या कृष्ण भक्ति के लिए है।" ये ही साधु के उपदेश हैं। वह अपने मोक्ष से सन्तुष्ट नहीं होता। वह सदैव दूसरों के विषय में सोचता रहता है। वह समस्त पतितात्माओं के प्रति अत्यन्त दयालु व्यक्ति होता है। अत: उसका एक गुण है—कारुणिकता—पतितात्माओं के प्रति दया। उपदेश कार्य करते हुए उसे अनेक विरोधी तत्त्वों का सामना करना पड़ता है, अत: साधु या भगवद्भक्तों को अत्यन्त सहनशील या सहिष्णु होना पड़ता है। कोई व्यक्ति उसके साथ दुर्व्यवहार कर सकता है, क्योंकि बद्धजीव भक्ति के दिव्य ज्ञान को प्राप्त करने के लिए राजी नहीं होते। वे इसे पसन्द नहीं करते, यही

उनका रोग है। साधु को भक्ति की महत्ता को समझाने का प्रशंसारहित कार्य करना होता है। कभी-कभी भक्तों के ऊपर हिंसक प्रहार कर दिया जाता है। जीसस क्राइस्ट को क्रूस पर चढ़ा दिया गया, हरिदास ठाकुर को बाईस जगह भरे बाजार में बेंत से पीटा गया और भगवान् चैतन्य के प्रमुख सहायक नित्यानन्द पर जगाई तथा माधाई द्वारा हिंसक प्रहार किया। तो भी वे सहिष्णु बने रहे, क्योंकि उनका उद्देश्य पतितों का उद्धार करना था। साधु में सबसे बड़ा गुण यह होता है कि वह सहिष्णु होता है और पतितों के प्रति दयालु होता है। वह दयालु होता है, क्योंकि वह समस्त जीवों का शुभचिन्तक है। वह न केवल मानव समाज का शुभचिन्तक होता है, अपितु पशु-समाज का भी होता है। यहाँ पर *सर्व-देहिनाम्* कहा गया है, जो उन समस्त जीवों का सूचक है, जो भौतिक शरीर धारण किए हुए हैं। न केवल मनुष्यों को भौतिक शरीर मिला हुआ है, अपितु अन्य जीवों को, यथा कुत्तों, बिल्लियों को भौतिक शरीर प्राप्त हैं। भगवद्भक्त प्रत्येक के प्रति—चाहे कुत्ता हो, बिल्ली हो, वृक्ष हो, कुछ भी हो—दयालु होता है। वे समस्त जीवों के साथ ऐसा व्यवहार करते हैं जिससे अन्ततः वे इस भवबन्धन से मोक्ष प्राप्त कर सकें। भगवान् चैतन्य के शिष्य शिवानन्द सेन ने दिव्य व्यवहार से एक कुत्ते को मोक्ष दिलाया। ऐसे अनेक उदाहरण हैं, जिनमें साधु की संगति से कुत्ते तक को मोक्ष प्राप्त हो सका, क्योंकि साधु समस्त जीवों के हित के लिए परोपकारी कार्यों में लगा रहता है। फिर भी यद्यपि साधु किसी से शत्रुता नहीं रखता, किन्तु यह संसार इतना कृतघ्न है कि साधु के भी अनेक शत्रु हो जाते हैं।

एक शत्रु तथा मित्र में क्या अन्तर है? यह अन्तर व्यवहार में होता है। समस्त बद्धजीवों को भवबन्धन से छुटकारा दिलाने के लिए ही साधु सबों के प्रति व्यवहार करता है, अतः बद्धजीवों को मोक्ष दिलाने में साधु से बढ़कर कोई मित्र नहीं हो सकता। साधु शान्त होता है और वह शान्तिपूर्वक शास्त्र के नियमों का पालन करता है। साधु का अर्थ है, वह जो शास्त्र के नियमों का पालन करे और साथ ही भगवद्भक्त भी हो। जो वास्तव में शास्त्र के नियमों का पालन करता है उसे भगवद्भक्त होना चाहिए, क्योंकि सारे शास्त्र हमें यही उपदेश देते हैं कि भगवान् के आदेशों का पालन किया जाय। अतः साधु का अर्थ है शास्त्रों के आदेशों का पालन

करने वाला तथा भगवान् का भक्त। भक्त में ये सारे गुण होते हैं। भक्त में देवताओं के सारे गुण विकसित होते हैं, किन्तु अभक्त चाहे विद्या की दृष्टि से कितना ही योग्य क्यों न हो उसमें वास्तविक सद्‌गुणों या उत्तम लक्षणों का अभाव रहता है।

मय्यनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम् ।
मत्कृते त्यक्तकर्माणस्त्यक्तस्वजनबान्धवाः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

मयि—मेरे प्रति; अनन्येन भावेन—अनन्य भाव से, अविचलित मन से; भक्तिम्—भक्ति; कुर्वन्ति—करते हैं; ये—जो; दृढाम्—कट्टर, दृढ़; मत्-कृते—मेरे लिए; त्यक्त—त्यागे हुए; कर्माणः—कर्म; त्यक्त—त्यागे हुए; स्व-जन—सम्बन्धी जन; बान्धवाः—परिचितों, बन्धुगणों को।

ऐसा साधु अविचलित भाव से भगवान् की कट्टर भक्ति करता है। भगवान् के लिए वह संसार के अन्य समस्त सम्बन्धों यथा पारिवारिक सम्बन्ध तथा मैत्री का परित्याग कर देता है।

तात्पर्य : संन्यासी को साधु भी कहा जाता है, क्योंकि वह अपना घर, अपनी सुख सुविधाएँ, अपने मित्र, अपने सम्बन्धी तथा मित्रों एवं परिवार के प्रति अपने कर्तव्य—सब कुछ का त्याग कर देता है। वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के लिए सब कुछ त्याग देता है। संन्यासी सामान्यतया वैरागी जीवन बिताता है किन्तु उसकी विरक्ति तभी सफल होगी जब वह अपनी सारी शक्ति अत्यन्त संयम के साथ भगवान् की सेवा में लगा दे। अत: यहाँ पर कहा गया है—*भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम्*—जो व्यक्ति गम्भीरतापूर्वक भगवान् की सेवा में लगा रहता है और संन्यास आश्रम में रहता है, वह साधु है। साधु वह है, जिसने एकमात्र भगवान् की सेवा के लिए समाज, परिवार तथा सांसारिक मानवतावाद को तिलांजलि दे दी हो। मनुष्य जैसे ही इस संसार में जन्म लेता है, उसे जनता के प्रति, देवों के प्रति, ऋषियों के प्रति, अपने माता-पिता के प्रति, पूर्वजों तथा अन्य लोगों के प्रति अनेक प्रकार की जिम्मेदारियाँ घेर लेती हैं। जब वह परमेश्वर के निमित्त इन समस्त जिम्मेदारियों को त्याग देता है, तो उसे ऐसे परित्याग के लिए दण्ड नहीं मिलता है, किन्तु यदि इन्द्रियतृप्ति के लिए कोई व्यक्ति ऐसे कर्तव्यों का परित्याग करता है, तो प्रकृति के नियमों द्वारा उसे दण्डित किया जाता है।

मदाश्रयाः कथा मृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च ।
तपन्ति विविधास्तापा नैतान्मद्गतचेतसः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

मत्-आश्रयाः—मेरे विषय में; कथाः—कथाएँ; मृष्टाः—आनन्दप्रद; शृण्वन्ति—सुनते हैं; कथयन्ति—कीर्तन करते हैं; च—तथा; तपन्ति—कष्ट झेलते हैं; विविधाः—नाना प्रकार के; तापाः—भौतिक क्लेश; न—नहीं; एतान्—उनको; मत्-गत—मुझमें लगाये; चेतसः—अपने विचार।

निरन्तर मेरे अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान के कीर्तन तथा श्रवण में संलग्न रहकर साधुगण किसी प्रकार का भौतिक कष्ट नहीं पाते, क्योंकि वे सैदव मेरी लीलाओं तथा कार्यकलापों के विचारों में ही निमग्न रहते हैं।

तात्पर्य : इस संसार में नाना प्रकार के क्लेश हैं—शारीरिक तथा मानसिक, अन्य जीवों द्वारा पहुँचाये जाने वाले और प्राकृतिक उत्पातों से मिलने वाले। किन्तु साधु ऐसी कष्टप्रद परिस्थितियों से विचलित नहीं होता, क्योंकि उसका मन सदैव कृष्णभावनामृत से भरा रहता है, फलतः वह भगवान् के कार्यकलापों के अतिरिक्त अन्य किसी की चर्चा नहीं करना चाहता। महाराज अम्बरीष भगवान् की लीलाओं के वर्णन के अतिरिक्त कुछ भी नहीं बोलते थे। वचांसि *वैकुण्ठगुणानुवर्णने* (*भागवत* ९.४.१८)। वे अपनी वाणी का सदुपयोग केवल श्रीभगवान् की महिमा-गायन में करते थे। साधुगण सदैव भगवान् या उनके भक्तों के कार्यकलापों के विषय में सुनने के लिए उत्सुक रहते हैं। चूँकि वे कृष्णभक्ति से पूरित रहते हैं, अतः उन्हें भौतिक क्लेशो की विस्मृति हो जाती है। सामान्य बद्धजीव भगवान् के कार्यकलापों को विस्मृत कर देने के कारण सदैव चिन्ताओं एवं भौतिक क्लेशों से पूर्ण रहते हैं। दूसरी ओर चूँकि भक्तगण सदैव भगवान् की कथाओं में लगे रहते हैं, अतः वे संसार के कष्टों को भूले रहते हैं।

त एते साधवः साध्वि सर्वसङ्गविवर्जिताः ।
सङ्गस्तेष्वथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहरा हि ते ॥ २४॥

शब्दार्थ

ते एते—वे ही; साधवः—भक्तगण; साध्वि—हे साध्वी; सर्व—समस्त; सङ्ग—लगाव से; विवर्जिताः—मुक्त; सङ्गः—लगाव; तेषु—उनके प्रति; अथ—अतः; ते—तुम्हारे द्वारा; प्रार्थ्यः—खोजे जाने चाहिए; सङ्ग-दोष—भौतिक आसक्ति के बुरे प्रभाव; हराः—हरने वाले; हि—निस्सन्देह; ते—वे।

हे माते, हे साध्वी, ये उन महान् भक्तों के गुण हैं, जो समस्त आसक्तियों से मुक्त हैं। तुम्हें ऐसे पवित्र पुरुषों की संगति करनी चाहिए, क्योंकि ऐसी संगति भौतिक आसक्ति के समस्त कुप्रभावों को हरने वाली है।

तात्पर्य : यहाँ पर कपिल मुनि अपनी माता देवहूति को उपदेश देते हैं कि यदि वह भौतिक आसक्ति से मुक्त होना चाहती है, तो उसे साधुओं अर्थात् समस्त भौतिक आसक्तियों से पूर्णतया युक्त भक्तों के प्रति आसक्ति बढ़ानी होगी। *भगवद्गीता* (१५.५) में बताया गया है कि भगवद्धाम जाने का अधिकारी कौन है। *निर्मानमोहा जितसङ्गदोषाः।* यह उस व्यक्ति का संकेत करने वाला है, जो भौतिक सम्पत्ति के अभिमान से सर्वथा मुक्त है। भले ही कोई कितना धनवान, ऐश्वर्यवान या प्रतिष्ठावान क्यों न हो, किन्तु यदि वह आध्यात्मिक-सामराज्य, अर्थात् अपने घर भगवान् के धाम को वापस जाना चाहता है, तो उसे अपने भौतिक वैभव का गर्व छोड़ना होगा, क्योंकि यह एक मिथ्या स्थिति है।

यहाँ पर प्रयुक्त *मोह* शब्द इस झूठी धारणा का बोध कराता कोई है कि कोई धनी है या निर्धन है। इस संसार में यह अवधारणा कि कोई अत्यन्त धनवान है या निर्धन है अथवा भौतिक वस्तुओं के सम्बन्ध में कोई, झूठी है, क्योंकि स्वयं यह शरीर झूठा या नाशवान है। शुद्ध जीव जो इस भौतिक बन्धन से मुक्त होना चाहता है, उसे पहले प्रकृति के तीन गुणों के संसर्ग से मुक्त होना चाहिए। सम्प्रति हमारी चेतना प्रकृति के तीन गुणों की संगति के कारण कलुषित हो चुकी है, फलतः *भगवद्गीता* में इसी सिद्धान्त का कथन हुआ है। कहा गया है—*जितसङ्गदोषाः*—अर्थात् मनुष्य को प्रकृति के तीन गुणों की संगति के दोष से मुक्त होना चाहिए। *श्रीमद्भागवत* में भी यहाँ पर इसी की पुष्टि हुई है—शुद्ध भक्त जो अपने को भगवद्धाम पहुँचाना चाहता है, वह प्रकृति के तीन गुणों के संसर्ग से भी मुक्त हो जाता है। हमें ऐसे ही भक्तों की संगति ढूँढनी चाहिए। इसी कारण से हमने अन्तर्राष्ट्रिय कृष्णभावनामृत संघ का शुभारम्भ किया है। मानव समाज में विशिष्ट प्रकार की शिक्षा या चेतना (जागृति) उत्पन्न करने

के लिए अनेक व्यावसायिक, वैज्ञानिक तथा अन्य संघटन हैं, किन्तु ऐसा एक भी संघटन नहीं है, जो समस्त भौतिक संगति (संसर्ग) से मुक्त होने में सहायक हो। यदि कोई ऐसी अवस्था पर पहुँच चुका है जहाँ वह भौतिक कल्मष से मुक्त होना चाहता है उसे भक्तों की संगति ढूँढनी चाहिए जहाँ एकमात्र कृष्णभक्ति का अनुशीलन होता हो। इससे मनुष्य समस्त भौतिक संसर्ग से मुक्त हो सकता है।

चूँकि भक्त समस्त दोषयुक्त भौतिक संगति से मुक्त हो जाता है, अत: संसार के क्लेश उसे प्रभावित नहीं कर पाते। यद्यपि वह भौतिक जगत में रहता प्रतीत होता है, किन्तु संसार के क्लेश उसे छू नहीं पाते। ऐसा कैसे सम्भव है? बिल्ली के कार्यों के विषय में एक सुन्दर सा उदाहरण है। बिल्ली अपने बच्चों को अपने मुँह में दबाकर ले जाती है और जब वह चूहों को मारती है, तो उस सौगात को भी मुँह में ही ले जाती है। इस प्रकार दोनों ही बिल्ली के मुँह से ले जाये जाते हैं, किन्तु उनकी अवस्थाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। बिल्ली के बच्चे बिल्ली के मुँह में सुख का अनुभव करते हैं, किन्तु जब वह चूहे को ले जाती है, तो चूहे को मृत्यु के भय का अनुभव होता है। इसी प्रकार जो साधु हैं अथवा जो भगवान् की दिव्य सेवा में कृष्णभक्ति में संलग्न रहते हैं उन्हें भौतिक क्लेशों के कल्मष का अनुभव नहीं होता, किन्तु जो कृष्णभक्त नहीं होते उन्हें वास्तव में सांसारिक क्लेशों का अनुभव होता है। अत: मनुष्य को चाहिए कि भौतिकतावादी पुरुषों का संग त्यागकर कृष्णभक्ति में लगे हुए व्यक्तियों की संगति खोजे। इससे उसकी आध्यात्मिक उन्नति हो सकेगी। उनके शब्दों तथा उपदेशों से उसके भवबन्धन कट जाएँगे।

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥ २५॥

शब्दार्थ

सताम्—शुद्ध भक्तों की; **प्रसङ्गात्**—संगति से; **मम**—मेरे; **वीर्य**—अलौकिक कार्यों; **संविदः**—चर्चा से; **भवन्ति**—हो जाते हैं; **हृत्**—हृदय को; **कर्ण**—कान को; **रस-अयनाः**—अच्छी लगने वाली; **कथाः**—कथाएँ; **तत्**—उसके;

जोषणात्—अनुशीलन से, सेवन से; आशु—तुरन्त; अपवर्ग—मोक्ष के; वर्त्मनि—मार्ग पर; श्रद्धा—दृढ़ विश्वास; रतिः—आकर्षण; भक्तिः—भक्ति; अनुक्रमिष्यति—क्रमशः आएँगी।

शुद्ध भक्तों की संगति में श्रीभगवान् की लीलाओं तथा उनके कार्यकलापों की चर्चा कान तथा हृदय को अत्यधिक रोचक एवं प्रसन्न करने वाली होती है। ऐसे ज्ञान के अनुशीलन मे मनुष्य धीरे-धीरे मोक्ष मार्ग में अग्रसर होता है, तत्पश्चात् मुक्त हो जाता है और उसका आकर्षण स्थिर हो जाता है। तब असली समर्पण तथा भक्तियोग का शुभारम्भ होता है।

तात्पर्य : यहाँ पर कृष्णभावनामृत तथा भक्ति में अग्रसर होने की विधि वर्णित है। पहली बात है कि वह ऐसे पुरुषों की संगति खोजे जो कृष्णभक्त हैं और भक्तिमय सेवा में लगे हुए हैं। ऐसी संगति के बिना प्रगति नहीं हो सकती। मात्र कोरे ज्ञान या अध्ययन से यथेष्ठ प्रगति सम्भव नहीं। मनुष्य को भौतिकतवादी पुरुषों की संगति त्याग कर भक्तों की संगति खोजनी चाहिए, क्योंकि भक्तों की संगति के बिना भगवान् के कार्यकलापों को नहीं समझा जा सकता। सामान्य रूप से लोग परम सत्य के निर्गुण पक्ष के प्रति आश्वस्त हो जाते हैं। भक्तों की संगति न करने के कारण वे यह नहीं समझ पाते कि परम सत्य भी एक पुरुष हो सकता है, जिसके अपने कार्यकलाप हैं। यह अत्यन्त कठिन विषय है और जब तक परम सत्य विषयक व्यक्तिगत जानकारी न हो तब तक भक्ति का कोई अर्थ नहीं निकलता। किसी निराकार की भक्ति या सेवा नहीं की जाती। सेवा तो व्यक्ति की होती है। अभक्तगण *श्रीमद्भागवत* या अन्य किसी वैदिक साहित्य में वर्णित भगवान् के कार्यकलापों को पढ़कर कृष्णभक्ति को नहीं समझ सकते; वे सोचते हैं कि ये कार्यकलाप काल्पनिक कथाएँ हैं, क्योंकि उन्हें आध्यात्मिक जीवन के विषय में सही ढंग से शिक्षा नहीं दी जाती। भगवान् के कार्य-कलापों को समझने के लिए भक्तों की संगति करनी आवश्यक है और जब ऐसी संगति के फलस्वरूप वह मनन करता है और भगवान् के कार्यकलापों को समझने का प्रयत्न करता है, तो मोक्ष का मार्ग खुल जाता है और वह मुक्त हो जाता है। जिस व्यक्ति की भगवान् में दृढ़ आस्था होती है, वह स्थिर हो जाता है और भगवान् तथा भक्तों की संगति के लिए उसका आकर्षण बढ़ जाता है। भक्तों की संगति

का अर्थ है भगवान् की संगति। जो भक्त यह संगति करता है उसमें भगवान् की सेवा करने की चेतना जगती है और फिर भक्तियोग के दिव्य पद में स्थित होकर वह धीरे-धीरे सिद्ध हो जाता है।

भक्त्या पुमाञ्जातविराग ऐन्द्रियाद्
दृष्टश्रुतान्मद्रचनानुचिन्तया ।
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो
यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

भक्त्या—भक्ति से; पुमान्—मनुष्य; जात-विरागः—अरुचि उत्पन्न होने पर; ऐन्द्रियात्—इन्द्रियतृप्ति के लिए; दृष्ट—(इस संसार में) देखा हुआ; श्रुतात्—(अगले संसार में) सुना हुआ; मत्-रचन—सृष्टि के मेरे कार्यकलाप इत्यादि; अनुचिन्तया—निरन्तर चिन्तन करने से; चित्तस्य—मन का; यत्तः—लगा हुआ; ग्रहणे—नियन्त्रण में; योग-युक्तः—भक्ति योग में स्थित; यतिष्यते—प्रयास करेगा; ऋजुभिः—सरल; योग-मार्गैः—योग की विधियों के द्वारा।

इस प्रकार भक्तों की संगति में सचेत होकर भक्ति करते हुए भगवान् के कार्यकलापों के विषय में निरन्तर सोचते रहने से मनुष्य को इस लोक में तथा परलोक में इन्द्रियतृप्ति के प्रति अरुचि उत्पन्न हो जाती है। कृष्णभावनामृत की यह विधि योग की सरलतम विधि है। जब मनुष्य भक्तियोग के मार्ग में सही-सही स्थित हो जाता है, तो यह अपने चित्त (मन) को नियन्त्रित करने में सक्षम होता है।

तात्पर्य : सभी शास्त्रों में लोगों को पवित्र ढंग से कर्म करने के लिए प्रोत्साहित किया गया है, जिससे वे इन्द्रियतृप्ति का सुख भोग न केवल इसी जीवन में अपितु अगले जीवन में भी कर सकें। उदाहरणार्थ, यदि कोई पुण्यकर्म करता है, तो उसे स्वर्ग का भागी बताया जाता है। किन्तु भक्तों की संगति में रहनेवाला एक भक्त भगवान् के कार्यकलापों के विषय में चिन्तन को—किस तरह उन्होंने सृष्टि उत्पन्न की, किस तरह इसका पालन कर रहे हैं और किस तरह इस सृष्टि का लय होता है और किस प्रकार वैकुण्ठ में भगवान् की लीलाएँ चलती रहती हैं—वरीयता (महत्त्व) देता है। भगवान् के इन कार्यकलापों का वर्णन करने वाला पूरा का पूरा साहित्य है—विशेष रूप से भगवद्गीता, ब्रह्म-संहिता तथा श्रीमद्भागवत। निष्ठावान भक्त जो भक्तों की संगति करता है, उसे भगवान् की लीलाओं को सुनने तथा उनके विषय में सोचने का

सुअवसर प्राप्त होता है, जिसका फल यह होता है कि उसे इस संसार में, स्वर्ग में या अन्य लोकों में तथाकथित सुख के प्रति अरुचि होने लगती है। भक्तगण की एकमात्र इच्छा रहती है कि उन्हें भगवान् की साक्षात् संगति प्राप्त हो; उन्हें क्षणिक तथाकथित सुख के लिए कोई आकर्षण नहीं रहता। जो योग युक्त है, उसकी यह दशा है। योग युक्त मनुष्य इस संसार या उस संसार के संमोह से विचलित नहीं होता, उसे आध्यात्मिक ज्ञान या आध्यात्मिक स्थिति से ही सरोकार रहता है। यह अलौकिक स्थिति सबसे सहज विधि द्वारा अर्थात् भक्तियोग द्वारा सरलता से प्राप्त की जा सकती है। *ऋजुभिर्योगमार्गैः*। यहाँ पर प्रयुक्त *ऋजुभिः* शब्द अत्यन्त उपयुक्त है, जिसका अर्थ है "अत्यन्त सरल।" योगमार्ग की विभिन्न विधियाँ हैं, किन्तु भगवद्भक्ति की विधि सरलतम है; यह न केवल सरलतम विधि है, अपितु इसका परिणाम भी अलौकिक है। अत: हर एक को कृष्णभक्ति की इस विधि को ग्रहण करना चाहिए और जीवन की सर्वोच्च पूर्णता तक पहुँचना चाहिए।

असेवयायं प्रकृतेर्गुणानां
ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन ।
योगेन मय्यर्पितया च भक्त्या
मां प्रत्यगात्मानमिहावरुन्धे ॥ २७॥

शब्दार्थ

असेवया—सेवा न करते हुए; अयम्—यह पुरुष; प्रकृतेः गुणानाम्—प्रकृति के गुणों का; ज्ञानेन—ज्ञान से; वैराग्य—वैराग्य से; विजृम्भितेन—विकसित; योगेन—योग के अभ्यास से; मयि—मुझको; अर्पितया—अर्पित, दृढ़ रहकर; च—तथा; भक्त्या—भक्ति से; माम्—मुझको; प्रत्यक्-आत्मानम्—परम सत्य; इह—इसी जीवन में; अवरुन्धे—प्राप्त कर लेता है।

इस तरह प्रकृति के गुणों की सेवा में न लगकर, अपितु कृष्णभक्ति विकसित करके, वैराग्य युक्त ज्ञान प्राप्त करके तथा योग के अभ्यास से, जिसमें मनुष्य का मन सदैव पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान की भक्तिमय सेवा में स्थिर रहता है, मनुष्य इसी जीवन में मेरा साहचर्य (संगति) प्राप्त कर लेता है, क्योंकि मैं परम पुरुष अर्थात् परम सत्य हूँ।

तात्पर्य : जब मनुष्य भक्तियोग की नौ भिन्न-भिन्न विधियों में यथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, प्रार्थना तथा आत्मनिवेदन इत्यादि में लगा रहता है, तो स्वाभाविक रूप से उसे प्रकृति के

तीनों गुणों की सेवा में लगने का अवसर ही नहीं मिल पाता। मनुष्य इनमें से किसी एक में, दो में, तीन में या सबों में लग सकता है। जब तक मनुष्य आध्यात्मिक सेवा में ठीक से लगा नहीं रहेगा, तब तक भौतिक सेवा के बन्धन से निकल पाना सम्भव नहीं है। अत: जो भक्त नहीं हैं वे तथाकथित मानवोपयोगी या परोपकार सम्बन्धी कार्यों में—यथा अस्पताल या दातव्य संस्थान खोलने में रुचि लेते हैं। निस्सन्देह ये अच्छे कार्य हैं, क्योंकि ये पुण्यकर्म हैं और इनका फल इतना ही होता है कि कर्ता को इस जीवन में या अगले जीवन में इन्द्रियतृप्ति का कुछ अवसर मिल सकता है। किन्तु भक्ति तो इन्द्रियतृप्ति के घेरे से बाहर रहती है। यह नितान्त आध्यात्मिक कर्म है। जब कोई भक्तियोग के आध्यात्मिक कर्म में लगा रहता है, तो स्वाभाविक है कि उसे इन्द्रियतृप्ति करने वाले कार्यों में लगने का अवसर ही नहीं मिलता। कृष्णभावना सम्बन्धी कार्यकलाप अन्धाधुन्ध नहीं किये जाते वरन् ज्ञान तथा वैराग्य की पूरी-पूरी जानकारी से किये जाते हैं। जिस योगाभ्यास में मन भगवान् की भक्ति में निरन्तर स्थिर रहता है उससे इसी जीवन में मुक्ति मिल जाती है। जो व्यक्ति ऐसे कर्म करता है, वह भगवान् का सामीथ पाता है। अत: भगवान् चैतन्य ने भगवान् की लीलाओं के विषय में सिद्ध भक्तों से ही श्रवण विधि की अनुमति दी फिर श्रोता चाहे जिसी भी श्रेणी का हो। यदि वह विनीत होकर सिद्ध पुरुष से भगवान् के कार्यकलापों के विषय में श्रवण करता है, तो वह उन पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को भी जीतने में समर्थ होगा, जो अन्य किसी विधि से नहीं जीते जा सकते। आत्म-साक्षात्कार के लिए श्रवण या भक्तों की संगति सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है।

देवहूतिरुवाच

काचित्त्वय्युचिता भक्ति: कीदृशी मम गोचरा ।
यया पदं ते निर्वाणमञ्जसान्वाश्नवा अहम् ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

देवहूतिः उवाच—देवहूति ने कहा; काचित्—क्या; त्वयि—तुमको; उचिता—उचित; भक्तिः—भक्ति; कीदृशी—किस प्रकार की; मम—मेरे द्वारा; गो-चरा—अभ्यास की जाने के लिए उपयुक्त; यया—जिससे; पदम्—पाँव; ते—तुम्हारे; निर्वाणम्—मुक्ति; अञ्जसा—तुरन्त; अन्वाश्नवै—प्राप्त करूँगी; अहम्—मैं।

भगवान् का यह वचन सुनकर देवहूति ने पूछा : मैं किस प्रकार के भक्तियोग का

विकास और अभ्यास करूँ जिससे मुझे आपके चरणकमलों की सेवा तत्काल एवं सरलता से प्राप्त हो सके?

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि किसी को भी भगवान् की सेवा करने से रोका नहीं जा सकता। भले ही वह स्त्री हो या श्रमिक या वणिक, यदि वह भगवान् की भक्ति में अपने आपको लगाये रखता है, तो उसे परम गति की प्राप्ति होती है और वह भगवान् के धाम को वापस जाता है। विभिन्न प्रकार के भक्तों के लिए सर्वोपयुक्त भक्ति का निश्चय गुरु की कृपा से निष्पन्न होता है।

यो योगो भगवद्बाणो निर्वाणात्मंस्त्वयोदितः ।
कीदृशः कति चाङ्गानि यतस्तत्त्वावबोधनम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; योगः—योग विधि; भगवत्-बाणः—भगवान् को लक्ष्य की गई; निर्वाण-आत्मन्—हे निर्वाणस्वरूप; त्वया—तुम्हारे द्वारा; उदितः—कही गई; कीदृशः—किस तरह की; कति—कितनी; च—तथा; अङ्गानि—शाखाएँ; यतः—जिससे; तत्त्व—सत्य का; अवबोधनम्—ज्ञान।

आपने जैसा बताया है कि योग पद्धति का उद्देश्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को प्राप्त करने और सांसारिक अस्तित्व (माया) के पूर्णतया विनाश के लिए है, तो कृपया मुझे उस योग पद्धति की प्रकृति बतलाएँ। उस अलौकिक योग को यथार्थ रूप में कितनी विधियों से समझा जा सकता है?

तात्पर्य : योग पद्धति के कई प्रकार हैं जिनका लक्ष्य परम सत्य की विभिन्न अवस्थाओं को जानना है। ज्ञानयोग का लक्ष्य निर्गुण ब्रह्मतेज है और हठयोग का लक्ष्य घट-घट वासी परमात्मा है, जबकि श्रवण, कीर्तन आदि नौ भिन्न विधियों से सम्पन्न होने वाले भक्तियोग का लक्ष्य परमेश्वर का पूर्ण साक्षात्कार है। आत्म-साक्षात्कार की भी विभिन्न विधियाँ हैं। किन्तु देवहूति भक्तियोग का विशेष उल्लेख करती है, जिसे भगवान् पहले ही समझा चुके थे। भक्तियोग पद्धति के विभिन्न अंग हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, वन्दन, अर्चन, सेवन, आज्ञा पालन (दास्य), उनसे मित्रता करना (सख्य) तथा अन्ततः भगवान् की सेवा में सब कुछ अर्पित करना (आत्म निवेदन)। इस श्लोक में *निर्वाणात्मन्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भक्ति विधि

को स्वीकार किये बिना इस संसार के आवागमन से छूटा नहीं जा सकता। जहाँ तक ज्ञानियों का सम्बन्ध है वे ज्ञानयोग में रुचि रखते हैं, किन्तु यदि कोई संयम का पालन करता हुआ ब्रह्मतेज तक ऊपर उठ जाय तो भी इस संसार में पुन: गिर जाने की सम्भावना बनी रहती है। अत: वास्तव में ज्ञानयोग से सांसारिक अस्तित्व का अन्त नहीं होता। इसी प्रकार हठयोग में, जिसका लक्ष्य अन्तर्यामी परमात्मा को प्राप्त करना होता है, यह अनुभव किया गया है कि विश्वामित्र जैसे अनेक योगी भी नीचे आ गिरते हैं। किन्तु भक्ति योगी, एक बार भगवान् के पास पहुँच कर फिर कभी इस संसार में वापस नहीं आते जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है। *यद् गत्वा न निवर्तन्ते*—मनुष्य जाकर फिर कभी नहीं लौटता। *त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति*—इस शरीर का परित्याग करने पर उसे शरीर ग्रहण करने नहीं आना पड़ता। *निर्वाण* से आत्मा का अस्तित्व समाप्त नहीं होता। आत्मा चिर विद्यमान है। अत: *निर्वाण* का अर्थ है अपने संसार की समाप्ति करना जिसका अर्थ है भगवान् के धाम वापस जाना।

कभी-कभी लोग पूछते हैं कि जीवात्मा स्वर्ग से इस लोक में किस तरह गिर जाता है? इसका उत्तर यहाँ मिलता है। जब तक मनुष्य भगवान् के प्रत्यक्ष सम्पर्क में वैकुण्ठलोक में नहीं पहुँच जाता तब तक उसके नीचे गिरने का भय बना रहता है चाहे वह निर्गुण ब्रह्म साक्षात्कार से हो या ध्यान की समाधि-अवस्था से हो। इस श्लोक का एक अन्य शब्द *भगवद्-बाण:* शब्द भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *बाण:* का अर्थ है ''तीर''। भक्तियोग तीर के समान है, जिसका लक्ष्य श्रीभगवान् होता है। भक्तियोग पद्धति कभी किसी को निर्गुण ब्रह्मतेज की ओर या परमात्मा-साक्षात्कार की ओर जाने को नहीं कहती। यह बाण (तीर) इतना तीक्ष्ण तथा वेगवान होता है कि यह निर्गुण ब्रह्म तथा अन्तर्यामी परमात्मा के क्षेत्रों को बेधता हुआ सीधे भगवान् तक पहुँचता है।

तदेतन्मे विजानीहि यथाहं मन्दधीर्हरे ।
सुखं बुद्ध्येय दुर्बोधं योषा भवदनुग्रहात् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

तत् एतत्—वही; मे—मुझको; विजानीहि—कृपया समझावें; यथा—जिससे; अहम्—मैं; मन्द—कुन्द; धीः—बुद्धिवाली; हरे—हे भगवान्; सुखम्—सरलतापूर्वक; बुद्ध्येय—समझ सकूँ; दुर्बोधम्—न समझ में आने वाली; योषा—स्त्री; भवत्-अनुग्रहात्—आपके अनुग्रह से।

मेरे पुत्र कपिल, आखिर मैं एक स्त्री हूँ। परम सत्य को समझ पाना मेरे लिए अत्यन्त कठिन है, क्योंकि मेरी बुद्धि इतनी कुशाग्र नहीं है। यद्यपि मैं इतनी बुद्धिमान नही हूँ। किन्तु तो भी, यदि आप मुझे कृपा करके समझाएँगे तो मैं उसे समझ कर दिव्य सुख का अनुभव कर सकूँगी।

तात्पर्य : तत्त्वज्ञान सामान्य अल्पबुद्धि वाले मनुष्यों की समझ में जल्दी नहीं चढ़ता, किन्तु यदि गुरु अपने शिष्य पर कृपालु हो तो फिर शिष्य चाहे कितना ही मूर्ख क्यों न हो, गुरु की दैवी कृपा से सब कुछ प्रकट हो जाता है। अत: विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं—*यस्य प्रसादाद्* अर्थात् गुरु की कृपा से *भगवत्प्रसाद:* अर्थात् भगवान् की कृपा प्रकट होती है। देवहूति ने अपने महान् पुत्र से उसके प्रति कृपालु होने के लिए प्रार्थना की, क्योंकि वह अल्पबुद्धि स्त्री थी और साथ ही उसकी माता थी। कपिलदेव की कृपा से परम सत्य को समझना उसके लिए सर्वथा सम्भव हो पाया, यद्यपि वह विषय सामान्य व्यक्तियों के लिए, विशेष रूप से स्त्रियों के लिए, अत्यन्त जटिल है।

मैत्रेय उवाच

विदित्वार्थं कपिलो मातुरित्थं
जातस्नेहो यत्र तन्वाभिजातः ।
तत्त्वाम्नायं यत्प्रवदन्ति साङ्ख्यं
प्रोवाच वै भक्तिवितानयोगम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; विदित्वा—जानकर; अर्थम्—अभिप्राय; कपिलः—कपिल; मातुः—अपनी माता का; इत्थम्—इस प्रकार; जात-स्नेहः—दया आ गई; यत्र—उस पर; तन्वा—अपने शरीर से; अभिजातः—उत्पन्न; तत्त्व-आम्नायम्—शिष्य-परम्परा से प्राप्त सत्य; यत्—जो; प्रवदन्ति—पुकारते हैं; साङ्ख्यम्—सांख्य दर्शन; प्रोवाच—वर्णन किया; वै—वास्तव में; भक्ति—भक्ति; वितान—विस्तार; योगम्—योग।

श्रीमैत्रेय ने कहा : अपनी माता का कथन सुनकर कपिल उसका प्रयोजन समझ गये और उसके प्रति दयार्द्र हो उठे, क्योंकि उन्होंने उसके शरीर से जन्म लिया था। उन्होंने सांख्य दर्शन का वर्णन किया जो शिष्य-परम्परा से प्राप्त भक्ति तथा योगिक साक्षात्कार

का एक मिलाजुला रूप है।

श्रीभगवानुवाच
देवानां गुणलिङ्गानामानुश्रविककर्मणाम् ।
सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या
अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; देवानाम्—इन्द्रियों के प्रमुख देवों या इन्द्रियों का; गुण-लिङ्गानाम्—जो विषयों को पहचानते हैं; आनुश्रविक—शास्त्रों के अनुसार; कर्मणाम्—कौन सा कर्म; सत्त्वे—मन को या भगवान् को; एव—केवल; एक-मनसः—अविभाजित मन वाले व्यक्ति का; वृत्तिः—झुकाव; स्वाभाविकी—प्राकृतिक; तु—वास्तव में; या—जो; अनिमित्ता—निमित्तरहित; भागवती—भगवान् के प्रति; भक्तिः—भक्ति; सिद्धेः—मोक्ष की अपेक्षा; गरीयसी—श्रेयस्कर।

भगवान् कपिल ने कहा : ये इन्द्रियाँ दैवों की प्रतीकात्मक प्रतिनिधि हैं और इनका स्वाभाविक झुकाव वैदिक आदेशों के अनुसार कर्म करने में है। जिस प्रकार इन्द्रियाँ देवताओं देवताओं की प्रतीक हैं, उसी प्रकार मन भी पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का प्रतिनिधि है। मन का प्राकृतिक कार्य सेवा करना है। जब यह सेवा-भाव किसी हेतु के बिना श्रीभगवान् की सेवा में लगा रहता है, तो यह सिद्धि से कहीं बढ़कर है।

तात्पर्य : जीवात्मा की इन्द्रियाँ सदैव किसी न किसी वृत्ति में लगी रहती हैं, चाहे वे वेदविहित कार्य हों या भौतिक कार्य हों। इन्द्रियों की सहज प्रवृत्ति है कि वे किसी न किसी कार्य में लगी रहती हैं और मन इन इन्द्रियों का केन्द्र विन्दु है। मन वास्तव में इन्द्रियों का नायक है, इसीलिए यह *सत्त्व* कहलाता है। इसी प्रकार सारे देवता चाहे वे सूर्यदेव हों, चन्द्रदेव, इन्द्र या अन्य देवता हों—जो इस संसार के कर्मों में लगे हुए हैं, उन सबके नायक श्रीभगवान् हैं।

वैदिक साहित्य में बताया गया है कि देवता पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के विराट शरीर के विभिन्न अंग हैं। हमारी इन्द्रियाँ विभिन्न देवताओं का प्रतिनिधित्व करती हैं और मन भगवान् का प्रतिनिधित्व करता है। मन द्वारा पथप्रदर्शित सारी इन्द्रियाँ देवताओं के वशीभूत होकर कार्य करती हैं। जब यह सेवा श्रीभगवान् के प्रति लक्षित होती है, तो इन्द्रियाँ अपनी सहज स्थिति में होती हैं। भगवान् को हृषीकेश कहा जाता है, क्योंकि वे ही इन्द्रियों के वास्तविक स्वामी हैं।

इन्द्रियों तथा मन की सहज प्रवृति कार्य करने की है, किन्तु जब वे भौतिक रूप से कलुषित हो जाती हैं, तो वे किसी भौतिक लाभ या देवताओं की सेवा के लिए कार्य करती हैं, जबकि वे श्रीभगवान् की सेवा के निमित्त होते हैं। इन्द्रियाँ *हृषीक* कहलाती हैं और भगवान् *हृषीकेश*। इस तरह समस्त इन्द्रियों की अप्रत्यक्ष प्रवृत्ति परमेश्वर की सेवा करने की ओर रहती है। यही भक्ति है।

कपिलदेव ने कहा कि जब सारी इन्द्रियाँ किसी भौतिक लाभ या अन्य स्वार्थ की इच्छा के बिना भगवान् की सेवा में लगी रहती हैं, तो मनुष्य भक्तियोग के पद पर स्थित होता है। सेवा की यह भावना सिद्धि से बढ़कर है। भगवान् की सेवा करने की प्रवृत्ति, अर्थात् मुक्ति की अपेक्षा भक्ति अधिक उत्तम दिव्य स्थिति है। इस तरह भक्ति मुक्ति के बाद की अवस्था है। बिना मुक्त हुए कोई मनुष्य अपनी इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में प्रवृत्त नहीं कर सकता। जब इन्द्रियाँ इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में अथवा वेदविहित कार्यों में लगी रहती हैं, तो इसका एक न एक कारण रहता है, किन्तु जब वही इन्द्रियाँ भगवान् की सेवा में लगी होती हैं, तो कोई हेतु नहीं रहता (अहैतुकी)। इसे *अनिमित्ता* कहते हैं और यह मन की सहज प्रवृत्ति है। निष्कर्ष यह निकला कि जब मन वैदिक आदेशों या भौतिक कार्यकलापों से विचलित हुए बिना कृष्णभावनामृत अथवा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की भक्तिमय सेवा में पूर्णतया संलग्न हो जाता है, तो यह स्थिति भवबन्धन से मुक्ति की सर्वोत्कृष्ट कामना से भी बढ़कर है।

जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

जरयति—पचा देती है; **आशु**—तुरन्त; **या**—जो; **कोशम्**—सूक्ष्म शरीर को; **निगीर्णम्**—खाई वस्तुओं को; **अनलः**—अग्नि; **यथा**—जिस प्रकार।.

भक्ति जीवात्मा के सूक्ष्म शरीर को बिना किसी अतिरिक्त प्रयास के उसी प्रकार विलय कर देती है, जिस प्रकार जठराग्नि खाये हुए भोजन को पचा देती है।

तात्पर्य : मुक्ति की अपेक्षा भक्ति उच्चतर स्थिति में होती है, क्योंकि भक्ति द्वारा भवबन्धन से मुक्ति पाने के मानवी प्रयास की स्वतः पूर्ति हो जाती है। यहाँ जठराग्नि का उदाहरण दिया

गया है, जो हमारे खाये गये सारे भोजन को पचा देती है। यदि पाचनशक्ति पर्याप्त हो तो हम चाहे जो भी खाएँ, उसे जठराग्नि पचा देती है। इसी तरह भक्त को मुक्ति प्राप्त करने के लिए अलग से प्रयास नहीं करना पड़ता। श्रीभगवान् की यही सेवा उसकी मुक्ति की विधि भी है, क्योंकि अपने को भगवान् की सेवा में लगाना अपने आपको भवबन्धन से मुक्त करना है। श्री बिल्वमंगल ठाकुर ने इस स्थिति की अच्छे ढंग से व्याख्या की है। वे कहते हैं, ''यदि परमेश्वर के चरणकमलों के प्रति हमारी अटूट भक्ति है, तो मुक्ति मेरी दासी है। यह मुक्ति रूपी दासी वह सब करने के लिए सदा सन्नद्ध रहती है, जो जो मैं कहता हूँ।''

भक्त के लिए मुक्ति कोई समस्या ही नहीं है। उसे किसी पृथक् प्रयास के बिना ही मुक्ति मिल जाती है। अत: भक्ति मुक्ति अर्थात् निर्विशेषवादी स्थिति से श्रेयस्कर है। निर्विशेषवादी मुक्ति प्राप्त करने के लिए कठिन तपस्या करते हैं, किन्तु भक्त मात्र भक्तियोग में, विशेष रूप से हरे कृष्ण ....हरे राम हरे हरे, महामन्त्र के कीर्तन में लगकर तथा श्रीभगवान् को अर्पित भोग के बचे हुए भाग से भोजन ग्रहण करके अपनी जीभ पर तुरंत नियंत्रण पाकर इसे प्राप्त कर लेता है। जीभ पर नियन्त्रण होते ही अन्य सारी इन्द्रियों पर स्वत: ही नियन्त्रण प्राप्त हो जाता है। इन्द्रियों का नियन्त्रण (निग्रह) ही योग की पूर्णता है और ज्योंही मनुष्य अपने आपको भगवान् की सेवा में लगा देता है उसकी मुक्ति तुरन्त हो जाती है। कपिल देव इसकी पुष्टि कर रहे हैं कि भक्ति सिद्धि (मुक्ति) से श्रेयष्कर है।

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिन्
मत्पादसेवाभिरता मदीहाः ।
येऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य
सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥ ३४॥

शब्दार्थ

न—कभी नहीं; एक-आत्मताम्—एकाकार होना; मे—मेरा; स्पृहयन्ति—इच्छा करते हैं; केचित्—कोई भी; मत्-पाद-सेवा—मेरे चरणकमलों की सेवा में; अभिरताः—लगे हुए; मत्-ईहाः—मुझे प्राप्त करने का प्रयास करते हुए; ये—जो; अन्योन्यतः—परस्पर; भागवताः—शुद्ध भक्त; प्रसज्य—जुट कर; सभाजयन्ते—गुणगान करते हैं; मम—मेरे; पौरुषाणि—पराक्रमों का।

जो भक्ति-कार्यों में संलग्न है और जो मेरे चरणकमलों की सेवा में निरन्तर लगा

रहता है, ऐसा शुद्ध भक्त कभी भी मुझसे तदाकार (एकात्म) होना नहीं चाहता। ऐसा भक्त जो अविचिलित होकर लगा रहता है सदैव मेरी लीलाओं तथा कार्य-कलापों का गुणगान करता है।

तात्पर्य : शास्त्रों में पाँच प्रकार की मुक्ति बताई गई है। इनमें से एक है भगवान् से तादात्म्य अथवा अपने व्यक्तित्व को त्याग कर परम आत्मा में विलीन होना। यह *एकात्मताम्* कहलाती है। भक्त कभी भी ऐसी मुक्ति स्वीकार नहीं करता। मुक्ति के अन्य चार प्रकार हैं— वैकुण्ठ को जाना, भगवान् की संगति करना, भगवान् का सा ऐश्वर्य प्राप्त करना तथा भगवान् जैसा स्वरूप प्राप्त करना। जैसाकि कपिल मुनि बतलाएँगे, भक्त इन पाँचों में से किसी भी मुक्ति की इच्छा नहीं करता। वह भगवान् से तदाकार होने के विचार को नारकीय मानकर घृणा करता है। भगवान् चैतन्य के परम भक्त श्रीप्रबोधानन्द सरस्वती ने कहा है—*कैवल्यं नरकायते* अर्थात् परमेश्वर के साथ एकाकार होने का सुख, जिसकी कामना मायावादी करते हैं, नारकीय मानी जाती है। यह एकात्मता शुद्ध भक्तों के लिए नहीं है।

ऐसे अनेक तथाकथित भक्त हैं, जो सोचते हैं कि बद्ध अवस्था में हम भगवान् की पूजा करते हैं, किन्तु अन्ततः वह कोई पुरुष तो है नहीं। उनका कहना है कि चूँकि परमेश्वर निराकार है, अतः काम चलाने के लिए हम निराकार परमेश्वर को साकार रूप प्रदान कर सकते हैं, किन्तु मुक्त होते ही पूजा बन्द हो जाती है। यह सिद्धान्त मायावादी दर्शन द्वारा रखा जाता है। वस्तुतः निर्विशेषवादी परम पुरुष में नहीं, अपितु उनकी शारीरिक ज्योति, ब्रह्मज्योति, में समाहित होते हैं। यद्यपि यह ब्रह्मज्योति उनके शरीर से भिन्न नहीं है, किन्तु शुद्ध भक्त इस प्रकार के एकाकार (एकात्मता) को स्वीकार नहीं करते, क्योंकि भक्तगण भगवान् में तदाकार होने के तथाकथित आनन्द से अधिक बड़े आनन्द में लीन होना चाहते हैं। सबसे बड़ा आनन्द भगवान् की सेवा करना है। भक्त निरन्तर यही सोचते रहते हैं कि भगवान् की किस प्रकार सेवा की जाय, वे संसार की बड़ी से बड़ी बाधाओं के होते हुए भी ऐसे साधन जुटाते रहते हैं जिससे भगवान् की सेवा की जा सके।

भगवान् की लीलाओं के वर्णन को मायावादी लोग कहानियाँ मानते हैं, किन्तु वास्तव में ये कहानियाँ नहीं हैं, ये ऐतिहासिक तथ्य हैं। शुद्ध भक्त भगवान् की लीलाओं के वर्णनों को कहानियाँ न मानकर परम सत्य के रूप में ग्रहण करते हैं। *मम पौरुषाणि* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं। भक्तगण भगवान् के इन कार्यकलापों का गुणगान करने में अत्यधिक अनुराग रखते हैं, किन्तु मायावादी इन कार्यकलापों के विषय में सोच भी नहीं पाते। इनके अनुसार परम सत्य निराकार है। बिना साकार हुए, कर्म कैसा? निर्विशेषवादी *श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक ग्रन्थों में वर्णित कार्यकलापों को कपोलकल्पित कहानियों के रूप में लेते हैं, फलतः वे बेहूदे ढंग से इनकी व्याख्या करते हैं। उन्हें भगवान् की अवधात्मा का कोइ भान नहीं होता और भोली-भाली जनता को गुमराह करने के उद्देश्य से वे भ्रमपूर्ण व्याख्या करते हैं। मायावाद-दर्शन के कार्यकलाप जनता के लिए अत्यन्त घातक हैं, इसीलिए भगवान् चैतन्य ने हमें आगाह किया कि किसी मायावादी से भूलकर कोई शास्त्र न सुने; वे समग्र प्रक्रिया को भ्रष्ट कर देंगे और जो व्यक्ति उन्हें सुनेगा वह परम सिद्धि प्राप्त करने के लिए भक्ति मार्ग पर कभी भी नहीं चल सकेगा या फिर दीर्घकाल के बाद ही भक्तिमार्ग पा सकेगा।

कपिल मुनि ने स्पष्ट कहा है कि भक्ति के कार्यकलाप मुक्ति से बढ़कर हैं। इसे पञ्चम पुरुषार्थ कहा जाता है। सामान्यतया लोग धर्म, आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति के कार्यों में प्रवृत्त होते हैं और वे इस विचार से कर्म करते हैं कि वे परमेश्वर से एकाकार होने जा रहे हैं (मुक्ति)। किन्तु भक्ति तो इन समस्त कार्यकलापों से बढ़ कर है। फलतः *श्रीमद्भागवत* का प्रारम्भ ही इसी कथन से होता है कि *भागवत* में सभी प्रकार की छद्म धार्मिकता का उन्मूलन किया गया है। *भागवत* में उन समस्त अनुष्ठानों का बहिष्कार हुआ है, जो आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति के लिए या कि इन्द्रियतृप्ति से हताश होकर परमेश्वर से तादात्म्य से सम्बन्धित हैं। *भागवत* विशेषतः उन भक्तों के लिए है, जो निरन्तर कृष्णभक्ति में या भगवान् के कार्यकलापों में लगे रहते हैं और नित्य ही इन दिव्य कार्यकलापों का गुणागन करते रहते हैं। शुद्ध भक्त वृन्दावन, द्वारका तथा मथुरावासी भगवान् के दिव्य कार्यकलापों की पूजा करते हैं, क्योंकि

श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराणों में इनका उल्लेख है। मायावादी दार्शनिक इन्हें कहानियाँ कहकर इनका निषेध कर देते हैं, किन्तु वस्तुत: ये महान् तथा पूज्य विषय हैं और भक्तों द्वारा ही आस्वाद्य हैं। एक मायावादी तथा एक भक्त में यही अन्तर है।

पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः
प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि
साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

पश्यन्ति—देखते हैं; ते—वे; मे—मेरा; रुचिराणि—सुन्दर; अम्ब—हे माता; सन्तः—भक्तजन; प्रसन्न—हँसता हुआ; वक्त्र—मुखमंडल; अरुण—प्रभातकालीन सूर्य के समान; लोचनानि—नेत्र; रूपाणि—रूप; दिव्यानि—दिव्य; वर-प्रदानि—वरदायक; साकम्—मेरे साथ; वाचम्—शब्द; स्पृहणीयाम्—अनुकूल; वदन्ति—कहते हैं।

हे माता, मेरे भक्त नित्य ही उदीयमान प्रभात के सूर्य सदृश नेत्रों से युक्त मेरे प्रसन्न मुखमण्डल वाले रूप का अवलोकन करते हैं। वे मेरे विभिन्न दिव्य मित्रवत रूपों को देखना चाहते हैं और साथ ही मुझसे अनुकूल सम्भाषण करना चाहते हैं।

तात्पर्य : मायावादी तथा नास्तिक लोग भगवान् के मन्दिर में रखे उनके श्रीविग्रहों के रूपों को मूर्ति के रूप में मानते हैं, किन्तु भक्तगण मूर्तियों की पूजा नहीं करते। वे तो भगवान् के *अर्चा* अवतार के रूप में उनकी प्रत्यक्ष पूजा करते हैं। *अर्चा* से उस रूप का बोध होता है, जिसे हम वर्तमान परिस्थिति में पूज सकते हैं। वस्तुत: वर्तमान अवस्था में ईश्वर को उनके आध्यात्मिक रूप में देख पाना सम्भव नहीं है, क्योंकि हमारे नेत्र तथा इन्द्रियाँ आध्यात्मिक रूप की कल्पना नहीं कर सकतीं। यहाँ तक कि हम आत्मा के आध्यात्मिक रूप को भी नहीं देख सकते। जब मनुष्य मरता है, तो हम यह नहीं देख पाते कि आध्यात्मिक रूप किस तरह शरीर को त्यागता है। यह हमारी इन्द्रियों का दोष है। हम अपनी इन्द्रियों से देख पाएँ, इस हेतु भगवान् उपयुक्त रूप ग्रहण करते हैं जिसे *अर्चा-विग्रह* कहते हैं। कभी-कभी अर्चा-विग्रह अर्चा-अवतार कहलाता है, जो भगवान् से भिन्न नहीं है। जिस प्रकार पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अनेक अवतार ग्रहण करते हैं उसी तरह वह मिट्टी, लकड़ी, धातु, रत्न जैसे पदार्थ के रूपों को ग्रहण करते है।

भगवान् के स्वरूप अंकन के लिए शास्त्रों में अनेक आदेश मिलते हैं। ये स्वरूप भौतिक नहीं हैं। यदि ईश्वर सर्वव्यापी है, तो वह भौतिक तत्त्वों में भी विद्यमान है। इस विषय में कोई आशंका नहीं है। किन्तु नास्तिक उसके उल्टा ही सोचते हैं। यद्यपि वे उपदेश देते हैं कि हर वस्तु ईश्वर है, किन्तु जब वे मन्दिर में जाते हैं और भगवान् के रूप को देखते हैं, तो वे उसे ईश्वर मानने से मुकर जाते हैं। उनके ही सिद्धान्त के अनुसार हर वस्तु ईश्वर है, तो फिर यह *अर्चा-विग्रह* ईश्वर क्यों नहीं? वास्तव में उन्हें ईश्वर का कोई बोध नहीं है। किन्तु भक्तों की दृष्टि इनसे भिन्न होती है, उनकी दृष्टि ईश्वरप्रेम से सिक्त रहती है। ईश्वर को उनके विभिन्न रूपों में देखते ही वे प्रेमाभिभूत हो जाते हैं, क्योंकि नास्तिकों की तरह उन्हें मन्दिर में ईश्वर के रूप तथा ईश्वर में कोई अन्तर नहीं दिखता। मन्दिर में श्रीविग्रह का प्रसन्न मुख भक्तों को दिव्य तथा आध्यात्मिक दिखता है और भगवान् के शरीर का अलंकरण भक्तों को अत्यन्त प्रिय लगता है। गुरु का कर्तव्य है कि वह मन्दिर में श्रीविग्रह को अलंकृत करने, मन्दिर को स्वच्छ करने तथा श्रीविग्रह की पूजा करने की विधि बताए। विष्णु मन्दिरों में अनेक विधि-विधानों का पालन किया जाता है, भक्तगण वहाँ जाते हैं और विग्रह का दर्शन करते हैं और स्वरूप का आनन्द उठाते हैं, क्योंकि सभी विग्रह वरदायक हैं। भक्तगण विग्रहों के समक्ष अपना मन्तव्य प्रकट करते हैं और अनेक बार तो विग्रह उत्तर भी देता है। किन्तु परमेश्वर से बात करने में सक्षम होने के लिए अत्यन्त उन्नत भक्त चाहिए। कभी-कभी भगवान् स्वप्न में सन्देश देते हैं। भक्त तथा विग्रह के मध्य विचारों का आदान-प्रदान नास्तिकों की समझ के बाहर होता है, किन्तु भक्त इसमें आनन्द लेते हैं। कपिल मुनि बता रहे हैं कि भक्तगण किस प्रकार विग्रह के अलंकृत शरीर तथा मुखमंडल का दर्शन करते हैं और भक्ति में उनसे बातें करते हैं।

तैर्दर्शनीयावयवैरुदार-
विलासहासेक्षितवामसूक्तैः ।
हृतात्मनो हृतप्राणांश्च भक्ति-
रनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुङ्क्ते ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

तैः—उन रूपों से; दर्शनीय—मोहक; अवयवैः—अंगों-प्रत्यंगों से; उदार—उदार; विलास—लीलाएँ; हास—मुसकान; ईक्षित—चितवन; वाम—मनोहर; सूक्तैः—आनन्दायक शब्दों से; हृत—मोहित; आत्मनः—मन; हृत—मोहित; प्राणान्—इन्द्रियाँ; च—तथा; भक्तिः—भक्ति; अनिच्छतः—न चाहते हुए; मे—मेरा; गतिम्—धाम; अण्वीम्—सूक्ष्म; प्रयुङ्क्ते—प्राप्त करता है।

भगवान् के मुसकाते तथा आकर्षक स्वरूप को देखकर तथा उनके अत्यन्त मोहक शब्दों को सुनकर शुद्ध भक्त अपनी अन्य समस्त चेतना खो बैठते हैं। उनकी इन्द्रियाँ अन्य समस्त कार्यों से मुक्त होकर भक्ति में तल्लीन हो जाती हैं। इस प्रकार अनिच्छित ही सही उसे अनायास मुक्तिप्राप्त हो जाती है।

तात्पर्य : भक्तों की तीन श्रेणियाँ हैं—उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ। कनिष्ठ श्रेणी तक के भक्त मुक्त हो जाते हैं। इस श्लोक में बताया गया है कि ज्ञान न होने पर भी मन्दिर में विग्रह का अलंकरण देखकर भक्त उसी के ध्यान में तल्लीन होकर अन्य समस्त चेतना खो देता है। इस तरह मात्र कृष्णचेतना में अपने को स्थिर करते हुए और इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाकर मनुष्य अनजाने ही मुक्त हो जाता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में भी हुई है। केवल शास्त्रानुमोदित अमिश्रित भक्ति करने से मनुष्य ब्रह्म समान होता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है : *ब्रह्मभूयाय कल्पते*। इसका आशय यह हुआ कि जीव अपनी आदि अवस्था में ब्रह्म है, क्योंकि वह परब्रह्म का अंश है। किन्तु अपने इस वास्तविक स्वभाव को, कि वह भगवान् का शाश्वत दास है, भूल जाने से वह माया द्वारा मोहित हो जाता है। अपनी वास्तविक स्वाभाविक स्थिति की विस्मृति ही माया है। अन्यथा वह शाश्वत रूप से ब्रह्म है।

जब मनुष्य को अपनी स्थिति के प्रति सचेत रहने की शिक्षा दी जाती है, तो वह समझने लगता है कि वह भगवान् का दास है। 'ब्रह्म' आत्म-साक्षात्कार की दशा का सूचक है। यहाँ तक कि कनिष्ठ श्रेणी का वह भक्त भी जिसे परम सत्य का ज्ञान नहीं होता और जो केवल श्रद्धापूर्वक भगवान् को नमस्कार करता है, उनका चिन्तन करता है—मन्दिर में उनका दर्शन करता है और विग्रह में चढ़ाने के लिए फूल तथा फल लाता है, वह भी अनजाने ही मुक्त हो जाता है। *श्रद्धायान्विताः* अर्थात् अत्यन्त भक्तिपूर्वक भक्तगण विग्रह को सम्मान करते तथा सामग्री भेंट करते हैं। राधा-कृष्ण, लक्ष्मी-नारायण तथा सीता-राम के विग्रह भक्तों के लिए

अत्यन्त मोहक होते हैं, अत: जब वे मन्दिर में उन्हें सज्जित रूप में देखते हैं, तो भगवान् के विचारों में मग्न हो जाते हैं। यही मुक्ति की दशा है। दूसरे शब्दों में, यहाँ इसकी पुष्टि हुई है कि निम्न श्रेणी का भक्त भी उनकी अपेक्षा दिव्य स्थिति में होता है, जो चिन्तन या अन्य साधनों से मुक्ति का प्रयास करते हैं। यहाँ तक कि शुकदेव गोस्वामी तथा चारों कुमारों जैसे निर्विशेषवादी भी मन्दिर में विग्रहों के सौन्दर्य से, भगवान् पर चढ़ी तुलसी की सुगंधि से मोहित होकर भक्त बन गये। यद्यपि वे मुक्त अवस्था में थे, किन्तु निर्विशेषवादी बने रहने की अपेक्षा वे भगवान् के सौंदर्य पर मोहित होकर भक्त बन गये।

यहाँ पर विलास शब्द उल्लेखनीय है। *विलास* से भगवान् के कार्यकलाप या लीलाओं का द्योतन होता है। मन्दिर पूजा के कार्यों में यह निश्चित है कि मनुष्य को मन्दिर में भगवान् को सजाधजा देखने ही नहीं जाना चाहिए, अपितु उसे *श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता* या ऐसे ही साहित्य का पाठ सुनना चाहिए जिनका मन्दिर में नियमित पाठ होता है। वृन्दावन में यह प्रथा है कि प्रत्येक मन्दिर में शास्त्रों का वाचन होता है। यहाँ तक कि निम्न श्रेणी के भक्तों को जिनके पास न तो साहित्यिक ज्ञान है, न ही जिन्हें *भागवत* या *भगवद्गीता* पढ़ने की फुरसत है, उन्हें भगवान् की लीलाओं का श्रवण करने का अवसर मिलता है। इस प्रकार उनके मन निरन्तर भगवान् के विचारों में—उनके रूप, कार्यकलापों तथा उनके दिव्य स्वभाव में डूबे रहते हैं। कृष्णचेतना की यह अवस्था मुक्त अवस्था है। इसीलिए भगवान् चैतन्य ने भक्ति सम्पन्न करने के लिए पाँच विधियों की संस्तुति की—(१) भगवान् के पवित्र नामों का कीर्तन—हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे, हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। (२) भक्तों की संगति तथा यथासम्भव उनकी सेवा करना (३) *श्रीमद्भागवत* सुनना (४) शृंगार किये गये मन्दिर तथा अर्चाविग्रह का दर्शन करना; और सम्भव हो तो; (५) वृन्दावन या मथुरा जैसे स्थान में रहना। इन पाँचों के द्वारा ही भक्त को परम सिद्धावस्था प्राप्त हो सकती है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में और यहाँ पर *श्रीमद्भागवत* में की गई है। समस्त वैदिक साहित्य स्वीकार करता है कि निम्न कोटि का भी भक्त मुक्ति-लाभ कर सकता है।

अथो विभूतिं मम मायाविनस्ता-
मैश्वर्यमष्टाङ्गमनुप्रवृत्तम् ।
श्रियं भागवतीं वास्पृहयन्ति भद्रां
परस्य मे तेऽश्नुवते तु लोके ॥ ३७॥

शब्दार्थ

अथो—तब; विभूतिम्—ऐश्वर्य; मम—मेरे; मायाविनः—माया के स्वामी का; ताम्—उस; ऐश्वर्यम्—योग की सिद्धि को; अष्ट-अङ्गम्—आठ अंगों वाली; अनुप्रवृत्तम्—पालन करते हुए; श्रियम्—चमक-दमक; भागवतीम्—ईश्वर के साम्राज्य को; वा—अथवा; अस्पृहयन्ति—कामना नहीं करते; भद्राम्—शुभ; परस्य—परमेश्वर का; मे—मेरा; ते—वे भक्त; अश्नुवते—भोग करते हैं; तु—लेकिन; लोके—इस जीवन में।

इस प्रकार मेरे ही विचारों में निमग्न रहने के कारण भक्त को स्वर्गलोक में प्राप्य श्रेष्ठ वर (जिसमें सत्यलोक सम्मिलित है) की भी इच्छा नहीं रह जाती। उसमें योग से प्राप्त होने वाली अष्ट सिद्धियों की भी कामना नहीं रह जाती, न ही वह ईश्वर के धाम पहुँचना चाहता है। तथापि न चाहते हुए भी, इसी जीवन में भक्त प्रदान किए गये उन समस्त वरदानों को भोगता है।

तात्पर्य : माया द्वारा प्रदत्त विभूतियाँ कई प्रकार की होती हैं। हमें इसी लोक में विभिन्न प्रकार के भौतिक सुखोपभोग का अनुभव रहता है, किन्तु यदि कोई उच्चतर लोकों, यथा चन्द्रलोक, सूर्य लोक या इनसे भी ऊँचे महर्लोक, जनलोक या तपोलोक या कि अन्ततः ब्रह्मा द्वारा निवसित सर्वोच्चलोक, सत्यलोक, पहुँच जाय तो वहाँ भौतिक सुखोपभोग के लिए महती सम्भावनाएँ हैं। उदाहरणार्थ, वहाँ पर इस लोक की अपेक्षा जीवन कहीं अधिक दीर्घ है। कहा जाता है कि चन्द्रमा में जीवन अवधि ऐसी है कि हमारे छह मास वहाँ के एक दिन के तुल्य हैं। सर्वोच्चलोक में जीवन की अवधि की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि ब्रह्मा के बारह घंटे बड़े-से-बड़े गणितज्ञ के लिए अकल्पनीय हैं। ये सभी भगवान् की बहिरंगा शक्ति या माया के वर्णन हैं। इनके अतिरिक्त, अन्य ऐश्वर्य भी हैं, जिन्हें योगी अपनी योगशक्ति से प्राप्त कर सकते हैं। ये सभी भौतिक हैं। भक्त इन समस्त भौतिक भोगों की कामना नहीं करता, यद्यपि ये इच्छा मात्र से उन्हें सुलभ हो सकते हैं। भगवत्कृपा से भक्त इच्छा मात्र से आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त कर सकता है, किन्तु वास्तविक भक्त को इन

सबकी इच्छा नहीं होती। भगवान् चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा है कि मनुष्य को न तो भौतिक ऐश्वर्य या ख्याति की कामना करनी चाहिए न भौतिक सौन्दर्य का भोग करना चाहिए। उसे तो भगवान् की भक्ति में तल्लीन रहने की कामना करनी चाहिए भले ही उसे मुक्ति-लाभ न हो और अनन्त काल तक जन्म-मृत्यु के चक्र में रहना पड़े। किन्तु वास्तव में जो कृष्णभक्ति में लगा रहता है उसकी मुक्ति तो पहले से निश्चित है। भक्तगण स्वर्ग तथा वैकुण्ठलोक के समस्त लाभों का भोग करते हैं। यहाँ पर इसका विशिष्ट रूप से उल्लेख *भागवतीं भद्राम्* के रूप में हुआ है। वैकुण्ठलोक में सब कुछ नित्य रूप से शान्तिमय है, किन्तु तो भी शुद्ध भक्त वहाँ नहीं जाना चाहता। फिर भी उसे यह लाभ प्राप्त होता है, उसे अपने इस जीवन में भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों की सारी सुविधाएँ भोगने को उपलब्ध हो जाती हैं।

न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे
नङ्क्ष्यन्ति नो मेऽनिमिषो लेढि हेतिः ।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च
सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; कर्हिचित्—सदैव; मत्-पराः—मेरे भक्त; शान्त-रूपे—हे माता; नङ्क्ष्यन्ति—खो देंगे; नो—नहीं; मे—मेरा; अनिमिषः—समय; लेढि—नष्ट करता है; हेतिः—आयुध; येषाम्—जिनका; अहम्—मैं; प्रियः—प्यारा; आत्मा—स्व; सुतः—पुत्र; च—तथा; सखा—मित्र; गुरुः—शिक्षक; सुहृदः—शुभचिन्तक; दैवम्—देवता, विग्रह; इष्टम्—इष्ट, अभीष्ट।

भगवान् ने आगे कहा : हे माते, जो भक्त ऐसा दिव्य ऐश्वर्य प्राप्त कर लेते हैं, वे उससे कभी वंचित नहीं होते। ऐसे ऐश्वर्य को न तो आयुध, न काल-परिवर्तन ही विनष्ट कर सकता है। चूँकि भक्तगण मुझे अपना मित्र, सम्बन्धी, पुत्र, शिक्षक, शुभचिन्तक तथा परमदेव मानते हैं, अतः किसी काल में भी उनसे यह ऐश्वर्य छीना नहीं जा सकता।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि मनुष्य अपने पुण्य कर्मों के प्रभाव से स्वर्गलोक तक, यहाँ तक कि ब्रह्मलोक तक भी पहुँच सकता है, किन्तु जब उन पुण्यकर्मों का प्रभाव (फल) समाप्त हो जाता है, तो उसे इस पृथ्वी पर लौटकर नवीन जीवनकर्म प्रारम्भ करना पड़ता है। इस तरह भले ही कोई सुख-भोग करे तथा दीर्घ जीवन के लिए स्वर्गलोक चला

जाय, किन्तु यह स्थायी वास नहीं होता। किन्तु जहाँ तक भक्तों का प्रश्न है, उनकी सम्पत्ति—भक्ति की उपलब्धि तथा वैकुण्ठलोक का ऐश्वर्य—इस लोक में भी कभी नष्ट नहीं होती है। इस श्लोक में कपिलदेव अपनी माता को *शान्तरूपा* कहकर सम्बोधित करते हैं, जिससे सूचित होता है भक्तों का ऐश्वर्य स्थिर है, क्योंकि भक्तगण वैकुण्ठलोक में निरन्तर स्थित हैं जिसे *शान्तरूप* कहते हैं। इसमें सतोगुण रहता है, जिसे रजो तथा तमोगुण विचलित नहीं कर सकते। एकबार भगवद्भक्ति में स्थापित हो जाने पर मनुष्य के इस दिव्य सेवा पद को विनष्ट नहीं किया जा सकता, अपितु आनन्द तथा सेवा में अपार वृद्धि होती रहती है। वैकुण्ठलोक में कृष्णभक्ति में संलग्न भक्तों पर काल का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। भौतिक जगत में काल के प्रभाव में सब कुछ विनष्ट हो जाता है, किन्तु वैकुण्ठलोक में न तो काल का प्रभाव पड़ता है न देवताओं का, क्योंकि वैकुण्ठलोक में एक भी देवता नहीं है। इस लोक में हमारे कार्यों का संचालन विभिन्न देवताओं द्वारा होता है, यहाँ तक कि जब हम अपने हाथ तथा पाँव हिलाते हैं, तो इनकी क्रिया देवताओं द्वारा संचालित होती है। किन्तु वैकुण्ठ लोक में न तो देवताओं का कोई प्रभाव है, न काल का। अत: विनाश का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। जब काल तत्त्व उपस्थित हो जाता है, तो विनाश निश्चित होता है, किन्तु जब काल तत्त्व—भूत, वर्तमान या भविष्य—नहीं रहता तो हर वस्तु शाश्वत होती है। अत: इस श्लोक में *न नङ्क्ष्यन्ति* शब्दों का प्रयोग हुआ है जिनसे सूचित होता है कि दिव्य ऐश्वर्य का कभी विनाश नहीं होता।

विनष्ट न होने के कारण का भी उल्लेख हुआ है। भक्तगण परमेश्वर को अत्यन्त प्रिय विभूति के रूप में स्वीकार करते हैं और उनसे नाना प्रकार से सम्बन्ध स्थापित करते हैं। वे परमेश्वर को सर्वप्रिय मित्र, सर्वप्रिय परिजन, सर्वप्रिय पुत्र, सर्वप्रिय शिक्षक, सर्वप्रिय शुभचिन्तक या सर्वप्रिय देव (विग्रह) के रूप में स्वीकार करते हैं। भगवान् सनातन हैं, अत: उनसे जो कोई सम्बन्ध बनाता है, वह भी सनातन होता है। यहाँ इसकी पुष्टि की गई है कि ऐसे सम्बन्धों को विनष्ट नहीं किया जा सकता, फलत: उन सम्बन्धों के ऐश्वर्य को भी नष्ट नहीं किया जा सकता। प्रत्येक जीव में किसी-न-किसी से प्रेम करने की प्रवृत्ति होती है। हम देखते

हैं कि जब किसी के कोई प्रिय नहीं होता तो वह अपने प्रेम को कुत्ता या बिल्ली जैसे पशुओं की ओर मोड़ देता है। इस तरह समस्त जीवों में प्रेम का शाश्वत लगाव *प्रेम का विषय* खोजने की ओर होता है। इस श्लोक से हम जान सकते हैं कि हम पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से अपनी प्रियतम वस्तु—मित्र, पुत्र, शिक्षक या शुभचिन्तक के रूप में प्रेम कर सकते हैं, इसमें न तो किसी प्रकार धोखा है और न ऐसे प्रेम का कोई अन्त है। हम भिन्न-भिन्न प्रकारों से भगवान् के साथ सम्बन्धों का आनन्द उठा सकते हैं। इस श्लोक की विशेष बात भगवान् को परम शिक्षक के रूप में ग्रहण करना है। *भगवद्गीता* का प्रवचन स्वयं भगवान् द्वारा हुआ और अर्जुन ने कृष्ण को अपना गुरु स्वीकार किया। इसी प्रकार हमें भी कृष्ण को ही परम गुरु के रूप में स्वीकार करना चाहिए।

वास्तव में कृष्ण का अर्थ है कृष्ण तथा उनके विश्वस्त भक्तजन; कृष्ण अकेले नहीं हैं। जब हम कृष्ण कहते हैं, तो इससे उनका नाम, रूप, गुण, धाम तथा पार्षदों का अर्थ बोध देता है। कृष्ण कभी अकेले नहीं रहते, क्योंकि कृष्ण के भक्त निर्विशेषवादी नहीं होते। उदाहरणार्थ, राजा सदैव अपने सचिव, सेनापति, दास तथा ऐसे ही लोगों के संग रहता है। ज्योंही हम कृष्ण तथा उनके पार्षदों को अपना शिक्षक मान लेते हैं, तो ऐसा कोई कुप्रभाव नहीं जो हमारे ज्ञान का विनाश कर सके। भौतिक जगत में हमारे द्वारा अर्जित ज्ञान काल के प्रभाव से बदल सकता है, किन्तु पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के प्रवचन से प्राप्त होने वाले निष्कर्ष, जो हमें *भगवद्गीता* से मिलते हैं, कभी नहीं बदलते। *भगवद्गीता* की व्याख्या करने से कोई लाभ नहीं, वह तो शाश्वत है।

भगवान् श्रीकृष्ण को अपना श्रेष्ठ मित्र मानना चाहिए। वे कभी धोखा नहीं देंगे। वे सदैव मित्रवत् सम्मति प्रदान करेंगे और भक्तों की मित्रवत् रक्षा करेंगे। यदि श्रीकृष्ण को पुत्रवत् माना जाय तो वे कभी मरेंगे नहीं। इस संसार में हमारा अत्यन्त प्यारा पुत्र या बच्चा हो सकता है, किन्तु माता, पिता या जो भी उसके प्रति वत्सल है सदैव आशा लगाता है कि मेरा पुत्र मरे नहीं। किन्तु कृष्ण सचमुच कभी नहीं मरते। अत: जो कृष्ण को या भगवान् को अपना पुत्र

मान लेते हैं, वे अपने पुत्र से कभी रहित नहीं होते। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ भक्तों ने देव (विग्रह) को अपना पुत्र मान लिया। बंगाल में ऐसे अनेक उदाहरण हैं और भक्त की मृत्यु के बाद भी देव पिता के लिए श्राद्ध संस्कार सम्पन्न करता है। यह सम्बन्ध कभी विनष्ट नहीं होता। लोग तरह-तरह के देवताओं को पूजने के आदी हैं, लेकिन *भगवद्गीता* में ऐसी प्रवृत्ति की भर्त्सना की गई है, अतः मनुष्य में इतनी बुद्धि तो होनी ही चाहिए कि वह भगवान् की ही पूजा उनके विविध रूपों में, यथा लक्ष्मी-नारायण, सीता-राम तथा राधा-कृष्ण के रूप में करे। इससे कभी धोखा नहीं होगा। देवताओं की पूजा से भले ही किसी को स्वर्ग-लाभ हो जाय, किन्तु भौतिक जगत के प्रलय के समय देव तथा देव का आवास सब कुछ नष्ट हो जाएगा। किन्तु जो प को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को पूजता है, वह वैकुण्ठलोक को जाएगा जहाँ काल, विनाश या प्रलय का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। निष्कर्ष यह निकला कि जो भक्त श्रीभगवान् को सब कुछ मान लेते हैं उस पर काल का प्रभाव नहीं पड़ता।

इमं लोकं तथैवामुमात्मानमुभयायिनम् ।
आत्मानमनु ये चेह ये रायः पशवो गृहाः ॥ ३९ ॥
विसृज्य सर्वानन्यांश्च मामेवं विश्वतोमुखम् ।
भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान्मृत्योरतिपारये ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

इमम्—इस; लोकम्—संसार; तथा—उसी तरह; एव—निश्चय ही; अमुम्—वह संसार; आत्मानम्—सूक्ष्म देह; उभय—दोनों में; अयिनम्—भ्रमण करते; आत्मानम्—शरीर; अनु—के साथ-साथ; ये—जो; च—भी; इह—इस संसार में; ये—जो; रायः—सम्मति; पशवः—पशु; गृहाः—घर; विसृज्य—त्याग कर; सर्वान्—सभी; अन्यान्—अन्य; च—तथा; माम्—मुझको; एवम्—इस प्रकार; विश्वतः-मुखम्—ब्रह्माण्डव्यापी भगवान् को; भजन्ति—पूजते हैं; अनन्यया—अनन्य भाव से; भक्त्या—भक्ति से; तान्—उनको; मृत्योः—मृत्यु के; अतिपारये—पार ले जाता हूँ।

इस प्रकार जो भक्त मुझे सर्वव्यापी, जगत् के स्वामी की अनन्य भाव से पूजा करता है, वह स्वर्ग जैसे उच्चतर लोकों में भेजे जाने अथवा इसी लोक में धन, सन्तति, पशु, घर अथवा शरीर से सम्बन्धित किसी भी वस्तु के साथ सुख पूर्वक रहने की समस्त कामनाओं को त्याग देता है। मैं उसे जन्म और मृत्यू के सागर के उस पार ले जाता हूँ।

तात्पर्य : इन दोनों श्लोकों में जिस तरह अनन्य भक्ति वर्णित है उसका अर्थ है परमेश्वर

को ही सब कुछ मानते हुए अपने आप को पूरी तरह से कृष्णभावनामृत अथवा भक्तियोग में लगा देना। चूँकि परमेश्वर में सब कुछ अन्तर्भूत है, अत: यदि कोई अनन्य श्रद्धा से भगवान् की पूजा करता है, तो उसे सारे ऐश्वर्य स्वत: प्राप्त हो जाते हैं और अन्य सारे कर्तव्य भी पूरे हो जाते हैं। भगवान् यहाँ पर वचन देते हैं कि वे अपने भक्त को जन्म तथा मृत्यु के उस पार ले जाते हैं। इसीलिए भगवान् चैतन्य ने संस्तुति की है कि जो मनुष्य जन्म तथा मृत्यु से परे जाना चाहता है उसे कोई भौतिक सम्पत्ति नहीं रखनी चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ है कि उसे न तो इसी लोक में सुखी रहने या स्वर्गलोक भेजे जाने के लिए प्रयत्न करना चाहिए, न ही भौतिक सम्पत्ति, सन्तान, घर या पशु के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

यहाँ इसकी व्याख्या की गई है कि शुद्ध भक्त द्वारा किस तरह अप्रत्यक्षता में ही मुक्ति प्राप्त की जाती है और उसके क्या लक्षण हैं। बद्धजीव के लिए जीवन की दो अवस्थाएँ हैं। एक तो वर्तमान जीवन तथा दूसरी अगले जीवन की तैयारी। यदि मैं सतोगुणी हूँ तो मैं स्वर्गलोक का भागी हूँ, यदि मैं रजोगुणी हूँ तो मैं ऐसे समाज में रहा आऊँगा जहाँ कर्म ही प्रधान है और यदि मैं तमोगुणी हूँ तो मैं पशु-जीवन या मानव-जीवन की निम्न अवस्था में उतार दिया जाऊँगा। किन्तु भक्त को न तो इस जीवन की और न अगले जीवन की कोई परवाह रहती है, क्योंकि वह किसी भी जीवन में न तो भौतिक सम्पत्ति की कामना करता है न जीवन की उच्च या निम्न अवस्था की। वह तो भगवान् से प्रार्थना करता है, ''हे भगवान्, मुझे इसकी परवाह नहीं कि मैं कहाँ जन्म लूँ, किन्तु मुझे एक भक्त के घर में चींटी के रूप में ही सही जन्म लेने दें।'' शुद्ध भक्त भगवान् से कभी भी इस भौतिक बंधन से मुक्ति कि प्रार्थना नहीं करता है। शुद्ध भक्त अपने को मुक्ति के योग्य समझता ही नहीं। अपने विगत जीवन तथा दुष्ट कर्मों को ध्यान में रखते हुए वह सोचता है कि वह नरक के निम्नतम भाग में भेजे जाने के योग्य है। यदि मैं इस जन्म में भक्त बनना चाह रहा हूँ तो इसका यह अर्थ नहीं है कि पूर्वजन्मों में मैं शत प्रतिशत शुद्ध (पवित्र) था। ऐसा सम्भव नहीं। इसलिए भक्त हमेशा अपनी स्वाभाविक स्थिति के प्रति सचेत रहता है। भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण से ही कष्ट कम हो सकते हैं। जैसाकि

भगवद्गीता में कहा गया है, ''मेरी शरण में आ जाओ, मैं समस्त पापकर्मों से तुम्हारी रक्षा करूँगा।'' यह उनकी कृपा है। लेकिन इसका यह अभिप्राय नहीं है कि जिसने भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण की है उसने पूर्वजन्म में बुरे कर्म नहीं किये। भक्त सदैव प्रार्थना करता है, ''अपने बुरे कर्मों के लिए मैं बारम्बार जन्म लूँ, किन्तु मेरी एकमात्र प्रार्थना है कि मैं आपकी सेवा करना न भूलूँ।'' भक्त में इतना मनोबल होता है और वह भगवान् से निवदेन करता है, ''मैं बार-बार जन्म ग्रहण करता रहूँ, किन्तु मैं शुद्ध भक्त के घर में जन्म लूँ जिससे मैं अपने को सुधारने का अवसर पा सकूँ।''

शुद्ध भक्त कभी इच्छुक नहीं रहता कि अगले जन्म में वह ऊपर उठे। वह पहले ही इस प्रकार की आशा त्याग चुका होता है। मनुष्य चाहे जिस जीवन में जन्म ले—गृहस्थ के रूप में या पशु के रूप में ही सही, उसे सन्तान, साधन या कुछ न कुछ सम्पत्ति चाहिए, किन्तु भक्त को कुछ भी पाने की अभिलाषा नहीं रहती। उसे भगवत्कृपा से जो भी प्राप्त हो सकता है उसी से सन्तुष्ट रहता है। वह न तो अपनी सामाजिक स्थिति को सुधारने या अपने बच्चों की शिक्षा सुधारने के लिए रंचमात्र भी मोह रखता है। वह निकम्मा नहीं होता, वह आज्ञाकारी होता है, किन्तु वह क्षणिक घरेलू या सामाजिक जीवन के उत्थान में अधिक समय व्यय नहीं करता। वह पूर्णतया भगवान् की सेवा में लगा रहता है और अन्य कार्यों में उतना ही समय लगाता है जितना कि अनिवार्य होता है (*यथार्थम् उपयुञ्जत:*)। ऐसा भक्त इसकी चिन्ता नहीं करता कि अगले जीवन में या इसी जीवन में क्या होने जा रहा है। यहाँ तक कि वह अपने परिवार, लड़के-बच्चों या समाज की भी परवाह नहीं करता। वह कृष्णभक्ति में रह कर भगवान् की सेवा में तल्लीन रहता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भक्त के जाने बिना ही भगवान् उसकी मृत्यु के पश्चात् उसे अपने दिव्य धाम में भेज देते हैं। इस शरीर को त्यागने के बाद वह दूसरी माता के गर्भ में प्रवेश नहीं करता। मृत्यु के पश्चात् सामान्य जीव को उसके कर्म के अनुसार अन्य प्रकार का शरीर धारण करने के लिए अन्य माता के गर्भ में स्थानान्तरित कर दिया जाता है। किन्तु भक्त तो तुरन्त ही भगवान् के पास रहने के लिए वैकुण्ठ में भेज दिया

जाता है। यह भगवान् की विशेष कृपा है। यह किस प्रकार सम्भव है, इसकी व्याख्या अगले श्लोकों में की गई है। सर्वशक्तिमान होने के कारण भगवान् जो भी चाहें कर सकते हैं। वे समस्त पापकर्मों को क्षमा कर सकते हैं, वे किसी भी व्यक्ति को वैकुण्ठलोक भेज सकते हैं। यह उन भगवान् की अकल्पनीय शक्ति है, जो शुद्ध भक्तों के अनुकूल रहते हैं।

नान्यत्र मद्भगवतः प्रधानपुरुषेश्वरात् ।
आत्मनः सर्वभूतानां भयं तीव्रं निवर्तते ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; अन्यत्र—दूसरा; मत्—मेरे सिवा; भगवतः—श्रीभगवान्; प्रधान-पुरुष-ईश्वरात्—ईश्वर जो प्रकृति तथा पुरुष दोनों है; आत्मनः—आत्मा; सर्व-भूतानाम्—समस्त जीवों में; भयम्—भय; तीव्रम्—विकट; निवर्तते—छुटकारा पाता है।

यदि कोई मुझको छोड़कर अन्य की शरण ग्रहण करता है, तो वह जन्म तथा मृत्यु के विकट भय से कभी छुटकारा नहीं पा सकता, क्योंकि मैं सर्वशक्तिमान, परमेश्वर अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, समस्त सृष्टि का आदि स्रोत तथा समस्त आत्माओं का भी परमात्मा हूँ।

तात्पर्य : यहाँ यह बतलाया गया है कि परमेश्वर का शुद्ध भक्त बने बिना जन्म-मृत्यु के चक्र से छुटकारा नहीं मिल पाता। कहा गया है—*हरिं बिना न सृतिं तरन्ति*। जन्म-मृत्यु के चक्र को तब तक पार नहीं किया जा सकता जब तक श्रीभगवान् अनुकूल न हों। इसी विचारधारा की पुष्टि यहाँ हुई है। कोई चाहे तो अपने अपूर्ण मानसिक चिन्तन से परम सत्य को जानने की पद्धति अपनावे या योगक्रिया द्वारा स्व का बोध करने का यत्न करे। किन्तु चाहे वह जो भी करे, जब तक वह श्रीभगवान् को पूरी तरह आत्मसमर्पण नहीं कर देता, तब तक कोई भी विधि उसे मुक्ति नहीं दिला सकती। कोई यह पूछ सकता है कि क्या जो लोग दृढ़तापूर्वक विधि-विधानों का पालन करते हुए तपस्या करते हैं, वह सब व्यर्थ है? इसका उत्तर *श्रीमद्भागवत* (१०.२.३२) में मिलता है—*येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनः*। जब श्रीकृष्ण देवकी के गर्भ में थे तो ब्रह्माजी तथा अन्य देवताओं ने भगवान् से प्रार्थना कि, "हे कमलनयन भगवान्! ऐसे भी लोग हैं, जो इस विचार से फूले रहते हैं कि वे मुक्त हो चुके हैं या ईश्वर से

उनका तादात्म्य हो चुका है या वे ईश्वर हो गये हैं, किन्तु ऐसा सोचते हुए भी उनका ज्ञान प्रशंसनीय नहीं है। वे अल्पज्ञ हैं।'' यह कहा गया है कि उनकी बुद्धि, चाहे उच्च हो या निम्न, शुद्ध भी नहीं होती। शुद्ध बुद्धि होने पर मनुष्य आत्मसमर्पण के अतिरिक्त और कुछ सोच ही नहीं सकता। अत: *भगवद्गीता* पुष्टि करती है कि अत्यन्त विज्ञ पुरुष में ही शुद्ध बुद्धि का उदय होता है। *बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते*। जो वास्तव में बुद्धिमान है, वह अनेकानेक जन्मों के बाद परमेश्वर की शरण में जाता है।

शरण में गये बिना किसी को मुक्ति प्राप्त नहीं होती। *भागवत* का कथन है, ''जो लोग अपने आपको किसी भक्तिविहीन विधान से मुक्त मानकर गर्वित रहते हैं, वे शिष्ट अथवा विमल बुद्धि वाले नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने अभी तक आपकी शरण नहीं ग्रहण की। वे समस्त प्रकार के संयम एवं तपस्या का पालन करने के बावजूद, अथवा ब्रह्म-साक्षात्कार के निकट पहुँचे बिना ही सोचते हैं कि वे ब्रह्मतेज में स्थित हैं, किन्तु वास्तव में वे भौतिक कर्मों में आ गिरते हैं, क्योंकि उनके कर्म दिव्य नहीं होते।'' मनुष्य को केवल इस कोरे ज्ञान से प्रसन्न नहीं हो जाना चाहिए कि वह ब्रह्म है। उसे परब्रह्म की सेवा में लगना चाहिए; वही भक्ति है। ब्रह्म का कार्य है कि वह परब्रह्म की सेवा करे। कहा जाता है कि ब्रह्म बने बिना ब्रह्म की सेवा नहीं की जा सकती। परब्रह्म तो श्रीभगवान् हैं और जीवात्मा भी ब्रह्म है। इस बोध के बिना कि मनुष्य ब्रह्म, अर्थात् आत्मा, अर्थात् भगवान् का नित्य दास है, यदि कोई इतना ही सोचता है कि वह ब्रह्म है, तो उसका यह बोध केवल सैद्धान्तिक है। अनुभव करने के साथ ही साथ उसे भगवान् की भक्ति में अपने आपको लगाना होता है, तभी वह ब्रह्मपद में स्थित रह सकता है अन्यथा वह नीचे गिर जाता है।

भागवत का कथन है कि अभक्त लोग श्रीभगवान् के चरणकमलों की दिव्य प्रेमाभक्ति की उपेक्षा करते हैं, अत: उनकी बुद्धि संकीर्ण होती है, जिससे ये लोग नीचे गिर जाते हैं। जीवात्मा को कुछ न कुछ कर्म करना चाहिए। यदि वह दिव्य सेवाकर्म नहीं करता तो वह भौतिक कर्म में आ गिरता है। ज्योंही वह भौतिक कर्मों में आ गिरता है, तो जन्म-मरण के चक्र से उसे

छुटकारा कोई नहीं दिला सकता। यहाँ पर भगवान् कपिल ने कहा है, ''मेरी कृपा के बिना'' (*नान्यत्र मद् भगवतः*)। यहाँ पर प्रभु को भगवान् कहा गया है, जिससे संकेत मिलता है कि वे सर्व ऐश्वर्य-सम्पन्न है, अतः वे मनुष्य को जन्म तथा मरण के चक्र से उद्धार करने में सर्वथा सक्षम हैं। वे प्रधान भी कहलाते हैं, क्योंकि वे परम पुरुष हैं। वे सबों पर समभाव रखते हैं, किन्तु जो उनकी शरण में जाता है उस पर विशेष रूप से अनुकूल रहते हैं। *भगवद्गीता* में भी पुष्टि की गई है कि भगवान् हर एक के लिए एक समान हैं, न तो कोई उनका शत्रु है और न मित्र। किन्तु जो उनकी शरण ग्रहण कर लेता है, वे उसके ऊपर उनका विशेष झुकाव हो जाता हैं। मात्र उनकी शरण में जाकर मनुष्य जन्म-मृत्यु के चक्र से बाहर निकल सकता है अन्यथा वह इस चक्र में अनेकानेक जन्मों तक पड़ा रहता है और मुक्ति के लिए अनेक बार अन्य विधियों का सहारा लेता है।

मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात् ।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात् ॥ ४२॥

शब्दार्थ

मत्-भयात्—मेरे भय से; वाति—बहती है; वातः—वायु; अयम्—यह; सूर्यः—सूर्य; तपति—चमकता है; मत्-भयात्—मेरे भय से; वर्षति—बरसता है; इन्द्रः—इन्द्र; दहति—जलती है; अग्निः—अग्नि; मृत्युः—मृत्यु; चरति—जाती है; मत्-भयात्—मेरे भय से।

यह मेरी श्रेष्ठता है कि मेरे ही भय से हवा बहती है, मेरे ही भय से सूर्य चमकता है और मेघों का राजा इन्द्र मेरे ही भय से वर्षा करता है। मेरे ही भय से अग्नि जलती है और मेरे ही भय से मृत्यु इतनी जानें लेती है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में श्रीभगवान् कृष्ण कहते हैं कि उनकी अध्यक्षता के कारण ही समस्त कार्यों में प्राकृतिक नियम ठीक से काम रहे हैं। कोई यह न सोचे कि प्रकृति बिना अध्यक्षता के स्वतः कार्य कर रही है। वैदिक ग्रन्थ कहते हैं कि बादल इन्द्रदेव द्वारा नियन्त्रित होते हैं, ऊष्मा का वितरण सूर्यदेव द्वारा होता है, शीतल चाँदनी चन्द्र द्वारा वितरित होती है और वायुदेव की व्यवस्था के अन्तर्गत वायु प्रवाहित होती है। किन्तु इन समस्त देवों के ऊपर पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् प्रधान व्यक्ति हैं। *नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्*। देवता भी सामान्य

जीवात्माएँ हैं, किन्तु अपनी आज्ञाकारिता के कारण—अपनी भक्तिमयी प्रवृत्ति के कारण—वे ऐसे पदों पर नियुक्त किये गये हैं। ये विभिन्न देवता या अधीक्षक, यथा चन्द्र, वरुण, वायु *अधिकारी देवता* कहलाते हैं। देवता विभागीय अध्यक्षों की भाँति होते हैं। परमेश्वर की सत्ता में केवल एक लोक या दो-तीन लोक नहीं, अपितु लाखों लोक तथा लाखों ब्रह्माण्ड होते हैं। भगवान् की सत्ता व्यापक होती है और उन्हें सहायकों की आवश्यकता होती है। देवतागण उनके शरीर के अंग माने जाते हैं। ऐसा वैदिक साहित्य में वर्णन मिलता है। ऐसी परिस्थितियों में सूर्यदेव, चन्द्रदेव, अग्निदेव तथा वायुदेव परमेश्वर की अध्यक्षता में कार्य करते हैं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में इस प्रकार हुई है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*। प्राकृतिक नियमों का कार्यान्वयन उनकी अध्यक्षता में होता है। पृष्ठभूमि में उनके रहने के कारण प्रत्येक वस्तु नियत समय से तथा नियमित ढंग से सम्पन्न होती है।

जो मनुष्य श्रीभगवान् की शरण ग्रहण कर लेता है उसकी रक्षा अन्य समस्त प्रभावों से की जाती है। तब वह न किसी की सेवा करता है न किसी का कृतज्ञ रहता है। निस्सन्देह वह किसी की अवज्ञा नहीं करता, किन्तु उसकी सारी विचारशक्ति भगवान् की सेवा में लगी रहती है। भगवान् कपिल का यह कथन कि उनके ही आदेश से वायु बह रही है, अग्नि जल रही है तथा सूर्य तपता है भावावेश में नहीं कहा गया है। निर्विशेषवादी कह सकते हैं कि *भागवत* के भक्त किसी को भगवान् बनाकर उसे उनके गुण प्रदान कर सकते हैं, किन्तु न तो यह कल्पना है और न ईश्वर के नाम पर कृत्रिम शक्ति का थोपा जाना है। वेदों में कहा गया है—*भीषास्माद् वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः*—परमेश्वर के भय से ही वायुदेव तथा सूर्यदेव कार्य करते हैं। *भीषास्माद् अग्निश्चेन्द्रश्च, मृत्युर्धावति पञ्चमः*—अग्नि, इन्द्र तथा मृत्यु भी उन्हीं के निर्देशन में कार्य करते हैं। ये वेदों के कथन हैं।

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः ।
क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशन्त्यकुतोभयम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

ज्ञान—ज्ञान; वैराग्य—तथा वैराग्य से; युक्तेन—सज्जित; भक्ति-योगेन—भक्तियोग के द्वारा; योगिनः—योगीजन; क्षेमाय—शाश्वत लाभ के लिए; पाद-मूलम्—चरणों में; मे—मेरे; प्रविशन्ति—शरण ग्रहण करते हैं; अकुतः-भयम्—निडर, निर्भय।

योगीजन दिव्य ज्ञान तथा त्याग से युक्त होकर एवं अपने शाश्वत लाभ के लिए मेरे चरणकमलों में शरण लेते हैं और चूंकि मैं भगवान् हूँ, अतः वे भयमुक्त होकर भगवद्धाम में प्रवेश पाने के लिए पात्र हो जाते हैं।

तात्पर्य : जो इस संसार के बन्धन से मुक्त होकर भगवान् के धाम को वापस जाना चाहता है, वही वास्तव में योगी है। यहाँ पर *युक्तेन भक्तियोगेन* शब्दों का स्पष्ट प्रयोग हुआ है। जो योगी भक्तियोग में लगे रहते हैं, वे उच्चकोटि के योगी हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में उल्लेख है, उच्चकोटि के योगी वे हैं, जो निरन्तर श्रीभगवान् कृष्ण का चिन्तन करते रहते हैं। ये योगी ज्ञान तथा वैराग्य से रहित नहीं होते। भक्तियोगी होने का तात्पर्य है स्वतः ज्ञान तथा वैराग्य प्राप्त करना। यह भक्तियोग का *स्वतः* फल होता है। *भागवत* के प्रथम स्कंध के द्वितीय अध्याय में भी पुष्टि की गई है कि जो व्यक्ति वासुदेव कृष्ण की भक्ति करता है, वह पूर्ण दिव्य ज्ञान तथा वैराग्य से युक्त होता है और इन उपलब्धियों का कोई कारण नहीं बताया जा सकता। वे अहैतुकी—बिना कारण—मिलती हैं। यहाँ तक कि निरक्षर व्यक्ति को भी शास्त्रों का दिव्य ज्ञान प्राप्त हो जाता है, क्योंकि वह भक्ति में लगा रहता है। इसका उल्लेख वैदिक साहित्य में भी मिलता है। जिस किसी की परमेश्वर तथा गुरु में पूर्ण श्रद्धा होती है, उसे वैदिक साहित्य का पूर्ण सार प्रकट हो जाता है। इसे पृथक् से खोजने की उसको आवश्यकता नहीं पड़ती। जो योगी भक्तियोग में लग जाते हैं, वे ज्ञान तथा वैराग्य से पूर्ण होते हैं। यदि ज्ञान तथा वैराग्य का अभाव हो तो यह समझना चाहिए कि वह भक्तिमय सेवा से पूर्ण नहीं है। निष्कर्ष यह निकलता है कि कोई मनुष्य तब तक स्वर्गलोक में—या तो भगवान् के निर्गुण ब्रह्मज्योति तेज में या उस ब्रह्म तेज के भीतर वैकुण्ठलोक में—प्रवेश नहीं कर सकता जब तक वह परमेश्वर के चरणकमलों की शरण में नहीं चला जाता। शरणागत जीव *अकुतोभय* कहलाते हैं। वे संशयहीन तथा निर्भय होते हैं और वैकुण्ठलोक में उनका प्रवेश निश्चित है।

एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसां निःश्रेयसोदयः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम् ॥ ४४॥

शब्दार्थ

एतावान् एव—इतना ही; लोके अस्मिन्—इस संसार में; पुंसाम्—मनुष्यों का; निःश्रेयस—जीवन की अन्तिम सिद्धि की; उदयः—प्राप्ति; तीव्रेण—तीव्र; भक्ति-योगेन—भक्ति के अभ्यास से; मनः—मन; मयि—मुझमें; अर्पितम्—लगे हुए; स्थिरम्—स्थिर।

अतः जिन व्यक्तियों के मन भगवान् में स्थिर हैं, वे भक्ति का तीव्र अभ्यास करते हैं। जीवन की अन्तिम सिद्धि प्राप्त करने का यही एकमात्र साधन है।

तात्पर्य : यहाँ पर प्रयुक्त *मनो मय्यर्पितम्* शब्द महत्त्वपूर्ण हैं जिनका अर्थ है ''मुझमें लगे हुए मन।'' मनुष्य को भगवान् कृष्ण या उनके अवतार के चरणकमलों पर अपना मन लगाना चाहिए। स्थिर भाव से उनमें लगे रहना ही मुक्ति का साधन है। अम्बरीष महाराज इसके उदाहरण हैं। उन्होंने अपने मन को भगवान् के चरणकमलों में लगाया, वे भगवान् की ही लीलाओं का कथन करते, वे भगवान् पर चढ़े हुए पुष्पों तथा तुलसी को ही सूँघते, वे केवल भगवान् के मन्दिर तक जाते, अपने हाथों से मन्दिर बुहारते, अपनी जीभ का उपयोग भगवान् को अर्पित भोजन के चखने में करते और कानों का उपयोग भगवान् की लीलाओं के सुनने में करते। इस प्रकार उनकी सभी इन्द्रियाँ व्यस्त रहतीं। सर्वप्रथम मन को भगवान् के चरणकमलों में क्रमशः तथा सहज भाव से लगाना चाहिए। चूँकि मन इन्द्रियों का स्वामी है, अतः मन के व्यस्त रहने पर सारी इन्द्रियाँ व्यस्त रहेंगी। यही भक्तियोग है। योग का अर्थ है इन्द्रियों को वश में करना, इन्द्रियों को सही अर्थ में वश में लाना कठिन है, वे सदैव चलायमान रहती हैं। यही हाल एक बच्चे का होता है—उसे कब तक शान्तिपूर्वक बैठाये रखा जा सकता है ? यह सम्भव नहीं है। यहाँ तक कि अर्जुन को कहना पड़ा—*चञ्चलं हि मनः कृष्ण*—मन सदैव चलायमान रहता है। सबसे अच्छा मार्ग यही है कि मन को भगवान् के चरणकमलों में लगा दिया जाय। *मनो मय्यर्पितं स्थिरम्*। यदि कोई गम्भीरतापूर्वक कृष्णभक्ति में लग जाय तो यही उच्चतम सिद्धावस्था है। समस्त कृष्णभावनाभावित कर्म मानवीय जीव की उच्चतम सिद्धावस्था में होते हैं।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''भक्तियोग की महिमा'' नामक

पच्चीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter छब्बीस

प्रकृति के मूलभूत सिद्धान्त

श्रीभगवानुवाच
अथ ते सम्प्रवक्ष्यामि तत्त्वानां लक्षणं पृथक् ।
यद्विदित्वा विमुच्येत पुरुषः प्राकृतैर्गुणैः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; अथ—अब; ते—तुमसे; सम्प्रवक्ष्यामि—कहूँगा; तत्त्वानाम्—परम सत्य की कोटियों के; लक्षणम्—लक्षण; पृथक्—अलग-अलग; यत्—जिसे; विदित्वा—जानकर; विमुच्येत—मुक्त हो सकता है; पुरुषः—कोई व्यक्ति; प्राकृतैः—प्रकृति के; गुणैः—गुणों से।

भगवान् कपिल ने आगे कहा : हे माता, अब मैं तुमसे परम सत्य की विभिन्न कोटियों का वर्णन करूँगा जिनके जान लेने से कोई भी पुरुष प्रकृति के गुणों के प्रभाव से मुक्त हो सकता है।

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, केवल भक्ति के द्वारा भगवान् को समझा जा सकता है (*भक्त्या मामभिजानाति*)। *भागवत* में भक्ति का विषय माम् अथवा कृष्ण को बताया गया है। *श्रीचैतन्य-चरितामृत* में व्याख्या की गई है कि कृष्ण को समझने का अर्थ है कृष्ण को उनकी अंतरंगा शक्ति, उनकी बहिरंगा शक्ति, उनके विस्तारों तथा अवतारों समेत समझना। कृष्ण को समझने के लिए ज्ञान के अनेक विभाग हैं। सांख्य दर्शन विशेषत: उन लोगों के लिए है, जो इस जगत में बद्ध हैं। इसे परम्परा प्रणाली या शिष्य-परम्परा द्वारा भक्ति के विज्ञान के रूप में समझा जाता है। भक्ति के प्रारम्भिक अध्ययनों की व्याख्या पहले की जा चुकी है। भगवान् अब भक्ति का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। उनका कहना है कि ऐसे अध्ययन से मनुष्य प्रकृति के गुणों से मुक्त हो जाता है। *भगवद्गीता* में भी इसी की पुष्टि हुई है। *ततो मां तत्त्वातो ज्ञात्वा* भगवान् को ज्ञान की विभिन्न कोटियों द्वारा जानकर मनुष्य भगवद्धाम जाने का अधिकारी बन जाता है। इसकी भी यहाँ पर व्याख्या की गई है। सांख्य दर्शन में भक्ति के विज्ञान (भक्ति तत्त्व) को जान लेने से मनुष्य प्रकृति के गुणों से मुक्त हो जाता है। प्रकृति के जादू से मुक्त होकर शाश्वत आत्मा भगवद्धाम में प्रविष्ट करने का अधिकारी बन जाता है। जब तक मनुष्य में रंचमात्र भी इच्छा रहती है या प्रकृति पर अधिकार जताने की

भावना रहती है तब तक वह प्रकृति के गुणों के प्रभाव से मुक्त नहीं हो सकता। अतः मनुष्य को विश्लेषण द्वारा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को समझना होगा जैसाकि भगवान् कपिल ने सांख्य दर्शन में समझाया है।

ज्ञानं निःश्रेयसार्थाय पुरुषस्यात्मदर्शनम् ।
यदाहुर्वर्णये तत्ते हृदयग्रन्थिभेदनम् ॥ २॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—ज्ञान; निःश्रेयस-अर्थाय—चरम सिद्धि के लिए; पुरुषस्य—मनुष्य का; आत्म-दर्शनम्—आत्म-साक्षात्कार; यत्—जो; आहुः—कहा है; वर्णये—वर्णन करूँगा; तत्—वह; ते—तुमसे; हृदय—हृदय में; ग्रन्थि—ग्रन्थियाँ; भेदनम्—काटती हैं।

आत्म-साक्षात्कार की चरम सिद्धि ज्ञान है। मैं तुमको वह ज्ञान बतलाऊँगा जिससे भौतिक संसार के प्रति आसक्ति की ग्रन्थियाँ कट जाती हैं।

तात्पर्य : कहा गया है कि विशुद्ध आत्मा के सम्यक ज्ञान से अथवा आत्म-साक्षात्कार द्वारा मनुष्य भौतिक आसक्ति से मुक्त हो सकता है। ज्ञान से जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त होती है, जिससे मनुष्य अपने आपको, अपने यथार्थ रूप में, देख सकता है। इसकी पुष्टि *श्वेताश्वतर उपनिषद* (३.८) में भी इसकी पुष्टि की है। *तमेव विदित्वातिमृत्युमेति* केवल अपनी आध्यात्मिक स्थिति को जान लेने से या अपने को अपने रूप में देख लेने से मनुष्य भौतिक बन्धन से छूट सकता है। वैदिक साहित्य में आत्मदर्शन की विभिन्न विधियों का वर्णन हुआ है और *भागवत* में इसकी पुष्टि हुई है (*पुरुषस्य आत्म-दर्शनम्*) कि मनुष्य को अपने आपको देखना होता है और जानना होता है कि वह क्या है। जैसाकि कपिलदेव अपनी माता को समझाते हैं, उपयुक्त प्रामाणिक स्रोत से सुनकर यह ''दर्शन'' किया जा सकता है। कपिलदेव सबसे बड़े प्रमाण हैं, क्योंकि वे भगवान् हैं और यदि कोई बिना मतान्तर के जो कुछ कहा गया है उसे यथारूप में ग्रहण करता है, तो वह आत्मदर्शन कर सकता है।

भगवान् चैतन्य ने सनातन गोस्वामी से व्यक्ति की वास्तविक स्वाभाविक स्थिति की व्याख्या की है। उन्होंने प्रत्यक्ष कहा कि प्रत्येक जीवात्मा कृष्ण का शाश्वत दास है। *जीवेर 'स्वरूप' हय कृष्णेर 'नित्य दास'*। प्रत्येक जीव शाश्वत दास है। जब मनुष्य को यह ज्ञान हो

जाता है कि वह परमात्मा का अंशरूप है और उसकी शाश्वत स्थिति परमेश्वर की संगति में रह कर सेवा करना है, तो वह स्वरूपसिद्ध हो जाता है। आत्मा (स्व) को भलीभाँति समझने की इस स्थिति से भौतिक आसक्ति की ग्रन्थि कट जाती है (*हृदय-ग्रंथि भेदनम्*)। अहंकार या झूठे देहात्मबोध के कारण मनुष्य माया के पाश में आ जाता है, किन्तु जैसे ही उसे यह ज्ञान हो जाता है कि गुणात्मक रूप से वह परमेश्वर-जैसा तत्व है, क्योंकि वह आत्मा की उसी कोटि से सम्बन्धित है तथा उसकी शाश्वत स्थिति सेवा करने के लिए है, तो उसे *आत्मदर्शनम्* तथा *हृदय ग्रंथि भेदनम्* अथवा आत्म-साक्षात्कार प्राप्त हो जाता है। जब मनुष्य भौतिक जगत के प्रति आसक्ति की ग्रन्थि को काट सकता है, तो उसकी समझ ज्ञान कहलाती है। *आत्मदर्शनम्* का अर्थ है ज्ञान के द्वारा अपने आपको देखना। अत: जब मनुष्य वास्तविक ज्ञान के अनुशीलन से अहंकार से रहित हो जाता है, तो वह अपने आपको देखता है और मनुष्य-जीवन की अन्तिम आवश्यकता यही है। इस प्रकार आत्मा चौबीस प्रकार की प्रकृति के बन्धन से विलग हो जाता है। क्रमबद्ध सांख्य दार्शनिक विधि का अनुसरण ज्ञान है और यही ज्ञान तथा आत्मदर्शन है।

अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः ।
प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

अनादिः—जिसका आदि न हो; **आत्मा**—परमात्मा; **पुरुषः**—भगवान्; **निर्गुणः**—प्रकृति के गुणों से परे; **प्रकृतेः परः**—इस भौतिक संसार से परे; **प्रत्यक्-धामा**—सर्वत्र दर्शनीय; **स्वयम्-ज्योतिः**—स्वयं प्रकाशवान; **विश्वम्**—सम्पूर्ण सृष्टि; **येन**—जिससे; **समन्वितम्**—पालित है।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् परमात्मा हैं और उनका आदि नहीं है। वे प्रकृति के गुणों से परे और इस भौतिक जगत के अस्तित्व के परे हैं। वे सर्वत्र दिखाई पड़ने वाले हैं, क्योंकि वे स्वयं प्रकाशवान हैं और उनकी स्वयं प्रकाशवान कान्ति से सम्पूर्ण सृष्टि का पालन होता है।

तात्पर्य : श्रीभगवान् को आदिरहित (अनादि) बताया गया है। वह पुरुष अर्थात् परम आत्मा है। पुरुष का अर्थ है "व्यक्ति।" जब हम अपने वर्तमान अनुभव से किसी व्यक्ति के विषय में सोचते हैं, तो उसका आदि होता है। इसका भाव यह है कि उसने जन्म लिया होगा

और उसके जीवन के प्रारम्भ से लेकर अब तक का इतिहास होगा। किन्तु यहाँ पर भगवान् को अनादि अर्थात् आरम्भ से रहित कहा गया है। यदि हम सभी व्यक्तियों का परीक्षण करें तो प्रत्येक का आदि होता है, किन्तु जब हम ऐसे व्यक्ति तक पहुँच जाते हैं जिसका कोई आदि ही नहीं हो तो वह परम पुरुष होता है। *ब्रह्म-संहिता* में यही परिभाषा दी हुई है *ईश्वर: परम: कृष्ण:* परमेश्वर परम नियन्ता कृष्ण है; वह आदिरहित है और हर एक का उद्गम है। यह परिभाषा समस्त वैदिक साहित्य में उपलब्ध है।

भगवान् को आत्मा कहा गया है। तो आत्मा की क्या परिभाषा है? आत्मा सर्वत्र दर्शनीय है। ब्रह्म का अर्थ है ''महान।'' उसकी महानता सर्वत्र परिलक्षित है। और वह महानता क्या है? चेतना। हमें चेतना का व्यक्तिगत अनुभव होता है, क्योंकि यह पूरे शरीर में फैली है यहाँ तक कि प्रत्येक रोमकूप में हम चेतना का अनुभव करते हैं। यह व्यक्तिगत चेतना है। इसी प्रकार परम चेतना होती है। इसके लिए एक लघु प्रकाश तथा सूर्य प्रकाश का उदाहरण लिया जा सकता है। सूर्य प्रकाश सर्वत्र, यहाँ तक कि कमरे के भीतर अथवा आकाश में भी दृष्टिगोचर होता है, किन्तु एक लघु प्रकाश विशिष्ट सीमा में ही अनुभव किया जाता है। इसी प्रकार हमारी चेतना हमारे शरीर तक ही सीमित रहती है, किन्तु परम चेतना या ईश्वर का अस्तित्व सर्वत्र देखा जाता है। वह अपनी शक्ति से सर्वत्र विद्यमान है। *विष्णु पुराण* में कहा गया है कि हमें जहाँ कहीं तथा सर्वत्र जो कुछ दिखता है, वह परमेश्वर की शक्ति का वितरण है। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई है कि भगवान् सर्वव्यापी है और अपनी दो प्रकार की शक्तियों, आध्यात्मिक तथा भौतिक शक्तियों के द्वारा वह सर्वत्र विद्यमान रहता है। ये दोनों शक्तियाँ सर्वत्र फैली हुई हैं और यही भगवान् के अस्तित्व का प्रमाण है।

सर्वत्र चेतना का अस्तित्व क्षणिक नहीं है। यह अनादि है अर्थात् इसका कोई प्रारम्भ नहीं, अत: यह अनन्त भी है। यहाँ इस मत को स्वीकार नहीं किया गया कि चेतना का विकास भौतिक संयोग की किसी एक अवस्था में होता है, क्योंकि जो चेतना सर्वत्र विद्यमान है उसका कोई आदि नहीं है। यह भौतिकतावादी या निरीश्वरवादी सिद्धान्त कि आत्मा नहीं है, ईश्वर नहीं

है और चेतना पदार्थ के संयोग से प्रतिफलित है मान्य नहीं है। पदार्थ आदिविहीन नहीं होता, इसका आदि होता है। जिस प्रकार इस भौतिक शरीर का आदि है उसी प्रकार विराट शरीर का भी है। और जिस तरह हमारा भौतिक शरीर हमारे आत्मा के आधार पर प्रारम्भ हुआ, उसी तरह यह समग्र विराट शरीर परमात्मा के आधार पर प्रारम्भ हुआ। *वेदान्त-सूत्र* का कथन है *जन्माद्यस्य*। यह समग्र भौतिक प्रदर्शन इसकी उत्पति, वृद्धि, पालन तथा इसका संहार परम पुरुष से उद्भूत है। *भगवद्गीता* में भी भगवान् कहते हैं, ''मैं आदि हूँ, प्रत्येक वस्तु के जन्म का स्रोत हूँ।''

यहाँ पर भगवान् का वर्णन हुआ है। वे अकारण हैं और समस्त कारणों के कारण हैं। *पर:* का अर्थ है ''परे'', ''सृजनात्मक शक्ति से परे।'' भगवान् सृजनात्मक शक्ति के स्रष्टा हैं। हम देखते हैं कि इस संसार में सृजनात्मक शक्ति है, किन्तु भगवान् इस शक्ति के अधीन नहीं हैं। वे तो *प्रकृति-पर:* अर्थात् इस शक्ति से परे हैं। उन्हें भौतिक शक्ति (माया) द्वारा उत्पन्न तीन प्रकार के ताप नहीं सताते, क्योंकि वे इससे परे हैं। प्रकृति के गुण उनका स्पर्श तक नहीं कर पाते। यहाँ पर *स्वयं-ज्योति:* कहा गया है, जिसका अर्थ है कि वे साक्षात् प्रकाश हैं। हमें इस जगत में यह अनुभव प्राप्त है कि एक का प्रकाश दूसरे का परावर्तन है, जिस प्रकार चाँदनी धूप का परावर्तन है। धूप ब्रह्मज्योति का परावर्तन है। इसी तरह ब्रह्मज्योति परमेश्वर के शरीर का परावर्तन है। *ब्रह्म-संहिता* में इसकी पुष्टि हुई है— *यस्य प्रभा प्रभवत:*। 'ब्रह्मज्योति' भगवान् की शारीरिक कान्ति के फलस्वरुप है। इसीलिए यहाँ स्वयं-ज्योति: कहा गया है अर्थात् वे स्वयं प्रकाश हैं। उनका प्रकाश अनेक प्रकार से बँटा हुआ है यथा ब्रह्मज्योति, सूर्यप्रकाश, चन्द्रप्रकाश। *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है कि आध्यात्मिक जगत में सूर्यप्रकाश, चाँदनी या बिजली की आवश्यकता नहीं पड़ती। उपनिषदों से भी इसकी पुष्टि होती है। चूँकि भगवान् की शारीरिक आभा आध्यात्मिक जगत को प्रकाशित करने के लिए पर्याप्त है, अत: सूर्यप्रकाश, चाँदनी या अन्य किसी प्रकाश या बिजली की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। यह आत्म प्रकाश भी इस मत का खण्डन करता है कि आत्मा या आत्म-चेतना भौतिक संयोग की किसी

अवस्था विशेष में विकसित होती है। *स्वयं-ज्योति:* पद सूचित करता है कि किसी भौतिकता का रंचमात्र भी स्पर्श नहीं होता। यहाँ इसकी पुष्टि होती है कि भगवान् की सर्वव्यापकता उनके सर्वत्र प्रकाश से है। हमें अनुभव होता है कि सूर्य एक स्थान पर स्थित है, जब कि उसका प्रकाश चारों ओर लाखों मील तक प्रसारित है। यह हमारा व्यावहारिक अनुभव है। इसी प्रकार यद्यपि परम प्रकाश उनके निजी धाम वैकुण्ठ या वृन्दावन में स्थित है, किन्तु उनका प्रकाश न केवल स्वर्ग में अपितु उसके परे भी व्याप्त है। इस लोक में भी वही प्रकाश सूर्य गोलक द्वारा परावर्तित होता है और सूर्यप्रकाश चन्द्रगोलक द्वारा। इस प्रकार अपने धाम में स्थित रहते हुए भी उनका प्रकाश आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों के ऊपर फैला रहता है। *ब्रह्म-संहिता* (५.३७) इसकी पुष्टि करती है—*गोलोक एव निवसत्यखिलात्मभूत:*—वे भूलोक में निवास करते हैं, किन्तु तो भी वे सम्पूर्ण सृष्टि में विद्यमान हैं। वे प्रत्येक वस्तु की परम आत्मा हैं, भगवान् हैं और उनमें असंख्य दिव्य गुण हैं। यह भी निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि वे निस्सन्देह पुरुष हैं, किन्तु वे इस जगत के पुरुष नहीं हैं। मायावादी चिन्तक यह नहीं समझ सकते कि इस भौतिक जगत के परे भी पुरुष हो सकता है इसीलिए वे निर्विशेषवादी हैं। किन्तु यहाँ बड़े ही उत्तम ढंग से बताया गया है कि भगवान् इस संसार से परे हैं।

स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः ।
यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया ॥ ४॥

शब्दार्थ

सः एषः—वही भगवान्; **प्रकृतिम्**—भौतिक शक्ति को; **सूक्ष्माम्**—सूक्ष्म; **दैवीम्**—विष्णु से सम्बन्धित, वैष्णवी; **गुणमयीम्**—तीन गुणों से युक्त; **विभुः**—महान् से महानतम्; **यदृच्छया**—स्वेच्छा से; **इव**—पर्याप्त; **उपगताम्**—प्राप्त; **अभ्यपद्यत**—स्वीकार किया; **लीलया**—अपनी लीला के रूप में।

उस महान् से महानतम् श्रीभगवान् ने सूक्ष्म भौतिक शक्ति को अपनी लीला के रूप में स्वीकार किया जो त्रिगुणमयी है और विष्णु से सम्बन्धित है।

तात्पर्य : इस श्लोक में गुणमयीम् शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दैवीम् का अर्थ है "भगवान् की शक्ति" और गुणमयीम् का अर्थ है "प्रकृति के तीन गुणों से युक्त।" जब भगवान् की भौतिक शक्ति प्रकट होती है, तो यह गुणमयीम् शक्ति तीनों गुणों की शक्तियों के

प्राकट्य के रूप में होती है, यह आवरण के रूप में कार्य करती है। भगवान् से उद्भूत शक्ति दो रूपों में प्रकट होती है परमेश्वर से उद्भव के रूप में तथा उनके मुखमण्डल के आवरण के रूप में। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि चूँकि सारा जगत प्रकृति के तीनों गुणों से मोहित रहता है, अत: सामान्य जीव ऐसी शक्ति से आच्छादित होने के कारण भगवान् को नहीं देख सकता। यहाँ पर बादल का उदाहरण सटीक होगा। सहसा आकाश में एक बड़ा बादल प्रकट हो सकता है। इस बादल को दो प्रकार से देखा जा सकता है। सूर्य के लिए यह उनकी शक्ति की सृष्टि है, किन्तु सामान्य बद्धजीव के लिए यह उसकी आँखों के लिए आवरण (पर्दा) है, बादल के कारण सूर्य नहीं देखा जा सकता है। ऐसा नहीं है कि सूर्य वास्तव में बादल से ढक गया हो, केवल सामान्य व्यक्ति की दृष्टि ढक जाती है। इसी प्रकार यद्यपि माया परमेश्वर को आच्छादित नहीं कर सकती, क्योंकि वे माया से परे हैं, किन्तु यही माया सामान्य जीवात्माओं को आच्छादित कर लेती है। इस प्रकार आच्छादित होने वाले बद्धजीव पृथक्-पृथक् जीवात्माएँ हैं और जिनकी शक्ति से माया उत्पन्न होती है वे भगवान् हैं।

श्रीमद्भागवत में अन्यत्र (प्रथम स्कन्ध के सातवें अध्याय में) कहा गया है कि व्यासदेव ने अपनी आध्यात्मिक दृष्टि से भगवान् का दर्शन किया और माया भगवान् के पीछे खड़ी रही। इसका यह अर्थ हुआ कि माया भगवान् को आच्छादित नहीं कर सकती, जिस तरह कि अंधकार सूर्य को आच्छादित नहीं कर सकता। अन्धकार केवल उतना ही क्षेत्र घेर पाता है, जो सूर्य की तुलना में नगण्य है। अंधकार किसी गुफा को ढक सकता है, खुले आकाश को नहीं। इसी प्रकार माया की आच्छादन शक्ति सीमित है और वह भगवान् पर असर नहीं दिखा पाती इसीलिए वे विभु कहलाते हैं। जिस तरह बादल के प्राकट्य को सूर्य स्वीकारता है उसी प्रकार भगवान् कुछ अन्तराल के लिए माया के प्राकट्य को स्वीकारते हैं। यद्यपि उनकी यह भौतिक शक्ति भौतिक जगत की उत्पत्ति के काम आती है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि इस शक्ति से वे आच्छादित हैं। जो लोग इस भौतिक शक्ति से आच्छदित होते हैं, वे बद्धजीव कहलाते हैं। भगवान् उत्पति, पालन तथा संहार जैसी लीलाओं के लिए भौतिक शक्ति को

स्वीकारते हैं। किन्तु बद्धजीव आच्छादित चला आ रहा होता है, वह यह नहीं समझ पाता कि इस भौतिक शक्ति के परे भगवान् हैं, जो समस्त कारणों के कारण हैं, ठीक उसी तरह अल्पज्ञ व्यक्ति यह नहीं समझ पाता कि बादलों के पार सूर्यप्रकाश है।

गुणैर्विचित्राः सृजतीं सरूपाः प्रकृतिं प्रजाः ।
विलोक्य मुमुहे सद्यः स इह ज्ञानगूहया ॥५॥

शब्दार्थ

गुणैः—तीनों गुणों से; विचित्राः—विविध प्रकार का; सृजतीम्—उत्पन्न करती हुई; स-रूपाः—रूपों सहित; प्रकृतिम्—प्रकृति; प्रजाः—जीवात्माएँ; विलोक्य—देखकर; मुमुहे—मोहग्रस्त था; सद्यः—तुरन्त; सः—जीवात्मा; इह—इस संसार में; ज्ञान-गूहया—ज्ञान-आवरण के गुण से।

अपने तीन गुणों से अनेक प्रकारों में विभक्त यह भौतिक प्रकृति जीवों के स्वरूपों को उत्पन्न करती है और इसे देखकर सारे जीव माया के ज्ञान-आच्छादक गुण से मोहग्रस्त हो जाते हैं।

तात्पर्य : माया में ज्ञान को आच्छादित करने की शक्ति है, किन्तु इस आवरण (आच्छादन) को भगवान् पर लागू नहीं किया जा सकता। यह केवल *प्रजा:* या भौतिक शरीर के साथ पैदा हुए हैं, अर्थात् बद्धजीवों पर ही लागू होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक साहित्य में कहा गया है, विभिन्न प्रकार के जीव प्रकृति के गुणों के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। *भगवद्गीता* (७.१२) में बहुत अच्छी तरह व्याख्या की गई है कि यद्यपि सतो, रजो तथा तमोगुण भगवान् से उत्पन्न हैं, किन्तु भगवान् इनके अधीन नहीं होते। दूसरे शब्दों में, श्रीभगवान् से उद्भूत शक्ति उन पर प्रभाव नहीं डाल सकती, वह बद्धजीवों पर प्रभाव डालती है, जो भौतिक शक्ति से आच्छादित रहते हैं। भगवान् समस्त जीवों के पिता हैं, क्योंकि वे भौतिक शक्ति में जीवों का गर्भाधान करते हैं। इसीलिए बद्धजीवों को भौतिक शक्ति से उत्पन्न शरीर प्राप्त होते हैं जबकि इन जीवों का पिता तीनों गुणों से पृथक् ही रहता है।

पिछले श्लोक में कहा गया है कि भगवान् ने भौतिक शक्ति को इसलिए स्वीकार किया जिससे वे उन जीवों को लीलाएँ दिखा सकें जो उनका आनन्द लेना चाहती हैं और भौतिक शक्ति पर अधिकार जताना चाहती हैं। यह संसार ऐसे जीवों के तथाकथित भोग के लिए

भगवान् की भौतिक शक्ति से उत्पन्न किया गया है। बद्धजीवों के कष्टों के लिए इस भौतिक जगत की उत्पत्ति क्यों हुई यह अत्यन्त जटिल प्रश्न है। पिछले श्लोक के *लीलया* शब्द में जिसका अर्थ "भगवान् की लीलाओं के लिए" है इसका संकेत मिलता है। भगवान् बद्धजीवों के भोगपरक स्वभाव को सुधारना चाहते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् ही एकमात्र भोक्ता हैं। अत: यह भौतिक शक्ति उसके लिए उत्पन्न की गई है, जो भोग करने का स्वाँग भरता है। यहाँ एक उदाहरण उपयुक्त होगा सरकार को पृथक् पुलिस विभाग की आवश्यकता नहीं पड़ती, किन्तु यह वास्तविकता है कि कुछ नागरिक राज्य के नियमों का पालन नहीं करेंगे, अत: आततायियों से निपटना आवश्यक हो जाता है। आवश्यकता न रहने पर भी आवश्यकता रहती है। इसी प्रकार बद्धजीवों को कष्ट देने के लिए इस भौतिक जगत को उत्पन्न करने की कोई आवश्यकता न थी, किन्तु साथ ही कुछ ऐसे लोग हैं, जो नित्यबद्ध हैं अर्थात् निरन्तर बद्ध रहते हैं। हम कहते हैं कि वे अनादि काल से बद्ध रहे हैं, क्योंकि कोई यह नहीं पता लगा सकता कि जीव, जो परमेश्वर का भिन्नांश है, कब भगवान् की श्रेष्ठता के प्रति विद्रोही बन गया।

वस्तुत: मनुष्यों की दो श्रेणियाँ हैं, वे जो भगवान् के नियमों के पालक हैं और वे जो नास्तिक हैं तथा ईश्वर के अस्तित्व को न मानते हुए अपने नियम बनाना चाहते हैं। वे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि हर व्यक्ति अपने नियम या अपना धर्म-पंथ बना सकता है। इन दोनों श्रेणियों के अस्तित्व के प्रारम्भ को जाने बिना हम यह निश्चित रूप से मान सकते हैं कि कुछ जीवों ने भगवान् के नियमों के विरुद्ध विद्रोह किया होगा। ऐसे जीव बद्धजीव कहलाते हैं, क्योंकि वे तीनों गुणों से बँधे होते हैं। इसीलिए यहाँ पर *गुणैर्विचित्रा:* शब्द व्यवहृत हुए हैं।

इस संसार में चौरासी लाख योनियाँ हैं। आत्माओं के रूप में ये सभी इस जगत से परे हैं। तो फिर वे जीवन की विभिन्न अवस्थाओं में अपने आपको क्यों प्रदर्शित करते हैं? इसका यहाँ उत्तर दिया गया है। वे प्रकृति के तीन गुणों के चक्र के अधीन रहते हैं। चूँकि उनकी उत्पत्ति भौतिक शक्ति से हुई, अत: उनके शरीर भौतिक तत्त्वों से बने होते हैं। भौतिक शरीर से

आच्छदित होने के कारण आध्यात्मिक स्वरूप समाप्त हो जाता है। इसीलिए यहाँ पर *मुमुहे* शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिससे इंगित होता है कि वे अपना आध्यात्मिक स्वरूप भूल गये हैं। आध्यात्मिक स्वरूप की यह विस्मृति जीवों में पाई जाती है, क्योंकि वे प्रकृति की शक्ति से आच्छादित होने के कारण बद्ध रहते हैं। एक अन्य शब्द भी प्रयुक्त हुआ है *ज्ञान गूहया*। गूहा का अर्थ है आवरण। चूँकि छोटे-छोटे बद्धजीवों का ज्ञान आच्छादित रहता है, अत: वे अनेक योनियों में प्रकट होते हैं। *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध के सातवें अध्याय में कहा गया है, ''जीव भौतिक शक्ति से मोहित रहते हैं।'' वेदों में भी कहा गया है कि शाश्वत जीवात्माएँ विभिन्न गुणों से आच्छादित रहती हैं और वे तिरंगी जीव लाल, सफेद तथा नीली कहलाती हैं। लाल रंग रजोगुण का प्रतीक है, श्वेत सतोगुण का और नीला तमोगुण का प्रतीक है। ये प्रकृति के गुण भौतिक शक्ति से सम्बन्धित होते हैं, फलत: विभिन्न गुणों के अन्तर्गत जीव भिन्न प्रकार के शरीर पाते हैं। चूँकि वे अपनी आध्यात्मिक पहचान के प्रति विस्मरणशील रहते हैं, अत: शरीरों को आत्मा (स्व) मानते हैं। बद्धजीव के लिए 'मुझ' का अर्थ शरीर है। यह मोह कहलाता है।

कठोपनिषद् में बारम्बार कहा गया है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कभी भी भौतिक प्रकृति द्वारा प्रभावित नहीं होते। वे तो दर असल बद्धजीव या परमेश्वर के अत्यन्त सूक्ष्म अंश हैं जिन पर भौतिक प्रकृति का प्रभाव पड़ता है और जो भौतिक गुणों के अधीन विभिन्न शरीरों में दिखाई पड़ते हैं।

एवं पराभिध्यानेन कर्तृत्वं प्रकृते: पुमान् ।
कर्मसु क्रियमाणेषु गुणैरात्मनि मन्यते ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; **पर**—अन्य; **अभिध्यानेन**—पहचान से; **कर्तृत्वम्**—कर्म का सम्पादन; **प्रकृते:**—प्रकृति का; **पुमान्**—जीवात्मा; **कर्मसु क्रियमाणेषु**—कर्म करते समय; **गुणै:**—तीन गुणों के द्वारा; **आत्मनि**—अपने आपको; **मन्यते**—मानता है।

अपनी विस्मृति के कारण दिव्य जीवात्मा प्रकृति के प्रभाव को अपना कर्मक्षेत्र मान बैठता है और इस प्रकार प्रेरित होकर त्रुटिवश अपने को कर्मों का कर्ता मानता है।

तात्पर्य : भुलक्कड़ जीव की तुलना उस व्यक्ति से की जा सकती है, जो रोग के कारण पगला जाता है अथवा जिसे भूत लग गया हो और जो अनियन्त्रित कर्म करते हुए भी अपने को नियन्त्रित समझता है। प्रकृति के वशीभूत होकर बद्धजीव भौतिक चेतना में लीन रहता है। इस चेतना में बद्धजीव भौतिकशक्ति के वशीभूत होकर जो भी करता है उसे वह आत्म-प्रेरित मान बैठता है। वास्तव में आत्मा को अपनी शुद्ध अवस्था में कृष्णचेतना में रहना चाहिए। जब कोई व्यक्ति कृष्णचेतना में कार्य नहीं करता तो समझा जाता है कि वह भौतिक चेतना में कार्य कर रहा है। चेतना मारी नहीं जा सकती, क्योंकि जीव का लक्षण ही चेतना है। भौतिक चेतना को केवल शुद्ध करना पड़ता है। कृष्ण या परमेश्वर को स्वामी के रूप में स्वीकर करने तथा अपनी चेतना को भौतिक से कृष्णचेतना में बदल देने से मनुष्य मुक्त हो जाता है।

तदस्य संसृतिर्बन्धः पारतन्त्र्यं च तत्कृतम् ।
भवत्यकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः ॥ ७॥

शब्दार्थ

तत्—भ्रान्त धारणा से; अस्य—जीव का; संसृतिः—बद्ध जीवन; बन्धः—बन्धनः; पार-तन्त्र्यम्—पराधीन, निर्भरता; च—तथा; तत्-कृतम्—उससे निर्मित; भवति—है; अकर्तुः—अकर्ता का; ईशस्य—स्वतन्त्र; साक्षिणः—साक्षी, गवाह; निर्वृत-आत्मनः—प्रकृति से प्रसन्न।

भौतिक चेतना ही मनुष्य के बद्धजीवन का कारण है, जिसमें परिस्थितियाँ जीव पर हाबी हो जाती हैं। यद्यपि आत्मा कुछ भी नहीं करता और ऐसे कर्मों से परे रहता है, किन्तु इस प्रकार वह बद्धजीवन से प्रभावित होता है।

तात्पर्य : मायावादी विचारक, जो परम आत्मा तथा व्यष्टि आत्मा में अन्तर नहीं कर पाता, कहता है कि जीव की बद्धावस्था उसकी लीला है। किन्तु लीला का अर्थ है भगवान् के कार्यकलापों में नियोजित होना। मायावादी इस शब्द का गलत प्रयोग करते हैं और कहते हैं कि भले ही जीव मलभक्षी शूकर क्यों न बन जावे, वह अपनी लीलाओं का आनन्द भोगता है। यह अत्यंत घातक व्याख्या है। वस्तुतः परमेश्वर समस्त जीवों के नायक तथा पालक हैं। उनकी लीलाएँ किसी भी भौतिक कार्य से परे हैं। भगवान् की ऐसी लीलाओं को जीव के बद्धकर्मों तक घसीट कर नीचे नहीं लाया जा सकता। बद्धजीवन में जीव भौतिक शक्ति के हाथों में बन्दी

जैसा बना रहता है। भौतिक शक्ति जो भी कराती है, बद्धजीव करता है। उसका अपना कोई उत्तरदायित्व नहीं रहता, वह कर्म का साक्षी मात्र रहता है। किन्तु उसे कृष्ण के साथ अपने शाश्वत सम्बन्ध को न समझने के अपराध में ऐसा करने के लिए बाध्य किया जाता है। इसीलिए भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* में कहते हैं कि माया इतनी प्रबल है कि वह दुर्लंघ्य होती है। किन्तु यदि जीव केवल इतना ही जान ले कि उसकी स्वाभाविक स्थिति कृष्ण की सेवा करना है और यदि वह इस नियम के अनुसार कार्य करता चले तो वह कितना ही बद्ध क्यों न रहे, माया का प्रभाव तुरन्त दूर हो जाता है। *भगवद्गीता* के सप्तम अध्याय में इसका स्पष्ट कथन हुआ है। जो कोई असहाय होने के कारण कृष्ण की शरण लेता है, उसका भार कृष्ण ले लेते हैं और इस तरह माया का प्रभाव मिट जाता है।

आत्मा वास्तव में सच्चिदानन्द है शाश्वत, आनन्द तथा ज्ञान से पूर्ण है। किन्तु माया के चंगुल में वह बारम्बार जन्म, मृत्यु, रोग तथा वृद्धावस्था का कष्ट पाता है। मनुष्य को इस सांसारिक परिस्थिति से निबटने तथा अपने आपको कृष्णभक्ति तक लाने के लिए उद्योगशील रहना होता है, क्योंकि इस तरह उसके दीर्घकालीन कष्टों का सहज ही अन्त हो सकता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि बद्धजीव को जो कष्ट मिलता है, वह प्रकृति के प्रति उसकी आसक्ति के फलस्वरूप होता है। इसलिए इस आसक्ति को जड़ पदार्थ से श्रीकृष्ण में स्थानान्तरित कर दिया जाना चाहिए।

कार्यकारणकर्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः ।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

कार्य—शरीर; कारण—इन्द्रियाँ; कर्तृत्वे—देवताओं के विषय में; कारणम्—कारण; प्रकृतिम्—प्रकृति; विदुः—विद्वान समझते हैं; भोक्तृत्वे—अनुभव के विषय में; सुख—सुख का; दुःखानाम्—तथा दुख का; पुरुषम्—आत्मा; प्रकृतेः—प्रकृति का; परम्—दिव्य।

बद्धजीव के शरीर, इन्द्रियों तथा इन्द्रियों के अधिष्ठता देवों का कारण भौतिक प्रकृति है। इसे विद्वान मनुष्य जानते हैं। स्वभाव से दिव्य, ऐसे आत्मा के सुख तथा दुख जैसे अनुभव स्वयं आत्मा द्वारा उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जब भगवान् इस संसार में अवतरित होते हैं, तो वे आत्ममाया द्वारा पुरुष के रूप में आते हैं। वे किसी परा प्रकृति द्वारा बाध्य नहीं किये जाते। वे स्वेच्छा से आते हैं और इसे ही उनकी 'लीला' कहा जा सकता है। किन्तु यहाँ स्पष्ट रूप से कहा गया है कि बद्धजीव को प्रकृति के तीन गुणों के अधीन किसी विशेष प्रकार का शरीर तथा इन्द्रियाँ धारण करने के लिए बाध्य किया जाता है। उसे यह शरीर अपनी रुचि के अनुसार प्राप्त नहीं होता। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि बद्धजीव को स्वतन्त्र चुनाव करने की छूट नहीं होती; उसे अपने कर्म के अनुसार कोई-न-कोई शरीर स्वीकार करना पड़ता है। किन्तु जब शारीरिक प्रतिक्रियाएँ होती हैं जैसी कि सुख तथा दुख में अनुभव की जाती हैं, तो यह समझना चाहिए कि इसका कारण स्वयं आत्मा है। यदि आत्मा चाहे तो इस द्वैतपूर्ण बद्ध जीवन को कृष्ण की सेवा ग्रहण करके बदल सकता है। जीव ही अपने कष्टों का कारण है, किन्तु वह अपने शाश्वत सुख का भी कारण हो सकता है। जब वह कृष्णभक्ति में प्रवृत्त होना चाहता है, तो भगवान् की आध्यात्मिक शक्ति द्वारा उसे उपयुक्त शरीर प्रदान किया जाता है और जब वह अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करना चाहता है, तो उसे भौतिक शरीर प्रदान किया जाता है। अत: आध्यात्मिक शरीर या भौतिक शरीर स्वीकार करना जीव के मनचाहे चुनाव पर निर्भर करता है, किन्तु एक बार शरीर स्वीकार कर लेने पर सुख या दुख उठाना पड़ता है। मायावादी चिन्तक का कहना है कि जीव शूकर का शरीर धारण करके भी अपनी लीलाओं का आनन्द उठाता है। किन्तु यह मत स्वीकार्य नहीं है, क्योंकि 'लीला' शब्द भोग की स्वेच्छ स्वीकृति के लिए प्रयुक्त होता है। अत: यह व्याख्या अत्यन्त भ्रामक है। जब दुख को बाध्य होकर स्वीकार करना पड़े तो वह 'लीला' नहीं है। भगवान् की लीलाएँ तथा बद्धजीव द्वारा कर्मफल की स्वीकृति समान धरातल पर नहीं होतीं।

देवहूतिरुवाच

प्रकृते: पुरुषस्यापि लक्षणं पुरुषोत्तम ।
ब्रूहि कारणयोरस्य सदसच्च यदात्मकम् ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

देवहूतिः उवाच—देवहूति ने कहा; प्रकृतेः—शक्तियों का; पुरुषस्य—परम पुरुष की; अपि—भी; लक्षणम्—लक्षण; पुरुष-उत्तम—हे भगवान्; ब्रूहि—कहें; कारणयोः—कारण; अस्य—इस सृष्टि का; सत्-असत्—प्रकट तथा अप्रकट; च—तथा; यत्-आत्मकम्—जिससे युक्त।

देवहूति ने कहा : हे भगवान्, आप परम पुरुष तथा उनकी शक्तियों के लक्षण कहें, क्योंकि ये दोनों इस प्रकट तथा अप्रकट सृष्टि के कारण हैं।

तात्पर्य : प्रकृति का सम्बन्ध परमेश्वर तथा जीवात्मा दोनों से है, ठीक वैसे ही है जैसे कि स्त्री अपने पति से पत्नी के रूप में और बच्चों से माता के रूप में सम्बन्धित होती है। *भगवद्गीता* में भगवान् का कथन है कि वे माता प्रकृति के गर्भ में जीवात्मा रूप सन्तानों को प्रविष्ट कराते हैं और फिर जीवों की समस्त योनियाँ प्रकट होती हैं। प्रकृति के साथ समस्त जीवों के सम्बन्ध की व्याख्या की जा चुकी है। अब देवहूति प्रकृति तथा परमेश्वर के बीच जो सम्बन्ध पाया जाता है उसके विषय में पूछती हैं। इस सम्बन्ध का परिणाम (फल) प्रकट तथा अप्रकट जगत बताया गया है। अप्रकट जगत सूक्ष्म महत् तत्त्व है और इस महत् तत्त्व से दृश्य जगत प्रकट हुआ।

वैदिक साहित्य में बतलाया गया है कि परमेश्वर की दृष्टि डालने ही सारी भौतिक शक्ति प्रविष्ट हो जाती है और तब प्रकृति से प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है। *भगवद्गीता* के नवें अध्याय में भी पुष्टि की गई है कि उन्हीं की दृष्टि के अन्तर्गत–*अध्यक्षेण* अर्थात् उनके निर्देशन तथा उन्हीं की इच्छा से प्रकृति कार्य करती है। ऐसा नहीं कि प्रकृति मनमाने ढंग से कार्य करती है। प्रकृति के प्रसंग में बद्धजीवों की स्थिति को समझते हुए देवहूति ने जानना चाहा कि प्रकृति कैसे भगवान् के निर्देशन में कार्य करती है और प्रकृति तथा भगवान् के बीच कैसा सम्बन्ध होता है। दूसरे शब्दों में, उन्होंने यह जानना चाहा कि प्रकृति के सन्दर्भ में भगवान् के गुण क्या हैं।

जीवात्मा का पदार्थ से और परमेश्वर का पदार्थ से जो सम्बन्ध है, वह समान स्तर पर नहीं है, भले ही मायावादी ऐसा कहते रहें। जब यह कहा जाता है कि जीवात्माएँ मोहग्रस्त होती हैं, तो मायावादी इस मोह को परमेश्वर पर आरोपित करते हैं। किन्तु ऐसा होता नहीं है। ईश्वर कभी मोहग्रस्त नहीं होते। सगुणवादियों तथा निर्गुणवादियों का यही अन्तर है। देवहूति अज्ञानी

नहीं हैं। वे इतना तो समझती ही थीं कि जीवात्माएँ परमेश्वर के समान स्तर पर नहीं हैं। अत्यन्त लघु होने के कारण जीवात्माएँ प्रकृति द्वारा मोहग्रस्त या बद्ध होती रहती हैं, किन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं है कि परमेश्वर भी बद्ध या मोहग्रस्त होता है। बद्धजीव तथा भगवान् के बीच का अन्तर यही है कि भगवान् प्रकृति के स्वामी हैं, अत: वे प्रकृति के वश में नहीं होते। वे न तो आध्यात्मिक प्रकृति के वशीभूत हैं, न ही भौतिक प्रकृति के। वे स्वयं परम नियन्ता हैं, उनकी तुलना सामान्य जीवों से नहीं की जा सकती जो प्रकृति के नियमों द्वारा नियन्त्रित होते हैं।

इस श्लोक में *सत्* तथा *असत्* इन दो शब्दों का प्रयोग हुआ है। दृश्य जगत असत् है यह विद्यमान नहीं है, किन्तु भगवान् की भौतिक शक्ति सत् अर्थात् चिर विद्यमान है। प्रकृति सूक्ष्म रूप में भगवान् की शक्ति के रूप में विद्यमान रहती है, किन्तु कभी-कभी यह क्षणिक होती है। यहाँ पर माता तथा पिता का दृष्टान्त दिया जा सकता है माता तथा पिता दोनों का अस्तित्व है, किन्तु माता बच्चे उत्पन्न करती है। इसी प्रकार यह दृश्य जगत, जो परमेश्वर की अदृश्य प्रकृति से उत्पन्न है कभी प्रकट होता है और कभी अदृश्य हो जाता है। किन्तु प्रकृति सदैव रही आती है और भगवान् इस जगत के सूक्ष्म तथा स्थूल दोनों ही स्वरूपों के परम कारण हैं।

श्रीभगवानुवाच
यत्तत्त्रिगुणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
प्रधानं प्रकृतिं प्राहुरविशेषं विशेषवत् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; यत्—अब आगे; तत्—वह; त्रि-गुणम्—तीन गुणों का संयोग; अव्यक्तम्—अप्रकट; नित्यम्—शाश्वत; सत्-असत्-आत्मकम्—कार्य तथा कारण से युक्त; प्रधानम्—प्रधान; प्रकृतिम्—प्रकृति; प्राहु:—कहते हैं; अविशेषम्—जिसमें अन्तर न किया जा सके; विशेष-वत्—अन्तर से युक्त।

भगवान् ने कहा : तीनों गुणों का अप्रकट शाश्वत संयोग ही प्रकट अवस्था का कारण है और प्रधान कहलाता है। जब यह प्रकट अवस्था में होता है, तो इसे प्रकृति कहते हैं।

तात्पर्य : भगवान् इंगित करते हैं कि प्रकृति सूक्ष्म अवस्था में होती है, जिसे प्रधान कहते हैं और वे इस प्रधान का विवेचन करते हैं। प्रधान एवं प्रकृति की व्याख्या यों है कि *प्रधान*

सूक्ष्म है, समस्त भौतिक तत्त्वों का निर्विशेष सार है। यद्यपि ये निर्विशेष हैं, किन्तु यह समझा जा सकता है कि उसमें सार तत्त्व निहित हैं। जब तीनों गुणों के द्वारा समस्त भौतिक तत्त्व प्रकट होते हैं, तो यही प्राकट्य प्रकृति कहलाती है। निराकारवादी कहते हैं कि ब्रह्म में कोई विविधता व भिन्नता नहीं है। अत: यह कहा जा सकता है कि प्रधान ब्रह्म-अवस्था है, किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। प्रधान ब्रह्म से भिन्न है, क्योंकि ब्रह्म में प्रकृति के तीनों गुणों का अस्तित्व नहीं रहता। यह तर्क किया जा सकता है कि महत् तत्त्व भी प्रधान से भिन्न है, क्योंकि महत् तत्त्व में प्राकट्य होता है। किन्तु यहाँ प्रधान की वास्तविक व्याख्या दी गई है। जब कार्य-कारण स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं होते (अव्यक्त) तो समस्त तत्त्वों में कोई प्रतिक्रिया नहीं होती और प्रकृति की इस अवस्था को प्रधान कहते हैं। प्रधान कालतत्त्व भी नहीं है, क्योंकि काल में कार्य-कारण, सृष्टि तथा प्रलय होते हैं। न तो यह जीव है, न उपाधिमय बद्धजीव है, क्योंकि जीवों की उपाधियाँ शाश्वत नहीं हैं। इस प्रसंग में *नित्य* विशेषण के रूप में प्रयुक्त है, जो शाश्वतता का सूचक है। अत: अपने प्राकट्य के पूर्व प्रकृति की अवस्था प्रधान कहलाती है।

पञ्चभिः पञ्चभिर्ब्रह्म चतुर्भिर्दशभिस्तथा ।
एतच्चतुर्विंशतिकं गणं प्राधानिकं विदुः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

पञ्चभिः—पाँच सहित (स्थूल तत्त्व); **पञ्चभिः**—पाँच (सूक्ष्म तत्त्व); **ब्रह्म**—ब्रह्म; **चतुर्भिः**—चार (अन्त:करण); **दशभिः**—दस (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ); **तथा**—उस प्रकार से; **एतत्**—यह; **चतुः-विंशतिकम्**—चौबीस तत्त्वों वाला; **गणम्**—समूह; **प्राधानिकम्**—प्रधान से युक्त; **विदुः**—जानते हैं।

पाँच स्थूल तत्त्व, पाँच सूक्ष्म तत्त्व, चार अन्त:करण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ इन चौबीस तत्त्वों का यह समूह प्रधान कहलाता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के अनुसार यहाँ पर वर्णित चौबीस तत्त्वों का समूह *योनिर्महद्ब्रह्म* कहलाता है। सारे जीव इसी *योनिर्महद्ब्रह्म* में समाये हैं और वे विभिन्न रूपों में—ब्रह्म से लेकर चींटी तक में—उत्पन्न होते हैं। *श्रीमद्भागवत* तथा अन्य वैदिक ग्रन्थों में भी चौबीस तत्त्वों का

यह समूह अथवा प्रधान योनिर्महद्ब्रह्म के रूप में वर्णित है; यह समस्त जीवों के जन्म तथा पालन का स्रोत है।

महाभूतानि पञ्चैव भूरापोऽग्निर्मरुन्नभः ।
तन्मात्राणि च तावन्ति गन्धादीनि मतानि मे ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

महा-भूतानि—स्थूल तत्त्व; पञ्च—पाँच; एव—ठीक-ठीक; भूः—पृथ्वी; आपः—जल; अग्निः—अग्नि; मरुत्—वायु; नभः—आकाश; तत्-मात्राणि—सूक्ष्म तत्त्व; च—तथा; तावन्ति—इतने सारे; गन्ध-आदीनि—गंध इत्यादि (स्वाद, रंग, स्पर्श तथा ध्वनि); मतानि—माने जाते हैं; मे—मेरे द्वारा।

पाँच स्थूल तत्त्वों के नाम हैं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश (शून्य)। सूक्ष्म तत्त्व भी पाँच हैं—गंध, स्वाद, रंग, स्पर्श तथा शब्द (ध्वनि)।

इन्द्रियाणि दश श्रोत्रं त्वग्दृग्रसननासिकाः ।
वाक्करौ चरणौ मेढ्रं पायुर्दशम उच्यते ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; दश—दस; श्रोत्रम्—श्रवणेन्द्रिय; त्वक्—स्पर्शेन्द्रिय; दृक्—दृष्टि की इन्द्रिय; रसन—स्वाद की इन्द्रिय; नासिकाः—गन्ध की इन्द्रिय; वाक्—वाणी की इन्द्रिय; करौ—दो हाथ; चरणौ—चलने की इन्द्रियाँ (पाँव); मेढ्रम्—जननेन्द्रिय; पायुः—मलत्याग की इन्द्रिय; दशमः—दसवीं; उच्यते—कहलाती है।

ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों को मिलाकर इनकी संख्या दस है। ये हैं—श्रवणेन्द्रिय, स्वादेन्द्रिय, स्पर्शेन्द्रिय दृश्येन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, वागेन्द्रिय, कार्य करने की इन्द्रियाँ, चलने की इन्द्रियाँ, जननेन्द्रियाँ तथा मलत्याग इन्द्रियाँ।

मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तमित्यन्तरात्मकम् ।
चतुर्धा लक्ष्यते भेदो वृत्त्या लक्षणरूपया ॥ १४ ॥

शब्दार्थ

मनः—मन; बुद्धिः—बुद्धि; अहङ्कारः—अहंकार; चित्तम्—चेतना; इति—इस प्रकार; अन्तः-आत्मकम्—आन्तरिक सूक्ष्म इन्द्रियाँ; चतुः-धा—चार प्रकार की; लक्ष्यते—देखी जाती हैं; भेदः—अन्तर; वृत्त्या—अपने कार्यों से; लक्षण-रूपया—विभिन्न लक्षणों द्वारा।

आन्तरिक सूक्ष्म इन्द्रियाँ मन, बुद्धि, अहंकार तथा कलुषित चेतना के रूप में चार प्रकार की जानी जाती हैं। उनके विभिन्न कार्यों के अनुसार ही इनमें भेद किया जा सकता है क्योंकि ये विभिन्न लक्षणों को बताने वाली हैं।

तात्पर्य : चार आन्तरिक या सूक्ष्म इन्द्रियाँ, जिनका यहाँ पर वर्णन हुआ है वे अपने विभिन्न लक्षणों से परिभाषित की जाती हैं। जब शुद्ध चेतना भौतिक कल्मष से दूषित हो जाती है और देहात्मबुद्धि प्रधान हो तो कहा जाता है कि मनुष्य अहंकार के वशीभूत है। चेतना आत्मा का कर्म है, अत: चेतना के पीछे आत्मा रहता है। भौतिक कल्मष से दूषित चेतना अहंकार कहलाती है।

एतावानेव सङ्ख्यातो ब्रह्मण: सगुणस्य ह ।
सन्निवेशो मया प्रोक्तो य: काल: पञ्चविंशक: ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

एतावान्—इतना; एव—ही; सङ्ख्यात:—गिनाया गया; ब्रह्मण:—ब्रह्म का; स-गुणस्य—भौतिक गुणों से युक्त; ह—निस्सन्देह; सन्निवेश:—प्रबन्ध; मया—मेरे द्वारा; प्रोक्त:—कहा गया; य:—जो; काल:—समय; पञ्च-विंशक:—पच्चीसवाँ।

इन सबको सुयोग्य ब्रह्म माना जाता है। इन सबको मिलाने वाला तत्त्व काल है, जिसे पच्चीसवें तत्त्व के रूप में गिना जाता है।

तात्पर्य : वैदिक कथन के अनुसार ब्रह्म के परे कोई अस्तित्व नहीं है—*सर्व खल्विदं ब्रह्म* (*छान्दोग्य उपनिषद्* ३.१४.१)। *विष्णु-पुराण* में भी कहा गया है कि जो कुछ हम देखते हैं वह *परस्य ब्रह्मण: शक्ति:*—प्रत्येक वस्तु परम सत्य ब्रह्म के विस्तार की शक्ति है। जब ब्रह्म को सतो, रजो तथा तमो गुणों के साथ मिला दिया जाता है, तो भौतिक विस्तार होता है, जिसे कभी-कभी *सगुण* ब्रह्म कहते हैं जिसमें ये पच्चीसों तत्त्व रहते हैं। *निर्गुण* ब्रह्म में कोई भौतिक कल्मष नहीं रहता अथवा आध्यात्मिक जगत (वैकुण्ठ) में सतो, रजो तथा तमो—ये तीनों गुण नहीं रहते। जहाँ *निर्गुण* ब्रह्म विद्यमान रहता है, वहाँ शुद्ध सत्त्व पाया जाता है। सांख्य दर्शन के अनुसार *सगुण* ब्रह्म में पच्चीस तत्त्व सम्मिलित हैं जिनमें काल (भूत, वर्तमान तथा भविष्य) भी है।

प्रभावं पौरुषं प्राहु: कालमेके यतो भयम् ।
अहङ्कारविमूढस्य कर्तु: प्रकृतिमीयुष: ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

प्रभावम्—प्रभाव; **पौरुषम्**—भगवान् का; **प्राहु:**—कहा गया है; **कालम्**—काल; **एके**—कुछ; **यत:**—जिससे; **भयम्**—भय; **अहङ्कार-विमूढस्य**—अहंकार से विमूढ़; **कर्तु:**—आत्मा का; **प्रकृतिम्**—प्रकृति को; **ईयुष:**—स्पर्श करके।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का प्रभाव काल में अनुभव किया जाता है, क्योंकि यह भौतिक प्रकृति के सम्पर्क में आने वाले मोहित आत्मा के अहंकार के कारण मृत्यु का भय उत्पन्न करता है।

तात्पर्य : जीव को मृत्यु का भय उसमें देहात्मबोध के कारण अहंकार की उत्पत्ति से होता है। हर कोई मृत्यू से भयभीत रहता है वास्तव में आत्मा की मृत्यु नहीं होती, किन्तु देहात्मबोध के कारण मृत्यु-भय उत्पन्न होता है। *श्रीमद्भागवत* (११.२.३७) में कहा गया है—*भयं द्वितीयाभिनिवेशत: स्यात्*। द्वितीय का अर्थ है भौतिक पदार्थ, जो आत्मा के परे है। पदार्थ आत्मा का गौण प्राकट्य है, क्योंकि पदार्थ आत्मा से प्रसूत है। जिस प्रकार यहाँ पर वर्णित भौतिक तत्त्व परमेश्वर या परमात्मा द्वारा उत्पन्न हैं उसी प्रकार शरीर भी आत्मा की उपज है। इसीलिए शरीर को *द्वितीय* कहा गया है। जब मनुष्य इस द्वितीय तत्त्व या आत्मा के द्वितीय प्रदर्शन में तल्लीन रहता है, तो वह मृत्यु से भयभीत रहता है। जब उसे यह पूर्ण विश्वास हो जाता है कि वह अपना शरीर नहीं है, तो मृत्यु से डरने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि आत्मा कभी मरता नहीं।

यदि आत्मा भक्ति के आध्यात्मिक कर्म में लग जाता है, तो वह जन्म तथा मृत्यु से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। उसकी अगली स्थिति देह से पूर्ण विमुक्ति होती है। मृत्यु-भय काल का प्रभाव है, जो परमेश्वर के प्रभाव का द्योतक है। दूसरे शब्दों में, काल विध्वंसक है। काल भगवान् का प्रतिनिधित्व करता है और यह हमें इसका भी स्मरण कराता है कि हम ईश्वर की शरण ग्रहण करें। ईश्वर हर बद्धजीव से काल के रूप में बातें करते हैं। भगवान् *भगवद्गीता* में कहते हैं कि यदि कोई मेरी शरण में आ जाता है, तो फिर जन्म तथा मृत्यु की कोई समस्या नहीं रह जाती। अत: हमें काल को अपने समक्ष खड़े हुए भगवान् के रूप में मानना चाहिए। इसकी विशद व्याख्या अगले श्लोक में की गई है।

प्रकृतेर्गुणसाम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि ।
चेष्टा यतः स भगवान्काल इत्युपलक्षितः ॥ १७॥

शब्दार्थ

प्रकृतेः—प्रकृति का; गुण-साम्यस्य—तीनों गुणों की क्रिया के बिना; निर्विशेषस्य—विशिष्ट गुणों से रहित; मानवि—हे मनु पुत्री; चेष्टा—गति; यतः—जिससे; सः—वह; भगवान्—श्रीभगवान्; कालः—समय, काल; इति—इस प्रकार; उपलक्षितः—नाम रखा जाता है।

हे स्वायंभुव-पुत्री, हे माता, जैसा कि मैने बतलाया काल ही श्रीभगवान् है, जिससे उदासीन (समभाव) एवं अप्रकट प्रकृति के गतिमान होने से सृष्टि प्रारम्भ होती है।

तात्पर्य : प्रकृति की अप्रकट अवस्था, प्रधान, की व्याख्या की जा रही है। भगवान् कहते हैं कि जब भगवान् को दृष्टि से यह अप्रकट प्रकृति विक्षुब्ध होती है, तो यह नाना प्रकार से अपने को प्रकट करती है। इस विक्षुब्धावस्था के पूर्व वह निष्क्रिय पड़ी रहती है, उसमें प्रकृति के तीनों गुणों के द्वारा कोई अन्तःक्रिया नहीं होती। दूसरे शब्दों में, भगवान् का सम्पर्क पाये बिना प्रकृति किसी प्रकार का प्राकट्य नहीं कर सकती। *भगवद्गीता* में इसका अत्यन्त सुन्दर वर्णन हुआ है। श्रीभगवान् प्रकृति के उत्पादों के कारण हैं। उनके सम्पर्क के बिना प्रकृति कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकती।

इस प्रसंग में *चैतन्य-चरितामृत* में एक अत्यन्त उपयुक्त उदाहरण मिलता है। यद्यपि बकरी के गलस्तन स्तनों जैसे ही प्रतीत होते हैं, किन्तु उनसे दूध नहीं निकलता। इसी प्रकार भौतिक विज्ञानी को यह प्रकृति आश्चर्यजनक ढंग से क्रिया-प्रतिक्रिया करती प्रतीत होती है, किन्तु वास्तव में उत्प्रेरक अर्थात् भगवान् के प्रतिनिधि स्वरूप, काल, के बिना यह कार्य नहीं कर सकती। काल प्रकृति की निष्क्रिय अवस्था (साम्यावस्था) को विक्षुब्ध करता है, जिससे प्रकृति नाना प्रकार से प्रकट होने लगती है। अन्ततः यह कहा जाता है कि भगवान् ही सृष्टि के कारण हैं। जिस प्रकार पुरुष से गर्भधारण किये बिना कोई स्त्री सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकती उसी प्रकार यह प्रकृति काल रूप भगवान् से गर्भाधान किये बिना कुछ भी उत्पन्न नहीं कर सकती।

अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः ।

समन्वेत्येष सत्त्वानां भगवानात्ममायया ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

अन्तः—भीतर; **पुरुष-रूपेण**—परमात्मा के रूप में; **काल-रूपेण**—काल के रूप में; **यः**—वह जो; **बहिः**—बाह्य; **समन्वेति**—विद्यमान है; **एषः**—वह; **सत्त्वानाम्**—समस्त जीवों का; **भगवान्**—श्रीभगवान्; **आत्म-मायया**—अपनी शक्तियों द्वारा।

पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपनी शक्तियों का प्रदर्शन करते हुए अपने आपको भीतर से परमात्मा रूप में और बाहर काल-रूप में रखकर विभिन्न तत्त्वों का समन्वयन करते हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर यह कहा गया है कि हृदय के भीतर भगवान् परमात्मा-रूप में निवास करते हैं। *भगवद्गीता* में भी इसी अवस्था का वर्णन हुआ है—परमात्मा व्यष्टि आत्मा के ही निकट निवास करता है और साक्षी रूप में कार्य करता है। वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी इसकी पुष्टि की गई है—दो पक्षी शरीर रूपी एक ही वृक्ष पर बैठे हैं—एक साक्षी स्वरूप है और दूसरा वृक्ष के फलों को खा रहा है। यह पुरुष या परमात्मा, जो प्रत्येक जीव के शरीर के भीतर निवास करता है उसे *भगवद्गीता* (१३.२३) में उपद्रष्टा या साक्षी तथा अनुमन्ता या अधिकार प्रदान करने वाला कहा गया है। बद्धजीव भगवान् की बहिरंगा शक्ति की व्यवस्था से उसे मिले है, शरीर विशेष के सुख-दुख में लगा रहता है। किन्तु परमात्मा या परम पुरुष बद्धजीव से भिन्न है। उसे *भगवद्गीता* में महेश्वर कहा गया है, वह परमात्मा है, जीवात्मा नहीं। परमात्मा का अर्थ है, जो बद्धजीव के पास बैठा हुआ है और उसे कर्म के लिए स्वीकृति प्रदान करने वाला है। बद्धजीव इस संसार में प्रकृति को भोगने के लिए आता है। चूँकि कोई भी परमेश्वर की अनुमति के बिना कुछ भी नहीं कर सकता, अत: परमेश्वर जीवात्मा के साथ साक्षी तथा अनुमतिप्रदाता के रूप में रहता है। वह भोक्ता भी है, क्योंकि वह बद्धजीव का पालन करता है और उसे आश्रय प्रदान करता है।

चूँकि जीवात्मा स्वाभाविक रूप से भगवान् का ही भिन्नांश है, अत: भगवान् उस पर अत्यन्त वत्सल रहते हैं। दुर्भाग्यवश जब जीवात्मा बहिरंगा शक्ति के द्वारा मोहग्रस्त हो जाता है, तो वह भगवान् के प्रति अपने शाश्वत सम्बन्ध को भूल जाता है, किन्तु अपनी स्वाभाविक

स्थिति का ज्ञान होते ही वह मुक्त हो जाता है। बद्धजीव की अत्यल्प स्वच्छंदता उसकी रटस्था स्थिति के द्वारा प्रदर्शित होती है, चाहे तो वह भगवान् को भुला सकता है और इस संसार में प्रकृति को भोगने का अहंकार कर सकता है, किन्तु चाहे तो वह भगवान् की सेवा की ओर मुड़ सकता है। व्यष्टि जीवात्मा को इतनी स्वतन्त्रता (छूट) प्राप्त है। ज्योंही वह भगवान् की ओर उन्मुख होता है कि उसका बद्ध जीवन समाप्त हो जाता है और जीवन सफल हो जाता है, किन्तु अपनी स्वतन्त्रता के दुरुपयोग से वह संसार में प्रविष्ट होता है। फिर भी भगवान् परमात्मा रूप में इतना दयालु हैं कि सदैव बद्धजीव के साथ ही बने रहते हैं। भगवान् का कार्य भौतिक देह से न तो सुख लेना है, न ही कष्ट उठाना। वह जीव के साथ मात्र अनुमतिदाता तथा साक्षी रूप में बने रहते हैं जिससे जीवात्मा को अपने अच्छे या बुरे कर्मों का फल मिल सके।

बद्धजीव के शरीर के बाहर भगवान् काल रूप में बने रहते हैं। सांख्य दर्शन के अनुसार पच्चीस तत्त्व हैं। पहले से वर्णित चौबीस तत्त्व तथा काल मिलाकर पच्चीस तत्त्व होते हैं। कुछ विचारकों के अनुसार परमात्मा को सम्मिलित कर लेने पर तत्त्वों की कुल संख्या छब्बीस हो जाती है।

दैवात्क्षुभितधर्मिण्यां स्वस्यां योनौ परः पुमान् ।
आधत्त वीर्यं सासूत महत्तत्त्वं हिरण्मयम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

दैवात्—जीवों के भाग्य से; क्षुभित—क्षुब्ध; धर्मिण्याम्—जिसका गुण साम्य; स्वस्याम्—निजी, अपना; योनौ—गर्भ (प्रकृति) में; परः पुमान्—परमात्मा; आधत्त—धारण किया हुआ; वीर्यम्—वीर्य (अन्तरंगा शक्ति); सा—उस (प्रकृति) ने; असूत—उत्पन्न किया; महत्-तत्त्वम्—समग्र विराट बुद्धि; हिरण्मयम्—हिरण्मय नामक।

जब भगवान् अपनी अन्तरंगा शक्ति से प्रकृति में व्याप्त होते हैं, तो प्रकृति समग्र विराट बुद्धि को उत्पन्न करती है, जिसे हिरण्मय कहते हैं। यह तब घटित होता है जब प्रकृति बद्धजीवों के गन्तव्यों द्वारा क्षुब्ध की जाती है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (१४.३) में प्रकृति के इस गर्भाधान का वर्णन है। प्रकृति का मुख्य कारक महत् तत्त्व या समस्त विविधताओं के प्रजनन का स्रोत है। प्रकृति का यह अंश, जो प्रधान के साथ ही साथ ब्रह्म भी कहलाता है उसमें श्रीभगवान् द्वारा वीर्य स्थापित (गर्भाधान)

किया जाता है, जिससे नाना प्रकार के जीव उत्पन्न होते हैं। इस प्रसंग में प्रकृति को ब्रह्म कहा गया है, क्योंकि यह आध्यात्मिक प्रकृति का विकृत प्रतिबिम्ब है।

विष्णु-पुराण में वर्णन आया है कि जीवात्माएँ आध्यात्मिक प्रकृति से सम्बन्धित होती हैं। भगवान् की शक्ति आध्यात्मिक है और यद्यपि जीवात्माएँ तटस्था शक्ति कहलाती हैं, किन्तु साथ ही वे आध्यात्मिक होती हैं। यदि जीवात्माएँ आध्यात्मिक न होतीं तो परमेश्वर द्वारा गर्भाधान लागू न होता। जो आध्यात्मिक नहीं है उसमें परमेश्वर अपना वीर्य स्थापित नहीं करते, किन्तु यहाँ उल्लेख है कि वे प्रकृति में वीर्य स्थापित करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि स्वभावत: जीवात्माएँ आध्यात्मिक हैं। गर्भाधान के बाद प्रकृति समस्त प्रकार के जीवों को उत्पन्न करती हैं जिसमें महानतम जीव ब्रह्माजी से लेकर एक लघु चींटी तक विभिन्न प्रकार के जीव होते हैं। *भगवद्गीता* (१४.४) में प्रकृति को स्पष्ट रूप से *सर्वयोनिषु* कहा गया है। इसका अर्थ यह हुआ कि समस्त योनियों—देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी तथा हिंस्र जीव (जो भी प्रकट है) की माता प्रकृति है और भगवान् वीर्यदाता पिता हैं। सामान्य अनुभव यह है कि पिता ही सन्तान को जीवन देता है, किन्तु माता तो उसे शरीर देती है। यद्यपि जीवन का वीर्यदाता पिता है, किन्तु शरीर तो माता के गर्भ में बढ़ता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवात्माएँ प्रकृति के गर्भ में स्थापित की जाती हैं, किन्तु शरीर प्रकृति द्वारा प्रदत्त होता है और वह विभिन्न योनियाँ एवं रूप धारण करता है। यहाँ पर इस सिद्धान्त को समर्थन नहीं मिलता कि जीवन के लक्षण चौबीस तत्त्वों की अन्त:क्रिया से प्रकट होते हैं। जीवनी शक्ति सीधे भगवान् से मिलती है और पूर्णतया आध्यात्मिक होती है। अत: किसी भी प्रकार की भौतिक वैज्ञानिक प्रगति जीवन को उत्पन्न नहीं कर सकती। जीवनी शक्ति आध्यात्मिक जगत (वैकुण्ठ) से आती है, भौतिक तत्त्वों की अन्त:क्रिया से उसका कोई सरोकार नहीं होता।

विश्वमात्मगतं व्यञ्जन्कूटस्थो जगदङ्कुरः ।
स्वतेजसापिबत्तीव्रमात्मप्रस्वापनं तमः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

विश्वम्—ब्रह्माण्ड; आत्म-गतम्—अपने में सन्निहित; व्यञ्जन्—प्रकट करते हुए; कूट-स्थ:—अपरिवर्तनीय; जगत्-अङ्कुर:—समस्त दृश्य जगत का मूल; स्व-तेजसा—अपने ही तेज से; अपिबत्—पी लिया; तीव्रम्—घना; आत्म-प्रस्वापनम्—जिसने महत् तत्त्व को आवृत कर रखा था; तम:—अंधकार।

इस प्रकार तेजस्वी महत् तत्त्व, जिसके भीतर सारे ब्रह्माण्ड समाये हुए हैं, जो समस्त दृश्य जगत का मूल है और जो प्रलय के समय भी नष्ट नहीं होता, अपनी विविधता प्रकट करके उस अंधकार को निगल जाता है, जिसने प्रलय के समय तेज को ढक लिया था।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् सर्वव्यापी, समस्त वरदायक तथा ज्ञान से पूर्ण हैं अत: उनकी विभिन्न शक्तियाँ सुप्तावस्था में भी सदैव विद्यमान रहती हैं। अत: जब महत् तत्त्व की उत्पत्ति की गई तो इससे भौतिक अहंकार उत्पन्न हुआ और इसने दृश्य जगत में व्याप्त प्रलयकालीन अंधकार को निगल लिया। इस विचार की और भी व्याख्या की जा सकती है। रात्रि में मनुष्य रात्रि के अन्धकार से आवृत होकर निष्क्रिय रहता है, किन्तु जब प्रात:काल उसे जगाया जाता है, तो रात्रि का आवरण या सुप्तावस्था की विस्मृति लुप्त हो जाती है। इसी प्रकार जब प्रलयकालीन रात्रि के बाद महत् तत्त्व प्रकट होता है, तो तेज प्रकट होता है, जिससे इस जगत की विविधता दृष्टिगोचर होती है।

यत्तत्सत्त्वगुणं स्वच्छं शान्तं भगवत: पदम् ।
यदाहुर्वासुदेवाख्यं चित्तं तन्महदात्मकम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो; तत्—वह; सत्त्व-गुणम्—सतोगुण; स्वच्छम्—साफ; शान्तम्—शान्त; भगवत:—भगवान् का; पदम्—ज्ञान का पद; यत्—जो; आहु:—कहलाता है; वासुदेव-आख्यम्—वासुदेव के नाम से; चित्तम्—चेतना; तत्—वह; महत्-आत्मकम्—महत् तत्त्व में प्रकट।

सतोगुण, जो भगवान् के ज्ञान की स्वच्छ, सौम्य अवस्था है और जो सामान्यत: वासुदेव या चेतना कहलाता है, महत् तत्त्व में प्रकट होता है।

तात्पर्य : वासुदेव प्राकट्य अथवा भगवान् के ज्ञान की अवस्था शुद्ध-सत्त्व कहलाती है। शुद्ध-सत्त्व अवस्था में अन्य गुणों—यथा रजो तथा तमो गुणों का उल्लंघन नहीं होता। वैदिक ग्रन्थों में भगवान् का विस्तार चार पुरुषों में बताया गया है—वासुदेव, संकर्षण. प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध। यहाँ पर महत् तत्त्व के प्राकट्य में भगवान् के चारों विस्तार रहते हैं। इनमें से जो

परमात्मा के रूप में भीतर स्थित है, वह सबसे पहले वासुदेव के रूप में विस्तार करता है।

वासुदेव अवस्था भौतिक इच्छाओं के उल्लंघन से मुक्त है और यह वह अवस्था है, जिसमें कोई भी श्रीभगवान् को या वह लक्ष्य जिसे *भगवद्गीता* में *अद्भुत* कहा गया है उसे समझ सकता है। महत् तत्त्व का यह अन्य लक्षण है। वासुदेव विस्तार को कृष्णचेतना (भावनामृत) भी कहते हैं, क्योंकि यह काम तथा अज्ञान के सारे रंगो से मुक्त होता है। ज्ञान की यह शुद्ध अवस्था भगवान् को समझने में सहायक होती है। *भगवद्गीता* में वासुदेव अवस्था को क्षेत्रज्ञ भी कहा गया है, जो कर्मक्षेत्र के ज्ञाता तथा परम ज्ञाता का बोध करने वाला है। जीव जो विशिष्ट प्रकार का शरीर धारण करता है उसे वह जानता है, किन्तु परम ज्ञाता वासुदेव न केवल विशेष प्रकार के शरीर को ही, अपितु विभिन्न प्रकार के शरीरों के कर्मक्षेत्र को भी जानता है। स्वच्छ चेतना या कृष्णचेतना प्राप्त करने के लिए मनुष्य को वासुदेव की पूजा करनी होती है। वासुदेव एकाकी कृष्ण ही हैं। जब कृष्ण या विष्णु अकेले होते हैं, उनके साथ उनकी अन्तरंगा शक्ति नहीं रहती, तो वे वासुदेव होते हैं। किन्तु जब वे अपनी अन्तरंगा शक्ति के साथ होते हैं, तो 'द्वारकाधीश' कहलाते हैं। शुद्ध चेतना या कृष्णचेतना पाने के लिए मनुष्य को वासुदेव की पूजा करनी होती है। *भगवद्गीता* में इसका भी उल्लेख है कि अनेकानेक जन्मों के बाद मनुष्य वासुदेव की शरण में जाता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त विरल है।

मिथ्या अहंकार से मुक्ति पाने के लिए संकर्षण की पूजा करनी होती है। संकर्षण की पूजा शिवजी के माध्यम से भी की जाती है। शिवजी के शरीर में लिपटे रहने वाले सर्प संकर्षण के ही रूप हैं और शिवजी सदैव संकर्षण के ध्यान में तल्लीन रहते हैं। जो कोई संकर्षण के ही भक्त रूप में शिवजी की पूजा करता है, वह अहंकार से मुक्त हो सकता है। यदि कोई मानसिक उद्विग्नताओं से मुक्ति चाहता है, तो उसे अनिरुद्ध की पूजा करनी होती है। वैदिक साहित्य में इसके लिए चन्द्रमा की पूजा की भी संस्तुति की गई है। इसी प्रकार अपनी बुद्धि में स्थित रहने के लिए मनुष्य को प्रद्युम्न की पूजा करनी होती है जिन्हें ब्रह्मा की पूजा द्वारा प्राप्त किया जा

सकता है। ये बातें वैदिक ग्रन्थों में बताई गई हैं।

स्वच्छत्वमविकारित्वं शान्तत्वमिति चेतसः ।
वृत्तिभिर्लक्षणं प्रोक्तं यथापां प्रकृतिः परा ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

स्वच्छत्वम्—स्वच्छत्व; अविकारित्वम्—विकारों से मुक्ति; शान्तत्वम्—शान्तत्व; इति—इस प्रकार; चेतसः—चेतना का; वृत्तिभिः—गुणों के द्वारा; लक्षणम्—लक्षण; प्रोक्तम्—कहा जाता है; यथा—जिस तरह; अपाम्—जल की; प्रकृतिः—स्वाभाविक अवस्था; परा—शुद्ध।

महत्-तत्त्व के प्रकट होने के बाद ये वृत्तियाँ एकसाथ प्रकट होती हैं। जिस प्रकार जल पृथ्वी के संसर्ग में आने के पूर्व अपनी स्वाभाविक अवस्था में स्वच्छ, मीठा तथा शान्त रहता है उसी तरह विशुद्ध चेतना के विशिष्ट लक्षण शान्तत्व, स्वच्छत्व तथा अविकारित्व हैं।

तात्पर्य : प्रारम्भ में शुद्ध चेतना या कृष्णचेतना की अवस्था रहती है। सृष्टि के तुरन्त बाद चेतना कलुषित नहीं होती। किन्तु मनुष्य भौतिक रूप से जितना कल्मषग्रस्त होता जाता है उसकी चेतना उतनी ही मलिन होती जाती है। शुद्ध चेतना होने पर भगवान् की किंचित झलक भी दिख जाती है। जिस प्रकार स्वच्छ, शान्त, अशुद्धियों से रहित जल में हर वस्तु साफ-साफ दिखती है उसी तरह शुद्ध चेतना या कृष्णचेतना में वस्तुएँ अपने वास्तविक रूप में दिखती हैं। मनुष्य भगवान् की झलक देख सकता है और अपने अस्तित्व को भी देख सकता है। चेतना की यह अवस्था अत्यन्त सुहावनी, पारदर्शी तथा शान्त होती है। प्रारम्भ में चेतना शुद्ध रहती है।

महत्तत्त्वाद्विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यसम्भवात् ।
क्रियाशक्तिरहङ्कारस्त्रिविधः समपद्यत ॥ २३ ॥
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्च यतो भवः ।
मनसश्चेन्द्रियाणां च भूतानां महतामपि ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

महत्-तत्त्वात्—महत् तत्त्व से; विकुर्वाणात्—विकृत होने से; भगवत्-वीर्य-सम्भवात्—भगवान् की निजी शक्ति से उत्पन्न; क्रिया-शक्तिः—सक्रिय शक्ति से युत; अहङ्कारः—अहंकार; त्रि-विधः—तीन प्रकार का; समपद्यत—उत्पन्न हुआ; वैकारिकः—रूपान्तरित सतोगुण में अहंकार; तैजसः—रजोगुण में अहंकार; च—तथा; तामसः—तमोगुण में

अहंकार; च—भी; यत:—जिससे; भव:—उत्पत्ति; मनस:—मन का; च—तथा; इन्द्रियाणाम्—ज्ञान तथा कर्म की इन्द्रियों का; च—तथा; भूतानाम् महताम्—पाँच स्थूल तत्त्वों का; अपि—भी।.

महत् तत्त्व से अहंकार उत्पन्न होता है, जो भगवान् की निजी शक्ति से उद्भूत है। अहंकार में मुख्य रूप से तीन प्रकार की क्रियाशक्तियाँ होती हैं—सत्त्व, रज तथा तम। इन्हीं तीन प्रकार के अहंकार से मन, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ तथा स्थूल तत्त्व उत्पन्न हुए।

तात्पर्य : प्रारम्भ में चेतना या शुद्ध कृष्णचेतनावस्था से पहला कल्मष उत्पन्न हुआ। यह मिथ्या अहंकार या देहात्मबोध कहलाया। जीवात्मा स्वाभाविक स्थिति में कृष्णचेतना की अवस्था में रहता है, किन्तु उसे थोड़ी सी छूट (स्वाधीनता) प्राप्त रहती है, जिससे उसे कृष्ण की विस्मृति हो जाती है। प्रारम्भ में शुद्ध कृष्णचेतना रहती है, किन्तु इस अत्यल्प स्वाधीनता के दुरुपयोग से कृष्ण के भूलने की सम्भावना बनी रहती है। वास्तविक जीवन में ऐसा दिखलाई पड़ता है। ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें कोई कृष्णभावनामृत में कर्म करते हुए सहसा बदल जाता है। इसीलिए उपनिषदों का कथन है कि आत्म-साक्षात्कार का मार्ग छूरे की तेज धार के समान है। यह उदाहरण अत्यन्त सटीक है। तेज छूरे से दाढ़ी अच्छी बनती है, किन्तु जरा भी ध्यान इधर-उधर हुआ नहीं कि गाल कट जाता है।

मनुष्य को न केवल शुद्ध कृष्णचेतना तक पहुँचना है, अपितु उसे अत्यन्त सतर्क भी रहना है। तनिक भी असावधानी से पतन हो सकता है। इस पतन का कारण अहंकार होता है। शुद्ध चेतना की दशा से अहंकार का जन्म स्वाधीनता के दुरुपयोग से होता है। हम यह तर्क नहीं कर सकते कि शुद्ध चेतना से किस प्रकार अहंकार का उदय होता है। वास्तविकता तो यह है कि ऐसा होने की सदैव सम्भावना रहती है, अत: मनुष्य को सदैव सतर्क रहना होता है। समस्त भौतिक कार्य-कलापों का मूल सिद्धान्त अहंकार है। ये कार्य भौतिक गुणों में सम्पन्न होते हैं। ज्योंही मनुष्य शुद्ध कृष्णचेतना से विचलित होता है कि भौतिक कार्यों में वह उलझता जाता है। भौतिकवाद का बन्धन मन है और इस मन से इन्द्रियाँ प्रकट होती हैं।

सहस्रशिरसं साक्षाद्यमनन्तं प्रचक्षते ।
सङ्कर्षणाख्यं पुरुषं भूतेन्द्रियमनोमयम् ॥ २५॥

शब्दार्थ

सहस्र-शिरसम्—एक हजार शिरों वाला; साक्षात्—प्रकट रूप में; यम्—जिसको; अनन्तम्—अनन्त; प्रचक्षते—कहते हैं; सङ्कर्षण-आख्यम्—संकर्षण नाम से; पुरुषम्—श्रीभगवान्; भूत—स्थूल तत्त्व; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; मनः-मयम्—मन से युक्त।

स्थूल तत्त्वों का स्रोत, इन्द्रियाँ तथा मन—ये ही तीन प्रकार के अहंकार उनसे अभिन्त हैं, क्योंकि अहंकार ही उनका कारण है। यह संकर्षण के नाम से जाना जाता है, जो कि एक हजार शिरों वाले साक्षात् भगवान् अनन्त हैं।

कर्तृत्वं करणत्वं च कार्यत्वं चेति लक्षणम् ।
शान्तघोरविमूढत्वमिति वा स्यादहङ्कृतेः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

कर्तृत्वम्—कर्ता होने; करणत्वम्—कारण होना; च—तथा; कार्यत्वम्—प्रभाव होना; च—भी; इति—इस प्रकार; लक्षणम्—लक्षण; शान्त—शान्त; घोर—सक्रिय; विमूढत्वम्—मन्द या बुद्धू होना; इति—इस प्रकार; वा—अथवा; स्यात्—होवे; अहङ्कृतेः—अहंकार।

यह अहंकार कर्ता, करण (साधन) तथा कार्य (प्रभाव) के लक्षणों वाला होता है। सतो, रजो तथा तमो गुणों के द्वारा यह जिस प्रकार प्रभावित होता है उसी के अनुसार यह शान्त, क्रियावान या मन्द लक्षण वाला माना जाता है।

तात्पर्य : अहंकार भौतिक व्यापारों के अधिष्ठाता देवताओं में रूपान्तरित हो जाता है। करण के रूप में अहंकार विभिन्न इन्द्रियों के रूप में प्रदर्शित होता है और देवताओं तथा इन्द्रियों के संयोग से भौतिक वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। इस जगत में हम अनेक वस्तुएँ उत्पन्न कर रहे हैं, जिसे सभ्यता की उन्नति कहते हैं, किन्तु वास्तव में सभ्यता की उन्नति अहंकार का प्रकाशन है। अहंकार से ही सारी वस्तुएँ सुखोपभोग की सामग्रियों के रूप में उत्पन्न होती हैं। मनुष्य को इन सामग्रियों की कृत्रिम आवश्यकता को कम करना होता है। महान् आचार्य नरोत्तमदास ठाकुर ने शोक प्रकट किया है कि जब मनुष्य वासुदेव की शुद्ध चेतना या कृष्णचेतना से विपथ होता है, तो वह भौतिक कर्मों में बँध जाता है। उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द इस प्रकार हैं—सत्संग छाडि' कैनु असते विलास ते-कारणे लागिल ये कर्म-बन्ध-फाँस—''मैं क्षणिक भौतिक संसार का आनन्द उठाना चाहता था इसलिए मैंने शुद्ध चेतना की अवस्था का परित्याग कर दिया; इसलिए मैं कर्म-फल के जाल में फँस गया हूँ।''

वैकारिकाद्विकुर्वाणान्मनस्तत्त्वमजायत ।
यत्सङ्कल्पविकल्पाभ्यां वर्तते कामसम्भवः ॥ २७॥

शब्दार्थ

वैकारिकात्—सत्व के अहंकार से; विकुर्वाणात्—विकृत होने से; मनः—मन; तत्त्वम्—नियम; अजायत—उत्पन्न हुआ; यत्—जिसके; सङ्कल्प—विचार; विकल्पाभ्याम्—तथा विकल्पों से; वर्तते—घटित होता है; काम-सम्भवः—इच्छा का उदय।.

सत्त्व के अहंकार से दूसरा विकार आता है। इससे मन उत्पन्न होता है, जिसके संकल्पों तथा विकल्पों से इच्छा का उदय होता है।

तात्पर्य : मन के लक्षण हैं संकल्प तथा विकल्प जो विभिन्न प्रकार की इच्छाओं के कारण उत्पन्न होते हैं। जो हमें इन्द्रियतृप्ति के अनुकूल लगता है, हम उसी की कामना करते हैं और जो प्रतिकूल लगता है उसका बहिष्कार करते हैं। हमारा मन स्थिर नहीं रहता, किन्तु यदि कृष्णचेतना (भक्ति) के कार्यों में लगा दिया जाय तो वही मन स्थिर हो जाता है। अन्यथा जब तक मन भौतिक अवस्था में रहता है, तो यह डाँवाडोल होता रहता है और यह सारा संकल्प-विकल्प असत् अथवा नाशवान होता है। यह कहा गया है कि जिसका मन कृष्णचेतना में स्थिर नहीं है, वह संकल्प तथा विकल्प के बीच झूलता रहता है। कोई व्यक्ति शैक्षिक योग्यता में कितना ही अग्रसर क्यों न हो, जब तक वह कृष्णचेतना में स्थिर नहीं होता तब तक वह संकल्प-विकल्प करेगा और किसी भी विषय में मन को स्थिर नहीं कर पाएगा।

यद्विदुर्ह्यनिरुद्धाख्यं हृषीकाणामधीश्वरम् ।
शारदेन्दीवरश्यामं संराध्यं योगिभिः शनैः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

यत्—जो मन; विदुः—जाना जाता है; हि—निस्सन्देह; अनिरुद्ध-आख्यम्—अनिरुद्ध के नाम से; हृषीकाणाम्—इन्द्रियों का; अधीश्वरम्—परम शासक; शारद—शरदकालीन; इन्दीवर—नील, कमल के समान; श्यामम्—नीला; संराध्यम्—जो पाया जाता है; योगिभिः—योगियों के द्वारा; शनैः—धीरे-धीरे।.

जीवात्मा का मन इन्द्रियों के परम अधिष्ठाता अनिरुद्ध के नाम से प्रसिद्ध है। उसका नील-श्याम शरीर शरद्कालीन कमल के समान है। योगीजन उसे शनै-शनै प्राप्त करते हैं।

तात्पर्य : योगक्रिया में मन को नियन्त्रित किया जाता है और मन के स्वामी अनिरुद्ध हैं। बताया गया है कि अनिरुद्ध के चार भुजाएँ हैं जिनमें वे सुदर्शन चक्र, शंख, गदा तथा कमल-पुष्प धारण किये रहते हैं। विष्णु के चौबीस रूप हैं और हरएक का नाम भिन्न है। इन चौबीस रूपों में से संकर्षण, अनिरुद्ध, प्रद्युम्न तथा वासुदेव रूपों का अतीव सुन्दर चित्रण *चैतन्य-चरितामृत* में मिलता है जहाँ यह बताया गया है कि अनिरुद्ध योगियों द्वारा पूजित हैं। शून्य का ध्यान कुछ चिन्तकों के उर्वर मस्तिष्क की अर्वाचीन आविष्कार है। जैसाकि इस श्लोक में संस्तुति की गई है, वास्तव में योग-ध्यान की क्रिया अनिरुद्ध के स्वरूप में स्थिर की जानी चाहिए। अनिरुद्ध का ध्यान धरने से मनुष्य संकल्प तथा विकल्प से मुक्त हो सकता है। जब मनुष्य का मन अनिरुद्ध में स्थिर हो जाता है, तो वह क्रमशः ईश्वर-सिद्ध हो जाता है; उसे शुद्ध कृष्णचेतना का पद प्राप्त हो जाता है, जो योग का चरम लक्ष्य है।

तैजसात्तु विकुर्वाणाद्बुद्धितत्त्वमभूत्सति ।
द्रव्यस्फुरणविज्ञानमिन्द्रियाणामनुग्रहः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तैजसात्—रजोगुणी अहंकार से; तु—तब; विकुर्वाणात्—विकार होने से; बुद्धि—बुद्धि; तत्त्वम्—तत्त्व; अभूत्—जन्म लिया; सति—हे सती; द्रव्य—पदार्थ; स्फुरण—दिखाई पड़ने पर; विज्ञानम्—निश्चित करते हुए; इन्द्रियाणाम्—इन्द्रियों की; अनुग्रहः—सहायता करना।

हे सती, रजोगुणी अहंकार में विकार होने से बुद्धि का जन्म होता है। बुद्धि के कार्य हैं दिखाई पड़ने पर पदार्थों की प्रकृति के निर्धारण में सहायता करना और इन्द्रियों की सहायता करना।

तात्पर्य : बुद्धि वह विवेक शक्ति है, जिससे किसी पदार्थ को जाना जा सके और इन्द्रियों को चयन करने में सहायता मिले। इसीलिए बुद्धि को इन्द्रियों का स्वामी माना जाता है। बुद्धि को पूर्णता तब मिलती है जब वह कृष्णभक्ति के कार्यकलापों में स्थिर हो जाती है। बुद्धि के समुचित प्रयोग से मनुष्य की चेतना का विस्तार होता है और चेतना का चरम विस्तार कृष्णभक्ति है।

संशयोऽथ विपर्यासो निश्चयः स्मृतिरेव च ।
स्वाप इत्युच्यते बुद्धेर्लक्षणं वृत्तितः पृथक् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

संशयः—सन्देह; अथ—तब; विपर्यासः—विपरीत ज्ञान; निश्चयः—सही ज्ञान; स्मृतिः—स्मरण शक्ति; एव—भी; च—तथा; स्वापः—निद्रा; इति—इस प्रकार; उच्यते—कहे जाते हैं; बुद्धेः—बुद्धि के; लक्षणम्—लक्षण; वृत्तितः—अपने कार्यों से; पृथक्—भिन्न।

सन्देह, विपरीत ज्ञान, सही ज्ञान, स्मृति तथा निद्रा, ये अपने भिन्न-भिन्न कार्यों से निश्चित किये जाते हैं और ये ही बुद्धि के स्पष्ट लक्षण हैं।

तात्पर्य : बुद्धि के प्रमुख कार्यों में से सन्देह एक है। किसी बात को आँख मूँदकर स्वीकार करना बुद्धि का परिचायक नहीं है। अतः *संशय* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बुद्धि का अनुशीलन करने के लिए मनुष्य को प्रारम्भ में सन्देहयुक्त रहना चाहिए, किन्तु जब उचित साधन से सूचना प्राप्त हो रही हो तो सन्देह करना अनुकूल नहीं होता। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि अधिकारी के शब्दों में सन्देह करना विनाश का कारण है।

जैसाकि पतञ्जलि योग-पद्धति में बताया गया है—*प्रमाण-विपर्यय-विकल्प-निद्रा-स्मृतयः*। बुद्धि से मनुष्य वस्तुओं को उसी रूप में समझ सकता है जैसे वे हैं। बुद्धि से ही मनुष्य जान सकता है कि वह शरीर है या नहीं। यह ज्ञात करना कि किसी की पहचान भौतिक है या आध्यात्मिक, सन्देहास्पद रहता है। जब वह अपनी वास्तविक स्थिति का विश्लेषण कर पाने में सक्षम होता है, तो झूठे देहात्म-बोध का पता चलता है। यह *विपर्यास* है। झूठी पहचान का पता चल जाने पर वास्तविक पहचान जानी जा सकती है। वास्तविक ज्ञान को यहाँ *निश्चय* अथवा सिद्ध व्यावहारिक ज्ञान कहा गया है। यह व्यावहारिक ज्ञान तभी प्राप्त किया जा सकता है जब झूठा ज्ञान समझ में आ चुका हो। व्यावहारिक या सिद्ध ज्ञान से मनुष्य यह जान सकता है कि वह शरीर नहीं अपितु आत्मा है।

स्मृति का अर्थ 'स्मरणशक्ति' है और *स्वाप* का अर्थ 'निद्रा' है। बुद्धि को क्रियाशील रखने के लिए निद्रा आवश्यक है। यदि निद्रा न हो, तो मस्तिष्क ठीक से कार्य नहीं कर सकता। *भगवद्गीता* में यह विशेष रूप से उल्लेख हुआ है कि जो लोग भोजन, नींद तथा शरीर की अन्य आवश्यकताओं को समुचित मात्रा में नियमित कर लेते हैं, वे योगक्रिया में अत्यन्त

सफल होते हैं। ये बुद्धि के विश्लेषणात्मक अध्ययन के कुछ पक्ष हैं जिनका वर्णन पतञ्जलि योग–पद्धति तथा कपिलदेव के सांख्य दर्शन में *श्रीमद्भागवत्* में हुआ है।

तैजसानीन्द्रियाण्येव क्रियाज्ञानविभागशः ।
प्राणस्य हि क्रियाशक्तिर्बुद्धेर्विज्ञानशक्तिता ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तैजसानि—रजोगुणी अहंकार से उत्पन्न; इन्द्रियाणि—इन्द्रियाँ; एव—निश्चय ही; क्रिया—कर्म; ज्ञान—ज्ञान; विभागशः—के अनुसार; प्राणस्य—प्राण की; हि—निश्चय ही; क्रिया-शक्तिः—कर्मेन्द्रियाँ; बुद्धेः—बुद्धि की; विज्ञान-शक्तिता—ज्ञानेन्द्रियाँ।

रजोगुणी अहंकार से दो प्रकार की इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं—ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ। कर्मेन्द्रियाँ प्राणशक्ति पर और ज्ञानेन्द्रियाँ बुद्धि पर आश्रित होती हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में बताया जा चुका है कि मन सतोगुणी अहंकार की उपज है और इसका कार्य संकल्प तथा विकल्प है। किन्तु यहाँ पर बुद्धि को रजोगुणी अहंकार बताया गया है। मन तथा बुद्धि का यही अन्तर है—मन सतोगुणी अहंकार से उत्पन्न है जब कि बुद्धि रजोगुणी अहंकार से। किसी वस्तु को स्वीकार करने (संकल्प) तथा किसी वस्तु का परित्याग करने (विकल्प) की इच्छा मन का महत्त्वपूर्ण गुण है। सतोगुण से उत्पन्न होने के कारण यदि मन अनिरुद्ध पर स्थिर रहता है, जो मन के स्वामी हैं, तो इसे कृष्णभक्ति की ओर मोड़ा जा सकता है। नरोत्तमदास ठाकुर कहते हैं कि हम इच्छाओं से सदैव पूर्ण रहते हैं। इच्छाओं को रोका नही जा सकता, किन्तु यदि हम अपनी इच्छाओं को भगवान् को प्रसन्न करने की ओर लगा दें तो समझिये कि जीवन सफल हो गया। ज्योंही इच्छा को प्रकृति पर प्रभुत्व जमाने की ओर लगा दिया जाता है, वह पदार्थ द्वारा दूषित हो जाती है। इच्छा को शुद्ध करना पड़ता है। प्रारम्भ में शुद्धिकरण का कार्य गुरु की आज्ञा से करना होता है, क्योंकि गुरु को पता रहता है कि शिष्य की इच्छाओं को किस तरह कृष्णभक्ति में बदला जा सकता है। जहाँ तक बुद्धि की बात है, वह रजोगुण से उत्पन्न है। अभ्यास से यह सतोगुण को प्राप्त होती है और भगवान् की शरण में जाने या उन पर मन स्थिर करने से ही मनुष्य महात्मा बनता है। *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है—*स महात्मा सुदुर्लभः*—ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

इस श्लोक में स्पष्ट किया गया है कि दोनों प्रकार की इन्द्रियाँ—कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ—रजोगुण की उपज हैं। और चूँकि इन दोनों प्रकार की इन्द्रियों को शक्ति—प्राणशक्ति—की आवश्यकता होती है, अत: यह शक्ति भी रजोगुण से उत्पन्न है। अत: हम सचमुच देख सकते हैं कि जो अत्यन्त रजोगुणी हैं, वे भौतिक उपलब्धियों में भी तेजी से उन्नति करते हैं। वैदिक शास्त्रों में यह संस्तुति की गई है कि यदि कोई किसी व्यक्ति को भौतिक सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करता है, तो उसे कामी जीवन के लिए भी प्रोत्साहित करना चाहिए। हम सहज रूप में पाते हैं कि जो कामी जीवन के प्रति आसक्त हैं, वे भौतिक दृष्टि से भी अग्रसर हैं, क्योंकि विषयी जीवन अर्थात् कामोन्मुखी जीवन ही सभ्यता की भौतिक उन्नति का प्रेरक है। जो लोग आध्यात्मिक उन्नति करने के इच्छुक हैं उनके लिए रजोगुण का अस्तित्व लगभग होता ही नहीं। केवल सतोगुण ही प्रधान रहता है। देखने में आता है कि जो लोग कृष्णभक्ति करते हैं, वे भौतिक दृष्टि से निर्धन होते हैं, किन्तु जिनके आँखें हैं, वे देख सकते हैं कि बड़ा कौन है। यद्यपि भक्त ऊपर से निर्धन प्रतीत होता है, किन्तु कृष्णभावनामृत लगा व्यक्ति वास्तव में निर्धन होता नहीं। अपितु जिसमें कृष्णभक्ति के लिए रुचि नहीं होती और जो ऊपर से अपनी भौतिक सम्पत्ति के कारण सुखी जान पड़ता है, वही वास्तव में निर्धन है। जिन व्यक्तियों के पास भौतिक चेतना होती है वे अपने भौतिक आराम के लिए नई-नई वस्तुएँ खोज निकालने में अत्यन्त बुद्धिमान होते हैं, किन्तु आत्मा तथा आध्यात्मिक जीवन तक उनकी पहुँच नहीं हो पाती। अत: यदि कोई भौतिक जीवन में आगे बढ़ना चाहता है, तो उसे विशुद्ध इच्छा अर्थात् भक्ति की विशुद्ध इच्छा के घरातल पर तक उतरना होगा। जैसाकि *नारद-पंचरात्र* में कथित है, जब इन्द्रियाँ कृष्ण चेतना में शुद्ध होकर भगवान् की सेवा में लगी हों तो उसे शुद्ध भक्ति कहते हैं।

तामसाच्च विकुर्वाणाद्भगवद्वीर्यचोदितात् ।
शब्दमात्रमभूत्तस्मान्नभः श्रोत्रं तु शब्दगम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तामसात्—तामसी अहंकार से; च—तथा; विकुर्वाणात्—विकार से; भगवत्-वीर्य—भगवान् की शक्ति से; चोदितात्—प्रेरित; शब्द-मात्रम्—शब्द का सूक्ष्म तत्त्व; अभूत्—प्रकट हुआ; तस्मात्—उससे; नभः—आकाश; श्रोत्रम्—कर्णेन्द्रिय; तु—तब; शब्द-गम्—जो शब्द को ग्रहण करता है।

जब तामसी अहंकार भगवान् की वीर्य (काम) शक्ति से प्रेरित होता है, तो सूक्ष्म शब्द तत्त्व प्रकट होता है और शब्द से आकाश तथा और उससे श्रवणेन्द्रिय उत्पन्न होती हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक से लगता है कि हमारी इन्द्रियतृप्ति के सारे पदार्थ तमोगुणी अहंकार की उपज हैं। इस श्लोक से पता चलता है कि तामसी-अहंकार तत्व के उद्वेलन से सबसे पहले शब्द उत्पन्न हुआ जो आकाश का सूक्ष्म रूप हैं। *वेदान्त-सूत्र* में भी कहा गया है कि शब्द ही समस्त भौतिक पदार्थों का मूल (उत्स) है और शब्द से ही इस जगत का विलय हो सकता है। *अनावृत्तिः शब्दात्* का अर्थ है, "शब्द से मुक्ति।" शब्द से ही समग्र जगत का प्रारंभ हुआ और यदि शब्द में विशिष्ट शक्ति हो तो यह सारे भवबंधन को समाप्त कर सकता है। ऐसा कर सकने वाला विशिष्ट शब्द हरे कृष्ण की दिव्य ध्वनि ही है। भौतिक मामलों में हमारे बन्धन का सूत्रपात शब्द से ही हुआ। अब हमें इस शब्द को शुद्ध करके आध्यात्मिक ज्ञान में परिणत करना है। आध्यात्मिक जगत में भी शब्द है। यदि हम उस शब्द को पा लें तो हमारा आध्यात्मिक जीवन प्रारम्भ हो जाता है और आध्यात्मिक प्रगति की अन्य आवश्यकताएँ पूरी हो सकती हैं। हमें भली भाँति समझ लेना चाहिए कि हमारी इन्द्रियतृप्ति के लिए जितने पदार्थ चाहिए उन सबकी उत्पत्ति ध्वनि से हुई। इसी प्रकार यदि शब्द शुद्ध कर लिया जाता है, तो हमारी आध्यात्मिक आवश्यकताएँ ध्वनि से ही उत्पन्न होती हैं।

यहाँ यह कहा गया है कि ध्वनि से ही आकाश की उत्पत्ति हुई और आकाश से वायु की उत्पत्ति हुई। किस तरह ध्वनि से आकाश, आकाश से वायु और वायु से अग्नि उत्पन्न होते हैं—इसकी व्याख्या बाद में की जाएगी। शब्द आकाश का कारण है और आकाश श्रोतम् अर्थात् कान का। कान पहली ज्ञानेन्द्रिय है। यदि कोई किसी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है, चाहे भौतिक हो या आध्यात्मिक, तो उसे कानों से ही ग्रहण किया जा सकता है। अतः श्रोतम् अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वैदिक ज्ञान श्रुति कहलाता है, क्योंकि ज्ञान सुनकर ही प्राप्त

किया जा सकता है। सुनकर ही हम भौतिक या आध्यात्मिक आनन्द तक पहुँच सकते हैं।

भौतिक जगत में हम अपने आराम के लिए अनेक वस्तुओं का निर्माण सुनकर ही करते हैं। वे पहले से विद्यमान रहती हैं, किन्तु सुनने मात्र से उन्हें रूपान्तरित किया जा सकता है। यदि हम गगनचुम्बी भवन बनाना चाहते हैं, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि हमें इसकी उत्पत्ति करनी होगी। गगनचुम्बी भवन की सारी सामग्री—लकड़ी, धातु, मिट्टी आदि पहले से विद्यमान है, किन्तु हम पहले से उत्पन्न इन पदार्थों के साथ घनिष्ठ सम्पर्क यह सुनकर स्थापित करते हैं कि इनका उपयोग कैसे किया जाता है। उत्पत्ति के लिए आधुनिक आर्थिक विकास भी शब्द (सुनने) का परिणाम (फल) है। इसी प्रकार असली स्रोत से श्रवण करके उपयुक्त आध्यात्मिक कर्मक्षेत्र बनाया जा सकता है। अर्जुन देहात्मबुद्धि वाला निपट भौतिकतावादी था और देहात्मबुद्धि से बुरी तरह पीड़ित था। किन्तु श्रवण मात्र से वह कृष्णभक्त बन गया। सुनना (शब्द) अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और इसकी उत्पत्ति आकाश से होती है। श्रवण मात्र से हम पहले से विद्यमान वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं। यही आध्यात्मिक सामग्रियों पर भी लागू होता है। अत: हमें उचित स्रोत से श्रवण करना चाहिए।

अर्थाश्रयत्वं शब्दस्य द्रष्टुर्लिङ्गत्वमेव च ।
तन्मात्रत्वं च नभसो लक्षणं कवयो विदुः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

अर्थ-आश्रयत्वम्—**जो किसी पदार्थ का अर्थ वहन करे**; शब्दस्य—**शब्द का**; द्रष्टुः—**वक्ता का**; लिङ्गत्वम्—**उपस्थिति का सूचक**; एव—**भी**; च—**यथा**; तत्-मात्रत्वम्—**सूक्ष्म तत्त्व**; च—**तथा**; नभसः—**आकाश की**; लक्षणम्—**परिभाषा**; कवयः—**विद्वान पुरुष**; विदुः—**जानते हैं**।

जो लोग विद्वान हैं और वास्तविक ज्ञान से युक्त हैं, वे शब्द की परिभाषा इस प्रकार करते हैं अर्थात् वह जो किसी पदार्थ के विचार (अर्थ) को वहन करता है, ओट में खड़े वक्ता की उपस्थिति को सूचित करता है और आकाश का सूक्ष्म रूप होता है।

तात्पर्य : यहाँ यह अत्यन्त स्पष्ट है कि ज्योंही हम सुनने (शब्द) की बात करते हैं, तो वक्ता चाहिए, वक्ता के बिना सुनने का प्रश्न ही नहीं उठता। अत: वैदिक ज्ञान, जिसे श्रुति कहते हैं अर्थात् जो सुनकर ग्रहण किया जाता है, अपौरुष भी कहलाता है। अपौरुष का अर्थ

है "जो भौतिक रूप से उत्पन्न किसी व्यक्ति द्वारा न कहा गया हो।" *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में ही कहा गया है—*तेने ब्रह्म हृदा*। ब्रह्म का शब्द या वेद सर्वप्रथम आदि विद्वान पुरुष (*आदिकवये*) ब्रह्मा के हृदय में स्थापित किया गया। वे किस तरह विद्वान बने? जब भी कोई विद्या होती है, तो वक्ता चाहिए और सुनने की क्रिया होनी चाहिए। किन्तु ब्रह्मा तो आदि जीव थे। उनसे किसने कहा? जब कोई न था, तो उन्हें ज्ञान देने वाला गुरु कौन था? चूँकि वे ही एकमात्र प्राणी थे इसलिए प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में परमात्मा रूप में स्थित पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् ने यह ज्ञान उनके हृदय के भीतर प्रदान किया। वैदिक ज्ञान परमेश्वर द्वारा उक्त है फलत: यह भौतिक ज्ञान के दोषों से मुक्त है। भौतिक ज्ञान दोषपूर्ण होता है। यदि हम बद्धजीव से कुछ सुनते हैं, तो वह दोषपूर्ण रहता है। सारी सांसारिक जानकारियाँ मोह, त्रुटि, धोखे तथा इन्द्रियों की अपूर्णताओं से भरी रहती है। चूँकि वैदिक ज्ञान इस भौतिक जगत से परे परमेश्वर द्वारा प्रदान किया गया अत: यह पूर्ण है। यदि हम ब्रह्मा की शिष्य-परम्परा से वैदिक ज्ञान प्राप्त करते हैं, तो हमें पूर्ण ज्ञान मिलता है।

सुने जाने वाले प्रत्येक शब्द का अर्थ होता है। ज्योंही हम 'जल' शब्द सुनते हैं, तो इसके पीछे एक पदार्थ—जल—रहता है। इसी प्रकार जब हम ईश्वर शब्द सुनते हैं, तो उसका एक अर्थ होता है। यदि हम ईश्वर शब्द के अर्थ और उसकी व्याख्या को स्वयं भगवान् से प्राप्त करते हैं, तो वह पूर्ण होता है। किन्तु यदि हम ईश्वर के अर्थ के विषय में चिन्तन करते हैं, तो वह अपूर्ण होता है। *भगवद्गीता* तत्त्वज्ञान है, जिसे स्वयं भगवान् ने कहा है। यह पूर्ण ज्ञान है। चिन्तनवादी या तथाकथित दार्शनिक जो यह खोज करते रहते हैं कि वास्तव में ईश्वर क्या है वे ईश्वर को कभी नहीं समझ पाएँगे। तत्त्वज्ञान को ब्रह्मा से चली आने वाली शिष्य-परम्परा से ग्रहण करना होता है। ब्रह्मा को स्वयं भगवान् ने यह ज्ञान प्रदान किया था। हम शिष्य-परम्परा से अधिकृत व्यक्ति से *भगवद्गीता* सुनकर तत्त्वज्ञान को समझ सकते हैं।

जब हम देखने की बात करते हैं, तो उसका स्वरूप भी होना चाहिए। आकाश ही स्वरूप का प्रारम्भ (आदि) है। आकाश से अन्य रूप उद्भूत होते हैं। अत: आकाश से ज्ञान तथा

विषयों का शुभारम्भ होता है।

भूतानां छिद्रदातृत्वं बहिरन्तरमेव च ।
प्राणेन्द्रियात्मधिष्ण्यत्वं नभसो वृत्तिलक्षणम् ॥ ३४॥

शब्दार्थ

भूतानाम्—समस्त जीवों का; छिद्र-दातृत्वम्—स्थान देना; बहिः—बाह्य; अन्तरम्—आन्तरिक; एव—भी; च—तथा; प्राण—प्राणवायु का; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आत्म—तथा मन; धिष्ण्यत्वम्—कर्मक्षेत्र होने से; नभसः—आकाशतत्त्व; वृत्ति—कार्य; लक्षणम्—लक्षण।

समस्त जीवों को उनके बाह्य तथा आन्तरिक अस्तित्व के लिए अवकाश (स्थान) प्रदान करना, जैसे कि प्राणवायु, इन्द्रिय एवं मन का कार्यक्षेत्र—ये आकाश तत्त्व के कार्य तथा लक्षण हैं।

तात्पर्य : मन, इन्द्रिय तथा प्राणशक्ति या जीवात्मा के रूप होते हैं भले ही वे इन चर्म चक्षुओं से दिखाई न पड़ें। रूप का आधार आकाश है और आन्तरिक रूप में यह शरीर के भीतर की नसों तथा प्राणवायु के संचरण के रूप में देखा जाता है। बाह्य रूप से इन्द्रियों के अदृश्य रूप होते हैं। अदृश्य इन्द्रियों की उत्पत्ति आकाश तत्त्व का बाह्य कर्म है और प्राणवायु तथा रक्त का संचार आन्तरिक कार्य है। आकाश में सूक्ष्म रूपों के अस्तित्व की पुष्टि आधुनिक विज्ञान द्वारा टेलीविजन सम्प्रेषण के रूप में की गई है, जिसमें एक स्थान के रूपों या चित्रों को आकाश तत्त्व की क्रिया से दूसरे स्थान को प्रेषित किया जाता है। इसकी यहाँ अत्यन्त सुन्दर ढंग से व्याख्या की गई है। यह श्लोक महान् वैज्ञानिक शोध कार्य के लिए महत्त्वपूर्ण आधार है, क्योंकि यह बताता है कि किस प्रकार आकाश तत्त्व से सूक्ष्म रूप उत्पन्न होते हैं, उनके गुण तथा कार्य क्या हैं और किस तरह सूक्ष्म रूप से वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी जैसे मूर्त तत्त्वों का प्राकट्य होता है। चिन्तन, अनुभव तथा इच्छा जैसे मानसिक या मनोवैज्ञानिक कार्य भी आकाश तत्व के धरातल में सम्पन्न होते हैं। *भगवद्गीता* का यह कथन कि मृत्यु के समय जैसी मानसिक स्थिति होती है उसी के आधार पर अगला जन्म होता है, इसका भी इस श्लोक में सन्निवेश हुआ है। ज्योंही सूक्ष्म रूप से स्थूल तत्त्वों में विकास का या कल्मष का अवसर प्राप्त होता है कि आन्तरिक (मानसिक) अस्तित्व मूर्त रूप में बदल जाते हैं।

नभसः शब्दतन्मात्रात्कालगत्या विकुर्वतः ।
स्पर्शोऽभवत्ततो वायुस्त्वक्स्पर्शस्य च सङ्ग्रहः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

नभसः—आकाश से; शब्द-तन्मात्रात्—सूक्ष्म शब्द तत्त्व से प्रकट होता है; काल-गत्या—काल की गति से; विकुर्वतः—विकार आने से; स्पर्शः—स्पर्श सूक्ष्म तत्त्व; अभवत्—उत्पन्न हुआ; ततः—उससे; वायुः—वायु; त्वक्—स्पर्शेन्द्रिय, त्वचा; स्पर्शस्य—स्पर्श की; च—यथा; सङ्ग्रहः—अनुभव।

ध्वनि उत्पन्न करने वाले आकाश में काल की गति से विकार उत्पन्न होता है और इस तरह स्पर्श तन्मात्र प्रकट होता है। इससे फिर वायु तथा स्पर्श इन्द्रिय उत्पन्न होती है।

तात्पर्य : कालान्तर में जब सूक्ष्म रूप स्थूल रूपों में परिणत होते हैं, तो वे स्पर्श की वस्तुएँ बन जाते हैं। काल की गति के साथ स्पर्श इन्द्रिय का विकास होता है। शब्द अस्तित्व में आने वाली पहली ज्ञानेन्द्रिय है और शब्दबोध से स्पर्शबोध विकसित होता है, जिससे फिर दृष्टिबोध आता है। हमारी ज्ञानेन्द्रियों के क्रमिक विकास की यही विधि है।

मृदुत्वं कठिनत्वं च शैत्यमुष्णत्वमेव च ।
एतत्स्पर्शस्य स्पर्शत्वं तन्मात्रत्वं नभस्वतः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

मृदुत्वम्—कोमलता; कठिनत्वम्—कठोरता; च—तथा; शैत्यम्—शीतलता; उष्णत्वम्—उष्णता; एव—भी; च—यथा; एतत्—यह; स्पर्शस्य—स्पर्श तन्मात्र का; स्पर्शत्वम्—भिन्नता बताने वाले लक्षण; तत्-मात्रत्वम्—सूक्ष्म रूप; नभस्वतः—वायु का।

कोमलता तथा कठोरता एवं शीतलता तथा उष्णता—ये स्पर्श को बताने वाले लक्षण हैं, जिन्हें वायु के सूक्ष्म रूप में लक्षित किया जाता है।

तात्पर्य : मूर्तरूप में होना स्वरूप का प्रमाण है। वास्तव में वस्तुओं को दो भिन्न प्रकार से समझा जाता है। वे या तो कोमल होती हैं या कठोर, शीतल अथवा गरम इत्यादि। स्पर्श इन्द्रिय की यह स्पर्शक्रिया आकाश से उत्पन्न वायु के विकास का प्रतिफल है।

चालनं व्यूहनं प्राप्तिर्नेतृत्वं द्रव्यशब्दयोः ।
सर्वेन्द्रियाणामात्मत्वं वायोः कर्माभिलक्षणम् ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ

चालनम्—हिलाना; व्यूहनम्—मिला देना; प्राप्तिः—पहुँचना; नेतृत्वम्—ले जाना; द्रव्य-शब्दयोः—पदार्थों के कण तथा शब्द; सर्व-इन्द्रियाणाम्—समस्त इन्द्रियों के; आत्मत्वम्—ठीक-ठीक कार्य करने के लिए; वायोः—वायु का; कर्म—क्रियाओं से; अभिलक्षणम्—स्पष्ट लक्षण।

गतियों, मिश्रण, शब्द को पदार्थों तथा अन्य इन्द्रिय बोधों तक पहुँचाने एवं अन्य समस्त इन्द्रियों के समुचित कार्य करते रहने के लिए सुविधाएँ प्रदान कराने में वायु की क्रिया लक्षित होती है।

तात्पर्य : जब हम पेड़ों की शाखाओं को हिलते या जमीन पर सूखी पत्तियों को आपस में एकत्र होते देखते हैं, तो हमें वायु की क्रिया का अनुभव होता है। इसी प्रकार वायु की क्रिया से ही शरीर गतिमान होता है और जब वायु अवरुद्ध हो जाती है, तो तमाम रोग फैलते हैं। लकवा, तन्त्रिका अवरोध, पागलपन तथा अन्य रोग वायु के अपर्याप्त संचार के फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। 'आयुर्वेद' पद्धति में इन रोगों का इलाज वायु संचार के आधार पर किया जाता है। यदि प्रारम्भ से वायु संचार प्रक्रिया का ध्यान रखा जाय तो ऐसे रोग न हों। *आयुर्वेद* तथा *श्रीमद्भागवत* से भी यह स्पष्ट है कि केवल वायु के कारण अनेक क्रियाएँ अन्तः तथा बाह्य रूप से चलती रहती हैं और जैसे ही वायु-संचार में कमी आई नहीं कि ये क्रियाएँ बन्द हो जाती हैं। यहाँ स्पष्ट उल्लेख है—*नेतृत्वं द्रव्य-शब्दयोः*। क्रिया के ऊपर हमारा प्रभुत्व वायु की गतिशीलता के ही कारण है। यदि वायु का संचार रुक जाय तो हम शब्द सुनकर उस स्थान तक नहीं पहुँच सकते। यदि कोई हमें पुकारता है, तो हम वायु-संचार के ही कारण ध्वनि सुनते हैं और उस स्थान या व्यक्ति तक पहुँच जाते हैं जहाँ से ध्वनि आती है। इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि ये सब वायु की गतियों के कारण हैं। गन्ध की पहचान भी वायु की क्रिया के फलस्वरूप होती है।

वायोश्च स्पर्शतन्मात्राद्रूपं दैवेरितादभूत् ।
समुत्थितं ततस्तेजश्चक्षू रूपोपलम्भनम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

वायोः—वायु से; च—तथा; स्पर्श-तन्मात्रात्—स्पर्श तन्मात्र से उत्पन्न; रूपम्—रूप; दैव-ईरितात्—भाग्य के अनुसार; अभूत्—उत्पन्न हुआ; समुत्थितम्—ऊपर उठा; ततः—उससे; तेजः—अग्नि; चक्षुः—नेत्र, दृश्येन्द्रिय; रूप—रंग तथा रूप; उपलम्भनम्—देखने के लिए।

वायु तथा स्पर्श तन्मात्राओं की अन्त:क्रियाओं से मनुष्य को भाग्य के अनुसार विभिन्न रूप दिखते हैं। ऐसे रूपों के विकास के फलस्वरूप अग्नि उत्पन्न हुई और आँखें विविध रंगीन रूपों को देखती हैं।

तात्पर्य : दैव, स्पर्श-अनुभूति, वायु की अन्त:क्रियाएँ तथा आकाश तत्त्व से उत्पन्न मन की स्थिति के कारण अपने पूर्वकर्मों के अनुसार मनुष्य को शरीर प्राप्त होता है। कहना अनावश्यक है कि जीव एक शरीर से दूसरे में देहान्तर करता है। भाग्य के अनुसार तथा वायु एवं मानसिक स्थिति की अन्त:क्रिया को नियन्त्रित करने वाली परम सत्ता की योजना द्वारा उसका रूप बदलता है। रूप विभिन्न प्रकार के इन्द्रिय अनुभव का मिलाप है। पूर्वानिर्धारित कर्म मानसिक स्थिति तथा वायु की अन्त:क्रिया की योजनाएँ हैं।

द्रव्याकृतित्वं गुणता व्यक्तिसंस्थात्वमेव च ।
तेजस्त्वं तेजसः साध्वि रूपमात्रस्य वृत्तयः ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

द्रव्य—द्रव्य का; आकृतित्वम्—आकार-प्रकार; गुणता—गुण; व्यक्ति-संस्थात्वम्—व्यक्तित्व; एव—भी; च—यथा; तेजस्त्वम्—तेज; तेजसः—अग्नि का; साध्वि—हे सती; रूप-मात्रस्य—सूक्ष्म तत्त्व रूप के; वृत्तयः—लक्षण।

हे माता, रूप के लक्षण आकार-प्रकार, गुण तथा व्यष्टि से जाने जाते हैं। अग्नि का रूप उसके तेज से जाना जाता है।

तात्पर्य : प्रत्येक रूप जिसकी हम अनुभूति करते हैं उसके विशिष्ट आकार-प्रकार तथा लक्षण होते हैं। किसी विशिष्ट वस्तु की गुणता उसकी उपयोगिता से आँकी जाती है। किन्तु ध्वनि का रूप स्वतन्त्र है। जो रूप अदृश्य हैं उन्हें केवल स्पर्श से जाना जा सकता है; अदृश्य रूप की यह स्वतन्त्र अनुभूति है। दृश्य रूप अपनी संरचना के विश्लेषणात्मक अध्ययन से जाने जाते हैं। किसी पदार्थ की संरचना उसकी आन्तरिक क्रिया से जानी जाती है। उदाहरणार्थ, नमक के स्वरूप को उसके लवणीय स्वाद से और चीनी को उसके मीठे स्वाद की अन्त:क्रियाओं से जाना जाता है। किसी पदार्थ के रूप को समझने के लिए स्वाद तथा गुणात्मक संरचना आधारभूत सिद्धान्त हैं।

द्योतनं पचनं पानमदनं हिममर्दनम् ।
तेजसो वृत्तयस्त्वेताः शोषणं क्षुत्तृडेव च ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

द्योतनम्—प्रकाश; पचनम्—पकाना, पचाना; पानम्—पीना; अदनम्—खाना; हिम-मर्दनम्—शीत को विनष्ट करने वाला; तेजसः—अग्नि के; वृत्तयः—कार्य; तु—निस्सन्देह; एताः—ये; शोषणम्—वाष्पीकरण; क्षुत्—भूख; तृट्—प्यास; एव—भी; च—तथा।

अग्नि अपने प्रकाश के कारण पकाने, पचाने, शीत नष्ट करने, भाप बनाने की क्षमता के कारण एवं भूख, प्यास, खाने तथा पीने की इच्छा उत्पन्न करने के कारण अनुभव की जाती है।

तात्पर्य : अग्नि का पहला लक्षण है प्रकाश तथा उष्मा का वितरण। अग्नि की उपस्थिति आमाशय में भी अनुभव की जाती है। बिना अग्नि के हम खाये हुए भोजन को पचा नहीं पाते। बिना पाचन के न तो भूख लगती है, न प्यास और न खाने-पीने की शक्ति रहती है। जब अपर्याप्त भूख तथा प्यास रहे तो समझना चाहिए कि जठराग्नि मन्द पड़ गई है और इस *अग्नि-मांद्यम्* का आयुर्वेदिक उपचार किया जाता है। चूँकि अग्नि का वर्धन पित्तरस के निकलने से होता है, अत: इसका उपचार पित्तरस के उत्सर्जन को बढ़ाना है। इस प्रकार आयुर्वेदिक उपचार *भागवत* के कथनों का समर्थक है। शीत के प्रभाव को दमित करने में अग्नि का गुण सर्वविदित है। असह्य शीत का सामना अग्नि द्वारा किया जाता है।

रूपमात्राद्विकुर्वाणात्तेजसो दैवचोदितात् ।
रसमात्रमभूत्तस्मादम्भो जिह्वा रसग्रहः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

रूप-मात्रात्—सूक्ष्म तत्त्व रूप से उत्पन्न; विकुर्वाणात्—विकार से; तेजसः—अग्नि से; दैव-चोदितात्—दैवी व्यवस्था से; रस-मात्रम्—सूक्ष्म तत्त्व स्वाद; अभूत्—प्रकट हुआ; तस्मात्—उससे; अम्भः—जल; जिह्वा—स्वादेन्द्रिय; रस-ग्रहः—स्वाद ग्रहण करने वाली।

अग्नि तथा दृष्टि की अन्त:क्रिया से दैवी व्यवस्था के अन्तर्गत स्वाद तन्मात्र उत्पन्न होता है। इस स्वाद से जल उत्पन्न होता है और स्वाद ग्रहण करने वाली जीभ भी प्रकट होती है।

तात्पर्य : यहाँ जीभ को स्वाद का ज्ञान प्राप्त करने का साधन बताया गया है। चूँकि स्वाद जल का उत्पाद है, अत: जीभ पर सदैव लार रहती है।

कषायो मधुरस्तिक्तः कट्वम्ल इति नैकधा ।
भौतिकानां विकारेण रस एको विभिद्यते ॥ ४२॥

शब्दार्थ

कषायः—कषैला; मधुरः—मीठा; तिक्तः—तीता; कटु—कड़वा; अम्लः—खट्टा; इति—इस प्रकार; न-एकधा—अनेक प्रकार का; भौतिकानाम्—अन्य वस्तुओं के; विकारेण—विकार से; रसः—सूक्ष्म तत्त्व स्वाद; एकः—मूलतः एक; विभिद्यते—विभाजित होता है।

यद्यपि मूल रूप से स्वाद एक ही है, किन्तु अन्य पदार्थों के संसर्ग से यह कषैला मधुर, तीखा, कड़वा, खट्टा तथा नमकीन—कई प्रकार का हो जाता है।

क्लेदनं पिण्डनं तृप्तिः प्राणनाप्यायनोन्दनम् ।
तापापनोदो भूयस्त्वमम्भसो वृत्तयस्त्विमाः ॥ ४३॥

शब्दार्थ

क्लेदनम्—गीला करना; पिण्डनम्—पिंड बना देना, थक्के जमा देना; तृप्तिः—तृप्त करना; प्राणन—जीवित रखना; आप्यायन—तरोताजा रखना; उन्दनम्—मुलायम बनाना; ताप—उष्मा, गर्मी; अपनोदः—भगाना; भूयस्त्वम्—प्रचुरता से; अम्भसः—जल के; वृत्तयः—विशिष्ट कार्य; तु—वास्तव में; इमाः—ये।

जल की विशेषताएँ उसके द्वारा अन्य पदार्थों को गीला करने, विभिन्न मिश्रणों के पिण्ड बनाने, तृप्ति लाने, जीवन पालन करने, वस्तुओं को मुलायम बनाने, गर्मी भगाने, जलागारों की निरन्तर पूर्ति करते रहने तथा प्यास बुझाकर तरोताजा बनाने में हैं।

तात्पर्य : जल पीकर क्षुधा मिटाई जा सकती है। कभी-कभी यह देखा जाता है कि यदि कोई व्यक्ति उपवास व्रत रखता है और बीच-बीच में उसे थोड़ा जल दे दिया जाता है, तो उपवास के कारण उत्पन्न क्षीणता कम होती है। वेदों में भी कहा गया है—*आपोमयः प्राणः*—जीवन जल पर निर्भर है। जल से किसी भी वस्तु को गीला या नम किया जा सकता है। आटे में जल मिलाने से लोई बन जाती है। मिट्टी तथा जल मिलाने से कीचड़ उत्पन्न होता है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में कथित है—विभिन्न भौतिक तत्त्वों को जोड़ने वाला अवयव जल ही है। जब हम मकान बनाते हैं, तो ईंटें बनाने में प्रमुख अवयव जल ही होता

है। समग्र जगत में अग्नि, जल तथा वायु विनिमयकारी तत्त्व हैं, किन्तु इनमें से जल प्रमुख है। तपते हुए स्थान में जल डाल कर अत्यधिक तप्तता दूर की जा सकती है।

रसमात्राद्विकुर्वाणादम्भसो दैवचोदितात् ।
गन्धमात्रमभूत्तस्मात्पृथ्वी घ्राणस्तु गन्धगः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

रस-मात्रात्—सूक्ष्म तत्त्व स्वाद से उत्पन्न; विकुर्वाणात्—विकार से; अम्भसः—जल से; दैव-चोदितात्—दैवी व्यवस्था से; गन्ध-मात्रम्—सूक्ष्म तत्त्व गंध; अभूत्—प्रकट हुआ; तस्मात्—उससे; पृथ्वी—पृथ्वी; घ्राणः—घ्राणेन्द्रिय; तु—वास्तव में; गन्ध-गः—सुगन्धि ग्रहण करने वाली।

स्वाद अनुभूति और जल की अन्तःक्रिया के फलस्वरूप दैवी विधान से गन्ध तन्मात्रा उत्पन्न होती है। उससे पृथ्वी तथा घ्राणेन्द्रिय उत्पन्न होते हैं जिससे हम पृथ्वी की सुगन्धि का बहुविध अनुभव कर सकते हैं।

करम्भपूतिसौरभ्यशान्तोग्राम्लादिभिः पृथक् ।
द्रव्यावयववैषम्याद्गन्ध एको विभिद्यते ॥ ४५॥

शब्दार्थ

करम्भ—मिश्रित; पूति—दुर्गन्ध; सौरभ्य—सुगन्धित; शान्त—मृदु; उग्र—तीक्ष्ण, तीव्र; अम्ल—खट्टी; आदिभिः—इत्यादि; पृथक्—भिन्न; द्रव्य—पदार्थ के; अवयव—भागों के; वैषम्यात्—विविधता के अनुसार; गन्धः—गन्ध; एकः—एक; विभिद्यते—विभाजित होती है।

यद्यपि गन्ध एक है, किन्तु सम्बद्ध पदार्थों के अनुपातों के अनुसार अनेक प्रकार की हो जाती है, यथा—मिश्रित, दुर्गंध, सुगन्धित, मृदु, तीव्र, अम्लीय इत्यादि।

तात्पर्य : कभी-कभी विभिन्न अवयवों से तैयार किये गये भोज्य पदार्थों में मिश्रित गन्ध आती है—यथा तरकारियों में मसाले तथा हींग मिलाने से। गन्दे स्थानों से दुर्गन्ध आती है; कपूर, पुदीना तथा अन्य पदार्थों से अच्छी महक (सुगन्ध) आती है; प्याज तथा लहसुन से तीक्ष्ण गन्ध आती है और हल्दी तथा अन्य खट्टी वस्तुओं से अम्लीय (खट्टी) गंध आती है। मूल गंध तो पृथ्वी से निकलने वाली महक है और जब यह विभिन्न पदार्थों से मिल जाती है, तो विविध रूपों में प्रकट होती है।

भावनं ब्रह्मणः स्थानं धारणं सद्विशेषणम् ।
सर्वसत्त्वगुणोद्भेदः पृथिवीवृत्तिलक्षणम् ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

भावनम्—मूर्ति जैसे रूप; ब्रह्मणः—परब्रह्म के; स्थानम्—आवास स्थान बनाने; धारणम्—वस्तुओं को धारण करने; सत्-विशेषणम्—खुले आकाश को अलग करना; सर्व—समस्त; सत्त्व—अस्तित्व के; गुण—गुण; उद्भेदः—प्राकट्य का स्थान; पृथिवी—पृथ्वी के; वृत्ति—कार्यों के; लक्षणम्—लक्षण।

परब्रह्म के स्वरूपों को आकार प्रदान करके, आवास स्थान बनाकर, जल रखने के पात्र बनाकर पृथ्वी के कार्यों के लक्षणों को देखा जा सकता है। दूसरे शब्दों में, पृथ्वी समस्त तत्त्वों का आश्रय स्थल है।

तात्पर्य : पृथ्वी में ध्वनि, आकाश, वायु, अग्नि, जल जैसे विभिन्न तत्त्व देखे जा सकते हैं। यहाँ पर पृथ्वी की अन्य विशेषता का उल्लेख हुआ है और वह यह है कि पृथ्वी से भगवान् के विभिन्न रूप प्रकट होते हैं। कपिल के इस कथन से इसकी पुष्टि होती है कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अर्थात् ब्रह्म के असंख्य रूप हैं, जिनका शास्त्रों में वर्णन मिलता है। पृथ्वी तथा इसके उत्पादों—यथा पत्थर, लकड़ी तथा रत्न को ठीक से मिलाकर ब्रह्म के इन स्वरूपों को हमारे समक्ष प्रस्तुत किया जा सकता है। जब मिट्टी की मूर्ति द्वारा भगवान् कृष्ण या भगवान् विष्णु का स्वरूप प्रस्तुत किया जाता है, तो वह काल्पनिक नहीं होता। पृथ्वी भगवान् के स्वरूपों को शास्त्रों में वर्णित आकार प्रदान करती है।

ब्रह्म-संहिता में भगवान् कृष्ण की भूमि, वैकुण्ठधाम की विचित्रता तथा अपने आध्यात्मिक शरीर से बाँसुरी बजाते हुए उनके स्वरूप का वर्णन मिलता है। इन सब रूपों का उल्लेख शास्त्रों में मिलता है और जब उन्हें वैसे ही रूपों में प्रस्तुत किया जाता है, तो वे पूज्य बन जाते हैं। वे काल्पनिक नहीं हैं जैसाकि मायावादी दर्शन कहता है। कभी-कभी *भावन* शब्द की व्याख्या 'कल्पना' के रूप में की जाती है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है। इसका वास्तविक अर्थ है वैदिक विवरणों के अनुसार आकार प्रदान करना। पृथ्वी समस्त जीवात्माओं तथा उनके गुणों का चरम रूपान्तरण है।

नभोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्छ्रोत्रमुच्यते ।

वायोर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य तत्स्पर्शनं विदुः ॥ ४७॥

शब्दार्थ

नभः-गुण-विशेषः—आकाश का विशिष्ट गुण (शब्द); अर्थः—विषय; यस्य—जिसका; तत्—वह; श्रोत्रम्—श्रवणेन्द्रिय; उच्यते—कहलाता है; वायोः गुण-विशेषः—वायु का विशिष्ट गुण (स्पर्श); अर्थः—विषय; यस्य—जिसका; तत्—वह; स्पर्शनम्—स्पर्शेन्द्रिय (त्वचा); विदुः—जानते हैं।

वह इन्द्रिय जिसका विषय शब्द है श्रवणेन्द्रिय और जिसका विषय स्पर्श है, वह त्वगिन्द्रिय कहलाती है।

तात्पर्य : शब्द आकाश के गुणों में से एक है और इसका विषय सुनना है। इसी प्रकार स्पर्श वायु का गुण है और इसका विषय है स्पर्शानुभूति।

तेजोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तच्चक्षुरुच्यते
अम्भोगुणविशेषोऽर्थो यस्य तद्रसनं विदुः ।
भूमेर्गुणविशेषोऽर्थो यस्य स घ्राण उच्यते ॥ ४८॥

शब्दार्थ

तेजः-गुण-विशेषः—अग्नि का विशेष गुण (रूप); अर्थः—विषय; यस्य—जिसका; तत्—वह; चक्षुः—आँख, नेत्रेन्द्रिय; उच्यते—कहलाती है; अम्भः-गुण-विशेषः—जल का विशेष गुण (स्वाद); अर्थः—विषय; यस्य—जिसका; तत्—वह; रसनम्—स्वाद की इन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, रसना; विदुः—जानी जाती है; भूमेः गुण-विशेषः—भूमि का विशेष गुण (गंध); अर्थः—विषय; यस्य—जिसका; सः—वह; घ्राणः—घ्राणेन्द्रिय; उच्यते—कहलाती है।

वह इन्द्रिय जिसका विषय अग्नि का विशेष गुण रूप है, वह नेत्रेन्द्रिय है। जिस इन्द्रिय का विषय जल का विशेष स्वाद है, वह रसनेन्द्रिय कहलाती है। जिस इन्द्रिय का विषय पृथ्वी का विशिष्ट गुण गंध है, वह घ्राणेन्द्रिय कही जाती है।

परस्य दृश्यते धर्मो ह्यपरस्मिन्समन्वयात् ।
अतो विशेषो भावानां भूमावेवोपलक्ष्यते ॥ ४९॥

शब्दार्थ

परस्य—कारण का; दृश्यते—देखा जाता है; धर्मः—गुण; हि—निस्सन्देह; अपरस्मिन्—कार्य में; समन्वयात्—समन्वय या व्यवस्था से; अतः—अतएव; विशेषः—विशेष गुण; भावानाम्—समस्त तत्त्वों से; भूमौ—पृथ्वी में; एव—अकेले; उपलक्ष्यते—देखा जाता है।

चूँकि कारण अपने कार्य में भी विद्यमान रहता है, अतः पहले के लक्षण (गुण) दूसरे में भी देखे जाते हैं। इसीलिए केवल पृथ्वी में ही सारे तत्त्वों की विशिष्टताएँ पाई जाती हैं।

तात्पर्य : शब्द आकाश का कारण है, आकाश वायु का, वायु अग्नि का, अग्नि जल का और जल पृथ्वी का कारण है। आकाश में केवल शब्द है; वायु में शब्द तथा स्पर्श; अग्नि में शब्द, स्पर्श तथा रूप; जल में शब्द, स्पर्श, रूप तथा रस (स्वाद); और पृथ्वी में शब्द, स्पर्श, रूप, रस तथा गंध भी रहते हैं। फलतः पृथ्वी अन्य तत्त्वों के समस्त गुणों का आगार है। पृथ्वी समस्त तत्त्वों का सार है। पृथ्वी में तत्त्वों के पाँचों गुण पाये जाते हैं, जल में चार, अग्नि में तीन, वायु में दो तथा आकाश में केवल एक गुण —शब्द—पाया जाता है।

एतान्यसंहत्य यदा महदादीनि सप्त वै ।
कालकर्मगुणोपेतो जगदादिरुपाविशत् ॥ ५० ॥

शब्दार्थ

एतानि—ये; असंहत्य—न मिलकर; यदा—जब; महत्-आदीनि—महत् तत्त्व, अहंकार तथा पाँच स्थूलतत्त्व; सप्त—कुल मिलाकर सात; वै—वास्तव में; काल—समय; कर्म—कार्य; गुण—तथा तीनों गुणों के; उपेतः—साथ होकर; जगत्-आदिः—सृष्टि की उत्पत्ति; उपाविशत्—प्रविष्ट किया।

जब ये सारे तत्त्व मिले नहीं थे, तो सृष्टि के आदि कारण श्रीभगवान् ने काल, कर्म तथा गुणों के सहित सात विभागों वाली अपनी समग्र भौतिक शक्ति (महत् तत्त्व) के साथ ब्रह्माण्ड में प्रवेश किया।

तात्पर्य : कारणों की उत्पत्ति का उल्लेख करने के बाद कपिलदेव कार्यों की उत्पत्ति के विषय में कह रहे हैं। जब सारे कारण मिले हुए नहीं थे तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् अपने गर्भोदकशायी विष्णु-रूप से प्रत्येक ब्रह्माण्ड के भीतर प्रविष्ट हुए। उनके साथ-साथ सात मूलभूत तत्त्व—पाँच भौतिक तत्त्व, समग्र शक्ति (महत् तत्त्व) तथा अहंकार—भी थे। श्रीभगवान् का यह प्रवेश भौतिक जगत के परमाणुओं तक में होता है। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* (५.३५) में होती है—*अण्डान्तरस्थ-परमाणु-चयान्तरस्थम्*। वे न केवल ब्रह्माण्ड के भीतर अपितु परमाणुओं के भीतर भी हैं। वे प्रत्येक जीव के हृदय के भीतर हैं। गर्भोदकशायी विष्णु भगवान् प्रत्येक वस्तु में प्रविष्ट कर गये।

ततस्तेनानुविद्धेभ्यो युक्तेभ्योऽण्डमचेतनम् ।

उत्थितं पुरुषो यस्मादुदतिष्ठदसौ विराट् ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; तेन—भगवान् के द्वारा; अनुविद्धेभ्यः—उन सात तत्त्वों से सक्रिय हो उठे; युक्तेभ्यः—मिले हुए; अण्डम्—अंडा; अचेतनम्—अज्ञानी; उत्थितम्—उठा; पुरुषः—विराट प्राणी; यस्मात्—जिससे; उदतिष्ठत्—प्रकट हुआ; असौ—वह; विराट्—सुप्रसिद्ध।

भगवान् की उपस्थिति के कारण उत्प्रेरित होने तथा परस्पर मिलने से इन सात तत्त्वों से एक जड़ अण्डा उत्पन्न हुआ जिससे विख्यात विराट-पुरुष प्रकट हुआ।

तात्पर्य : विषयी जीवन में माता-पिता के पदार्थ के संयोग से जिसमें पायस (इमल्शन) बनना तथा रस उत्पन्न होना सम्मिलित हैं, ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है कि पदार्थ भीतर में आत्मा को ग्रहण कर लेता है और पदार्थ के संयोग से क्रमशः पूर्ण शरीर का विकास हो जाता है। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति में भी यही सिद्धान्त पाया जाता है—सारे अवयव विद्यमान थे, किन्तु जब भगवान् इन तत्त्वों के भीतर प्रविष्ट हुए तभी पदार्थ क्षुब्ध हुआ। उत्पत्ति (सृष्टि) का यही कारण है। इसे हम अपने सामान्य अनुभव में देखते हैं। यद्यपि मिट्टी, जल तथा अग्नि ये तीन तत्त्व विद्यमान होते हैं, किन्तु जब हम इन्हें मिलाने का प्रयास करते हैं तभी ये तत्त्व ईंट का आकार धारण करते हैं। जीवित शक्ति (प्राण) के बिना कोई सम्भावना नहीं रहती कि पदार्थ आकार ग्रहण कर सके। इसी प्रकार जब तक भगवान् *विराट्-पुरुष* के रूप में इस भौतिक जगत को क्षुब्ध नहीं करते तब तक इसका विकास नहीं होता। *यस्मादुदतिष्ठदसौ विराट्*—उनके प्रक्षोभ से आकाश उत्पन्न हुआ और उसके भीतर भगवान् का विराट रूप भी प्रकट हुआ।

एतदण्डं विशेषाख्यं क्रमवृद्धैर्दशोत्तरैः
तोयादिभिः परिवृतं प्रधानेनावृतैर्बहिः ।
यत्र लोकवितानोऽयं रूपं भगवतो हरेः ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; अण्डम्—अण्डा; विशेष-आख्यम्—'विशेष' कहलाने वाला; क्रम—एक के पश्चात् एक, क्रमशः; वृद्धैः—बढ़ा; दश—दसगुना; उत्तरैः—अधिक बड़ा; तोय-आदिभिः—जल इत्यादि के द्वारा; परिवृतम्—घिरा हुआ; प्रधानेन—प्रधान के द्वारा; आवृतैः—ढका हुआ; बहिः—बाहर से; यत्र—यहाँ; लोक-वितानः—लोकों का विस्तार; अयम्—यह; रूपम्—रूप; भगवतः—श्रीभगवान् का; हरेः—भगवान् हरि का।

यह अण्डाकार ब्रह्माण्ड भौतिक शक्ति का प्राकट्य कहलाता है। जल, वायु, अग्नि, आकाश, अहंकार तथा महत्-तत्त्व की इसकी परतें (स्तर) क्रमशः मोटी होती जाती हैं।

प्रत्येक परत अपने से पूर्ववाली से दसगुनी मोटी होती है और अन्तिम बाह्य परत 'प्रधान' से घिरी हुई है। इस अण्डे के भीतर भगवान् हरि का विराट रूप रहता है, जिनके शरीर के अंग चौदहों लोक हैं।

तात्पर्य : यह ब्रह्माण्ड या ब्रह्माण्डीय-आकाश जिसकी कल्पना हम उसके असंख्य लोकों समेत करते हैं, एक अंडे के समान आकार वाला है। जिस तरह अंडा एक कवच से घिरा रहता है उसी तरह यह ब्रह्माण्ड भी विविध परतों (स्तरों) से घिरा है। इसकी पहली परत जल है, दूसरी अग्नि, फिर वायु, तब आकाश और अन्तिम परत है 'प्रधान'। इस अण्डाकार ब्रह्माण्ड के भीतर *विराट-पुरुष* के रूप में भगवान् का विराट रूप है। सारे लोक उनके शरीर के अंग हैं। इसकी व्याख्या *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कंध में पहले ही की जा चुकी है। सारे लोक भगवान् के इस विराट रूप के विभिन्न अंग माने जाते हैं। जो लोग भगवान् के दिव्यरूप की प्रत्यक्ष पूजा में नहीं लग पाते उन्हें चाहिए कि वे इस विराट रूप का चिन्तन करें और पूजा करें। निम्नतम लोक, पाताल, परमेश्वर का तलवा माना जाता है और पृथ्वी उनका उदर मानी जाती है। उच्चतम लोक, जहाँ ब्रह्माजी रहते हैं, बह्मलोक है, जिसे भगवान् का मस्तक समझा जाता है।

यह विराट-पुरुष भगवान् का अवतार माना जाता है। भगवान् का आदिरूप तो श्रीकृष्ण हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में आदि-पुरुष कहकर पुष्टि की गई है। विराट-पुरुष भी पुरुष है, किन्तु वह आदि-पुरुष नहीं है। *आदि-पुरुष* तो श्रीकृष्ण हैं। *ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः। अनादिरादिर्गोविन्दः।*

भगवद्गीता में भी कृष्ण को आदिपुरुष के रूप में स्वीकार किया गया है। कृष्ण कहते हैं "मुझसे बड़ा कोई नहीं है।" भगवान् के असंख्य विस्तार हैं और वे सभी पुरुष अर्थात् भोक्ता हैं, किन्तु इनमें से कोई भी न तो विराट-पुरुष है न पुरुष-अवतार—कारणोदकशायी विष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु—हैं और न अन्य विस्तारों में से कोई भी आदि है। प्रत्येक ब्रह्माण्ड में गर्भोदकशायी विष्णु, विराट-पुरुष तथा क्षीरोदकशायी विष्णु होते हैं। यहाँ पर विराट-पुरुष के सक्रिय प्राकट्य का वर्णन हुआ है। जो लोग भगवान् के विषय में

निम्नस्तर का ज्ञान रखते हैं, उन्हें चाहिए कि वे भगवान् के विराट रूप का चिन्तन करें, क्योंकि 'भागवत' में इसका उपदेश दिया गया है।

यहाँ पर ब्रह्माण्ड के आकार-प्रकार का अनुमान लगाया गया है। इसका बाह्य आवरण जल, वायु, अग्नि, आकाश, अहंकार तथा महत् तत्त्व की परतों से बना हुआ है और प्रत्येक परत इसके पहलेवाली परत से दसगुनी बड़ी है। ब्रह्माण्ड के खोखले के भीतर का अवकाश किसी मानवीय विज्ञानी या अन्य किसी के द्वारा मापा नहीं जा सकता। इस खोखले के आगे सात आवरण हैं जिनमें से प्रत्येक अपने से पीछे वाली परत से दसगुना बड़ा है। जल की परत ब्रह्माण्ड के व्यास से दसगुनी बड़ी है और अग्नि की परत जल की परत से दसगुनी बड़ी है। इसी प्रकार वायु की परत अग्नि की परत से दसगुनी है। ये आकार-प्रकार मनुष्य के लघु मस्तिष्क के लिए अकल्पनीय हैं।

यह भी कहा गया है कि यह वर्णन मात्र एक अण्डाकार ब्रह्माण्ड का है। इसके अतिरिक्त असंख्य ब्रह्माण्ड हैं और इनमें से कुछ तो कई गुना बड़े हैं। वास्तव में माना जाता है कि यह ब्रह्माण्ड सबसे छोटा है, फलतः इसके प्रबन्ध के लिए प्रमुख अधिष्ठाता अथवा ब्रह्मा के केवल चार सिर हैं। अन्य ब्रह्माण्डों में जो इससे बहुत बड़े हैं ब्रह्मा के और अधिक सिर होते हैं। *चैतन्य-चरितामृत* में कहा गया है कि एक दिन ये सारे ब्रह्मा भगवान् कृष्ण द्वारा बुलाये गये और जब लघु ब्रह्मा ने बृहद् ब्रह्मा को देखा तो मानो उस पर वज्रपात हो गया। ऐसी है भगवान् की अचिन्त्य शक्ति। कोई भी चिन्तन द्वारा या ईश्वर के साथ मिथ्या ऐक्य द्वारा ईश्वर की लम्बाई-चौड़ाई नहीं नाप सकता। यदि कोई प्रयास करता है, तो यह पागलपन का द्योतक है।

हिरण्मयादण्डकोशादुत्थाय सलिले शयात् ।
तमाविश्य महादेवो बहुधा निर्बिभेद खम् ॥ ५३ ॥

शब्दार्थ

हिरण्मयात्—सुनहले; अण्ड-कोशात्—अण्डे से; उत्थाय—निकल कर; सलिले—जल में; शयात्—लेटे हुए; तम्—उस; आविश्य—घुसकर; महा-देवः—श्रीभगवान्; बहुधा—कई प्रकार से; निर्बिभेद—बाँट दिया; खम्—छिद्र।

विराट-पुरुष, श्रीभगवान् उस सुनहले अंडे में स्थित हो गये जो जल में पड़ा हुआ था

और उन्होंने उसे कई विभागों में बाँट दिया।

निरभिद्यतास्य प्रथमं मुखं वाणी ततोऽभवत् ।
वाण्या वह्निरथो नासे प्राणोतो घ्राण एतयोः ॥५४॥

शब्दार्थ

निरभिद्यत—प्रकट हुआ; अस्य—उसका; प्रथमम्—सर्वप्रथम; मुखम्—मुँह; वाणी—वागेन्द्रिय; ततः—तब; अभवत्—बाहर आया; वाण्या—वागेन्द्रिय से; वह्निः—अग्नि का देवता; अथः—तब; नासे—दो नथुने; प्राण—प्राणवायु; उतः—जुड़ गये; घ्राणः—घ्राणेन्द्रिय; एतयोः—उनमें।

सर्वप्रथम उनके मुख प्रकट हुआ और फिर वागेन्द्रिय और इसी के साथ अग्नि देव प्रकट हुए जो इस इन्द्रिय के अधिष्ठाता देव हैं। तब दो नथुने प्रकट हुए और उनमें घ्राणेन्द्रिय तथा प्राण प्रकट हुए।

तात्पर्य : वाणी के प्रकट होते ही अग्नि भी प्रकट हुई और दोनों नथुनों के प्रकट होते ही प्राणवायु, श्वसन क्रिया तथा घ्राणेन्द्रिय प्रकट हुए।

घ्राणाद्वायुरभिद्येतामक्षिणी चक्षुरेतयोः ।
तस्मात्सूर्यो न्यभिद्येतां कर्णौ श्रोत्रं ततो दिशः ॥५५॥

शब्दार्थ

घ्राणात्—घ्राणेन्द्रिय से; वायुः—वायुदेव; अभिद्येताम्—प्रकट हुआ; अक्षिणी—दो नेत्र; चक्षुः—चक्षु इन्द्रिय; एतयोः—इनमें; तस्मात्—उससे; सूर्यः—सूर्यदेव; न्यभिद्येताम्—प्रकट हुए; कर्णौ—दो कान; श्रोत्रम्—श्रवणेन्द्रिय; ततः—उससे; दिशः—दिशाओं के अधिष्ठाता।

घ्राणेन्द्रिय के बाद उसका अधिष्ठाता वायुदेव प्रकट हुआ। तत्पश्चात् विराट रूप में दो चक्षु और उनमें चक्षु-इन्द्रिय प्रकट हुई। इसके अनन्तर चक्षुओं का अधिष्ठाता सूर्यदेव प्रकट हुआ। फिर उनके दो कान और उनमें कर्णेन्द्रिय तथा दिशाओं के अधिष्ठाता दिग्देवता प्रकट हुए।

तात्पर्य : भगवान् के विराट रूप में विभिन्न शारीरिक अंगों एवं इन अंगों के अधिष्ठाता देवों के प्राकट्य का वर्णन किया जा रहा हा। जिस प्रकार माता के गर्भ में शिशु के विभिन्न शारीरिक अंगों का विकास होता है, उसी प्रकार ब्रह्माण्ड के गर्भ में भगवान् के विराट रूप में विविध सामग्रियों की उत्पत्ति होती है। जब इन्द्रियाँ प्रकट होती हैं, तो प्रत्येक पर उनका

अधिष्ठाता देव रहता है। इसकी पुष्टि *भागवत* के इस कथन से तथा *ब्रह्म-संहिता* से भी होती है कि भगवान् के विराट रूप के नेत्रों के रूप में सूर्य प्रकट होता है। सूर्य विराट रूप के नेत्रों पर आश्रित है। *ब्रह्म-संहिता* का यह भी कथन है कि सूर्य श्रीभगवान् कृष्ण का नेत्र है। *यच्चक्षुरेष सविता*। सविता का अर्थ सूर्य है। सूर्य भगवान् का नेत्र है। वास्तव में, प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति परमेश्वर के शरीर से होती है। प्रकृति पदार्थों की पूर्तिकर्त्री मात्र है। सृष्टि तो परमेश्वर द्वारा की जाती है जैसाकि *भगवद्गीता* (९.१०) में पुष्टि हुई है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्*—इस दृश्य जगत में प्रकृति मेरी अध्यक्षता में समस्त चर तथा अचर वस्तुओं को उत्पन्न करती है।

निर्बिभेद विराजस्त्वग्रोमश्मश्र्वादयस्ततः ।
तत ओषधयश्चासन्शिश्नं निर्बिभिदे ततः ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ

निर्बिभेद—प्रकट हुआ; विराजः—विराट रूप का; त्वक्—त्वचा, चमड़ी; रोम—बाल; श्मश्रु—दाढ़ी, मूँछ; आदयः—इत्यादि; ततः—तब; ततः—उस पर; ओषधयः—जड़ी-बूटियाँ; च—यथा; आसन्—प्रकट हुईं; शिश्नम्—लिंग; निर्बिभिदे—प्रकट हुआ; ततः—इसके बाद।

तब भगवान् के विराट रूप, विराट पुरुष ने अपनी त्वचा प्रकट की और उस पर बाल (रोम), मूँछ तथा दाढ़ी निकल आये। तत्पश्चात् सारी जड़ी-बूटियाँ प्रकट हुईं और तब जननेन्द्रियाँ भी प्रकट हुईं।

तात्पर्य : त्वचा स्पर्श अनुभूति का स्थान है। जो देवता जड़ी-बूटियों के उत्पादन का नियन्त्रण करते हैं, वे त्वगेन्द्रिय के अधिष्ठाता हैं।

रेतस्तस्मादाप आसन्निरभिद्यत वै गुदम् ।
गुदादपानोऽपानाच्च मृत्युर्लोकभयङ्करः ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ

रेतः—वीर्य; तस्मात्—उससे; आपः—जल का अधिष्ठाता देव; आसन्—प्रकट हुआ; निरभिद्यत—प्रकट हुआ; वै—निस्सन्देह; गुदम्—गुदा; गुदात्—गुदा से; अपानः—अपान वायु निकालने की इन्द्रिय; अपानात्—अपान से; च—यथा; मृत्युः—मृत्यु; लोक-भयम्-करः—ब्रह्माण्ड भर में भय उत्पन्न करने वाला।

तत्पश्चात् वीर्य (प्रजनन क्षमता) और जल का अधिष्ठाता देव प्रकट हुआ। फिर गुदा

और उसकी इन्द्रिय और उसके भी बाद मृत्यु का देवता प्रकट हुआ जिससे सारा ब्रह्माण्ड भयभीत रहता है।

तात्पर्य : यहाँ यह समझना होगा कि वीर्य-स्खलन की क्षमता ही मृत्यु का कारण है। अत: योगी तथा अध्यात्मवादी, जो अधिक काल तक जीवित रहना चाहते हैं, वे स्वेच्छा से वीर्य-स्खलन रोकते हैं। जो जितना ही वीर्य-स्खलन रोक सकता है, वह उतना ही मृत्यु से दूर रह सकता है। ऐसे अनेक योगी हैं, जो इस विधि से तीन सौ या सात सौ वर्षों तक जीवित रहते हैं। *भागवत* में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वीर्यपात ही भयावह मृत्यु का कारण है। जो जितना ही विषयी होता है उतनी ही जल्दी उसकी मृत्यु होती है।

हस्तौ च निरभिद्येतां बलं ताभ्यां तत: स्वराट् ।
पादौ च निरभिद्येतां गतिस्ताभ्यां ततो हरि: ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ

हस्तौ—दो हाथ; च—यथा; निरभिद्येताम्—प्रकट हुए; बलम्—शक्ति; ताभ्याम्—उनसे; तत:—तत्पश्चात्; स्वराट्—इन्द्र; पादौ—दो पाँव; च—यथा; निरभिद्येताम्—प्रकट हुए; गति:—चलने की क्रिया; ताभ्याम्—उनसे; तत:—तब; हरि:—भगवान् विष्णु।

तत्पश्चात् भगवान् के विराट रूप के दो हाथ प्रकट हुए और उन्हीं के साथ वस्तुओं को पकड़ने तथा गिराने की शक्ति आई। फिर इन्द्र देव प्रकट हुए। तदनन्तर दो पाँव प्रकट हुए, उन्हीं के साथ चलने-फिरने की क्रिया आई और इसके बाद भगवान् विष्णु प्रकट हुए।

तात्पर्य : हाथों का अधिष्ठाता देव इन्द्र और गति का अधिष्ठाता देव भगवान् विष्णु हैं। विराट-पुरुष के पाँव प्रकट होने पर विष्णु का प्राकट्य हुआ।

नाड्योऽस्य निरभिद्यन्त ताभ्यो लोहितमाभृतम् ।
नद्यस्तत: समभवन्नुदरं निरभिद्यत ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ

नाड्य:—नसें, नाड़ियाँ; अस्य—विराट पुरुष की; निरभिद्यन्त—प्रकट हुईं; ताभ्य:—उनसे; लोहितम्—रक्त; आभृतम्—उत्पन्न हुआ; नद्य:—नदियाँ; तत:—उससे; समभवन्—प्रकट हुए; उदरम्—पेट; निरभिद्यत—प्रकट हुआ।

विराट शरीर की नाड़ियाँ प्रकट हुईं और तब लाल रक्त-कणिकाएँ या रक्त प्रकट हुआ। इसके पीछे नदियाँ (नाड़ियों की अधिष्ठात्री) और तब उस शरीर में पेट प्रकट हुआ।

तात्पर्य : रक्त की नाड़ियों की तुलना नदियों से की गई है। जब विराट रूप में नाड़ियाँ प्रकट हुईं तो विभिन्न लोकों में नदियाँ भी प्रकटीं। नदियों का अधिष्ठाता देव नाड़ी-मण्डल का भी अधिष्ठाता है। आयुर्वेदिक चिकित्सा में 'तन्त्रिका अस्थिरता' रोग से पीड़ित व्यक्ति को बहती नदी में डुबकी लगाकर स्नान करने की संस्तुति की जाती है।

क्षुत्पिपासे ततः स्यातां समुद्रस्त्वेतयोरभूत् ।
अथास्य हृदयं भिन्नं हृदयान्मन उत्थितम् ॥ ६० ॥

शब्दार्थ

क्षुत्-पिपासे—भूख तथा प्यास; ततः—तब; स्याताम्—प्रकट हुए; समुद्रः—समुद्र; तु—तब; एतयोः—इनसे; अभूत्—उत्पन्न हुआ; अथ—तब; अस्य—विराट रूप का; हृदयम्—हृदय; भिन्नम्—प्रकट हुआ; हृदयात्—हृदय से; मनः—मन; उत्थितम्—प्रकट हुआ।

तत्पश्चात भूख तथा प्यास की अनुभूतियाँ उत्पन्न हुईं और इनके साथ ही समुद्र का प्राकट्य हुआ। फिर हृदय प्रकट हुआ और हृदय के साथ-साथ मन प्रकट हुआ।

तात्पर्य : समुद्र को पेट का अधिष्ठाता देव माना गया है, जहाँ से भूख तथा प्यास की अनुभूति उत्पन्न होती है। जब किसी को ठीक से भूख प्यास नहीं लगती तो आयुर्वेदिक उपचार में उस मनुष्य को समुद्र में स्नान करने की सलाह दी जाती है।

मनसश्चन्द्रमा जातो बुद्धिर्बुद्धेर्गिरां पतिः ।
अहङ्कारस्ततो रुद्रश्चित्तं चैत्यस्ततोऽभवत् ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ

मनसः—मन से; चन्द्रमाः—चन्द्रमा; जातः—उत्पन्न हुआ; बुद्धिः—बुद्धि; बुद्धेः—बुद्धि से; गिराम् पतिः—वाणी के स्वामी (ब्रह्मा); अहङ्कारः—अहंकार; ततः—तब; रुद्रः—शिव जी; चित्तम्—चेतना; चैत्यः—चेतना का अधिष्ठाता देव; ततः—तब; अभवत्—प्रकट हुआ।

मन के बाद चन्द्रमा प्रकट हुआ। फिर बुद्धि और बुद्धि के बाद ब्रह्मा जी प्रकट हुए। तब अहंकार, फिर शिव जी और शिव जी के बाद चेतना तथा चेतना का अधिष्ठाता देव

प्रकट हुए।

तात्पर्य : मन के प्रकट होने पर चन्द्रमा प्रकट हुआ। यह इस बात का सूचक है कि चन्द्रमा मन का अधिष्ठाता देव है। इसी प्रकार ब्रह्मा जी बुद्धि के बाद प्रकट होने से बुद्धि के अधिष्ठाता हैं और शिवजी अहंकार के बाद प्रकट होने से अंहकार के अधिष्ठाता हैं। दूसरे शब्दों में, चन्द्रमा सतोगुण, ब्रह्मा रजोगुण तथा शिव तमोगुण से सूचक हैं। अहंकार के पश्चात् चेतना का उदय सूचित करता है कि प्रारम्भ से भौतिक चेतना तमोगुण के अधीन रहती है, अत: मनुष्य को अपनी चेतना शुद्ध करके शुद्ध बनना होता है। यह शुद्धिकरण कृष्णचेतना (कृष्णभावनामृत) कहलाती है। चेतना के शुद्ध होते ही अहंकार दूर हो जाता है। आत्मा के साथ शरीर की पहचान मिथ्या पहचान या अहंकार कहलाती है। भगवान् चैतन्य अपनी कृति *शिक्षाष्टक* में इसकी पुष्टि करते हैं। वे कहते हैं कि हरे कृष्ण महामन्त्र के उच्चारण करने का पहला परिणाम यह निकलता है कि चेतना या मन रूपी दर्पण से धूल हट जाती है और तब तुरन्त ही संसार की प्रज्ज्वलित अग्नि समाप्त हो जाती है। संसार की यह अग्नि अहंकार के कारण होती है, किन्तु अहंकार के हटते ही मनुष्य को अपने वास्तविक स्वरूप का पता चल जाता है। उस समय वह सचमुच माया के पाश से मुक्त हो जाता है। ज्योंही वह मिथ्या अंहकार के चंगुल से छूटता है कि उसकी बुद्धि भी विमल हो जाती है और तब उनका मन सदैव भगवान् के चरणकमलों में लगा रहता है।

भगवान् का आविर्भाव पूर्णिमा के दिन गौरचन्द्र के अथवा कलंकरहित दिव्य चन्द्रमा के रूप में हुआ। भौतिक चन्द्रमा में धब्बे होते हैं, किन्तु दिव्य चन्द्रमा अर्थात् गौरचन्द्र में धब्बे नहीं होते। शुद्ध मन को भगवान् की सेवा में लगाने के लिए मनुष्य को निष्कलुष चन्द्रमा या गौरचन्द्र की पूजा करनी होती है। जो लोग कामी हैं या जीवन में उन्नति करने में अपनी बुद्धि का प्रदर्शन करना चाहते हैं, वे सामान्य रूप से बह्मा के उपासक होते हैं और जो लोग घोर अज्ञान में रहकर अपने को शरीर मानते हैं, वे शिवजी की पूजा करते हैं। हिरण्यकशिपु तथा रावण जैसे भौतिकतावादी व्यक्ति ब्रह्मा या शिव के उपासक होते हैं, किन्तु कृष्णचेतना में रहने

वाले प्रह्लाद तथा अन्य भक्त परमेश्वर की उपासना करते हैं।

एते ह्यभ्युत्थिता देवा नैवास्योत्थापनेऽशकन् ।
पुनराविविशुः खानि तमुत्थापयितुं क्रमात् ॥ ६२ ॥

शब्दार्थ

एते—ये; हि—निस्सन्देह; अभ्युत्थिताः—उत्पन्न; देवाः—देवता; न—नहीं; एव—रंचमात्र; अस्य—विराट-पुरुष का; उत्थापने—जगाने में; अशकन्—समर्थ; पुनः—फिर; आविविशुः—प्रविष्ट कर गये; खानि—शरीर के छिद्रों में; तम्—उसको; उत्थापयितुम्—जगाने में; क्रमात्—क्रमशः।

इस तरह जब देवता तथा विभिन्न इन्द्रियों के अधिष्ठाता देव प्रकट हो चुके, तो उन सबों ने अपने-अपने उत्पत्ति स्थान को जगाना चाहा। किन्तु ऐसा न कर सकने के कारण वे विराट-पुरुष को जगाने के उद्देश्य से उनके शरीर में एक-एक करके पुनः प्रविष्ट हो गये।

तात्पर्य : भीतर सोते हुए अधिष्ठाता देव को जगाने के लिए मनुष्य को अपने ऐन्द्रिक कर्मों को बाहर से मोड़कर भीतर ले जाना होता है। अगले श्लोकों में विराट-पुरुष को जगाने के लिए जिन ऐन्द्रिक कर्मों की आवश्यकता होती है उनका सुन्दर वर्णन किया गया है।

वह्निर्वाचा मुखं भेजे नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
घ्राणेन नासिके वायुर्नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ ६३ ॥

शब्दार्थ

वह्निः—अग्निदेव; वाचा—वागेन्द्रिय से; मुखम्—मुँह; भेजे—प्रविष्ट किया; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब; विराट्—विराट-पुरुष; घ्राणेन—घ्राणेन्द्रिय से; नासिके—दोनों नथुनों में; वायुः—वायुदेव; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब; विराट्—विराट-पुरुष।

अग्निदेव ने वागेन्द्रिय से उनके मुख में प्रवेश किया, किन्तु विराट-पुरुष उठा नहीं। तब वायुदेव ने घ्राणेन्द्रिय से होकर उनके नथुनों में प्रवेश किया, तो भी विराट-पुरुष नहीं जागा।

अक्षिणी चक्षुषादित्यो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
श्रोत्रेण कर्णौ च दिशो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ ६४ ॥

शब्दार्थ

अक्षिणी—दो आँखें; चक्षुषा—चक्षु इन्द्रिय से; आदित्यः—सूर्यदेव; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब; विराट्—विराट-पुरुष; श्रोत्रेण—श्रवणेन्द्रिय से; कर्णौ—दो कानों; च—तथा; दिशः—दिशाओं के अधिष्ठाता देव; न—नहीं; उदतिष्ठत्—जागा; तदा—तब; विराट्—विराट-पुरुष।

तब सूर्यदेव ने चक्षुरिन्द्रिय से विराट-पुरुष की आँखों में प्रवेश किया, तो भी वह उठा नहीं। इसी तरह दिशाओं के अधिष्ठाता देवों ने श्रवणेन्द्रिय से होकर उनके कानों में प्रवेश किया, किन्तु तो भी वह नहीं उठा।

त्वचं रोमभिरोषध्यो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
रेतसा शिश्नमापस्तु नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ

त्वचम्—विराट-पुरुष की चमड़ी; रोमभिः—शरीर के ऊपर के रोओं से; ओषध्यः—जड़ी-बूटियों के अधिष्ठाता देव; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब; विराट्—विराट-पुरुष; रेतसा—वीर्य से; शिश्नम्—लिंग; आपः—जल-देव; तु—तब; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब; विराट्—विराट-पुरुष।

त्वचा तथा जड़ी-बूटियों के अधिष्ठाता देवों ने शरीर के रोमों से त्वचा में प्रवेश किया, किन्तु तो भी विराट-पुरुष नहीं उठा। तब जल के अधिष्ठाता देव ने वीर्य के माध्यम से जननांग में प्रवेश किया, किन्तु विराट-पुरुष नहीं जागा।

गुदं मृत्युरपानेन नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
हस्ताविन्द्रो बलेनैव नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ

गुदम्—गुदा; मृत्युः—मृत्यु का देवता; अपानेन—अपान वायु की इन्द्रिय से; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तो भी; विराट्—विराट-पुरुष; हस्तौ—दोनों हाथ; इन्द्रः—इन्द्रदेव; बलेन—वस्तुओं को पकड़ने तथा गिराने की शक्ति से; एव—निस्सन्देह; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—इतने पर भी; विराट्—विराट-पुरुष।

मृत्यु-देव ने अपान-इन्द्रिय से उनकी गुदा में प्रवेश किया, किन्तु विराट-पुरुष में कोई गति नहीं आई। तब इन्द्रदेव ने हाथों में पकड़कर गिराने की शक्ति के हाथों में प्रवेश किया, किन्तु इतने पर भी विराट-पुरुष उठा नहीं।

विष्णुर्गत्यैव चरणौ नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
नाडीर्नद्यो लोहितेन नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ ६७ ॥

शब्दार्थ

विष्णुः—भगवान् विष्णु; गत्या—गति से; एव—निस्सन्देह; चरणौ—दो पाँव; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब भी; विराट्—विराट-पुरुष; नाडीः—नाड़ियाँ; नद्यः—नदियाँ नदी के देवता; लोहितेन—रक्त के द्वारा, संचरण की शक्ति से; न—नहीं; उदतिष्ठत्—हिला डुला; तदा—तो भी; विराट्—विराट-पुरुष।

भगवान् विष्णु ने गति की क्षमता के साथ उनके पाँवों में प्रवेश किया, किन्तु तब भी विराट-पुरुष ने खड़े होने से इनकार कर दिया। तब नदियों ने रक्त-नाड़ियों तथा संचरण शक्ति के माध्यम से रक्त में प्रवेश किया, किन्तु तो भी विराट-पुरुष हिला डुला नहीं।

क्षुत्तृड्भ्यामुदरं सिन्धुर्नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
हृदयं मनसा चन्द्रो नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ ६८ ॥

शब्दार्थ

क्षुत्-तृड्भ्याम्—भूख तथा प्यास से; उदरम्—पेट में; सिन्धुः—समुद्र या समुद्रदेवता; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब भी; विराट्—विराट-पुरुष; हृदयम्—हृदय; मनसा—मन से; चन्द्रः—चन्द्रदेव; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब; विराट्—विराट्-पुरुष।

सागर ने भूख तथा प्यास के सहित उसके पेट में प्रवेश किया, किन्तु तो भी विराट-पुरुष ने उठने से इनकार कर दिया। चन्द्रदेव ने मन के साथ उसके हृदय में प्रवेश किया, किन्तु विराट-पुरुष को जगाया न जा सका।

बुद्ध्या ब्रह्मापि हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराट् ।
रुद्रोऽभिमत्या हृदयं नोदतिष्ठत्तदा विराट् ॥ ६९ ॥

शब्दार्थ

बुद्ध्या—बुद्धि से; ब्रह्मा—ब्रह्मा जी ने; अपि—भी; हृदयम्—हृदय में; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तो भी; विराट्—विराट-पुरुष; रुद्रः—शिवजी; अभिमत्या—अहंकार से; हृदयम्—हृदय को; न—नहीं; उदतिष्ठत्—उठा; तदा—तब भी; विराट्—विराट-पुरुष।

ब्रह्मा भी बुद्धि के साथ उसके हृदय में प्रविष्ट हुए, किन्तु तब भी विराट-पुरुष उठने के लिए राजी न हुआ। रुद्र ने भी अहंकार समेत उसके हृदय में प्रवेश किया, किन्तु तो भी वह टस से मस न हुआ।

चित्तेन हृदयं चैत्यः क्षेत्रज्ञः प्राविशद्यदा ।
विराट्तदैव पुरुषः सलिलादुदतिष्ठत ॥ ७० ॥

शब्दार्थ

चित्तेन—चेतना या तर्क से; हृदयम्—हृदय में; चैत्यः—चेतना का अधिष्ठाता देव; क्षेत्र-ज्ञः—क्षेत्र को जानने वाला; प्राविशत्—घुसा; यदा—जब; विराट्—विराट-पुरुष; तदा—तब; एव—ही; पुरुषः—विराट्-पुरुष; सलिलात्—जल से; उदतिष्ठत—उठ गया।

किन्तु जब चेतना का अधिष्ठाता, अन्तःकरण का नियामक, तर्क के साथ हृदय में प्रविष्ठ हुआ तो उसी क्षण विराट-पुरुष कारणार्णव से उठ खड़ा हुआ।

यथा प्रसुप्तं पुरुषं प्राणेन्द्रियमनोधियः ।
प्रभवन्ति विना येन नोत्थापयितुमोजसा ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; प्रसुप्तम्—सोया हुआ; पुरुषम्—मनुष्य; प्राण—प्राणवायु; इन्द्रिय—कर्म तथा ज्ञान की इन्द्रियाँ; मनः—मन; धियः—बुद्धि; प्रभवन्ति—समर्थ हैं; विना—के बिना; येन—जिसको (परमात्मा); न—नहीं; उत्थापयितुम्—उठाने में; ओजसा—अपनी शक्ति से।

जब मनुष्य सोता रहता है, तो उसकी सारी भौतिक सम्पदा—यथा प्राणशक्ति, ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि—उसे उत्प्रेरित नहीं कर सकतीं। वह तभी जागृत हो पाता है जब परमात्मा उसकी सहायता करता है।

तात्पर्य : सांख्य दर्शन की व्याख्या यहाँ पर इस दृष्टिकोण से विस्तार से की गई है कि विराट पुरुष अर्थात् श्रीभगवान् का विश्वरूप ही विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों एवं उनके अधिष्ठातृ देवों का उत्पत्ति-केन्द्र है। विराट पुरुष एवं ज्ञानेन्द्रियों के अधिष्ठातृ देवों का अथवा जीवों का सम्बन्ध ऐसा जटिल है कि केवल ज्ञानेन्द्रियों के प्रयोग मात्र से उनके अधिष्ठातृ देवों (भले ही वे परस्पर सम्बद्ध हों) जगाया नहीं जा सकता। विराट पुरुष को जगाना या परमेश्वर को लौकिक कार्यों से सम्बद्ध करना सम्भव नहीं है। केवल भक्तियोग एवं वैराग्य से ही अखिल परमेश्वर से सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है।

तमस्मिन्प्रत्यगात्मानं धिया योगप्रवृत्तया ।
भक्त्या विरक्त्या ज्ञानेन विविच्यात्मनि चिन्तयेत् ॥ ७२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उस पर; अस्मिन्—इसमें; प्रत्यक्-आत्मानम्—परमात्मा; धिया—मन से; योग-प्रवृत्तया—भक्ति में संलग्न; भक्त्या—भक्ति के माध्यम से; विरक्त्या—विरक्ति से; ज्ञानेन—ज्ञान से; विविच्य—सावधानी से विचार करते हुए; आत्मनि—शरीर में; चिन्तयेत्—सोचना चाहिए।

अतः मनुष्य को समर्पण, वैराग्य तथा एकाग्र भक्ति के माध्यम से प्राप्त आध्यत्मिक

ज्ञान में प्रगति के द्वारा इसी शरीर में परमात्मा को विद्यमान समझ कर उसका चिन्तन करना चाहिए यद्यपि वे इससे अलग रहते हैं।

तात्पर्य : मनुष्य अपने भीतर परमात्मा का साक्षात्कार कर सकता है। वे मनुष्य के शरीर के भीतर रहते हैं, किन्तु वे इस शरीर से अलग हैं अथवा इस शरीर से परे हैं। यद्यपि परमात्मा व्यष्टि आत्मा के साथ उस शरीर में आसीन है, किन्तु शरीर में उसकी कोई अनुरक्ति नहीं रहती जब कि आत्मा की होती है। अतएव मनुष्य के भक्तिमय सेवा के द्वारा इस भौतिक शरीर से अपने को विलग कर लेना चाहिए। यहाँ पर यह स्पष्ट उल्लेख (*भक्त्या*) है कि मनुष्य को परमेश्वर की भक्ति करनी होती है। जैसा कि *श्रीमद्भागवत* (१.२.७) में कहा गया है—*वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित:*—जब वासुदेव अर्थात् सर्वव्यापी भगवान् विष्णु की शुद्ध भक्ति की जाती है, तो इस भौतिक जगत से तुरन्त विरक्ति उत्पन्न होने लगती है। सांख्य का उद्देश्य मनुष्य को भौतिक कल्मष से विलग करना है। श्रीभगवान् की भक्ति करने मात्र से इस उद्देश्य की प्राप्ति हो जाती है।

जब मनुष्य भौतिक सम्पत्ति की आसक्ति से विरक्त हो जाता है, तो वह अपना मन परमात्मा में केन्द्रित कर सकता है। जब तक मन इस संसार की ओर भटकता रहता है तब तक मन तथा बुद्धि को श्रीभगवान् या उनके अंश-रूप अर्थात् परम-आत्मा में केन्द्रित कर पाना असम्भव होता है। दूसरे शब्दों में, जब तक मनुष्य भौतिक संसार से विरक्त नहीं हो जाता तब तक वह अपने मन तथा शक्ति को परमेश्वर में नहीं लगा पाता। भौतिक जगत से विरक्त हो जाने के बाद मनुष्य सचमुच परम सत्य का दिव्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है। जब तक वह इन्द्रियभोग या सांसारिक भोग में फँसा रहता है तब तक परम सत्य को समझ पाना सम्भव नहीं होता। *भगवद्गीता* (१८.५४) में भी इसकी पुष्टि हुई है। भौतिक कल्मष से मुक्त व्यक्ति प्रसन्न रहता है और भक्ति में प्रवेश कर सकता है तथा भक्तियोग के द्वारा मुक्त हो सकता है।

श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध में कहा गया है कि मनुष्य भक्ति करके प्रसन्न होता है और प्रसन्न रहने पर वह तत्त्वज्ञान या कृष्णभक्ति को समझ सकता है, अन्यथा ऐसा असम्भव है।

प्रकृति के तत्त्वों का विश्लेषणात्मक अध्ययन तथा परमात्मा में मन को केन्द्रित करना यही सांख्य दर्शन का सार है। इस सांख्ययोग की सिद्धि परम सत्य की भक्ति के साथ पूर्ण होती है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत ''प्रकृति के मूलभूत सिद्धान्त'' नामक छब्बीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter सत्ताईस

प्रकृति का ज्ञान

श्रीभगवानुवाच
प्रकृतिस्थोऽपि पुरुषो नाज्यते प्राकृतैर्गुणैः ।
अविकारादकर्तृत्वान्निर्गुणत्वाज्जलार्कवत् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; प्रकृति-स्थ:—भौतिक शरीर में वास करते; अपि—यद्यपि; पुरुषः—जीवात्मा; न—नहीं; अज्यते—प्रभावित होता है; प्राकृतैः—प्रकृति के; गुणैः—गुणों से; अविकारात्—बिना परिवर्तन आये, निर्विकार; अकर्तृत्वात्—कर्तृत्व से स्वतन्त्र; निर्गुणत्वात्—प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहने से; जल—जल पर; अर्कवत्—सूर्य के समान।

भगवान् कपिल ने आगे कहा : जिस प्रकार सूर्य जल पर पड़ने वाले प्रतिबिम्ब से भिन्न रहा आता है उसी तरह जीवात्मा शरीर में स्थित होकर भी प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहता है, क्योंकि वह अपरिवर्तित रहता है और किसी प्रकार का इन्द्रियतुष्टि का कर्म नहीं करता।

तात्पर्य : पिछले अध्याय में भगवान् कपिल ने यह निष्कर्ष निकाला कि मात्र भक्ति प्रारम्भ करके मनुष्य विरक्ति प्राप्त कर सकता है तथा *आत्मतत्त्व* को समझने के लिए दिव्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यहाँ उसी सिद्धान्त की पुष्टि की गई है। जो मनुष्य प्रकृति के गुणों से विरक्त रहता है, वह जल से प्रतिबिम्बित सूर्य के समान है। जब जल पर सूर्य प्रतिबम्बित होता है, तो जल की गति, या उसकी शीतलता या अस्थिरता का सूर्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार *वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित:* (*भागवत* १.२.७)—जब मनुष्य भक्ति कार्यों या भक्तियोग में पूरी तरह लग जाता है, तो वह उसी तरह हो जाता है जैसे जल पर प्रतिबिम्बित सूर्य। यद्यपि भक्त भौतिक जगत में रहता प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वह दिव्य जगत में होता है। जिस प्रकार सूर्य का प्रतिबिम्ब जल पर प्रतीत होता है, किन्तु सूर्य जल से लाखों मील दूरी पर होता है उसी प्रकार भक्तियोग में लगा मनुष्य निर्गुण होता है अर्थात् प्रकृति के गुणों से अप्रभावित रहता है।

अविकार का अर्थ है 'परिवर्तनरहित'। *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है कि प्रत्येक जीव

परमात्मा का अंश है, अत: उसकी शाश्वत स्थिति यह है कि वह परमेश्वर के संग जुड़े या उनकी शक्ति का दास बने। यही उसकी अपरिवर्तनीय (अविकारी) स्थिति है। ज्योंही वह अपनी शक्ति तथा कार्यों को इन्द्रियतृप्ति में लगाता है कि उसकी स्थिति बदल जाती है और यह बदली हुई स्थिति *विकार* कहलाती है। इसी प्रकार जब वह गुरु के निर्देशन में भक्ति करता है, तो उसकी स्थिति बदलती नहीं, क्योंकि यह तो उसका प्राकृतिक कर्तव्य है। जैसाकि *श्रीमद्भागवत* में उल्लेख है, मुक्ति का अर्थ है मूल स्थिति में पुन:स्थापना। मूल स्थिति तो भगवान् की भक्ति करना (*भक्तियोगेन, भक्त्या*) है। जब मनुष्य भौतिक आकर्षण से विरक्त हो जाता है और भक्ति में पूरी तरह लग जाता है, तो यह अपरिवर्तनशीलता है। *अकर्तृत्वात्* का अर्थ है इन्द्रियतृप्ति के लिए कुछ भी न करना। जब मनुष्य अपने बूते पर कोई काम करता है, तो उसमें स्वामित्व की भावना रहती है और इसीलिए प्रतिक्रिया होती है, किन्तु जब वह कृष्ण के लिए सब कुछ करता है, तो कर्मों के ऊपर उसका कोई कर्तृत्व नहीं रहता। अपरिवर्तनशील तथा कर्म के कर्तृत्व का अधिकार न माँगने से वह तुरन्त दिव्य स्थिति को प्राप्त होता है जहाँ उसे प्रकृति के गुण छू तक नहीं पाते, ठीक उसी प्रकार जिस तरह सूर्य का प्रतिबिम्ब जल द्वारा अप्रभावित रहता है।

स एष यर्हि प्रकृतेर्गुणेष्वभिविषज्जते ।
अहङ्क्रियाविमूढात्मा कर्तास्मीत्यभिमन्यते ॥ २॥

शब्दार्थ

सः—वही जीवात्मा; **एषः**—यह; **यर्हि**—जब; **प्रकृतेः**—प्रकृति के; **गुणेषु**—गुणों में; **अभिविषज्जते**—लीन रहता है; **अहङ्क्रिया**—अहंकार से; **विमूढ**—मोहग्रस्त; **आत्मा**—जीवात्मा; **कर्ता**—करने वाला; **अस्मि**—मैं हूँ; **इति**—इस प्रकार; **अभिमन्यते**—सोचता है।.

जब आत्मा प्रकृति के जादू तथा अहंकार के वशीभूत होता है और शरीर को स्व (आत्मा) मान लेता है, तो वह भौतिक कार्यकलापों में लीन रहने लगता है और अहंकारवश सोचता है कि मैं ही प्रत्येक वस्तु का कर्ता हूँ।

तात्पर्य : वास्तविकता तो यह है कि बद्धजीव को प्रकृति के गुणों के वशीभूत होकर कार्य करना पड़ता है। जीवात्मा को तनिक भी स्वाधीनता नहीं है। जब वह भगवान् के निर्देशन में

रहता है, तो वह मुक्त होता है, किन्तु जब वह इस भाव से कि वह इन्द्रियों की तुष्टि कर रहा है, अपने आपको इन्द्रियतुष्टि के कार्यों में लगा देता है, तो वास्तव में वह प्रकृति के जादू में बँध जाता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है *प्रकृतिः क्रियमाणानि*—मनुष्य प्रकृति के उन गुणों के अनुसार कार्य करता है, जो उसने अर्जित किए हैं। *गुण* से प्रकृति के गुण सूचित होते हैं। वह प्रकृति के गुणों के अधीन रहता है, किन्तु भ्रमवश अपने को कर्ता समझता है। यह कर्तृत्व की भ्रान्त धारणा भगवान् या उनके प्रामाणिक प्रतिनिधि के निर्देशानुसार भक्ति में लगने से ही दूर हो पाती है। *भगवद्गीता* में अर्जुन युद्ध में अपने पितामह तथा गुरु के मरने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर ले रहा था, किन्तु जब उसने कृष्ण के निर्देशानुसार कार्य किया, तो वह कार्य के कर्तृत्व से मुक्त हो गया। वह लड़ा, किन्तु लड़ने के फल से मुक्त कर दिया गया, यद्यपि प्रारम्भ में जब वह अहिसंक था, लड़ने को तैयार न था, तो सारा दायित्व उसी पर था। यही मुक्ति तथा बद्धता के बीच अन्तर है। बद्धजीव भले ही उत्तम और सतोगुणी हो, किन्तु तो भी वह प्रकृति के सम्मोह के वशीभूत रहता है। फिर भी भक्त परमेश्वर के निर्देशन में कार्य करता है। इस तरह उसके कार्य सामान्य व्यक्ति को भले ही अति उच्च कोटि के न प्रतीत हों, किन्तु भक्त पर कोई उत्तरदायित्व नहीं रहता।

तेन संसारपदवीमवशोऽभ्येत्यनिर्वृतः ।
प्रासङ्गिकैः कर्मदोषैः सदसन्मिश्रयोनिषु ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तेन—उससे; संसार—बारम्बार जन्म-मृत्यु का; पदवीम्—मार्ग, पथ; अवशः—निरुपाय होकर; अभ्येति—भोगता है; अनिर्वृतः—असंतुष्ट; प्रासङ्गिकैः—प्रकृति की संगति से उत्पन्न; कर्म-दोषैः—गलत कर्मों से; सत्—अच्छा; असत्—बुरा; मिश्र—मिला-जुला; योनिषु—विविध योनियों में।

अतः बद्धजीव भौतिक प्रकृति के गुणों के साथ अपनी संगति के कारण उच्चतर तथा निम्नतर विभिन्न योनियों में देहान्तर करता रहता है। जब तक वह भौतिक कार्यों से मुक्त नहीं हो लेता उसे अपने दोषपूर्ण कार्य के फलस्वरूप यह स्थिति स्वीकार करते रहनी पड़ती है।

तात्पर्य : यहाँ पर *कर्मदोषैः* का अर्थ है ''त्रुटिपूर्ण कर्मों से''। यह इस संसार में अच्छा या

बुरा जो भी कर्म किया जाता है उनको निर्देश करता है—वे भौतिक संसर्ग के कारण कल्मषयुक्त तथा त्रुटिपूर्ण होते हैं। मूर्ख बद्धजीव यह सोच सकता है कि वह लोक-कल्याण के लिए अस्पताल खोलकर या शिक्षा देने के लिए शैक्षिण संस्थान खोलकर दान दे रहा है, किन्तु वह यह नहीं जानता कि ऐसे सारे कार्य दोषपूर्ण होते हैं, क्योंकि इससे उसे एक शरीर से दूसरे में देहान्तरण से छूट नहीं मिल सकती। यहाँ स्पष्ट उल्लेख है—*सद्-असत्-मिश्र-योनिषु*—जिसका अर्थ है कि इस संसार में अपने पुण्य कर्मों के लिए मनुष्य उच्चवंश में या उच्च लोकों में देवताओं के मध्य जन्म ले सकता है। किन्तु उसका यह कार्य भी दोषपूर्ण है, क्योंकि इससे मुक्ति नहीं मिलती। उत्तम स्थान या उच्च कुल में जन्म लेने का अर्थ यह नहीं होता कि इससे सांसारिक क्लेशों, अर्थात् जन्म, मृत्यु, जरा तथा व्याधि के कष्टों से बचा जा सकता है। बद्धजीव प्रकृति के सम्मोह के वशीभूत होकर यह नहीं समझ पाता कि इन्द्रियतृप्ति के लिए जो भी कार्य किया जाता है, वह दोषपूर्ण होता है। केवल भगवान् की भक्ति के लिए किये जाने वाले कार्य उसे दोषपूर्ण कर्म के फल से छुटकारा दिला सकते हैं। चूँकि वह ऐसे दोषपूर्ण कार्य बन्द नहीं करता इसलिए उसे शरीर बदलने पड़ते हैं, कभी उच्च तो कभी निम्न। यह *संसार-पदवीम्* कहलाता है, जिसका अर्थ है 'यह जगत जिससे छुटकारा नहीं है'। जो मनुष्य मुक्ति की कामना करता है उसे अपने कर्म भक्ति के लिए करने होंगे। इसका कोई विकल्प नहीं है।

अर्थे ह्यविद्यमानेऽपि संसृतिर्न निवर्तते ।
ध्यायतो विषयानस्य स्वप्नेऽनर्थागमो यथा ॥ ४॥

शब्दार्थ

अर्थे—असली कारण; हि—निश्चय ही; अविद्यमाने—उपस्थित न होने पर; अपि—यद्यपि; संसृतिः—सांसारिक दशा; न—नहीं; निवर्तते—रुकती है; ध्यायतः—ध्यान करने से; विषयान्—भोग; अस्य—जीवात्मा का; स्वप्ने—स्वप्न में; अनर्थ—हानियों का; आगमः—आना; यथा—जिस तरह।

वास्तव में जीवात्मा इस संसार से परे है, किन्तु प्रकृति पर अधिकार जताने की अपनी मनोवृत्ति के कारण उसके संसार-चक्र की स्थिति कभी रुकती नहीं और वह सभी प्रकार की अलाभकर स्थितियों से प्रभावित होता है, जिस प्रकार कि स्वप्न में होता

है।

तात्पर्य : स्वप्न का उदाहरण अत्यन्त उपयुक्त है। स्वप्न में हम विभिन्न मानसिक दशाओं के कारण हानिकारक तथा लाभकर परिस्थितियों में रहते हैं। इसी प्रकार आत्मा को इस प्रकृति से कुछ लेना देना नहीं, किन्तु अधिकार जताने की अपनी मनोवृत्ति के कारण उसे बद्ध होना पड़ता है।

बद्ध दशा को यहाँ पर *ध्यायतो विषयानस्य* कहा गया है। *विषय* का अर्थ है भोग्य वस्तु। जब तक मनुष्य यह सोचता रहता है कि वह भौतिक लाभ उठा सकता है, तब तक वह बद्ध जीवन में बना ही रहता है, किन्तु ज्योंही उसे चेत होता है, तो उसमें ज्ञान उत्पन्न होता है कि वह भोक्ता नहीं है, क्योंकि एकमात्र भोक्ता श्रीभगवान् हैं। जैसाकि *भगवद्‌गीता* (५.२९) में पुष्टि की गई है, वह (ईश्वर) समस्त यज्ञों तथा तपस्याओं के फल का लाभ उठाने वाला (*भोक्तारं यज्ञ-तपसाम्*) और तीनों लोकों का स्वामी है (*सर्वलोकमहेश्वरम्*)। वही समस्त जीवात्माओं का असली सखा है। किन्तु हम भगवान् पर समस्त स्वामित्व, भोग तथा समस्त जीवों के सखा होने का भार न छोड़कर अपने को ही स्वामी, भोक्ता तथा सखा मानते हैं। हम यह सोचकर कल्याणकारी कार्य करते हैं कि हम मानव समाज के सखा हैं। कोई अपने को भले ही उत्तम राष्ट्रीय कार्यकर्ता, जनता तथा देश का श्रेष्ठतम मित्र कह ले, किन्तु वह किसी का श्रेष्ठतम मित्र नहीं हो सकता। एकमात्र मित्र तो श्रीकृष्ण हैं। हमें चाहिए कि हम बद्धजीव की चेतना को इस स्तर तक उठा दें कि वह यह समझने लगे कि कृष्ण उसका वास्तविक मित्र है। यदि वह कृष्ण से मित्रता स्थापित करता है, तो उसे कोई कभी धोखा नहीं दे सकता और उसे यह सारी वांछित सहायता मिलती रहेगी। इस बद्धजीव में इस चेतना को उत्पन्न करना सबसे बड़ी सेवा है, अपने को अन्य जीवात्मा का महान् मित्र बताना कोई सेवा नहीं है। मित्रता की शक्ति सीमित है। यद्यपि मनुष्य अपने को मित्र घोषित करता है, किन्तु वह अनन्त काल तक मित्र नहीं बना रह सकता। जीवात्माएँ अनन्त हैं और हमारे साधन सीमित हैं, अत: हम सामान्य लोगों को लाभ नहीं पहुँचा सकते। सामान्य लोगों की श्रेष्ठतम सेवा यही है कि हम

उनमें कृष्णभक्ति उत्पन्न करें जिससे वे जान सकें कि कृष्ण ही परम भोक्ता, परम कर्ता तथा परम मित्र हैं। तब प्रकृति के ऊपर अधिकार करने का मोहक सपना भंग हो जाएगा।

अत एव शनैश्चित्तं प्रसक्तमसतां पथि ।
भक्तियोगेन तीव्रेण विरक्त्या च नयेद्वशम् ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

अतः एव—अतः, इसलिए; शनैः—धीरे-धीरे; चित्तम्—मन, चेतना को; प्रसक्तम्—आसक्त; असताम्—भौतिक भोगों के; पथि—पथ पर; भक्ति-योगेन—भक्ति से; तीव्रेण—अत्यन्त गम्भीर; विरक्त्या—विरक्ति से, बिना आसक्ति के; च—तथा; नयेत्—वह लावे; वशम्—वश में।

प्रत्येक बद्धजीव का कर्तव्य है कि वह भौतिक सुखोपभोग के प्रति आसक्त अपनी दूषित चेतना को विरक्तिपूर्वक अत्यन्त गम्भीर भक्ति में लगावे। इस प्रकार उसका मन तथा चेतना पूरी तरह वश में हो जाएँगे।

तात्पर्य : इस श्लोक में मुक्ति की विधि अति सुन्दर ढंग से समझाई गई है। प्रकृति द्वारा बद्ध किये जाने का कारण मनुष्य का यह सोचना है कि वह स्वयं भोक्ता, कर्ता या समस्त जीवों का मित्र है। यह मिथ्या विचार इन्द्रियभोग के चिन्तन का परिणाम है। जब मनुष्य यह सोचता है कि वह अपने देश, समाज या कि मानवता का सर्वोत्तम मित्र है और तब वह विविध राष्ट्रीयतृप्ति, परोपकारी एवं परमार्थवादी कार्यों में अपने को लगाता है, तो यह सब मात्र इन्द्रियतृप्ति के प्रति अधिक एकाग्रता रहती है। ऐसा तथाकथित राष्ट्रीय नेता या मानवतावादी सबकी सेवा नहीं करता, वह मात्र अपनी इन्द्रियों की सेवा करता है। यह तथ्य है। किन्तु बद्धजीव इसे नहीं समझ पाता, क्योंकि वह प्रकृति के मायाजाल से मोहग्रस्त रहता है। अतः इस श्लोक में संस्तुति की गई है कि मनुष्य भगवान् की सेवा अत्यन्त गम्भीरतापूर्वक करे। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य अपने को कर्ता, हितैषी, मित्र या भोक्ता न समझे। उसे सदैव इसका भान होना चाहिए कि वास्तविक भोक्ता तो पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण हैं। यही भक्तियोग का मूल सिद्धान्त है। मनुष्य को इन तीन सिद्धान्तों के प्रति पूर्ण रूप से आश्वस्त हो जाना चाहिए; कृष्ण स्वामी हैं, कृष्ण भोक्ता हैं और कृष्ण ही मित्र हैं। उसे इन सिद्धान्तों को न केवल स्वयं समझना चाहिए, अपितु उसे चाहिए कि अन्यों को विश्वास दिलावे और कृष्णभक्ति

का प्रसार करे।

जैसे ही मनुष्य अपने को भगवान् की ऐसी गम्भीर भक्ति में लगा लेता है, प्रकृति के ऊपर झूठे ही स्वामित्व दिखाने की रुचि स्वाभाविक रूप से दूर हो जाती है। यह अनासक्ति वैराग्य कहलाती है। भौतिक स्वामित्व में लीन रहने के बजाय जब मनुष्य कृष्णभक्ति में लग जाता है, तो यही चेतना (चित्त) का नियंत्रण है। योग विधि में इन्द्रियों का निरोध आवश्यक है। *योग इन्द्रिय-संयमः*। चूँकि इन्द्रियाँ सदैव सक्रिय रहती हैं, अतः उनकी सक्रियता को भगवान् की सेवा में लगाना चाहिए, क्योंकि मनुष्य उनकी सक्रियता को रोक नहीं सकता। यदि किसी कृत्रिम ढंग से कोई उनकी सक्रियता को रोकना चाहे तो प्रयास असफल रहता है। यहाँ तक कि परम योगी विश्वामित्र, जो अपनी इन्द्रियों को योग-विधि से वश में करने का प्रयत्न कर रहे थे, मेनका के सौन्दर्य के शिकार हो गये। ऐसे अनेक उदाहरण हैं। जब तक मनुष्य का मन तथा चेतना भक्ति में पूरी तरह संलग्न नहीं होते तब तक मन के इन्द्रियतृप्ति की कामनाओं में लगे रहने की सम्भावना बनी रहती है।

इस श्लोक में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात इंगित की गई है। यह है—*प्रसक्तम् असतां पथि*—मन सदैव *असत्* अर्थात् क्षणिक संसार में अनुरक्त रहता है। चूँकि हम अनादि काल से प्रकृति के संसर्ग में रहे हैं, अतः हम इस क्षणिक प्रकृति के प्रति अनुरक्त रहने के आदी हो चुके हैं। मन को परमेश्वर के चरणकमलों में स्थिर करना होगा। *स वै मनः कृष्ण पदारविन्दयोः*—मनुष्य को कृष्ण के चरणकमलों में स्थिर करना होता है। तभी सब कुछ ठीक हो सकेगा। इस तरह इस श्लोक में भक्तियोग की गम्भीरता पर बल दिया गया है।

यमादिभिर्योगपथैरभ्यसञ्श्रद्धयान्वितः ।
मयि भावेन सत्येन मत्कथाश्रवणेन च ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यम-आदिभिः—यम इत्यादि; योग-पथैः—योगपद्धति के द्वारा; अभ्यसन्—अभ्यास करते हुए; श्रद्धया अन्वितः—परम श्रद्धा समेत; मयि—मुझमें; भावेन—भक्ति से; सत्येन—अमिश्रित; मत्-कथा—मेरे विषय की कथाएँ; श्रवणेन—सुनने से; च—तथा।

मनुष्य को योग पद्धति की संयम आदि विधियों के अभ्यास द्वारा श्रद्धालु बनना

चाहिए और मेरे कीर्तन तथा श्रवण द्वारा अपने आपको शुद्ध भक्ति के पद तक ऊपर उठाना चाहिए।

तात्पर्य : योगाभ्यास की आठ अवस्थाएँ हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। यम तथा नियम का अर्थ है कठिन नियमों का पालन करते हुए संयम का अभ्यास करना। आसन से बैठने की विधियों का द्योतन होता है। इनके द्वारा श्रद्धा (निष्ठा) पद तक पहुँचा जा सकता है। शारीरिक कसरत के द्वारा योगाभ्यास अन्तिम लक्ष्य नहीं है; असली उद्देश्य तो मन को केन्द्रित करना तथा अपने आपको श्रद्धापूर्ण भक्ति के पद पर पहुँचने के लिए प्रशिक्षित करना है।

योग या अन्य किसी आध्यात्मिक क्रिया के अभ्यास में *भावेन* या *भाव* एक महत्त्वपूर्ण कारक है। *भगवद्गीता* (१०.८) में *भाव* की व्याख्या इस प्रकार की गई है—*बुधा भावसमन्विताः*—मनुष्य को कृष्णप्रेम के विचार में लीन रहना चाहिए। जब वह यह जान जाता है कि भगवान् कृष्ण ही सभी वस्तुओं के स्रोत हैं और सारी वस्तुएँ उन्हीं से उद्भूत होती हैं (*अहं सर्वस्य प्रभवः*) तो वह वेदान्त की इस सूक्ति—*जन्माद्यस्य यतः* (सभी वस्तुओं का मूल स्रोत) को समझता है और तब वह भाव या ईश्वर-प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था में लीन हो जाता है।

रूप गोस्वामी ने *भक्ति-रसामृत-सिंधु* में बड़े ही सुन्दर ढंग से समझाया है कि किस तरह यह *भाव* प्राप्त किया जाता है। उनका कथन है कि सबसे पहले मनुष्य को श्रद्धालु बनना होता हैं (*श्रद्धयान्वितः*)। श्रद्धा की प्राप्ति या तो योगाभ्यास से जिसमें विधि-विधानों एवं आसनों का अभ्यास किया जाता है, या भक्ति योग में सीधे लगने से होती है जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है। भक्तियोग के नौ विभिन्न कार्यक्रमों में सबसे पहला है कीर्तन तथा भगवान् के विषय में श्रवण करना। इसका भी यहाँ उल्लेख हुआ है। *मत्-कथा-श्रवणेन च*। मनुष्य योग के विधि-विधानों का पालन करके *श्रद्धयान्वित* पद तक पहुँच सकता है और यही पद भगवान् के दिव्य कार्यकलापों के मात्र कीर्तन तथा श्रवण द्वारा भी प्राप्त किया जा सकता है। *च* शब्द

महत्पवूर्ण है। भक्तियोग प्रत्यक्ष है और अन्य विधि अप्रत्यक्ष है। किन्तु यदि अप्रत्यक्ष विधि को अपनाया जाय तो भी तब तक सफलता प्राप्त नहीं होती जब तक कि भगवान् की महिमा के श्रवण तथा कीर्तन की प्रत्यक्ष विधि ग्रहण न की जाय। इसीलिए यहाँ *सत्येन* शब्द व्यवहृत हुआ है। स्वामी श्रीधर की टीका है कि *सत्येन* का अर्थ है *निष्कपटेन,* ''छल-कपट के बिना''। निर्विशेषवादी छल-कपट से परिपूर्ण होते हैं। कभी-कभी वे भक्ति करने का स्वाँग भरते हैं, किन्तु उनका चरम लक्ष्य परमेश्वर से तादात्म्य रहता है। यह छल या कपट है। *भागवत* ऐसे कपट की अनुमति प्रदान नहीं करता। *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में स्पष्ट उल्लेख है—*परमो निर्मत्सराणाम्*—''यह *श्रीमद्भागवत* भाष्य उन लोगों के लिए हैं, जो ईर्ष्या से पूर्णतया मुक्त हैं।'' इसी बात पर पुनः बल दिया गया है। श्रीभगवान् के प्रति पूर्णतया श्रद्धावान हुए और भगवान् की महिमा का श्रवण तथा कीर्तन किये बिना मुक्ति की कोई सम्भवाना नहीं रहती।

सर्वभूतसमत्वेन निर्वैरेणाप्रसङ्गतः ।
ब्रह्मचर्येण मौनेन स्वधर्मेण बलीयसा ॥ ७॥

शब्दार्थ

सर्व—सभी; भूत—जीव; समत्वेन—समान रूप से देखने से; निर्वैरेण—बिना शत्रुता के; अप्रसङ्गतः—बिना घनिष्ट सम्बन्ध के; ब्रह्म-चर्येण—ब्रह्मचर्य के द्वारा; मौनेन—मौन व्रत से; स्व-धर्मेण—अपनी वृत्ति से; बलीयसा—फल को अर्पित करने से।.

भक्तिमय सेवा सम्पन्न करने में मनुष्य को प्रत्येक जीव को समभाव से एवं किसी के प्रति शत्रुतारहित होते हुए घनिष्ठता से रहित होकर देखना होता है। उसे ब्रह्मचर्य व्रत धारण करना होता है, गम्भीर होना होता है और कर्म फलों को भगवान् को अर्पित करते हुए अपने नित्य कर्म करने होते हैं।

तात्पर्य : भगवान् का भक्त जो गम्भीरतापूर्वक भक्ति में लगा रहता है उसके लिए समस्त जीव एकसमान हैं। जीवों की विभिन्न योनियाँ हैं, किन्तु भक्त बाहरी आवरण को नहीं देखता, उसे तो शरीर के भीतर निवास करने वाले आत्मा का दर्शन होता है। चूँकि प्रत्येक जीव परमेश्वर का अंश है, अतः वह इनमें कोई अन्तर नहीं देखता। विद्वान भक्त की यही दृष्टि है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है कि किसी भक्त या विद्वान साधु को एक ज्ञानवान ब्राह्मण,

कुत्ते, हाथी या गाय में कोई अन्तर नहीं दिखता, क्योंकि वह जानता है कि शरीर तो केवल बाह्यावरण है और आत्मा ही परमेश्वर का अंश है। भक्त की किसी भी जीव से शत्रुता नहीं होती, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह सबसे घुल-मिल जाता है। इसकी तो रोक रहती है। *अप्रसङ्गत:* का अर्थ ही है ''हर किसी के साथ घनिष्ठता का न होना।'' भक्त को अपनी भक्ति से काम रहता है। अत: उसे अपना लक्ष्य पूरा करने के लिए केवल भक्तों से मिलना-जुलना चाहिए। उसे अन्यों से मिलने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि यद्यपि वह किसी को अपना शत्रु करके नहीं मानता, किन्तु उसका उठना-बैठना भक्ति में लगे हुए व्यक्तियों के साथ ही होता है।

भक्त को ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना चाहिए। ब्रह्मचर्य के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह विषयी जीवन से सर्वथा मुक्त हो; ब्रह्मचर्य-व्रत के अन्तर्गत अपनी पत्नी से सन्तुष्ट रहना भी अनुमत है। सर्वश्रेष्ठ नीति तो विषयी जीवन से सर्वथा बचे रहना है। प्राथमिकता इसी की होती है। अन्यथा धार्मिक नियमों के अनुसार भक्त को विवाह कर लेना चाहिए और अपनी पत्नी के साथ शान्तिपूर्वक रहना चाहिए।

भक्त को अनावश्यक नहीं बोलना चाहिए। गम्भीर भक्त के पास वृथा बोलने के लिए समय नहीं रहता। वह सदैव कृष्णभक्ति में व्यस्त रहता है। जब भी वह बोलता है, तो कृष्ण के विषय में बोलता है। *मौन* का अर्थ है चुप्पी। चुप्पी का अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य बिल्कुल बोले ही नहीं, वरन् यह है कि व्यर्थ न बोले। उसे कृष्ण के विषय में बोलने के लिए अति उत्साहित रहना चाहिए। यहाँ पर जो अन्य महत्त्वपूर्ण बात कही गई है, वह है *स्व-धर्मेण* अर्थात् अपने नित्य कर्म में एकान्तभाव से लगे रहना जिसका अर्थ है कि भगवान् के नित्य दास के रूप में कार्य करना या कि कृष्णभावनामृत में कार्य करना। अगले शब्द *बलीयसा* का अर्थ है ''सारे कार्यों का फल भगवान् को अर्पित करना।'' भक्त कभी अपने इन्द्रियतृप्ति के लिए कोई कार्य नहीं करता। वह जो भी कमाता है, जो भी खाता है और जो भी करता है उसे वह भगवान् को प्रसन्न करने के लिए अर्पित कर देता है।

यद‍ृच्छयोपलब्धेन सन्तुष्टो मितभुङ्मुनिः ।
विविक्तशरणः शान्तो मैत्रः करुण आत्मवान् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

यद‍ृच्छया—बिना कठिनाई के; उपलब्धेन—जो कुछ उपलब्ध है उसी से; सन्तुष्टः—सन्तुष्ट; मित—कम; भुक्—खाकर; मुनिः—विचारवान; विविक्त-शरणः—एकान्त स्थान में रहकर; शान्तः—शान्त स्वभाव; मैत्रः—मैत्रीपूर्ण; करुणः—दयालु; आत्म-वान्—स्वरूपसिद्ध।

भक्त को चाहिए कि बहुत कठिनाई के बिना जो कुछ वह कमा सके उसी से सन्तुष्ट रहे। जितना आवश्यक हो उससे अधिक उसे नहीं खाना चाहिए। उसे एकान्त स्थान में रहना चाहिए और सदैव विचारवान, शान्त, मैत्रीपूर्ण, उदार तथा स्वरूपसिद्ध होना चाहिए।

तात्पर्य : जिस किसी ने भी शरीर स्वीकार किया है उसे काम करके या किसी आजीविका के द्वारा शरीर की आवश्यकताएँ पूरी करनी चाहिए। भक्त को उतनी आय के लिए ही कार्य करना चाहिए जितनी नितान्त आवश्यकता हो। उसे इतनी ही आय से संतुष्ट रहना चाहिए और अनावश्यक रूप से संचित करने के लिए तथा अधिक के लिए प्रयास नहीं करना चाहिए। बद्ध अवस्था में जिस मनुष्य के पास धन नहीं होता वह प्रकृति पर प्रभुत्व जमाने के उद्देश्य से धन कमाने के लिए सदैव कठिन श्रम करता देखा जाता है। कपिलदेव उपदेश देते हैं कि हमें ऐसी वस्तुओं के लिए कठिन प्रयास करने की आवश्यकता नहीं जो किसी बाह्य परिश्रम के बिना स्वत: मिल सकती हैं। इस प्रसंग में प्रयुक्त सही शब्द है *यद‍ृच्छया* जिसका अर्थ है कि प्रत्येक जीव को इस शरीर में पूर्वनिर्धारित सुख तथा दुख मिलते हैं, यह कर्म का सिद्धान्त कहलाता है। ऐसा सम्भव नहीं कि अधिकाधिक धन संग्रह के प्रयासों से ही मनुष्य ऐसा कर सकेगा अन्यथा प्राय: सारे व्यक्ति अपने पूर्वनिर्धारित कर्म के अनुसार कमाते तथा प्राप्त करते हैं। *भागवत* के इस निष्कर्ष के अनुसार कभी-कभी हमें बिना चाहे अत्यन्त घातक तथा कष्टमय परिस्थितियों का सामना करना पड़ सकता है, तो कभी बिना प्रयास के वैभवपूर्ण परिस्थितियाँ प्राप्त हो सकती हैं। हमें उपदेश दिया जाता है कि ये वस्तुएँ पूर्वनिर्धारित रूप से आती हैं। हमें अपना अमूल्य समय कृष्णभक्ति में लगाने का प्रयत्न करना चाहिए। दूसरे शब्दों में, मनुष्य को

अपनी सहज अवस्था से सन्तुष्ट रहना चाहिए। यदि प्रारब्धवश कोई ऐसी परिस्थिति में पड़ जाय जिसमें दूसरे की तुलना में वह अधिक वैभवसम्पन्न न हो तो उसे विचलित नहीं होना चाहिए। उसे चाहिए कि वह अपना समय कृष्णभक्ति बढ़ाने में लगावे। कृष्णभक्ति में उन्नति किसी सम्पन्न या विपन्न अवस्था पर निर्भर नहीं करती, यह भौतिक जीवन द्वारा लगाये जाने वाले प्रतिबन्धों से मुक्त है। एक अत्यन्त निर्धन व्यक्ति अत्यन्त धनी व्यक्ति के ही समान कृष्णभक्ति कर सकता है। अत: उसे भगवान् द्वारा प्रदत्त अपनी स्थिति से सन्तुष्ट रहना चाहिए।

यहाँ अन्य शब्द *मित्भुक्* आया है। इसका यह अर्थ है कि मनुष्य को शरीर बनाये रखने के लिए जितनी आवश्यकता हो उतना ही भोजन करना चाहिए। मनुष्य को जीभ की तुष्टि के कारण पेटू नहीं बन जाना चाहिए। मनुष्य के खाने के लिए अन्न, फल, दूध तथा ऐसे ही आहार उपलब्ध हैं। मनुष्य को स्वाद के प्रति अत्यधिक ललायित नहीं रहना चाहिए और वह सब नहीं खाना चाहिए जो मनुष्यों के लिए नहीं है। स्पष्ट रूप से भक्तों को *प्रसाद* खाना चाहिए जो भगवान् को अर्पित भोजन होता है। वह ऐसे भोजन के उच्छिष्ट अंश को ही ग्रहण करे। भगवान् को अन्न, तरकारियाँ, फल, फूल तथा दूध की बनी सात्विक वस्तुएँ ही अर्पित की जाती हैं, अत: रजोगुणी तथा तमोगुणी भोजन अर्पित करने के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। भक्त को लालची नहीं होना चाहिए। यह भी संस्तुति की गई है कि भक्त *मुनि* अर्थात् विचारवान हो; उसे सदैव कृष्ण का चिन्तन करना चाहिए और भगवान् की अच्छी तरह से सेवा करने के बारे में सोचना चाहिए। उसकी एकमात्र यही चिन्ता होनी चाहिए। जिस प्रकार एक भौतिकतावादी अपनी भौतिक दशा सुधारने के लिए सदैव सचेष्ट रहता है उसी तरह भक्त को चाहिए सदैव कृष्णभावनामृत में अपनी स्थिति में सुधार लाने के विचारों में लगा रहे, इसीलिए भक्त को *मुनि* होना चाहिए।

अगली संस्तुति–यह है कि भक्त को एकान्त स्थान में रहना चाहिए। सामान्य रूप से मनुष्य पौंड–शिलिंग–पेंस अर्थात् भौतिक उन्नति में रुचि रखता है, जो भक्त के लिए अनावश्यक नहीं है। भक्त को ऐसा वास–स्थान चुनना चाहिए जहाँ प्रत्येक व्यक्ति भक्ति में रुचि

रखता हो। अतः सामान्य रूप से भक्त किसी पवित्र तीर्थस्थल में चला जाता है जहाँ भक्तगण रहते हैं। यह संस्तुति की गई है कि भक्त ऐसे स्थान में रहे जहाँ बड़ी संख्या में सामान्य व्यक्ति न रहते हों। एकान्त स्थान में वास करना अत्यावश्यक है (*विविक्त-शरण*)। अगली बात है *शान्त*। भक्त को उद्विग्न नहीं होना चाहिए। उसे अपनी सहज आय से सन्तुष्ट रहना चाहिए, स्वास्थ्य के लिए जितना आवश्यक हो उतना ही खाना चाहिए, एकान्त स्थान में रहना चाहिए और सदैव शान्त रहना चाहिए। कृष्णभक्ति सम्पन्न करने के लिए मन की शान्ति आवश्यक है।

अगली बात है *मैत्र* अर्थात् मैत्रीभाव। भक्त को हर एक के साथ मैत्रीभाव रखना चाहिए, किन्तु उसकी घनिष्ठता केवल भक्तों से होनी चाहिए। अन्यों के साथ औपचारिक होना चाहिए। वह कहे "हाँ, महाशय, आप जो कहते हैं वह सब ठीक है," किन्तु उनके साथ घनिष्ठ न बने। किन्तु ऐसे भक्त को ऐसे लोगों पर दयालु होना चाहिए जो भोले-भाले हैं, जो न तो नास्तिक हैं और न आत्म-साक्षात्कार में अत्यधिक प्रगत हैं। भक्त को इनके प्रति दयाभाव रखना चाहिए और जहाँ तक हो सके कृष्णभक्ति में प्रगति करने के लिए उपदेश देना चाहिए। भक्त को सदैव *आत्मवान्* या स्वरूपसिद्ध होना चाहिए। उसे यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि उसका मुख्य कार्य आध्यात्मिक चेतना या कृष्णभक्ति में प्रगति लाना है। वह भूलकर भी अपने को शरीर या मन नहीं समझे। आत्मा का अर्थ है शरीर अथवा मन, किन्तु यहाँ *आत्मवान्* का विशेष अर्थ है कि मनुष्य को अपने वश में होना चाहिए। उसे सदैव इस शुद्ध चेतना में रहना चाहिए कि वह शरीर या मन न होकर आत्मा है। इससे वह विश्वासपूर्वक कृष्णभक्ति में प्रगति कर सकेगा।

सानुबन्धे च देहेऽस्मिन्नकुर्वन्नसदाग्रहम् ।
ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन प्रकृतेः पुरुषस्य च ॥ ९॥

शब्दार्थ

स-अनुबन्धे—शारीरिक सम्बन्धों से; च—तथा; देहे—शरीर के प्रति; अस्मिन्—इस; अकुर्वन्—न करते हुए; असत्-आग्रहम्—जीवन का देह-बोध; ज्ञानेन—ज्ञान के द्वारा; दृष्ट—देखकर; तत्त्वेन—वास्तविकता; प्रकृतेः—पदार्थ की; पुरुषस्य—आत्मा की; च—तथा।

मनुष्य को आत्मा तथा पदार्थ के ज्ञान के द्वारा देखने की शक्ति बढ़ानी चाहिए और उसे व्यर्थ ही शरीर के रूप में अपनी पहचान नहीं करनी चाहिए, अन्यथा वह शारीरिक

सम्बन्धों खिंचा चला जाएगा।

तात्पर्य : बद्धजीव अपने को शरीर समझकर शरीर को 'मैं' मान लेता है और शरीर से सम्बन्ध रखने वाली किसी भी वस्तु को 'मेरी'। संस्कृत में इसे *अहं ममता* कहते हैं और यह समस्त बद्धजीवन का मूल कारण है। मनुष्य को चाहिए कि वस्तुओं को पदार्थ तथा आत्मा का संयोग मान के चले। उसे पदार्थ की प्रकृति तथा आत्मा की प्रकृति में अन्तर करना चाहिए और उसकी असली पहचान पदार्थ के साथ न होकर आत्मा के साथ होनी चाहिए। इस ज्ञान से उसे भ्रान्त देहात्मबुद्धि से बचना चाहिए।

निवृत्तबुद्ध्यवस्थानो दूरीभूतान्यदर्शनः ।
उपलभ्यात्मनात्मानं चक्षुषेवार्कमात्मदृक् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

निवृत्त—अलग; बुद्धि-अवस्थानः—भौतिक चेतना की अवस्थाएँ; दूरी-भूत—सुदूर; अन्य—दूसरा; दर्शनः—जीवन बोध; उपलभ्य—प्राप्त करके; आत्मना—अपने विशुद्ध विवेक से; आत्मानम्—अपने आपको; चक्षुषा—अपनी आँखों से; इव—सदृश; अर्कम्—सूर्य; आत्म-दृक्—स्वरूपसिद्ध।

मनुष्य को भौतिक चेतना की अवस्थाओं से परे दिव्य स्थिति में रहना चाहिए और अन्य समस्त जीवन-बोधों से विलग रहना चाहिए। इस प्रकार अहंकार से मुक्त होकर उसे अपने आपको उसी तरह देखना चाहिए जिस प्रकार वह आकाश में सूर्य को देखता है।

तात्पर्य : भौतिक जीवन-बोध के अधीन चेतना तीन अवस्थाओं में कार्य करती है। जब हम जाग्रत रहते हैं, तो चेतना एक विशिष्ट प्रकार से कार्य करती है, जब सुप्त रहते हैं, तो दूसरे प्रकार से कार्य करती है और जब प्रगाढ़ निद्रा में होते हैं, तो चेतना एक अन्य ढंग से कार्य करती है। कृष्णभावनाभावित होने के लिए मनुष्य को चेतना की इन अवस्थाओं से पार चले जाना होता है। हमारी वर्तमान चेतना को पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण की चेतना (भक्ति) के अतिरिक्त अन्य समस्त जीवन-बोधों से मुक्त होना चाहिए। यह *दूरी-भूतान्य-दर्शनः* कहलाता है, जिसका भाव यह है कि जब उसे पूर्ण कृष्णचेतना (भक्ति) प्राप्त हो जाती है, तो उसे कृष्ण के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखता। *चैतन्य-चरितामृत* में कहा गया है कि पूर्ण भक्त अनेक चर तथा अचर पदार्थ देखता है, किन्तु उन सबों में वह कृष्ण की शक्ति को कार्यशील पाता है।

ज्योंही वह कृष्ण की शक्ति का स्मरण करता है त्योंही उसे कृष्ण का साकार रूप याद हो आता है। अत: वह सारे अवलोकनों में कृष्ण को ही देखता है। *ब्रह्म-संहिता* (५.३८) में कहा गया है कि जब मनुष्य की आँखों में कृष्णप्रेम का अञ्जन लगा रहता है (*प्रेमाञ्जनच्छुरित*), तो उसे सदा भीतर-बाहर श्रीकृष्ण के दर्शन होते हैं। यहाँ पर इसकी पुष्टि होती है। मनुष्य को अन्य सभी भावों से मुक्त रहना चाहिए। तभी वह झूठे अहंकार से मुक्त होकर अपने को भगवान् के शाश्वत दास के रूप में देखता है। *चक्षुषेवार्कम्*—जिस प्रकार हम सूर्य को बिना सन्देह के देख सकते हैं उसी तरह जो कृष्णभक्ति में सिद्धहस्त हो चुका है, वह कृष्ण तथा उनकी शक्ति का दर्शन करता है। इस भावभूमि में वह *आत्मदृक्* अर्थात् स्वरूपसिद्ध हो जाता है। जब आत्मा के साथ शरीर की पहचान का अहंकार दूर हो जाता है, तो वास्तविक जीवन-दृष्टि दिखलाई पड़ती है। अत: इन्द्रियाँ भी शुद्ध हो जाती हैं। इन्द्रियों के शुद्ध होने पर ही भगवान् की असली सेवा प्रारम्भ होती है। मनुष्य को चाहिए कि इन्द्रियों के कार्यों को बन्द न करे, अपितु शरीर के अहंकार को दूर करे। तब इन्द्रियाँ स्वत: शुद्ध हो जाती हैं और शुद्ध इन्द्रियों से ही असली भक्ति की जा सकती है।

मुक्तलिङ्गं सदाभासमसति प्रतिपद्यते ।
सतो बन्धुमसच्चक्षुः सर्वानुस्यूतमद्वयम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

मुक्त-लिङ्गम्—दिव्य; सत्-आभासम्—प्रतिबिम्ब रूप में प्रकट; असति—अहंकार में; प्रतिपद्यते—उसे बोध होता है; सतः बन्धुम्—भौतिक कारण का आधार; असत्-चक्षुः—माया के नेत्र; सर्व-अनुस्यूतम्—हर वस्तु में प्रविष्ट; अद्वयम्—अद्वितीय।

मुक्त जीव को उस परमेश्वर का साक्षात्कार होता है, जो दिव्य है और अहंकार में भी प्रतिबिम्बि के रूप में प्रकट होता है। वे भौतिक कारण के आधार हैं तथा प्रत्येक वस्तु में प्रवेश करने वाले हैं। वे अद्वितीय हैं और माया के नेत्र हैं।

तात्पर्य : शुद्ध भक्त को प्रत्येक भौतिक वस्तु में भगवान् की उपस्थिति दिख सकती है। वे इनमें मात्र प्रतिबिम्ब रूप में विद्यमान रहते हैं, किन्तु शुद्ध भक्त अनुभव करता है कि मोह के अंधकार में ईश्वर ही एकमात्र आधारस्वरूप प्रकाश होता है। *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है

भौतिक जगत की पृष्ठभूमि श्रीकृष्ण हैं और *ब्रह्म-संहिता* में भी इसी की पुष्टि है कि कृष्ण ही समस्त कारणों के कारण हैं। *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि परमेश्वर अपने अंश या पूर्ण विस्तार से न केवल इस ब्रह्माण्ड में और प्रत्येक ब्रह्माण्ड में, अपितु हर परमाणु में उपस्थित हैं, यद्यपि वे अद्वितीय हैं। इस श्लोक में प्रयुक्त *अद्वयम्* शब्द बताता है कि यद्यपि भगवान् का प्रतिनिधित्व परमाणु सहित प्रत्येक वस्तु में है, किन्तु वे अविभाज्य हैं। प्रत्येक वस्तु में उनकी उपस्थिति का वर्णन अगले श्लोक में हुआ है।

यथा जलस्थ आभासः स्थलस्थेनावदृश्यते ।
स्वाभासेन तथा सूर्यो जलस्थेन दिवि स्थितः ॥ १२॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; **जल-स्थः**—जल में स्थित; **आभासः**—प्रतिबिम्ब; **स्थल-स्थेन**—दीवाल में स्थित; **अवदृश्यते**—देखा जाता है; **स्व-आभासेन**—अपने प्रतिबिम्ब से; **तथा**—उसी तरह; **सूर्यः**—सूर्य; **जल-स्थेन**—जल में स्थित; **दिवि**—आकाश में; **स्थितः**—स्थित।

जिस प्रकार आकाश में स्थित सूर्य को सर्वप्रथम जल में पड़े प्रतिबिम्ब से और फिर कमरे की दीवाल पर पड़े दूसरे प्रतिबिम्ब से देखा जाता है, उसी तरह परमेश्वर की उपस्थिति महसूस की जाती है।

तात्पर्य : यहाँ पर दिया गया उदाहरण सटीक है। सूर्य पृथ्वी की सतह से अत्यन्त दूरी पर आकाश में स्थित है, किन्तु उसका प्रतिबिम्ब कमरे के एक कोने में जल के पात्र में भी देखा जा सकता है। कमरा अँधेरा है और सूर्य सुदूर आकाश में स्थित है, किन्तु जल में पड़े सूर्य के प्रतिबिम्ब से अंधियारा कमरा प्रकाशित हो उठता है। शुद्ध भक्त भगवान् को उनकी शक्ति के प्रतिबिम्ब के द्वारा हर वस्तु में देख सकता है। *विष्णु पुराण* में कहा गया है कि जिस तरह अग्नि की उपस्थिति उष्मा तथा प्रकाश से जानी जाती है उसी तरह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्, अद्वितीय होने पर भी अपनी विभिन्न शक्तियों के विसरण से सर्वत्र देखे जाते हैं। *ईशोपनिषद* में पुष्टि की गई है कि मुक्त जीव को सर्वत्र भगवान् वैसे ही दिखते हैं जिस तरह पृथ्वी की सतह से सुदूर स्थित रहकर भी सूर्य के प्रकाश तथा प्रतिबिम्ब को देखा जा सकता है।

एवं त्रिवृदहङ्कारो भूतेन्द्रियमनोमयैः ।
स्वाभासैर्लक्षितोऽनेन सदाभासेन सत्यदृक् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस तरह; त्रि-वृत्—त्रिविध, तीन प्रकार का; अहङ्कारः—अहंकार; भूत-इन्द्रिय-मनः-मयैः—शरीर, इन्द्रियाँ तथा मन से युक्त; स्व-आभासैः—अपने ही प्रतिबिम्बों से; लक्षितः—देखा जाता है; अनेन—इसके द्वारा; सत्-आभासेन—ब्रह्म के प्रतिबिम्ब से; सत्य-दृक्—आत्मवान्, स्वरूपसिद्ध आत्मा।

इस प्रकार स्वरूपसिद्ध आत्मा सर्वप्रथम त्रिविध अहंकार में और तब शरीर, इन्द्रियों एवं मन में प्रतिबिम्बित होता है।

तात्पर्य : बद्धजीव सोचता है कि, "मैं यह शरीर हूँ," किन्तु मुक्त जीव सोचता है "मैं यह शरीर नहीं हूँ, मैं आत्मा हूँ।" यह "मैं हूँ" अहं (गर्व) कहलाता है। "मैं यह शरीर हूँ" अथवा "इस शरीर से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु मेरी है" यह अहंकार कहलाता है, किन्तु जब कोई स्वरूपसिद्ध हो जाता है और सोचता है कि वह परमेश्वर का चिर दास है, तो यह पहचान वास्तविक अहं है। इनमें से प्रकृति के तीन गुणों—सतो, रजो तथा तमो—में से एक विचार है तमो अर्थात् अन्धकार का और दूसरा है सतोगुण की शुद्ध अवस्था में जिसे *शुद्ध सत्त्व* या *वासुदेव* कहते हैं। जब हम कहते हैं कि हम अपना गर्व (अहं) त्यागते हैं, तो इसका अर्थ है कि हम मिथ्या अहम् त्यागते हैं, किन्तु असली अहम् तो सदैव विद्यमान रहता है। जब मनुष्य शरीर तथा मन के भौतिक कल्मष के द्वारी झूठी पहचान में प्रतिबिम्बित होता है, तो वह बद्ध अवस्था में रहता है और जब शुद्ध अवस्था में प्रतिबिम्बित होता है, तो वह मुक्त कहलाता है। बद्ध अवस्था में अपनी भौतिक सम्पत्ति के साथ पहचान को शुद्ध करना चाहिए और उसे अपने आपकी पहचान परमेश्वर के साथ करनी चाहिए। बद्ध अवस्था में मनुष्य हर वस्तु को इन्द्रियतृप्ति की वस्तु मान लेता है, जबकि मुक्त अवस्था में वह हर वस्तु को परमेश्वर की सेवा के लिए ग्रहण करता है। जीव की असली मुक्त अवस्था कृष्णचेतना अर्थात् भक्तिमय सेवा है। अन्यथा शुद्ध आत्मा के लिए भौतिक स्तर पर या शून्य में स्वीकारोक्ति तथा अस्वीकारोक्ति या निर्विशेषवाद अपूर्ण अवस्थाएँ हैं।

विशुद्ध आत्मा को, जिसे *सत्यदृक्* कहा गया है, जान लेने से मनुष्य हर वस्तु को परमेश्वर के प्रतिबिम्ब रूप में देखता है। इस सम्बन्ध में एक ठोस उदाहरण दिया जा सकता है।

बद्धजीव एक अत्यन्त सुन्दर गुलाब देखता है और सोचता है कि इस सुगन्धित पुष्प का उपयोग अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए क्यों न करूँ। यह एक प्रकार की दृष्टि है। किन्तु एक मुक्त आत्मा इसी फूल को परमेश्वर के प्रतिबिम्ब के रूप में देखता है और सोचता है, ''यह फूल परमेश्वर की श्रेष्ठ शक्ति से सम्भव हो सका, अत: यह उनका है और इसका उपयोग उनकी सेवा में होना चाहिए।'' ये दो प्रकार की दृष्टियाँ हैं। बद्धजीव इस फूल को अपने भोग की वस्तु के रूप में और भक्त इस फूल को भगवान् की सेवा में प्रयुक्त होने वाली वस्तु के रूप में देखता है। इसी प्रकार मनुष्य परमेश्वर के प्रतिबिम्ब को अपनी इन्द्रियों, मन तथा शरीर—यहाँ तक कि सारी वस्तुओं में देख सकता है। इस सही दृष्टि से वह प्रत्येक वस्तु को भगवान् की सेवा में लगाता है। *भक्ति-रसामृत-सिंधु* में कहा गया है कि जिसने अपना सब कुछ—अपनी प्राणशक्ति, सम्पत्ति, बुद्धि तथा वाणी—भगवान् की सेवा में लगा दिया है या जो इन्हें उनकी सेवा में लगाना चाहता है उसे मुक्त आत्मा या *सत्यदृक्* मानना चाहिए भले ही वह कैसी ही स्थिति क्यों न हो। ऐसा व्यक्ति वस्तुओं को उसी रूप में जाने रहता है।

भूतसूक्ष्मेन्द्रियमनोबुद्ध्यादिष्विह निद्रया ।
लीनेष्वसति यस्तत्र विनिद्रो निरहङ्क्रियः ॥ १४॥

शब्दार्थ

भूत—भौतिक तत्त्व; सूक्ष्म—भोग की वस्तुएँ; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; मनः—मन; बुद्धि—बुद्धि; आदिषु—इत्यादि; इह—यहाँ; निद्रया—नींद से; लीनेषु—लीन; असति—अप्रकट में; यः—जो; तत्र—वहाँ; विनिद्रः—जगा हुआ; निरहङ्क्रियः—अहंकार से रहित।

यद्यपि ऐसा लगता है भक्त पाँचों तत्त्वों, भोग की वस्तुओं, इन्द्रियों तथा मन और बुद्धि में लीन है, किन्तु वह जागृत रहता है और अंधकार से रहित होता है।

तात्पर्य : रूप गोस्वामी द्वारा *भक्ति-रसामृत-सिंधु* में दी गई व्याख्या कि किस प्रकार मनुष्य इसी शरीर में मुक्त हो जाता है इस श्लोक में विस्तार से दी गई है। वह जीवात्मा, जो *सत्यदृक्* हो चुका है, जिसने भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध को समझ लिया है, वह पदार्थ के पाँच तत्त्वों, पाँच भौतिक इन्द्रिय विषयों, दस इन्द्रियों, मन तथा बुद्धि में लीन रह सकता है, तो भी वह जागृत रहता है और अहंकार के फल से मुक्त माना जाता है। यहाँ पर *लीन* शब्द

अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मायावादी चिन्तक ब्रह्म के निर्विशेष तेज में लीन होने की संस्तुति करते हैं, यही उनका चरम लक्ष्य या गन्तव्य होता है। यहाँ पर इस लीन होने का भी उल्लेख है। किन्तु इस तरह लीन होने के बावजूद मनुष्य अपना व्यक्तित्व बनाये रख सकता है। जीव गोस्वामी ने एक उदाहरण दिया है कि हरे वृक्ष में प्रवेश करने वाला हरा पक्षी हरियाली में लीन होता प्रतीत होता है, किन्तु पक्षी वस्तुतः अपने व्यक्तित्व को खोता नहीं। इसी प्रकार भौतिक प्रकृति या आध्यात्मिक प्रकृति में लीन जीवात्मा अपने व्यक्तित्व का त्याग नहीं करता। वास्तविक व्यक्तित्व तो अपने को परमेश्वर का नित्य दास समझना है। यह जानकारी हमें भगवान् चैतन्य के मुख से प्राप्त होती है। उन्होंने सनातन गोस्वामी के पूछने पर स्पष्ट कहा कि जीवात्मा कृष्ण का शाश्वत दास है। कृष्ण भी *भगवद्गीता* में पुष्टि करते हैं कि जीवात्मा शाश्वत रूप से उनका अंश है। अंश पूर्ण की सेवा के प्रयोजन के लिए होता है। यही व्यक्तित्व है। यहाँ तक कि यह इस भौतिक जगत में भी जीवात्मा पदार्थ में लीन होता है पाया जाता है। उसका स्थूल शरीर पाँच तत्त्वों का बना होता है, उसका सूक्ष्म शरीर मन, बुद्धि, अहंकार तथा कलुषित चेतना का बना होता है और उसके पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं। इस प्रकार वह पदार्थ में लीन हो जाता है, किन्तु पदार्थ के चौबीसों तत्त्वों में लीन होते हुए भी वह भगवान् के दास रूप में अपना व्यक्तित्व बनाये रखता है। चाहे वह आध्यात्मिक प्रकृति में हो या भौतिक प्रकृति में हो, ऐसा दास मुक्त जीव माना जाता है। यह शास्त्रों की व्याख्या है और इस श्लोक में इसकी पुष्टि हुई है।

मन्यमानस्तदात्मानमनष्टो नष्टवन्मृषा ।
नष्टेऽहङ्करणे द्रष्टा नष्टवित्त इवातुरः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

मन्यमानः—सोचते हुए; तदा—तब; आत्मानम्—स्वयं; अनष्टः—यद्यपि नष्ट नहीं; नष्ट-वत्—नष्ट के समान; मृषा—झूठे ही; नष्टे अहङ्करणे—अहंकार के नष्ट होने से; द्रष्टा—देखने वाला; नष्ट-वित्तः—जिसकी सम्पत्ति नष्ट हो गई है; इव—सदृश; आतुरः—दुखी।

जीवात्मा स्पष्ट रूप से द्रष्टा के रूप में अपने अस्तित्व का अनुभव कर सकता है, किन्तु प्रगाढ़ निद्रा के समय अहंकार के दूर हो जाने के कारण वह अपने को उस तरह

विनष्ट हुआ मान लेता है, जिस प्रकार सम्पत्ति के नष्ट होने पर मनुष्य अपने को विनष्ट हुआ समझता है।

तात्पर्य : केवल अज्ञानवश ही जीवात्मा सोचता है कि वह विनष्ट हो गया। यदि वह ज्ञान प्राप्त करके अपने शाश्वत अस्तित्व की वास्तविक दशा से अवगत हो लेता है, तो वह जानता है कि वह विनष्ट नहीं हुआ। यहाँ पर उपयुक्त उदाहरण दिया गया है—*नष्ट-वित्त इवातुरः*। वह मनुष्य जिसका विपुल धन नष्ट हो जाता है अपने आपको विनष्ट समझता है, किन्तु वास्तव में वह विनष्ट हुआ नहीं होता—केवल उसका धन विनष्ट होता है। किन्तु धन के विषय में तल्लीनता अथवा धन को ही आत्म मानने से वह अपने को विनष्ट समझता है। इसी प्रकार जब हम पदार्थ को अपना कार्यक्षेत्र मान लेते हैं, तो सोचते हैं कि हम विनष्ट हो गये यद्यपि वास्तव में ऐसा होता नहीं। ज्योंही मनुष्य में इस शुद्ध ज्ञान का उदय होता है कि वह भगवान् का नित्य दास है, तो उसकी अपनी वास्तविक स्थिति पुनः प्राप्त हो जाती है। जीवात्मा कभी विनष्ट नहीं हो सकता। प्रगाढ़ निद्रा में मनुष्य अपनी पहचान भूल जाता है, वह सपनों में खो जाता है और तब वह अपने को एक भिन्न व्यक्ति या कि अपने आपको विनष्ट सोच सकता है। किन्तु वास्तव में उसकी पहचान (सत्ता) ज्यों की त्यों बनी रहती है। विनष्ट होने का यह भाव अहंकार के कारण है और यह तब तक बना रहता है जब तक मनुष्य में यह ज्ञान नहीं जगता कि वह भगवान् का नित्य दास है। अहंकार से विनष्ट होने का दूसरा लक्षण है *मायावादी* चिन्तकों की परमेश्वर से तादात्म्य की विचारधारा। मनुष्य झूठे ही दावा कर सकता है कि मैं परमेश्वर हूँ, किन्तु वास्तव में वह वैसा होता नहीं। जीवात्मा पर माया के प्रभाव का यह अन्तिम पाश होता है। अपने आपको परमेश्वर के तुल्य मानना या कि स्वयं को परमेश्वर समझ लेना अहंकार के ही कारण होता है।

एवं प्रत्यवमृश्यासावात्मानं प्रतिपद्यते ।
साहङ्कारस्य द्रव्यस्य योऽवस्थानमनुग्रहः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; प्रत्यवमृश्य—विचार करके; असौ—वह व्यक्ति; आत्मानम्—अपने आपको; प्रतिपद्यते—अनुभव करता है; स-अहङ्कारस्य—अहंकार के वश में माना हुआ; द्रव्यस्य—स्थिति का; यः—जो; अवस्थानम्—आश्रय, अधिष्ठान; अनुग्रहः—प्रकाशक ।

जब मनुष्य परिपक्व ज्ञान के द्वारा अपने व्यक्तित्व का अनुभव करता है, तो अहंकारवश वह जिस स्थिति को स्वीकार करता है, वह उसे प्रकट हो जाती है।

तात्पर्य : मायावादी चिन्तक की स्थिति यह है कि अन्ततः व्यक्ति (वैशिष्ट्य) विनष्ट हो जाता है, सारी वस्तुएँ एक हो जाती हैं और ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान में अन्तर नहीं रह जाता। किन्तु सूक्ष्म विश्लेषण से पता चलता है कि यह सही नहीं है। व्यक्तित्व (व्यष्टित्व) कभी विनष्ट नहीं होता, यहाँ तक कि तब भी जब मनुष्य यह सोचता होता है कि तीन भिन्न तत्त्व अर्थात् ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान एकाकार हो गये हैं। यह विचारधारा कि तीनों एक में लीन हो जाते हैं ज्ञान का दूसरा रूप है और चूँकि ज्ञान रूपी द्रव्य अब भी विद्यमान रहता है, अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञाता, ज्ञेय तथा ज्ञान एक हो गये हैं। इस ज्ञान को देखने वाला व्यष्टि जीव अब भी एक व्यक्ति बना रहता है। भौतिक जगत तथा आध्यात्मिक जगत दोनों ही में सत्ता बनी रहती है, अन्तर है, तो केवल पहचान की गुणता में। भौतिक पहचान में अहंकार कार्य करता है और गलत पहचान के कारण मनुष्य वस्तुओं को उनके वास्तविक रूप से भिन्न करके ग्रहण करता है। बद्ध जीवन का मूल सिद्धान्त यही है। इसी प्रकार जब अहंकार शुद्ध हो जाता है, तो मनुष्य हर वस्तु को सही रूप में ग्रहण करता है। यह मुक्ति की अवस्था है।

ईशोपनिषद् में कहा गया है कि प्रत्येक वस्तु भगवान् की है। *ईशावास्यमिदं सर्वम्*। प्रत्येक वस्तु परमेश्वर की शक्ति पर स्थित है। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई है। चूँकि प्रत्येक वस्तु उन्हीं की शक्ति से उत्पन्न है और उनकी शक्ति पर स्थित है, अतः यह शक्ति उनसे भिन्न नहीं है, तो भी भगवान् कहते हैं, "मैं वहाँ नहीं हूँ"। जब मनुष्य अपनी स्वाभाविक स्थिति को समझ लेता है, तो सब कुछ प्रकट हो जाता है। वस्तुओं की अहंकारजन्य स्वीकृति से मनुष्य बद्ध होता है, किन्तु उनकी सही-सही स्वीकृति से वह मुक्त बनता है। पिछले श्लोक का उदाहरण यहाँ लागू होता है—अपने धन में अपनी पहचान करने से, जब मनुष्य का धन नष्ट हो जाता है, तो वह सोचता है कि वह भी नष्ट हो गया। किन्तु वास्तव में वह धन से एकरूप नहीं है और न

यह धन उसका है। जब वास्तविक स्थिति प्रकट हो जाती है, तो हम समझ पाते हैं कि धन किसी एक व्यक्ति या जीवात्मा का नहीं है, न ही वह मनुष्य द्वारा उत्पन्न है। अन्ततः यह धन परमेश्वर की सम्पत्ति है, अतः उसके विनष्ट होने का प्रश्न नहीं उठता। किन्तु जब तक मनुष्य झूठे ही सोचता है कि, ‘‘मैं भोक्ता हूँ’’ या ‘‘मैं ही भगवान् हूँ’’ तब तक जीवन की यह विचारधारा चलती रहती है और मनुष्य बद्ध रहता है। ज्योंही यह अहंकार दूर हो जाता है, तो वह मुक्त हो जाता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है मनुष्य की स्वाभाविक स्थिति ही मुक्ति की स्थिति है।

देवहूतिरुवाच
पुरुषं प्रकृतिर्ब्रह्मन्न विमुञ्चति कर्हिचित् ।
अन्योन्यापाश्रयत्वाच्च नित्यत्वादनयोः प्रभो ॥ १७॥

शब्दार्थ

देवहूतिः उवाच—देवहूति ने कहा; पुरुषम्—आत्मा; प्रकृतिः—प्रकृति; ब्रह्मन्—हे ब्राह्मण; न—नहीं; विमुञ्चति—छोड़ती है; कर्हिचित्—किसी भी समय, कभी; अन्योन्य—परस्पर; अपाश्रयत्वात्—आकर्षण से; च—तथा; नित्यत्वात्—नित्यता से; अनयोः—उन दोनों का; प्रभो—हे भगवान्।

श्री देवहूति ने पूछा : हे ब्राह्मण, क्या कभी प्रकृति आत्मा का परित्याग करती है? चूँकि इनमें से कोई एक दूसरे के प्रति शाश्वत रूप से आकर्षित रहता है, तो उनका पृथकत्व (वियोग) कैसे सम्भव है?

तात्पर्य : कपिल की माता देवहूति यहाँ पर पहला प्रश्न पूछती हैं। यद्यपि मनुष्य जानता है कि आत्मा तथा पदार्थ भिन्न हैं, किन्तु न तो दार्शनिक चिन्तन से और न उपयुक्त ज्ञान से उनको विलग किया जाता है। आत्मा परमेश्वर की तटस्था शक्ति है और पदार्थ बहिरंगा शक्ति है। ये दोनों नित्य शक्तियाँ न जाने किस तरह मिल गई हैं कि अब इनको एक दूसरे से विलग करना कठिन है, तो फिर यह कैसे सम्भव है कि प्रत्येक जीव मुक्त हो सके? व्यावहारिक अनुभव द्वारा यह देखा जा सकता है कि जब आत्मा को शरीर से विलग कर दिया जाता है, तो शरीर का कोई अस्तित्व नहीं रहता और जब शरीर को आत्मा से विलग लिया जाता है, तो आत्मा का अस्तित्व नहीं दिखता। जब तक आत्मा तथा शरीर मिले रहते हैं हम समझते हैं कि जीवन

है, किन्तु उनके विलग होते ही शरीर या आत्मा का अस्तित्व नहीं दिखता। देवहूति द्वारा कपिल से पूछा गया यह प्रश्न शून्यवाद दर्शन से थोड़ा-बहुत प्रेरित है। शून्यवादी कहते हैं कि चेतना पदार्थ के संयोग से उत्पन्न है और ज्योंही चेतना चली जाती है, भौतिक संयोग विलीन हो जाता है, अतः अन्त में शून्य के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। मायावाद दर्शन में चेतना की इस अनुपस्थिति को *निर्वाण* कहते हैं।

यथा गन्धस्य भूमेश्च न भावो व्यतिरेकतः ।
अपां रसस्य च यथा तथा बुद्धेः परस्य च ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; गन्धस्य—गन्ध का; भूमेः—पृथ्वी की; च—तथा; न—नहीं; भावः—अस्तित्व; व्यतिरेकतः—पृथक्; अपाम्—जल का; रसस्य—स्वाद का; च—तथा; यथा—जिस तरह; तथा—उसी तरह; बुद्धेः—बुद्धि का; परस्य—चेतना या आत्मा का; च—तथा।

जिस प्रकार पृथ्वी तथा इसकी गन्ध या जल तथा इसके स्वाद का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं होता उसी तरह बुद्धि तथा चेतना का कोई पृथक् अस्तित्व नहीं हो सकता।

तात्पर्य : यहाँ उदाहरण दिया गया है कि किसी भी भौतिक वस्तु में गंध होती है। फूल, पृथ्वी, सभी में गंध होती है। यदि पदार्थ में से गंध विलग कर दी जाय तो पदार्थ को पहचाना नहीं जा सकता। यदि जल में स्वाद न हो तो जल व्यर्थ है, यदि अग्नि में उष्मता न हो तो अग्नि व्यर्थ है। इसी प्रकार बुद्धि के अभाव में आत्मा का कोई अर्थ नहीं होता।

अकर्तुः कर्मबन्धोऽयं पुरुषस्य यदाश्रयः ।
गुणेषु सत्सु प्रकृतेः कैवल्यं तेष्वतः कथम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

अकर्तुः—न करने वाले का; कर्म-बन्धः—कर्मों का बन्धन; अयम्—यह; पुरुषस्य—आत्मा का; यत्-आश्रयः—गुणों की संगति से उत्पन्न; गुणेषु—जबकि गुणों में; सत्सु—उपस्थित हैं; प्रकृतेः—प्रकृति के; कैवल्यम्—स्वतन्त्रता; तेषु—उन; अतः—अतः; कथम्—कैसे।

अतः समस्त कर्मों का कर्ता न होते हुए भी जीव तब तक कैसे स्वतन्त्र हो सकता है जब तक प्रकृति उस पर अपना प्रभाव डालती रहती है और उसे बाँधे रहती है।

तात्पर्य : यद्यपि जीव पदार्थ के संसर्ग से स्वतन्त्र होना चाहता है, किन्तु उसे छुटकारा नहीं

मिलता। वास्तव में जैसे ही जीव अपने आपको प्रकृति के गुणों के अधीन कर देता है, वैसे ही उसके सारे कार्य प्रकृति द्वारा प्रभावित होने लगते हैं और वह निष्क्रिय हो जाता है। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—*प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः*—जीव प्रकृति के गुणों के अनुसार कर्म करता है। वह झूठे ही सोचता है कि वह कर्म कर रहा है, जबकि दुर्भाग्यवश वह निष्क्रिय (अकर्ता) रहता है। दूसरे शब्दों में, उसे प्रकृति के नियन्त्रण से निकलने का अवसर नहीं मिलता, क्योंकि वह पहले ही बद्ध हो चुकता है। *भगवद्गीता* में यह भी कहा गया है कि प्रकृति के पाश से छूट पाना बहुत कठिन है। वह अन्य प्रकार से यह सोचने का प्रयत्न कर सकता है कि अन्ततः हर वस्तु शून्य है, ईश्वर कहीं नहीं है और यदि प्रत्येक वस्तु का आधार आत्मा है भी तो वह निराकार है। यह चिन्तन चलता रह सकता है, किन्तु वास्तव में प्रकृति के पाश से छूट पाना अत्यन्त कठिन होता है। देवहूति प्रश्न करती है कि यद्यपि मनुष्य तरह-तरह से सोचता है, किन्तु जब तक वह प्रकृति के वश में है तब तक उसकी मुक्ति कहाँ? इसका उत्तर *भगवद्गीता* (७.१४) में प्राप्त है—केवल वही, जिसने भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की शरण ले ली है (*मामेव ये प्रपद्यन्ते*) माया के चंगुल से छूट जाता है।

चूँकि धीरे-धीरे देवहूति आत्मसमर्पण करने के निकट पहुँच रही है, अतः उसके प्रश्न अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्ण हैं कि मनुष्य कैसे मुक्त हो सकता है? जब तक मनुष्य प्रकृति के गुणों द्वारा कसकर जकड़ा हुआ है तब तक वह किस तरह आध्यात्मिक जगत की विशुद्ध अवस्था में हो सकता है? यह झूठे ध्यानकर्ता के लिए संकेत भी है। ऐसे अनेक तथाकथित ध्यानकर्ता हैं, जो सोचते हैं कि, "मैं परमात्मा हूँ, मैं प्रकृति के कार्यों का संचालन कर रहा हूँ, मेरे ही निर्देशन में सूर्य घूमता तथा चन्द्रमा उदय होता है।" वे सोचते हैं कि ऐसे चिन्तन या ध्यान से वे मुक्त हो सकते हैं, किन्तु देखा जाता है कि ऐसे व्यर्थ ध्यान के तीन मिनट बाद ही वे प्रकृति के गुणों से बँध जाते हैं। अपने उच्च ध्यान के तुरन्त बाद ही 'ध्यानकर्ता' प्यासा हो उठता है और कुछ पीना या धूम्रपान करना चाहता है। यद्यपि वह प्रकृति की मजबूत मुट्ठी में रहता है, तो भी वह सोचता है कि मैं माया के पाश से मुक्त हूँ। देवहूति का यह प्रश्न ऐसे व्यक्ति के

लिए है, जो यह झूठा दावा करता है कि वह सब कुछ है, अन्त में हर वस्तु शून्य है और पाप या पुण्यकर्म नहीं होता। ये सभी निरीश्वरवादी खोजें हैं। वस्तुत: जब तक मनुष्य *भगवद्गीता* में बताई गई विधि के अनुसार भगवान् की शरण में नहीं जाता तब तक माया के पाश से छुटकारा नहीं मिलता।

क्वचित्तत्त्वावमर्शेन निवृत्तं भयमुल्बणम् ।
अनिवृत्तनिमित्तत्वात्पुनः प्रत्यवतिष्ठते ॥ २० ॥

शब्दार्थ

क्वचित्—यदि कभी; **तत्त्व**—मूल सिद्धान्त; **अवमर्शेन**—विचार करने से; **निवृत्तम्**—बचा जा सके; **भयम्**—भय; **उल्बणम्**—महान्; **अनिवृत्त**—छुटकारा न पाने वाला; **निमित्तत्वात्**—चूँकि कारण से; **पुनः**—फिर; **प्रत्यवतिष्ठते**—प्रकट होता है।

यदि चिन्तन तथा मूल सिद्धान्तों की जाँच-परख से बन्धन के महान् भय से बच भी लिया जाय तो भी यह पुनः प्रकट हो सकता है, क्योंकि इसके कारण का अन्त नहीं हुआ होता है।

तात्पर्य : अपने आपको पदार्थ के अधीन करने से भवबन्धन उत्पन्न होता है, क्योंकि अहंकार प्रकृति पर अधिकार जताना चाहता है। *भगवद्गीता* (७.२७) का कथन है—*इच्छाद्वेषसमुत्थेन*। जीवात्मा में दो प्रकार की रुचियों का उदय होता है। एक है *इच्छा* जिसका अर्थ है प्रकृति पर अधिकार जताना अथवा परमेश्वर के समान महान् बनना। प्रत्येक व्यक्ति इस संसार में महानतम व्यक्ति बनना चाहता है। दूसरी है *द्वेष* अर्थात् ईर्ष्या। जब मनुष्य कृष्ण अथवा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् से द्वेष करता है, तो वह सोचता है कि, "कृष्ण ही सर्वेसर्वा क्यों हैं? मैं भी कृष्ण जैसा हूँ।" ये दो बातें—भगवान् बनने की इच्छा और भगवान् से ईर्ष्या—भवबन्धन के प्रारम्भिक कारण हैं। जब तक चिन्तक, मुक्ति का इच्छुक या शून्यवादी महान् बनने, सब कुछ होने या ईश्वर के अस्तित्व को नकारने की कोई न कोई इच्छा रखता है तब तक उसकी मुक्ति का प्रश्न ही नहीं उठता।

देवहूति अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्वक कहती है, "कोई भले ही सिद्धान्ततः विश्लेषण करते हुए यह कहे कि ज्ञान के द्वारा वह मुक्त हो गया है, किन्तु वास्तव में जब तक कारण विद्यमान है

तब तक वह मुक्त नहीं है।" *भगवद्गीता* पुष्टि करती है कि अनेक जन्मों तक ऐसे चिन्तन के बाद जब मनुष्य अपनी वास्तविक चेतना को प्राप्त होता है और भगवान् श्रीकृष्ण की शरण में जाता है तभी उसकी ज्ञान की खोज पूरी होती है। भवबन्धन से सैद्धान्तिक मुक्ति तथा वास्तविक मुक्ति के बीच पर्याप्त अन्तर है। *भागवत* (१०.१४.४) का कथन है कि यदि कोई भक्ति के शुभ पथ को छोड़कर केवल चिन्तन द्वारा वस्तुओं को जानना चाहता है, तो वह वृथा ही अपना समय गँवाता है (*क्लिश्यन्ति ये केवलबोध लब्धये*)। इस प्रकार का श्रम केवल श्रम होता है, कोई अन्य परिणाम नहीं निकलता। चिन्तन का श्रम रिक्तता में समाप्त होता है। यहाँ यह उदाहरण दिया जा सकता है कि धान की भूसी को कूटने से क्या लाभ! उसका चावल तो पहले से ही निकला रहता है। इसी प्रकार मात्र चिन्तन से मनुष्य भवबन्धन से मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि कारण तब भी विद्यमान रहता है। पहले कारण का निषेध करना होता है तब कर्म (प्रभाव) निरस्त होता है। अगले श्लोकों में भगवान् इसकी व्याख्या करते हैं।

श्रीभगवानुवाच
अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्मेणामलात्मना ।
तीव्रया मयि भक्त्या च श्रुतसम्भृतया चिरम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; **अनिमित्त-निमित्तेन**—कर्म-फल की इच्छा के बिना; **स्व-धर्मेण**—अपने-अपने निर्धारित कार्यों के करने से; **अमल-आत्मना**—शुद्ध मन से; **तीव्रया**—उत्कट, गम्भीर; **मयि**—मुझको; **भक्त्या**—भक्ति से; **च**—तथा; **श्रुत**—श्रवण; **सम्भृतया**—से युक्त; **चिरम्**—दीर्घकाल तक।

भगवान् ने कहा : यदि कोई गम्भीरतापूर्वक मेरी सेवा करता है और दीर्घकाल तक मेरे विषय में या मुझसे सुनता है, तो वह मुक्ति पा सकता है। इस प्रकार अपने-अपने नियत कार्यों के करने से कोई प्रतिक्रिया नहीं होगी और मनुष्य पदार्थ के कल्मष से मुक्त हो जाएगा।

तात्पर्य : इस प्रसंग में श्रीधर स्वामी की टीका है कि केवल प्रकृति के साहचर्य से ही कोई बद्ध नहीं हो जाता। बद्ध जीवन तो प्रकृति के गुणों से दूषित होने के बाद ही प्रारम्भ होता है। यदि कोई पुलिस विभाग के संसर्ग में रहता है, तो इसका अर्थ यह नहीं होता कि वह

अपराधी है। जब तक कोई अपराध नहीं करता तब तक पुलिस विभाग के होते हुए भी उसे दण्डित नहीं किया जाता। इसी प्रकार मुक्त जीव भौतिक प्रकृति में रहते हुए भी उससे प्रभावित नहीं होता। यहाँ तक कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् भी, जब वे अवतरित होते हैं, तो प्रकृति के साहचर्य में रहते हैं, किन्तु वे उससे प्रभावित नहीं होते। मनुष्य को इस तरह कर्म करना होता है कि इस भौतिक प्रकृति में रहते हुए भी वह कल्मष से प्रभावित न हो। यद्यपि कमल के फूल का साहचर्य जल के साथ होता है, किन्तु जल उससे छू नहीं जाता। यही वह विधि है, जिस तरह मनुष्य को रहना है, जैसाकि भगवान् कपिलदेव ने यहाँ पर वर्णन किया है (*अनिमित्तनिमित्तेन स्वधर्मेणामलात्मना*)।

यदि मनुष्य गम्भीरतापूर्वक भक्ति में लगा रहे तो वह समस्त प्रतिकूल परिस्थितियों से मुक्त हो सकता है। जिस तरह यह भक्ति विकसित होकर परिपक्व बनती है उसकी यहाँ व्याख्या की गई है। प्रारम्भ में मनुष्य को शुद्ध मन से नियत कर्तव्य करने होते हैं। शुद्ध चेतना का अर्थ है कृष्णचेतना। मनुष्य को कृष्णचेतना में नियत कर्तव्य करने होते हैं। उसे अपने नियत कर्तव्यों को बदलने की कोई आवश्यकता नहीं रहती, उसे केवल कृष्णचेतना में कर्म करना होता है। कृष्णभावनाभावित कर्तव्य करते हुए उसे यह तय करना चाहिए कि उसके वृत्तिपरक कर्तव्यों से श्रीभगवान् कृष्ण सन्तुष्ट होते हैं। *भागवत* में एक अन्य स्थान में कहा गया है—*स्वनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्*—हर व्यक्ति को कुछ न कुछ कर्तव्य करने होते हैं, किन्तु ऐसे कर्तव्यों की पूर्णता तभी होगी जब भगवान् श्रीहरि ऐसे कर्मों से तुष्ट हों। उदाहरणार्थ, अर्जुन का नियत कर्तव्य युद्ध करना था और उसके युद्ध की पूर्णता श्रीकृष्ण की तुष्टि से आँकी जानी थी। कृष्ण की इच्छा थी कि वह युद्ध करे और जब उसने भगवान् की तुष्टि के लिए युद्ध किया, तो यह उसके भक्तिमय कर्तव्य की पूर्णता थी। दूसरी ओर, जब भगवान् की इच्छा के विरुद्ध वह युद्ध करना नहीं चाह रहा था, तो वह अपूर्ण था।

यदि कोई अपने जीवन को पूर्ण बनाना चाहता है, तो उसे कृष्ण की तुष्टि के लिए अपने नियत कर्तव्य सम्पन्न करने चाहिए। उसे कृष्णचेतना में कार्य करना चाहिए, क्योंकि ऐसे कर्म से

कोई फल नहीं उत्पन्न होता *(अनिमित्त-निमित्तेन)* इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है— *यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र*—यज्ञ अथवा विष्णु की तुष्टि के लिए ही सारे कार्य सम्पन्न किये जाने चाहिए। अन्य कोई भी कार्य या यज्ञ जो विष्णु की तुष्टि के बिना सम्पन्न किया जाता है बन्धन उत्पन्न करता है, अत: यहाँ पर कपिल मुनि द्वारा इसकी भी संस्तुति की गई है कि कृष्णचेतना में कार्य करके अर्थात् भक्ति में गम्भीरतापूर्वक लग करके भवबन्धन को छिन्न किया जा सकता है। ऐसी भक्ति दीर्घकाल तक श्रवण करने से विकसित होती है। कीर्तन तथा श्रवण तो भक्तियोग का शुभारम्भ है। मनुष्य को चाहिए कि भक्तों की संगति करे और उनसे भगवान् के दिव्य प्राकट्य, कार्यकलापों, उनके अन्तर्धान, आदेश आदि के विषय में सुने।

श्रुति अथवा शास्त्र दो तरह के होते हैं। एक जो भगवान् द्वारा कहे गये हैं और दूसरे जो भगवान् तथा उनके भक्तों के विषय में कहे गये हैं। *भगवद्गीता* पहले प्रकार की है और *श्रीमद्भागवत* दूसरे प्रकार की। मनुष्य को चाहिए कि गम्भीर भक्ति-सेवा में स्थिर होने के लिए ऐसी श्रुतियों का बारम्बार श्रवण विश्वसनीय स्रोतों से करे। ऐसी भक्ति में लगने से वह माया के कल्मष से मुक्त हो जाता है। *श्रीमद्भागवत* में कहा गया है कि श्रीभगवान् के विषय में श्रवण करने से हृदय प्रकृति के तीनों गुणों के प्रभाव से उत्पन्न समस्त कल्मष से स्वच्छ हो जाता है। निरन्तर तथा नियमित श्रवण करने से काम तथा लोभ या प्रकृति पर अधिकार जताने के कल्मष के प्रभाव कम हो जाते हैं और जब लोभ तथा काम घट जाते हैं, तो मनुष्य सतोगुण पद को प्राप्त होता है। यह ब्रह्म-साक्षात्कार या आत्म-साक्षात्कार की अवस्था है। इस प्रकार मनुष्य दिव्य पद पर स्थिर हो जाता है। दिव्य पद पर स्थिर बने रहना ही भवबन्धन से मुक्ति है।

ज्ञानेन दृष्टतत्त्वेन वैराग्येण बलीयसा ।
तपोयुक्तेन योगेन तीव्रेणात्मसमाधिना ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

ज्ञानेन—ज्ञान से; दृष्ट-तत्त्वेन—परम सत्य की दृष्टि से; वैराग्येण—विरक्ति से; बलीयसा—अत्यन्त दृढ़तापूर्वक; तप:-युक्तेन—तप में लगाने से; योगेन—योग से; तीव्रेण—दृढ़तापूर्वक स्थिर; आत्म-समाधिना—आत्म-लीन होने से।

यह भक्ति दृढ़तापूर्वक पूर्ण ज्ञान से तथा दिव्य दृष्टि से सम्पन्न करनी चाहिए। मनुष्य

को प्रबल रूप से विरक्त होना चाहिए, तपस्या में लगना चाहिए और आत्मलीन होने के लिए योग करना चाहिए।

तात्पर्य : भौतिक भावना अथवा मनोकल्पना के कारण कृष्णचेतना में अंधाधुंध भक्ति नहीं की जा सकती। यहाँ विशेष रूप से उल्लेख है कि मनुष्य को पूर्ण ज्ञान में परम सत्य की कल्पना करते हुए भक्ति करनी चाहिए। हम दिव्य ज्ञान का विकास करके परम सत्य के विषय में समझ सकते हैं और ऐसे दिव्य ज्ञान का परिणाम वैराग्य द्वारा ही प्रकट होगा। यह वैराग्य न तो क्षणिक है, न कृत्रिम, अपितु अत्यन्त प्रबल है। कहा जाता है कि वैराग्य के द्वारा कृष्णचेतना का विकास दृष्टिगत होता है। यदि कोई अपने आपको भौतिक भोग से पृथक् नहीं कर सकता तो यह समझना चाहिए कि वह कृष्णचेतना (भक्ति) में अग्रसर नहीं हो रहा है। कृष्णचेतना में वैराग्य इतना प्रबल होता है कि इसे किसी आकर्षण के द्वारा विपथ नहीं किया जा सकता। मनुष्य को पूर्ण तपस्या में भक्ति करनी होती है। उसे चाहिए कि मास की दोनों एकादशियों में भगवान् कृष्ण, भगवान् राम तथा चैतन्य महाप्रभु के जन्मदिनों में उपवास करे। ऐसे उपवास के दिन अनेक हैं। *योगेन* का अर्थ है इन्द्रियों तथा मन को नियन्त्रित करके—*योग इन्द्रिय संयम:*। *योगेन* बताता है कि मनुष्य अपने में लीन रहता है और ज्ञान के विकास द्वारा परमात्मा के साथ अपनी स्वाभाविक स्थिति को समझ सकता है। इस प्रकार वह भक्ति में स्थिर हो जाता है और उसकी श्रद्धा किसी भौतिक प्रलोभन से विचलित नहीं होती।

प्रकृतिः पुरुषस्येह दह्यमाना त्वहर्निशम् ।
तिरोभवित्री शनकैरग्नेर्योनिरिवारणिः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

प्रकृतिः—प्रकृति का प्रभाव; पुरुषस्य—जीवात्मा का; इह—यहाँ; दह्यमाना—जलकर; तु—लेकिन; अहः-निशम्—दिन-रात; तिरः-भवित्री—विलीन होकर; शनकैः—धीर-धीरे; अग्नेः—अग्नि का; योनिः—उदय का कारण; इव—सदृश; अरणिः—काष्ठ, जिससे अग्नि उत्पन्न की जाती है।

प्रकृति के प्रभाव ने जीवात्मा को ढक कर रखा है मानो जीवात्मा सदैव प्रज्ज्वलित अग्नि में रह रहा हो। किन्तु भक्ति करने से यह प्रभाव उसी प्रकार दूर किया जाता सकता है, जिस प्रकार अग्नि उत्पन्न करने वाले काष्ठ-खण्ड स्वयं भी अग्नि द्वारा भस्म हो जाते

हैं।

तात्पर्य : अग्नि लकड़ी के टुकड़ो के भीतर संरक्षित रहती है और परिस्थितियाँ अनुकूल होने पर अग्नि जल उठती है, किन्तु जो काष्ठ-खण्ड अग्नि उत्पन्न करने वाले होते हैं, वे भी अग्नि के द्वारा स्वाहा हो जाते हैं। इसी प्रकार जीवात्मा का सांसारिक बद्ध जीवन प्रकृति पर अधिकार जताने की उसकी इच्छा तथा परमेश्वर से द्वेष करने के कारण है। इस प्रकार से मुख्य रोग यह है कि वह परमेश्वर से एकाकार होना चाहता है, या वह भौतिक प्रकृति का स्वामी बनना चाहता है। कर्मीजन प्रकृति के साधनों का उपयोग करने का प्रयत्न करते हैं और इस तरह इसके स्वामी बनकर इन्द्रियतृप्ति का भोग करना चाहते हैं। ज्ञानीजन भौतिक साधनों का भोग करते-करते निराश होकर भगवान् से एकाकार होना या निर्गुण तेज में लीन होना चाहते हैं। ये दोनों रोग भौतिक कल्मष के कारण होते हैं। भौतिक कल्मष को भक्ति द्वारा भस्मसात किया जा सकता है, क्योंकि भक्तिमय सेवा में ये दोनों रोग अर्थात् प्रकृति पर प्रभुत्व जमाने और परमेश्वर से तदाकार होने की इच्छा अनुपस्थित रहते हैं। अत: कृष्णभावनामृत में भक्तियोग को सावधानी से सम्पन्न करने पर सांसारिक अस्तित्व का कारण तुरन्त भस्म हो जाता है।

पूर्ण कृष्णचेतना में भक्त ऊपर से महान् कर्मी प्रतीत होता है, जो सदैव कार्य करता रहता है, किन्तु भक्त के इन कार्यकलापों का आन्तरिक महत्त्व यह है कि वे परमेश्वर की तुष्टि के लिए होते हैं। यह भक्ति कहलाती है। अर्जुन ऊपरी तौर पर योद्धा था, किन्तु जब उसने अपने युद्ध से भगवान् कृष्ण की इन्द्रियों को तुष्ट कर दिया तो वह भक्त बन गया। चूँकि भक्त भी परम पुरुष को उसी रूप में समझने के लिए दार्शनिक शोध में रत रहता है, अत: उसके कार्यकलाप चिन्तक-जैसे लग सकते हैं, किन्तु वास्तव में वह आध्यात्मिक प्रकृति तथा दिव्य कार्यकलापों को समझने का प्रयत्न करता रहता है। यद्यपि उसमें दार्शनिक चिन्तन की प्रवृत्ति पाई जाती है, किन्तु सकाम कर्म के फल तथा यादृच्छिक चिन्तन नहीं पाये जाते, क्योंकि यह कार्य भगवान् के निमित्त है।

भुक्तभोगा परित्यक्ता दृष्टदोषा च नित्यशः ।
नेश्वरस्याशुभं धत्ते स्वे महिम्नि स्थितस्य च ॥ २४॥

शब्दार्थ

भुक्त—भोगा हुआ; भोगा—भोग; परित्यक्ता—छोड़ा हुआ; दृष्ट—खोजा हुआ; दोषा—त्रुटि; च—तथा; नित्यशः—सदैव; न—नहीं; ईश्वरस्य—स्वतन्त्र का; अशुभम्—हानि; धत्ते—नुकसान पहुँचाती है; स्वे महिम्नि—अपनी कीर्ति में; स्थितस्य—स्थित; च—तथा।.

प्रकृति पर अधिकार जताने की इच्छा के दोषों को ज्ञात करके और फलस्वरूप उस इच्छा को त्याग करके जीवात्मा स्वतन्त्र हो जाता है और अपनी कीर्ति में स्थित हो जाता है।

तात्पर्य : चूँकि जीव भौतिक साधनों का वास्तविक भोक्ता नहीं है, फलतः प्रकृति पर अधिकार करने की उसकी चेष्टा असफल रहती है। फलस्वरूप वह सामान्य जीव की अपेक्षा अधिक शक्ति चाहता है और परम भोक्ता के अस्तित्व में लीन हो जाना चाहता है। इस प्रकार वह अधिक भोग की योजना बना लेता है।

जब कोई सचमुच भक्ति में स्थित होता है, तो वह उसकी स्वतन्त्र स्थिति होती है। अल्पज्ञानी व्यक्ति भगवान् के नित्य दास की स्थिति को नहीं समझ पाते। चूँकि 'दास' शब्द लगा रहता है इसलिए वे भ्रमित हो जाते हैं, वे यह नहीं समझ पाते कि यह दासता इस भौतिक जगत की दासता नहीं है। भगवान् का दास होना सबसे बड़ा पद है। यदि वह इसे समझ सके और भगवान् की शाश्वत दासता की अपनी मूल स्थिति को फिर से पा सके तो वह पूर्ण स्वतन्त्र हो सकता है। भौतिक सम्पर्क के कारण जीव की स्वतन्त्रता जाती रहती है। आध्यात्मिक जगत में उसे पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है, फलतः प्रकृति के गुणों पर आश्रित रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। यह स्थिति भक्त द्वारा प्राप्त की जाती है, अतः जब वह इसके दोषों को देखता है, तो भौतिक भोग की प्रकृति को छोड़ देता है।

एक भक्त तथा एक निर्विशेषवादी में यही अन्तर होता है कि निर्विशेषवादी परमेश्वर के साथ तादात्म्य चाहता है, जिससे वह निर्बाध रूप से भोग कर सके, किन्तु भक्त है कि वह भोग की समग्र मानसिकता को त्याग देता है और अपने आपको भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति में प्रवृत्त करता है। यही उसकी स्वाभाविक महिमामय स्थिति है। इस समय वह ईश्वर—पूर्ण

स्वतन्त्र—होता है। परम ईश्वर या *ईश्वरः परमः* तो कृष्ण हैं। जीव तो तभी ईश्वर रहता है जब वह भगवान् की सेवा में निरत होता है। दूसरे शब्दों में, भगवान् की प्रेमा-भक्ति से प्राप्त दिव्य आनन्द ही वास्तविक स्वतन्त्रता है।

यथा ह्यप्रतिबुद्धस्य प्रस्वापो बह्वनर्थभृत् ।
स एव प्रतिबुद्धस्य न वै मोहाय कल्पते ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; हि—निस्सन्देह; अप्रतिबुद्धस्य—सोने वाले का; प्रस्वापः—स्वप्न; बहु-अनर्थ-भृत्—अनेक अशुभ बातें उत्पन्न करने वाला; सः एव—वही स्वप्न; प्रतिबुद्धस्य—जगने वाले का; न—नहीं; वै—निश्चय ही; मोहाय—मोहग्रस्त करने के लिए; कल्पते—समर्थ है।

स्वप्नावस्था में मनुष्य की चेतना प्रायः ढकी रहती है और उसे अनेक अशुभ वस्तुएँ दिखती हैं, किन्तु उसके जगने पर तथा पूर्ण चेतन होने पर ऐसी अशुभ वस्तुएँ उसे विभ्रमित नहीं कर सकतीं।

तात्पर्य : स्वप्नावस्था में, जब मनुष्य की चेतना प्रायः ढकी रहती है, तो वह अनेक प्रतिकूल वस्तुएँ देख सकता है, जिससे चिन्ता होने लगती है, किन्तु जगने पर उसे स्वप्न में जो कुछ घटता हुआ रहता है स्मरण रहता है फिर भी वह विचलित नहीं होता। इसी प्रकार आत्म-साक्षात्कार की स्थिति अथवा परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध को समझने की स्थिति होने पर मनुष्य पूर्णतया संतुष्ट रहता है और प्रकृति के तीनों गुण, जो सारी उद्विग्नताओं की जड़ हैं, उसे प्रभावित नहीं कर पाते। चेतना के कल्मषग्रस्त होने पर मनुष्य हर वस्तु को भोग्य समझता है, किन्तु शुद्ध चेतना या कृष्णभक्ति में वह यह देखता है कि जो भी वस्तु विद्यमान है, वह परमभोक्ता के भोग के लिए है। स्वप्नावस्था तथा जागृतावस्था में यही अन्तर है। कल्मषग्रस्त चेतना की तुलना स्वप्न चेतना से और कृष्ण चेतना की तुलना जीवन की जागृत चेतन-अवस्था से की गई है। वस्तुतः, जैसाकि *भगवद्गीता* में बताया गया है कृष्ण ही एकमात्र परम भोक्ता हैं। जो यह समझ सके कि कृष्ण ही तीनों लोकों के स्वामी और सबके सखा हैं तब वह शान्त तथा स्वतन्त्र है। जब तक बद्धजीव को यह ज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता वह हर वस्तु का भोक्ता बनना चाहता है, वह परोपकारी बनना चाहता है और अपने समधर्मी मानवों के लिए अस्पताल

तथा स्कूल खोलना चाहता है। यह सब मोह (माया) है, क्योंकि ऐसे भौतिक कार्यकलापों से वह किसी को लाभ नहीं पहुँचा सकता। यदि वह अपने समधर्मीयों को लाभ पहुँचाना चाहता है उसे तो अपनी सुसुप्त कृष्णचेतना को जगाना चाहिए। कृष्णचेतना युक्त स्थिति *प्रतिबुद्ध* की स्थिति है, जिसका अर्थ है शुद्ध चेतना।

एवं विदिततत्त्वस्य प्रकृतिर्मयि मानसम् ।
युञ्जतो नापकुरुत आत्मारामस्य कर्हिचित् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; विदित-तत्त्वस्य—परम सत्य के जानने वाले की; प्रकृतिः—प्रकृति; मयि—मुझ पर; मानसम्—मन को; युञ्जतः—स्थिर करते हुए; न—नहीं; अपकुरुते—हानि पहुँचा सकता है; आत्म-आरामस्य—आत्म में आनन्द उठाने वाले को; कर्हिचित्—कभी भी।.

प्रकृति का प्रभाव किसी प्रबुद्ध मनुष्य को हानि नहीं पहुँचा सकता, भले ही वह भौतिक कार्यकलापों में ही व्यस्त क्यों न रहता हो, क्योंकि वह परम सत्य की सच्चाई को जानता है और उसका मन भगवान् में ही स्थिर रहता है।

तात्पर्य : भगवान् कपिल कहते हैं कि जिस भक्त का मन सदैव भगवान् के चरणकमलों में स्थिर रहता है (*मयि मानसम्*) वह *आत्मराम* या *विदित-तत्त्व* कहलाता है। *आत्माराम* का अर्थ है, जो ''अपने आप में आनन्द उठाता है'' या ''जो आध्यात्मिक परिवेश में भोग करता है।'' भौतिक दृष्टि से, *आत्मा* का अर्थ है शरीर या मन, किन्तु यहाँ यह ऐसे व्यक्ति के लिए निर्दिष्ट है, जिसका मन भगवान् के चरणकमलों में स्थिर रहता है, वह *आत्माराम* होता है, जिसका अर्थ है ''जो परमात्मा के प्रसंग में आध्यात्मिक कार्य-कलापों में व्यस्त रहता है।'' परमात्मा ही भगवान् है और व्यष्टि आत्मा जीव है। जब वे परस्पर सेवा तथा आशीष का आदान-प्रदान करते हैं, तो जीव को *आत्माराम* स्थिति में कहा जाता है। कोई भी व्यक्ति, जो सत्य को यथा रूप में जानता है, *आत्माराम* स्थिति को प्राप्त कर सकता है। सच्चाई तो यह है कि भगवान् भोक्ता है और सारे जीव उसकी सेवा तथा भोग के निमित्त हैं। जो इस सत्य को जानता है और अपने सारे साधनों को भगवान् की सेवा में लगाने का प्रयत्न करता है, वह सारे भौतिक कर्मफलों तथा प्रकृति के गुणों के प्रभावों से बच जाता है।

इस प्रसंग में एक उदाहरण दिया जा सकता है। जिस प्रकार कि एक भौतिकवादी व्यक्ति एक विशाल गगनचुम्बी प्रासाद बनवाता है भक्त उसी तरह विष्णु का एक विशाल मन्दिर बनवाने में लगा रहता है। ऊपर से गगनचुम्बी प्रासाद तथा मन्दिर बनवाने वाले समान धरातल पर हैं, क्योंकि दोनों ही लकड़ी, पत्थर, लोहा तथा अन्य इमारती सामान एकत्र करते रहते हैं। किन्तु जो व्यक्ति गगनचुम्बी प्रासाद बनवाता है, वह *आत्माराम* है। भौतिकतावादी गगनचुम्बी प्रासाद बनाकर अपने शरीर को तुष्ट करना चाहता है, किन्तु भक्त मन्दिर बनवाकर परमात्मा अर्थात् भगवान् को प्रसन्न करना चाहता है। यद्यपि दोनों ही भौतिक कार्यकलापों के संसर्ग में हैं, तो भी भक्त मुक्त होता है और भौतिकतावादी बद्ध होता है। इसका कारण यह है कि मन्दिर बनवाने वाला भक्त अपने मन को भगवान् में स्थिर किये हुए है, किन्तु गगनचुम्बी प्रासाद बनवाने वाला अभक्त इन्द्रियतृप्ति में अपना मन रमाये रहता है। कोई कार्य करते हुए, इस जगत में भी, यदि किसी का मन भगवान् के चरणकमलों में स्थिर रहता है, तो वह बद्ध नहीं होगा। भक्ति में काम करने वाला प्रकृति से सदैव स्वतन्त्र रहता है।

यदैवमध्यात्मरतः कालेन बहुजन्मना ।
सर्वत्र जातवैराग्य आब्रह्मभुवनान्मुनिः ॥ २७॥

शब्दार्थ

यदा—जब; एवम्—इस प्रकार; अध्यात्म-रतः—आत्म-साक्षात्कार में लगा हुआ; कालेन—अनेक वर्षों तक; बहु-जन्मना—अनके जन्मों तक; सर्वत्र—सभी जगह; जात-वैराग्यः—विरक्ति उत्पन्न होती है; आ-ब्रह्म-भुवनात्—ब्रह्मलोक तक; मुनिः—विचारवान व्यक्ति।

मनुष्य जब इस तरह अनेकानेक वर्षों तथा अनेक जन्मों तक भक्ति एवं आत्म-साक्षात्कार में लगा रहता है, तो उसे किसी भी लोक में, यहाँ तक कि सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक में भी भोग से पूर्ण विरक्ति हो जाती है और उसमें चेतना पूर्णतया विकसित हो जाती है।

तात्पर्य : भगवान् की भक्ति में लगा रहने वाला कोई भी व्यक्ति भक्त कहलाता है, किन्तु शुद्ध भक्तों एवं मिश्रित भक्तों में अन्तर है। मिश्रित भक्त आध्यात्मिक लाभ के लिए भक्ति करता है, जिससे वह सच्चिदानन्द रूप भगवान् के दिव्य धाम में शाश्वत रूप से बना रहे। जब भक्त

पूर्णतया शुद्ध नहीं होता तो वह संसार में भगवान् से भौतिक लाभ की कामना करता है, जो भौतिक दुखों से छुटकारे के रूप में होता है या फिर भगवान् और जीवात्मा के सम्बन्ध में ज्ञान की उन्नति चाहता है या परमेश्वर के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। जब मनुष्य इन स्थितियों से ऊपर उठ जाता है, तो वह शुद्ध भक्त कहलाता है। वह भगवान् की सेवा किसी भौतिक लाभ के लिए या कि परमेश्वर को समझने के लिए नहीं करता। उसकी एकमात्र रुचि इसी में रहती है कि वह भगवान् से प्रेम करे और स्वत: ही वह उन्हें प्रसन्न करने में लग जाता है।

शुद्ध भक्ति का सर्वोत्तम उदाहरण वृन्दावन की गोपियाँ हैं। वे कृष्ण को जानने में उतनी रुचि नहीं रखतीं जितनी कि उनसे प्रेम करने में। प्रेम का यह पद ही भक्ति की शुद्ध अवस्था है। जब तक मनुष्य भक्ति की इस शुद्ध अवस्था तक ऊपर नहीं उठ जाता उसमें उच्चतर भौतिक स्थिति प्राप्त करने की प्रवृत्ति बनी रहती है। मिश्रित भक्त की इच्छा रहती है कि वह ब्रह्मलोक जैसे किसी उच्चतर लोक में दीर्घकाल तक सुखी जीवन का आनन्द प्राप्त करे। ये भौतिक इच्छाएँ हैं, किन्तु चूँकि मिश्रित भक्त भगवान् की सेवा में लगा रहता है, अत: अनेक जीवन तक भौतिक सुख भोगने के बाद अन्त में उसमें कृष्णभक्ति उत्पन्न होती है। इस कृष्णभावनामृत का लक्षण यह है कि वह किसी प्रकार के भौतिक उच्च जीवन में रुचि नहीं लेता। यहाँ तक कि वह ब्रह्माजी जैसा पुरुष भी नहीं बनना चाहता।

मद्भक्त: प्रतिबुद्धार्थो मत्प्रसादेन भूयसा ।
नि:श्रेयसं स्वसंस्थानं कैवल्याख्यं मदाश्रयम् ॥ २८ ॥
प्राप्नोतीहाञ्जसा धीर: स्वदृशा च्छिन्नसंशय: ।
यद्गत्वा न निवर्तेत योगी लिङ्गाद्विनिर्गमे ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

मत्-भक्त:—मेरा भक्त; प्रतिबुद्ध-अर्थ:—स्वरूपसिद्ध; मत्-प्रसादेन—मेरी अहैतुकी कृपा से; भूयसा—अनन्त; नि:श्रेयसम्—चरम परिणति; स्व-संस्थानम्—अपने धाम को; कैवल्य-आख्यम्—कैवल्य नामक; मत्-आश्रयम्—मेरी शरण को; प्राप्नोति—प्राप्त करता है; इह—इस जीवन में; अञ्जसा—सचमुच; धीर:—धीर; स्व-दृशा—आत्मज्ञान में; छिन्न-संशय:—संशयों से मुक्त; यत्—उस धाम तक; गत्वा—जाकर; न—कभी नहीं; निवर्तेत—लौटता है; योगी—योगी भक्त; लिङ्गात्—सूक्ष्म तथा स्थूल भौतिक शरीरों से; विनिर्गमे—प्रस्थान के बाद।

मेरा भक्त मेरी असीम अहैतुकी कृपा से वस्तुत: स्वरूपसिद्ध हो जाता है और इस

तरह समस्त संशयों से मुक्त होकर वह अपने गन्तव्य धाम की ओर अग्रसर होता है, जो मेरी शुद्ध आनन्द की आध्यात्मिक शक्ति के अधीन है। जीव का यही चरम सिद्धि-गन्तव्य (स्व-संस्थान) है। इस शरीर को त्यागने के बाद योगी भक्त उस दिव्य धाम को जाता है जहाँ से वह फिर कभी नहीं लौटता।

तात्पर्य : वास्तविक आत्म-साक्षात्कार का अर्थ है भगवान् का शुद्ध भक्त बन जाना। भक्त के अस्तित्व का अर्थ होता है भक्ति का कार्य तथा भक्ति का विषय। अन्ततः श्रीभगवान् तथा जीवों को समझना ही आत्म-साक्षात्कार है। अपने को जानना तथा भगवान् और जीव के बीच प्रेमा-भक्ति का आदान-प्रदान ही वास्तविक आत्म-साक्षात्कार है। इसे निर्विशेषवादी या अन्य अध्यात्मवादी प्राप्त नहीं कर सकते; वे भक्तियोग के विज्ञान को नहीं समझ सकते। भगवान् की असीम अहैतुकी कृपा से ही शुद्ध भक्त को भक्ति प्रकट होती है। भगवान् ने इसे यहाँ पर विशेष रूप से *मत्-प्रसादेन* "मेरी विशेष कृपा से" कहा है। *भगवद्गीता* में भी इसकी पुष्टि हुई है। जो प्रेम तथा श्रद्धा के साथ भक्ति में लगे रहते हैं, वे ही भगवान् से आवश्यक बुद्धि प्राप्त करते हैं जिससे वे क्रमशः प्रगति करते हुए भगवान् के धाम की ओर बढ़ सकते हैं।

निःश्रेयस का अर्थ है "चरम गन्तव्य"। *स्व-संस्थान* सूचित करता है कि निर्विशेषवादियों के ठहरने का कोई विशेष स्थान नहीं होता। वे अपने व्यक्तित्व का समर्पण इसीलिए करते हैं जिससे जीवित स्फुलिंग भगवान् के दिव्य शरीर से उद्भूत निर्गुण तेज में लीन हो जाय, किन्तु भक्त का एक निश्चित धाम होता है। सारे लोक सूर्यप्रकाश में थमे हुए हैं, किन्तु सूर्यप्रकाश का कोई विशेष स्थल नहीं है। जब कोई किसी लोक में पहुँच जाता है, तो उसका एक विश्राम-स्थल होता है। आध्यात्मिक आकाश, जिसे *कैवल्य* कहते हैं, चारों ओर से केवल आनन्दमय प्रकाश है और वह भगवान् के संरक्षण में रहता है। जैसाकि *भगवद्गीता* (१४.२७) में कहा गया है—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*—निराकार ब्रह्मतेज भगवान् के शरीर में स्थित रहता है। दूसरे शब्दों में, भगवान् का शारीरिक तेज ही *कैवल्य* या निराकार ब्रह्म है। इस निराकार तेज में अनेक दिव्य लोक हैं, जिन्हें वैकुण्ठ कहते हैं जिनमें कृष्णलोक प्रमुख है। कुछ भक्त

वैकुण्ठलोक जाते हैं और कुछ कृष्णलोक को। भक्त विशेष की इच्छानुसार उसे विशेष धाम प्रदान किया जाता है, जो *स्व-संस्थान* अर्थात् उसका अभीष्ट गन्तव्य कहलाता है। भगवान् की कृपा से भक्ति में तत्पर स्वरूपसिद्ध भक्त भौतिक शरीर में रहते हुए ही अपने गन्तव्य (धाम) को जानता है। अत: वह बिना संशय के स्थिर भाव से भक्तिकर्म करता है और शरीर त्यागने के बाद तुरन्त ही उस धाम में पहुँच जाता है, जिसकी वह तैयारी करता रहता है। उस धाम में पहुँचकर वह फिर कभी इस संसार में नहीं लौटता।

यहाँ पर आये *लिङ्गात्-विनिर्गमे* शब्दों का अर्थ है "सूक्ष्म तथा स्थूल इन दो प्रकार के भौतिक शरीर से मुक्त होने के बाद।" सूक्ष्म शरीर मन, बुद्धि, अहंकार तथा कल्मषमय चेतना से निर्मित रहता है और स्थूल शरीर पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा शून्य इन पाँच तत्त्वों से निर्मित रहता है। जब कोई दिव्य लोक को भेजा जाता है, तो वह इस संसार में दोनों प्रकार के—स्थूल तथा सूक्ष्म—शरीरों को त्याग देता है। वह अपने शुद्ध आध्यात्मिक शरीर के साथ दिव्य लोक में प्रवेश करता है और किसी एक दिव्य लोक में स्थिर हो जाता है। यद्यपि निर्विशेषवादी भी अपने सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर त्याग कर दिव्यव्योम को जाते हैं, किन्तु उन्हें दिव्य लोक में नहीं रखा जाता, उन्हें अपनी इच्छानुसार भगवान् के दिव्य शरीर से उद्भूत आध्यात्मिक तेज में लीन होने दिया जाता है। *स्व-स्थानम्* शब्द भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। चूँकि जीव तैयारी करता रहता है, अत: उसे उसका धाम मिलता है। निर्विशेषवादियों को निराकार ब्रह्मतेज प्रदान किया जाता है, किन्तु जो वैकुण्ठ में नारायण रूप में भगवान् के दिव्य रूप की संगति चाहते हैं या कृष्णलोक में कृष्ण की संगति चाहते हैं, वे उन धामों को जाते हैं जहाँ से वे कभी नहीं लौटते।

यदा न योगोपचितासु चेतो
मायासु सिद्धस्य विषज्जतेऽङ्ग ।
अनन्यहेतुष्वथ मे गतिः स्याद्
आत्यन्तिकी यत्र न मृत्युहासः ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यदा—जब; न—नहीं; योग-उपचितासु—योग द्वारा प्राप्त शक्तियों तक; चेतः—ध्यान; मायासु—माया के प्राकट्य; सिद्धस्य—सिद्ध योगी का; विषज्जते—आकर्षित होता है; अङ्ग—हे माता; अनन्य-हेतुषु—जिसका कोई अन्य कारण न हो; अथ—तब; मे—मुझको; गतिः—उसकी प्रगति; स्यात्—होती है; आत्यन्तिकी—असीम; यत्र—जहाँ; न—नहीं; मृत्यु-हासः—मृत्यु की शक्ति।

जब सिद्ध योगी का ध्यान योगशक्ति की गौण वस्तुओं की ओर, जो बहिरंगा शक्ति के प्राकट्य हैं, आकृष्ट नहीं होता तब मेरी ओर उसकी प्रगति असीमित होती है और इस तरह उसे मृत्यु कभी भी परास्त नहीं कर सकती।

तात्पर्य : सामान्यत: योगीजन योगशक्ति की गौण वस्तुओं के प्रति आकृष्ट होते रहते हैं, क्योंकि वे लघुतर से लघुतम और दीर्घ से दीर्घतम हो सकते हैं, जो भी चाहें प्राप्त कर सकते हैं, लोक की सृष्टि करने की शक्ति से सम्पन्न होते हैं या किसी को अपने अधीन कर सकते हैं। जिन योगियों को भक्ति के फल की अपूर्ण जानकारी होती है वे ही इन शक्तियों के प्रति आकृष्ट होते हैं, किन्तु ये सारी शक्तियाँ भौतिक होती हैं, आध्यात्मिक उन्नति से इनका कोई सरोकार नहीं रहता है। जिस प्रकार भौतिक शक्ति से अन्य भौतिक शक्तियाँ उत्पन्न हैं उसी प्रकार योगशक्ति भी भौतिक होती है। सिद्धयोगी का मन किसी भी भौतिक शक्ति से आकृष्ट नहीं होता है, वह तो एकमात्र परमेश्वर की अमिश्रित भक्ति से आकृष्ट होता है। भक्त के लिए ब्रह्मतेज में लीन होना नारकीय है और उसे योगशक्ति स्वत: प्राप्त हो जाती है। स्वर्गलोक जाने को भक्त केवल मायाजाल मानता है। भक्त का ध्यान केवल भगवान् की प्रेमा-भक्ति में केन्द्रित होता है, अत: मृत्यु की शक्ति उस पर कोई प्रभाव नहीं डालती। ऐसी भक्तिमयी स्थिति में सिद्ध योगी को अमर ज्ञान तथा आनन्द का पद प्राप्त हो सकता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''प्रकृति का ज्ञान'' नामक सत्ताइसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter अट्ठाईस

भक्ति साधना के लिए कपिल के आदेश

श्रीभगवानुवाच
योगस्य लक्षणं वक्ष्ये सबीजस्य नृपात्मजे ।
मनो येनैव विधिना प्रसन्नं याति सत्पथम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने कहा; योगस्य—योग पद्धति का; लक्षणम्—वर्णन; वक्ष्ये—कहूँगा; सबीजस्य—प्रामाणिक; नृप-आत्म-जे—हे राजपुत्री; मनः—मन; येन—जिससे; एव—निश्चय ही; विधिना—अभ्यास से; प्रसन्नम्—प्रसन्न; याति—प्राप्त करता है; सत्-पथम्—परम सत्य का मार्ग।

भगवान् ने कहा : हे माता, हे राजपुत्री, अब मैं आपको योग विधि बताऊँगा जिसका उद्देश्य मन को केन्द्रित करना है। इस विधि का अभ्यास करने से मनुष्य प्रसन्न रहकर परम सत्य के मार्ग की ओर अग्रसर होता है।

तात्पर्य : इस अध्याय में भगवान् कपिलदेव द्वारा बताई गई योग विधि प्रामाणिक एवं आदर्श है, अत: इन आदेशों का अत्यन्त सावधानी के साथ पालन करना चाहिए। सबसे पहले भगवान् कहते हैं कि योगाभ्यास से मनुष्य परम सत्य अर्थात् परम पुरुषोत्तम भगवान् को समझने की दिशा में प्रगति कर सकता है। पिछले अध्याय में यह स्पष्ट बताया गया है कि योग का अभीष्ट कोई आश्चर्यजनक योगशक्ति प्राप्त करना नहीं है। मनुष्य को ऐसी योगशक्ति के प्रति आकृष्ट नहीं होना चाहिए, अपितु भगवान् को समझने के मार्ग का क्रमश: साक्षात्कार प्राप्त करना चाहिए। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में भी हुई है, जिसमें छठे अध्याय के अन्तिम श्लोक में कहा गया है कि सबसे बड़ा योगी वह है, जो अपने अन्त:करण में निरन्तर कृष्ण के बारे में ही सोचता रहता है या जो कृष्णभावनाभावित है।

यहाँ उल्लेख हुआ है कि योग विधि का पालन करने से मनुष्य प्रफुल्लित रह सकता है। भगवान् कपिल, जो योग के महान् अधिकारी हैं, यहाँ पर योगपद्धति की व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जिसे अष्टांग-योग कहते हैं जिसमें आठ विभिन्न अभ्यास सम्मिलित हैं। ये हैं—*यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान* तथा *समाधि*। अभ्यास की इन समस्त अवस्थाओं से मनुष्य को भगवान् विष्णु का साक्षात्कार करना होता है, जो समस्त योग का लक्ष्य है। ऐसी

तथाकथित योग पद्धतियाँ हैं जिनमें मन को शून्य पर या निराकार पर केन्द्रित किया जाना होता है, किन्तु प्रामाणिक योग पद्धति में इसको मान्यता प्राप्त नहीं है जैसाकि कपिलदेव बताते हैं। यहाँ तक कि पतञ्जलि बतलाते हैं कि समस्त योग का लक्ष्य विष्णु है। अत: *अष्टांग-योग* वैष्णव विधि का एक अंग है, क्योंकि इसका चरम लक्ष्य विष्णु का साक्षात्कार है। योग की सफलता योगशक्ति प्राप्त करने में नहीं है, जिसकी भर्त्सना पिछले अध्याय में की गई है, अपितु समस्त उपाधियों एवं स्वाभाविक स्थिति की परिस्थिति से मुक्त होना है। योगाभ्यास की यही अनन्तिम उपलब्धि है।

स्वधर्माचरणं शक्त्या विधर्माच्च निवर्तनम् ।
दैवाल्लब्धेन सन्तोष आत्मविच्चरणार्चनम् ॥ २॥

शब्दार्थ

स्व-धर्म-आचरणम्—अपने कर्तव्यों का पालन; शक्त्या—अपनी शक्ति भर; विधर्मात्—शास्त्रविरुद्ध कर्तव्य से; च—तथा; निवर्तनम्—बचते हुए; दैवात्—भगवान् की कृपा से; लब्धेन—जो कुछ प्राप्त हो उससे; सन्तोषः—संतुष्ट; आत्म-वित्—स्वरूपसिद्ध जीव के; चरण—पाँव की; अर्चनम्—पूजा।

मनुष्य को चाहिए कि वह यथाशक्ति अपने कर्तव्यों का पालन करे और उन कर्मों को करने से बचे, जो उसे नहीं करने हैं। उसे ईश्वर की कृपा से जो भी प्राप्त हो उसी से सन्तुष्ट रहना चाहिए और गुरु के चरणकमलों की पूजा करनी चाहिए।

तात्पर्य : इस श्लोक में कई ऐसे महत्त्वपूर्ण शब्द हैं जिनकी विशद व्याख्या की जा सकती है, किन्तु हम हर एक के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं की ही व्याख्या करेंगे। अन्तिम कथन है *आत्मविच्चरणार्चनम्*। *आत्मवित्* का अर्थ है स्वरूपसिद्ध जीव या प्रामाणिक गुरु। जब तक मनुष्य स्वरूपसिद्ध नहीं रहता और परमात्मा के साथ अपने सम्बन्ध को नहीं जानता, वह प्रामणिक गुरु नहीं बन सकता। यहाँ यह संस्तुति की गई है कि प्रामाणिक गुरु की खोज करके उसकी शरण में (*अर्चनम्*) जाना चाहिए, क्योंकि उससे जिज्ञासा करके तथा उसकी पूजा करके वह आध्यात्मिक कार्यों को सीख सकता है।

पहली संस्तुति है *स्वधर्माचरणम्*। जब तक हम यह शरीर धारण किये हुए हैं तब तक हमारे लिए कुछ कर्मों की संस्तुति की गई है। ऐसे कर्मों को चार सामाजिक श्रेणियों में बाँट

दिया गया है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। इन विशिष्ट कर्मों का उल्लेख शास्त्रों में, विशेष रूप से *भगवद्गीता* में मिलता है। स्वधर्माचरणम् का अर्थ है कि मनुष्य को समाज के विशेष वर्ग के लिए संस्तुत कर्मों का पालन श्रद्धापूर्वक तथा शक्ति भर करना चाहिए। उसे किसी दूसरे का कर्म अपने ऊपर नहीं ओढ़ लेना चाहिए। यदि वह किसी विशेष समाज या जाति में उत्पन्न हुआ है, तो उसे उसके संस्तुत कर्मों का पालन करना चाहिए। किन्तु यदि कोई इतना भाग्यशाली है कि वह आध्यात्मिक पहचान के स्तर तक उठकर समाज या जाति-विशेष में जन्म की उपाधि से ऊपर उठ जाता है तब उसका *स्वधर्म* या *कर्म* एकमात्र भगवान् की सेवा रह जाता है। जो कृष्णभक्ति में उन्नत है उसका वास्तविक कर्म भगवान् की सेवा करना है। जब तक वह देहात्मबुद्धि में रहा आता है तब तक वह सामाजिक परिपाटी के अनुसार कर्म करता है, किन्तु आध्यात्मिक पद तक उठ जाने पर उसे केवल भगवान् की सेवा करनी चाहिए। यही *स्वधर्म* का वास्तविक कार्यान्वयन है।

ग्राम्यधर्मनिवृत्तिश्च मोक्षधर्मरतिस्तथा ।
मितमेध्यादनं शश्वद्विविक्तक्षेमसेवनम् ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

ग्राम्य—परम्परागत; धर्म—धार्मिक प्रथा; निवृत्तिः—समाप्ति; च—तथा; मोक्ष—मोक्ष के लिए; धर्म—धार्मिक प्रथा; रतिः—अनुरक्ति; तथा—उसी तरह; मित—कुछ; मेध्य—शुद्ध; अदनम्—भोजन करना; शश्वत्—सदैव; विविक्त—एकान्त; क्षेम—शान्तिपूर्ण; सेवनम्—घर।

मनुष्य को चाहिए कि परम्परागत धार्मिक प्रथाओं का परित्याग कर दे और उन प्रथाओं में अनुरक्त हो जो मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करने वाली हैं। उसे स्वल्प भोजन करना चाहिए और सदैव एकान्तवास करना चाहिए जिससे उसे जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त हो सके।

तात्पर्य : यहाँ संस्तुति की गई है कि आर्थिक विकास अथवा ऐन्द्रिक इच्छाओं की तुष्टि के लिए धार्मिक कार्यों से बचना चाहिए। प्रकृति के चंगुल से मुक्ति पाने के लिए ही धार्मिक कार्यों को कार्यान्वित किया जाय। *श्रीमद्भागवत* के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि सर्वश्रेष्ठ धार्मिक प्रथा वह है, जिससे अकारण ही भगवान् की दिव्य भक्ति प्राप्त की जा सके। ऐसी

धार्मिक प्रथा अबाध रूप से चलती है और इसके पालन से मनुष्य सचमुच संतुष्ट हो जाता है। यहाँ पर इसकी संस्तुति मोक्ष-धर्म के रूप में की गई है, जिसका अर्थ है मोक्ष के लिए या भौतिक कल्मष से छूटने के लिए धार्मिक अभ्यास। सामान्यतया लोग आर्थिक विकास या इन्द्रियतृप्ति के लिए धार्मिक कार्यों का पालन करते हैं, किन्तु जो लोग योग में प्रगति करना चाहते हैं उनके लिए इसकी संस्तुति नहीं की जाती।

अगला महत्त्वपूर्ण वाक्यांश है *मितमेध्यादनम्* जिसका अर्थ यह होता है कि मनुष्य को बहुत कम खाना चाहिए। वैदिक साहित्य में आदेश है कि योगी अपनी भूख का केवल आधा खाये। इसका अर्थ यह हुआ कि यदि कोई इतना भूखा है कि एक पौंड (लगभग आधा सेर) खा सकता है, तो उसे चाहिए कि वह केवल आधा पौंड ग्रहण करे और उसके साथ चार औंस (आधा पाव) पानी पिये, चौथाई पेट वायु के आने जाने के लिए खाली रखे। यदि इस प्रकार से भोजन किया जाय तो न तो अपच होगा और न कोई रोग। योगी को *श्रीमद्भागवत* तथा अन्य शास्त्रों में बताई गई विधि के अनुसार ही भोजन ग्रहण करना चाहिए। योगी को एकान्त स्थान में रहना चाहिए जहाँ योगाभ्यास में कोई बाधा न पहुँचे।

अहिंसा सत्यमस्तेयं यावदर्थपरिग्रहः ।
ब्रह्मचर्यं तपः शौचं स्वाध्यायः पुरुषार्चनम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

अहिंसा—अहिंसा; सत्यम्—सत्यनिष्ठा; अस्तेयम्—चोरी न करना; यावत्-अर्थ—आवश्यकतानुसार; परिग्रहः—संग्रह; ब्रह्मचर्यम्—ब्रह्मचर्य व्रत; तपः—तपस्या; शौचम्—स्वच्छता; स्व-अध्यायः—वेदों का अध्ययन; पुरुष-अर्चनम्—भगवान् की पूजा।

मनुष्य को चाहिए कि अहिंसा तथा सत्य का आचरण करे, चोरी से बचे और अपने निर्वाह के लिए जितना आवश्यक हो उतना ही संग्रह करे। वह विषयी जीवन से बचे, तपस्या करे, स्वच्छ रहे, वेदों का अध्ययन करे और भगवान् के परमस्वरूप की पूजा करे।

तात्पर्य : इस श्लोक में *पुरुषार्चनम्* शब्द का अर्थ है भगवान् की पूजा करना, विशेष रूप से भगवान् कृष्ण के स्वरूप की। *भगवद्गीता* में अर्जुन ने पुष्टि की है कि कृष्ण ही मूल

पुरुष—*पुरुषम् शाश्वतम्*—हैं। इसलिए योगाभ्यास करते समय मनुष्य को अपना मन न केवल कृष्ण के स्वरूप में केन्द्रित करना चाहिए, अपितु कृष्ण के विग्रह या स्वरूप की नित्य पूजा भी करनी चाहिए।

ब्रह्मचारी विषयी जीवन पर नियन्त्रण रखता है और ब्रह्मचर्य का अभ्यास करता है। अनियन्त्रित विषयी जीवन बिताते हुए मनुष्य योग का अभ्यास नहीं कर सकता। यह तो धूर्तता है। तथाकथित योगी यह विज्ञापित करते हैं कि वे इच्छानुसार भोग करने के साथ ही साथ योगी भी बने रह सकते हैं, किन्तु यह सर्वथा अप्रामाणिक है। यहाँ स्पष्ट बताया गया है कि मनुष्य को ब्रह्मचर्य पालन करना चाहिए। ब्रह्मचर्यम् का अर्थ है मनुष्य ब्रह्म के साथ सम्बन्ध में या कृष्णभक्ति में ही जीवन बिताता है। लोग विषयी जीवन में अनुरक्त रहते हैं, वे उन विधानों का पालन नहीं करते जो उन्हें कृष्णभावनामृत की ओर अग्रसर कर सके। विषयी जीवन तो विवाहितों तक ही सीमित रहना चाहिए। जो व्यक्ति विवाह के बाद सीमित विषयी जीवन बिताता है, वह भी ब्रह्मचारी कहलाता है।

योगी के लिए *अस्तेयम्* शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है ''चोरी न करना।'' व्यापक अर्थ में प्रत्येक व्यक्ति, जो आवश्यकता से अधिक संग्रह करता है, चोर है। आध्यात्मिक साम्यवाद के अनुसार कोई अपनी व्यक्तिगत आवश्यकता से अधिक नहीं रख सकता। यही प्रकृति का नियम है। जो व्यक्ति आवश्यकता से अधिक धन या सम्पत्ति एकत्र करता है, वह चोर है और जो यज्ञ अथवा श्रीभगवान् की पूजा में व्यय किये बिना धन का केवल संग्रह करता जाता है, वह और भी बड़ा चोर है।

स्वाध्याय: का अर्थ ''प्रामाणिक वैदिक शास्त्रों का अध्ययन''है। यदि कोई कृष्ण का भक्त नहीं होता और योग-पद्धति का अभ्यास करता है, तो उसे चाहिए कि ज्ञान के लिए आदर्श वैदिक साहित्य पढ़े। केवल योग सम्पन्न करना पर्याप्त नहीं है। परम भक्त तथा गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य नरोत्तम दास ठाकुर कहते हैं कि सारे आध्यात्मिक कार्यकलाप तीन साधनों से जाने जाते हैं—साधु पुरुष, आदर्श शास्त्र तथा गुरु से। आध्यात्मिक जीवन में प्रगति

करने के लिए ये तीनों अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मार्गदर्शक हैं। भक्तियोग के सम्पादन हेतु गुरु आदर्श साहित्य की संस्तुति करता है और वह स्वयं शास्त्रों के उद्धरण देता हुआ बोलता है। अत: योग साधने के लिए आदर्श शास्त्रों को पढ़ना अनिवार्य है। आदर्श साहित्य पढ़े बिना योगाभ्यास समय का अपव्यय मात्र है।

मौनं सदासनजय: स्थैर्यं प्राणजय: शनै: ।
प्रत्याहारश्चेन्द्रियाणां विषयान्मनसा हृदि ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

मौनम्—**मौन, मूकता**; **सत्**—**अच्छा**; **आसन**—**योग के आसन**; **जय:**—**वश में करते हुए**; **स्थैर्यम्**—**स्थिरता**; **प्राण-जय:**—**प्राणवायु को साधना**; **शनै:**—**धीरे-धीरे**; **प्रत्याहार:**—**निकालना**; **च**—**तथा**; **इन्द्रियाणाम्**—**इन्द्रियों का**; **विषयात्**—**विषयों से**; **मनसा**—**मन से**; **हृदि**—**हृदय में**।

मनुष्य को इन विधियों अथवा अन्य किसी सही विधि से अपने दूषित तथा चंचल मन को वश में करना चाहिए, जिसे भौतिक भोग के द्वारा सदैव आकृष्ट किया जाता रहता है और इस तरह अपने आप को भगवान् के चिन्तन में स्थिर करना चाहिए।

तात्पर्य : सामान्य रूप से योगाभ्यास तथा विशेष रूप से 'हठयोग' स्वयं में अभीष्ट नहीं होते, ये स्थिरता प्राप्त करने की दिशा में साधनस्वरूप हैं। सर्वप्रथम मनुष्य को ठीक से आसन लगाने में सक्षम होना चाहिए। तभी योगाभ्यास के लिए मन तथा ध्यान स्थिर हो सकेंगे। धीरे-धीरे मनुष्य को प्राणवायु के आवागमन को नियन्त्रित करना चाहिए। इस तरह वह इन्द्रियों को विषयों से दूर खींच सकेगा। पिछले श्लोक में कहा गया है कि मनुष्य को ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। इन्द्रियनिग्रह का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू विषयी जीवन पर नियन्त्रण है। यह ब्रह्मचर्य कहलाता है। विभिन्न आसनों के अभ्यास तथा प्राणवायु के नियन्त्रण द्वारा असीमित इन्द्रियभोग से इन्द्रियों का निरोध किया जा सकता है।

स्वधिष्ण्यानामेकदेशे मनसा प्राणधारणम् ।
वैकुण्ठलीलाभिध्यानं समाधानं तथात्मन: ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

स्व-धिष्ण्यानाम्—प्राणचक्रों के भीतर; एक-देशे—एक स्थान में; मनसा—मन से; प्राण—प्राणवायु; धारणम्—स्थिर करना; वैकुण्ठ-लीला—श्रीभगवान् की लीलाओं में; अभिध्यानम्—ध्यान; समाधानम्—समाधि; तथा—इस तरह; आत्मनः—मन की।

शरीर के भीतर के षटचक्रों में से किसी एक में प्राण तथा मन को स्थिर करना और इस प्रकार से अपने मन को भगवान् की दिव्य लीलाओं में केन्द्रित करना समाधि या मन का समाधान कहलाता है।

तात्पर्य : शरीर के भीतर प्राणवायु के आवागमन के छः चक्र हैं। पहला चक्र उदर के नीचे, दूसरा हृदय-प्रदेश में, तीसरा फेफड़ों के पास, चौथा तालू में, पाँचवाँ भौंहों के बीच में तथा सर्वोच्च छठा चक्र मस्तिष्क के ऊपर है। मनुष्य को अपने मन तथा प्राणवायु के आवागमन को स्थिर करके भगवान् की दिव्य लीलाओं का चिन्तन करना होता है। इसका कहीं भी उल्लेख नहीं है कि मनुष्य अपने को निराकार या शून्य में केन्द्रित करे। स्पष्ट उल्लेख है—वैकुण्ठ-लीला। जब तक परम सत्य श्रीभगवान् की लीलाएँ दिव्य न हों तब तक उनके विषय में चिन्तन के लिए गुंजाईश कहाँ? भगवान् की भक्ति, कीर्तन तथा लीलाओं के श्रवण के द्वारा ही यह ध्यान (एकाग्रता) प्राप्त किया जा सकता है। *श्रीमद्भागवत* में वर्णन आया है कि भगवान् विभिन्न भक्तों के साथ अपने सम्बन्धों के अनुसार प्रकट और अन्तर्धान होते रहते हैं। वैदिक साहित्य में भगवान् की लीलाओं की अनेक कथाएँ पाई जाती हैं जिनमें कुरुक्षेत्र का युद्ध तथा भक्तों—यथा प्रह्लाद महाराज, ध्रुव महाराज तथा अम्बरीष महाराज—के जीवन तथा उपदेश सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्य सम्मिलित हैं। मनुष्य को इनमें से किसी कथा में अपने मन को केन्द्रित करने और इसके विचार में तल्लीन रहने की आवश्यकता होती है। तब वह समाधि में पहुँच जाता है। समाधि कोई कृत्रिम शारीरिक अवस्था नहीं, यह वह अवस्था है, जो मन द्वारा श्रीभगवान् के विचारों में तल्लीन हो जाने पर प्राप्त होती है।

एतैरन्यैश्च पथिभिर्मनो दुष्टमसत्पथम् ।
बुद्ध्या युञ्जीत शनकैर्जितप्राणो ह्यतन्द्रितः ॥७॥

शब्दार्थ

एतैः—इनसे; अन्यैः—दूसरे से; च—यथा; पथिभिः—विधियों से; मनः—मन; दुष्टम्—कलुषित; असत्-पथम्—सांसारिक भोग के पथ पर; बुद्ध्या—बुद्धि से; युञ्जीत—वश में करना चाहिए; शनकैः—धीरे-धीरे; जित-प्राणः—प्राणवायु को स्थिर करके; हि—निस्सन्देह; अतन्द्रितः—सतर्क।

इन विधियों से या अन्य किसी सही विधि से मनुष्य को अपने दूषित तथा भौतिक भोग के द्वारा सदैव आकृष्ट होने वाले चंचल मन को वश में करना चाहिए और इस तरह अपने आपको भगवान् के चिन्तन में स्थिर करना चाहिए।

तात्पर्य : *एतैरन्यैश्च*। सामान्य योगक्रिया में विधि-विधानों का पालन, विभिन्न आसनों का अभ्यास, प्राणवायु चक्र में मन को केन्द्रित करना तथा भगवान् का उनकी वैकुण्ठ लीलाओं में चिन्तन करना सम्मिलित हैं। यह योग की सामान्य विधि है। यही एकाग्रता (ध्यान) अन्य संस्तुत विधियों से भी प्राप्त की जा सकती है, अत: *अन्यैश्च* शब्दों का प्रयोग हुआ है। मुख्य बात यह है कि भौतिक आसक्ति के कारण कल्मषग्रस्त मन को वश में करके उसे पूर्ण परुषोत्तम भगवान् में स्थिर करना होता है। इसे ऐसी किसी वस्तु पर जो शून्य या निराकार हो स्थिर नहीं किया जा सकता। इसी कारण से किसी मानक *योग-शास्त्र* में शून्यवाद तथा निर्विशेषवाद की तथाकथित योग विधियों की संस्तुति नहीं की गई है। वास्तविक योगी तो भक्त है, क्योंकि उसका मन सदैव भगवान् कृष्ण की लीलाओं में केन्द्रित रहता है। फलत: कृष्णभक्ति सर्वोच्च योगपद्धति है।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम् ।
तस्मिन्स्वस्ति समासीन ऋजुकायः समभ्यसेत् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

शुचौ देशे—पवित्र स्थान में; प्रतिष्ठाप्य—स्थापित करके; विजित-आसनः—आसनों को वश में करते हुए; आसनम्—आसन, स्थान; तस्मिन्—उस स्थान में; स्वस्ति समासीनः—आरामदेह आसन में बैठे हुए; ऋजु-कायः—शरीर को सीधा रखते हुए; समभ्यसेत्—अभ्यास करना चाहिए।

अपने मन तथा आसनों को वश में करने के बाद मनुष्य को चाहिए कि किसी एकान्त तथा पवित्र स्थान में अपना आसन बिछा दे, उस पर शरीर को सीधा रखते हुए सुखपूर्वक आसीन होकर श्वास नियन्त्रण (प्राणायाम) का अभ्यास करे।

तात्पर्य : सुखपूर्वक आसीन होने को *स्वस्ति समासीन:* कहते हैं। योगशास्त्र में संस्तुति है

कि दोनों जाँघों तथा घुटनों के बीच पाँव के तलवे रख कर सीधा बैठा जाय, इस आसन से भगवान् में मन को केन्द्रित करने में सुविधा होगी। *भगवद्गीता* के छठे अध्याय में इसी विधि की संस्तुति की गई है। यह भी सुझाव दिया गया है कि मनुष्य को चाहिए कि वह किसी एकान्त पवित्र स्थान में बैठे। उसका आसन मृगछाला तथा *कुश* का हो जिसके ऊपर सूती वस्त्र हो।

प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।
प्रतिकूलेन वा चित्तं यथा स्थिरमचञ्चलम् ॥ ९॥

शब्दार्थ

प्राणस्य—प्राणवायु के; शोधयेत्—स्वच्छ करे; मार्गम्—रास्ते को; पूर-कुम्भक-रेचकैः—श्वास खींचकर, रोककर तथा निकालकर; प्रतिकूलेन—उलटने से; वा—अथवा; चित्तम्—मन को; यथा—जिसमें; स्थिरम्—स्थिर, स्थायी; अचञ्चलम्—अवरोधों से युक्त।

योगी को चाहिए कि प्राणवायु के मार्ग को निम्नलिखित विधि से श्वास लेकर इस प्रकार से स्वच्छ करे—पहले बहुत गहरी श्वास अंदर ले, फिर उस श्वास को धारण किये रहे और अन्त में श्वास बाहर निकाल दे। या फिर इस विधि को उलट कर योगी पहले श्वास निकाले, फिर श्वास रोके रखे और अन्त में श्वास भीतर ले जाय। ऐसा इसलिए किया जाता है, जिससे मन स्थिर हो और बाहरी अवरोधों से मुक्त हो सके।

तात्पर्य : ये प्राणायाम मन को नियन्त्रित करने तथा उसे भगवान् में स्थिर करने के लिए किये जाते हैं। *स वै मनःकृष्णपदारविन्दयोः*—भक्त अम्बरीष महाराज चौबीसों घण्टे अपना मन कृष्ण के चरणकमलों में स्थिर रखते थे। कृष्णभावनामृत की विधि में हरे कृष्ण कीर्तन किया जाता है और शब्द को ध्यानपूर्वक सुना जाता है, जिससे मन कृष्ण के नाम की दिव्य ध्वनि में स्थिर हो जाता है और यह नाम कृष्ण के व्यक्तित्व से अभिन्न है। प्राणवायु के मार्ग को स्वच्छ करने की संस्तुत विधि द्वारा मन को वश में करने का वास्तविक प्रयोजन तुरन्त ही प्राप्त हो जाता है यदि मनुष्य अपने मन को सीधे भगवान् के चरणकमलों में स्थिर कर देता है। हठयोग या प्राणायाम की विधि उन लोगों के लिए है, जो देहात्मबुद्धि में अत्यधिक तल्लीन रहते हैं, किन्तु जो केवल हरे कृष्ण का कीर्तन कर सकता है, वह अधिक सुगमतापूर्वक मन को स्थिर

कर सकता है।

श्वास मार्ग को स्वच्छ करने की तीन भिन्न विधियाँ बताई गई हैं—*पूरक, कुम्भक* तथा *रेचक*। श्वास भीतर ले जाना पूरक कहलाता है, उसे भीतर रोके रखना कुम्भक है और श्वास को बाहर निकालना रेचक है। इन विधियों को उलट कर भी किया जा सकता है। श्वास निकालने के बाद वायु को कुछ काल तक बाहर रखने के बाद पुन: श्वास को भीतर ले जाया जाय। जिन नाड़ियों के द्वारा श्वास लेने तथा श्वास छोड़ने की क्रियाएँ सम्पन्न की जाती हैं, वे इड़ा तथा पिंगला कहलाती हैं। इड़ा तथा पिंगला को स्वच्छ (मार्जन) करने का चरम उद्देश्य मन को भौतिक सुखोपभोग से मोड़ना है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—मन ही मनुष्य का शत्रु है और मित्र है, इसकी स्थिति जीव के साथ भिन्न-भिन्न आचरणों के अनुसार बदलती रहती है। यदि हम अपने मन को भौतिक भोगों की ओर मोड़ते हैं, तो हमारा मन हमारा शत्रु बन जाता है, किन्तु यदि हम अपने मन को कृष्ण के चरणकमलों में केन्द्रित करते हैं, तो मन हमारा मित्र बन जाता है। चाहे पूरक, कुम्भक तथा रेचक की योग-पद्धति हो या कि कृष्ण शब्द (नाम) या कृष्ण के स्वरूप पर मन को स्थिर करना हो, इनसे एक ही उद्देश्य की प्राप्ति होती है। *भगवद्गीता* (८.८) में कहा गया है कि मनुष्य को चाहिए कि प्राणायाम करे (*अभ्यासयोगयुक्तेन*)। इन नियन्त्रण विधियों से मन बाहरी विचारों की ओर नहीं जाएगा (*चेतसा नान्यगामिना*)। इस प्रकार वह निरन्तर अपने मन को भगवान् में स्थिर करके उन्हें प्राप्त कर सकता है (*याति*)।

इस युग में आसन तथा श्वास नियन्त्रण की योग-पद्धति का अभ्यास कर सकना मनुष्य के लिए दुष्कर है। अत: भगवान् चैतन्य ने संस्तुति की है—*कीर्तनीय:सद-हरि:*—मनुष्य को चाहिए कि सदैव सर्वाधिक उपयुक्त कृष्ण के पवित्र नाम का जप करे। कृष्ण-नाम तथा परम पुरुष कृष्ण अभिन्न हैं। अत: यदि कोई हरे कृष्ण के सुनने तथा कीर्तन करने में मन को केन्द्रित करता है, तो समान फल प्राप्त होता है।

**मनोऽचिरात्स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः ।
वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति वै मलम् ॥ १० ॥**

शब्दार्थ

मनः—मन; अचिरात्—शीघ्र ही; स्यात्—हो सकता है; विरजम्—उद्वेगों से मुक्त; जित-श्वासस्य—जिसने श्वास पर विजय पा ली है; योगिनः—योगी का; वायु-अग्निभ्याम्—वायु तथा अग्नि से; यथा—जिस प्रकार; लोहम्—स्वर्ण; ध्मातम्—हवा किये जाने पर; त्यजति—मुक्त हो जाता है; वै—निश्चय ही; मलम्—अशुद्धि से।

जो योगी ऐसे प्राणायाम का अभ्यास करते हैं, वे तुरन्त समस्त मानसिक उद्वेगों से उसी तरह मुक्त हो जाते हैं जिस प्रकार हवा की फुहार से अग्नि में रखा सोना सारी अशुद्धियों से रहित हो जाता है।

तात्पर्य : मन शुद्ध करने की इस विधि की संस्तुति भगवान् चैतन्य ने भी की है। उनका कहना है कि मनुष्य को हरे कृष्ण कीर्तन करना चाहिए। वे आगे कहते है कि *परं विजयते* "श्रीकृष्ण कीर्तन की जय हो।" कृष्ण के पवित्र नामों के कीर्तन की जय बोली जाती है, क्योंकि ज्यों ही कोई कीर्तन करना चालू करता है कि जमी हुई मैल से मन शुद्ध हो जाता है। *चेतो-दर्पणमार्जनम्*—भगवान् कृष्ण के पवित्र नाम के कीर्तन से मनुष्य के मन में एकत्र होने वाला मैल साफ हो जाता है। मनुष्य अपने मन को या तो प्राणायाम के द्वारा या कि कीर्तन विधि से शुद्ध कर सकता है, जिस प्रकार अग्नि में रखकर धौंकनी से धौंकने पर सोना शुद्ध हो जाता है।

**प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्बिषान् ।
प्रत्याहारेण संसर्गान्ध्यानेनानीश्वरान्गुणान् ॥ ११ ॥**

शब्दार्थ

प्राणायामैः—प्राणायाम के अभ्यास से; दहेत्—समूल नष्ट कर सकता है; दोषान्—कल्मषों को; धारणाभिः—मन को केन्द्रित करने से; च—यथा; किल्बिषान्—पाप कर्म; प्रत्याहारेण—इन्द्रियों को रोकने से; संसर्गान्—भौतिक संगति; ध्यानेन—ध्यान करने से; अनीश्वरान् गुणान्—भौतिक प्रकृति के गुणों को।

प्राणायाम विधि के अभ्यास से मनुष्य अपने शारीरिक दोषों को समूल नष्ट कर सकता है और अपने मन को एकाग्र करने से वह सारे पापकर्मों से मुक्त हो सकता है। इन्द्रियों को वश में करने से मनुष्य भौतिक संसर्ग से अपने को मुक्त कर सकता है और भगवान् का ध्यान करने से वह भौतिक आसक्ति के तीनों गुणों से मुक्त हो सकता है।

तात्पर्य : आयुर्विज्ञान के अनुसार *कफ, पित्त* तथा *वायु* शरीर की दैहिक अवस्था को बनाये रखते हैं। आधुनिक ओषधि विज्ञान इस दैहिक अवस्था को वैध नहीं मानता, किन्तु प्राचीन आयुर्वेदिक विधि से जो उपचार किया जाता है, वह इन्हीं तीन तत्त्वों पर निर्भर है जिनका उल्लेख *भागवत* में कई स्थानों पर शरीर की मूल दशाओं के रूप में पाया जाता है। यहाँ यह संस्तुति की गई है कि प्राणायाम विधि के अभ्यास से मनुष्य प्रमुख दैहिक तत्त्वों से उत्पन्न कल्मष से मुक्त हो सकता है। इसी प्रकार मन को एकाग्र करने से पाप-कर्मों से छूट सकता है और इन्द्रियों का निग्रह कर लेने पर मनुष्य भौतिक संगति से अपने को मुक्त कर सकता है।

अन्ततः मनुष्य को भगवान् का चिन्तन करना होता है, जिससे वह इस दिव्य स्थिति तक ऊपर उठ सके जहाँ उसे प्रकृति के तीनों गुण और अधिक नहीं सताते। *भगवद्गीता* में भी पुष्टि की गई है कि जो विशुद्ध भक्ति करता है, वह प्रकृति के तीनों गुणों को पार कर जाता है और तुरन्त ही ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। *सगुणान् समातीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते*। योग पद्धति की प्रत्येक क्रिया के लिए भक्तियोग में सदृश क्रिया पाई जाती है, किन्तु इस युग के लिए भक्तियोग अधिक सुगम है। भगवान् चैतन्य ने जो कुछ सूत्रपात किया वह नवीन व्याख्या नहीं है। भक्तियोग एक संभाव्य विधि है, जिसका शुभारम्भ कीर्तन तथा श्रवण से होता है। भक्तियोग तथा अन्य योगों का अन्तिम लक्ष्य एक ही श्रीभगवान् हैं, किन्तु इनमें से एक व्यावहारिक है और दूसरे कठिन हैं। मन की एकाग्रता तथा इन्द्रियों के संयम द्वारा मनुष्य को अपनी दैहिक अवस्था शुद्ध करनी होती है, तभी वह भगवान् पर अपना चित्त स्थिर कर सकता है। यही *समाधि* कहलाती है।

यदा मनः स्वं विरजं योगेन सुसमाहितम् ।
काष्ठां भगवतो ध्यायेत्स्वनासाग्रावलोकनः ॥ १२॥

शब्दार्थ

यदा—जब; **मनः**—मन; **स्वम्**—अपने से; **विरजम्**—शुद्ध; **योगेन**—योगाभ्यास से; **सु-समाहितम्**—वशीभूत, नियंत्रित; **काष्ठाम्**—पूर्ण अंश; **भगवतः**—श्रीभगवान् का; **ध्यायेत्**—ध्यान करना चाहिए; **स्व-नासा-अग्र**—अपनी नाक का अग्रभाग; **अवलोकनः**—देखते हुए।

जब इस योगाभ्यास से मन पूर्णतया शुद्ध हो जाय, तो मनुष्य को चाहिए कि अधखुलीं आखों से नाक के अग्रभाग में ध्यान को केन्द्रित करे और भगवान् के स्वरूप को देखे।

तात्पर्य : यहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि मनुष्य को विष्णु के अंश का ध्यान करना चाहिए। *काष्ठाम्* शब्द परमात्मा अर्थात् विष्णु के अंश के अंश का सूचक है। *भगवत:* भगवान् विष्णु के लिए आया है। परमेश्वर तो कृष्ण हैं; उनसे पहला विस्तार बलदेव के रूप में होता है, फिर बलदेव से संकर्षण, अनिरुद्ध तथा अन्य रूप आते हैं और अन्त में पुरुष-अवतार आता है। जैसाकि पिछले श्लोकों में वर्णन आया है (*पुरुषाचर्नम्*) यह पुरुष परमात्मा के रूप में अंकित हुआ है। परमात्मा का वर्णन अगले श्लोकों में किया जाएगा। इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि मनुष्य को अपनी नाक के अग्रभाग में दृष्टि को स्थिर करके अपने मन को कला या विष्णु के पूर्ण अंश में एकाग्र करना चाहिए।

प्रसन्नवदनाम्भोजं पद्मगर्भारुणेक्षणम् ।
नीलोत्पलदलश्यामं शङ्खचक्रगदाधरम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

प्रसन्न—**प्रसन्न**; वदन—**मुख**; अम्भोजम्—**कमलवत्**; पद्म-गर्भ—**कमल का भीतरी भाग**; अरुण—**लाल**; ईक्षणम्—**आँखों से**; नील-उत्पल—**नील कमल**; दल—**पंखड़ियाँ**; श्यामम्—**श्याम रंग की**; शङ्ख—**शंख**; चक्र—**चक्र**; गदा—**गदा**; धरम्—**धारण किये हुए**।

भगवान् का मुख उत्फुल्ल कमल के समान है और लाल लाल आँखें कमल के कोश (भीतरी भाग) के समान हैं। उनका श्यामल शरीर नील कमल की पंखड़ियों के समान है। वे अपने तीन हाथों में शङ्ख, चक्र तथा गदा धारण किये हैं।

तात्पर्य : यहाँ पर यह निश्चित रूप से संस्तुति की गई है कि मन को विष्णु के रूप पर एकाग्र किया जाय। विष्णु के बारह भिन्न-भिन्न रूप हैं जिनका वर्णन *चैतन्य महाप्रभु का शिक्षामृत* में दिया हुआ है। शून्य या निराकार पर मन को एकाग्र नहीं किया जा सकता; मन को भगवान् के सगुण रूप में एकाग्र करना चाहिए जिनका मुख-मंडल प्रसन्न हो, जैसाकि इस श्लोक में कहा गया है। *भगवद्गीता* का कथन है कि ध्यानकर्ता के लिए निराकार या शून्य रूप

का ध्यान कष्टप्रद है। जो लोग निराकार या शून्य का ध्यान करने में अनुराग रखते हैं उन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, क्योंकि लोग किसी निराकार वस्तु में ध्यान एकाग्र करने के अभ्यस्त नहीं हैं। वस्तुत: ऐसी एकाग्रता सम्भव भी नहीं है। *भगवद्गीता* में भी पुष्टि की गई है कि भगवान् पर ही ध्यान केन्द्रित किया जाय।

यहाँ पर भगवान् कृष्ण का रंग *नीलोत्पल दल* के समान बताया है, जिसका अर्थ है कि यह उस कमल पुष्प के समान है, जिसकी पंखुड़ियाँ नीली तथा श्वेत हैं। लोग प्राय: पूछते हैं कि कृष्ण का रंग श्याम (नीला) क्यों है? भगवान् का रंग किसी कलाकार की कल्पना नहीं है। इसका वर्णन प्रामाणिक शास्त्रों में हुआ है। *ब्रह्म-संहिता* में भी कृष्ण के शरीर की तुलना नीले (श्याम) बादल से की गई है। भगवान् का रंग काव्यात्मक कल्पना नहीं है। भगवान् के शरीर, उनके आयुधों तथा अन्य साज के विषय में *ब्रह्म-संहिता, श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता* तथा कई पुराणों में प्रामाणिक वर्णन मिलते हैं। भगवान् की आकृति यहाँ पर *पद्मगर्भारुणेक्षणम्* जैसी बताई गई है। उनके नेत्र कमल-कोश के समान हैं और अपनी चारों भुजाओं में वे चार चिह्न शंख, चक्र, गदा तथा कमल पुष्प धारण किये हैं।

लसत्पङ्कजकिञ्जल्कपीतकौशेयवाससम् ।
श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

लसत्—चमकता हुआ; पङ्कज—कमल के; किञ्जल्क—तन्तु; पीत—पीला; कौशेय—रेशमी; वाससम्—जिनका वस्त्र; श्रीवत्स—श्रीवत्स चिह्न से युक्त; वक्षसम्—वक्षस्थल; भ्राजत्—प्रकाशमान; कौस्तुभ—कौस्तुभ मणि; आमुक्त—पहने हुए; कन्धरम्—गला।

उनकी कटि पीले पद्म-केशर के सदृश चमकदार वस्त्र से आवरित है। उनके वक्षस्थल पर श्रीवत्स चिह्न (श्वेत बालों का गुच्छा) है। उनके गले में चमचमाती कौस्तुभ मणि लटक रही है।

तात्पर्य : भगवान् के वस्त्र का असली रंग केसरिया पीला है, जो कमल पुष्प के केसर के समान है। उनके वक्षस्थल पर लटकती हुई कौस्तुभ मणि का भी वर्णन हुआ है। उनका गला रत्नों तथा मोतियों से सुशोभित है। भगवान् षड़ैश्वर्य से परिपूर्ण हैं, जिसमें से एक है धन। वे

ऐसे अमूल्य मणि धारण किये हैं, जो इस जगत में दृष्टिगोचर नहीं होते।

मत्तद्विरेफकलया परीतं वनमालया ।
परार्ध्यहारवलयकिरीटाङ्गदनूपुरम् ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

मत्त—मतवाले; द्वि-रेफ—भौंरों से; कलया—गुंजार करते; परीतम्—हार पहने; वन-मालया—वन के फूलों की माला से; परार्ध्य—अमूल्य; हार—मोती की माला; वलय—कंकण; किरीट—मुकुट; अङ्गद—बाजूबंद; नूपुरम्—नूपुर।

वे अपने गले में वनपुष्पों की आकर्षक माला भी धारण करते हैं जिसकी सुगन्धि से मतवाले भौंरों के झुंड माला के चारों ओर गुंजार करते हैं। वे मोती की माला, मुकुट, एक जोड़ी कंकण, बाजूबंद तथा नूपुर से अत्युत्तम ढंग से सुसज्जित हैं।

तात्पर्य : इस वर्णन से लगता है कि भगवान् की फूलों की माला ताजी है। वास्तव में वैकुण्ठ में सर्वत्र ताजगी ही ताजगी रहती है। यहाँ तक कि वृक्षों से तोड़े गये फूल भी ताजे बने रहते हैं, क्योंकि वैकुण्ठ की प्रत्येक वस्तु अपनी मौलिकता बनाये रखती है और वह मुरझाती नहीं। इन वृक्षों से तोड़े गये फूलों से बनाई गई माला मुरझाती नहीं, क्योंकि वृक्ष तथा फूल दोनों ही दिव्य होते हैं। जब फूल को वृक्ष से तोड़ लिया जाता है, तो वह जैसे का तैसा बना रहता है, अपनी सुगन्ध नहीं खोता। भौंरे (मधुमक्खियाँ) पुष्पों के प्रति समान रूप से आकर्षित होते हैं चाहे वे माला (हार) में हों या वृक्ष में लगे हों। दिव्यता की विशिष्टता यह है कि हर वस्तु शाश्वत और अक्षय है। किसी वस्तु से कोई वस्तु निकालने पर कोई न कोई वस्तु बनी रहता है अथवा जैसाकि लोग कहते हैं कि वैकुण्ठ में से एक में एक घटाने पर एक बचता है और एक में एक जोड़ने के एक मिलता है। ताजे फूलों के चारों ओर भौंरे गुंजार करते हैं और भगवान् उनकी मधुर ध्वनि का आनन्द लेते हैं। भगवान् के कंकण, हार, मुकुट तथा नूपुर सभी अमूल्य रत्नों से जटित हैं। चूँकि रत्न तथा मोती दिव्य हैं, अत: उनका मूल्य नहीं आँका जा सकता।

काञ्चीगुणोल्लसच्छ्रोणिं हृदयाम्भोजविष्टरम् ।

दर्शनीयतमं शान्तं मनोनयनवर्धनम् ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

काञ्ची—करधनी; गुण—गुण; उल्लसत्—चमकीली; श्रोणिम्—कमर तथा कूल्हे; हृदय—हृदय; अम्भोज—कमल; विष्टरम्—जिनका आसन; दर्शनीय-तमम्—देखने में सर्वाधिक मोहक; शान्तम्—शान्त, गम्भीर; मनः—मन, हृदय; नयन—आँखें; वर्धनम्—प्रसन्न करने वाला।

उनकी कमर तथा कूल्हे पर करधनी पड़ी है और वे भक्तों के हृदय-कमल पर खड़े हुए हैं। वे देखने में अत्यन्त मोहक हैं और उनका शान्त स्वरूप देखने वाले भक्तों के नेत्रों को तथा आत्माओं को आनन्दित करने वाला है।

तात्पर्य : इस श्लोक में प्रत्युक्त *दर्शनीयतमम्* शब्द का अर्थ है कि भगवान् इतने सुन्दर हैं कि भक्त-योगी उनके अतिरिक्त और कुछ नहीं देखना चाहते। भगवान् के दर्शन से सुन्दर वस्तुओं के देखने की चाह पूरी हो जाती है। भौतिक जगत में हम सुन्दरता को देखते अघाते नहीं। भौतिक कल्मष के कारण संसार में हम जितनी उत्कटता का अनुभव करते हैं वह तुष्ट नहीं हो पाती। किन्तु जब देखने, सुनने, स्पर्श करने इत्यादि की हमारी इच्छाएँ भगवान् को तुष्ट करने के लिए होती हैं, तो वे सर्वोच्च पूर्णता को प्राप्त करती हैं।

यद्यपि भगवान् अपने शाश्वत रूप में भक्त के हृदय को इतने सुन्दर तथा मोहक लगने वाले होते हैं, किन्तु वह रूप निर्विशेषवादियों को, जो उनके निराकार रूप का चिन्तन करना चाहते हैं, आकृष्ट नहीं कर पाता। ऐसा निराकार ध्यान व्यर्थ का श्रम है। वास्तविक योगी अपने अधखुले नेत्रों को किसी शून्य या निराकार में स्थिर न करके भगवान् के स्वरूप पर स्थिर करते हैं।

अपीच्यदर्शनं शश्वत्सर्वलोकनमस्कृतम् ।
सन्तं वयसि कैशोरे भृत्यानुग्रहकातरम् ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

अपीच्य-दर्शनम्—देखने में अतीव सुन्दर; शश्वत्—नित्य; सर्व-लोक—प्रत्येक लोक से समस्त वासियों द्वारा; नमः-कृतम्—पूज्य; सन्तम्—स्थित; वयसि—युवावस्था में; कैशोरे—बाल्यपन में; भृत्य—अपने भक्तों पर; अनुग्रह—आशीर्वाद देने के लिए; कातरम्—उत्सुक।

भगवान् शाश्वत रूप से अत्यन्त सुन्दर हैं और प्रत्येक लोक के समस्तवासियों द्वारा पूजित हैं। वे चिर-युवा रहते हैं और अपने भक्तों को आशीष देने के लिए उत्सुक रहते

हैं।

तात्पर्य : *सर्वलोक नमस्कृतम्* का अर्थ है कि वे प्रत्येक लोक के प्रत्येक प्राणी द्वारा पूज्य हैं। इस भौतिक जगत में तथा साथ ही वैकुण्ठ में भी असंख्य लोक हैं। इन लोकों में से हर एक में असंख्य वासी हैं, जो भगवान् की पूजा करते हैं, क्योंकि निर्विशेषवादियों को छोड़कर वे अन्य सबों के द्वारा पूज्य हैं। परमेश्वर अतीव सुन्दर हैं। *शश्वत्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। ऐसा नहीं है कि वे भक्तों को तो सुन्दर लगते हैं, किन्तु अन्तत: निराकार हैं। शश्वत् का अर्थ है ''सदैव विद्यमान।'' यह सौन्दर्य क्षणिक नहीं है। यह चिरस्थायी है—वे चिर-युवा रहते हैं। *ब्रह्म-संहिता* (५.३३) में भी कहा गया है—*अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपमाआद्यं पुराणपुरुषं नवयौवनं च*। मूल पुरुष अद्वितीय है, फिर भी वे कभी वृद्ध नहीं लगते, वे तरुणावस्था में सदैव तरोताजा लगते हैं।

भगवान् की भावभंगिया से लगता है कि वे भक्तों पर अनुग्रह करने वाले एवं आशीष देने वाले हैं, किन्तु अभक्तों के प्रति वे मूक रहते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् होने के कारण वे सबों पर समभाव रखते हैं, क्योंकि सभी जीव उनके पुत्रवत् हैं, किन्तु जो लोग भक्ति में लगे हैं, वे उन पर विशेष कृपालु रहते हैं। इसी भाव की यहाँ पुष्टि हुई है कि वे भक्तों को सदैव आशीर्वाद देने के लिए आतुर रहते हैं। जिस प्रकार भक्त भगवान् की सेवा करने के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं उसी प्रकार भगवान् भी अपने शुद्ध भक्तों के ऊपर आशीषों की वर्षा करने के लिए उत्सुक रहते हैं।

कीर्तन्यतीर्थयशसं पुण्यश्लोकयशस्करम् ।
ध्यायेद्देवं समग्राङ्गं यावन्न च्यवते मनः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

कीर्तन्य—गाये जाने के योग्य; तीर्थ-यशसम्—भगवान् की महिमा; पुण्य-श्लोक—भक्तों के; यशः-करम्—यश को बढ़ाने वाले; ध्यायेत्—ध्यान करना चाहिए; देवम्—भगवान् का; समग्र-अङ्गम्—सारे अंग; यावत्—जब तक; न—नहीं; च्यवते—विचलित होवे; मनः—मन।

भगवान् का यश वन्दनीय है, क्योंकि उनका यश भक्तों के यश को बढ़ाने वाला है। अतः मनुष्य को चाहिए कि पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् तथा उनके भक्तों का ध्यान करे।

मनुष्य को तब तक भगवान् के शाश्वत रूप का ध्यान करना चाहिए जब तक मन स्थिर न हो जाय।

तात्पर्य : मनुष्य को निरन्तर अपना ध्यान भगवान् पर स्थिर रखना चाहिए। जब वह भगवान् के असंख्य रूपों—कृष्ण, विष्णु, राम, नारायण आदि—में से किसी एक का चिन्तन करने का अभ्यस्त हो जावेगा तो उसे योग की सिद्धि प्राप्त हो सकेगी। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* में हुई है—जिस व्यक्ति में भगवान् के प्रति शुद्ध प्रेम उपज चुका है और जिसके नेत्रों में दिव्य प्रेम का अंजन लग चुका है, वह निरन्तर अपने अन्त:करण में भगवान् का दर्शन करता है। भक्तगण विशेष रूप से श्यामसुन्दर के सुन्दर श्याम रूप का दर्शन करते हैं। यही योग की सिद्धि है। इस योग पद्धति को तब तक चालू रखना चाहिए जब तक मन क्षण भर भी न चलायमान हो। *ॐ तद् विष्णो: परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरय:*—विष्णु का स्वरूप सर्वोच्च पुरुष और ऋषियों तथा मुनियों को सदैव दृष्टिगोचर होता है।

भक्त जब मन्दिर में भगवान् के रूप की पूजा करता है, तो उससे भी इसी उद्देश्य की पूर्ति होती है। मन्दिर में भगवान् की पूजा तथा भगवान् के रूप का ध्यान—इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि भगवान् का स्वरूप वही रहता है चाहे वह मन में प्रकट हो या किसी सीमेंट गारे के रूप में। भक्तों के दर्शनार्थ आठ प्रकार के स्वरूपों की संस्तुति की गई है। ये स्वरूप बालू, मिट्टी, काष्ठ या पत्थर के बनाये जा सकते हैं, या इनका मन में ध्यान किया जा सकता है या रत्नों, धातु या विविध रंगों से बनाया जा सकता है, किन्तु इन सब रूपों का एक सा महत्त्व है। ऐसा नहीं है कि यदि कोई किसी रूप का मन में ध्यान करता है, तो मन्दिर में पूजा किये जाने वाले रूप से वह भिन्न होता है। भगवान् परम हैं, अत: इन दोनों में कई अन्तर नहीं है। निर्विशेषवादी भगवान् के शाश्वत रूप की अवहेलना करके किसी गोलाकार रूप (शून्य) की कल्पना करते हैं। वे विशेष रूप से ओंकार को वरीयता प्रदान करते हैं, किन्तु उसका भी स्वरूप होता है। इसी प्रकार भगवान् की मूर्तियाँ तथा चित्र हैं।

इस श्लोक का अन्य महत्त्वपूर्ण शब्द *पुण्यश्लोकयशस्करम्* है। भक्त *पुण्यश्लोक* कहलाता

है। जिस प्रकार भगवान् के पवित्र नाम के जप से कोई भी पवित्र हो जाता है उसी तरह पवित्र भक्त के नाम के जपमात्र के वह पवित्र हो जाता है। भगवान् का शुद्ध भक्त तथा स्वयं भगवान् अभिन्न हैं। कभी-कभी पवित्र भक्त के नाम का जप सम्भव होता है। यह एक पवित्र विधि है। एक बार भगवान् चैतन्य गोपियों के पवित्र नामों का कीर्तन कर रहे थे तो उनके शिष्यों ने उनकी आलोचना की, ''आप गोपियों के नामों का कीर्तन क्यों कर रहे हैं? आप कृष्ण का कीर्तन क्यों नहीं करते?'' भगवान् चैतन्य इस आलोचना से चिड़चिड़ाये अतः उनके शिष्यों तथा उनके बीच कुछ मनमुटाव हो गया। उन्होंने कीर्तन की दिव्य विधि के विषय में इस तरह शिक्षा देने के लिए उन्हें प्रताड़ित करना चाहा।

भगवान् की यह विशेषता है कि जो भक्त उनके कार्यकलापों से सम्बन्धित होते हैं, वे भी यश को प्राप्त होते हैं। अर्जुन, प्रह्लाद, जनक महाराज, बलि महाराज तथा अन्य भक्तों ने संन्यास आश्रम भी नहीं ग्रहण किया था, अपितु गृहस्थ थे। इनमें से कुछ, यथा प्रह्लाद महाराज तथा बलि महाराज आसुरी परिवारों में जन्मे थे। प्रह्लाद महाराज का पिता असुर था और बलि महाराज प्रह्लाद के पौत्र थे, तो भी भगवान् की संगति के कारण वे प्रसिद्ध हुए। जो कोई भी भगवान् के शाश्वत साहचर्य में रहता है, वह भगवान् के साथ यश का भागी होता है। निष्कर्ष यह निकला कि सिद्ध योगी को सदैव भगवान् के स्वरूप का दर्शन करते रहना चाहिए और जब तक मन इस प्रकार स्थिर नहीं हो जाता तब तक उसे योग का अभ्यास करते रहना चाहिए।

स्थितं व्रजन्तमासीनं शयानं वा गुहाशयम् ।
प्रेक्षणीयेहितं ध्यायेच्छुद्धभावेन चेतसा ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

स्थितम्—खड़े रहते हुए; व्रजन्तम्—चलते; आसीनम्—बैठे; शयानम्—लेटे; वा—अथवा; गुहा-आशयम्—हृदय में वास करने वाले भगवान्; प्रेक्षणीय—सुन्दर; ईहितम्—लीलाएँ; ध्यायेत्—ध्यान करना चाहिए; शुद्ध-भावेन—शुद्ध; चेतसा—मन से।

इस प्रकार भक्ति में सदैव तल्लीन रहकर योगी अपने अन्तर में भगवान् को खड़े रहते हुए, चलते, लेटे या बैठे हुए देखता है, क्योंकि परमेश्वर की लीलाएँ सुन्दर तथा

आकर्षक होती हैं।

तात्पर्य : अपने मन से भगवान् के स्वरूप का ध्यान करने की क्रिया तथा भगवान् के यश तथा लीलाओं के कीर्तन की क्रिया एकसमान है। अन्तर केवल इतना है कि भगवान् की लीलाओं को सुनना एवं मन को स्थिर करना, मन के भीतर भगवान् के रूप का ध्यान धरने की अपेक्षा सरल है, क्योंकि इस युग में जब भी कोई भगवान् का चिन्तन करने लगता है, तो मन विचलित हो जाता है और नाना प्रकार की उद्विग्नताओं से मन के भीतर भगवान् को देखने की विधि में गतिरोध आ जाता है। किन्तु जब भगवान् की दिव्य लीलाओं की प्रशंसा करते हुए शब्दोच्चार किया जाता है, तो हम सुनने के लिए बाध्य हो जाते हैं। यह श्रवण की क्रिया मन में प्रवेश करती है और योग का अभ्यास स्वतः सम्पन्न होता जाता है। उदाहरणार्थ, यदि भगवान् द्वारा गोचारण के लिए अपनी गौवों तथा मित्रों के साथ चारागाह तक जाने का वर्णन *भागवतम्* से पढ़ा जा रहा हो और यदि इसे कोई बालक भी सुने तो उसको सुनने से ही भगवान् की लीलाओं के ध्यान का लाभ प्राप्त हो सकता है। सुनने में मन लगना भी सम्मिलित होता है। भगवान् चैतन्य ने संस्तुति की है कि इस कलियुग में मनुष्य को सदैव *भगवद्गीता* का कीर्तन तथा श्रवण करना चाहिए। वे यह भी कहते हैं कि *महात्माओं* को चाहिए कि वे भगवान् की महिमा के कीर्तन में लगे रहें जिससे अन्य लोग सुन करके ही वैसा ही लाभ उठा सकें। योग के लिए भगवान् की दिव्य लीलाओं का, चाहे वे खड़े हों, चलते हों या लेटे हों, ध्यान आवश्यक है।

तस्मिंल्लब्धपदं चित्तं सर्वावयवसंस्थितम् ।
विलक्ष्यैकत्र संयुज्यादङ्गे भगवतो मुनिः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

तस्मिन्—भगवान् के स्वरूप में; लब्ध-पदम्—स्थिर; चित्तम्—मन को; सर्व—सारे; अवयव—अंगों में; संस्थितम्—स्थिर किया हुआ; विलक्ष्य—अन्तर जान करके; एकत्र—एक स्थान पर; संयुज्यात्—मन को स्थिर करे; अङ्गे—हर अंग में; भगवतः—भगवान् के; मुनिः—मुनि।

भगवान् के नित्य रूप में अपना मन स्थिर करते समय योगी को चाहिए कि वह भगवान् के समस्त अंगों पर एक ही साथ विचार न करके, भगवान् के एक-एक अंग

पर मन को स्थिर करे।

तात्पर्य : *मुनि* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। मुनि वह है, जो चिन्तन, अनुभव तथा निश्चय करने में अत्यन्त पटु हो। यहाँ पर उसे भक्त या योगी नहीं कहा गया। जो लोग भगवान् के स्वरूप का ध्यान करते हैं, वे मुनि या अल्पज्ञ कहलाते हैं, किन्तु वे जो भगवान् की वास्तविक सेवा करते हैं *भक्तियोगी* कहलाते हैं। आगे जो विचार-विधि वर्णित है, वह मुनियों की शिक्षा के लिए है। योगी को यह विश्वास दिलाने के लिए कि भगवान् कभी भी निराकार नहीं होता, आगे उद्धृत श्लोक भगवान् के अंगप्रत्यंग देखने की संस्तुति करते हैं। भगवान् का समग्र रूप में चिन्तन कभी-कभी निराकार हो सकता है, अत: यह संस्तुति की गई है कि पहले उनके चरणकमल का ध्यान किया जाय, फिर टखने, फिर जंघा, फिर कमर, तब छाती, गर्दन, मुख इत्यादि। भगवान् के चरणकमल से प्रारम्भ करके क्रमश: उनके दिव्य शरीर के ऊपरी अंगों तक जाया जाए।

सञ्चिन्तयेद्भगवतश्चरणारविन्दं
वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।
उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवाल-
ज्योत्स्नाभिराहतमहद्धृदयान्धकारम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

सञ्चिन्तयेत्—उसे केन्द्रित करना चाहिए; भगवतः—भगवान् के; चरण-अरविन्दम्—चरणकमलों पर; वज्र—वज्र; अङ्कुश—हाथी हाँकने का दंड, अंकुश; ध्वज—पताका; सरोरुह—कमल; लाञ्छन—चिह्न से; आढ्यम्—अलंकृत; उत्तुङ्ग—उमड़े हुए; रक्त—लाल; विलसत्—चमकीले; नख—नाखून; चक्रवाल—चन्द्रमण्डल; ज्योत्स्नाभिः—चन्द्रिका से; आहत—दूर किया गया; महत्—घना; हृदय—हृदय का; अन्धकारम्—अँधेरा।

भक्त को चाहिए कि सर्वप्रथम वह अपना मन भगवान् के चरणकमलों में केन्द्रित करे जो वज्र, अंकुश, ध्वजा तथा कमल चिन्हों से सुशोभित रहते हैं। सुन्दर माणिक से उनके नाखूनों की शोभा चन्द्रमण्डल से मिलती-जुलती है और हृदय के गहन तम को दूर करने वाली है।

तात्पर्य : मायावादी कहता है कि वह परम सत्य के निराकार अस्तित्व को अपने मन में स्थिर कर पाने में अक्षम रहता है, अत: किसी भी रूप की कल्पना करके उस कल्पित रूप में

मन को स्थिर करना चाहिए; किन्तु यहाँ पर ऐसी विधि की संस्तुति नहीं की गई। कल्पना सदैव कल्पना ही रहती है और इससे कल्पना ही प्रतिफलित होती है।

यहाँ पर भगवान् के शाश्वत रूप का सुस्पष्ट वर्णन दिया गया है। भगवान् के चरणतल को वज्र, पताका, कमल तथा अंकुश की आकृतियों से मिलने वाली स्पष्ट रेखाओं से युक्त अंकित किया गया है। उनके पैर के नाखूनों की कान्ति चन्द्रमा के प्रकाश (चन्द्रिका) के तुल्य है। यदि योगी भगवान् के चरणतल पर अंकित चिह्नों तथा उनके नाखूनों की चमक पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है, तो वह इस संसार के अज्ञान-अंधकार से मुक्त हो सकता है। यह मुक्ति ध्यान से नहीं, अपितु भगवान् के नाखूनों की कान्ति से उत्पन्न प्रकाश के दर्शन से प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में, यदि कोई इस संसार के अज्ञान के अंधकार से छूटना चाहता है, तो उसे पहले अपना मन भगवान् के चरणकमलों में स्थिर करना चाहिए।

यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत् ।
ध्यातुर्मनःशमलशैलनिसृष्टवज्रं
ध्यायेच्चिरं भगवतश्चरणारविन्दम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

यत्—भगवान् के चरणकमल; शौच—धोने से, प्रक्षालन से; निःसृत—निकली हुई; सरित्-प्रवर—गंगा नदी के; उदकेन—जल से; तीर्थेन—पवित्र; मूर्ध्नि—सर पर; अधिकृतेन—उत्पन्न; शिवः—शिवजी; शिवः—शुभ; अभूत्—हो गया; ध्यातुः—ध्यान करने वाले का; मनः—मन; शमल-शैल—पाप का पहाड़; निसृष्ट—फेंका गया; वज्रम्—वज्र; ध्यायेत्—ध्यान करना चाहिए; चिरम्—दीर्घकाल तक; भगवतः—भगवान् के; चरण-अरविन्दम्—चरणकमलों को।

पूज्य शिवजी भगवान् के चरणकमलों के प्रक्षालित जल से उत्पन्न गंगा नदी के पवित्र जल को अपने शिर पर धारण करके और भी पूज्य हो जाते हैं। भगवान् के चरण उस वज्र के तुल्य हैं, जो ध्यान करने वाले भक्त के मन में संचित पाप के पहाड़ को ध्वस्त करने के लिए चलाया जाता है। अतः मनुष्य को दीर्घकाल तक भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करना चाहिए।

तात्पर्य : इस श्लोक में शिवजी की स्थिति का विशेष वर्णन हुआ है। निर्विशेषवादी का सुझाव है कि परम सत्य के कोई रूप नहीं होता, अतः वह विष्णु या शिव या देवी दुर्गा या

उनके पुत्र गणेश किसी के भी स्वरूप की समान रूप से कल्पना कर सकता है। किन्तु भगवान् वस्तुत: हर प्राणी के परम स्वामी हैं। चैतन्य-चरितामृत (आदि ५.१४२) में कहा गया है— *एकले ईश्वर कृष्ण, आर सब भृत्य*—कृष्ण ही परमेश्वर हैं और अन्य सभी, जिनमें शिव तथा ब्रह्मा भी सम्मिलित हैं, कृष्ण के दास हैं, अन्य देवताओं की तो बात ही नहीं उठती। यहाँ पर इसी सिद्धान्त का वर्णन हुआ है। शिवजी इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं, क्योंकि वे अपने शिर के ऊपर पवित्र गंगाजल धारण करते हैं जिसका उद्‌गम भगवान् विष्णु का चरण-प्रक्षालन है। *हरि भक्ति-विलास* में सनातन गोस्वामी कहते हैं कि जो मनुष्य परमेश्वर तथा देवताओं को, जिनमें शिव तथा ब्रह्मा भी आ जाते हैं, समान स्तर पर रखता है, वह पाषण्डी या नास्तिक हो जाता है। हमें यह कभी नहीं सोचना चाहिए कि भगवान् विष्णु तथा सारे देवता एकसमान हैं।

इस श्लोक की एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि अनादि काल से भौतिक शक्ति के संसर्ग में रहने से बद्धजीव का मन प्रकृति पर अधिकार जताने की इच्छा रूपी मल का ढेर उठाए हुए है। यह मल पर्वत के समान है, किन्तु यह पर्वत वज्र से ध्वस्त किया जा सकता है। भगवान् के चरणकमलों का ध्यान योगी के मन के मल रूपी पर्वत को छिन्न-भिन्न करने के लिए वज्र के समान है। यदि योगी चाहता है कि उसके मन से मल रूपी पर्वत छिन्न-भिन्न हो जाय तो उसे किसी शून्य या निराकार वस्तु की कल्पना न करके मन को भगवान् के चरणकमलों में एकाग्र करना चाहिए। चूँकि मल एक पर्वत का रूप धारण कर चुका है, अत: उसे दीर्घ अवधि तक भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करना चाहिए। हाँ, जो भगवान् के चरणकमलों का निरन्तर ध्यान करने का अभ्यस्त है, उसके लिए बात दूसरी है। भक्तगण भगवान् के चरणकमलों में इस प्रकार स्थिर रहते हैं कि वे अन्य किसी वस्तु का चिन्तन ही नहीं करते। जो लोग योगाभ्यास करते हैं उन्हें चाहिए कि विधि-विधानों का पालन करते हुए इन्द्रियों को वश में करके दीर्घ काल तक भगवान् के चरणकमलों का ध्यान धरें।

यहाँ पर *भगवतश्चरणारविन्दम्* का विशेष रूप से उल्लेख हुआ है, जिसका अर्थ है कि मनुष्य को भगवान् के चरणकमलों का चिन्तन करना होता है। मायावादी लोग सोचते हैं कि

मनुष्य शिव, ब्रह्मा या देवी दुर्गा में से किसी के चरणकमलों का चिन्तन कर सकता है, किन्तु ऐसा नहीं है। यहाँ पर *भगवत:* का विशेष उल्लेख है। *भगवत:* का अर्थ है "पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु का।" अपनी स्वाभाविक स्थिति के कारण शिवजी सदैव महान् तथा कल्याणप्रद रहे हैं, किन्तु चूँकि उन्होंने अपने शिर पर उस गंगाजल को धारण करना स्वीकार किया है, जो भगवान् के चरणकमलों से उद्‌भूत है, अत: वे और भी अधिक शुभ तथा महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ पर भगवान् के चरणकमलों पर बल दिया गया है। भगवान् के चरणकमलों से सम्बन्धित होने के कारण जब शिवजी की महत्ता बढ़ी है, तो सामान्य जीवों के विषय में क्या कहा जाय!

जानुद्वयं जलजलोचनया जनन्या
लक्ष्म्याखिलस्य सुरवन्दितया विधातुः ।
ऊर्वोर्निधाय करपल्लवरोचिषा यत्
संलालितं हृदि विभोरभवस्य कुर्यात् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

जानु-द्वयम्—घुटनों तक; जलज-लोचनया—कमल-नेत्र वाली; जनन्या—माता; लक्ष्म्या—लक्ष्मी द्वारा; अखिलस्य—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की; सुर-वन्दितया—देवताओं द्वारा पूजित; विधातुः—ब्रह्मा को; ऊर्वोः—जाँघों पर; निधाय—रख कर; कर-पल्लव-रोचिषा—अपनी कान्तिमान अँगुलियों से; यत्—जो; संलालितम्—चापे जाकर, दबाये जाकर; हृदि—हृदय में; विभोः—भगवान् का; अभवस्य—इस संसार से परे; कुर्यात्—ध्यान करना चाहिए।

योगी को चाहिए कि वह सभी देवताओं द्वारा पूजित तथा सर्वोपरि जीव ब्रह्मा की माता, ऐश्वर्य की देवी लक्ष्मीजी के कार्यकलापों में अपने हृदय को स्थिर कर दे। वे सदैव दिव्य भगवान् के पाँवों तथा जंघाओं को चाँपती हुई देखी जा सकती हैं। इस प्रकार वे सावधानी के साथ उनकी सेवा करती हैं।

तात्पर्य : ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड के नियुक्त स्वामी हैं। चूँकि गर्भोदकशायी विष्णु उनके पिता हैं, अत: लक्ष्मी स्वत: उनकी माँ हुईं। लक्ष्मीजी समस्त देवों तथा अन्य लोकों के वासियों द्वारा भी पूजित हैं। मनुष्य भी ऐश्वर्य की देवी से वर प्राप्त करने के इच्छुक रहते हैं। ये लक्ष्मीजी गर्भोदकशायी भगवान् नारायण के चरण तथा जंघा चापने में सदैव व्यस्त रहती हैं। यहाँ पर ब्रह्मा को लक्ष्मी-पुत्र बताया गया है, किन्तु वास्तव में वे उनके गर्भ से उत्पन्न नहीं हुए थे।

ब्रह्मा का जन्म साक्षात् भगवान् के उदर से होता है। गर्भोदकशायी विष्णु के उदर से एक कमल का फूल निकलता है और उसी से ब्रह्मा का जन्म होता है। अत: भगवान् की जाँघें दबाती हुई लक्ष्मीजी को सामान्य पत्नी का आचरण नहीं समझना चाहिए। भगवान् सामान्य पुरुष तथा स्त्री के आचरण से परे हैं। *अभवस्य* शब्द महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह बताता है कि भगवान् लक्ष्मी की सहायता के बिना ही ब्रह्मा को उत्पन्न कर सके।

चूँकि दिव्य आचरण संसारी आचरण से भिन्न होता है, अत: यह नहीं मान लेना चाहिए कि भगवान् अपनी पत्नी से वैसे ही सेवा कराते हैं जिस प्रकार कोई देवता या मनुष्य अपनी पत्नी से कराता है। यहाँ यह सलाह दी गई है कि योगी सदैव अपने हृदय में यह चित्र रखे। भक्त सदा ही लक्ष्मी तथा नारायण के बीच ऐसे ही सम्बन्ध का चिन्तन करता है, अत: वह निर्विशेषवादियों तथा शून्यवादियों की तरह मानसिक ध्यान नहीं करता।

भव का अर्थ है "जो भौतिक शरीर स्वीकार करे" तथा *अभव* का अर्थ है "जो भौतिक शरीर न स्वीकार करे, किन्तु मूल आध्यात्मिक शरीर में प्रकट हो।" भगवान् नारायण किसी भौतिक वस्तु से नहीं जन्मे। पदार्थ से ही पदार्थ उत्पन्न होता है, किन्तु वे पदार्थ से उत्पन्न नहीं हैं। ब्रह्मा का जन्म सृष्टि के बाद हुआ, किन्तु भगवान् सृष्टि के पूर्व उपस्थित थे, अत: भगवान् का कोई भौतिक शरीर नहीं है।

ऊरू सुपर्णभुजयोरधि शोभमाना-
वोजोनिधी अतसिकाकुसुमावभासौ ।
व्यालम्बिपीतवरवाससि वर्तमान-
काञ्चीकलापपरिरम्भि नितम्बबिम्बम् ॥ २४॥

शब्दार्थ

ऊरू—दोनों जंघाएँ; सुपर्ण—गरुड़ की; भुजयो:—दो कंधे; अधि—ऊपर; शोभमानौ—सुन्दर; ओज:-निधी—समस्त शक्ति का आगार; अतसिका-कुसुम—अलसी के फूल की; अवभासौ—कान्ति जैसी; व्यालम्बि—लटकते हुए; पीत—पीला; वर—श्रेष्ठ; वाससि—वस्त्र पर; वर्तमान—रहकर; काञ्ची-कलाप—करधनी से; परिरम्भि—घिरा हुआ; नितम्ब-बिम्बम्—गोलाकार नितम्ब।

फिर, ध्यान में योगी को अपना मन भगवान् की जाँघों पर स्थित करना चाहिए जो समस्त शक्ति की आगार हैं। वे अलसी के फूलों की कान्ति के समान सफेद-नीली हैं

और जब भगवान् गरुड़ पर चढ़ते हैं, तो ये जाँघें अत्यन्त भव्य लगती है। योगी को चाहिए कि वह भगवान् के गोलाकार नितम्बों का ध्यान धरे, जो करधनी से घिरे हुए है और यह करधनी भगवान् के एड़ी तक लटकते पीताम्बर पर टिकी हुई है।

तात्पर्य : भगवान् समस्त बल के आगार है और उनका यह बल उनके दिव्य शरीर की जंघाओं में बसता है। उनका सम्पूर्ण शरीर सारे धन, सारे बल, सारे यश, सारे सौंदर्य, सारे ज्ञान तथा सारे त्याग—इन ऐश्वर्यों से परिपूर्ण है। योगी को सलाह दी गई है कि वह भगवान् के दिव्य रूप का, पाँवों के तलुवे से प्रारम्भ करके क्रमश: घुटनों, जाँघों की ओर उठकर अन्त में मुख का ध्यान करे। भगवान् के ध्यान की क्रिया उनके पाँवों से शुरू होती है।

भगवान् के दिव्य रूप का वर्णन मन्दिरों में *अर्चाविग्रह* अथवा मूर्ति द्वारा सही-सही प्रदर्शित होता है। सामान्यत: भगवान् की मूर्ति का अधोभाग पीले रेशमी वस्त्र से ढका रहता है। यह वैकुण्ठ-वेश है अथवा भगवान् द्वारा आध्यात्मिक जगत में धारण किए जाने वाला वेश है यह वस्त्र भगवान् के टखनों तक लटकता है। इस प्रकार चूँकि योगी को अनेक दिव्य वस्तुओं पर ध्यान लगाना होता है, अत: कोई कारण प्रतीत नहीं होता है कि वह किसी काल्पनिक वस्तु का ध्यान करे, जैसाकि निराकारी तथाकथित योगियों में प्रथा है।

नाभिह्रदं भुवनकोशगुहोदरस्थं
यत्रात्मयोनिधिषणाखिललोकपद्मम् ।
व्यूढं हरिन्मणिवृषस्तनयोरमुष्य
ध्यायेद्द्वयं विशदहारमयूखगौरम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

नाभि-ह्रदम्—नाभि रूपी सरोवर; भुवन-कोश—समस्त लोकों का; गुहा—आधार; उदर—आमाशय पर; स्थम्—स्थित; यत्र—जहाँ; आत्म-योनि—ब्रह्मा का; धिषण—वास; अखिल-लोक—समस्त लोकों सहित; पद्मम्—कमल; व्यूढम्—ऊपर निकला; हरित्-मणि—मरकत मणि के समान; वृष—अति सुन्दर; स्तनयो:—दोनों चूचुक; अमुष्य—भगवान् के; ध्यायेत्—ध्यान करे; द्वयम्—युगल; विशद—श्वेत; हार—मोती की मालाओं का; मयूख—प्रकाश से; गौरम्—गोरा।

तब योगी को चाहिए कि वह भगवान् के उदर के मध्य में स्थित चंद्रमा जैसी नाभि का ध्यान करे। उनकी नाभि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की आधारशिला है जहाँ से समस्त लोकों से युक्त कमलनाल प्रकट हुआ। यह कमल आदि जीव ब्रह्मा का वासस्थान है। इसी तरह

योगी को अपना मन भगवान् के स्तनाग्रों पर केन्द्रित करना चाहिए जो श्रेष्ठ मरकत मणि की जोड़ी के सदृश है और जो उनके वक्षस्थल को अलंकृत करने वाली मोतीमाला की दुग्धधवल किरणों के कारण श्वेत प्रतीत होती है।

तात्पर्य : इसके पश्चात् योगी को भगवान् की नाभि का ध्यान करने के लिए कहा गया है, जो समस्त भौतिक सृष्टि का आधार है। जिस प्रकार शिशु नाल के द्वारा अपनी माता से जुड़ा होता है उसी प्रकार पहले पहल जन्म लेने वाले प्राणी ब्रह्माजी, भगवान् की परमेच्छा से एक कमलनाल द्वारा भगवान् से जुड़े रहते हैं। पिछले श्लोक में कहा गया है कि भगवान् के पाँव, टखने तथा जाँघें दबाती हुई लक्ष्मीजी ब्रह्मा की माता कहलाती हैं, किन्तु वास्तव में ब्रह्मा अपनी माता के उदर से उत्पन्न न होकर भगवान् के उदर से प्रकट हुए हैं। ये भगवान् के अचिन्त्य कार्यकलाप हैं जिनके विषय में यह सोचने की आवश्यकता नहीं है कि पिता ने किस प्रकार बच्चे को जन्म दिया।

ब्रह्म-संहिता में बताया गया है कि भगवान् के प्रत्येक अंग में अन्य किसी भी अंग की शक्ति रहती है, क्योंकि वह सब कुछ आध्यात्मिक है, अत: उनके अंग बद्ध भी नहीं है। भगवान् अपने कानों से देख सकते हैं जबकि भौतिक कान केवल सुन सकता है, देख नहीं सकता, किन्तु *ब्रह्म-संहिता* से हम जानते हैं कि भगवान् अपने कानों से भी देख सकते हैं और आँखों से सुन सकते हैं। उनके दिव्य शरीर का कोई भी अंग किसी अन्य अंग का कार्य सम्पन्न कर सकता है। उनका उदर समस्त लोकों का आधार है। ब्रह्माजी समस्त लोकों के स्रष्टा का पद धारण किये हैं, किन्तु उनकी अभिकल्पना-शक्ति भगवान् के उदर से उत्पन्न होती है। ब्रह्माण्ड की कोई भी सृजन क्रिया भगवान् से सीधे सम्बद्ध रहती है। मोतियों की माला जिससे भगवान् के शरीर का ऊपरी भाग अलंकृत होता है, वह भी आध्यात्मिक है, अत: योगी को सलाह दी जाती है कि वह उनके वक्षस्थल को अलंकृत करने वाले मोतियों की श्वेत द्युति को निहारे।

वक्षोऽधिवासमृषभस्य महाविभूतेः
पुंसां मनोनयननिर्वृतिमादधानम् ।
कण्ठं च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थं
कुर्यान्मनस्यखिललोकनमस्कृतस्य ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

वक्षः—छाती; अधिवासम्—आवास; ऋषभस्य—भगवान् का; महा-विभूतेः—महालक्ष्मी का; पुंसाम्—मनुष्यों के; मनः—मन को; नयन—नेत्रों को; निर्वृतिम्—दिव्य आनन्द; आदधानम्—प्रदान करते हुए; कण्ठम्—गला; च—भी; कौस्तुभ-मणेः—कौस्तुभ मणि का; अधिभूषण-अर्थम्—सुन्दरता को बढ़ाने वाला; कुर्यात्—ध्यान करे; मनसि—मन में; अखिल-लोक—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड द्वारा; नमस्कृतस्य—पूजित।

फिर योगी को भगवान् के वक्षस्थल का ध्यान करना चाहिए जो देवी महालक्ष्मी का आवास है। भगवान् का वक्षस्थल मन के लिए समस्त दिव्य आनन्द तथा नेत्रों को पूर्ण संतोष प्रदान करने वाला है। तब योगी को अपने मन में सम्पूर्ण विश्व द्वारा पूजित भगवान् की गर्दन का ध्यान धारण करना चाहिए। भगवान् की गर्दन उनके वक्षस्थल पर लटकने वाले कौस्तुभ मणि की सुन्दरता को बढ़ाने वाली है।

तात्पर्य : *उपनिषदों* का कथन है कि भगवान् की विविध शक्तियाँ उत्पत्ति, पालन तथा संहार-कार्यों में लगी रहती हैं। ये अकल्पनीय शक्ति-रूप भगवान् के वक्षस्थल में संग्रहीत रहते है। जैसाकि सामान्यत: लोग कहते हैं, ईश्वर सर्वशक्तिमान है। यह शौर्य (वीर्य) समस्त शक्तियों के आगार स्वरूप महालक्ष्मी द्वारा प्रदर्शित किया जाता है, जो भगवान् के दिव्य रूप के वक्षस्थल में विराजमान हैं। जो योगी भगवान् के दिव्य रूप के इस स्थल का ध्यान करता है उसे अनेक शक्तियाँ प्राप्त हो सकती है जिनमें योग की आठ सिद्धियाँ आती हैं।

यहाँ यह कहा गया है कि भगवान् की गर्दन की सुन्दरता से कौस्तुभ मणि की शोभा बढ़ती है न कि मणि से गर्दन की। मणि स्वयं अधिक सुन्दर है, क्योंकि भगवान् की गर्दन में स्थित है। इसीलिए योगी को भगवान् की गर्दन का ध्यान करने को कहा गया है। भगवान् के दिव्य रूप का ध्यान या तो मन में किया जा सकता है या फिर मन्दिर में मूर्ति के रूप में रखकर एवं इस प्रकार से अलंकृत करके जिससे सभी लोग ध्यान कर सकें। अत: मन्दिर-पूजा ऐसे व्यक्तियों के लिए है, जो इतने उन्नत नहीं है कि अपने मन में भगवान् के स्वरूप का ध्यान कर सकें। निरन्तर मन्दिर में जाने तथा प्रत्यक्ष रूप से भगवान् के दिव्य रूप का दर्शन करने में कोई

अन्तर नहीं है, उनका एक-सा महत्त्व है। योगी को यह लाभ है कि वह कहीं भी एकान्त स्थान में बैठ कर भगवान् के स्वरूप का ध्यान कर सकता है। किन्तु कम उन्नत व्यक्ति को मन्दिर जाना होता है और जब तक वह मन्दिर नहीं जाता तब तक वह भगवान् के रूप को नहीं देख सकता। चाहे श्रवण हो, दर्शन या ध्यान, सबका लक्ष्य भगवान् का दिव्य स्वरूप प्राप्त करना है; शून्यता या निर्विशेषता का प्रश्न ही नहीं उठता। भगवान् सबों को दिव्य आनन्द का वरदान देते है चाहे वह मन्दिर जाने वाला हो, ध्यानकर्ता योगी हो या *श्रीमद्भागवत* अथवा *भगवद्गीता* जैसे शास्त्रों से भगवान् के दिव्य स्वरूप को सुनने वाला हो। भक्ति को सम्पन्न करने की नौ विधियाँ हैं जिनमें से *स्मरणम्* या ध्यान एक है। योगी लोग *स्मरणम्* का लाभ उठाते हैं जब कि भक्तियोगी श्रवण तथा कीर्तन का।

बाहूंश्च मन्दरगिरेः परिवर्तनेन
निर्णिक्तबाहुवलयानधिलोकपालान् ।
सञ्चिन्तयेद्दशशतारमसह्यतेजः
शङ्खं च तत्करसरोरुहराजहंसम् ॥ २७॥

शब्दार्थ

बाहून्—भुजाओं का; च—तथा; मन्दर-गिरेः—मन्दर पर्वत का; परिवर्तनेन—घूमने से; निर्णिक्त—पालिश किया, रगड़ खाया; बाहु-वलयान्—बाहु के आभूषण; अधिलोक-पालान्—ब्रह्माण्ड के नियामकों का स्रोत; सञ्चिन्तयेत्—ध्यान करे; दश-शत-अरम्—दस सौ आरे, सुदर्शन चक्र; असह्य-तेजः—चकाचौंध, द्युति; शङ्खम्—शंख; च—भी; तत्-कर—भगवान् के हाथ में; सरोरुह—कमल जैसे; राज-हंसम्—हंस की तरह।

इसके बाद योगी को भगवान् की चारों भुजाओं का ध्यान करना चाहिए जो प्रकृति के विभिन्न कार्यों का नियन्त्रण करने वाले देवताओं की समस्त शक्तियों के स्रोत हैं। फिर योगी चमचमाते उन आभूषणों पर मन केन्द्रित करे जो मन्दराचल के घूमने से रगड़ गये थे। उसे चाहिए कि भगवान् के चक्र (सुदर्शन चक्र) का भी ठीक से चिन्तन करे जो एक हजार आरों से तथा असह्य तेज से युक्त है। साथ ही वह शंख का ध्यान करे जो उनकी कमल-सदृश हथेली में हंस सा प्रतीत होता है।

तात्पर्य : पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के बाहुओं से ही विधि तथा व्यवस्था के सारे विभाग उद्भूत होते हैं। ब्रह्माण्ड की विधि-व्यवस्था विभिन्न देवताओं के हाथ में है और यहाँ पर कहा

गया है कि यह भगवान् के बाहुओं से उत्पन्न होती है। यहाँ पर मन्दराचल का उल्लेख हुआ है, क्योंकि जब समुद्र-मंथन हुआ तो एक ओर असुर थे और दूसरी ओर देवता थे, मन्दराचल को उन्होंने मथानी बना लिया था। भगवान् अपने कच्छपावतार में इस मथानी के लिए धुरी बने। फलस्वरूप मन्दराचल के घूमने से उनके आभूषण चमक गये (पालिशदार हो गये)। दूसरे शब्दों में, भगवान् की बाहुओं के आभूषणों की चमक ऐसी थी मानो हाल ही में उनकी पालिश की गई हो। भगवान् के हाथ का चक्र *सुदर्शन चक्र* कहलाता है और इसमें एक हजार आरे (तीलियाँ) है। योगियों को सलाह दी जाती है कि वे प्रत्येक आरे का ध्यान करें। उन्हें भगवान् के दिव्य रूप के प्रत्येक संघटक का ध्यान करना चाहिए।

कौमोदकीं भगवतो दयितां स्मरेत
दिग्धामरातिभटशोणितकर्दमेन ।
मालां मधुव्रतवरूथगिरोपघुष्टां
चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठे ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

कौमोदकीम्—कौमोदकी नामक गदा; भगवतः—भगवान् की; दयिताम्—अत्यन्त प्रिय; स्मरेत—स्मरण करे; दिग्धाम्—सनी हुई; अराति—शत्रुओं के; भट—सैनिक; शोणित-कर्दमेन—रक्त के धब्बों से; मालाम्—माला, हार; मधुव्रत—भौंरों का; वरूथ—झुंड; गिरा—ध्वनि से; उपघुष्टाम्—घिरा; चैत्यस्य—जीव का; तत्त्वम्—सिद्धान्त तत्त्व; अमलम्—शुद्ध; मणिम्—मोती की माला; अस्य—भगवान् के; कण्ठे—गले में।

फिर योगी को चाहिए कि वह प्रभु की कौमोदकी नामक गदा का ध्यान करे जो उन्हें अत्यन्त प्रिय है। यह गदा शत्रुतापूर्ण सैनिक असुरों को चूर-चूर करने वाली है और उनके रक्त से सनी हुई है। योगी को भगवान् के गले में पड़ी हुई सुन्दर माला का भी ध्यान करना चाहिए जिस पर मधुर गुंजार करते हुए भौंरे मँडराते रहते हैं। भगवान् की मोती की माला का भी ध्यान करना चाहिए जो उन शुद्ध आत्माओं की सूचक है, जो भगवान् की सेवा में लगे रहते हैं।

तात्पर्य : योगी को भगवान् के दिव्य शरीर के विभिन्न अंगों का चिन्तन करना चाहिए। यहाँ बताया गया है कि जीवों की स्वाभाविक स्थिति समझनी होगी। यहाँ पर दो प्रकार की जीवात्माओं का उल्लेख है। पहले प्रकार की *अराति* कहलाती है। ये भगवान् की लीलाओं के

प्रति विपरीत भाव रखती हैं। ऐसी जीवात्माओं को दण्डित करने के लिए भगवान् हाथ में अपनी भयानक गदा लिए प्रकट होते हैं जो सदैव असुरों के वध के रक्त से सनी रहती है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, जीवों की सभी योनियाँ भगवान् की सन्तानें हैं। फिर भी जीवों की दो श्रेणियाँ ऐसी हैं, जो दो भिन्न प्रकार से कार्य करती हैं। परमेश्वर शुद्ध जीवात्माओं को अपने गले में वैसे ही धारण करते हैं जिस प्रकार कोई अपने गले तथा वक्षस्थल पर पड़ी मोतियों की माला की रक्षा करता है। जो जीवात्माएँ शुद्ध कृष्णचेतना में रहती हैं उनको प्रतीकात्मक रूप से उनके गले की मोतियाँ कहा गया है। जो असुर हैं और परमेश्वर की लीलाओं के प्रति शत्रुता रखते हैं उन्हें वे अपनी गदा से दण्ड देते हैं, जो सदैव ऐसी पतित जीवात्माओं के रक्त से सनी रहती है। यह गदा भगवान् को प्रिय है, क्योंकि वे इसे आसुरी शरीरों को चूर-चूर करके रक्त के साथ मिलाने के लिए प्रयुक्त करते हैं। जिस प्रकार मिट्टी को पानी के साथ सानने से कीचड़ बन जाता है उसी प्रकार सांसारिक शत्रुओं या नास्तिकों को प्रभु अपनी गदा से ध्वस्त करते हैं जिससे उनकी गदा ऐसे असुरों के रक्त से गँदली हो जाती है।

भृत्यानुकम्पितधियेह गृहीतमूर्तेः
सञ्चिन्तयेद्भगवतो वदनारविन्दम् ।
यद्विस्फुरन्मकरकुण्डलवल्गितेन
विद्योतितामलकपोलमुदारनासम् ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

भृत्य—भक्तों के लिए; अनुकम्पित-धिया—अनुकम्पावश; इह—इस संसार में; गृहीत-मूर्तेः—विभिन्न रूपों को धारण करने वाला; सञ्चिन्तयेत्—ध्यान करे; भगवतः—भगवान् का; वदन—मुखमण्डल; अरविन्दम्—कमल-सदृश; यत्—जो; विस्फुरन्—चमचमाता; मकर—मगर की आकृति का; कुण्डल—कान की बालियों का; वल्गितेन—हिलने-डुलने से; विद्योतित—प्रकाशित; अमल—स्वच्छ; कपोलम्—गाल; उदार—सुस्पष्ट, सुघड़; नासम्—नाक।

तब योगी को भगवान् के कमल-सदृश मुखमण्डल का ध्यान करना चाहिए, जो इस जगत में उत्सुक भक्तों के लिए अनुकम्पावश अपने विभिन्न रूप प्रकट करते हैं। उनकी नाक अत्यन्त उन्नत है और उनके स्वच्छ गाल उनके मकराकृत कुण्डलों के हिलने से प्रकाशमान हो रहे हैं।

तात्पर्य : भगवान् अपने भक्तों के लिए प्रगाढ़ अनुकम्पा के वशीभूत होकर भौतिक जगत

में अवतरित होते हैं। इस जगत में भगवान् के अवतार लेने के दो कारण होते हैं। जब-जब धर्म के पालन में त्रुटि आ जाती है और अधर्म की प्रधानता होती है, तो भगवान् अपने भक्तों की रक्षा करने तथा अभक्तों के विनाश के लिए अवतरित होते हैं। जब वे प्रकट होते हैं तो उनका मुख्य प्रयोजन भक्तों को सान्त्वना प्रदान करना होता है। असुरों को नष्ट करने के लिए उन्हें स्वयं आने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि उनके अनेक पार्षद (एजेन्ट) हैं, यहाँ तक कि उनकी माया में इतनी शक्ति होती है कि उनका वध कर दें, किन्तु जब वे अपने भक्तों पर दया दिखाने आते हैं, तो चलते-चलाते अभक्तों का वध कर देते हैं।

भगवान् सदैव ऐसे रूप में प्रकट होते हैं जो किसी विशेष प्रकार के भक्त को प्रिय हो। भगवान् के लाखों रूप हैं, किन्तु वे सब एक हैं। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है—*अद्वैतमच्युतमनादिमनन्तरूपम्*—भगवान् के सभी रूप एक हैं, किन्तु कुछ भक्त उन्हें राधाकृष्ण के रूप में देखना चाहते हैं तो कुछ सीता-रामचन्द्र के रूप में, अन्य भक्त लक्ष्मी-नारायण के रूप में तो दूसरे चतुर्भुज नारायण वासुदेव के रूप में चाहते हैं। भगवान् के असंख्य रूप है, किन्तु वे उस एक ही रूप में, जो भक्त को प्रिय हो, अवतरित होते हैं। योगी को सलाह दी जाती है कि वह भक्तों के द्वारा मान्य रूपों का ही ध्यान करे। वस्तुत: योगी को भगवान् के उस रूप का ध्यान करना चाहिए जिसका अनुभव भगवान् के शुद्ध भक्त ने किया हो। योगी का अर्थ है भक्त। जो योगी शुद्ध भक्त नहीं है उन्हें भक्तों के पदचिह्नों पर चलना चाहिए। यहाँ पर इसका विशेष रूप से उल्लेख है कि योगी को इस प्रकार से मान्य रूप का ध्यान करना चाहिए, वह भगवान् के किसी रूप को मन से नहीं बना सकता।

यच्छ्रीनिकेतमलिभि: परिसेव्यमानं
भूत्या स्वया कुटिलकुन्तलवृन्दजुष्टम् ।
मीनद्वयाश्रयमधिक्षिपदब्जनेत्रं
ध्यायेन्मनोमयमतन्द्रित उल्लसद्भ्रु ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

यत्—भगवान् का जो मुखमण्डल; श्री-निकेतम्—कमल; अलिभि:—भौंरों से; परिसेव्यमानम्—घिरा हुआ; भूत्या—छटा से; स्वया—अपनी; कुटिल—घुँघराले; कुन्तल—बालों का; वृन्द—झुंड के झुंड; जुष्टम्—सुशोभित;

मीन—मछली का; द्वय—जोड़ा; आश्रयम्—निवास; अधिक्षिपत्—लजाने वाला; अब्ज—कमल; नेत्रम्—नेत्र वाला; ध्यायेत्—ध्यान करे; मनः-मयम्—मन में निर्मित; अतन्द्रितः—सतर्क; उल्लसत्—नाचती हुई; भ्रु—भौंहें।.

तब योगी भगवान् के सुन्दर मुखमण्डल का ध्यान करता है, जो घुँघराले बालों, कमल जैसे नेत्रों तथा नाचती भौंहों से सुशोभित है। इसकी शोभा (छटा) के आगे भौंरों से घिरा कमल तथा तैरती हुई मछलियों की जोड़ी मात खा जाती है।

तात्पर्य : यहाँ एक महत्त्वपूर्ण कथन है— *ध्यायेन् मनोमयम्*। *मनोमयम्* कल्पना नहीं है। निर्विशेषवादी सोचते हैं कि योगी अपनी इच्छानुसार किसी भी रूप की कल्पना कर सकता है, किन्तु जैसाकि यहाँ कहा गया है योगी को उस रूप का ध्यान करना चाहिए जिसका अनुभव भक्तों ने किया है। भक्तगण कभी भी भगवान् के किसी रूप की कल्पना नहीं करते। वे किसी काल्पनिक वस्तु से संतुष्ट नहीं होते। भगवान् के विभिन्न दिव्य रूप हैं; प्रत्येक भक्त एक विशेष रूप को चाहता है और उसी रूप की पूजा करते हुए भगवान् की सेवा में लग जाता है। भगवान् का यह रूप शास्त्रानुमोदित होता है। जैसाकि पहले बताया जा चुका है भगवान् के मूल रूप के आठ प्रकार के स्वरूप हैं। इन्हें मिट्टी, पत्थर, काष्ठा, रंग, बालू आदि से भक्त अपने साधन के अनुसार तैयार कर सकता है।

मन के भीतर भगवान् के स्वरूप का अंकन *मनोमयम्* है। भगवान् के रूप के आठ विभिन्न प्रकारों में यह अंकन सम्मिलित है। भगवान् के वास्तविक रूप का ध्यान विभिन्न रूप से प्रकट हो सकता है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि किसी को उस स्वरूप की कल्पना करनी होती है। इस श्लोक में दो उपमाएँ हैं। पहली उपमा में भगवान् के मुखमण्डल की तुलना कमल से की गई है, फिर काले बालों की तुलना कमल के चारों ओर गुंजरित भौंरों के झुंड से की गई है और नेत्रों की तुलना इधर-उधर तैरती दो मछलियों से की गई है। जल में खिला कमल अत्यन्त सुन्दर लगता है यदि वह गुंजरित भौंरों से तथा मछलियों से घिरा हो। भगवान् का मुखमण्डल पूर्ण है। उनकी सुन्दरता कमल की सुन्दरता को लजाने वाली है।

तस्यावलोकमधिकं कृपयातिघोर-
तापत्रयोपशमनाय निसृष्टमक्ष्णोः ।

स्निग्धस्मितानुगुणितं विपुलप्रसादं
ध्यायेच्चिरं विपुलभावनया गुहायाम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तस्य—भगवान् की; अवलोकम्—चितवन; अधिकम्—प्रायः; कृपया—अनुग्रह से; अतिघोर—अत्यन्त भयावह; ताप-त्रय—तीन प्रकार के कष्ट; उपशमनाय—कम करने के लिए; निसृष्टम्—चितवन; अक्ष्णोः—आँखों से; स्निग्ध—चिकनी, प्यारी; स्मित—मुस्कान; अनुगुणितम्—के साथ-साथ; विपुल—प्रचुर; प्रसादम्—दया से युक्त; ध्यायेत्—ध्यान करे; चिरम्—दीर्घकाल तक; विपुल—पूर्ण; भावनया—भक्ति से; गुहायाम्—हृदय में।

योगी को चाहिए कि भगवान् के नेत्रों की कृपापूर्ण चितवन का ध्यान पूर्ण समर्पण भाव से करे, क्योंकि उससे भक्तों के अत्यन्त भयावह तीन प्रकार के कष्टों का शमन होता है। प्रेमभरी मुसकान से युक्त उनकी चितवन विपुल प्रसाद से पूर्ण है।

तात्पर्य : जब तक मनुष्य इस भौतिक शरीर के साथ बद्धजीवन में रहता है, तो वह नाना प्रकार की चिन्ताओं तथा कष्टों को भोगता रहता है। कोई भी भौतिक शक्ति के प्रभाव से बच नहीं सकता, भले ही वह दिव्य पद को क्यों न प्राप्त हो। कभी-कभी अड़चनें आती हैं, किन्तु भक्तों की सारी चिन्ताएँ तथा कष्ट भगवान् के सुन्दर रूप का या उनके मुसकान भरे मुख का चिन्तन करते ही दूर हो जाते हैं। भगवान् अपने भक्तों को असंख्य वर देने वाले हैं और सबसे बड़ा प्रसाद तो उनका मुसकाता चेहरा है, जो भक्तों के लिए कृपा से पूर्ण है।

हासं हरेरवनताखिललोकतीव्र-
शोकाश्रुसागरविशोषणमत्युदारम् ।
सम्मोहनाय रचितं निजमाययास्य
भ्रूमण्डलं मुनिकृते मकरध्वजस्य ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

हासम्—मुसकान; हरेः—श्री हरि का; अवनत—झुका हुआ; अखिल—समस्त; लोक—मनुष्यों के लिए; तीव्र-शोक—घोर दुख से उत्पन्न; अश्रु-सागर—आँसुओं का समुद्र; विशोषणम्—सुखाने के लिए; अति-उदारम्—अत्यन्त उपकारी; सम्मोहनाय—मोहने के लिए; रचितम्—उत्पन्न किया गया; निज-मायया—अपनी अन्तरंगा शक्ति से; अस्य—इसका; भ्रू-मण्डलम्—टेढ़ी भौंहें; मुनि-कृते—मुनियों की भलाई के लिए; मकर-ध्वजस्य—कामदेव का।

इसी प्रकार योगी को भगवान् श्री हरि की उदार मुसकान का ध्यान करना चाहिए जो घोर शोक से उत्पन्न उनके अश्रुओं के समुद्र को सुखाने वाली है, जो उनको नमस्कार करते हैं। उसे भगवान् की चाप सदृश भौंहों का भी ध्यान करना चाहिए जो मुनियों की भलाई के लिए कामदेव को मोहने के लिए भगवान् की अन्तरंगा शक्ति से प्रकट है।

तात्पर्य : यह सारा ब्रह्माण्ड कष्टों से परिपूर्ण है, अत: इस ब्रह्माण्ड के निवासी गहन से सदैव आँसू बहाते रहते हैं। ऐसे अश्रुओं से जल का विशाल समुद्र तैयार हो जाता है, किन्तु जो भगवान् की शरण में चला जाता है उसके लिए आसुओं का यह समुद्र तुरन्त सूख जाता है। उसे केवल भगवान् की मोहक मुसकान के दर्शन करने की आवश्यकता होती है। दूसरे शब्दों में, भगवान् की मोहक मुसकान के दर्शन होते ही संसार का सारा शोक शमित हो जाता है।

इस श्लोक में कहा गया है कि भगवान् की भौंहें इतनी मोहक हैं कि उससे ऐन्द्रिय आकर्षण का सौन्दर्य भूल जाता है। काम का देवता 'मकरध्वज' कहलाता है। भगवान् की मोहक भौंहें भक्तों तथा मुनियों को भौतिक वासना तथा काम वासना से मोहित होने से बचाती हैं। महान् आचार्य यामुनाचार्य ने कहा है कि जब से उन्होंने भगवान् की मोहक लीलाएँ देखीं तब से उनके लिए विषयी जीवन के सारे आकर्षण हेय बन गये हैं और विषय-सुख का विचार उठते ही उस पर थूक कर वे अपना मुख मोड़ लेते हैं। अत: यदि कोई काम-वासना से विलग रहना चाहता है, तो उसे भगवान् की मनोहारी भौंहों तथा मोहक मुसकान को देखना चाहिए।

ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठ-
भासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्ति ।
ध्यायेत्स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णो-
र्भक्त्यार्द्रयार्पितमना न पृथग्दिदृक्षेत् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

ध्यान-अयनम्—सरलतापूर्वक ध्यान किया गया; प्रहसितम्—हँसी, अट्टहास; बहुल—प्रभूत; अधर-ओष्ठ—उनके होठों की; भास—भव्यता से; अरुणायित—गुलाबी हुए; तनु—छोटे-छोटे; द्विज—दाँत; कुन्द-पङ्क्ति —चमेली की कलियों की पंक्ति के समान; ध्यायेत्—ध्यान करे; स्व-देह-कुहरे—अपने हृदय के मध्य में; अवसितस्य—वास करने वाला; विष्णोः—विष्णु का; भक्त्या—भक्तिपूर्वक; आर्द्रया—प्रेम में डूबा; अर्पित-मनाः—मन को स्थिर किये; न—नहीं; पृथक्—अन्य कुछ; दिदृक्षेत्—देखने की कामना करे।.

योगी को चाहिए कि प्रेम में डूबा हुआ भक्तिपूर्वक अपने अन्तरतम में भगवान् विष्णु के अट्टहास का ध्यान करे। उनका यह अट्टहास इतना मोहक है कि इसका सरलता से ध्यान किया जा सकता है। भगवान् के हँसते समय उनके छोटे-छोटे दाँत चमेली की कलियों जैसे दिखते हैं और उनके होठों की कान्ति के कारण गुलाबी प्रतीत होते हैं। एक बार अपना मन उनमें स्थिर करके, योगी को कुछ और देखने की कामना नहीं करनी

चाहिए।

तात्पर्य : यहाँ पर संस्तुति की गई है कि योगी को चाहिए कि भगवान् की हँसी का भलीभाँति अध्ययन करके उनके अट्टहास का चिन्तन करे। मुसकान, हँसी, मुख, होठ, दाँत के ध्यान के ये विशेष विवरण स्पष्ट रूप से यह इंगित करते हैं कि ईश्वर निराकार नहीं है। यहाँ पर बताया गया है कि मनुष्य को चाहिए कि विष्णु की हँसी का ध्यान करे। इसके अतिरिक्त कोई अन्य कार्य नहीं जिससे भक्त का हृदय स्वच्छ हो सके। भगवान् विष्णु की हँसी की विशेषता यह है कि जब वे हँसते हैं, तो उनके कुन्दकली जैसे छोटे-छोटे दाँत उनके गुलाबी होठों के प्रतिबिम्ब से लाल-लाल हो जाते हैं। यदि योगी अपने हृदय में भगवान् के सुन्दर मुखमण्डल को बसा सके तो उसे पूर्ण संतोष प्राप्त होगा। दूसरे शब्दों में, जब कोई भगवान् की सुन्दरता को अपने अन्त: में देखता है, तो उसे भौतिक आकर्षण नहीं सताते।

एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो
भक्त्या द्रवद्धृदय उत्पुलकः प्रमोदात् ।
औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमान-
स्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते ॥ ३४॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; हरौ—हरि के प्रति; भगवति—भगवान्; प्रतिलब्ध—विकसित; भावः—शुद्ध प्रेम; भक्त्या—भक्ति से; द्रवत्—द्रवीभूत हुआ; हृदयः—उसका हृदय; उत्पुलकः—शरीर में रोमांच होना; प्रमोदात्—अत्यधिक प्रसन्नता से; औत्कण्ठ्य—तीव्र प्रेम से; बाष्प-कलया—आँसुओं की धारा से; मुहुः—लगातार; अर्द्यमानः—भीगा; तत्—वह; च—यथा; अपि—भी; चित्त—मन; बडिशम्—वंशी, कँटिया; शनकैः—धीरे-धीरे; वियुङ्क्ते—हटा लेता है।

इस मार्ग का अनुसरण करते हुए धीरे-धीरे योगी में भगवान् हरि के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार भक्ति करते हुए अत्यधिक आनन्द के कारण शरीर में रोमांच होने लगता है और गहन प्रेम के कारण शरीर अश्रुओं की धारा से नहा जाता है। यहाँ तक कि धीरे-धीरे वह मन भी भौतिक कर्म से विमुख हो जाता है, जिसे योगी भगवान् को आकृष्ट करने के साधन रूप में प्रयुक्त करता है, जिस प्रकार मछली को आकृष्ट करने के लिये कँटिया प्रयुक्त की जाती है।

तात्पर्य : यहाँ पर यह स्पष्ट बताया गया है कि ध्यान, जो कि मन का कर्म है, समाधि की

पूर्णावस्था नहीं है। प्रारम्भ में मन का उपयोग भगवान् के स्वरूप को आकर्षित करने के लिए किया जाता है, किन्तु उच्चतर अवस्थाओं में मन को प्रयोग करने का प्रश्न ही नहीं उठता। भक्त अपनी इन्द्रियों की शुद्धि के द्वारा भगवान् की सेवा करने लगता है। दूसरे शब्दों में, जब तक कोई शुद्ध भक्ति को प्राप्त कर नहीं लेता तभी तक योग के ध्यान की आवश्यकता पड़ती है। मन का उपयोग इन्द्रियों को शुद्ध करने में किया जाता है, किन्तु जब ध्यान द्वारा इन्द्रियाँ शुद्ध हो जाती हैं, तो किसी स्थान पर बैठकर भगवान् के स्वरूप का ध्यान करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। मनुष्य इतना अभ्यस्त हो जाता है कि वह स्वत: ही भगवान् की सेवा में लग जाता है। जब मन को बलपूर्वक ईश्वर के स्वरूप में लगाया जाता है, जो यह *निर्बीज योग* अर्थात् प्राणहीन योग कहलाता है, क्योंकि योगी स्वत: भगवद्भक्ति में नहीं लगता। किन्तु जब वह निरन्तर भगवान् का चिन्तन करता होता है, तो यह *सबीज योग* या जीवित योग कहलाता है। मनुष्य को इसी सबीज योग तक पहुँचना होता है।

जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में बतलाया गया है, मनुष्य को चौबीसों घंटे भगवान् की सेवा में लगे रहना चाहिए। *प्रेमाञ्जनच्छुरित* अवस्था पूर्ण प्रेम उत्पन्न करके ही प्राप्त की जा सकती है। जब भक्ति में भगवान् के लिए पूरी तरह से प्रेम उत्पन्न हो जाता है, तो वह उनके स्वरूप पर कृत्रिम रूप से ध्यान किये बिना ही भगवान् का दर्शन कर सकता है। उसकी दृष्टि दिव्य रहती है, क्योंकि उसके पास कोई कार्य नहीं रहता। आत्म-साक्षात्कार की इस अवस्था पर मन को कृत्रिम रूप से लगाने की आवश्यकता नहीं रह जाती। चूँकि निम्न अवस्थाओं में ध्यान की संस्तुति भक्ति पद तक पहुँचने के लिए की जाती है, अत: जो पहले से भगवान् की दिव्य प्रेमाभक्ति में लगे हैं, वे ऐसे ध्यान से ऊपर हैं। यह पूर्णता की अवस्था कृष्णचेतना (भक्ति) कहलाती है।

मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
निर्वाणमृच्छति मन: सहसा यथार्चि: ।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेक-

मन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

मुक्त-आश्रयम्—मुक्ति में स्थित; यर्हि—जिस समय; निर्विषयम्—विषयों से विरक्त; विरक्तम्—उदासीन; निर्वाणम्—बुझना, अन्त; ऋच्छति—प्राप्त करता है; मनः—मन; सहसा—तुरन्त; यथा—जिस तरह; अर्चिः—लपट; आत्मानम्—मन; अत्र—इस समय; पुरुषः—व्यक्ति; अव्यवधानम्—किसी प्रकार के वियोग के बिना; एकम्—एक; अन्वीक्षते—अनुभव करता है; प्रतिनिवृत्त—मुक्त; गुण-प्रवाहः—गुणों के प्रवाह से।

इस प्रकार जब मन समस्त भौतिक कल्मष से रहित और विषयों से विरक्त हो जाता है, तो यह दीपक की लौ के समान हो जाता है। उस समय मन वस्तुतः परमेश्वर जैसा हो जाता है और उनसे जुड़ा हुआ अनुभव किया जाता है, क्योंकि यह भौतिक गुणों के पारस्परिक प्रवाह से मुक्त हो जाता है।

तात्पर्य : भौतिक जगत में मन के कार्य हैं स्वीकारना तथा नकारना। जब तक मन भौतिक चेतना में रहता है, तब तक इसे भगवान् को ध्यान करने के लिए बाध्य करते रहना चाहिए, किन्तु जब मनुष्य प्रेममय भगवान् के प्रेम-भाव तक उठ जाता है, तो मन स्वतः भगवान् के विचार में तल्लीन हो जाता है। ऐसी दशा में योगी के पास भगवान् की सेवा के अतिरिक्त कोई अन्य विचार नहीं रह जाता। भगवान् की इच्छाओं के साथ-साथ मन के चलने को *निर्वाण* या परमेश्वर के साथ मन को एक करना कहते हैं।

निर्वाण का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण *भगवद्गीता* में दिया गया है। प्रारम्भ में अर्जुन का मन कृष्ण के मन से विपथ हो रहा था। कृष्ण चाहते थे कि अर्जुन लड़े, किन्तु अर्जुन लड़ना नहीं चाहता था, अतः मतभेद था। किन्तु भगवान् से *भगवद्गीता* सुनने के बाद अर्जुन ने अपने मन को कृष्ण की इच्छानुकूल बना लिया। यह तादात्म्य कहलाता है। किन्तु इस तादात्म्य से अर्जुन तथा कृष्ण की व्यष्टि (व्यक्तित्व) समाप्त नहीं हुई। मायावादी चिन्तक इसे नहीं समझ सकते। वे सोचते हैं कि तादात्म्य के लिए व्यष्टि का क्षय होना आवश्यक है। किन्तु हम *भगवद्गीता* में पाते हैं कि यह व्यष्टि खोती नहीं। जब मन भगवद्प्रेम में पूर्णतया शुद्ध हो जाता है, तो यह मन भगवान् का मन बन जाता है। उस समय मन न तो पृथक् रूप से कर्म करता है न भगवान् की इच्छापूर्ति के लिए प्रेरणा से रहित होता है। व्यष्टि मुक्त आत्मा के कोई अन्य कर्म नहीं होता। *प्रतिनिवृत्त-गुण-प्रवाहः*। बद्ध अवस्था में मन सदैव भौतिक जगत के तीन गुणों से प्रेरित होकर

कर्म में लगता है, किन्तु दिव्य अवस्था में ये भौतिक गुण भक्त के मन को विचलित नहीं कर पाते। भक्त के पास भगवान् की इच्छाओं की तुष्टि के अतिरिक्त कोई चिन्ता नहीं रहती। यह पूर्णता की सर्वोच्च अवस्था है, जिसे *निर्वाण* या *निर्वाणमुक्ति* कहते हैं। इस अवस्था में मन भौतिक इच्छा से पूरी तरह मुक्त हो जाता है।

यथार्चिः। *अर्चिः* का अर्थ है लौ, लपट। जब दीपक टूट जाता है या तेल चुक जाता है, तो दीपक की लौ बुझ जाती है। किन्तु वैज्ञानिक बोध के अनुसार लौ बुझती नहीं, यह संरक्षित रहती है। यही शक्ति का संरक्षण है। इसी प्रकार जब मन भौतिक स्तर पर कार्य करना बन्द कर देता है, तो यह भगवान् के कर्मों में संरक्षित रहता है। यहाँ पर मायावादी चिन्तकों के मन के कर्म के रुद्ध होने की कल्पना की व्याख्या की गई है। मानसिक क्रिया के रुद्ध होने का अर्थ है प्रकृति के तीन गुणों के प्रभाव से होने वाली क्रियाओं का अवरुद्ध होना।

सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या
तस्मिन्महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये ।
हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत्
स्वात्मन्विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

सः—योगी; अपि—इसके अतिरिक्त; एतया—इससे; चरमया—अन्तिम; मनसः—मन का; निवृत्त्या—कर्मफल के रुकने (अन्त) से; तस्मिन्—उसमें; महिम्नि—अन्तिम महिमा; अवसितः—स्थित; सुख-दुःख-बाह्ये—सुख तथा दुख से बाहर; हेतुत्वम्—कारण; अपि—निस्सन्देह; असति—अविद्या का फल; कर्तरि—अहंकार में; दुःखयोः—सुख तथा दुख का; यत्—जो; स्व-आत्मन्—अपने आपको; विधत्ते—उपलक्षित करता है; उपलब्ध—प्राप्त; पर-आत्म—भगवान् का; काष्ठः—सर्वोच्च सत्य।

इस प्रकार उच्चतम दिव्य अवस्था में स्थित मन समस्त कर्मफलों से निवृत्त होकर अपनी महिमा में स्थित हो जाता है, जो सुख तथा दुख के सारे भौतिक बोध से परे है। उस समय योगी को परमेश्वर के साथ अपने सम्बन्ध का बोध होता है। उसे पता चलता है कि सुख तथा दुख तथा उनकी अन्तःक्रियाएँ, जिन्हें वह अपने कारण समझता था, वास्तव में अविद्याजनित अहंकार के कारण थीं।

तात्पर्य : भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध की विस्मृति अविद्या का परिणाम है। योगाभ्यास के द्वारा मनुष्य अपने को परमेश्वर से स्वतन्त्र सोचने के इस अज्ञान को दूर कर सकता है।

मनुष्य का वास्तविक सम्बन्ध शाश्वत रूप से प्रेम का सम्बन्ध है। जीव भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति के निमित्त है। मधुर सम्बन्ध की विस्मृति ही अज्ञान कहलाती है और अज्ञान होने पर ही वह प्रकृति के तीनों गुणों के वशीभूत होकर अपने आपको भोक्ता मान बैठता है। जब भक्त का मन शुद्ध हो जाता है और वह यह समझने लगता है कि उसके मन को परमेश्वर की इच्छाओं के अनुसार चलना है, तो समझो कि उसे पूर्ण दिव्य अवस्था प्राप्त हो गई जो भौतिक सुख तथा दुख के अनुभव से परे होती है।

जब तक मनुष्य स्वेच्छा से कर्म करता रहता है, तो उसे तथाकथित सुख तथा दुख के सारे भौतिक अनुभव सताते रहते हैं। वस्तुतः सुख होता ही नहीं। जिस प्रकार किसी पागल व्यक्ति के कर्मों में कोई सुख नहीं मिलता उसी प्रकार भौतिक कार्यकलापों में सुख तथा दुख की मानसिक अनुभूति (मनोरथ) झूठी है। वस्तुतः हर वस्तु दुख में है।

जब मन भगवान् की इच्छानुसार कर्म करने लगता है, तो समझो कि मनुष्य को दिव्य अवस्था प्राप्त हो गई। प्रकृति पर अधिकार जताने की इच्छा ही अविद्या का कारण है और जब यह इच्छा पूर्णतया मिट जाती है, तो और इच्छाएँ भगवान् की इच्छाओं का अनुसरण करती हैं तभी समझो कि यह सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो चुका। *उपलब्ध-परात्म-काष्ठ:*। *उपलब्ध* का अर्थ है 'साक्षात्कार'। साक्षात्कार व्यष्टि का सूचक है। सिद्ध, मुक्त अवस्था में ही वास्तविक साक्षात्कार होता है। *निवृत्त्या* का अर्थ है कि जीव अपनी व्यष्टि बनाये रखता है; *तादात्म्य* का अर्थ होता है कि जीव परमेश्वर के सुख में ही अपना सुख मानता है। परमेश्वर में सुख ही सुख है। *आनन्दमयोऽभ्यासात्*—भगवान् स्वभाव से दिव्य सुख से पूर्ण हैं। मुक्तावस्था में परमेश्वर से तादात्म्य का अर्थ होता है कि मनुष्य के सुख के अतिरिक्त अन्य साक्षात्कार न हो। किन्तु तो भी व्यष्टि बना रहता है अन्यथा उपलब्ध शब्द, जो दिव्य सुख के व्यष्टि साक्षात्कार सा सूचक है, यहाँ प्रयुक्त न होता।

देहं च तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा
सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत्स्वरूपम् ।

दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं
वासो यथा परिकृतं मदिरामदान्धः ॥ ३७॥

शब्दार्थ

देहम्—भौतिक शरीर; च—तथा; तम्—वह; न—नहीं; चरमः—अन्तिम; स्थितम्—आसीन; उत्थितम्—उठा हुआ; वा—अथवा; सिद्धः—सिद्ध जीव; विपश्यति—सोच सकता है; यतः—क्योंकि; अध्यगमत्—प्राप्त कर चुका है; स्व-रूपम्—अपनी असली पहचान; दैवात्—भाग्य के अनुसार; उपेतम्—पहुँचा हुआ; अथ—और भी; दैव-वशात्—भाग्य के अनुसार; अपेतम्—गया हुआ; वासः—वस्त्र; यथा—जिस तरह; परिकृतम्—पहने गये; मदिरा-मद-अन्धः—शराब पीने से अन्धा हुआ।

अपना असली स्वरूप प्राप्त कर लेने के कारण पूर्णतया सिद्ध जीव को इसका कोई बोध नहीं होता है कि यह भौतिक देह किस तरह हिल-डुल रही है या काम कर रही है, जिस तरह कि नशा किया हुआ व्यक्ति यह नहीं समझ पाता कि वह अपने शरीर में वस्त्र धारण किये हैं अथवा नहीं।

तात्पर्य : रूप गोस्वामी ने *भक्ति-रसामृत-सिन्धु* में जीवन की इस अवस्था की व्याख्या की है। जिस व्यक्ति का मन भगवान् की इच्छाओं के अनुरूप होता है और जो उसे शत प्रतिशत भगवान् की सेवा में लगाता है, वह अपनी शारीरिक आवश्यकताओं को भूल जाता है।

देहोऽपि दैववशगः खलु कर्म यावत्
स्वारम्भकं प्रतिसमीक्षत एव सासुः ।
तं सप्रपञ्चमधिरूढसमाधियोगः
स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्धवस्तुः ॥ ३८॥

शब्दार्थ

देहः—शरीर; अपि—इसके अतिरिक्त; दैव-वश-गः—भगवान् के वश में; खलु—निस्सन्देह; कर्म—कर्म; यावत्—जब तक; स्व-आरम्भकम्—अपने आप प्रारम्भ किया गया; प्रतिसमीक्षते—कार्य करता रहता है; एव—निश्चय ही; स-असुः—इन्द्रियों के साथ-साथ; तम्—शरीर; स-प्रपञ्चम्—अपने विस्तारों सहित; अधिरूढ-समाधि-योगः—योगाभ्यास द्वारा समाधि में स्थित; स्वाप्नम्—स्वप्न-जनित; पुनः—फिर; न—नहीं; भजते—अपनाता है; प्रतिबुद्ध—प्रबुद्ध, जाग्रत; वस्तुः—अपनी स्वाभाविक स्थिति के प्रति।

ऐसे मुक्त योगी के इन्द्रियों सहित शरीर का भार भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं और यह शरीर तब तक कार्य करता रहता है जब तक इसके दैवाधीन कर्म समाप्त नहीं हो जाते। इस प्रकार अपनी स्वाभाविक स्थिति के प्रति जागरूक तथा योग की चरम सिद्धावस्था, समाधि, में स्थित मुक्त भक्त शरीर के गौण फलों को निजी कह कर स्वीकार नहीं करता। इस प्रकार वह अपने शारीरिक कार्यकलापों को स्वप्न में सम्पन्न

कार्यकलाप सदृश मानता है।

तात्पर्य : निम्नलिखित प्रश्न उठाए जा सकते हैं। जब तक मुक्त आत्मा शरीर के सम्पर्क में रहता है, तो शरीरिक कार्य उसे क्यों नहीं प्रभावित करते? क्या वह भौतिक कार्यकलापों के कर्म तथा फल से कल्मष-ग्रसित नहीं हो जाता? ऐसे प्रश्नों के उत्तर में इस श्लोक में कहा गया है कि मुक्त आत्मा के भौतिक शरीर का भार भगवान् अपने ऊपर ले लेते हैं। यह जीव की जीवनी शक्ति के कारण कार्य नहीं करता होता; वह विगत कर्मों की प्रतिक्रिया (फल) स्वरूप ही कार्य करता है। एक बिजली का पंखा, बन्द करने के बाद भी कुछ काल तक घूमता रहता है। यह गति विद्युत धारा के कारण नहीं होती, किन्तु पिछली गति के सातत्य रूप में होती है; इसी प्रकार यद्यपि मुक्त जीव सामान्य व्यक्ति की भाँति कार्य करता प्रतीत होता है, किन्तु उसके कर्मों को विगत कर्मों के सातत्य रूप में मानना होगा। स्वप्न में मनुष्य अपने को अनेक शरीरों में विस्तारित देख सकता है, किन्तु जगने पर वह यह समझ सकता है कि ये सारे शरीर झूठे थे। इसी प्रकार यद्यपि मुक्त जीव के शरीर के गौण फल—यथा बच्चे, पत्नी, घर आदि होते हैं, किन्तु वह इन शारीरिक विस्तारों की पहचान अपने आप से नहीं करता। वह जानता है कि ये सब भौतिक स्वप्न की उपज हैं। स्थूल शरीर पदार्थ के स्थूल तत्त्वों से बना है और सूक्ष्म शरीर मन, बुद्धि, अहंकार तथा कल्मषग्रस्त चेतना से बना है। यदि मनुष्य स्वप्न के सूक्ष्म देह को झूठा मान सकता है और अपनी पहचान उस देह से नहीं करता तो निश्चित रूप से एक प्रबुद्ध व्यक्ति को सूक्ष्म शरीर के साथ भी अपनी पहचान नहीं करनी चाहिए। जिस प्रकार प्रबुद्ध व्यक्ति स्वप्न में देखे शरीर के कार्यकलापों से कोई सम्बन्ध नहीं रखता उसी तरह मुक्त आत्मा का वर्तमान शरीर के कार्यकलापों से कोई सम्बन्ध नहीं होता। दूसरे शब्दों में, चूँकि वह अपनी स्वाभाविक स्थिति से अवगत रहता है, अत: वह देहात्मबुद्धि को कभी स्वीकार नहीं करता।

यथा पुत्राच्च वित्ताच्च पृथङ्मर्त्यः प्रतीयते ।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद्देहादेः पुरुषस्तथा ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; पुत्रात्—पुत्र से; च—तथा; वित्तात्—सम्पत्ति से; च—भी; पृथक्—भिन्न रूप से; मर्त्यः—नाशवान पुरुष; प्रतीयते—समझा जाता है; अपि—ही; आत्मत्वेन—स्वभाव से; अभिमतात्—प्रिय से; देह-आदेः—अपने भौतिक शरीर, इन्द्रियों तथा मन से; पुरुषः—मुक्त जीव; तथा—उसी तरह।

परिवार तथा सम्पत्ति के प्रति अत्यधिक स्नेह के कारण मनुष्य पुत्र तथा सम्पत्ति को अपना मानने लगता है और भौतिक शरीर के प्रति स्नेह होने से वह सोचता है कि यह मेरा है। किन्तु वास्तव में जिस तरह मनुष्य समझ सकता है कि उसका परिवार तथा उसकी सम्पत्ति उससे पृथक् हैं, उसी तरह मुक्त आत्मा समझ सकता है कि वह तथा उसका शरीर एक नहीं हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में वास्तविक ज्ञान की अवस्था बताई गई है। बच्चे तो अनेक हैं, किन्तु कुछ को हम अपने स्नेह के कारण अपने पुत्र-पुत्री रूप में स्वीकार करते हैं, यद्यपि हम यह भलीभाँति जानते हैं कि ये बच्चे हमसे पृथक् हैं। इसी प्रकार धन के लिए अत्यधिक स्नेह होने के कारण बैंक में जमा सम्पत्ति को हम अपनी मानते हैं। इसी प्रकार हम कहते हैं कि यह शरीर हमारा है, क्योंकि इसके प्रति हमें स्नेह है। हम कहते हैं कि यह 'मेरा' शरीर है। फिर हम अपने स्वामित्व भाव को बढ़ाते हुए कहते हैं, "यह मेरा हाथ है, यह मेरा पाँव है। यह मेरी बैंक-बचत है, यह मेरा पुत्र, मेरी पुत्री है आदि आदि।" किन्तु वास्तव में हम जानते हैं कि पुत्र तथा सम्पत्ति हमसे भिन्न हैं। यही हाल इस शरीर का है, हम अपने शरीर से पृथक् हैं। यह समझने (बोध) का प्रश्न है और सही-सही समझना ही *प्रतिबुद्ध* कहलाता है। भक्ति या कृष्णचेतना के विषय में ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य मुक्त बन सकता है।

यथोल्मुकाद्विस्फुलिङ्गाद्धूमाद्वापि स्वसम्भवात् ।
अप्यात्मत्वेनाभिमताद्यथाग्निः पृथगुल्मुकात् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; उल्मुकात्—लौ से; विस्फुलिङ्गात्—चिनगारियों से; धूमात्—धुएँ से; वा—अथवा; अपि—भी; स्व-सम्भवात्—अपने आप से उद्भूत; अपि—यद्यपि; आत्मत्वेन—प्रकृति (स्वभाव) से; अभिमतात्—घनिष्ठतापूर्वक सम्बन्धित; यथा—जिस प्रकार; अग्निः—अग्नि; पृथक्—भिन्न; उल्मुकात्—लौ से।

प्रज्वलित अग्नि ज्वाला से, चिनगारी से तथा धुएँ से भिन्न है, यद्यपि ये सभी उससे घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होते हैं, क्योकि वे एक ही प्रज्ज्वलित काष्ठ से उत्पन्न होते हैं।

तात्पर्य : यद्यपि प्रज्ज्वलित काष्ठ, चिनगारियाँ, धुआँ तथा लौ (लपट) पृथक्-पृथक् नहीं रह सकते, क्योंकि प्रत्येक अग्नि का अंशरूप है फिर भी वे एक दूसरे से पृथक् हैं। अल्पज्ञ धुएँ को अग्नि मान लेता है, यद्यपि अग्नि तथा धुआँ सर्वथा पृथक् हैं। अग्नि की उष्मा तथा प्रकाश पृथक्-पृथक् हैं, भले ही कोई इनको अलग नहीं कर सकता है।

भूतेन्द्रियान्तःकरणात्प्रधानाज्जीवसंज्ञितात् ।
आत्मा तथा पृथग्द्रष्टा भगवान्ब्रह्मसंज्ञितः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

भूत—पंच तत्त्व; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; अन्तः-करणात्—मन से; प्रधानात्—प्रधान से; जीव-संज्ञितात्—जीवात्मा से; आत्मा—परमात्मा; तथा—उसी तरह; पृथक्—भिन्न; द्रष्टा—देखनेवाला; भगवान्—भगवान्; ब्रह्म-संज्ञितः—ब्रह्म कहलाने वाला।.

परब्रह्म कहलाने वाला भगवान् द्रष्टा है। वह जीवात्मा या जीव से भिन्न है, जो इन्द्रियों, पंचतत्त्वों तथा चेतना से संयुक्त है।

तात्पर्य : यहाँ पर पूर्णब्रह्म की स्पष्ट अवधारणा प्रस्तुत की गई है। जीवात्मा भौतिक तत्त्वों से भिन्न है और परम पुरुष या भगवान् जो भौतिक तत्त्वों के स्रष्टा हैं, प्रत्येक जीवात्मा से भिन्न हैं। भगवान् चैतन्य ने इस अवधारणा को *अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्त्व* के रूप में स्थापित किया है। प्रत्येक वस्तु अन्य किसी वस्तु से एक ही समय अभिन्न और भिन्न होती है। परमेश्वर की भौतिक शक्ति द्वारा उत्पन्न यह दृश्य जगत भी उनसे अभिन्न तथा साथ ही भिन्न भी है। भौतिक शक्ति परमेश्वर से अभिन्न है, किन्तु साथ ही भिन्न प्रकार से कार्यशील होने के कारण यह शक्ति परमेश्वर से भिन्न है। इसी प्रकार प्रत्येक जीवात्मा परमेश्वर से अभिन्न तथा भिन्न है। यह "एक ही समय अभिन्न तथा भिन्न" की अवधारणा *भागवत* मत का सही-सही निष्कर्ष है, जिसकी पुष्टि यहाँ पर कपिलदेव द्वारा हुई है।

जीवों की तुलना अग्नि की चिनगारियों से की गई है। जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है, अग्नि, लौ, धुँआ तथा काष्ठ सभी मिले हुए हैं। यहाँ पर जीवात्मा भौतिक तत्त्व तथा परमात्मा परस्पर मिले हुए हैं। जीवों की स्थिति अग्नि की चिनगारियों जैसी ही है, भौतिक शक्ति की तुलना धुएँ से की गई है। अग्नि भी परमेश्वर का अंश है। *विष्णु पुराण* में कहा गया

है कि हम भौतिक या आध्यात्मिक जगत में जो कुछ देखते या अनुभव करते हैं वह परमेश्वर की विभिन्न शक्तियों का ही विस्तार है। जिस प्रकार अग्नि एक स्थान में रहकर उष्मा तथा प्रकाश वितरित करती है उसी प्रकार भगवान् अपनी विभिन्न शक्तियों को सम्पूर्ण सृष्टि भर में वितरित करते हैं।

वैष्णव दर्शन के चार सिद्धान्त हैं—शुद्ध-अद्वैत, द्वैत-अद्वैत, विशिष्ट-अद्वैत तथा द्वैत। वैष्णव दर्शन के ये चारों सिद्धान्त *भागवत* के इन दो श्लोकों में कथित अधिकारों (दावों) पर आधारित हैं।

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
ईक्षेतानन्यभावेन भूतेष्विव तदात्मताम् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

सर्व-भूतेषु—समस्त जीवों में; च—तथा; आत्मानम्—आत्मा को; सर्व-भूतानि—समस्त जीव; च—यथा; आत्मनि—परमेश्वर में; ईक्षेत—उसे देखना चाहिए; अनन्य-भावेन—समभाव से; भूतेषु—समस्त जीवों में; इव—सदृश; तत्-आत्मताम्—स्व की प्रकृति।.

योगी को चाहिए कि समस्त जीवों में उसी एक आत्मा को देखे, क्योंकि जो कुछ भी विद्यमान है, वह सब परमेश्वर की विभिन्न शक्तियों का प्राकट्य है। इस तरह से भक्त को चाहिए कि वह समस्त जीवों को बिना भेदभाव के देखे। यही परमात्मा का साक्षात्कार है।

तात्पर्य : जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है, परमात्मा न केवल प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश करता है, अपितु वह परमाणुओं तक में प्रवेश कर जाता है। परमात्मा सर्वत्र सुप्त अवस्था में विद्यमान है और जब कोई उसकी उपस्थिति को सर्वत्र देखता है, तो वह भौतिक उपाधियों से मुक्त हो जाता है।

सर्वभूतेषु शब्द को इस प्रकार समझा जा सकता है : जीवों की चार भिन्न-भिन्न श्रेणियाँ हैं—*उद्भिज* (पृथ्वी से उत्पन्न), *अण्डज* (अण्डे से उत्वन्न), *स्वेदज* (पसीने या खमीर से उत्पन्न) तथा *पिंडज* (भ्रूण से उत्पन्न)। जीवों की इन चार श्रेणियों की ८४,००,००० योनियाँ हैं। जो व्यक्ति भौतिक उपाधियों से मुक्त हो जाता है, वह एक ही प्रकार के आत्मा को सर्वत्र

या प्रत्येक जीव में देखता है। अल्पज्ञानी व्यक्ति सोचता है कि पौधे तथा घास पृथ्वी से स्वतः उग आते हैं, किन्तु जो बुद्धिमान है और जिसे आत्मज्ञान है, वह देख सकता है कि यह वृद्धि स्वतः नहीं होती; इसका कारण आत्मा है और विभिन्न परिस्थितियों में भौतिक शरीर विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं। प्रयोगशाला में सड़न की क्रिया से अनेक जीवाणु पैदा होते हैं, किन्तु इसका कारण आत्मा की उपस्थिति है। भौतिकतावादी विज्ञानी सोचता है कि अण्डे जीवरहित हैं, किन्तु यह तथ्य नहीं है। हमें वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न रूपों वाले जीव उत्पन्न होते हैं। चिड़ियाँ अंडे से निकलती हैं तथा पशु एवं मनुष्य भ्रूण से उत्पन्न हैं। योगी या भक्त की पूर्ण दृष्टि इसमें होती है कि वह सर्वत्र जीवात्मा की उपस्थिति देखता है।

स्वयोनिषु यथा ज्योतिरेकं नाना प्रतीयते ।
योनीनां गुणवैषम्यात्तथात्मा प्रकृतौ स्थितः ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

स्व-योनिषु—काष्ठ के रूप में; यथा—जिस प्रकार; ज्योतिः—अग्नि; एकम्—एक; नाना—भिन्न-भिन्न प्रकार से; प्रतीयते—प्रकट होती है; योनीनाम्—विभिन्न गर्भों में; गुण-वैषम्यात्—विभिन्न गुणों के कारण; तथा—उसी प्रकार; आत्मा—आत्मा; प्रकृतौ—भौतिक प्रकृति में; स्थितः—स्थित।

जिस प्रकार अग्नि काष्ठ के विभिन्न प्रकारों में प्रकट होती है उसी प्रकार प्रकृति के गुणों की विभिन्न परिस्थितियों के अन्तर्गत शुद्ध आत्मा अपने आपको विभिन्न शरीरों में प्रकट करता है।

तात्पर्य : यह समझ लेना होगा कि शरीर को उपाधि दी जाती है। भौतिक *प्रकृति* के तीन गुणों की अन्तःक्रिया प्रकृति है और इन गुणों के अनुसार किसी को छोटा शरीर मिलता है, तो किसी को बड़ा। उदाहरणार्थ, काष्ठ के बड़े खण्ड में अग्नि बड़ी प्रतीत होती है और एक छड़ी में छोटी लगती है। वस्तुतः अग्नि की गुणता सर्वत्र एक रहती है, किन्तु भौतिक प्रकृति का प्राकट्य ऐसा है कि ईंधन के अनुसार अग्नि छोटी या बड़ी प्रतीत होती है। इसी प्रकार विराट शरीर का आत्मा एक-से गुण वाला होते हुए भी लघु शरीर के आत्मा की अपेक्षा भिन्न होता है।

आत्मा के लघुकण विशाल आत्मा की चिनगारियों के समान हैं। सबसे महान् आत्मा तो परमात्मा है, किन्तु यह परम आत्मा लघु आत्मा से गुण में भिन्न है। वैदिक साहित्य में परमात्मा को लघु आत्मा की समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला कहा गया है (*नित्यो नित्यानाम्*)। जो कोई परमात्मा तथा व्यष्टि आत्मा के इस अन्तर को समझता है, वह शोकरहित है और शान्तिपूर्वक रहता है। जब लघु आत्मा अपने को विशाल आत्मा के तुल्य सोचता है, तो वह माया के वश में होता है, क्योंकि यह उसकी स्वाभाविक स्थिति नहीं है। मात्र कल्पना से कोई विशाल आत्मा नहीं बन सकता।

वराह पुराण में विभिन्न आत्माओं की लघुता या विशालता का वर्णन स्वांश विभिन्नांश के रूप में पाया जाता है। स्वांश आत्मा भगवान् है और विभिन्नांश आत्माएँ या लघुकण शाश्वत रूप से लघु कण ही रहते हैं जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है (*ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः*)। लघु जीव शाश्वत अंश हैं, अतः वे कभी परमात्मा के समान नहीं हो सकते।

तस्मादिमां स्वां प्रकृतिं दैवीं सदसदात्मिकाम् ।
दुर्विभाव्यां पराभाव्य स्वरूपेणावतिष्ठते ॥ ४४॥

शब्दार्थ

तस्मात्—इस प्रकार; **इमाम्**—इस; **स्वाम्**—निज; **प्रकृतिम्**—भौतिक शक्ति को; **दैवीम्**—दैवी; **सत्-असत्-आत्मिकाम्**—कारण तथा कार्य से युक्त; **दुर्विभाव्याम्**—समझने में कठिन; **पराभाव्य**—जीतकर; **स्व-रूपेण**—स्वरूपसिद्ध स्थिति में; **अवतिष्ठते**—रहा आता है।

इस प्रकार माया के दुर्लंघ्य सम्मोहन को जीतकर योगी स्वरूपसिद्ध स्थिति में रह सकता है। यह माया इस जगत में अपने आपको कार्य-कारण रूप में उपस्थित करती है, अतः इसे समझ पाना अत्यन्त कठिन है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि माया का सम्मोहन जीव के ज्ञान को आच्छादित कर लेता है और दुर्लंघ्य है। किन्तु जो कोई कृष्ण की शरण में जाता है, वह माया के इस दुर्लंघ्य सम्मोहन को पार कर सकता है। यहाँ पर यह भी कहा गया है कि दैवी प्रकृति अर्थात् परमेश्वर की बहिरंगा शक्ति *दुर्विभाव्या* है अर्थात् उसे समझ पाना तथा जीत पाना अत्यन्त कठिन है। किन्तु मनुष्य को माया के इस दुर्लंघ्य जादू को जीतना होता है और यह तभी सम्भव है

जब भगवान् की कृपा हो तथा जब ईश्वर स्वयं शरणागत जीव को दर्शन दें। यहाँ पर *स्वरूपेणावतिष्ठते* भी कहा गया है। *स्वरूप* का अर्थ है कि जीव को यह जानना होता है कि वह परमात्मा न होकर परमात्मा का अंश है—यही आत्म-साक्षात्कार है। अपने को झूठे ही परमात्मा के रूप में सोचना तथा अपने को सर्वव्यापी समझना स्वरूप नहीं है, यह उसकी वास्तविक स्थिति का साक्षात्कार नहीं है। वास्तविक स्थिति तो यह है कि वह अंशरूप है। यहाँ संस्तुति की गई है कि मनुष्य को वास्तविक आत्म-साक्षात्कार की स्थिति में बने रहना चाहिए। *भगवद्गीता* में इस समझ को ब्रह्म-साक्षात्कार के रूप में परिभाषित किया गया है।

ब्रह्म-साक्षात्कार के पश्चात् मनुष्य ब्रह्म के कार्यकलापों में लग सकता है। जब तक वह स्वरूपसिद्ध नहीं होता, वह शरीर के साथ झूठी पहचान पर आधारित कार्यों में लगा रहता है। जब वह अपने वास्तविक स्व (आत्म) में स्थित होता है, तभी ब्रह्म-साक्षात्कार के कार्य-कलाप प्रारम्भ होते हैं। मायावादी चिन्तकों का कथन है कि ब्रह्म-साक्षात्कार के बाद सारे कर्म (कार्यकलाप) रुक जाते हैं, किन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं। जब आत्मा पदार्थ के आवरण के भीतर स्थित रह कर, जो कि असामान्य स्थिति है, इतना सक्रिय रह सकता है, तो फिर उसके मुक्त रहने पर उसकी कार्यशीलता से कैसे इनकार किया जा सकता है? यहाँ पर एक उदाहरण उद्धृत किया जा सकता है। जब कोई मनुष्य अपनी रुग्ण अवस्था में अत्यधिक सक्रिय हो तो फिर कोई यह कैसे कल्पना कर सकता है कि रोगमुक्त होने की अवस्था में निष्क्रिय होगा? स्वाभाविक है कि जब कोई व्यक्ति रोग से मुक्त होता है, तो उसके कार्यकलाप शुद्ध होते हैं। यह कहा जा सकता है कि ब्रह्म-साक्षात्कार के कार्य बद्ध जीवन के कार्यों से भिन्न होते हैं। *भगवद्गीता* (१८.५४) में इंगित किया गया है—जब कोई अपने आपको ब्रह्म समझ लेता है, तो भक्ति का शुभारम्भ होता है। *मद्-भक्तिं लभते पराम्*—ब्रह्म-साक्षात्कार के पश्चात् मनुष्य भगवान् की भक्ति में लग सकता है। अत: भगवान् की भक्ति ब्रह्म-साक्षात्कार का कर्म है।

जो लोग भक्ति में लगे हुए हैं उनके लिए माया का जादू नहीं होता और उनकी स्थिति

परम पूर्ण होती है। पूर्ण के अंशरूप जीवात्मा का धर्म है कि पूर्ण की सेवा करे। यही जीवन की चरम सिद्धि है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत ''भक्ति साधना के लिए कपिल के आदेश'' नामक अट्ठाइसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter उन्तीस

भगवान् कपिल द्वारा भक्ति की व्याख्या

देवहूतिरुवाच

लक्षणं महदादीनां प्रकृतेः पुरुषस्य च ।
स्वरूपं लक्ष्यतेऽमीषां येन तत्पारमार्थिकम् ॥ १ ॥

यथा साङ्ख्येषु कथितं यन्मूलं तत्प्रचक्षते ।
भक्तियोगस्य मे मार्गं ब्रूहि विस्तरशः प्रभो ॥ २ ॥

शब्दार्थ

देवहूतिः उवाच—देवहूति ने कहा; लक्षणम्—लक्षण; महत्-आदीनाम्—महत्-तत्त्व आदि का; प्रकृतेः—प्रकृति का; पुरुषस्य—आत्मा का; च—तथा; स्वरूपम्—स्वभाव; लक्ष्यते—वर्णन किया जाता है; अमीषाम्—उनका; येन—जिससे; तत्-पारम-अर्थिकम्—उनकी असली प्रकृति; यथा—जिस प्रकार; साङ्ख्येषु—सांख्य दर्शन में; कथितम्—व्याख्यायित; यत्—जिसका; मूलम्—चरम परिणति; तत्—वह; प्रचक्षते—कहते हैं; भक्ति-योगस्य—भक्ति का; मे—मुझको; मार्गम्—पथ; ब्रूहि—कहिये; विस्तरशः—विस्तार से; प्रभो—हे भगवान् कपिल।

देवहूति ने जिज्ञासा की : हे प्रभु, आप सांख्य दर्शन के अनुसार सम्पूर्ण प्रकृति तथा आत्मा के लक्षणों का अत्यन्त वैज्ञानिक रीति से पहले ही वर्णन कर चुके हैं। अब मैं आपसे प्रार्थना करूँगी कि आप भक्ति के मार्ग की व्याख्या करें, जो समस्त दार्शनिक प्रणालियों की चरम परिणति है।

तात्पर्य : इसी उन्तीसवें अध्याय में भक्ति की महिमा की विस्तृत व्याख्या की गई है। साथ ही बद्धजीव पर काल के प्रभाव का भी वर्णन हुआ है। काल के प्रभाव का विस्तार से वर्णन करने का उद्देश्य बद्धजीव को उसके भौतिक कार्यकलापों से विरत करना है, जिन्हें केवल समय का अपव्यय माना जाता है। पिछले अध्याय में प्रकृति, आत्मा तथा परमेश्वर या परमात्मा का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा चुका है और इस अध्याय में भक्तियोग अथवा भक्ति के सिद्धान्तों—भगवान् तथा जीव के बीच नित्य सम्बन्ध होने के कारण कार्यों के निष्पादन—की व्याख्या की गई है।

भक्तियोग अथवा भक्ति समस्त दर्शन-पद्धतियों का मूल सिद्धान्त है। जिस किसी दर्शन का लक्ष्य भगवद्भक्ति नहीं है, वह मात्र कपोल कल्पना है। किन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि बिना दार्शनिक आधार के भक्तियोग न्यूनाधिक भावावेश है। मनुष्य दो प्रकार के होते हैं। कुछ लोग

स्वयं को बौद्धिक रूप से उन्नत मानते हैं और केवल चिन्तन तथा ध्यान करते हैं और दूसरे लोग वे हैं जिनके कथन का कोई दार्शनिक आधार नहीं होता। इनमें से किसी को भी जीवन का उच्चतम लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सकता और यदि हो भी तो अनेकानेक वर्ष लग जाते हैं। इसलिए वैदिक साहित्य का सुझाव है कि परमेश्वर, जीव तथा इन दोनों का शाश्वत सम्बन्ध—ये तीन तत्त्व हैं और जीवन का उद्देश्य भक्ति के सिद्धान्तों का पालन करते हुए अन्ततः पूर्णतया भगवद्भक्ति तथा भगवद्प्रेम के साथ परमेश्वर के धाम को प्राप्त करना है।

सांख्य दर्शन सारे जगत का विश्लेषणात्मक अध्ययन है। मनुष्य को हर वस्तु की प्रकृति तथा उसके गुणों का परीक्षण करके समझना होता है। यह ज्ञानार्जन कहलाता है। किन्तु मनुष्य को जीवन का लक्ष्य या ज्ञानार्जन के मूल सिद्धान्त—भक्तियोग—को प्राप्त किये बिना मात्र ज्ञानार्जन ही नहीं करते रहना चाहिए। यदि हम भक्तियोग का परित्याग करके वस्तुओं की प्रकृति के विषय में विश्लेषणात्मक अध्ययन करते रहते हैं, तो इसका परिणाम कुछ भी नहीं निकलेगा। *भागवत* में कहा गया है कि ऐसा कार्य धान कूटने के समान है। यदि धान में से चावल (अन्न) निकाल लिया जाय तो भुस कूटने से क्या लाभ? प्रकृति, जीव तथा परमात्मा के वैज्ञानिक अध्ययन से भगवद्भक्ति का मूल सिद्धान्त समझा जा सकता है।

विरागो येन पुरुषो भगवन्सर्वतो भवेत् ।
आचक्ष्व जीवलोकस्य विविधा मम संसृतीः ॥ ३॥

शब्दार्थ

विरागः—विरक्त; येन—जिससे; पुरुषः—व्यक्ति; भगवन्—हे प्रभु; सर्वतः—पूर्णतः; भवेत्—हो सके; आचक्ष्व—कृपया वर्णन करें; जीव-लोकस्य—जनसामान्य के लिए; विविधाः—अनेक; मम—मेरा; संसृतीः—जन्म-मरण का चक्र।

देवहूति ने आगे कहा : हे प्रभु, कृपया मेरे तथा जन-साधारण दोनों के लिए जन्म-मरण की निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन करें, जिससे ऐसी विपदाओं को सुनकर हम इस भौतिक जगत के कार्यों से विरक्त हो सकें।

तात्पर्य : इस श्लोक में *संसृतीः* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *श्रेयः-सृति* का अर्थ है भगवान् की ओर अग्रसर होने का प्रशस्त मार्ग और *संसृति* का अर्थ है जन्म-मरण के पथ पर

संसार के गहनतम भाग की ओर निरन्तर यात्रा। जिन लोगों को इस जगत, ईश्वर तथा उनके वास्तविक घनिष्ठ सम्बन्ध का ज्ञान नहीं है, वे सभ्यता की भौतिक प्रगति के नाम पर संसार के अंधकारमय क्षेत्र की ओर बढ़ रहे हैं। संसार के अंधकारमय क्षेत्र में प्रविष्ट होने का अर्थ है मनुष्य-योनि के अतिरिक्त अन्य योनियों में प्रवेश करना। अज्ञानी पुरुष यह नहीं जानते कि इस जीवन के पश्चात् वे प्रकृति की मुट्ठी में होंगे और उन्हें ऐसा जीवन दिया जा सकता है, जो रुचिकर न हो। जीव को किस तरह विभिन्न प्रकार के शरीर प्राप्त होते हैं इसका वर्णन अगले अध्याय में किया जाएगा। जन्म तथा मृत्यु में शरीरों का निरन्तर परिवर्तन *संसार* कहलाता है। देवहूति अपने यशस्वी पुत्र कपिल मुनि से प्रार्थना करती हैं कि वे इस निरन्तर यात्रा की व्याख्या करें जिससे बद्धजीवों को पता चले कि वे भक्तियोग के मार्ग को न समझने के कारण पतन के मार्ग की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

कालस्येश्वररूपस्य परेषां च परस्य ते ।
स्वरूपं बत कुर्वन्ति यद्धेतोः कुशलं जनाः ॥ ४॥

शब्दार्थ

कालस्य—काल का; **ईश्वर-रूपस्य**—भगवान् का प्रतिनिधि; **परेषाम्**—अन्य सबों का; **च**—तथा; **परस्य**—मुख्य; **ते**—तुम्हारा; **स्वरूपम्**—प्रकृति; **बत**—ओह; **कुर्वन्ति**—करते हैं; **यत्-हेतोः**—जिसके प्रभाव से; **कुशलम्**—पुण्य कर्म; **जनाः**—सामान्य जन।

कृपया काल का भी वर्णन करें जो आपके स्वरूप का प्रतिनिधित्व करता है और जिसके प्रभाव से सामान्य जन पुण्यकर्म करने में प्रवृत्त होते हैं।

तात्पर्य : सौभाग्य के पथ तथा अज्ञान के गहन क्षेत्र के मार्ग के विषय में कोई कितना ही अज्ञानी क्यों न रहे, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति शाश्वत काल के प्रभाव से परिचित है, जो हमारे समस्त कर्मों के फल को निगल जाने वाला है। ज्योंही शरीर जन्म लेता है उस पर काल का प्रभाव चालू हो जाता है। शरीर के जन्म की तिथि से ही मृत्यु का प्रभाव कार्य करने लगता है; आयु बढ़ने के साथ ही शरीर पर काल का प्रभाव बढ़ता जाता है। यदि मनुष्य तीस या पचास वर्ष का है, तो काल उसकी जीवन अवधि का तीस या पचास वर्ष निगल चुका होता है।

प्रत्येक व्यक्ति जीवन की उस अन्तिम अवस्था से अवगत है जब उसे मृत्यु के क्रूर हाथों में

जाना होगा, किन्तु कुछ लोग अपनी आयु तथा परिस्थितियों पर विचार करके काल के प्रभाव से चिन्तित होकर स्वयं को पुण्यकर्मों में प्रवृत्त करते हैं, जिससे भविष्य में उन्हें किसी निम्न परिवार या पशुयोनि में न जाना पड़े। सामान्यतया लोग इन्द्रिय सुख के प्रति आसक्त रहते हैं, अतः वे स्वर्गलोक जाना चाहते हैं। फलतः वे किसी परोपकार या अन्य पुण्य कार्य में लग जाते हैं, किन्तु जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है जन्म तथा मृत्यु के चक्र से किसी को छुटकारा नहीं मिल पाता भले ही कोई सर्वोच्च लोक ब्रह्मलोक क्यों न चला जाय, क्योंकि काल का प्रभाव इस भौतिक जगत में सर्वत्र उपस्थित है। हाँ, आध्यात्मिक जगत में काल का कोई प्रभाव नहीं होता।

लोकस्य मिथ्याभिमतेरचक्षुष-
श्चिरं प्रसुप्तस्य तमस्यनाश्रये ।
श्रान्तस्य कर्मस्वनुविद्धया धिया
त्वमाविरासीः किल योगभास्करः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

लोकस्य—जीवों का; मिथ्या-अभिमतेः—अहंकार से मोहग्रस्त; अचक्षुषः—अंधा; चिरम्—दीर्घकाल तक; प्रसुप्तस्य—सोते हुए का; तमसि—अंधकार में; अनाश्रये—आश्रयविहीन; श्रान्तस्य—थके हुए के; कर्मसु—कर्मों के प्रति; अनुविद्धया—संलग्न, अनुरक्त; धिया—बुद्धि से; त्वम्—तुम; आविरासीः—प्रकट हुए हो; किल—निस्सन्देह; योग—योग प्रणाली का; भास्करः—सूर्य।

हे भगवान्, आप सूर्य के समान हैं, क्योंकि आप जीवों के बद्धजीवन के अन्धकार को प्रकाशित करने वाले हैं। उनके ज्ञान-चक्षु बन्द होने से वे आपके आश्रय के बिना उस अन्धकार में लगातार सुप्त पड़े हुए हैं, फलतः वे अपने कर्मों के कार्य-कारण प्रभाव से झूठे ही व्यस्त रहते हैं और अत्यन्त थके हुए प्रतीत होते हैं।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् कपिलदेव की महिमामयी माता श्रीमती देवहूति उन सामान्य जनों की दयनीय स्थिति के प्रति अत्यन्त कृपालु हैं, जो जीवन का लक्ष्य न जानते हुए मोह के गहन अन्धकार में सुप्त पड़े हुए हैं। एक वैष्णव या भगवद्भक्त की यह सामान्य भावना होती है कि वह उन्हें जगाए। इसी प्रकार देवहूति अपने यशस्वी पुत्र से बद्धजीवों के जीवन को प्रकाशित करने की प्रार्थना कर रही हैं जिससे उन सबकी अत्यन्त दयनीय जीवन-

दशा का अन्त हो। भगवान् को *योगभास्कर* अर्थात् समस्त योग पद्धतियों को सूर्यकहा गया है। देवहूति अपने यशस्वी पुत्र से भक्तियोग का वर्णन करने का पहले ही अनुरोध कर चुकी थीं और भगवान् ने भक्तियोग का चरम योग पद्धति के रूप में वर्णन किया है।

भक्तियोग उन बद्धजीवों के उद्धार के लिए सूर्य के प्रकाश तुल्य है, जिनकी सामान्य दशा का यहाँ वर्णन हुआ है। उनके पास अपना हित देख पाने के लिए आँखें नहीं हैं। वे यह नहीं जानते कि जीवन का लक्ष्य भौतिक आवश्यकताओं की वृद्धि करना नहीं हैं, क्योंकि शरीर कुछ वर्षों से अधिक नहीं रह सकता। जीव तो शाश्वत हैं और उनकी आवश्यकताएँ शाश्वत हैं। यदि मनुष्य केवल शरीर की आवश्यकताओं को पूरा करने में लगा रहे और जीवन की शाश्वत आवश्यकताओं की अनदेखी करता चले तो वह उस सभ्यता का अंश होगा जिसकी प्रगति जीवों को अज्ञान के अन्धकारमय क्षेत्र में डाल देती है। उस अन्धकारमय क्षेत्र में रहते हुए उसका किसी प्रकार की नवचेतना नहीं पाता, अपितु वह धीरे-धीरे थकता जाता है। वह इस थकान को दूर करने के लिए अनेक साधन खोजता है, किन्तु असफल होता है और निराश रहा आता है। जीवन-संघर्ष में इस थकान को मिटाने का एकमात्र उपाय भक्तिमार्ग अथवा कृष्णभावनामृत का मार्ग है।

मैत्रेय उवाच
इति मातुर्वचः श्लक्ष्णं प्रतिनन्द्य महामुनिः ।
आबभाषे कुरुश्रेष्ठ प्रीतस्तां करुणार्दितः ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; **इति**—इस प्रकार; **मातुः**—उनकी माता के; **वचः**—शब्द; **श्लक्ष्णम्**—भद्र; **प्रतिनन्द्य**—स्वागत करते हुए; **महा-मुनिः**—ऋषि कपिल; **आबभाषे**—बोले; **कुरु-श्रेष्ठ**—हे कुरुओं में श्रेष्ठ, विदुर; **प्रीतः**—प्रसन्न; **ताम्**—उससे; **करुणा**—दया से; **अर्दितः**—द्रवीभूत।

श्री मैत्रेय ने कहा : हे कुरुश्रेष्ठ, अपनी महिमामयी माता के शब्दों से प्रसन्न होकर तथा अत्यधिक अनुकम्पा से द्रवित होकर महामुनि कपिल इस प्रकार बोले।

तात्पर्य : भगवान् कपिल अपनी माता की प्रार्थना से अत्यधिक प्रसन्न हुए, क्योंकि वे अपने व्यक्तिगत मोक्ष के प्रति उतनी चिन्तित न थीं जितनी कि पतित बद्धजीवों के प्रति चिन्तित

थीं। भगवान् इस जगत की पतितात्माओं पर सदैव कृपालु रहते हैं, अत: उनका उद्धार करने के लिए वे या तो स्वयं अवतरित होते हैं या अपने विश्वासपात्र दासों को भेजते हैं। चूँकि वे निरन्तर उनके प्रति सदय रहते हैं, अत: यदि उनका कोई भक्त भी उन सबों के प्रति दयालु हो उठता है, तो वे भक्तों से अत्यन्त प्रसन्न होते हैं। *भगवद्गीता* में स्पष्ट कहा गया है कि जो लोग पतितात्माओं को *भगवद्गीता* के इस निष्कर्ष का कि भगवान् के प्रति पूर्ण समर्पण करो, उपदेश देकर उन्हें उठाने का प्रयत्न करते हैं, वे भगवान् को अत्यन्त प्रिय हैं। अत: जब भगवान् ने देखा कि उनकी माता पतित जीवों के प्रति अत्यन्त सदय हैं, तो वे प्रसन्न हुए और वे उन पर अत्यन्त कृपालु हो गये।

श्रीभगवानुवाच
भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते ।
स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते ॥ ७॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—भगवान् ने उत्तर दिया; भक्ति-योग:—भक्ति; बहु-विध:—अनेक प्रकार के; मार्गै:—मार्गों से; भामिनि—हे उत्तम स्त्री; भाव्यते—प्रकट है; स्वभाव—प्रकृति; गुण—गुण; मार्गेण—व्यवहार के अनुसार; पुंसाम्—साधकों के; भाव:—प्राकट्य; विभिद्यते—विभाजित है।

भगवान् कपिल ने उत्तर दिया : हे भामिनि, साधक के विभिन्न गुणों के अनुसार भक्ति के अनेक मार्ग हैं।

तात्पर्य : कृष्णभावनाभावित होकर शुद्ध भक्ति केवल एक है, क्योंकि शुद्धभक्ति में भक्त भगवान् से किसी भी माँग को पूरा करने के लिए नहीं कहता। किन्तु सामान्य रूप से लोग इस प्रयोजन से भक्ति करते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, जो लोग शुद्ध नहीं हैं, वे चार प्रकार के प्रयोजनों से भक्ति करते हैं। कोई व्यक्ति भौतिक परिस्थितियों से पीड़ित होकर भगवान् का भक्त बनता है और अपना कष्ट दूर करने के लिए भगवान् के पास जाता है। जिस व्यक्ति को धन की कमी होती है वे भगवान् के पास पहुँचकर अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिए याचना करता हैं। अन्य लोग, जिन्हें कोई कष्ट नहीं है अथवा आर्थिक सहायता की आवश्यकता नहीं होती, वे परम सत्य को जानने के लिए ज्ञान की खोज में रहते हैं। वे भी

भक्ति स्वीकार करके भगवान् के स्वभाव के विषय में जिज्ञासा करते हैं। *भगवद्गीता* (७.१६) में इसका सुन्दर वर्णन मिलता है। वस्तुतः भक्तिमार्ग अद्वितीय है, किन्तु भक्तों की परिस्थिति के अनुसार भक्ति अनेक प्रकार की प्रतीत होने लगती है, जिसको अगले श्लोक में उत्तम ढंग से समझाया गया है।

अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा ।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात्स तामसः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

अभिसन्धाय—दृष्टि में रखकर; यः—जो; हिंसाम्—हिंसा को; दम्भम्—गर्व को; मात्सर्यम्—ईर्ष्या को; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा; संरम्भी—क्रोधी; भिन्न—पृथक्; दृक्—जिसकी दृष्टि; भावम्—भक्ति; मयि—मुझमें; कुर्यात्—करे; सः—वह; तामसः—तमोगुणी।

ईर्ष्यालु, अहंकारी, हिंस्त्र तथा क्रोधी और पृथकतावादी व्यक्ति द्वारा की गई भक्ति तमोगुण प्रधान मानी जाती है।

तात्पर्य : *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध के द्वितीय अध्याय में पहले ही कहा जा चुका है कि सर्वोच्च, सर्वाधिक यशस्वी धर्म है अहैतुकी भक्ति की प्राप्ति। शुद्ध भक्ति का एकमात्र ध्येय भगवान् को प्रसन्न करना होना चाहिए। वस्तुतः यह ध्येय नहीं है, यह जीव की शुद्ध अवस्था है। बद्ध अवस्था में रहकर जब कोई भक्ति में प्रवृत्त होता है, तो उसे पूर्णतया समर्पित भाव से प्रामाणिक गुरु का आदेश मानना चाहिए। गुरु परमेश्वर का प्रकट प्रतिनिधि होता है, क्योंकि वह ईश्वर से आदेश प्राप्त करता है और उन्हें यथारूप प्रस्तुत करता है, क्योंकि वे शिष्य-परम्परा से चले आते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि उसमें निहित उपदेशों को शिष्य-परम्परा से प्राप्त किया जाय अन्यथा उसमें मिलावट रहती है। श्रीभगवान् को प्रसन्न रखने के *ध्येय* से प्रामाणिक गुरु के निर्देशन के अनुसार कर्म करना ही शुद्ध भक्ति है। किन्तु यदि उसका ध्येय व्यक्तिगत इन्द्रियतृप्ति हो तो उसकी भक्ति भिन्न प्रकार से प्रकट होती है। ऐसा व्यक्ति हिंसक, दम्भी, ईष्यालु तथा क्रोधी हो सकता है और उसके स्वार्थ भगवान् से पृथक् होते हैं।

जो व्यक्ति भगवान् के पास भक्तिमय सेवा करने के उद्देश्य से जाता है, किन्तु अपने व्यक्तित्व के प्रति गर्वित रहता है, अन्यों से ईर्ष्यालु रहता है या प्रतिशोध लेता है, वह क्रोधी

होता है। वह अपने को सर्वश्रेष्ठ भक्त समझता है। इस प्रकार की गई भक्ति शुद्धि नहीं होती; यह मिश्रित है और निम्नतम कोटि की अर्थात् *तामसः* है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती का उपदेश है कि जस वैष्णव का चरित्र अच्छान हो उससे दूर रहना चाहिए। वैष्णव वह है, जो भगवान् को जीवन का परम लक्ष्य मानता है, किन्तु यदि कोई शुद्ध नहीं है और *कामनाएँ* रखता है, तो वह उत्तम चरित्र वाला प्रथम कोटि का वैष्णव नहीं है। ऐसे वैष्णव का आदर किया जा सकता है, क्योंकि उसने भगवान् को जीवन का परम लक्ष्य मान लिया है। किन्तु जो वैष्णव तमोगुणी (तामसी) हो उसकी संगति नहीं करनी चाहिए।

विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा ।
अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

विषयान्—विषय, भोग को; अभिसन्धाय—लक्ष्य करके; यशः—ख्याति; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; एव—निस्सन्देह; वा—अथवा; अर्चा-आदौ—विग्रह-पूजन आदि में; अर्चयेत्—पूजा करे; यः—जो; माम्—मुझको; पृथक्-भावः—भेदभाव रखने वाला, पृथकतावादी; सः—वह; राजसः—रजोगुण में।

मन्दिर में एक पृथकतावादी द्वारा भौतिक भोग, यश तथा ऐश्वर्य के प्रयोजन से की जानेवाली विग्रह-पूजा रजोगुणी भक्ति है।

तात्पर्य : 'पृथकतावादी' शब्द को सही ढंग से समझना होगा। संस्कृत में इसके लिए *भिन्न-दृक्* तथा *पृथक्-भावः* शब्द मिलते हैं। पृथकतावादी वह है, जो परमेश्वर के हित से अपने हित (स्वार्थ) को पृथक् देखता है। मिश्रित भक्त अथवा रजोगुणी तथा तमोगुणी भक्त सोचते हैं कि भगवान् का स्वार्थ भक्तों के आदेशों की पूर्ति करने में है। ऐसे भक्तों का स्वार्थ इसमें रहता है कि अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए भगवान् से अधिक से अधिक भगवान् से प्राप्त कर लिया जाय। यही पृथकतावादी मानसिकता है। वस्तुतः पिछले अध्याय में शुद्ध भक्ति की व्याख्या हुई है—इसमें भगवान् का मन तथा भक्त के मन को एक दूसरे के अनुसार होना चाहिए। भक्त को केवल भगवान् की इच्छाओं को पूरा करने के सिवाय और कुछ कामना नही करनी चाहिए। यही एकात्मता है। जब भक्त का स्वार्थ परमेश्वर के स्वार्थ से भिन्न होता है, तो उसकी मानसिकता पृथकतावादी जैसी होती है। जब भक्त भगवान् की परवाह किये बिना

भौतिक सुख भोगना चाहता है अथवा भगवान् की कृपा का उपयोग करके प्रसिद्ध या ऐश्वर्यवान बनना चाहता है, तो वह रजोगुणी है।

किन्तु मायावादी इस 'पृथकतावादी' शब्द की विवेचना भिन्न रूप से करते हैं। उनका कहना है कि भगवान् की पूजा करते समय मनुष्य को अपने आपको परमेश्वर से एक हुआ सोचना चाहिए। प्रकृति के गुणों के अन्तर्गत भक्ति का यह अन्य मिश्रित (भ्रष्ट) रूप है। यह विचार कि जीव परमात्मा से एकाकार है तमोगुण है। वस्तुत: एकत्व या तादात्म्य रुचि (स्वार्थ) के एकत्व पर आधारित है। शुद्ध भक्त का एकमात्र स्वार्थ है परमेश्वर के लिए कर्म करना। जब व्यक्ति का रंचमात्र भी व्यक्तिगत स्वार्थ निहित होता है, तो उसकी भक्ति त्रिगुण से मिश्रित होती है।

कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन्वा तदर्पणम् ।
यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

कर्म—सकाम कर्म; निर्हारम्—अपने आपको मुक्त करने के; उद्दिश्य—उद्देश्य से; परस्मिन्—भगवान् को; वा—अथवा; तत्-अर्पणम्—कर्मफल का अर्पण; यजेत्—पूजा करे; यष्टव्यम्—पूजे जाने के लिए; इति—इस प्रकार; वा—अथवा; पृथक्-भावः—पृथकतावादी; सः—वह; सात्त्विकः—सतोगुण में स्थित।

जब भक्त भगवान् की पूजा करता है और अपने कर्मों की त्रुटि से मुक्त होने के लिए अपने कर्मफलों को अर्पित करता है, तो उसकी भक्ति सात्त्विक होती है।

तात्पर्य : ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण तथा ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यासी ये चार आश्रम—इन आठों विभागों के अपने-अपने कर्म हैं, जिन्हें भगवान् को प्रसन्न करने के लिए सम्पन्न करना होता है। जब ऐसे कार्यों को सम्पन्न करके इनके फलों को परमेश्वर को अर्पित कर दिया जाता है, तो वे *कर्मार्पणम्* कहलाते हैं। यदि कोई त्रुटि रह जाती है, तो इस अर्पण से वह पूरी हो जाती है। किन्तु यदि यह अर्पण शुद्ध भक्ति में न होकर सतोगुण में हो तो स्वार्थ भिन्न हो जाता है। चारों आश्रम तथा चारों वर्ण अपने-अपने व्यक्तिगत स्वार्थों के अनुसार किसी न किसी लाभ के लिए कर्म करते हैं। अत: ऐसे कर्म सतोगुण में होते हैं, इनकी गणना शुद्ध भक्ति की श्रेणी में नहीं की जा सकती। जैसाकि रूप गोस्वामी ने कहा

है : शुद्ध भक्ति समस्त भौतिक इच्छाओं से रहित होती है। *अन्याभिलाषिता शून्यम्*। व्यक्तिगत या भौतिक स्वार्थ के लिए यह बहाना नहीं हो सकता। भक्ति सम्बन्धी कर्मों को सकाम कर्मों तथा यादृच्छिक (अनुभववादी) दार्शनिक चिन्तन से परे होना चाहिए। शुद्ध भक्ति समस्त भौतिक गुणों से परे होती है।

तमो, रजो तथा सतोगुण के अधीन भक्ति को ८१ श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है। भक्ति सम्बन्धी कार्यों को नौ प्रकारों में विभाजित किया जाता है—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, अर्चन, सेवा तथा समर्पण और इनको पुनः तीन-तीन गुणात्मक श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। इस प्रकार श्रवण के तमो, रजो तथा सतोगुण के अधीन विभाग हो सकते हैं। इसी प्रकार गुणों के भी तीन विभाग हैं। तीन गुणित नौ बराबर सत्ताईस और जब फिर इसे तीन से गुणा करते हैं, तो इक्यासी आता है। मनुष्य को शुद्ध भक्ति के स्तर तक पहुँचने के लिए ऐसी समस्त मिश्रित भक्ति को पार कर जाना होता है जैसाकि अगले श्लोकों में बताया गया है।

मद्‌गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥ ११ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

मत्—मेरा; गुण—गुण; श्रुति—सुनकर; मात्रेण—केवल; मयि—मेरे प्रति; सर्व-गुहा-आशये—प्रत्येक के हृदय में रहते हुए; मनः-गतिः—हृदय का मार्ग; अविच्छिन्ना—समुद्र की ओर; यथा—जिस तरह; गङ्गा—गंगा के; अम्भसः—जल का; अम्बुधौ—समुद्र की ओर; लक्षणम्—प्राकट्य; भक्ति-योगस्य—भक्ति का; निर्गुणस्य—अमिश्रित; हि—निस्सन्देह; उदाहृतम्—प्रकट; अहैतुकी—बिना कारण के; अव्यवहिता—अभिन्न; या—जो; भक्तिः—भक्ति; पुरुष-उत्तमे—भगवान् के प्रति।

जब मनुष्य का मन प्रत्येक व्यक्ति के हृदय के भीतर वास करने वाले भगवान् के दिव्य नाम तथा गुणों के श्रवण की ओर तुरन्त आकृष्ट हो जाता है, तो निर्गुण भक्ति का प्राकट्य होता है। जिस प्रकार गंगा का पानी स्वभावतः समुद्र की ओर बहता है, उसी प्रकार ऐसा भक्तिमय आह्लाद बिना रोक-टोक के परमेश्वर की ओर प्रवाहित होता है।

तात्पर्य : इस निर्गुण शुद्ध भक्ति का मूल सिद्धान्त ईश्वर का प्रेम है। *मद्‌गुणश्रुतिमात्रेण* का

अर्थ है ''भगवान् के दिव्य गुणों के श्रवण मात्र से।'' ये गुण *निर्गुण* कहलाते हैं। परमेश्वर प्रकृति के गुणों से अकलुषित हैं, अत: शुद्ध भक्त के लिए आकर्षक हैं। ऐसा आकर्षण प्राप्त करने के लिए ध्यान के अभ्यास की आवश्यकता नहीं होती। शुद्ध भक्त पहले से ही दिव्य अवस्था को प्राप्त रहता है और उसके तथा परमेश्वर के बीच का आकर्षण (सहज) होता है, जिसकी तुलना समुद्र की ओर प्रवाहित होने वाली गंगा नदी से की जा सकती है। गंगाजल के प्रवाह को किसी तरह रोका नहीं जा सकता, इसी प्रकार भगवान् के दिव्य नाम, रूप तथा लीलाओं के प्रति शुद्ध भक्त के आकर्षण को किसी भौतिक परिस्थिति के द्वारा रोका नहीं जा सकता। इस प्रसंग में *अविच्छिन्न* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है ''बिना रुकावट के।'' शुद्ध भक्त के भक्ति-प्रवाह को कोई भौतिक परिस्थिति रोक नहीं सकती।

अहैतुकी शब्द का अर्थ ''बिना कारण'' है। एक शुद्ध भक्त भगवान् की प्रेममयी सेवा किसी कारणवश या भौतिक अथवा आध्यात्मिक लाभ के वशीभूत होकर नहीं करता। विशुद्ध भक्ति का यह पहला लक्षण है। *अन्याभिलाषिता शून्यम्*। भक्ति द्वारा उसे किसी इच्छा की पूर्ति नहीं करनी होती। ऐसी भक्ति पुरुषोत्तम के अतिरिक्त अन्य किसी के निमित्त नहीं होती। कभी-कभी छद्म-भक्त अनेक देवताओं के प्रति यह सोचकर भक्ति प्रदर्शित करते हैं कि देवताओं के ये रूप भगवान् के समरूप हैं। किन्तु यहाँ इसका विशेष रूप से उल्लेख है कि भक्ति केवल भगवान् नारायण, विष्णु या कृष्ण के निमित्त होती है, अन्य किसी के लिए नहीं।

अव्यवहिता का अर्थ है ''बिना विश्राम के।'' शुद्ध भक्त को बिना विश्राम के चौबीसों घंटे भगवान् की सेवा मे लगे रहना चाहिए; उसका जीवन ऐसा ढल जाता है कि उसका प्रत्येक क्षण भगवान् की किसी न किसी प्रकार की भक्ति में बीतता है। *अव्यवहिता* का दूसरा अर्थ यह है कि भक्त तथा भगवान् के स्वार्थ एक ही स्तर पर होते हैं। भक्त का स्वार्थ परमेश्वर की इच्छापूर्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। भगवान् के प्रति ऐसी ऐच्छिक सेवा दिव्य होती है और प्रकृति के गुणों द्वारा कभी कलुषित नहीं होती। ये शुद्ध भक्ति के लक्षण हैं और शुद्ध भक्ति प्रकृति के सारे कल्मषों से मुक्त होती है।

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

सालोक्य—समान लोक में निवास; सार्ष्टि—समान ऐश्वर्य वाला; सामीप्य—व्यक्तिगत पार्षद होना; सारूप्य—समान शारीरिक रूप वाला; एकत्वम्—तादात्म्य; अपि—भी; उत—यहाँ तक कि; दीयमानम्—प्रदान किये जाने पर; न—नहीं; गृह्णन्ति—स्वीकार करते हैं; विना—रहित; मत्—मेरी; सेवनम्—भक्ति; जनाः—शुद्ध भक्त।

शुद्ध भक्त सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य या एकत्व में से किसी प्रकार का मोक्ष स्वीकार नहीं करते, भले ही ये भगवान् द्वारा क्यों न दिये जा रहे हों।

तात्पर्य : भगवान् चैतन्य हमें शिक्षा देते हैं कि किस प्रकार भगवान् के प्रति स्वत:स्फूर्त प्रेम के साथ भक्ति करनी चाहिए। *शिक्षाष्टक* में वे भगवान् से प्रार्थना करते हैं, "हे प्रभु! मैं आपसे न तो कोई सम्पत्ति चाहता हूँ, न ही मैं सुन्दर पत्नी चाहता हूँ और न अनेक अनुयायी चाहता हूँ। मैं आपसे इतना ही चाहता हूँ कि जन्म-जन्मान्तर आपके चरणकमलों का शुद्ध भक्त बना ही रहूँ।" भगवान् चैतन्य की स्तुतियों एवं *श्रीमद्भागवत* के कथनों में साम्य है। चैतन्य महाप्रभु प्रार्थना करते हैं "जन्म-जन्मान्तर" जो इस बात का सूचक है कि शुद्ध भक्त जन्म तथा मृत्यु की समाप्ति भी नहीं चाहता। योगी तथा यादृच्छिक दार्शनिक जन्म तथा मृत्यु की प्रक्रिया का अन्त चाहते हैं, किन्तु शुद्ध भक्त तो इस भौतिक जगत में रहकर भक्ति करना चाहता है।

यहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि शुद्ध भक्त *एकत्व* अर्थात् भगवान् से तदाकार नहीं चाहता जैसाकि निर्विशेषवादी, मन:चिन्तक तथा ध्यानकर्ता कामना करते रहते हैं। परमेश्वर के साथ एक होना शुद्ध भक्त को स्वप्न में भी नहीं सूझता। कभी-कभी वह भगवान् की सेवा करने के उद्देश्य से वैकुण्ठलोक जाना स्वीकार कर लेता है, किन्तु वह ब्रह्मतेज में लीन होने का मन में विचार तक नहीं लाता, क्योंकि इसे वह नरक से भी निकृष्ट मानता है। ऐसे एकत्व अर्थात् ब्रह्मतेज में लीन होने को *कैवल्य* कहते हैं, किन्तु *कैवल्य* से प्राप्त सुख शुद्ध भक्त के लिए नारकीय है। भक्त भगवान् की सेवा करने के लिए इतना इच्छुक रहता है कि उसके लिए पाँचों प्रकार के मोक्ष कोई महत्त्व नहीं रखते। यदि कोई भगवान् की शुद्ध प्रेमा-भक्ति में संलग्न है, तो यह माना जाता है कि उसने पाँचों प्रकार के मोक्ष पहले ही प्राप्त कर लिए हैं।

जब भक्त वैकुण्ठलोक जाता है, तो उसे चार प्रकार की सुविधाएँ प्राप्त होती हैं। इनमें से एक है *सालोक्य* अर्थात् भगवान् के ही लोक में वास करना। भगवान् अपने विभिन्न पूर्ण-अंशों में असंख्य वैकुण्ठलोकों में निवास करते हैं जिनमें कृष्णलोक प्रमुख है। जिस प्रकार भौतिक ब्रह्माण्ड के भीतर सूर्यलोक मुख्य लोक है उसी तरह वैकुण्ठलोकों में कृष्णलोक प्रमुख है। कृष्णलोक से भगवान् कृष्ण का शारीरिक तेज दिव्यलोक तथा भौतिक जगत में फैलता है, किन्तु भौतिक जगत में यह पदार्थ से ढका रहता है। दिव्यलोक में असंख्य वैकुण्ठलोक हैं और इनमें से प्रत्येक के अधिष्ठाता देव भी भगवान् ही हैं। भक्त को वैकुण्ठ में भगवान् के साथ रहने के लिए भेज दिया जाता है।

सार्ष्टि मोक्ष में भक्त का ऐश्वर्य भगवान् के ऐश्वर्य के तुल्य होता है। *सामीप्य* का अर्थ है भगवान् का साक्षात् पार्षद होना। *सारूप्य* मोक्ष में भक्त का स्वरूप केवल दो-तीन लक्षणों को छोड़कर भगवान् जैसा ही होता है। उदाहरणार्थ, श्रीवत्स के द्वारा भगवान् अपने भक्त से पृथक् हैं।

शुद्ध भक्त इन पाँच प्रकार के मोक्षों को प्रदान किये जाने पर भी स्वीकार नहीं करता। वह भौतिक लाभों की कामना नहीं करता, क्योंकि आध्यात्मिक लाभों की तुलना में ये नगण्य होते हैं। जब प्रह्लाद महाराज को भौतिक लाभ प्रदान किया जा रहा था, तो वे बोले, "हे प्रभु! मैं देख चुका हूँ कि मेरे पिता को सभी प्रकार के भौतिक लाभ प्राप्त थे, यहाँ तक कि देवता भी उनके ऐश्वर्य से भयभीत रहते थे, फिर भी आपने एक क्षण में उनके जीवन का तथा उनकी सारी सम्पन्नता का अन्त कर दिया।" भक्त के लिए भौतिक या आध्यात्मिक सम्पन्नता कोई महत्त्व नहीं रखती। उसकी एकमात्र आकांक्षा भगवान् की सेवा करने की होती है। यही सर्वोच्च सुख है।

स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥ १४॥

शब्दार्थ

सः—यह; एव—निस्सन्देह; भक्ति-योग—भक्ति; आख्यः—नामक; आत्यन्तिकः—सर्वोच्च पद; उदाहृतः—कहा गया; येन—जिससे; अतिव्रज्य—लाँघ कर; त्रि-गुणम्—प्रकृति के तीनों गुण; मत्-भावाय—मेरे दिव्य पद को; उपपद्यते—प्राप्त करता है।

जैसा कि मैं बता चुका हूँ, भक्ति का उच्च पद प्राप्त करके मनुष्य प्रकृति के तीनों गुणों के प्रभाव को लाँघ सकता है और दिव्य पद पर स्थित हो सकता है, जिस तरह भगवान् हैं।

तात्पर्य : निर्विशेषवादी चिन्तकों के अग्रणी माने जाने वाले श्रीपाद शंकराचार्य ने *भगवद्गीता* की अपनी टीका के प्रारम्भ में स्वीकार किया कि भगवान् नारायण भौतिक सृष्टि से परे हैं; उन्हें छोड़कर प्रत्येक वस्तु भौतिक सृष्टि के भीतर है। वैदिक साहित्य में भी इसी की पुष्टि हुई है कि सृष्टि के पूर्व केवल नारायण थे—तब न तो ब्रह्मा थे, न शिव। केवल नारायण, या पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु या कृष्ण सदैव भौतिक सृष्टि के प्रभाव के परे दिव्य पद में रहते हैं।

भगवान् की स्थिति को सतो, रजो तथा तमो गुण प्रभावित नहीं कर पाते इसीलिए वे *निर्गुण* (भौतिक गुणों के सभी प्रभावों से मुक्त) कहलाते हैं। यहाँ पर इसी तथ्य की पुष्टि भगवान् कपिल द्वारा दी गई है—जो शुद्ध भक्ति में स्थित है, वह भगवान् के ही समान दिव्य पद पर स्थित है। जिस प्रकार भगवान् प्रकृति गुणों के प्रभाव से अप्रभावित रहते हैं उसी तरह उनके शुद्ध भक्त भी हैं। जो प्रकृतिक के तीन गुणों से प्रभावित नहीं होता वह मुक्त जीव या 'ब्रह्मभूत' कहलाता है। *ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा* मुक्ति की अवस्था है। *अहं ब्रह्मास्मि*—"मैं यह शरीर नहीं हूँ"—यह कथन उस व्यक्ति पर लागू होता है, जो निरन्तर कृष्ण की भक्ति में लगा रहता है और इस तरह दिव्य अवस्था में रहता है। वह प्रकृति के तीन गुणों के प्रभाव से ऊपर रहता है।

यह तो निर्विशेषवादियों की भ्रान्त धारणा है कि मनुष्य ईश्वर या ब्रह्मा के किसी काल्पनिक रूप की पूजा कर सकता है और अन्त में ब्रह्मतेज में लीन हो जाता है। निस्सन्देह, परमेश्वर के शारीरिक (ब्रह्म) तेज में लीन होना भी मोक्ष है, जैसाकि पिछले श्लोक में कहा गया है। *एकत्व* भी मोक्ष है, किन्तु कोई भी भक्त इस प्रकार के मोक्ष को अंगीकार नहीं करता, क्योंकि ज्योंही कोई भक्ति में स्थित होता है उसे तुरन्त एकात्म प्राप्त हो जाता है। भक्त के लिए ऐसा

एकात्म, जो निर्गुण मोक्ष का प्रतिफल है, पहले से प्राप्त रहता है, उसे इसके लिए अलग से प्रयत्न नहीं करना होता। यहाँ पर स्पष्ट कहा गया है कि शुद्ध भक्ति से ही मनुष्य भगवान् के समान हो जाता है।

निषेवितेनानिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा ।
क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

निषेवितेन—की गई; **अनिमित्तेन**—फल की आकांक्षा के बिना, निष्काम भाव से; **स्व-धर्मेण**—अपने नियत कार्यों से; **महीयसा**—महिमायुक्त; **क्रिया-योगेन**—भक्ति सम्बन्धी कार्यों के द्वारा; **शस्तेन**—शुभ; **न**—बिना; **अतिहिंस्रेण**—अत्यधिक हिंसा से; **नित्यशः**—नियमित रूप से।

भक्त को अपने नियत कार्यों को सम्पन्न करना चाहिए, जो यशस्वी हों और बिना किसी भौतिक लाभ के हों। उसे अधिक हिंसा किये बिना अपने भक्ति कार्य नियमित रूप से करने चाहिए।

तात्पर्य : मनुष्य को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र वर्णों के अनुसार अपने नियत कर्म करने होते हैं। *भगवद्गीता* में भी मानव समाज के चार विभिन्न वर्णों के नियत कर्मों का वर्णन हुआ है। ब्राह्मणों के कर्म हैं इन्द्रियों को वश में करना तथा सरल, स्वच्छ एवं विद्वान भक्त बनना। क्षत्रियों में शासन की प्रवृत्ति होती है, वे युद्ध-भूमि में डरते नहीं और दानशील होते हैं। वैश्य अथवा व्यापारी वर्ग व्यापार करते हैं, गायों की रक्षा करते हैं और कृषि उपज में विकास करते रहते हैं। शूद्र अथवा श्रमिक वर्ग उच्चतर जातियों की सेवा करते हैं, क्योंकि वे स्वयं अधिक बुद्धिमान नहीं होते।

जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है—*स्वकर्मणा तम् अभ्यर्च्य*—हर अवस्था में मनुष्य अपने-अपने नियत कर्म करता हुआ भगवान् की सेवा कर सकता है। ऐसा नहीं है कि केवल ब्राह्मण ही परमेश्वर की सेवा कर सकता है और शूद्र नहीं। कोई भी अपने गुरु अथवा भगवान् के प्रतिनिधि के निर्देशन में अपने-अपने निर्धारित कर्मों को करता हुआ भगवान् की सेवा कर सकता है। किसी को यह नहीं समझना चाहिए कि उसके कर्म निम्न हैं। ब्राह्मण अपनी बुद्धि के प्रयोग से तथा क्षत्रिय अपनी सैन्य चातुरी से भगवान् की सेवा कर सकता है जैसी कि

अर्जुन ने कृष्ण की सेवा की। अर्जुन योद्धा था, उसके पास वेदान्त या कोई बौद्धिक ग्रंथ पढ़ने के लिए समय नहीं था। व्रजधाम की अंगनाएँ वैश्य जाति में उत्पन्न थीं और वे गायों की रक्षा तथा कृषि-कर्म में लगी रहती थीं। कृष्ण के धर्मपिता नन्द महाराज तथा उनके सहकर्मी सभी वैश्य थे। वे थोड़े भी शिक्षित नहीं थे, किन्तु वे कृष्ण को प्रेम द्वारा तथा प्रत्येक वस्तु उन्हें ही अर्पित करके उनकी सेवा करते थे। इसी प्रकार ऐसे कई उदाहरण हैं जहाँ चण्डाल तक कृष्ण की सेवा करते थे। यही नहीं, विदुर मुनि भी शूद्र समझे जाते थे, क्योंकि इनकी माँ शूद्र थीं। किन्तु उनमें कोई अन्तर नहीं माना जाता था, क्योंकि *भगवद्गीता* में भगवान् की घोषणा है कि जो कोई भी भक्ति में लगा रहता है, वह नि:संशय दिव्य पद को प्राप्त होता है। हर एक व्यक्ति का कर्म महत्त्वपूर्ण है यदि वह निष्काम भाव से भगवान् की भक्ति के लिए किया जाय। ऐसी प्रेमा-भक्ति अकारण, निर्बाध तथा इच्छानुसार सम्पन्न होनी चाहिए। कृष्ण प्रेय हैं और हर एक को उनकी सेवा करनी चाहिए। यही शुद्ध भक्ति है।

इस श्लोक का अन्य महत्त्वपूर्ण पद है *नातिहिंस्रेण* (कम से कम हिंसा या जीवन की बलि करते हुए)। यदि भक्त को हिंसा का सहारा लेना ही पड़े तो आवश्यकता से अधिक नहीं होनी चाहिए। कभी-कभी हमसे यह प्रश्न पूछा जाता है, ‘‘आप मांस न खाने की बात करते हैं, किन्तु आप शाक खाते हैं। क्या यह हिंसा नहीं है?’’ इसका उत्तर यह है कि शाकाहार हिंसा है और शाकाहारी भी अन्य जीवों की हिंसा कर रहे हैं, क्योंकि शाक में भी जीवन है। अभक्त लोग भोजन के लिए गाएँ, बकरे तथा न जाने कितने पशुओं को मार रहे हैं और एक शाकाहारी भक्त भी वध करता है। किन्तु यहाँ इसका विशेष रूप से उल्लेख है कि प्रत्येक जीव को जीवित रहने के लिए दूसरे जीवों का वध करना पड़ता है, यह प्रकृति का नियम है। *जीवो जीवस्य जीवनम्*—एक जीव दूसरे जीव का जीवन है। किन्तु मनुष्य को चाहिए कि जितनी आवश्यक हो उतनी ही हिंसा करे।

मनुष्य को ऐसी कोई वस्तु नहीं खानी चाहिए जो भगवान् को अर्पित न हुई हो। *यज्ञ शिष्टाशिन: सन्त:*—यज्ञ अर्थात् भगवान् को अर्पित खाद्य पदार्थ खाने से मनुष्य समस्त पापों से

मुक्त हो जाता है। अतः भक्त केवल प्रसाद अथवा भगवान् को अर्पित भोजन ही ग्रहण करता है और कृष्ण कहते हैं कि जब भक्त उन पर भक्तिपूर्वक वनस्पति जगत से प्राप्त खाद्य सामग्री अर्पित करता है, तो वे उसे खाते हैं। भक्त कृष्ण को वनस्पतियों (शाक) से तैयार किया गया भोजन अर्पित करे। यदि भगवान् पशुओं से तैयार खाद्य सामग्री चाहते होते तो भक्त उसी की भेंट चढ़ाता। किन्तु भगवान् ने ऐसा न करने का आदेश दिया है।

हमें हिंसा करनी ही पड़ती है, यह एक प्राकृतिक नियम है। किन्तु हमें अंधाधुंध हिंसा नहीं करनी चाहिए, केवल उतनी ही करनी चाहिए जितने का भगवान् से आदेश प्राप्त है। अर्जुन वध-कार्य में लगा रहा और यद्यपि वध करना हिंसा है, तो भी उसने कृष्ण की आज्ञा से शत्रुओं का वध किया। इसी प्रकार यदि हम आवश्यकतानुसार भगवान् के आदेश से हिंसा करते हैं, तो वह *नातिहिंसा* कहलाती है। हम हिंसा से बच नहीं सकते, किन्तु हमें उतनी ही हिंसा करनी चाहिए जितने का आदेश भगवान् से प्राप्त है।

मद्धिष्ण्यदर्शनस्पर्शपूजास्तुत्यभिवन्दनैः ।
भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनासङ्गमेन च ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

मत्—मेरी; धिष्ण्य—मूर्ति, प्रतिमा; दर्शन—देखना; स्पर्श—छूना; पूजा—पूजा करना; स्तुति—प्रार्थना; अभिवन्दनैः—नमस्कार या वन्दना द्वारा; भूतेषु—समस्त जीवों में; मत्—मेरा; भावनया—विचार से; सत्त्वेन—सतोगुण से; असङ्गमेन—विरक्ति से; च—तथा।.

भक्त को नियमित रूप से मन्दिर में मेरी प्रतिमा का दर्शन करना, मेरे चरणकमल स्पर्श करना तथा पूजन सामग्री एवं प्रार्थना अर्पित करना चाहिए। उसे सात्त्विक भाव से वैराग्य दृष्टि रखनी चाहिए और प्रत्येक जीव को आध्यात्मिक दृष्टि से देखना चाहिए।

तात्पर्य : भक्त के कार्यों में से एक है मन्दिर-पूजा। नवदीक्षितों के लिए इसकी संस्तुति की जाती है, किन्तु जो उन्नत हो चुके हैं, उन्हें मन्दिर-पूजा के प्रति आनाकानी नहीं करनी चाहिए। मन्दिर में भगवान् की उपस्थिति एक नवदीक्षित तथा एक उन्नत भक्त के लिए एकसी नहीं होती। एक नवदीक्षित *अर्चाविग्रह* (भगवान् की प्रतिमा) को मूल भगवान् से भिन्न मानता है, वह इसे देवता (विग्रह) के रूप में भगवान् का स्वरूप मानता है। किन्तु उन्नत भक्त मन्दिर

के विग्रह (देवता) को परमेश्वर करके मानता है। वह भगवान् के मूल रूप तथा मन्दिर के भगवान् के *अर्चाविग्रह* या प्रतिमा में कोई अन्तर नहीं देखता। यह उस भक्त की दृष्टि है, जिसकी भक्ति 'भाव' अथवा भगवद्प्रेम की सर्वोच्च अवस्था में होती है, जबकि नवदीक्षित के लिए मन्दिर पूजा एक नैत्यिक कर्म के रूप में होती है।

मन्दिर में विग्रह-पूजा भक्त के कर्मों में से है। वह नियमित रूप से सुन्दर ढंग से सज्जित विग्रह का दर्शन करने जाता है और अत्यन्त आदर के साथ भगवान् के चरणकमलों का स्पर्श करके, फल, फूल तथा स्तुति जैसी पूजा की भेंट चढ़ाता है। साथ ही, भक्त को चाहिए कि भक्ति में अग्रसर होने के लिए वह अन्य जीवों को आध्यात्मिक स्फुलिंग या परमेश्वर के अंश रूप में देखे। भक्त को प्रत्येक जीव का आदर करना चाहिए, क्योंकि वह भगवान् से सम्बन्धित है। चूँकि सभी जीव मूलत: भगवान् के अंश होने के कारण उनसे सम्बन्धित हैं, अत: भक्त को चाहिए कि उन्हें समान आध्यात्मिक स्तर पर समझे। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, पंडित की दृष्टि में एक विद्वान ब्राह्मण, शूद्र, शूकर, कुत्ता तथा गाय एक समान होते हैं। वह उनके शरीर को नहीं देखता, क्योंकि शरीर तो बाह्य वस्त्र के समान है। वह ब्राह्मण या गाय या शूकर के वेश को नहीं देखता। वह तो उस आध्यात्मिक स्फुलिंग को देखता है, जो भगवान् का अंश-रूप है। यदि भक्त प्रत्येक जीव को भगवान् के अंश-रूप में नहीं देखता तो वह *प्रकृति-भक्त* कहलाता है। वह पूर्णतया आध्यात्मिक पद पर स्थित नहीं होता, अपितु वह भक्ति की निम्नतम अवस्था में होता है। किन्तु वह प्रतिमा (विग्रह) के प्रति समस्त आदर प्रदर्शित करता है।

भक्त यद्यपि समस्त जीवों को आध्यात्मिक स्तर पर देखता है, किन्तु वह हर एक की संगति करने के लिए लालायित नहीं रहता। चूँकि शेर भगवान् का अंश है, अत: इसका अर्थ यह भी नहीं है कि हम उसे गले लगा लें। हमें केवल ऐसे ही व्यक्तियों की संगति करनी चाहिए जिनमें कृष्णभक्ति हो।

हमें ऐसे व्यक्तियों को मित्र बनाना चाहिए और उनका सम्मान करना चाहिए जिन्होंने

कृष्णभक्ति विकसित कर ली है। अन्य जीव असंदिग्ध रूप से परमेश्वर के अंश हैं, किन्तु चूँकि उनकी चेतना अब भी प्रच्छन्न है और कृष्णभक्ति विकसित नहीं हुई, अतः हमें उनकी संगति छोड़ देनी चाहिए। विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर ने कहा है कि वैष्णव होते हुए भी यदि किसी का चरित्र अच्छा न हो तो उसकी संगति से बचना चाहिए, भले ही वैष्णव के रूप में वह पूजित क्यों न हो। जो भी विष्णु को भगवान् के रूप में स्वीकार करता है, वह वैष्णव है, किन्तु वैष्णव से आशा की जाती है कि वह अपने में देवताओं के सद्गुण विकसित करे।

श्रीधर स्वामी ने *सत्त्वेन* शब्द का सही अर्थ *धैर्येण* का पर्यायवाची माना है। मनुष्य को अत्यन्त धैर्यपूर्वक भक्ति करनी चाहिए। उसे भक्ति करनी इसलिए नहीं छोड़ देनी चाहिए कि उसके एक या दो प्रयास असफल रहे हैं। उसे प्रयास करते रहना चाहिए। श्रीरूप गोस्वमी भी पुष्टि करते हैं कि मनुष्य में उमंग होनी चाहिए और अत्यन्त धैर्य तथा विश्वास के साथ भक्ति करनी चाहिए। यह विश्वास उत्पन्न करने के लिए कि, ''कृष्ण मुझे अवश्य स्वीकार करेंगे, क्योंकि मैं भक्ति कर रहा हूँ'' धैर्य अनिवार्य है। सफलता के लिए आवश्यक है कि विधि-विधानों के अनुसार सेवा की जाय।

महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया ।
मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च ॥ १७॥

शब्दार्थ

महताम्—महापुरुषों को; बहु-मानेन—अत्यन्त सम्मान से; दीनानाम्—गरीबों को; अनुकम्पया—दया से; मैत्र्या—मित्रता से; च—तथा; एव—निश्चय ही; आत्म-तुल्येषु—अपने समान व्यक्तियों को; यमेन—इन्द्रियों को वश में करके; नियमेन—नियमपूर्वक; च—तथा।

भक्त को चाहिए कि गुरु तथा आचार्यों को सर्वोच्च सम्मान प्रदान करते हुए भक्ति करे। उसे दीनों पर दयालु होना चाहिए और अपनी बराबरी के व्यक्तियों से मित्रता करनी चाहिए, किन्तु उसके सारे कार्यकलाप नियमपूर्वक तथा इन्द्रिय-संयम के साथ सम्पन्न होने चाहिए।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* के तेरहवें अध्याय में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि मनुष्य को भक्ति करनी चाहिए और *आचार्य* के गुरु बना करके ही आध्यात्मिक ज्ञान के पथ पर अग्रसर होना

चाहिए। *आचार्योपासनम्*—मनुष्य को आचार्य की उपासना करनी चाहिए, क्योंकि *आचार्य* वह गुरु है, जो वस्तुओं को यथा-रूप जानता है। गुरु को कृष्ण से चली आ रही शिष्य-परम्परा में होना चाहिए। किसी गुरु का पूर्ववर्ती उसका गुरु होता है, जो उसका परम गुरु और उसका भी गुरु होता है और ये सब आचार्यों की शिष्य-परम्परा बनाते हैं।

यहाँ संस्तुति की गई है कि सभी आचार्यों का सर्वाधिक सम्मान किया जाय। कहा गया है : *गुरुषु नर मतिः*—जिसका अर्थ है गुरुओं को सामान्य व्यक्ति की भाँति सोचते हुए। किसी वैष्णव या भक्त को किसी जाति विशेष का सोचना, आचार्यों को सामान्य व्यक्ति के रूप में सोचना या मन्दिर की प्रतिमा को पत्थर, काष्ठ या धातु की बनी समझना निन्दनीय है। *नियमेन*—मान्य विधियों के अनुसार आचार्यों का सर्वाधिक सम्मान किया जाना चाहिए। भक्त को दीनों पर दयालु होना चाहिए। दीन का अर्थ ऐसा व्यक्ति नहीं जो भौतिक रूप से गरीबी के शिकार हैं। भक्ति की दृष्टि से वह व्यक्ति दीन है, जो कृष्णभक्त नहीं है। कोई व्यक्ति कितना ही धनवान क्यों न हो, किन्तु यदि वह कृष्णभक्त नहीं है, तो वह दीन (गरीब) है। दूसरी ओर रूप गोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी जैसे अनेक आचार्य हुए हैं, जो वृक्षों के नीचे रात-रात भर रहते थे। ऊपर से लगता था कि वे गरीबी से ग्रस्त हैं, किन्तु उनकी रचनाओं से पता चलता है कि आध्यात्मिक जीवन में वे कितने सम्पन्न महापुरुष थे।

जिनमें आध्यात्मिक ज्ञान का अभाव है, भक्त उन दीन आत्माओं को कृष्णभक्ति का मार्ग दिखलाकर दया दिखाते हैं। भक्त का यह कर्तव्य है। उसे ऐसे व्यक्तियों से मित्रता करनी चाहिए जो उसके समतुल्य हों या जिनका ज्ञान उसी के समान हो। भक्त को सामान्य व्यक्तियों के साथ मित्रता करने का कोई प्रयोजन नहीं है। उसे अन्य भक्तों के साथ मित्रता करनी चाहिए जिससे परस्पर विचार-विनिमय करके वे एक दूसरे को आध्यात्मिक बोध के पथ पर अग्रसर करा सकें। यह *इष्टगोष्ठी* कहलाती है।

भगवद्गीता में *बोधयन्तः परस्परम्*—"परस्पर विचार-विमर्श" करने का निर्देश है। सामान्यतः शुद्ध भक्त अपना अमूल्य समय भगवान् कृष्ण या भगवान् चैतन्य का कीर्तन करने

तथा उनके कार्यकलापों के विषय में परस्पर विचार-विमर्श करने में लगाते हैं। ऐसी असंख्य कृतियाँ हैं—यथा *पुराण, महाभारत, भागवत, भगवद्गीता, उपनिषद्* जिनमें भक्तों के विचार-विमर्श के अनुकूल असंख्य विषय हैं। पारस्परिक रुचियों तथा समझ के आधार पर व्यक्तियों के बीच मैत्री सुदृढ़ होनी चाहिए। ऐसे व्यक्ति 'स्वजाति' कहलाते हैं। भक्त को ऐसे व्यक्ति से बचना चाहिए जिसका चरित्र मानक विवेके अनुसार स्थिर न हो। भले ही वह वैष्णव या कृष्ण का भक्त क्यों न हो, यदि उसका चरित्र ठीक नहीं है, तो उससे दूर रहना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि धीरे-धीरे इन्द्रियों तथा मन पर संयम प्राप्त करे, विधि-विधानों का दृढ़ता से पालन करे तथा समान स्तर वाले व्यक्तियों से मित्रता स्थापित करे।

आध्यात्मिकानुश्रवणान्नामसङ्कीर्तनाच्च मे ।
आर्जवेनार्यसङ्गेन निरहङ्क्रियया तथा ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

आध्यात्मिक—आध्यात्मिक बातें; अनुश्रवणात्—सुनने से; नाम-सङ्कीर्तनात्—पवित्र नाम के संकीर्तन से; च—तथा; मे—मेरा; आर्जवेन—सरल आचरण से; आर्य-सङ्गेन—साधु पुरुषों की संगति से; निरहङ्क्रियया—अहंकार रहित; तथा—इस प्रकार।

भक्त को चाहिए कि आध्यात्मिक बात ही सुने और अपने समय का सदुपयोग भगवान् के पवित्र नाम के जप में करे। उसका आचरण सुस्पष्ट एवं सरल हो। किन्तु वह ईर्ष्यालु न हो। वह सबों के प्रति मैत्रीपूर्ण होते हुए भी ऐसे व्यक्तियों की संगति से बचे जो आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत नहीं हैं।

तात्पर्य : आध्यात्मिक बोध में अग्रसर होने के लिए आध्यात्मिक ज्ञान के विषय में प्रामाणिक स्रोतों से श्रवण करना होता है। आध्यात्मिक जीवन की वास्तविकता समझने के लिए कठोर अनुष्ठानों का पालन करना चाहिए और इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखना चाहिए। नियन्त्रण प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि मनुष्य अहिंसक तथा सत्यनिष्ठ बने, चोरी न करे, विषयी जीवन से दूर रहे और जीवन-निर्वाह के लिए कम से कम आवश्यक वस्तुएँ ही अपने पास रखे। वह न तो आवश्यकता से अधिक भोजन करे, न आवश्यकता से अधिक साज-सामान एकत्र करे; सामान्य व्यक्तियों से वृथा वार्तालाप न करे और बिना किसी उद्देश्य के

विधि-विधानों को न अपनाए। केवल उन्हीं विधि-विधानों का पालन करे जिनसे वास्तविक प्रगति हो सके।

भगवद्गीता में अठरह गुण बताये गये हैं जिनमें से सादगी या सरलता भी एक है। मनुष्य को न तो गर्व करना चाहिए, न अन्यों से व्यर्थ का सम्मान कराना चाहिए। उसे अहिंसक होना चाहिए। *अमानित्वम् अदम्भित्वम् अहिंसा*। मनुष्य को अत्यन्त सहिष्णु तथा सरल होना चाहिए, उसे गुरु बनाना चाहिए और इन्द्रियों पर संयम रखना चाहिए। इसका उल्लेख यहाँ पर और साथ ही *भगवद्गीता* में भी हुआ है। मनुष्य को प्रामाणिक स्रोतों से श्रवण करना चाहिए कि आध्यात्मिक जीवन में किस तरह प्रगति की जाय। ऐसे उपदेश आचार्य से ग्रहण करने चाहिए और उनको आत्मसात् करना चाहिए।

यहाँ पर *नाम-संकीर्तनाच्च* का विशेष उल्लेख है—अर्थात् मनुष्य को भगवान् के पवित्र नाम—हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे—का कीर्तन या तो अकेले या मिलकर करना चाहिए। भगवान् चैतन्य ने आध्यात्मिक उन्नति के मूलभूत सिद्धान्त के रूप में भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन पर विशेष बल दिया है। एक अन्य शब्द यहाँ प्रयुक्त हुआ है—*आर्जवेन* जिसका अर्थ है "बिना कूटनीति के।" भक्त को अपने हितार्थ कोई योजना नहीं बनानी चाहिए। निस्सन्देह, धर्मोपदेशकों को भगवान् के ध्येय को पूरा करने के लिए कभी-कभी समुचित मार्ग-निर्देशन के अन्तर्गत कुछ योजनाएँ बनानी पड़ती हैं, किन्तु जहाँ तक अपना हित है उसके सम्बन्ध में भक्त को सदैव कूटनीति से रहित होना चाहिए और उसे ऐसे व्यक्तियों से दूर रहना चाहिए जो आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर पा रहे। एक अन्य *आर्य* भी शब्द प्रयुक्त हुआ है। *आर्य* वे व्यक्ति हैं, जो कृष्णचेतना में प्रगति करने के साथ ही भौतिक समृद्धि में भी उन्नति करते हैं। *आर्य* तथा *अनार्य* या सुर तथा असुर के बीच जो अन्तर है, वह उनकी आध्यात्मिक प्रगति के स्तरों में अन्तर है। ऐसे व्यक्तियों की संगति वर्जित है, जो आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नत नहीं हैं। भगवान् चैतन्य का उपदेश था—*असत्-सङ्ग-त्याग*—जो लोग नाशवान वस्तुओं के प्रति अनुरक्त हैं ऐसे व्यक्तियों का त्याग करो। *असत्* वह

है, जो भौतिक दृष्टि से अनुरक्त है, जो भगवान् का भक्त नहीं है तथा स्त्रियों या भोग्य वस्तुओं के प्रति अत्यधिक आसक्त रहता है। वैष्णव दर्शन के अनुसार ऐसा व्यक्ति अप्रिय पात्र है।

भक्त को अपनी कमाई पर गर्व नहीं होना चाहिए। भक्त के लक्षण हैं उसकी विनयशीलता तथा सहिष्णुता। भले ही वह आध्यात्मिक दृष्टि से कितना ही उन्नत क्यों न हो वह सदैव विनीत तथा सहिष्णु बना रहता है, जैसाकि कविराज गोस्वामी तथा अन्य वैष्णवों ने अपने उदाहरणों द्वारा हमें शिक्षा दी है। चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा थी कि मनुष्य को रास्ते की घास से भी अधिक विनीत तथा वृक्ष से भी अधिक सहिष्णु होना चाहिए। उसे न तो गर्व करना चाहिए न झूठे ही फूला रहना चाहिए। इस प्रकार वह आध्यात्मिक जीवन में निश्चित रूप से प्रगति कर सकेगा।

मद्धर्मणो गुणैरेतैः परिसंशुद्ध आशयः ।
पुरुषस्याञ्जसाभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

मत्-धर्मणः—मेरे भक्त के; गुणैः—गुणों से; एतैः—इन; परिसंशुद्धः—पूर्णतया शुद्ध; आशयः—चेतना; पुरुषस्य—पुरुष की; अञ्जसा—तुरन्त; अभ्येति—निकट आता है; श्रुत—सुनकर; मात्र—केवल; गुणम्—गुण; हि—निश्चय ही; माम्—मुझको।

जब मनुष्य इन समस्त लक्षणों से पूर्णतया सम्पन्न होता है और इस तरह उसकी चेतना पूरी तरह शुद्ध हो लेती है, तो वह मेरे नाम या मेरे दिव्य गुण के श्रवण मात्र से तुरन्त ही आकर्षित होने लगता है।

तात्पर्य : इस उपदेश के प्रारम्भ में ही भगवान् ने अपनी माता को बताया कि *मद्गुण-श्रुति-मात्रेण*—मेरे (भगवान्) नाम, गुण, रूप आदि के श्रवण मात्र से मनुष्य अनुरक्त हो जाता है। विभिन्न शास्त्रों द्वारा अनुमोदित विधि-विधानों का पालन करने से मनुष्य समस्त दिव्य गुणों में पूर्ण योग्य बन जाता है। भौतिक संगति के कारण हमने जो कुछ अनावश्यक गुण विकसित कर लिये हैं उस कल्मष से उपर्युक्त प्रक्रिया का पालन करके हम छूट सकते हैं। पिछले श्लोक में वर्णित दिव्य गुणों को विकसित करने के लिए हमें इन कल्मषग्रस्त गुणों से मुक्त होना चाहिए।

यथा वातरथो घ्राणमावृङ्क्ते गन्ध आशयात् ।
एवं योगरतं चेत आत्मानमविकारि यत् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; वात—वायु का; रथः—रथ; घ्राणम्—सूँघने की इन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय; आवृङ्क्ते —ग्रहण करती है; गन्धः—सुगन्धि; आशयात्—स्रोत से; एवम्—उसी तरह; योग-रतम्—भक्ति में लगी हुई; चेतः—चेतना; आत्मानम्—परमात्मा; अविकारि—अपरिवर्तनशील; यत्—जो।

जिस प्रकार वायु का रथ गन्ध को उसके स्रोत से ले जाता है और तुरन्त घ्राणेन्द्रिय तक पहुँचाता है, उसी प्रकार जो व्यक्ति निरन्तर कृष्णभावनाभावित भक्ति में संलग्न रहता है, वह सर्वव्यापी परमात्मा को प्राप्त कर लेता है।

तात्पर्य : जिस तरह उद्यान के फूलों की सुगन्ध को ले जाने वाला समीर तुरन्त घ्राणेन्द्रिय तक पहुँच जाता है उसी प्रकार भक्ति-भाव से सिक्त-चेतना (भावना) परमेश्वर के दिव्य अस्तित्व तक पहुँच जाती है, क्योंकि भगवान् अपने परमात्मा रूप में सर्वत्र, प्रत्येक जीव के हृदय में विद्यमान रहते हैं। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि भगवान् क्षेत्रज्ञ हैं, इस शरीर के भीतर विद्यमान हैं, किन्तु एक ही समय वे अन्य शरीर में भी रहते हैं। चूँकि अमुक आत्मा किसी अमुक शरीर में ही विद्यान रहता है, अतः जब अन्य आत्मा उसका साथ नहीं देता तो वह बदल जाता है। किन्तु परमात्मा समान रूप से सर्वत्र विद्यमान रहता है। व्यष्टि आत्माएँ विरोधी हो सकती हैं; किन्तु हर शरीर में विद्यमान होने के कारण परमात्मा अविकारी अर्थात् अपरिवर्तनशील कहलाता है। जब व्यष्टि आत्मा कृष्णभक्ति से सिक्त हो जाता है तभी वह परमात्मा की उपस्थिति को समझ सकता है। *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है कि कृष्णभावनामृत से पूरित व्यक्ति ही भगवान् को या तो परमात्मा या परम पुरुष के रूप में जान सकता है(*भक्त्या माम् अभिजानाति*)।

अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; सर्वेषु—समस्त; भूतेषु—जीवों में; भूत-आत्मा—सभी जीवों में परमात्मा; अवस्थितः—स्थित; सदा—सदैव; तम्—उस (परमात्मा) को; अवज्ञाय—अनादर करके; माम्—मुझको; मर्त्यः—मरणशील व्यक्ति; कुरुते—करता है; अर्चा—विग्रह की पूजा का; विडम्बनम्—अनुकरण, स्वाँग।

मैं प्रत्येक जीव में परमात्मा रूप में स्थित हूँ। यदि कोई 'परमात्मा सर्वत्र है' इसकी उपेक्षा या अवमानना करके अपने आपको मन्दिर के विग्रह-पूजन में लगाता है, तो यह केवल स्वाँग या दिखावा है।

तात्पर्य : विशुद्ध चेतनामय या कृष्णभावनाभावित होने पर मनुष्य को सर्वत्र कृष्ण ही कृष्ण दिखते हैं। अतः यदि कोई मन्दिर में विग्रह-पूजा में ही लगा रहता है और अन्य जीवों को मान्यता नहीं देता तो वह भक्ति की निम्नतम अवस्था में होता है। जो मन्दिर में विग्रह-पूजन करता है और अन्यों के प्रति सम्मान नहीं दिखाता वह भौतिक भक्त है और भक्ति की निम्नतम अवस्था में स्थित होता है। भक्त को चाहिए कि प्रत्येक वस्तु को कृष्ण से सम्बन्धित समझे और उसी भाव से हर प्राणी की सेवा करे। हर वस्तु की सेवा करने का अर्थ है भगवान् की सेवा में हर वस्तु को लगाना। यदि कोई व्यक्ति अबोध है और कृष्ण से अपने सम्बन्ध को नहीं जानता, तो किसी सिद्ध भक्त को चाहिए कि उसे कृष्ण की सेवा में लगावे। ऐसा सिद्ध भक्त न केवल जीवों को, अपितु हर वस्तु को कृष्ण की सेवा में लगा सकता है।

यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः ॥ २२॥

शब्दार्थ

यः—जो; माम्—मुझको; सर्वेषु—सभी; भूतेषु—जीवों में; सन्तम्—उपस्थित होकर; आत्मानम्—परमात्मा; ईश्वरम्—परमात्मा को; हित्वा—उपेक्षा करके; अर्चाम्—विग्रह को; भजते—पूजता है; मौढ्यात्—अज्ञानवश; भस्मनि—राख में; एव—केवल; जुहोति—आहुति डालता है; सः—वह।

जो मन्दिरों में भगवान् के विग्रह का पूजन करता है, किन्तु यह नहीं जानता कि परमात्मा रूप में परमेश्वर प्रत्येक जीव के हृदय में आसीन हैं, वह अज्ञानी है और उसकी तुलना उस व्यक्ति से की जाती है, जो राख में आहुतियाँ डालता है।

तात्पर्य : यहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि भगवान् परमात्मा के पूर्ण अंश रूप में समस्त जीवों में विद्यमान हैं। जीवों के कुल मिलाकर ८४,००,००० विभिन्न प्रकार के शरीर हैं और पूर्ण

पुरुषोत्तम भगवान् प्रत्येक शरीर में व्यष्टि आत्मा तथा परमात्मा के रूप में निवास कर रहा है। चूँकि प्रत्येक आत्मा परमेश्वर का अंश है, इस तरह भगवान् हर शरीर में वास करता है और परमात्मा के रूप में वह साक्षी के रूप में भी रहता है। दोनों ही तरह से प्रत्येक जीव में ईश्वर की उपस्थिति अनिवार्य है। अत: जो लोग अपने को किसी धार्मिक सम्प्रदाय से सम्बद्ध मानते हैं, किन्तु हर जीव में तथा अन्यत्र सर्वत्र भगवान् के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, वे तमो गुण के आधीन हैं।

यदि भगवान् की सर्वव्यापकता के इस प्राथमिक ज्ञान के बिना कोई मन्दिर, मसजिद या गिरजाघर के अनुष्ठानों में ही अपने आपको लगाता है, तो यह उसी तरह है जैसे कोई अग्नि में घी की आहुति न डालकर राख में डाल रहा हो। किन्तु यदि वैदिक मन्त्र तथा अन्य सारी परिस्थितियाँ अनुकूल हों और घी को राख में डाल दिया जाय तो ऐसा यज्ञ व्यर्थ होता है। दूसरे शब्दों में, भक्त को चाहिए कि किसी जीव की अवहेलना न करे। भक्त को जानना चाहिए कि जीव कितना ही तुच्छ क्यों न हो, भले ही वह चींटी हो, सबमें ईश्वर उपस्थित है, अत: प्रत्येक जीव के साथ सदय व्यवहार होना चाहिए और उसके साथ किसी प्रकार की हिंसा नहीं की जानी चाहिए। आधुनिक सभ्य समाज में नियमित कसाईघर चल रहे हैं और वे विशेष प्रकार के धार्मिक सिद्धान्त से समर्थित हैं। किन्तु प्रत्येक जीव में ईश्वर की उपस्थिति को जाने बिना मानव सभ्यता की कोई भी तथाकथित प्रगति, चाहे आध्यात्मिक हो या भौतिक, तामसी समझी जाएगी।

द्विषत: परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिन: ।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मन: शान्तिमृच्छति ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

द्विषत:—द्वेष रखने वाले का; पर-काये—दूसरे के शरीर के प्रति; माम्—मुझको; मानिन:—आदर करते हुए; भिन्न-दर्शिन:—पृथकतवादी का; भूतेषु—जीवों के प्रति; बद्ध-वैरस्य—शत्रुता रखने वाले का; न—नहीं; मन:—मन; शान्तिम्—शान्ति; ऋच्छति—प्राप्त करता है।

जो मुझे श्रद्धा अर्पित करता है, किन्तु अन्य जीवों से ईर्ष्यालु है, वह इस कारण पृथकतावादी है। उसे अन्य जीवों के प्रति शत्रुतापूर्ण व्यवहार करने के कारण कभी भी

मन की शान्ति प्राप्त नहीं हो पाती।

तात्पर्य : इस श्लोक में *भूतेषु बद्धवैरस्य* (अन्यों के प्रति शत्रुतापूर्ण) तथा *द्विषत: परकाये* (अन्य के शरीर से ईष्यालु) ये दो वाक्यांश महत्त्वपूर्ण हैं। जो व्यक्ति अन्यों के प्रति द्वेष-भाव या शत्रुता रखता है, वह कभी सुखी नहीं रहता। अत: भक्त की दृष्टि परिपूर्ण होनी चाहिए। उसे शारीरिक उपाधियों की अनदेखी करते हुए परमेश्वर के अंश तथा परमात्मा के रूप में साक्षात् भगवान् की उपस्थिति देखनी चाहिए। यही शुद्ध भक्त की दृष्टि है। भक्त द्वारा किसी जीव की बाह्य शारीरिक अभिव्यक्ति की उपेक्षा की जाती है।

यहाँ यह व्यक्त हुआ है कि भगवान् बद्धजीवों के उद्धार के लिए सदैव उत्सुक रहते हैं। भक्तों से अपेक्षा की जाती है कि वे भगवान् के उद्देश्य या उनकी इच्छा को ऐसे बद्धजीवों तक ले जावेंगे और उन्हें कृष्णभावनामृत से आलोकित करेंगे। इस प्रकार वे दिव्य भौतिक जीवन तक उठ सकते हैं और उनके जीवन का उद्देश्य सफल हो सकता है। निस्सन्देह जो जीव मनुष्य से निम्न हैं, उनके लिए ऐसा सम्भव नहीं है, किन्तु मानव समाज में तो यह सम्भव है कि सभी प्राणियों को कृष्णभक्ति से आलोकित किया जा सके। यहाँ तक कि मनुष्य से निम्न प्राणी भी अन्य विधियों से कृष्णभक्ति तक ऊपर उठाये जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, चैतन्य महाप्रभुके परम भक्त शिवानन्द सेन ने एक कुत्ते का प्रसाद खिलाकर उद्धार किया। यहाँ तक कि अज्ञानी जन-समुदाय तथा पशुओं को प्रसाद वितरित करने से उनको कृष्णभक्ति तक उठने का अवसर मिल जाता है। वास्तव में ऐसा हुआ कि वही कुत्ता, जब चैतन्य महाप्रभु को पुरी में मिला तो उसे भवबन्धन से मुक्ति मिल गई।

यहाँ यह विशेष रूप से उल्लेख है कि भक्त को सभी प्रकार की हिंसा (जीवहिंसा) से मुक्त होना चाहिए। भगवान् चैतन्य ने संस्तुति की है कि भक्त को किसी जीव की हिंसा नहीं करनी चाहिए। कभी-कभी यह प्रश्न उठाया जाता है कि चूँकि वनस्पतियों में भी जीवन है और भक्तगण शाक खाते हैं, तो क्या यह हिंसा नहीं है? किन्तु पहले तो यह कि वृक्ष से कुछ पत्तियाँ, टहनियाँ या फल तोड़ने लेने से वह वृक्ष मरता नहीं। इसके अतिरिक्त, जीवहिंसा का

अर्थ है कि चूँकि प्रत्येक जीव को अपने पूर्वकर्म के अनुसार विशेष शरीर धारण करना पड़ता है, भले ही प्रत्येक जीव शाश्वत हो, अत: उसे अपने क्रमिक विकास से विचलित नहीं होना चाहिए। भक्त को भक्ति सम्बन्धी सारे नियम यथावत् पूरे करने होते हैं। उसे यह जानना चाहिए कि कोई जीव कितना ही क्षुद्र क्यों न हो उसके भीतर भगवान् उपस्थित हैं। भक्त को भगवान् की इस सर्वव्यापकता को समझना चाहिए।

अहमुच्चावचैर्द्रव्यै: क्रिययोत्पन्नयानघे ।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिन: ॥ २४॥

शब्दार्थ

अहम्—मैं; उच्च-अवचै:—विविध; द्रव्यै:—सामग्री से; क्रियया—धार्मिक अनुष्ठानों से; उत्पन्नया—सम्पन्न; अनघे—हे निष्कलुष माता; न—नहीं; एव—निश्चय ही; तुष्ये—प्रसन्न होता हूँ; अर्चित:—पूजित; अर्चायाम्—प्रतिमा रूप में; भूत-ग्राम—अन्य जीवों को; अवमानिन:—अनादर करने वालों से।

हे माते, भले ही कोई पुरुष सही अनुष्ठानों तथा सामग्री द्वारा मेरी पूजा करता हो, किन्तु यदि वह समस्त प्राणियों में मेरी उपस्थिति से अनजान रहता है, तो वह मन्दिर में मेरे विग्रह की कितनी ही पूजा क्यों न करे, मैं उससे कभी प्रसन्न नहीं होता।

तात्पर्य : मन्दिर में अर्चा विग्रह पूजन के ६४ विविध प्रकार हैं। विग्रह को अनेक वस्तुएँ अर्पित की जाती हैं—कुछ बहुमूल्य तो कुछ कम मूल्यवान। *भगवद्गीता* में बताया गया है : ''यदि कोई भक्त मुझे एक छोटा-सा फूल, एक पत्ती, कुछ जल या छोटा-सा फल भी अर्पित करता है, तो मैं उसे स्वीकार कर लेता हूँ।'' वास्तविक प्रयोजन तो ईश्वर के प्रति प्रेमा-भक्ति को प्रकट करना है, भेंटें तो गौण हैं। यदि भगवान् के प्रति प्रेमा-भक्ति उत्पन्न नहीं हो पाई और यदि बिना वास्तविक भक्ति के भोजन, फल तथा फूल अर्पित किये जाते हैं, तो इस भेंट को भगवान् स्वीकार नहीं करते। हम भगवान् को घूस नहीं दे सकते। वे इतने महान् हैं कि हमारी घूस का कोई महत्त्व नहीं रहता। न ही उनके पास अभाव है। वे स्वयं पूर्ण हैं, तो फिर हम उन्हें क्या भेंट कर सकते हैं? हर वस्तु उन्हीं के द्वारा उत्पन्न है। हम केवल अपना प्रेम तथा कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

यह कृतज्ञता तथा ईश-प्रेम उस शुद्ध भक्त द्वारा प्रकट होता है, जो यह जानता है कि

भगवान् हर प्राणी में निवास करते हैं। इस तरह, मन्दिर-पूजा में प्रसाद वितरण सम्मिलित है। ऐसा नहीं है कि कोई अपने निजी घर में मन्दिर बना ले, भगवान् को कुछ अर्पित करे और तब खाये। हाँ, भगवान् के साथ अपना सम्बन्ध समझे बिना भोजन बनाकर खाने की अपेक्षा ऐसा करना उत्तम है। जो लोग ऐसा करते हैं, वे पशुओं के तुल्य हैं। किन्तु जो भक्त ज्ञान के उच्चस्तर तक पहुँचना चाहता है उसे जानना चाहिए कि भगवान् प्रत्येक जीव में विद्यमान हैं और जैसाकि पिछले श्लोक में बताया गया है उसे अन्य प्राणियों पर कृपालु होना चाहिए। भक्त को भगवान् की पूजा करनी चाहिए, अपने समधर्मियों के साथ मित्र-भाव रखना चाहिए और अज्ञानियों के प्रति दयालु होना चाहिए। अज्ञानी जीवों के प्रति कृपा दिखाने के लिए प्रसाद वितरण करना चाहिए। जो लोग भगवान् पर भेंट चढ़ाते हैं उनके लिए आवश्यक है कि अज्ञानी जन-समूह को प्रसाद बाँटें।

असली प्रेम तथा भक्ति भगवान् को ग्राह्य है। यदि मनुष्य भूखा न हो और उसको अनेक बहुमूल्य भोज्य पदार्थ भेंट किये जाँय तो यह उसके लिए व्यर्थ है। इसी प्रकार भले ही हम विग्रह को अनेक बहुमूल्य सामग्री अर्पित करें, किन्तु यदि हममें भक्तिभाव नहीं है और भगवान् की सर्वत्र उपस्थिति का बोध नहीं है, तो हममें भक्ति का अभाव है, ऐसी अज्ञान की अवस्था में हम भगवान् को स्वीकार्य कोई वस्तु भेंट नहीं कर सकते।

अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत् ।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम् ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

अर्चा-आदौ—अर्चा पूजा इत्यादि; अर्चयेत्—पूजा करे; तावत्—तब तक; ईश्वरम्—भगवान् को; माम्—मुझ; स्व—अपना; कर्म—निर्दिष्ट कर्तव्य; कृत्—किये हुए; यावत्—जब तक; न—नहीं; वेद—अनुभव करता है; स्व-हृदि—अपने हृदय में; सर्व-भूतेषु—समस्त जीवों में; अवस्थितम्—स्थित।

मनुष्य को चाहिए कि अपने निर्दिष्ट कर्म करते हुए भगवान् के अर्चाविग्रह का तब तक पूजन करता रहे, जब तक उसे अपने हृदय में तथा साथ ही साथ अन्य जीवों के हृदय में मेरी उपस्थिति का अनुभव न हो जाय।

तात्पर्य : यहाँ पर उन लोगों के लिए भी भगवान् के विग्रह (प्रतिमा) की पूजा करने की

आज्ञा दी गई है, जो केवल अपने निर्दिष्ट कर्म में लगे रहते हैं। विभिन्न वर्ण के लोगों यथा—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्ण के लोगों तथा विभिन्न आश्रमों यथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास के लिए कुछ निर्दिष्ट कर्म हैं। मनुष्य को तब तक भगवान् के विग्रह (प्रतिमा) की पूजा करनी चाहिए जब तक वह प्रत्येक जीव में भगवान् की उपस्थिति का अनुभव न करने लगे। दूसरे शब्दों में, उस मनुष्य को अपने कर्तव्यों को सही-सही निबाहने में ही सन्तुष्ट रहना चाहिए। उसे अपना तथा अन्य जीवों का भगवान् के साथ जो सम्बन्ध है, उसे अनुभव करना चाहिए। यदि वह इतना नहीं समझता, तो यह समझना चाहिए कि भले ही वह अपना कर्म ठीक से निबाह रहा हो, किन्तु वह व्यर्थ ही श्रम कर रहा है।

इस श्लोक में *स्व-कर्म-कृत्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *स्व-कर्म-कृत्* का अर्थ है ऐसा व्यक्ति जो अपने निर्दिष्ट कर्मों को पूरा करता है। ऐसा नहीं है कि जो भगवान् का भक्त बन जाता है अथवा भक्ति करता है, उसे अपने निर्दिष्ट कर्म बन्द कर देने चाहिए। किसी को भक्ति के बहाने आलसी नहीं बनना चाहिए। उसे निर्दिष्ट कर्मों के अनुसार भक्ति करनी है। *स्व-कर्म-कृत्* बताता है कि मनुष्य को बिना लापरवाही के अपने निर्दिष्ट कर्म करने चाहिए।

आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम् ।
तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्बणम् ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

आत्मनः—स्व का, अपना; च—तथा; परस्य—दूसरे का; अपि—भी; यः—जो कोई; करोति—भेदभाव रखता है; अन्तरा—मध्य में; उदरम्—शरीर के; तस्य—उसका; भिन्न-दृशः—भेद-दर्शी; मृत्युः—मृत्यु के रूप में; विदधे—मैं उत्पन्न करता हूँ; भयम्—डर; उल्बणम्—महान।

जो भी अपने में तथा अन्य जीवों के बीच भिन्न दृष्टिकोण के कारण तनिक भी भेदभाव करता है उसके लिए मैं मृत्यु की प्रज्ज्वलित अग्नि के समान महान् भय उत्पन्न करता हूँ।

तात्पर्य : समस्त प्रकार के जीवों के बीच अनेक शारीरिक भिन्नताएं हैं, किन्तु भक्त को इस आधार पर एक जीव तथा दूसरे जीव में भेदभाव नहीं करना चाहिए। भक्त का दृष्टिकोण तो यह होना चाहिए कि समस्त प्रकार के जीवों में आत्मा तथा परमात्मा दोनों ही समान रूप से

उपस्थित हैं।

अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ॥ २७॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; माम्—मुझको; सर्व-भूतेषु—समस्त प्राणियों में; भूत-आत्मानम्—सभी जीवों में आत्म (स्व); कृत-आलयम्—निवास करते हुए; अर्हयेत्—पूजा करनी चाहिए; दान-मानाभ्याम्—दान तथा आदर से; मैत्र्या—मित्रता से; अभिन्नेन—समान; चक्षुषा—देखने से।

अतः दान तथा सत्कार के साथ ही साथ मैत्रीपूर्ण आचरण से तथा सबों पर एक सी दृष्टि रखते हुए मनुष्य को मेरी पूजा करनी चाहिए, क्योंकि मैं सभी प्राणियों में उनके आत्मा के रूप में निवास करता हूँ।

तात्पर्य : लोगों की यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि चूँकि परमात्मा हर प्राणी के हृदय में वास करता है इसलिए व्यष्टि आत्मा उसके तुल्य है। परमात्मा तथा आत्मा की समानता निर्विशेषवादियों के मन की उपज है। यहाँ स्पष्ट उल्लेख है कि आत्मा को भगवान् के सम्बन्ध में ही मान्यता देनी चाहिए। आत्मा की पूजा विधि यहाँ इस प्रकार बताई गई है कि या तो दान देकर, या पृथकतावादी दृष्टिकोण से मुक्त होकर मैत्रीभाव से आचरण किया जाय। कभी-कभी निर्विशेषवादी बेचारे आत्मा को दरिद्र-नारायण के रूप में मान लेते हैं—जिसका अर्थ है भगवान् नारायण दरिद्र (गरीब) हो गये हैं। यह विरोधाभास है। भगवान् सर्व ऐश्वर्यों से परिपूर्ण हैं। वे किसी दरिद्र आत्मा के साथ अथवा पशु तक के साथ रहना स्वीकार कर लेंगे, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे दरिद्र हो गये हैं।

यहाँ पर संस्कृत के दो शब्द आये हैं—*मान* तथा *दान*। *मान* श्रेष्ठ का सूचक है और *दान* उसको बताता है, जो दान देता है या किसी कनिष्ट पर दया दिखाता है। हम भगवान् को ऐसा निम्न व्यक्ति नहीं मान सकते जो हमारे दान पर आश्रित हो। जब हम दान देते हैं, तो सदैव अपने से निम्न भौतिक या आर्थिक अवस्था वाले को देते हैं। दान कभी धनी व्यक्ति को नहीं दिया जाता। इसी प्रकार अप्रत्यक्षत: बताया गया है कि मान या आदर श्रेष्ठ को दिया जाता है, जबकि दान अपने से निम्न को।

अपने कर्मफलों के अनुसार जीवात्मा धनी या निर्धन हो सकता है, किन्तु परमेश्वर अपरिवर्तित रहा आता है, वह तो सदैव छह ऐश्वर्यों से सम्पन्न रहता है। जीवों के प्रति समभाव रखने का अर्थ यह नहीं है कि उस जीव के साथ भगवान् जैसा व्यवहार बरता जाय। दया तथा मैत्री का अर्थ यह नहीं है कि किसी को झूठे ही परमेश्वर के उच्च पद तक उठा दिया जाय। किन्तु साथ ही हमें इस भ्रम में भी नहीं पड़ना चाहिए कि शूकर जैसे पशु के हृदय में स्थित परमात्मा तथा एक विद्वान ब्राह्मण के हृदय में स्थित परमात्मा भिन्न-भिन्न हैं। सभी जीवों में स्थित परमात्मा एक ही परमेश्वर है। अपनी सर्वशक्तिमत्ता से भगवान् कहीं भी रह सकता है और कहीं भी वैकुण्ठलोक जैसी परिस्थिति उत्पन्न कर सकता है। यही उनकी अचिन्त्य शक्ति है। अत: जब नारायण एक शूकर के हृदय में वास करता है, तो वह शूकर-नारायण नहीं बन जाता। वह शूकर की देह से अप्रभावित रहकर सदैव नारायण बना रहता है।

जीवा: श्रेष्ठा ह्यजीवानां तत: प्राणभृत: शुभे ।
तत: सचित्ता: प्रवरास्ततश्चेन्द्रियवृत्तय: ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

जीवा:—जीव; श्रेष्ठा:—अधिक अच्छे; हि—निस्सन्देह; अजीवानाम्—अचेतन पदार्थों से; तत:—उनकी अपेक्षा; प्राण-भृत:—जीवन के लक्षणों से युक्त जीव; शुभे—हे कल्याणी माता; तत:—उनकी अपेक्षा; स-चित्ता:—विकसित चेतना से युक्त जीव; प्रवरा:—श्रेष्ठ; तत:—उनसे; च—तथा; इन्द्रिय-वृत्तय:—अनुभूति से युक्त।

हे कल्याणी माँ, जीवात्माएँ अचेतन पदार्थों से श्रेष्ठ हैं और इनमें से जो जीवन के लक्षणों से युक्त हैं, वे श्रेष्ठ हैं। इनकी अपेक्षा विकसित चेतना वाले पशु श्रेष्ठ हैं और इनसे भी श्रेष्ठ वे हैं जिनमें इन्द्रिय अनुभूति विकसित हो चुकी है।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बताया गया है कि जीव का सम्मान दान तथा मैत्री भाव से होना चाहिए। इस श्लोक में तथा अगले श्लोकों में विभिन्न कोटि के जीवों का वर्णन किया गया है, जिससे लोग जान सकें कि कब दान देना चाहिए और कब मित्रता का व्यवहार करना चाहिए। उदाहरणार्थ, शेर एक जीव है, भगवान् का अंश है और परमेश्वर इसके हृदय में परमात्मा रूप में निवास करते हैं। किन्तु क्या इसका अर्थ यह होता है कि हम शेर से मित्रता का व्यवहार करें? कदापि नहीं। हमें उसके साथ भिन्न प्रकार से व्यवहार करना होगा, हमें

प्रसाद के रूप में दान देना होगा। जंगल में रहने वाले अनेक सन्तजन शेरों के साथ मैत्रीभाव नहीं बरतते, किन्तु वे उन्हें प्रसाद देते हैं। शेर आते हैं, प्रसाद लेते हैं और चले जाते हैं, ठीक वैसे ही जैसे कुत्ते करते हैं। वैदिक प्रथा के अनुसार कुत्ते को घर के भीतर नहीं जाने देते। अपनी गन्दगी के कारण कुत्तों तथा बिल्लियों को भले घरों में घुसने नहीं दिया जाता, किन्तु उन्हें ऐसी शिक्षा दी जाती है कि वे घर के बाहर खड़े रहें। दयालु गृहस्वामी घर से प्रसाद लाकर इन्हें देता है, वे खाते हैं और चले जाते हैं। हमें निम्न जीवों के प्रति सदयता का व्यवहार करना चाहिए, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि हम उनके साथ उसी तरह व्यवहार करें जैसा अन्य मनुष्यों के साथ करते हैं। समता का भाव तो रहना चाहिए किन्तु यह व्यवहार करने में भेद होना चाहिए। हमारा भेदभाव किस प्रकार का हो इसका उल्लेख अगले छह श्लोकों में दिया गया है।

पहला वर्गीकरण पत्थर जैसे निर्जीव एवं सजीव प्राणी में किया जाता है। कभी-कभी पत्थर में भी मानो जीवन प्रकट हो जाता है। अनुभव से यह ज्ञात है कि कुछ पहाड़ियाँ तथा पर्वत वृद्धि करते हैं। इसका कारण पत्थर के भीतर आत्मा की उपस्थिति है। जीवित अवस्था का दूसरा लक्षण है चेतना का विकास और इससे भी आगे अनुभूति का विकास। *महाभारत* के 'मोक्षधर्म पर्व' में यह बताया गया है कि वृक्षों में अनुभूति होती है—वे देख तथा सूँघ सकते हैं। हमें अनुभव है कि वृक्ष देख सकते हैं। कभी-कभी विशाल वृक्ष अपनी वृद्धि के दौरान व्यवधानों से बचने के लिए अपनी वृद्धि की दिशा बदल देते हैं। इसका अर्थ हुआ कि वृक्ष देख सकता है और *महाभारत* के अनुसार तो वृक्ष सूँघ भी सकता है। इससे अनुभूति का विकास संकेत मिलता है।

तत्रापि स्पर्शवेदिभ्यः प्रवरा रसवेदिनः ।
तेभ्यो गन्धविदः श्रेष्ठास्ततः शब्दविदो वराः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

तत्र—उनमें से; अपि—इसके अतिरिक्त; स्पर्श-वेदिभ्यः—स्पर्श का अनुभव करने वालों से; प्रवराः—श्रेष्ठ; रस-वेदिनः—स्वाद का अनुभव करने वाले; तेभ्यः—उनसे; गन्ध-विदः—गन्ध अनुभव करने वाले; श्रेष्ठाः—श्रेष्ठ; ततः—उनसे भी; शब्द-विदः—ध्वनि का अनुभव करने वाले; वराः—श्रेष्ठ।

इन्द्रियवृत्ति (अनुभूति) से युक्त जीवों में से जिन्होंने स्वाद की अनुभूति विकसित कर ली है वे स्पर्श अनुभूति विकसित किये हुए जीवों से श्रेष्ठ हैं। इनसे भी श्रेष्ठ वे हैं जिन्होंने गंध की अनुभूति विकसति कर ली है और इनसे भी श्रेष्ठ वे हैं जिनकी श्रवणेन्द्रिय विकसित है।

तात्पर्य : यद्यपि पाश्चात्य विद्वान मानते हैं कि विकासवाद की स्थापना सर्वप्रथम डार्विन द्वारा हुई, किन्तु नृतत्व विज्ञान कोई नया नहीं है। विकास-प्रक्रिया आज से ५,००० वर्ष पूर्व लिखे गये *भागवत* के पहले से ज्ञात थी। कपिल मुनि के वचन प्रमाण हैं। जो सृष्टि के प्रारम्भ में विद्यमान थे। यह ज्ञान वैदिक काल से चला आ रहा है और सारा विकास क्रम वैदिक साहित्य में प्राप्त है; क्रमिक विकास का सिद्धान्त या नृतत्व विज्ञानविदों के लिए नया नहीं है।

यहाँ यह कहा गया है कि वृक्षों में भी विकास-प्रक्रिया होती है, विभिन्न प्रकार के वृक्षों में स्पर्श का अनुभव पाया जाता है। यह कहा गया है कि वृक्षों की अपेक्षा मछलियाँ श्रेष्ठ हैं, क्योंकि उनमें स्वादेन्द्रिय विकसित है। मछलियों से श्रेष्ठ मधुमक्खियाँ हैं, जिनमें घ्राणशक्ति विकसित है और इनसे भी श्रेष्ठ सर्प है जिनमें सुनने की शक्ति विकसित है। रात्रि के अंधकार में सर्प मेंढक की लुभावनी ध्वनि सुनकर अपना भोज्य प्राप्त कर सकता है। साँप समझ सकता है कि, ''वहाँ पर मेंढक है'' और केवल उसकी ध्वनि से वह उसे पकड़ लेता है। यह उदाहरण कभी-कभी उन व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त होता है, जो मृत्यु के लिए शब्दोच्चार करते हैं। मनुष्य के मेंढक जैसी जीभ हो सकती है, जो शब्द उत्पन्न कर सकती है, किन्तु ऐसी ध्वनि तो मृत्यु का आवाहन बनती है। जीभ तथा ध्वनि का सर्वोत्तम उपयोग यही है कि हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे महामन्त्र का कीर्तन किया जाय। इससे क्रूर काल के हाथों से रक्षा हो सकेगी।

रूपभेदविदस्तत्र ततश्चोभयतोदतः ।
तेषां बहुपदाः श्रेष्ठाश्चतुष्पादस्ततो द्विपात् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

रूप-भेद—रूप में अन्तर; विद:—जानने वाले; तत्र—उनकी उपेक्षा; तत:—उनसे; च—तथा; उभयत:—दोनों जबड़ों में; दत:—दाँतों से युक्त; तेषाम्—उनमें से; बहु-पदा:—अनेक पाँवों वाले; श्रेष्ठा:—श्रेष्ठ; चतु:-पाद:—चौपाया; तत:—उनसे; द्वि-पात्—दो पाँव वाले।

ध्वनि सुन सकने वाले प्राणियों की अपेक्षा वे श्रेष्ठ हैं, जो एक रूप तथा दूसरे रूप में अन्तर जान लेते हैं। इनसे भी अच्छे वे हैं जिनके ऊपरी तथा निचले दाँत होते हैं और इनसे भी श्रेष्ठ अनेक पाँव वाले जीव हैं। इनसे भी श्रेष्ठ चौपाये और चौपाये से भी बढ़कर मनुष्य हैं।

तात्पर्य : कहा जाता है कि कौवे जैसे कुछ पक्षी एक-दूसरे रूप में अन्तर कर सकते हैं। बर्रे जैसे जीव जिनके पैर होते हैं, वे बिना पैर वाले वृक्षों तथा वनस्पतियों से श्रेष्ठ हैं। चार पैर वाले पशु अनेक पैर वाले जीवों से श्रेष्ठ हैं। पशुओं से भी श्रेष्ठ मनुष्य हैं, क्योंकि उसके केवल दो पैर होते हैं।

ततो वर्णाश्च चत्वारस्तेषां ब्राह्मण उत्तम: ।
ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्तत: ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तत:—उनमें से; वर्णा:—वर्ग; च—तथा; चत्वार:—चार; तेषाम्—उनमें से; ब्राह्मण:—ब्राह्मण; उत्तम:—सर्वश्रेष्ठ; ब्राह्मणेषु—ब्राह्मणों में से; अपि—भी; वेद—वेदों का; ज्ञ:—जानने वाला; हि—निश्चय ही; अर्थ—प्रयोजन; ज्ञ:—जानने वाला; अभ्यधिक:—श्रेष्ठ; तत:—उससे।

मनुष्यों में वह समाज सर्वोत्तम है, जो गुण तथा कर्म के अनुसार विभाजित किया गया है और जिस समाज में बुद्धिमान जनों को ब्राह्मण पद दिया जाता है, वह सर्वोत्तम समाज है। ब्राह्मणों में से जिसने वेदों का अध्ययन किया है, वही सर्वोत्तम है और वेदज्ञ ब्राह्मणों में भी वेद के वास्तविक तात्पर्य को जानने वाला सर्वोत्तम है।

तात्पर्य : गुण तथा कर्म के अनुसार मानव समाज का चार भागों में वर्गीकरण अत्यन्त वैज्ञानिक है। अब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र प्रणाली भारत में वर्तमान जाति प्रथा के कारण दूषित हो चुकी है। किन्तु ऐसा लगता है कि यह प्रणाली दीर्घकाल से चली आ रही है, क्योंकि इसका उल्लेख *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* में हुआ है। जब तक मानव समाज में बुद्धिमान वर्ग, योद्धा वर्ग, व्यापारी वर्ग तथा श्रमिक वर्ग के रूप में सामाजिक विभाजन नहीं

होगा जब तक सदैव ऊहापोह बना रहेगा कि कौन किस उद्देश्य से कर्म कर रहा है। जो व्यक्ति परम सत्य को समझ सके वह ब्राह्मण है और जब ऐसा ब्राह्मण वेदज्ञ होता है, तो वह वेदों का प्रयोजन समझ सकता है। वेदों का प्रयोजन पूर्ण ब्रह्म को समझना है। जो व्यक्ति परम सत्य को तीन अवस्थाओं में—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के रूप में समझता है और जो भगवान् का अर्थ समझता है, वह ब्राह्मणों में श्रेष्ठ अथवा वैष्णव माना जाता है।

अर्थज्ञात्संशयच्छेत्ता ततः श्रेयान्स्वकर्मकृत् ।
मुक्तसङ्गस्ततो भूयानदोग्धा धर्ममात्मनः ॥ ३२॥

शब्दार्थ

अर्थ-ज्ञात्—वेदों का तात्पर्य समझने वाले की अपेक्षा; संशय—सन्देह; छेत्ता—छिन्न करने वाला; ततः—उसकी उपेक्षा; श्रेयान्—श्रेष्ठ; स्व-कर्म—अपने निर्धारित कार्य; कृत्—करने वाला; मुक्त-सङ्गः—भौतिक संगति से मुक्त; ततः—उससे; भूयान्—श्रेष्ठ; अदोग्धा—न करने वाला; धर्मम्—भक्ति; आत्मनः—अपने लिए।

वेदों का तात्पर्य समझने वाले ब्राह्मण की अपेक्षा वह मनुष्य श्रेष्ठ है, जो सारे संशयों का निवारण कर दे और उससे भी श्रेष्ठ वह है, जो ब्राह्मण-नियमों का दृढ़तापूर्वक पालन करता है। उससे भी श्रेष्ठ है समस्त भौतिक कल्मष से मुक्त व्यक्ति। इससे भी श्रेष्ठ वह शुद्ध भक्त है, जो निष्काम भाव से भक्ति करता है।

तात्पर्य : *अर्थज्ञ ब्राह्मण* उस व्यक्ति का सूचक है, जिसने परम सत्य का सम्यक् विश्लेषणात्मक अध्ययन किया हो और जो यह जानता हो कि परम सत्य का अनुभव तीन भिन्न अवस्थाओं में—ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के रूप में किया जाता है। यदि किसी के पास इस ज्ञान के अतिरिक्त परम सत्य के विषय में उठाए जाने वाले संशयों को दूर करने की क्षमता हो तो वह श्रेष्ठ माना जाता है। ऐसा भी हो सकता है कि विद्वान ब्राह्मण-वैष्णव समस्त संशयों को दूर कर दे, किन्तु यदि वह वैष्णव नियमों को नहीं मानता तो वह उच्च पद पर आसीन नहीं रहता। उसे समस्त संशयों को दूर करने तथा साथ ही समस्त ब्राह्मण-लक्षणों से युक्त होना चाहिए। ऐसा व्यक्ति, जो वैदिक आदेशों के प्रयोजन को जानता है, जो वेदों द्वारा अनुमोदित नियमों को व्यवहार में लाता है और अपने शिष्यों को इसी विधि से शिक्षा देता है, वह आचार्य कहलाता है। आचार्य का पद ऐसा है कि वह भक्ति करता है, किन्तु जीवन में

उच्चपद प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं रखता।

वैष्णव सर्वोच्च सिद्धिप्राप्त ब्राह्मण होता है। जो वैष्णव ब्रह्मविज्ञान को जानता है, किन्तु अन्य को इस ज्ञान का उपदेश नहीं कर पाता वह निम्न अवस्था में माना जाता है। जो न केवल ब्रह्मविज्ञान को जानता है, अपितु अन्यों को उपदेश देता है, वह द्वितीय अवस्था में रहता है और जो न केवल उपदेश देता है वरन् हर वस्तु को परम सत्य में और परम सत्य को हर वस्तु में देखता है, वह सर्वोच्च श्रेणी का वैष्णव है। यहाँ उल्लेख हुआ है कि वैष्णव पहले से ब्राह्मण रहता है, निस्सन्देह वैष्णव होने पर ही ब्राह्मण की पूर्ण अवस्था प्राप्त होती है।

तस्मान्मय्यर्पिताशेषक्रियार्थात्मा निरन्तरः
मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि सन्न्यस्तकर्मणः ।
न पश्यामि परं भूतमकर्तुः समदर्शनात् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—उसकी अपेक्षा; **मयि**—मुझको; **अर्पित**—भेंट किया गया; **अशेष**—समस्त; **क्रिया**—कर्म; **अर्थ**—सम्पत्ति; **आत्मा**—जीवन, आत्मा; **निरन्तरः**—बिना रुके; **मयि**—मुझको; **अर्पित**—अर्पित; **आत्मनः**—जिसका मन; **पुंसः**—मनुष्य की अपेक्षा; **मयि**—मुझको; **सन्न्यस्त**—अर्पित; **कर्मणः**—जिसके कर्म; **न**—नहीं; **पश्यामि**—देखता हूँ; **परम्**—महानतम्; **भूतम्**—जीव को; **अकर्तुः**—स्वामित्व के बिना; **सम**—सम, वही; **दर्शनात्**—जिसकी दृष्टि।

अतः मुझे उस व्यक्ति से बड़ा कोई नहीं दिखता जो मेरे अतिरिक्त कोई अन्य रुचि नहीं रखता, जो अनवरत मुझे ही अपने समस्त कर्म तथा अपना सारा जीवन—सब कुछ अर्पित करता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में *सम-दर्शनात्* का अर्थ है कि उसका कोई पृथक् स्वार्थ नहीं होता। भक्त तथा भगवान् के स्वार्थ एक-से हैं। उदाहरणार्थ, भक्त रूप में भगवान् चैतन्य ने भी इसी दर्शन का उपदेश दिया कि कृष्ण ही पूज्य भगवान् हैं और उनके शुद्ध भक्तों का स्वार्थ (रुचि) उनका निजी स्वार्थ है।

कभी-कभी मायावादी चिन्तक अपने अल्पज्ञान के कारण *सम-दर्शनात्* शब्द की परिभाषा इस प्रकार करते हैं कि भक्त को भगवान् तथा अपने आपको एक करके देखना चाहिए। यदि कोई अपने को भगवान् मान ले तो फिर उनकी सेवा करने का प्रश्न ही नहीं उठता। जब सेवा है, तो स्वामी(सेव्य) भी होना चाहिए। सेवा के लिए तीन बातें होनी चाहिए—स्वामी (सेव्य),

सेवक तथा सेवा। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि जिसने भगवान् को सन्तुष्ट करने के लिए अपना जीवन, अपने कर्म, मन तथा आत्मा—सब कुछ अर्पित कर दिये हों उसे महापुरुष समझना चाहिए।

अकर्तुः शब्द का अर्थ है "किसी प्रकार के स्वामित्व-भाव के बिना"। हर व्यक्ति अपने कर्मों का स्वामी (कर्ता) बनना चाहता है, जिससे वह फल भोग सके। किन्तु भक्त को ऐसी इच्छा नहीं रहती, वह कर्म करता है, क्योंकि भगवान् उससे विशेष प्रकार से कर्म कराना चाहता है। उसका कोई निजी मन्तव्य नहीं रहता। जब भगवान् चैतन्य भक्ति का उपदेश देते थे, तो उनका मन्तव्य यह नहीं था कि लोग उन्हें भगवान् कृष्ण मानें; अपितु उन्होंने उपदेश दिया कि कृष्ण ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् हैं और उनकी इसी रूप में पूजा होनी चाहिए। जो भक्त भगवान् का अत्यन्त विश्वासपात्र सेवक होता है, वह अपने लिए कुछ नहीं चाहता, भगवान् की तुष्टि के लिए ही सब कुछ करता है। अतः यह स्पष्ट कहा गया है—*मयि संन्यस्तकर्मणः*—भक्त कर्म करता है, किन्तु भगवान् के लिए करता है। यह भी कहा गया है—*मय्यर्पितात्मनः*—"वह मुझे अपना मन अर्पित करता है।" ये सब भक्त के गुण हैं और इस श्लोक के अनुसार वह मनुष्यों में सर्वोपरि माना जाता है।

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहुमानयन् ।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥ ३४॥

शब्दार्थ

मनसा—मन से; एतानि—इन; भूतानि—जीवों को; प्रणमेत्—प्रणाम करे; बहु-मानयन्—आदर प्रदर्शित करते हुए; ईश्वरः—नियामक; जीव—जीवों का; कलया—परमात्मा के रूप में अपने अंश से; प्रविष्टः—प्रवेश किया है; भगवान्—श्रीभगवान्; इति—इस प्रकार।

ऐसा पूर्ण भक्त प्रत्येक जीव को प्रणाम करता है, क्योंकि उसका दृढ़ विश्वास है कि भगवान् प्रत्येक जीव के शरीर के भीतर परमात्मा या नियामक के रूप में प्रविष्ट रहते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि ऊपर कहा गया है, पूर्ण भक्त भूलकर भी कभी यह नहीं सोचता कि चूँकि प्रत्येक जीव के शरीर के भीतर परमात्मा रूप में भगवान् प्रविष्ट हैं, अतः हर जीव भगवान् हो गया है। यह मूर्खता है। मान लो कि कोई व्यक्ति कमरे में प्रविष्ट हुआ है, इसका

अर्थ यह नहीं होता कि वह कमरा वह व्यक्ति बन गया। इसी प्रकार परमेश्वर समस्त ८४,००,००० योनियों के शरीर में प्रविष्ट हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि इनमें से प्रत्येक शरीर भगवान् हो गया है। किन्तु चूँकि परमेश्वर उपस्थित है, अत: शुद्ध भक्त प्रत्येक शरीर को भगवान् का मन्दिर मान लेता है और चूँकि भक्त ऐसे हर मन्दिर को पूर्ण चेतना में रहकर प्रणाम करता है, अत: वह प्रत्येक जीव को भगवान् के परिप्रेक्ष्य में प्रणाम करता है। मायावादी चिन्तकों का यह सोचना गलत है कि निर्धन व्यक्ति (दरिद्र) के शरीर में प्रविष्ट रहने के कारण भगवान् दरिद्र-नारायण हो गये। ये नास्तिकों तथा अभक्तों के निन्दनीय वक्तव्य हैं।

भक्तियोगश्च योगश्च मया मानव्युदीरितः ।
ययोरेकतरेणैव पुरुषः पुरुषं व्रजेत् ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

भक्ति-योगः—भक्ति; **च**—तथा; **योगः**—योग; **च**—तथा; **मया**—मेरे द्वारा; **मानवि**—हे मनुपुत्री; **उदीरितः**—वर्णित; **ययोः**—जिस दो का; **एकतरेण**—किसी एक से; **एव**—अकेला; **पुरुषः**—पुरुष; **पुरुषम्**—परम पुरुष को; **व्रजेत्**—प्राप्त कर सकता है।

हे माता, हे मनुपुत्री, जो भक्त इस प्रकार से भक्ति तथा योग का साधन करता है उसे केवल भक्ति से ही परम पुरुष का धाम प्राप्त हो सकता है।

तात्पर्य : यहाँ पर भगवान् कपिलदेव ने ठीक-ठीक बताया है कि 'अष्टाङ्ग योग' इस उद्देश्य से सम्पन्न किया जाता है, जिससे भक्तियोग की पूर्ण अवस्था प्राप्त हो सके। मनुष्य को केवल आसन लगाने का अभ्यास करके तथा अपने को पूर्ण समझ कर सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। ध्यान के द्वारा उसे भक्तियोग की अवस्था प्राप्त करनी चाहिए। जैसाकि पहले कहा जा चुका है योगी को चरणतल से पाँवों, घुटनों, जाँघों से होते हुए वक्षस्थल और गले तक भगवान् विष्णु के रूप का ध्यान करना चाहिए और धीरे-धीरे उठते हुए उनके मुखमण्डल तथा आभूषणों तक पहुँचना चाहिए। निराकार में ध्यान का कोई प्रश्न नहीं रहता।

जब भगवान् के इस प्रकार विस्तृत ध्यान के बाद भगवत्प्रेम की बारी आती है, तो यही स्तर भक्तियोग का है और इस स्तर पर उसे दिव्य प्रेमवश भगवान् की वास्तविक सेवा करनी चाहिए। जो कोई योग का अभ्यास करके भक्तियोग तक पहुँचता है, वह भगवान् को उनके

दिव्य धाम में प्राप्त करता है। यहाँ पर स्पष्ट रूप से कहा गया है, *पुरुषः पुरुषं व्रजेत्*—जीव परम पुरुष के पास जाता है। गुणात्मक दृष्टि से जीव तथा भगवान् एक हैं, दोनों ही पुरुष कहलाते हैं। जीव तथा भगवान् दोनों में पुरुष के गुण होते हैं। *पुरुष* का अर्थ है 'भोक्ता' और भोग की भावना जीव तथा परमेश्वर दोनों में पाई जाती है। अन्तर इतना है कि दोनों में भोग की मात्रा बराबर नहीं होती। जीव भगवान् के तुल्य आनन्द का अनुभव नहीं कर पाता। यहाँ एक निर्धन तथा एक धनी व्यक्ति का दृष्टान्त लिया जा सकता है—दोनों में भोग की इच्छा उपस्थित है, किन्तु जब निर्धन व्यक्ति अपनी इच्छाओं को धनी व्यक्ति के साथ जोड़ देता है और जब धनी तथा निर्धन व्यक्ति में परस्पर सहयोग होता है, तो भोग समान रूप से भोगा जाता है। यह भक्तियोग जैसा है। *पुरुषः पुरुषं व्रजेत*—जब जीव भगवान् के धाम में प्रवेश करता है और उनको आनन्द प्रदान करते हुए उन्हें सहयोग पहुँचाता है, तो उसे उतना ही आनन्द या वही सुविधा प्राप्त होती है, जो भगवान् को होती है।

इसके विपरीत जब वह भगवान् की नकल करके भोग करना चाहता है, तो उसकी इच्छा माया कहलाती है और यह उसे भौतिक जगत में ला देती है। जो जीव अपने लिए ही भोग करना चाहता है और ईश्वर को कोई सहयोग नहीं देता वह भौतिकतावादी जीवन में लगा होता है। किन्तु ज्योंही वह अपना भोग पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् के साथ जोड़ देता है कि वह आध्यात्मिक जीवन बिताने लगता है। यहाँ पर एक उदाहरण दिया जा सकता है—शरीर के विभिन्न अंग स्वतन्त्र रूप से जीवन का आनन्द नहीं उठा सकते। उन्हें पूर्ण शरीर के साथ सहयोग करना चाहिए तथा पेट को भोजन देना चाहिए। ऐसा करने पर शरीर के भिन्न-भिन्न अंग सारे शरीर के सहयोग से समान रूप से भोग करते हैं। 'अचिन्त्य भेदाभेद' का यही दर्शन है—अर्थात् एकसाथ एकत्व तथा अन्तर। ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध जीव जीवन का आनन्द नहीं भोग सकता। उसे भक्तियोग के अभ्यास द्वारा अपने सारे कार्यकलाप भगवान् के साथ-साथ करने होंगे।

यहाँ यह कहा गया है कि या तो योगविधि से या भक्तियोग के द्वारा भगवान् तक पहुँचा

जा सकता है। यह संकेत करता है कि यथार्थ में योग तथा भक्तियोग में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों का लक्ष्य विष्णु है। किन्तु आधुनिक युग में एक नवीन योगपद्धति निर्मित की गई है, जो शून्य तथा निराकार को लक्ष्य बनाती है। वस्तुत: योग का अर्थ है विष्णु के स्वरूप का ध्यान। यदि प्रामाणिक निर्देश के अनुसार योगाभ्यास किया जाय तो योग तथा भक्तियोग में कोई अन्तर नहीं रह जाता।

एतद्भगवतो रूपं ब्रह्मण: परमात्मन: ।
परं प्रधानं पुरुषं दैवं कर्मविचेष्टितम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; भगवत:—भगवान् का; रूपम्—रूप; ब्रह्मण:—ब्रह्म का; परम-आत्मन:—परमात्मा का; परम्—दिव्य; प्रधानम्—प्रधान; पुरुषम्—पुरुष; दैवम्—दैवी, आध्यात्मिक; कर्म-विचेष्टितम्—जिनके कार्यकलाप।

वह पुरुष जिस तक प्रत्येक जीव को पहुँचना है, उस भगवान् का शाश्वत रूप है, जो ब्रह्म तथा परमात्मा कहलाता है। वह प्रधान दिव्य पुरुष है और उसके कार्यकलाप अध्यात्मिक हैं।

तात्पर्य : जिस पुरुष तक जीव को पहुँचना है उसे विभेदित करने के लिए समस्त जीवों में प्रमुख कहा गया है और यह निराकार ब्रह्मतेज तथा परमात्मा का अन्तिम स्वरूप है। चूँकि वह ब्रह्मतेज तथा परमात्मा का उत्पत्ति स्थान है इसलिए उसे मुख्य पुरुष कहा गया है। *कठोपनिषद्* में पुष्टि की गई है—*नित्यो नित्यानाम्*—शाश्वत जीव तो अनेक हैं, किन्तु वह मुख्य पालक है। इसकी पुष्टि भगवद्गीता में भी हुई है, जहाँ भगवान् कहते हैं—*अहं सर्वस्य प्रभव:*—"मैं हर वस्तु का मूल हूँ जिसमें ब्रह्मतेज तथा परमात्मा सम्मिलित है।" उनके कार्यकलाप दिव्य हैं, जैसी कि भगवद्गीता से पुष्टि हुई है— *जन्म कर्म च मे दिव्यम्*—भगवान् के कार्यकलाप तथा उनका प्राकट्य एवं तिरोधान सभी दिव्य हैं। इन्हें भौतिक नहीं मानना चाहिए। जो कोई इस तथ्य को समझता है कि उनके कार्यकलाप, प्राकट्य तथा तिरोधान सारे भौतिक कार्यों या भौतिक अनुभूति से परे हैं वह मुक्त हो जाता है। *यो वेत्ति तत्त्वत:; त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म*—ऐसा व्यक्ति, अपना शरीर त्यागने पर पुन: इस संसार में नहीं आता, अपितु परम पुरुष के पास चला

जाता है। यहाँ पर इसी की पुष्टि है—*पुरुषः पुरुषं व्रजेत्*—भगवान् की दिव्य प्रकृति तथा उनके कार्यकलापों को समझ लेने से ही जीव भगवान् के पास आता है।

रूपभेदास्पदं दिव्यं काल इत्यभिधीयते ।
भूतानां महदादीनां यतो भिन्नदृशां भयम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

रूप-भेद—रूपों के परिवर्तन का; आस्पदम्—कारण; दिव्यम्—दिव्य; कालः—काल, समय; इति—इस प्रकार; अभिधीयते—जाना जाता है; भूतानाम्—जीवों का; महत्-आदीनाम्—ब्रह्मा आदि; यतः—जिससे; भिन्न-दृशाम्—पृथक् दृष्टिकोण से; भयम्—डर।

विभिन्न भौतिक रूपान्तरों को उत्पन्न करने वाला काल भगवान् का ही एक अन्य स्वरूप है। जो व्यक्ति यह नहीं जानता कि काल तथा भगवान् एक ही हैं वह काल से भयभीत रहता है।

तात्पर्य : हर कोई काल की गतिविधियों से भयभीत रहता है, किन्तु जो यह जानता है कि काल भगवान् का दूसरा स्वरूप है उसे काल-प्रभाव से तनिक भी भय नहीं होता। *रूपभेदास्पदम्* पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। काल के प्रभाव से न जाने कितने स्वरूप बदलते रहते हैं। उदाहरणार्थ, जब बच्चा पैदा होता है, तो उसका रूप छोटा होता है, किन्तु कालक्रम से वही रूप बड़े रूप में बदल जाता है—पहले एक बालक के शरीर में और फिर तरुण पुरुष के शरीर में बदल जाता है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु काल द्वारा या भगवान् के अप्रत्यक्ष नियंत्रण द्वारा बदलती रहती है। सामान्यतया हमें एक शिशु, एक बालक या एक तरुण पुरुष के शरीर में अन्तर नहीं दिखता, क्योंकि हमें पता है कि यह काल का प्रभाव है। जो व्यक्ति यह न जानता हो कि काल किस प्रकार क्रिया करता है उसके लिए काल भय का कारण है।

योऽन्तः प्रविश्य भूतानि भूतैरत्त्यखिलाश्रयः ।
स विष्णवाख्योऽधियज्ञोऽसौ कालः कलयतां प्रभुः ॥ ३८॥

शब्दार्थ

यः—जो; अन्तः—भीतर; प्रविश्य—घुसकर; भूतानि—जीवों को; भूतैः—जीवों के द्वारा; अत्ति—संहार करता है; अखिल—हर एक का; आश्रयः—आधार; सः—वह; विष्णु—विष्णु; आख्यः—नामक; अधियज्ञः—समस्त यज्ञों का भोक्ता; असौ—वह; कालः—काल; कलयताम्—समस्त स्वामियों का; प्रभुः—स्वामी।

समस्त यज्ञों के भोक्ता भगवान् विष्णु कालस्वरूप हैं तथा समस्त स्वामियों के स्वामी हैं। वे प्रत्येक के हृदय में प्रविष्ट करने वाले हैं, वे सबके आश्रय हैं और प्रत्येक जीव का दूसरे जीव के द्वारा संहार कराने का कारण हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में भगवान् विष्णु का स्पष्ट वर्णन हुआ है। वे परम भोक्ता हैं और अन्य सभी उनके दास रूप में कार्य कर रहे हैं। जैसाकि *चैतन्य-चरितामृत* (आदि ५.१४) में कहा गया है—*एकले ईश्वर कृष्ण*—विष्णु एकमात्र ईश्वर हैं, *आर सब भृत्य*—अन्य सब उनके दास हैं। ब्रह्मा, शिव तथा अन्य देवता हैं। यही विष्णु प्रत्येक के हृदय में परमात्मा रूप में प्रवेश करते हैं और दूसरे जीव के द्वारा जीव का संहार करते हैं।

न चास्य कश्चिद्दयितो न द्वेष्यो न च बान्धवः ।
आविशत्यप्रमत्तोऽसौ प्रमत्तं जनमन्तकृत् ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; च—तथा; अस्य—भगवान् का; कश्चित्—कोई; दयितः—प्रिय; न—नहीं; द्वेष्यः—शत्रु; न—नहीं; च—तथा; बान्धवः—मित्र; आविशति—निकट जाता है; अप्रमत्तः—सजग; असौ—वह; प्रमत्तम्—असावधान; जनम्—व्यक्ति को; अन्त-कृत्—विनाशकर्ता।

भगवान् का न तो कोई प्रिय है, न ही कोई शत्रु या मित्र है। किन्तु जो उन्हें भूले नहीं हैं, उन्हें वे प्रेरणा प्रदान करते हैं और जो उन्हें भूल चुके हैं उनका क्षय करते हैं।

तात्पर्य : भगवान् विष्णु के साथ अपने उस सम्बन्ध को भूलना (विस्मृति) ही मनुष्य के जन्म-मृत्यु के चक्र का कारण है। जीव उतना ही सनातन है जितना कि परमेश्वर है, किन्तु जीव अपनी विस्मृति के कारण इस प्रकृति में आता है और एक शरीर से दूसरे में देहान्तर करता है। जब शरीर नष्ट हो जाता है, तो वह सोचता है कि उसका भी नाश हो गया। वास्तव में भगवान् विष्णु के साथ अपने सम्बन्ध की यह विस्मृति ही उसके विनाश का कारण है। जो व्यक्ति मूल सम्बन्ध की स्मृति सजग रखता है, वह भगवान् से प्रेरणा प्राप्त करता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि भगवान् किसी का शत्रु है और किसी का मित्र है। वह सबों की सहायता करता है और जो भौतिक शक्ति (माया) के प्रभाव से मोहित नहीं होता वह बच जाता है और जो मोहग्रस्त हो जाता है, वह नष्ट हो जाता है। इसीलिए कहा गया है—*हरिं विना न मृतिं*

तरन्ति—परमेश्वर की सहायता के बिना कोई जन्म-मृत्यु के चक्र से बच नहीं सकता। इसलिए सभी जीवों का धर्म है कि वे विष्णु के चरणकमलों की शरण ग्रहण करें और अपने को जन्म-मरण के चक्र से बचा लें।

यद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति यद्भयात् ।
यद्भयाद्वर्षते देवो भगणो भाति यद्भयात् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

यत्—जिस (परमेश्वर) के; भयात्—भय से; वाति—बहती है; वातः—वायु; अयम्—यह; सूर्यः—सूर्य; तपति—चमकता है; यत्—जिसके; भयात्—भय से; यत्—जिसके; भयात्—भय से; वर्षते—वर्षा करता है; देवः—वर्षा का देवता; भ-गणः—नक्षत्रों का समूह; भाति—चमकता है; यत्—जिसके; भयात्—भय से।

भगवान् के ही भय से वायु बहती है, उन्हीं के भय से सूर्य चमकता है, वर्षा का देवता पानी बरसाता है और उन्हीं के भय से नक्षत्रों का समूह चमकता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् का वचन है—*मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते*—''प्रकृति मेरे निर्देशन में कार्य करती है।'' मूर्ख व्यक्ति सोचता है कि प्रकृति स्वतः कार्यशील है, किन्तु वैदिक साहित्य द्वारा ऐसे अनीश्वरवादी सिद्धान्त की पुष्टि नहीं होती। प्रकृति परमेश्वर की अध्यक्षता में कार्य कर रही है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है और यहाँ पर भी हम देखते हैं कि भगवान् के ही निर्देशन में सूर्य चमकता है और बादल पानी बरसाता है। सारी प्राकृतिक घटनाएँ भगवान् विष्णु की अध्यक्षता में घटित होती हैं।

यद्वनस्पतयो भीता लताश्चौषधिभिः सह ।
स्वे स्वे कालेऽभिगृह्णन्ति पुष्पाणि च फलानि च ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसके कारण; वनः-पतयः—वृक्ष; भीताः—भयभीत; लताः—लताएँ; च—तथा; ओषधिभिः—जड़ी-बूटियाँ; सह—साथ; स्वे स्वे काले—अपनी-अपनी ऋतु में; अभिगृह्णन्ति—धारण करते हैं; पुष्पाणि—फूल; च—तथा; फलानि—फल; च—भी।

भगवान् के भय से वृक्ष, लताएँ, जड़ी-बूटियाँ तथा मौसमी पौधे और फूल अपनी-अपनी ऋतु में फूलते और फलते हैं।

तात्पर्य : जिस प्रकार भगवान् की अध्यक्षता में सूर्य का उदय-अस्त होता है और निर्धारित

समय से ऋतु-परिवर्तन होता रहता है, उसी तरह सामयिक पौधे, फूल, औषधियाँ तथा वृक्ष भी भगवान् के आदेश से बढ़ते हैं। ऐसा नहीं है कि पौधे अकारण ही और स्वत: बढ़ते हों जैसाकि नास्तिक कहते हैं, अपितु वे भगवान् के परम आदेशानुसार बढ़ते हैं। वैदिक साहित्य से पुष्टि होती है कि भगवान् की शक्तियाँ इतने सुचारु रूप से काम करती हैं कि ऐसा लगता है जैसे सब कुछ स्वत: हो रहा हो।

स्रवन्ति सरितो भीता नोत्सर्पत्युदधिर्यत: ।
अग्निरिन्धे सगिरिभिर्भूर्न मज्जति यद्भयात् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

स्रवन्ति—बहती हैं; सरित:—नदियाँ; भीता:—डरी हुई; न—नहीं; उत्सर्पति—उमड़ कर बहते हैं; उद-धि:—सागर; यत:—जिसके कारण; अग्नि:—अग्नि; इन्धे—जलती है; स-गिरिभि:—पर्वतों सहित; भू:—पृथ्वी; न—नहीं; मज्जति—डूबती है; यत्—जिसके; भयात्—भय से।

भगवान् के भय से नदियाँ बहती हैं तथा सागर कभी भरकर बाहर नहीं बहते। उनके ही भय से अग्नि जलती है और पृथ्वी अपने पर्वतों सहित ब्रह्माण्ड के जल में डूबती नहीं।

तात्पर्य : वैदिक साहित्य से हम जान सकते हैं कि इस ब्रह्माण्ड का आधा भाग जल से भरा हुआ है, जिसमें गर्भोदकशायी विष्णु शयन करते हैं। उनके उदर से एक कमल का फूल निकलता है और इस फूल के डंठल पर सारे लोक स्थित हैं। भौतिकतावादी विज्ञानी कहता है कि ये सारे लोक गुरुत्वाकर्षण के नियम या अन्य नियम के कारण तैर रहे हैं, किन्तु वास्तविक विधायक श्रीभगवान् हैं। जब हम नियम की बात करते हैं, तो हमें यह भी समझना चाहिए कि नियम बनाने वाला (विधायक) भी कोई-न-कोई होगा। भौतिक विज्ञानी प्रकृति के नियमों को खोज तो सकते हैं, किन्तु वे नियामक (विधायक) को पहचान नहीं पाते। *श्रीमद्भागवत* तथा *भगवद्गीता* से हम जान सकते हैं कि नियम बनाने वाला कौन है : नियम बनानेवाला पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् है।

यह कहा गया है कि सारे लोक कभी डूबते नहीं, क्योंकि वे भगवान् के आदेश से या उनकी शक्ति से तैर रहे हैं, अत: वे ब्रह्माण्ड का आधा भाग घेरने वाले जल में डूबते नहीं। सारे

लोक अपने-अपने पर्वतों, समुद्रों, महासागरों, नगरों, महलों आदि के कारण भारी हैं फिर भी तैरते रहते हैं। इस श्लोक से यह समझ में आता है कि वायु में तैरने वाले अन्य समस्त लोकों में इसी लोक की भाँति सागर तथा पर्वत हैं।

नभो ददाति श्वसतां पदं यन्नियमाददः ।
लोकं स्वदेहं तनुते महान्सप्तभिरावृतम् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

नभः—आकाश; ददाति—देता है; श्वसताम्—जीवों को; पदम्—आवास; यत्—जिस (भगवान्) के; नियमात्—नियन्त्रण में; अदः—वह; लोकम्—ब्रह्माण्ड को; स्व-देहम्—अपने शरीर को; तनुते—विस्तार करता है; महान्—महत् तत्त्व; सप्तभिः—सात (कोशों) सहित; आवृतम्—आच्छादित।

भगवान् के ही नियन्त्रण में अन्तरक्षि में आकाश सारे लोकों को स्थान देता है जिनमें असंख्य जीव रहते हैं। उन्हीं के नियन्त्रण में ही सकल विराट शरीर अपने सातों कोशों सहित विस्तार करता है।

तात्पर्य : इस श्लोक से पता चलता है कि बाह्य अन्तरिक्ष में सारे लोक तैर रहे हैं और उन सबों में जीव हैं। *श्वसताम्* का अर्थ है "जो श्वास लेते हैं" अर्थात् जीवित प्राणी। इन सबको धारण करने के लिए असंख्य लोक हैं। प्रत्येक लोक में अगणित जीव हैं और भगवान् के परम आदेश से आकाश में आवश्यक अन्तरिक्ष है। यहाँ यह भी कहा गया है कि सम्पूर्ण विराट शरीर (पिंड) विस्तार कर रहा है। यह सात कोशों से आवृत है और जिस तरह इस ब्रह्माण्ड में पाँच तत्त्व हैं उसी तरह विराट काय (पिंड) को बाहर से आच्छादित करने वाले कोशों में सारे तत्त्व पाये जाते हैं। ब्रह्माण्ड का पहला स्तर (कोश) पृथ्वी है, जो ब्रह्माण्ड के भीतरी अवकाश से दस गुना अधिक है; दूसरा स्तर जल का है, जो पृथ्वी के स्तर से दस गुना अधिक है। तीसरा स्तर अग्नि का है, जो जल के कोश से दस गुना है। इस तरह प्रत्येक स्तर अपने पूर्ववर्ती स्तर से दस गुना बड़ा है।

गुणाभिमानिनो देवाः सर्गादिष्वस्य यद्भयात् ।
वर्तन्तेऽनुयुगं येषां वश एतच्चराचरम् ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ

गुण—प्रकृति के गुण; अभिमानिनः—के अधीन; देवाः—देवता; सर्ग-आदिषु—सृष्टि करने आदि में; अस्य—इस जगत का; यत्-भयात्—जिसके भय से; वर्तन्ते—कार्य करते हैं; अनुयुगम्—युगों के अनुसार; येषाम्—जिनके; वशे—अधीन; एतत्—यह; चर-अचरम्—सारे सजीव तथा निर्जीव।

भगवान् के भय से ही प्रकृति के गुणों के अधिष्ठाता देवता सृष्टि, पालन तथा संहार का कार्य करते हैं। इस भौतिक जगत की प्रत्येक निर्जीव तथा सजीव वस्तु उनके ही अधीन है।

तात्पर्य : प्रकृति के तीनों गुण—सतो, रजो तथा तमो गुण—तीन देवों के अधीन हैं। ये हैं—ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव। भगवान् विष्णु सतोगुण का, ब्रह्मा रजोगुण का तथा शिवजी तमोगुण का भार सँभालते हैं। इसी प्रकार से अन्य अनेक देवता हैं जिनके अधीन वायु विभाग, जल विभाग, बादल विभाग हैं। जिस प्रकार किसी सरकार में तमाम विभाग होते हैं उसी तरह इस संसार में भगवान् के राज्य (सरकार) में अनेक विभाग हैं और ये सारे विभाग भगवान् के भयवश ठीक से चलते हैं। निस्सन्देह देवता ही इस ब्रह्माण्ड के भीतर समस्त जड़ तथा जंगम पदार्थ का नियन्त्रण करते हैं, किन्तु इन सबके ऊपर का परम नियामक भगवान् है। अतः *ब्रह्म-संहिता* में कहा गया है कि *ईश्वरः परमः कृष्णः*। निस्सन्देह इस ब्रह्माण्ड में विभागीय प्रबन्ध के अनेक नियन्ता हैं, किन्तु परम नियामक तो कृष्ण ही हैं।

प्रलय भी दो प्रकार का होता है। एक प्रलय तो वह है जब ब्रह्मा रात्रि में सो जाते हैं और दूसरा वह जब ब्रह्मा का विनाश हो जाता है। जब तक ब्रह्मा मर नहीं जाते, तब तक सृष्टि, पालन तथा संहार का काम विभिन्न देवताओं द्वारा परमेश्वर की अध्यक्षता में चलता रहता है।

सोऽनन्तोऽन्तकरः कालोऽनादिरादिकृदव्ययः ।
जनं जनेन जनयन्मारयन्मृत्युनान्तकम् ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; अनन्तः—अन्तहीन; अन्त-करः—विनाशकर्ता; कालः—समय; अनादिः—जिसका आदि न हो; आदि-कृत्—स्रष्टा; अव्ययः—जिसमें परिवर्तन न हो; जनम्—लोगों को; जनेन—लोगों द्वारा; जनयन्—उत्पन्न करते हुए; मारयन्—विनष्ट करते हुए; मृत्युना—मृत्यु द्वारा; अन्तकम्—मृत्यु का स्वामी।

शाश्वत काल खण्ड का न आदि है और न अन्त। वह इस पातकी संसार के स्रष्टा भगवान् का प्रतिनिधि है। वह दृश्य जगत का अन्त कर देता है, एक को मार कर दूसरे

को जन्म देता है और इसका सृजन कार्य करता है। इसी तरह मृत्यु के स्वामी यम को भी नष्ट करके ब्रह्माण्ड का विलय कर देता है।

तात्पर्य : भगवान् के प्रतिनिधिस्वरूप काल के प्रभाव से ही पिता पुत्र को जन्म देता है और पिता क्रूर मृत्यु के प्रभाव से मर जाता है। किन्तु काल के प्रभाव से क्रूर मृत्यु का स्वामी भी मारा जाता है। दूसरे शब्दों में, इस संसार के सारे देवता हमारी ही तरह नाशवान हैं, हमारा जीवन अधिक-से-अधिक एक सौ वर्ष चलता है। इसी तरह यद्यपि देवताओं का जीवन लाखों वर्ष चलता है, किन्तु वे भी शाश्वत नहीं हैं। इस संसार में कोई भी अनन्तकाल तक जीवित नहीं रह सकता। यह दृश्य जगत भगवान् के इशारे से उत्पन्न होता है, पलता है और विनष्ट होता है। अत: भक्त इस संसार में कुछ भी नहीं करता। वह भगवान् की केवल सेवा करना चाहता है। यही दास्य भाव शाश्वत है और सेवा भी शाश्वत बनी रहती है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''भगवान् कपिल द्वारा भक्ति की व्याख्या'' नामक उन्तीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter तीस

भगवान् कपिल द्वारा विपरीत कर्मों का वर्णन

कपिल उवाच
तस्यैतस्य जनो नूनं नायं वेदोरुविक्रमम् ।
काल्यमानोऽपि बलिनो वायोरिव घनावलिः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

कपिलः उवाच—कपिल ने कहा; तस्य एतस्य—इसी काल का; जनः—व्यक्ति; नूनम्—निश्चय ही; न—नहीं; अयम्—यह; वेद—जानता है; उरु-विक्रमम्—महान् पराक्रम; काल्यमानः—दूर ले जाया जाकर; अपि—यद्यपि; बलिनः—शक्तिशाली; वायोः—हवा द्वारा; इव—सदृश; घन—बादलों का; आवलिः—समूह।

भगवान् ने कहा : जिस प्रकार बादलों का समूह वायु के शक्तिशाली प्रभाव से परिचित नहीं रहता उसी प्रकार भौतिक चेतना में संलग्न व्यक्ति काल की उस महान् शक्ति से परिचित नहीं रहता, जिसके द्वारा उसे ले जाया जा रहा है।

तात्पर्य : महान् राजनीतिज्ञ पंडित चाणक्य ने कहा है कि यदि कोई लाखों डालर भी खर्च करने को तैयार हो तो भी एक क्षण का समय (काल) वापस नहीं पाया जा सकता। अमूल्य समय को बर्बाद करने से अकल्पनीय क्षति होती है। मनुष्य के पास जितना समय है उसे भौतिक या आध्यात्मिक कार्यों में सावधानी के साथ लगाना चाहिए। बद्धजीव शरीर विशेष में एक निश्चित काल तक रहता है और उसी अल्पावधि में मनुष्य को कृष्णभक्ति पूरी करके काल के प्रभाव से छुटकारा पाना है। किन्तु दुर्भाग्यवश जो कृष्णभावनामृत में अपने को नहीं लगाते, वे अनजाने ही काल की प्रबल शक्ति के द्वारा उसी प्रकार बहा ले जाये जाते हैं जिस प्रकार वायु के द्वारा बादल।

यं यमर्थमुपादत्ते दुःखेन सुखहेतवे ।
तं तं धुनोति भगवान्पुमाञ्छोचति यत्कृते ॥ २ ॥

शब्दार्थ

यम् यम्—जो कुछ, जिस जिस; अर्थम्—वस्तु को; उपादत्ते—प्राप्त करता है; दुःखेन—कठिनाई से; सुख-हेतवे—सुख के लिए; तम् तम्—उस उस को; धुनोति—नष्ट कर देता है; भगवान्—भगवान्; पुमान्—व्यक्ति; शोचति—शोक करता है; यत्-कृते—जिस कारण से।

तथाकथित सुख के लिए भौतिकतावादी द्वारा जो-जो वस्तुएँ अत्यन्त कष्ट तथा

परिश्रम से अर्जित की जाती हैं उन-उन को कालरूप परम पुरुष नष्ट कर देता है और इसके कारण बद्धजीव उन के लिए शोक करता है।

तात्पर्य : भगवान् के प्रतिनिधि-रूप काल का मुख्य कार्य सभी वस्तुओं को नष्ट करना है। भौतिकतावादी लोग भौतिक चेतना के कारण आर्थिक विकास के नाम पर न जाने कितने प्रकार की वस्तुएँ उत्पन्न करने में लगे हुए हैं। वे सोचते हैं कि लोगों की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को पूरा करके वे सुखी होंगे, किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि कालक्रम से उनके द्वारा उत्पन्न की गई सारी वस्तुएँ नष्ट हो जाएँगी। इतिहास हमें बताता है कि इस भूमण्डल पर न जाने कितने शक्तिशाली साम्राज्यों का निर्माण कितने कष्ट तथा अध्यवसाय के फलस्वरुप हुआ था, किन्तु काल के साथ वे सारे के सारे नष्ट हो गये। तो भी ये मूर्ख भौतिकतावादी यह नहीं समझ पाते कि भौतिक आवश्यकता की वस्तुएँ उत्पन्न करने में वे समय का ही अपव्यय कर रहे हैं, क्योंकि ये सारी वस्तुएँ काल के साथ नष्ट हो जाएँगी। शक्ति का यह अपव्यय जनसमूह के अज्ञान के कारण है, जो यह नहीं जानता कि मनुष्य सनातन हैं और उनका कार्य भी सनातन है। वे यह नहीं जानते कि किसी एक प्रकार के शरीर में जीवन की अवधि शाश्वत यात्रा की चमक मात्र है। इस तथ्य को न जानने के कारण वे जीवन की इस क्षणिक चमक को सब कुछ मान बैठते हैं और अपना समय आर्थिक परिस्थितियों के सुधारने में नष्ट कर देते हैं।

यदध्रुवस्य देहस्य सानुबन्धस्य दुर्मतिः ।
ध्रुवाणि मन्यते मोहाद्गृहक्षेत्रवसूनि च ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

यत्—क्योंकि; अध्रुवस्य—क्षणिक; देहस्य—शरीर का; स-अनुबन्धस्य—सम्बन्धियों से; दुर्मतिः—पथभ्रष्ट व्यक्ति; ध्रुवाणि—स्थायी; मन्यते—सोचता है; मोहात्—अज्ञानवश; गृह—घर; क्षेत्र—जमीन; वसूनि—सम्पत्ति; च—तथा।

विभ्रमित भौतिकतावादी व्यक्ति यह नहीं जानता कि उसका अपना यह शरीर अस्थायी है और घर, जमीन तथा सम्पत्ति जो इस शरीर से सम्बन्धित हैं, ये सारे आकर्षण भी क्षणिक हैं। वह अपने अज्ञान के कारण ही हर वस्तु को स्थायी मानता है।

तात्पर्य : भौतिकतावादी सोचता है कि कृष्णभावनामृत में अनुरक्त व्यक्ति सनकी होते हैं,

जो हरे कृष्ण कीर्तन में अपना समय गँवाते हैं, किन्तु यह नहीं सोचता है कि स्वयं पागलपन के गहन अंधकार में है, क्योंकि वह अपने शरीर को स्थायी मान बैठता है। अपने शरीर के साथ ही वह अपने घर, देश, समाज तथा अन्य साज-सज्जा को स्थायी मान लेता है। घर, जमीन आदि को स्थायी मान बैठना माया-मोह कहलाता है। यहाँ पर इसका स्पष्ट उल्लेख हुआ है। *मोहाद् गृह-क्षेत्र-वसूनि*—मोहवश ही भौतिकतावादी अपने घर, अपनी भूमि तथा अपने धन को स्थायी मानते हैं। इसी मोह से पारिवारिक जीवन, राष्ट्रीय जीवन तथा आर्थिक विकास की वृद्धि हुई है, क्योंकि आधुनिक सभ्यता में ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारक हैं। किन्तु एक कृष्णभावनाभावित व्यक्ति यह जानता है कि मानव समाज की आर्थिक उन्नति केवल क्षणिक मोह है।

श्रीमद्‌भागवत में अन्यत्र शरीर को स्व मानना, इस शरीर के साथ सम्बन्धित अन्यों को अपना परिजन मानना तथा अपनी जन्मभूमि को पूज्य मानना आदि, पाशविक सभ्यता की उपज घोषित किया गया है। किन्तु कृष्णभक्त हो जाने पर मनुष्य इन सबका उपयोग भगवान् की सेवा करने में कर सकता है। यह अत्यन्त उपयुक्त योजना है। हर वस्तु कृष्ण से सम्बन्धित है। जब समस्त आर्थिक विकास तथा भौतिक उन्नति का उपयोग कृष्णभक्ति को अग्रसर करने में किया जाता है, तो प्रगतिशील जीवन की एक नवीन अवस्था उदित होती है।

जन्तुर्वै भव एतस्मिन्यां यां योनिमनुव्रजेत् ।
तस्यां तस्यां स लभते निर्वृतिं न विरज्यते ॥ ४॥

शब्दार्थ

जन्तुः—जीव; वै—निश्चय ही; भवे—संसार में; एतस्मिन्—इस; याम् याम्—जिस-जिस; योनिम्—योनि को; अनुव्रजेत्—प्राप्त करता है; तस्याम् तस्याम्—उस उसको; सः—वह; लभते—प्राप्त करता है; निर्वृतिम्—सन्तोष को; न—नहीं; विरज्यते—पराङ्मुख (विरक्त) होता है।

जीव जिस योनि में भी प्रकट होता है, उसको उसी योनि में एक विशेष सन्तोष प्राप्त होता है और वह उस अवस्था में रहने से कभी विमुख नहीं होता।

तात्पर्य : शरीर विशेष चाहे वह कितना ही गर्हित क्यों न हों, उसमें जीव को जो सन्तोष मिलना मोह कहलाता है। उच्चतर स्थिति में रहने वाला मनुष्य निम्न श्रेणी के मनुष्य के

जीवनस्तर के प्रति असन्तुष्ट रह सकता है, किन्तु निम्न श्रेणी का मनुष्य बहिरंगा शक्ति माया के प्रभाव से उसी स्थिति में सन्तुष्ट रहता है। माया के कार्य की दो अवस्थाएँ हैं। पहली *प्रक्षेपात्मिका* और *आवरणात्मिका*। *आवरणात्मिका* का अर्थ है ''प्रच्छन्न करने वाली'' और *प्रक्षेपात्मिका* का अर्थ है ''नीचे गिराने वाली।'' भौतिकतावादी व्यक्ति या पशु जीवन की किसी भी अवस्था में सन्तुष्ट रहता है, क्योंकि उसका ज्ञान माया के प्रभाव से ढका हुआ रहता है। जीवन की निम्न श्रेणी में या निम्न योनियों में इतनी कम चेतना विकसित रहती है कि वह समझ नहीं पाता कि वह सुखी है या दुखी। यह *आवरणात्मिका* कहलाती है। यहाँ तक कि विष्ठा खाने वाला शूकर अपने में सुखी रहता है, यद्यपि उच्चतर श्रेणी का व्यक्ति यह देखता है कि शूकर विष्ठा खा रहा है। कितना गर्हित है ऐसा जीवन!

नरकस्थोऽपि देहं वै न पुमांस्त्यक्तुमिच्छति ।
नारक्यां निर्वृतौ सत्यां देवमायाविमोहितः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

नरक—नरक में; स्थः—स्थित; अपि—भी; देहम्—शरीर को; वै—निस्सन्देह; न—नहीं; पुमान्—मनुष्य; त्यक्तुम्—छोड़ने के लिए; इच्छति—चाहता है; नारक्याम्—नारकीय, नरकतुल्य; निर्वृतौ—भोग; सत्याम्—रहते हुए; देव-माया—भगवान् की माया से; विमोहितः—मोहग्रस्त।

बद्धजीव अपनी योनि-विशेष में ही सन्तुष्ट रहता है, माया के आवरणात्मक प्रभाव से मोहग्रस्त होकर वह अपने शरीर को त्यागना नहीं चाहता, भले ही वह नरक में क्यों न हो, क्योंकि उसे नारकीय भोग में ही आनन्द मिलता है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि एक बार स्वर्ग के राजा इन्द्र को उसके दुर्व्यवहार के लिए उसके गुरु बृहस्पति ने शाप दिया जिससे वह इस लोक में शूकर बन गया। बहुत दिनों के बाद जब ब्रह्मा ने उसे स्वर्ग बुलाना चाहा तब तक शूकर-रूप इन्द्र स्वर्ग का राजसी ठाटबाट भूल चुका था, अतः उसने वहाँ जाने से इनकार कर दिया। यह माया का पाश है। यहाँ तक कि इन्द्र को अपना नैसर्गिक जीवन-स्तर भूल गया और वह शूकर के जीवन-स्तर से सन्तुष्ट था। माया के प्रभाव से बद्धजीव अपने शरीर के प्रति इतना अनुरक्त हो उठता है कि यदि उससे कहा जाय कि, ''इस शरीर को त्याग दो, तुम्हें तुरन्त राजा का शरीर दिया जाएगा'' तो वह राजी नहीं

होगा। यह आसक्ति समस्त बद्धजीवों को बुरी तरह प्रभावित करती है। भगवान् कृष्ण स्वयं घोषित करते हैं, ''इस संसार की प्रत्येक वस्तु का त्याग करो। मेरे पास आओ और मैं तुम्हें सुरक्षा प्रदान करूँगा।'' किन्तु हमें यह स्वीकार नहीं है। हम सोचते हैं, ''हम बिल्कुल सही हैं। हम कृष्ण की शरण में जाकर उनके धाम वापस क्यों जायँ?'' यही मोह या माया है। प्रत्येक प्राणी अपने जीवन-स्तर से सन्तुष्ट रहता है, भले ही वह कितना ही गर्हित क्यों न हो।

आत्मजायासुतागारपशुद्रविणबन्धुषु ।
निरूढमूलहृदय आत्मानं बहु मन्यते ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

आत्म—शरीर; जाया—पत्नी; सुत—बच्चे; अगार—घर; पशु—पशु; द्रविण—सम्पत्ति; बन्धुषु—मित्रों में; निरूढ-मूल—गहराई तक जड़ें जमाये, प्रगाढ़; हृदयः—उसका हृदय; आत्मानम्—अपने आपको; बहु—बहुत ऊँचा; मन्यते—सोचता है।

मनुष्य को अपने जीवनस्तर के प्रति इस प्रकार का सन्तोष अपने शरीर, पत्नी, घर, सन्तान, पशु, सम्पत्ति तथा मित्रों के प्रति प्रगाढ़ आकर्षण के कारण ही होता है। ऐसी संगति में बद्धजीव अपने आपको पूरी तरह सही मानता है।

तात्पर्य : मानव जीवन की तथाकथित पूर्णता मनगढंत है। इसीलिए कहा जाता है कि कोई भौतिकतावादी कितना ही योग्य क्यों न हो, अयोग्य होता है, क्योंकि वह ऐसे मानसिक स्तर पर डोल रहा होता है, जो उसे क्षणिक जीवन की ओर पुनः खींच लाता है। जो मनुष्य मानसिक तल (मनोधर्म) पर कार्य करता है, वह आध्यात्मिक उन्नति नहीं कर पाता। ऐसा व्यक्ति पुनः भौतिक जीवन में आ गिरता है। ऐसे समाज, मित्रता तथा प्रेम की संगति में बद्धजीव अपने को पूर्णतया सन्तुष्ट मानता है।

सन्दह्यमानसर्वाङ्ग एषामुद्वहनाधिना ।
करोत्यविरतं मूढो दुरितानि दुराशयः ॥ ७ ॥

शब्दार्थ

सन्दह्यमान—जलते हुए; सर्व—सभी; अङ्गः—उसके अंग; एषाम्—इन परिजनों के; उद्वहन—पालन के लिए; आधिना—चिन्ता से युक्त; करोति—करता है; अविरतम्—सदैव; मूढः—मूर्ख; दुरितानि—पापकर्म; दुराशयः—दुर्बुद्धि।

यद्यपि वह चिन्ता से सदैव जलता रहता है, तो भी ऐसा मूर्ख कभी न पूरी होने वाली आशाओं के लिए सभी प्रकार के अनिष्ट कृत्य करता है, जिससे वह अपने तथाकथित परिवार तथा समाज का भरण-पोषण कर सके।

तात्पर्य : कहा गया है कि आज के समय में जब कलियुग इतना प्रबल है कि प्रत्येक व्यक्ति माया के परिवार की झूठी भेंट स्वीकार करके चिन्ताओं से पूर्ण रहता है। ऐसे में एक महान् साम्राज्य को चलाना उतना कठिन नहीं जितना कि एक छोटे परिवार का पालन करना। हमारा परिवार मायाजनित है, यह कृष्ण लोक के परिवार का विकृत प्रतिबिम्ब है। कृष्ण लोक में भी परिवार, मित्र, समाज, पिता, माता सब कुछ हैं, किन्तु वे नित्य हैं। यहाँ पर हमारे शरीर बदलते ही हमारे पारिवारिक सम्बन्ध बदल जाते हैं। कभी हम मनुष्यों के परिवार में होते हैं, तो कभी देवताओं के परिवार में और कभी कुत्तों-बिल्लियों के परिवार में। परिवार, समाज तथा मित्रता क्षणिक हैं, अतः ये असत् कहलाते हैं। यह कहा जाता है कि जब तक हम इस असत्, क्षणभंगुर अस्थायी समाज तथा परिवार से बँधे रहते हैं तब तक हम चिन्ताओं से घिरे रहते हैं। भौतिकतावादी यह नहीं जानते कि इस संसार में परिवार, समाज तथा मित्रता छाया मात्र हैं और वे उनसे जुड़ जाते हैं। स्वाभाविक है कि उनके हृदय सदा तपते रहते हैं, किन्तु समस्त असुविधाओं के होने पर भी वे ऐसे मिथ्या परिवार बनाये रखने के लिए काम करते हैं, क्योंकि उन्हें कृष्ण के साथ वास्तविक पारिवारिक संगति का कुछ पता नहीं रहता।

आक्षिप्तात्मेन्द्रियः स्त्रीणामसतीनां च मायया ।
रहो रचितयालापैः शिशूनां कलभाषिणाम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

आक्षिप्त—मोहित; आत्म—हृदय; इन्द्रियः—इन्द्रियाँ; स्त्रीणाम्—स्त्रियों का; असतीनाम्—झूठी; च—तथा; मायया—माया के द्वारा; रहः—एकान्त स्थान में; रचितया—प्रदर्शित; आलापैः—बातचीत से; शिशूनाम्—बच्चों के; कल-भाषिणाम्—मीठे-मीठे शब्दों से।.

वह उस स्त्री को अपना हृदय तथा इन्द्रियाँ दे बैठता है, जो झूठे ही उसे माया से मोह लेती है। वह उसके साथ एकान्त में आलिंगन तथा संभाषण करता है और अपने छोटे-छोटे बच्चों के मीठे-मीठे बोलों से मुग्ध होता रहता है।

तात्पर्य : माया के राज्य के भीतर पारिवारिक जीवन शाश्वत जीव के लिए बंदीगृह के तुल्य है। बंदीगृह में बन्दी के हथकड़ी-बेड़ी पड़ी रहती हैं। इसी प्रकार बद्धजीव स्त्री के मनोहर सौंदर्य, उसके एकांत आलिंगन तथा प्रेमवार्ता से एवं छोटे-छोटे बच्चों की मधुर वाणी से जकड़ा रहता है। इस तरह वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है।

इस श्लोक में *स्त्रीणाम् असतीनाम्* शब्द सूचित करते हैं स्त्री का प्रेम पुरुष के मन को विचलित करने के लिए है। वस्तुत: इस भौतिक जगत में प्रेम कहाँ? स्त्री तथा पुरुष दोनों ही अपनी-अपनी इन्द्रियतृप्ति में लगे रहते हैं। इन्द्रियतृप्ति के लिए स्त्री झूठा प्रेम उत्पन्न करती है और मनुष्य इस झूठे प्रेम से मुग्ध होकर अपने वास्तविक कर्म (धर्म) को भूल जाता है। जब ऐसे संयोग से सन्तान उत्पन्न होती है, तो अगला आकर्षण होता है इन बच्चों की मीठी (तोतली) बोली। घर में स्त्री का प्रेम तथा बच्चों की बोली उसे सुरक्षित बन्दी बना लेते हैं और इस तरह वह अपना घर छोड़ नहीं पाता। वैदिक भाषा में ऐसा व्यक्ति *गृहमेधी* कहलाता है, जिसका अर्थ है "जिसके आकर्षण का केन्द्रबिन्दु घर है।" *गृहस्थ* वह है, जो अपने परिवार, पत्नी तथा बच्चों के साथ रहता है, किन्तु उसका वास्तविक जीवन-लक्ष्य कृष्णभक्ति उत्पन्न करना है। इसलिए मनुष्य को *गृहस्थ* बनने की सलाह दी जाती है, *गृहमेधी* बनने की नहीं। *गृहस्थ* की मुख्य चिन्ता मोह-जनित पारिवारिक जीवन से छूटकर कृष्ण के साथ वास्तविक पारिवारिक जीवन में प्रविष्ट करना है, जबकि *गृहमेधी* का कार्य तथाकथित पारिवारिक जीवन से अपने को जन्म-जन्मान्तर तक बारम्बार बाँधना और निरन्तर माया के अन्धकार में बने रहना है।

गृहेषु कूटधर्मेषु दु:खतन्त्रेष्वतन्द्रित: ।
कुर्वन्दु:खप्रतीकारं सुखवन्मन्यते गृही ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

गृहेषु—पारिवारिक जीवन में; कूट-धर्मेषु—झूठ बोलने के अभ्यास में; दु:ख-तन्त्रेषु—दुख फैलाने में; अतन्द्रित:—सावधान; कुर्वन्—करते हुए; दु:ख-प्रतीकारम्—दुखों को झेलना; सुख-वत्—सुख की भाँति; मन्यते—सोचते हैं; गृही—गृहस्थ।

आसक्त गृहस्थ कूटनीति तथा राजनीति से पूर्ण अपने पारिवारिक जीवन में रहा

आता है। वह सदैव दुखों का विस्तार करता हुआ और इन्द्रियतृप्ति के कार्यों से नियन्त्रित होकर अपने सारे दुखों के फल को झेलने के लिए कर्म करता है। यदि वह इन दुखों को सफलतापूर्वक झेल लेता है, तो वह अपने को सुखी मानता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में भगवान् स्वयं प्रमाणित करते हैं कि यह संसार कष्टों से पूर्ण नश्वर स्थान है। इस जगत में व्यक्तिगत या पारिवारिक, सामाजिक या राष्ट्रीय सुख का प्रश्न ही नहीं उठता। यदि कहीं सुख के नाम पर कुछ हो रहा है, तो वह भी मोह है। इस जगत में सुख का अर्थ है दुख के फलों को सफलतापूर्वक झेलना। यह जगत ऐसा बनाया गया है कि जब तक कोई चतुर कूटनीतिज्ञ न हो उसका जीवन असफल रहता है। मानव समाज की बात छोड़ दें, निम्न पशुओं, पक्षियों तथा मधुमक्खियों का समाज तक भोजन, शयन तथा संभोग की शारीरिक आवश्यकताएँ चतुराई से पूरी कर लेता है। मानव समाज में राष्ट्रीय स्तर पर या व्यक्तिगत स्तर पर स्पर्धा चलती है और इसमें सफल होने के प्रयास में सारा मानव समाज कूटनीति से भर जाता है। किन्तु हमें स्मरण रखना चाहिए कि सारी कूटनीति तथा जीवनसंघर्ष में सारी बुद्धि के होते हुए भी सारी वस्तुएँ परमेश्वर की इच्छा होने पर क्षण भर में समाप्त हो जाएँगी। फलत: इस संसार में सुखी बनने के हमारे सारे प्रयास माया द्वारा प्रदत्त छल मात्र हैं।

अर्थैरापादितैर्गुर्व्या हिंसयेतस्ततश्च तान् ।
पुष्णाति येषां पोषेण शेषभुग्यात्यध: स्वयम् ॥ १० ॥

शब्दार्थ

अर्थै:—सम्पत्ति से; आपादितै:—अर्जित; गुर्व्या—महान्; हिंसया—हिंसा से; इत:-तत:—इधर-उधर; च—तथा; तान्—उनको (परिजनों को); पुष्णाति—पालन करता है; येषाम्—जिनके; पोषेण—पालन से; शेष—बचा हुआ; भुक्—भोजन; याति—जाता है; अध:—नीचे की ओर; स्वयम्—स्वयं।

वह इधर-उधर हिंसा करके धन प्राप्त करता है और यद्यपि वह इसे अपने परिवार के भरण-पोषण में लगाता है, किन्तु स्वयं इस प्रकार से खरीदे भोजन का अल्पांश ही ग्रहण करता है। इस तरह वह उन लोगों के लिए नरक जाता है, जिनके लिए उसने अवैध ढंग से धन कमाया था।

तात्पर्य : एक बँगाली कहावत है, ''जिस व्यक्ति के लिए मैंने चोरी की वही मुझे चोर

कहता है।'' जिन पारिवारिक सदस्यों के लिए मनुष्य अनेक पापकर्म करता है वे उससे कभी प्रसन्न नहीं रहते। मोहवश अनुरक्त व्यक्ति ऐसे पारिवारिक सदस्यों की सेवा करता है, किन्तु इनकी सेवा से उसे जीवन की नारकीय अवस्था में प्रवेश करना होता है। उदाहरणार्थ, कोई चोर अपने परिवार के पालन हेतु कोई वस्तु चुराता है, किन्तु पकड़ा वही जाता है और बन्दी बना लिया जाता है। यही सार है इस जगत का और समाज, मैत्री तथा प्रेम के प्रति आसक्ति का। यद्यपि एक आसक्त पारिवारिक व्यक्ति अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए किसी न किसी तरह से धन कमाने में लगा रहता है, किन्तु वह उतने से अधिक का भोग नहीं कर पाता जितना कि ऐसे पापकर्म किये बिना वह करता। आठ औंस (१ पाव) खाने वाले मनुष्य को लम्बे परिवार का पालन करना होता है और इसके लिए धन कमाना होता है, किन्तु उसे पेटभर खाने से अधिक कुछ नहीं मिलता और कभी-कभी तो उसे परिवार के जूठन पर ही निर्भर रहना पड़ता है। अनुचित साधनों से भी धन कमा कर वह स्वयं जीवन का आनन्द नहीं उठा पाता। यही आवरणात्मिका माया है।

समाज, देश तथा समुदाय की भ्रामक सेवा की प्रक्रिया सर्वत्र एक सरीखी है। यही सिद्धान्त बड़े से बड़े राष्ट्रीय नेताओं पर भी लागू होता है। कभी-कभी ऐसा राष्ट्रीय नेता जिसकी देश-सेवाएँ महान् होती हैं अपने ही देशवासियों द्वारा मार दिया जाता है, क्योंकि उसकी सेवाएँ अनियमित होती हैं। दूसरे शब्दों में, कोई भी व्यक्ति अपने आश्रितों को इस मोहमयी सेवा से सन्तुष्ट नहीं कर सकता। यद्यपि वह इस सेवा से अलग नहीं हो सकता, क्योंकि उसकी स्वाभाविक स्थिति ही सेवक की है। स्वाभाविक दृष्टि से जीव परमेश्वर का अंश है, किन्तु वह भूल जाता है कि उसे परम पुरुष की सेवा करनी है और वह अपना ध्यान अन्यों की सेवा की ओर मोड़ देता है। यह माया कहलाती है। अन्यों की सेवा करते हुए वह झूठे ही अपने को स्वामी मान बैठता है। परिवार का मुखिया अपने को परिवार का स्वामी मानता है अथवा राष्ट्र का नेता अपने को राष्ट्र का स्वामी मानता है, किन्तु वास्तव में वह माया की सेवा करता है और माया की सेवा करने से वह धीरे-धीरे नरक को जाता है। अत: बुद्धिमान मनुष्य को

कृष्णभावनामृत के बिन्दु तक पहुँच कर भगवान् की सेवा में लग जाना चाहिए और अपना सारा जीवन, सारा धन, सारी बुद्धि तथा सारी बोलने की शक्ति उसी में लगा देनी चाहिए।

वार्तायां लुप्यमानायामारब्धायां पुनः पुनः ।
लोभाभिभूतो निःसत्त्वः परार्थे कुरुते स्पृहाम् ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

वार्तायाम्—उसकी वृत्ति या जीविका के; लुप्यमानायाम्—अवरुद्ध होने पर; आरब्धायाम्—ग्रहण की जाती है; पुनः पुनः—बार-बार; लोभ—लालच से; अभिभूतः—अधीर; निःसत्त्वः—विनष्ट; पर-अर्थे—अन्यों की सम्पत्ति के लिए; कुरुते स्पृहाम्—कामना करता है।

जब उसे अपनी जीविका में प्रतिकूल फल मिलते हैं, तो वह बारम्बार अपने को सुधारने का यत्न करता है, किन्तु जब उसके सारे प्रयास असफल रहते हैं और वह विनष्ट हो जाता है, तो अत्यन्त लोभवश वह अन्यों का धन स्वीकार करता है।

कुटुम्बभरणाकल्पो मन्दभाग्यो वृथोद्यमः ।
श्रिया विहीनः कृपणो ध्यायञ्छ्वसिति मूढधीः ॥ १२ ॥

शब्दार्थ

कुटुम्ब—अपना परिवार; भरण—पालन करने में; अकल्पः—असमर्थ; मन्द-भाग्यः—अभागा; वृथा—व्यर्थ ही; उद्यमः—जिसका प्रयास; श्रिया—सौंदर्य, धन; विहीनः—रहित; कृपणः—कंजूस; ध्यायन्—शोक करता हुआ; श्वसिति—आहें भरता है; मूढ—मोहग्रस्त; धीः—बुद्धि वाला।

जब वह अभागा अपने परिवार वालों के भरण-पोषण में असफल होकर समस्त सौन्दर्य से विहीन हो जाता है, तो वह सदैव लम्बी-लम्बी आहें भरता हुआ अपनी विफलता के विषय में सोचता है।

एवं स्वभरणाकल्पं तत्कलत्रादयस्तथा ।
नाद्रियन्ते यथा पूर्वं कीनाशा इव गोजरम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; स्व-भरण—उनको पालने में; अकल्पम्—असमर्थ; तत्—उसकी; कलत्र—पत्नी; आदयः—इत्यादि; तथा—उसी प्रकार; न—नहीं; आद्रियन्ते—आदर करते हैं; यथा—जिस तरह; पूर्वम्—पहले; कीनाशाः—किसान; इव—सदृश; गो-जरम्—पुराना बैल।

उसे अपने पालन-पोषण में असमर्थ देखकर उसकी पत्नी तथा अन्य लोग उसे उसी तरह पहले जैसा सम्मान नहीं प्रदान करते जिस तरह कंजूस किसान अपने बुढ़े तथा थके

बैलों के साथ पहले जैसा व्यवहार नहीं करता।

तात्पर्य : इसी युग में नहीं, अपितु अनादि काल से अपने परिवार में कोई भी ऐसे वृद्ध पुरुष को नहीं चाहता जो कमाता नहीं। यहाँ तक कि वर्तमान युग में कुछ जातियों अथवा राज्यों में बूढ़ों को विष दे दिया जाता है, जिससे वे जितनी जल्दी हो सके मर जाँय। कतिपय मानवभक्षी जातियों में बूढ़े बाबा को खेल-खेल में मारकर उसके माँस की दावत दी जाती है। यहाँ पर उस किसान का उदाहरण दिया गया है, जो अपने उस बूढ़े बैल को नहीं चाहता जिसने काम करने के लायक नहीं रह गया है। इसी प्रकार से परिवार से सम्बद्ध व्यक्ति जब वृद्ध हो जाता है और कमा नहीं सकता तो उसे न तो उसकी पत्नी, पुत्र, पुत्रियाँ चाहते हैं न ही परिजन। फलस्वरूप उसकी उपेक्षा होने लगती है, आदर करने की बात तो दूर रही। अत: यह लाभप्रद होगा कि वृद्धावस्था प्राप्त होने के पूर्व ही पारिवारिक सम्बन्ध तोड़ दिया जाय और भगवान् की शरण ग्रहण की जाय। मनुष्य को चाहिए कि अपने-आपको भगवान् की सेवा में लगा दे जिससे वे उसका भार अपने ऊपर ले सकें और इस तरह वह मनुष्य अपने स्वजनों से उपेक्षित न हो।

तत्राप्यजातनिर्वेदो भ्रियमाण: स्वयम्भृतै: ।
जरयोपात्तवैरूप्यो मरणाभिमुखो गृहे ॥ १४॥

शब्दार्थ

तत्र—वहाँ; अपि—यद्यपि; अजात—उदय नहीं हुई हो; निर्वेद:—विरुचि; भ्रियमाण:—पालित होकर; स्वयम्—अपने आपसे; भृतै:—पालित लोगों से; जरया—वृद्धावस्था से; उपात्त—प्राप्त; वैरूप्य:—विरूपता, रूप बिगड़ना; मरण—मृत्यु; अभिमुख:—पास आकर; गृहे—घर में।

मूर्ख पारिवारिक व्यक्ति गृहस्थ जीवन से पराङ्मुख नहीं होता, यद्यपि अब उसका पालन उन लोगों के द्वारा किया जा रहा है, जिन्हें पहले उसने पाला था। वृद्धावस्था के कारण उसका रूप विकृत हो जाता है और वह मृत्यु की तैयारी करने लगता है।

तात्पर्य : पारिवारिक आकर्षण इतना प्रबल होता है कि मनुष्य अपनी वृद्धावस्था में अपने ही परिवार के सदस्यों द्वारा उपेक्षित होने पर भी परिवार के प्रति अपना प्रेम नहीं छोड़ पाता और वह घर में कुत्ते के समान रहा आता है। वैदिक जीवन-शैली में मनुष्य को पारिवारिक

जीवन का परित्याग कर देना था जब वह हट्टा कट्टा हो। अत: सलाह दी जाती है कि अधिक दुर्बल होने तथा भौतिक कार्यों में अत्यधिक निराश होने एवं मरने के पूर्व मनुष्य को चाहिए कि गृहस्थाश्रम त्याग कर जीवन के शेष दिन भगवान् की सेवा में लगाये। अत: वैदिक शास्त्रों में आदेश दिया गया है कि ज्योंही पचास वर्ष की आयु पूरी हो जाय, मनुष्य को चाहिए कि पारिवारिक जीवन त्याग कर जंगल में एकान्त में रहे। अपने को पूरी तरह तैयार कर लेने के बाद संन्यासी होकर वह प्रत्येक व्यक्ति को घर-घर में आध्यात्मिक जीवन का ज्ञान वितरित करे।

आस्तेऽवमत्योपन्यस्तं गृहपाल इवाहरन् ।
आमयाव्यप्रदीप्ताग्निरल्पाहारोऽल्पचेष्टितः ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

आस्ते—रहा आता है; अवमत्या—उपेक्षा भाव से; उपन्यस्तम्—जो दिया जाता है; गृह-पालः—कुत्ता; इव—सदृश; आहरन्—खाते हुए; आमयावी—रुग्ण; अप्रदीप्त-अग्निः—अजीर्ण, मन्दाग्न्यता; अल्प—थोड़ा; आहारः—भोजन; अल्प—थोड़ा; चेष्टितः—उसके कार्य।

वह घर पर पालतू कुत्ते की भाँति रह रहा होता है और उपेक्षाभाव से उसे जो भी दिया जाता है, उसे खाता है। अजीर्ण तथा मंदाग्नि जैसी अनेक प्रकार की व्याधियों से ग्रस्त होकर, वह केवल कुछ कौर भोजन करता है और अशक्त होने के कारण कोई भी काम नहीं कर पाता।

तात्पर्य : मृत्यु के पूर्व मनुष्य को रुग्ण तथा असक्त होना पड़ता है और जब उसके परिवार के लोग उसकी उपेक्षा करते हैं, तो उसकी स्थिति एक कुत्ते से भी बदतर हो जाती है, क्योंकि उसे अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अत: वैदिक शास्त्रों का आदेश है कि ऐसी दयनीय स्थिति प्राप्त होने के पूर्व मनुष्य घर त्याग दे और अपने परिवार की जानकारी से दूर मरे। यदि मनुष्य घर छोड़कर परिवार वालों की जानकारी के बिना मरता है, तो इसे महिमामय मृत्यु कहते हैं। किन्तु परिवार से आसक्त व्यक्ति चाहता है कि उसके मरने के बाद भी परिवार वाले उसे एक विशाल जुलूस (शवयात्रा) में ले जायँ, भले ही वह उसे देख न पाये। इस प्रकार यह जाने बिना कि जब वह अपना शरीर छोड़ता है, तो अगले जन्म में उसे कहाँ जाना होगा,

वह प्रसन्न रहता है।

वायुनोत्क्रमतोत्तारः कफसंरुद्धनाडिकः ।
कासश्वासकृतायासः कण्ठे घुरघुरायते ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

वायुना—हवा के द्वारा; उत्क्रमता—बाहर निकलने से; उत्तारः—आँखें; कफ—कफ से; संरुद्ध—सँटी हुई; नाडिकः—श्वास नली; कास—खाँसी; श्वास—साँस लेना; कृत—किया हुआ; आयासः—कठिनाई; कण्ठे—गले में; घुर-घुरायते—घुर-घुर का शब्द करता है।

उस रुग्ण अवस्था में, भीतर से वायु के दबाब के कारण उसकी आँखें बाहर निकल आती हैं और उसकी ग्रंथियाँ कफ से भर जाती हैं। उसे साँस लेने में कठिनाई होती है और गले के भीतर से घुर-घुर की आवाज निकलती है।

शयानः परिशोचद्भिः परिवीतः स्वबन्धुभिः ।
वाच्यमानोऽपि न ब्रूते कालपाशवशं गतः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

शयानः—लेटा हुआ; परिशोचद्भिः—पश्चात्ताप करते हुए; परिवीतः—घिरा हुआ; स्व-बन्धुभिः—अपने सम्बन्धियों तथा मित्रों से; वाच्यमानः—बोलने के लिए कहे जाने पर; अपि—यद्यपि; न—नहीं; ब्रूते—बोलता है; काल—समय के; पाश—फंदा के; वशम्—वशीभूत; गतः—गया हुआ।

इस प्रकार वह मृत्यु के पाश में बँधकर लेट जाता है, विलाप करते उसके मित्र तथा सम्बन्धी उसे घेर लेते हैं और उन सबसे बोलने की इच्छा करते हुए भी वह बोल नहीं पाता, क्योंकि वह काल के वश में रहता है।

तात्पर्य : जब मनुष्य मृत्युशय्या पर होता है, तो उसके सम्बन्धी शिष्टाचारवश उसके पास आते हैं। कभी-कभी मरने वाले व्यक्ति को "अरे, मेरे पिता! अरे, मेरे मित्र! अरे, मेरे पति"! सम्बोधित करके जोर-जोर से रोते-चिल्लाते हैं। उस दयनीय अवस्था में मरने वाला व्यक्ति उनसे बोलना चाहता है और अपनी इच्छाएँ व्यक्त करना चाहता है, किन्तु वह *काल* अर्थात् मृत्यु के वश में रहता है, अतः अपने आपको व्यक्त नहीं कर पाता। इससे उसे अकल्पनीय पीड़ा होती है। वह पहले से रुग्ण होने के कारण पीड़ादायक अवस्था में रहता है और उसकी ग्रन्थियाँ तथा गला कफ से अवरुद्ध रहते हैं। वह पहले से विकट स्थिति में रहता है और जब

उसे उसके सम्बन्धी पुकारते हैं, तो उसका शोक बढ़ जाता है।

एवं कुटुम्बभरणे व्यापृतात्माजितेन्द्रियः ।
म्रियते रुदतां स्वानामुरुवेदनयास्तधीः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कुटुम्ब-भरणे—परिवार का पालन करने में; व्यापृत—तल्लीन; आत्मा—उसका मन; अजित—अनियन्त्रित; इन्द्रियः—उसकी इन्द्रियाँ; म्रियते—मर जाता है; रुदताम्—रोते हुए; स्वानाम्—कुटुम्बियों को; उरु—महान्; वेदनया—पीड़ा से; अस्त—विहीन; धीः—चेतना।

इस प्रकार जो व्यक्ति इन्द्रियों को वश में किये बिना परिवार के भरण-पोषण में लगा रहता है, वह अपने रोते कुटुम्बियों को देखता हुआ अत्यन्त शोक में मरता है। वह अत्यन्त दयनीय अवस्था में, असह्य पीड़ा के साथ, किन्तु चेतना विहीन होकर मरता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि मृत्यु के समय मनुष्य उन्हीं विचारों में निमग्न रहता है, जिसका उसने जीवन भर अनुशीलन किया है। जिस व्यक्ति ने जीवन भर अपने परिवार के भरण-पोषण के अतिरिक्त और कुछ न सोचा हो उसके अन्तिम विचारों में पारिवारिक बातें ही रहेंगी। सामान्य व्यक्ति के लिए यह स्वाभाविक स्थिति होती है। सामान्य व्यक्ति अपने भाग्य को नहीं जानता है, वह केवल परिवार का पालन-पोषण करता रहता है। अन्तिम अवस्था में किसी को सन्तोष नहीं होता कि उसने परिवार की आर्थिक दशा कैसे सुधारी, हर एक व्यक्ति यही सोचता है कि मैंने यथेष्ठ सेवा नहीं की। परिवार के प्रति प्रगाढ़ स्नेह के कारण वह अपनी इन्द्रियों को वश में करने तथा अपनी आध्यात्मिक चेतना सुधारने के मुख्य कर्तव्य को भूल जाता है। कभी-कभी मरने वाला व्यक्ति परिवार का भार अपने पुत्र या अन्य सम्बन्धी को सौंपते हुए कहता है, "मैं तो जा रहा हूँ, किन्तु तुम परिवार को देखना।" वह यह नहीं जानता कि कहाँ जा रहा है, किन्तु मृत्यु के समय भी वह चिन्तित रहता है कि उसके परिवार का निर्वाह किस तरह होगा। कभी कभी देखा जाता है कि मरने वाला व्यक्ति वैद्य से कुछ ही वर्षों तक आयु बढ़ाने की याचना करता है, जिससे वह परिवार-भरण के लिए प्रारम्भ की गई अपनी योजना पूरी कर सके। बद्धजीव की ये ही व्याधियाँ हैं। वह अपने वास्तविक कार्य—कृष्णभक्ति—को भूल जाता है और अपने परिवार के जीवन-निर्वाह की

योजनाओं में ही लगा रहता है, यद्यपि वह एक-एक करके अपना परिवार बदलता रहता है।

यमदूतौ तदा प्राप्तौ भीमौ सरभसेक्षणौ ।
स दृष्ट्वा त्रस्तहृदयः शकृन्मूत्रं विमुञ्चति ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यम-दूतौ—यमराज के दो दूत; तदा—उस समय; प्राप्तौ—आकर; भीमौ—घोर; स-रभस—क्रोध से पूर्ण; ईक्षणौ—अपनी आँखें; सः—वह; दृष्ट्वा—देखकर; त्रस्त—भयभीत; हृदयः—अपना हृदय; शकृत्—मल; मूत्रम्—मूत्र; विमुञ्चति—त्यागता है, निकाल देता है।

मृत्यु के समय उसे अपने समक्ष यमराज के दूत आये दिखते हैं, जिनके नेत्र क्रोध से पूर्ण रहते हैं। इस तरह भय के मारे उसका मल-मूत्र छूट जाता है।

तात्पर्य : वर्तमान शरीर को छोड़ने के बाद जीव का देहान्तरण दो प्रकार से होता है। एक प्रकार का देहान्तरण पापकर्मों के नियामक यमराज के पास जाना है और दूसरा है स्वर्गलोक या वैकुण्ठ को जाना। यहाँ पर भगवान् कपिल बताते हैं कि जो लोग परिवार के पालन-पोषण में व्यस्त रहते हैं उनके साथ यमदूत कैसा व्यवहार करते हैं। मृत्यु के समय, जिन लोगों ने अपनी इन्द्रियों की प्रबल रूप से तुष्टि की है उनके रखवाले यमदूत बनते हैं। वे मरने वाले व्यक्ति को पकड़कर उस लोक में ले जाते हैं जहाँ यमराज निवास करता है। वहाँ की दशाओं का वर्णन अगले श्लोकों में किया गया है।

यातनादेह आवृत्य पाशैर्बद्ध्वा गले बलात् ।
नयतो दीर्घमध्वानं दण्ड्यं राजभटा यथा ॥ २० ॥

शब्दार्थ

यातना—दंड के लिए; देहे—उसका शरीर; आवृत्य—ढक कर; पाशैः—रस्सियों से; बद्ध्वा—बाँध कर; गले—गले से; बलात्—बलपूर्वक; नयतः—ले जाते हैं; दीर्घम्—लम्बी; अध्वानम्—दूरी; दण्ड्यम्—अपराधी; राज-भटाः—राजा के सिपाही; यथा—जिस प्रकार।

जिस प्रकार राज्य के सिपाही अपराधी को दण्डित करने के लिए उसे गिरफ्तार करते हैं उसी प्रकार इन्द्रियतृप्ति में संलग्न अपराधी पुरुष यमदूतों के द्वारा बन्दी बनाया जाता है। वे उसे मजबूत रस्सी से गले से बाँध लेते हैं और उसके सूक्ष्म शरीर को ढक देते हैं जिससे उसे कठोर से कठोर दण्ड दिया जा सके।

तात्पर्य : प्रत्येक जीव सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर से ढका रहता है। सूक्ष्म शरीर मन, अहंकार, बुद्धि तथा चेतना का आवरण है। शास्त्रों का कथन है कि यमराज के सिपाही अपराधी के सूक्ष्म शरीर को ढक कर उसे यमराज के आवास में ले जाते हैं जहाँ उसे इस तरह दण्ड दिया जाता है, जिसे वह सह ले। वह इस दण्ड से मरता नहीं, क्योंकि यदि मर जाय तो फिर दण्ड कौन सहेगा? यमराज के सिपाहियों का काम किसी को मारना नहीं है। वस्तुत: किसी जीव को मारना सम्भव नहीं, क्योंकि वास्तव में वह नित्य है; उसे केवल इन्द्रियतृप्ति के कार्यों का फल भुगतना पड़ता है।

चैतन्य-चरितामृत में दण्ड की विधि वर्णित है। पहले राजा के आदमी उस अपराधी को नौका द्वारा नदी के बीच तक ले जाते हैं। वे उसके बाल पकड़कर उसे पानी में डुबोते हैं और जब उसका दम घुटने लगता है, तो राजा के सिपाही उसे पानी से निकाल कर कुछ समय तक साँस लेने देते हैं और फिर बार-बार उसी तरह से पानी में डुबोते और निकालते हैं। इसी प्रकार का दण्ड यमराज द्वारा विस्मृत जीवों को दिया जाता है, जिसका वर्णन अगले श्लोकों में हुआ है।

तयोर्निर्भिन्नहृदयस्तर्जनैर्जातवेपथुः ।
पथि श्वभिर्भक्ष्यमाण आर्तोऽघं स्वमनुस्मरन् ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तयोः—यम के दूतों की; निर्भिन्न—टूटा हुआ; हृदयः—हृदय; तर्जनैः—डाट-फटकार से; जात—उत्पन्न; वेपथुः—कँप-कँपी; पथि—रास्ते में; श्वभिः—कुत्तों के द्वारा; भक्ष्यमाणः—काटा जाकर; आर्तः—दुखी; अघम्—पाप; स्वम्—अपना; अनुस्मरन्—स्मरण करते हुए।

इस प्रकार यमराज के सिपाहियों द्वारा ले जाये जाते समय उसे दबाया-कुचला जाता है और उनके हाथों में वह काँपता रहता है। रास्ते में जाते समय उसे कुत्ते काटते हैं और उसे अपने जीवन के पापकर्म याद आते हैं। इस प्रकार वह अत्यधिक दुखी रहता है।

तात्पर्य : इस श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि इस लोक से यमलोक जाते समय, यमराज के दूतों द्वारा बन्दी बनाये गये अपराधी को मार्ग में कुत्ते मिलते हैं, जो भूकते हैं और उसे इन्द्रियतृप्ति के अपराध कर्मों का स्मरण कराने के लिए काटते हैं। *भगवद्गीता* में कहा

गया है कि जब कोई इन्द्रियतृप्ति की इच्छा से उन्मत्त होता है, तो वह अन्धा हो जाता है और सारा ज्ञान खो देता है। वह सब कुछ भूल जाता है। *कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना:*। जब कोई इन्द्रियतृप्ति के प्रति अत्यधिक अनुरक्त होता है, तो उसकी सारी बुद्धि जाती रहती है और वह यह भूल जाता है कि उसको इसका परिणाम भोगना पड़ेगा। यहाँ पर उसे यमराज द्वारा पाले गये कुत्तों से अपने इन्द्रियतृप्ति के कार्यों को स्मरण करने का अवसर मिलता है। जब हम स्थूल शरीर में रहते हैं, तो आजकल के सरकारी नियमों द्वारा भी इन्द्रियतृप्ति के ऐसे कार्यों को बढ़ावा मिलता है। सारे विश्व में प्रत्येक राज्य की सरकारें ऐसे कर्मों को गर्भनिरोध के रूप में प्रोत्साहन देती है। स्त्रियों को गोलियाँ दी जाती हैं और गर्भपात कराने के लिए अस्पतालों में जाने की छूट है। वस्तुत: विषयी जीवन अच्छी सन्तान को जन्म देने के लिए है, किन्तु लोगों को अपनी इन्द्रियों पर किसी प्रकार का संयम न होने के कारण तथा इन्द्रियों को वश में करने की शिक्षा देने वाली संस्थाओं के न होने से लोग इन्द्रियतृप्ति के अपराधों के शिकार होते हैं और वे मृत्यु के पश्चात् जिस प्रकार से दण्डित होते हैं उसका वर्णन *भागवत* के इन पृष्ठों में हुआ है।

क्षुत्तृट्परीतोऽर्कदवानलानिलै:
सन्तप्यमान: पथि तप्तवालुके ।
कृच्छ्रेण पृष्ठे कशया च ताडितश्
चलत्यशक्तोऽपि निराश्रमोदके ॥ २२॥

शब्दार्थ

क्षुत्-तृट्—भूख तथा प्यास से; परीत:—व्याकुल; अर्क—सूर्य; दव-अनल—जंगल की अग्नि; अनिलै:—वायु से; सन्तप्यमान:—झुलसते हुए; पथि—रास्ते में; तप्त-वालुके—गर्म बालू पर; कृच्छ्रेण—कष्टपूर्वक; पृष्ठे—पीठ पर; कशया—चाबुक से; च—तथा; ताडित:—मारा जाकर; चलति—चलता है; अशक्त:—असमर्थ; अपि—यद्यपि; निराश्रम-उदके—बिना किसी विश्राम या जल के।

अपराधी को चिलचिलाती धूप में गर्म बालू के रास्ते से होकर जाना पड़ता है, जिसके दोनों ओर दावाग्नि जलती रहती है। चलने में असमर्थता के कारण सिपाही उसकी पीठ पर कोड़े लगाते हैं और वह भूख तथा प्यास से व्याकुल हो जाता है। किन्तु दुर्भाग्यवश रास्ते भर न तो पीने के लिए जल रहता है, न विश्राम करने के लिए कोई आश्रय मिलता है।

तत्र तत्र पतञ्छ्रान्तो मूर्च्छितः पुनरुत्थितः ।
पथा पापीयसा नीतस्तरसा यमसादनम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तत्र तत्र—जहाँ तहाँ; पतन्—गिरते हुए; श्रान्तः—थका हुआ; मूर्च्छितः—बेहोश; पुनः—फिर से; उत्थितः—उठते हुए; पथा—रास्ते में; पापीयसा—अत्यन्त अशुभ; नीतः—लाया गया; तरसा—तेजी से; यम-सादनम्—यमराज के सामने।

यमराज के धाम के मार्ग पर वह थकान से गिरता-पड़ता जाता है और कभी-कभी अचेत हो जाता है, किन्तु उसे पुनः उठने के लिए बाध्य किया जाता है। इस प्रकार उसे तेजी से यमराज के समक्ष लाया जाता है।

योजनानां सहस्राणि नवतिं नव चाध्वनः ।
त्रिभिर्मुहूर्तैर्द्वाभ्यां वा नीतः प्राप्नोति यातनाः ॥ २४ ॥

शब्दार्थ

योजनानाम्—योजनों की; सहस्राणि—हजार; नवतिम्—नब्बे; नव—नौ; च—तथा; अध्वनः—दूरी से; त्रिभिः—तीन; मुहूर्तैः—क्षणों में; द्वाभ्याम्—दो; वा—अथवा; नीतः—लाया गया; प्राप्नोति—पाता है; यातनाः—दण्ड।

इस तरह से ९९ हजार योजन की दूरी उसे दो या तीन पलों में पार करनी होती है और फिर तुरन्त उसे घोर यातना दी जाती है, जिसे सहना पड़ता है।

तात्पर्य : एक योजन आठ मील के बराबर होता है, अतः उसे लम्बा रास्ता तय करना होता है, जो लगभग ७,९२,००० मील है। इतनी लम्बी दूरी दो-तीन क्षणों में पार करनी होती है। सिपाही सूक्ष्म शरीर को ढक लेते हैं जिससे जीव इतनी लम्बी दूरी को शीघ्र ही तय कर ले और साथ ही यातनाएँ सहता चले। यह आवरण, यद्यपि भौतिक है, किन्तु ऐसे सूक्ष्म तत्त्वों का होता है कि भौतिकतावादी विज्ञानी पता नहीं लगा पाते कि ये आवरण किस वस्तु के बने हैं। ७,९२,००० मील की यात्रा कुछ ही पलों में पूरी कर लेना आधुनिक अन्तरिक्ष यात्रियों को भी असमंजस में डालने वाला है। अभी तक वे १८,००० मील प्रति घण्टे की चाल से यात्रा कर चुके हैं, किन्तु यहाँ हम देखते हैं कि अपराधी कुछ ही सेकंडों में ७,९२,००० मील की यात्रा करता है और यह कोई आध्यात्मिक विधि नहीं होती, भौतिक होती है।

**आदीपनं स्वगात्राणां वेष्टयित्वोल्मुकादिभिः ।
आत्ममांसादनं क्वापि स्वकृत्तं परतोऽपि वा ॥ २५ ॥**

शब्दार्थ

आदीपनम्—अग्नि लगाकर; स्व-गात्राणाम्—अपने अंगों को; वेष्टयित्वा—लपेट कर; उल्मुक-आदिभिः—जलती लकड़ी के टुकड़ों आदि से; आत्म-मांस—अपने मांस का; अदनम्—भोजन करते; क्व अपि—कभी-कभी; स्व-कृत्तम्—अपने द्वारा किया गया; परतः—अन्यों द्वारा; अपि—भी; वा—अथवा।

वहाँ उसे जलती लकड़ियों के बीच में रख दिया जाता है और उसके अंगों में आग लगा दी जाती है। कभी-कभी उसे अपना मांस स्वयं खाने के लिए बाध्य किया जाता है अथवा अन्यों द्वारा खाने दिया जाता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में तथा अगले तीन श्लोकों में यातनाओं का वर्णन हुआ है। पहला विवरण यह है कि अपराधी को स्वयं आग में पका अपना मांस खाना पड़ता है या अन्य जो वहाँ उपस्थित होते हैं उन्हें खाने देना पड़ता है। पिछले महायुद्ध में, लोगों को यातना-शिविरों में अपना मल खाना पड़ा था, अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं यदि यमराज के निवास 'यमसादन' में अपराधी को, जो कभी दूसरे का मांस खाता है, अपना ही मांस खाना पड़ता हो।

**जीवतश्चान्त्राभ्युद्धारः श्वगृध्रैर्यमसादने ।
सर्पवृश्चिकदंशाद्यैर्दशद्भिश्चात्मवैशसम् ॥ २६ ॥**

शब्दार्थ

जीवतः—जीवित; च—तथा; अन्त्र—आँतें; अभ्युद्धारः—बाहर खींचकर; श्व-गृध्रैः—कुत्तों तथा गीधों द्वारा; यम-सादने—यमराज के सदन में; सर्प—सर्प; वृश्चिक—बिच्छू; दंश—डाँस, मच्छर; आद्यैः—इत्यादि के द्वारा; दशद्भिः—काटे जाने पर; च—तथा; आत्म-वैशसम्—अपना उत्पीड़न।

नरक के कुत्तों तथा गीधों द्वारा उसकी आँखें उसके जीवित रहते और देखते-देखते निकाल ली जाती हैं और उसे साँपों, बिच्छुओं, डाँसों तथा अन्य काटने वाले जन्तुओं से पीड़ा पहुँचाई जाती है।

**कृन्तनं चावयवशो गजादिभ्यो भिदापनम् ।
पातनं गिरिशृङ्गेभ्यो रोधनं चाम्बुगर्तयोः ॥ २७ ॥**

शब्दार्थ

कृन्तनम्—काट करके; च—तथा; अवयवशः—अंग प्रति अंग; गज-आदिभ्यः—हाथी आदि से; भिदापनम्—चिरवाया जाकर; पातनम्—नीचे गिराकर; गिरि—पहाड़ियों की; शृङ्गेभ्यः—चोटियों से; रोधनम्—घेर कर; च—तथा; अम्बु-गर्तयोः—जल में या गुफा में।

फिर उसके अंग-प्रत्यंग काट डाले जाते हैं और उसे हाथियों से चिरवा दिया जाता है। उसे पर्वत की चोटियों से नीचे गिराया जाता है और फिर जल में या गुफा में बन्दी बना लिया जाता है।

यास्तामिस्रान्धतामिस्रा रौरवाद्याश्च यातनाः ।
भुङ्क्ते नरो वा नारी वा मिथः सङ्गेन निर्मिताः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

याः—जो; तामिस्र—नरक का नाम; अन्ध-तामिस्राः—एक नरक; रौरव—एक नरक; आद्याः—इत्यादि; च—तथा; यातनाः—यातनाएँ, दण्ड; भुङ्क्ते—भोगता है; नरः—मनुष्य; वा—अथवा; नारी—स्त्री; वा—अथवा; मिथः—पारस्परिक; सङ्गेन—संगति से; निर्मिताः—बनाये गये।

जिन पुरुषों तथा स्त्रियों का जीवन अवैध यौनाचार में बीतता है उन्हें तामिस्र, अन्धतामिस्र तथा रौरव नामक नरकों में नाना प्रकार की यातनाएँ दी जाती हैं।

तात्पर्य : भौतिकतावादी जीवन विषयी जीवन पर आधारित है। उन समस्त भौतिकतावादी लोगों का जीवन, जो जीवन-संघर्ष में नाना प्रकार की यातनाएँ भोग रहे हैं, कामवासना पर आधारित है। अतः वैदिक सभ्यता में केवल सीमित रूप से विषयी-जीवन की अनुमति दी गई है। यह जीवन विवाहित दम्पति युगल के लिए सन्तानोत्पत्ति के लिए है। किन्तु जब अवैध इन्द्रियतृप्ति के लिए विषयी जीवन का उपयोग किया जाता है, तो स्त्री तथा पुरुष दोनों को इसी संसार में या मरने के बाद कठोर यातना सहनी पड़ती है। इस लोक में उन्हें सिफलिस तथा गोनोरिया जैसे रोगों द्वारा दण्डित होना पड़ता है और अगले जीवन में उन्हें अनेक नारकीय यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं जैसाकि यहाँ पर वर्णन हुआ है। *भगवद्गीता* के प्रथम अध्याय में अवैध विषयी जीवन की अत्यधिक भर्त्सना की गई है और यह कहा गया है कि जो इस प्रकार से सन्तान उत्पन्न करते हैं, वे नरक को जाते हैं। यहाँ पर भागवतम् में इसकी पुष्टि की गई है कि ऐसे अपराधों को तामिस्र, अन्धतामिस्र तथा रौरव नरकों में जीवन बिताना पड़ता है।

अत्रैव नरकः स्वर्ग इति मातः प्रचक्षते ।
या यातना वै नारक्यस्ता इहाप्युपलक्षिताः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

अत्र—इस संसार में; एव—ही; नरकः—नरक; स्वर्गः—स्वर्ग; इति—इस प्रकार; मातः—हे माता; प्रचक्षते—लोग कहते हैं; याः—जो जो; यातनाः—यातनाएँ; वै—निश्चय ही; नारक्यः—नारकीय; ताः—वे; इह—यहाँ; अपि—भी; उपलक्षिताः—दृष्टिगोचर होती हैं।

कपिलमुनि ने आगे कहा : हे माता, कभी-कभी यह कहा जाता है कि इसी लोक में हम नरक अथवा स्वर्ग का अनुभव करते हैं, क्योंकि कभी-कभी इस लोक में भी नारकीय यातनाएँ दिखाई पड़ती हैं।

तात्पर्य : कभी-कभी अविश्वासी लोग नरक सम्बन्धी शास्त्रों के इन कथनों को नहीं मानते। वे ऐसे प्रामाणिक विवरणों की अवहेलना करते हैं। अतः भगवान् कपिल उनकी पुष्टि यह कह कर करते हैं कि ये नारकीय परिस्थितियाँ इस लोक में भी दिखती हैं। ऐसा नहीं कि ये केवल यमराज के निवास करने वाले लोक में ही हों। यमराज के लोक में पापी पुरुष को उन नारकीय परिस्थितियों में रहने का अवसर प्रदान किया जाता है, जो उसे अगले जीवन में सहनी होंगी और फिर उसे दूसरे लोक में यही नारकीय जीवन बिताने के लिए जन्म लेने का अवसर दिया जाता है। उदाहरणार्थ, यदि मनुष्य को नरक में रहने, मल तथा मूत्र खाने का दण्ड दिया जाता है, तो सबसे पहले उसे यमराज के लोक में ऐसी आदतों का अभ्यास कराया जाता है, फिर उसे वैसा ही शरीर दिया जाता है, जैसे कि एक शूकर का जिससे कि वह मल खा सके और यह सोचे कि वह जीवन का आनन्द उठा रहा है। पीछे यह बताया जा चुका है कि कैसी भी नारकीय परिस्थिति में बद्धजीव अपने को सुखी मानता है। अन्यथा यह सम्भव नहीं कि वह नारकीय जीवन भोग सकें।

एवं कुटुम्बं बिभ्राण उदरम्भर एव वा ।
विसृज्येहोभयं प्रेत्य भुङ्क्ते तत्फलमीदृशम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; कुटुम्बम्—परिवार को; बिभ्राणः—पालन करने वाला; उदरम्—पेट को; भरः—भरण करने वाला; एव—केवल; वा—अथवा; विसृज्य—त्याग कर; इह—यहाँ; उभयम्—दोनों; प्रेत्य—मृत्यु के बाद; भुङ्क्ते—भोगता है; तत्—उसका; फलम्—फल; ईदृशम्—ऐसा।

इस शरीर को त्यागने के पश्चात् वह व्यक्ति जो पापकर्मों द्वारा अपना तथा अपने परिवार के सदस्यों का पालन-पोषण करता है नारकीय जीवन बिताता है और उसके

साथ उसके परिवार वाले भी।

तात्पर्य : आधुनिक सभ्यता की यही भूल है कि इसमें मनुष्य अगले जीवन में विश्वास नहीं करता। किन्तु वह विश्वास करे अथवा न भी करे तो भी अगला जीवन होता है और यदि कोई वेद तथा पुराण जैसे शास्त्रों से सम्मत उत्तरदायित्वपूर्ण जीवन नहीं बिताता तो उसे कष्ट भोगना पड़ता है। मनुष्य से निम्न योनियाँ अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं होती, क्योंकि उन्हें एक निश्चित विधि से कर्म करना होता है, किन्तु मानवीय चेतना वाले विकसित जीवन में, यदि कोई अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं बनता तो निश्चय ही उसे यहाँ पर वर्णित विधि के अनुसार नारकीय जीवन बिताना होगा।

एकः प्रपद्यते ध्वान्तं हित्वेदं स्वकलेवरम् ।
कुशलेतरपाथेयो भूतद्रोहेण यद्भृतम् ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

एकः—अकेला; प्रपद्यते—प्रवेश करता है; ध्वान्तम्—अन्धकार; हित्वा—छोड़कर; इदम्—यह; स्व—अपना; कलेवरम्—शरीर; कुशल-इतर—पाप; पाथेयः—सम्बल, रास्ते का खर्च; भूत—अन्य जीवों की; द्रोहेण—क्षति द्वारा; यत्—जो शरीर; भृतम्—पाला गया।

इस शरीर को त्याग कर वह अकेला नरक के अंधतम भागों में जाता है और अन्य जीवों के साथ ईर्ष्या करके उसने जो धन कमाया था वही पाथेय के रूप में उसके साथ जाता है।

तात्पर्य : जब मनुष्य अनुचित साधनों से धन कमाकर उस धन से अपने परिवार का तथा अपना पालन करता है, तो वह धन यद्यपि परिवार के कई सदस्यों द्वारा भोगा जाता है, किन्तु नरक तो उसे अकेले ही जाना होता है। जो व्यक्ति धन कमाकर या दूसरे की स्पर्धा करके जीवन का आनन्द उठाता है और जो अपने परिवार तथा मित्रों के साथ आनन्द उठाता है, उसे अकेले ही ऐसे हिंसक तथा अवैध जीवन के पापकर्मों का फल भोगना पड़ेगा। उदाहरणार्थ, यदि कोई मनुष्य किसी को मार कर कुछ धन प्राप्त करता है और उस धन से अपने परिवार का पोषण करता है, तो जो इस कमाये हुए काले धन का भोग करते हैं, वे भी अंशतः उत्तरदायी हैं और उन्हें भी नरक भेजा जाता है, किन्तु जो प्रमुख होता है उसे विशेष रूप से

दण्डित किया जाता है। भौतिक भोग का फल यही है कि पापफल ही उसके हाथ लगता है, धन नहीं। उसके द्वारा कमाया धन इसी संसार में रह जाता है और वह अपने साथ केवल कर्मफल ले जाता है।

इस संसार में भी यदि कोई मनुष्य किसी व्यक्ति की हत्या करके कुछ धन प्राप्त करता है, तो उसके परिवार को फाँसी नहीं दी जाती, यद्यपि उसके सदस्य पाप से दूषित रहते हैं। किन्तु जो व्यक्ति हत्या करता है और परिवार का पोषण करता है उसे ही हत्यारे के रूप में फाँसी दी जाती है। प्रत्यक्ष अपराधकर्ता अप्रत्यक्ष भोक्ता की अपेक्षा पापकर्मों के लिए अधिक उत्तरदायी है। अत: परम विद्वान चाणक्य पण्डित कहते हैं कि मनुष्य के पास जो कुछ भी है उसे सत्-कार्य में या भगवान् के लिए व्यय कर देना चाहिए, क्योंकि कोई अपने साथ धन-दौलत नहीं ले जाता। धन-दौलत यहीं रही आती है और नष्ट हो जाती है। अत: या तो हम धन को त्यागें अन्यथा धन हमें त्यागेगा, किन्तु हम दोनों विलग होकर रहेंगे। जब तक धन हमारे पास है तब तक उसका सर्वोत्तम उपयोग यही है कि कृष्णभावनामृत प्राप्त करने में इसका व्यय किया जाय।

दैवेनासादितं तस्य शमलं निरये पुमान् ।
भुङ्क्ते कुटुम्बपोषस्य हृतवित्त इवातुरः ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

दैवेन—भगवान् की व्यवस्था से; आसादितम्—प्राप्त; तस्य—उसका; शमलम्—पापपूर्ण फल, कुफल; निरये—नारकीय अवस्था में; पुमान्—मनुष्य; भुङ्क्ते—भोगता है; कुटुम्ब-पोषस्य—परिवार के पोषण का; हृत-वित्तः—जिसकी सम्पत्ति लुट गई हो; इव—सदृश; आतुरः—व्याकुल।

इस प्रकार भगवान् की व्यवस्था से, परिवार का पोषणकर्ता अपने पापकर्मों को भोगने के लिए नारकीय अवस्था में रखा जाता है मानो उसकी सारी सम्पत्ति लुट गई हो।

तात्पर्य : यहाँ पर उदाहरण दिया गया है कि पापी मनुष्य को वैसे ही कष्ट होता है, जिस प्रकार मनुष्य की सम्पत्ति लुटने पर होता है। बद्धजीव को अनेक जन्मों के बाद मनुष्य का शरीर प्राप्त होता है और यह एक अमूल्य निधि है। किन्तु यदि कोई मुक्ति प्राप्त करने के लिए इस जीवन का उपयोग नहीं करता वरन् अपने तथाकथित परिवार के पालन-पोषण में ही

लगाता है और इस तरह मूर्खतापूर्ण तथा अवैध कर्म करता रहता है, तो वह उस पुरुष के समान है, जो अपनी सारी सम्पत्ति लुट चुकने पर शोक करता है। सम्पत्ति लुट जाने पर शोक करने से क्या लाभ? किन्तु जब तक पास में सम्पत्ति रहे तब तक उसका समुचित उपयोग करके शाश्वत लाभ प्राप्त किया जा सकता है। यहाँ यह तर्क किया जा सकता है कि जब मनुष्य पापकर्म के द्वारा अर्जित धन को छोड़ कर मर जाता है, तो अपने धन के साथ अपने पापकर्म भी छोड़ जाता है। किन्तु यहाँ यह विशेष उल्लेख है कि दैवी व्यवस्था (*दैवेनासादितम्*) से यद्यपि वह अपना धन छोड़े जाता है, किन्तु इसके प्रभाव को अपने साथ लेता जाता है। यदि कोई कुछ धन चुरावे और पकड़ा जाय तथा उस धन को राज्य के कानून के अनुसार भले ही वह लौटा दे, किन्तु उसे दण्ड भोगना ही पड़ता है। इसी प्रकार अपराध द्वारा अर्जित धन मरते समय भले ही यहाँ छूट जाय, किन्तु दैवी व्यवस्था के अनुसार इसके फल को अपने साथ लेता जाता है, अत: उसे नारकीय जीवन भोगना पड़ता है।

केवलेन ह्यधर्मेण कुटुम्बभरणोत्सुकः ।
याति जीवोऽन्धतामिस्रं चरमं तमसः पदम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

केवलेन—केवल, निरे; हि—निश्चय ही; अधर्मेण—अधर्म कार्यों से; कुटुम्ब—परिवार; भरण—पालने के लिए; उत्सुकः—उत्सुक; याति—जाता है; जीवः—व्यक्ति; अन्ध-तामिस्रम्—अन्धतामिस्र नरक को; चरमम्—परम; तमसः—अंधकार का; पदम्—क्षेत्र।

अत: जो व्यक्ति केवल कुत्सित साधनों से अपने परिवार तथा कुटुम्बियों का पालन करने के लिए लालायित रहता है, वह निश्चय ही अन्धतामिस्र नामक गहनतम नरक में जाता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में तीन शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। *केवलेन* का अर्थ है "कुत्सित साधनों से", *अधर्मेण* का अर्थ है "पापपूर्ण अथवा अधार्मिक" और *कुटुम्ब-भरण* का अर्थ है "परिवार का पालन पोषण।" निस्सन्देह परिवार का पालन गृहस्थ का कर्तव्य है, किन्तु उसे शास्त्रसम्मत विधि से ही जीविका कमानी चाहिए। *भगवद्गीता* में बताया गया है कि भगवान् ने सामाजिक पद्धति को चार वर्णों या जातियों में उनके गुण तथा कर्म के अनुसार विभाजित

किया है। *भगवद्गीता* के अतिरिक्त, प्रत्येक समाज में मनुष्य अपने गुण तथा कार्य के अनुसार ही जाना जाता है। उदाहरणार्थ, लकड़ी का काम करने वाला बढ़ई कहलाता है तथा लोहे तथा निहाई का काम करने वाला लुहार कहलाता है। इसी प्रकार चिकित्सा तथा इंजीनियरी क्षेत्रों में लगे मनुष्यों के विशेष कार्य तथा उपाधियाँ होती हैं। परमेश्वर ने इन समस्त मानवीय कार्यों को चार वर्णों में विभाजित किया जिनके नाम हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र। *भगवद्गीता* तथा अन्य वैदिक ग्रन्थों में इन चारों वर्णों के कर्तव्यों का उल्लेख है।

मनुष्य को अपनी योग्यता के अनुसार निष्ठापूर्वख काम करना चाहिए। उसे अनुचित ढंग से जिनके लिए वह योग्य नहीं है, जीविका अर्जित नहीं करनी चाहिए। यदि ब्राह्मण को धर्माचार्य के रूप में योग्यता प्राप्त नहीं है, किन्तु धर्माचार्य का कार्य करता है, जिसका कार्य है अपने अनुयायियों को आध्यात्मिक जीवन-शैली बताना, तो वह जनता को ठग रहा होता है। मनुष्य को ऐसे अनुचित साधनों से धन नहीं कमाना चाहिए। यही बात क्षत्रिय तथा वैश्य पर भी लागू होती है। इसका विशेष उल्लेख हुआ है कि जो लोग कृष्णभावनामृत में अग्रसर होना चाहते हैं उनकी जीविका के साधन अत्यन्त न्यायोचित तथा जटिलता-रहित होने चाहिए। यहाँ इसका उल्लेख है कि जो अनुचित साधनों से (*केवलेन*) जीविकोपार्जन करता है उसे गहनतम नरक में भेजा जाता है। अन्यथा यदि वह शास्त्रोक्त विधियों से तथा ईमानदारी के साथ परिवार का भरण करता है, तो पारिवारिक व्यक्ति बनने में किसी को आपत्ति नहीं होगी।

अधस्तान्नरलोकस्य यावतीर्यातनादयः ।
क्रमशः समनुक्रम्य पुनरत्राव्रजेच्छुचिः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

अधस्तात्—नीचे से; नर-लोकस्य—मनुष्य जन्म; यावतीः—जितनी; यातना—दण्ड, सजाएँ; आदयः—इत्यादि; क्रमशः—नियत क्रम; समनुक्रम्य—से होकर जाने पर; पुनः—फिर; अत्र—यहाँ, इस पृथ्वी पर; आव्रजेत्—लौट सकता है; शुचिः—शुद्ध।

समस्त कष्टकर नारकीय परिस्थितियों से तथा मनुष्य जन्म के पूर्व पशु-जीवन के निम्नतम रूपों को क्रमशः पार करते हुए और इस प्रकार अपने पापों को भोगते हुए, वह इस पृथ्वी पर मनुष्य के रूप में पुनः जन्म लेता है।

तात्पर्य : जिस प्रकार से एक बन्दी को बन्दीगृह का कष्टमय जीवन बिताने के बाद पुन: मुक्त कर दिया जाता है उसी तरह जो व्यक्ति पहले अपवित्र तथा शरारतपूर्ण कर्म कर चुका होता है, वह नारकीय स्थितियों में रखा जाता है और विभिन्न प्रकार के नारकीय जीवन—यथा कुत्ते, बिल्ली तथा शूकर जैसे निम्न पशुओं के जीवन बिताने के बाद क्रमश: विकास क्रिया के द्वारा पुन: मनुष्य रूप में आता है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि योगाभ्यास में लगा व्यक्ति कभी-कभी अच्छी तरह से उसे पूरा नहीं कर पाता और वह किसी न किसी कारण से नीचे गिर जाता है, किन्तु तो भी अगले जीवन में उसका मनुष्य होना निश्चित है। यह कहा गया है कि ऐसा व्यक्ति जो योग के पथ से च्युत होता है उसे किसी अत्यन्त धनी परिवार में या अत्यन्त पवित्र कुल में जन्म लेने का अवसर प्रदान किया जाता है। इससे यह अर्थ लगाया जाता है कि धनी परिवार किसी बड़े व्यापारी कुल का सूचक है, क्योंकि जो लोग व्यापार करते हैं, वे अत्यन्त धनी होते हैं। जो व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार में या परमेश्वर के साथ सम्बन्ध स्थापित करने (योग) में लगा रहता है, किन्तु उसे पूरा नहीं कर पाता तो उसे धनी परिवार में या कि पवित्र ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने दिया जाता है। दोनों ही तरह से उसे अगले जीवन में मनुष्य-समाज में जन्म लेने की गांरटी रहती है। अत: यह निष्कर्ष निकला कि जो तामिस्त्र या अंधतामिस्त्र जैसे नरक का जीवन बिताना नहीं चाहता उसे कृष्णभक्ति की विधि अपनानी चाहिए, जो प्रथमकोटि की योगपद्धति है, क्योंकि यदि कोई उससे इस जीवन में पूर्ण कृष्णभावनामृत प्राप्त नहीं कर पाता तो अगले जन्म में मनुष्य परिवार में उसका जन्म निश्चित है। उसे नरक नहीं भेजा जा सकता। कृष्णभावनाभावित होना शुद्धतम जीवन है। यह सभी मनुष्यों को नरक की ओर जाकर कुत्तों या शूकरों के परिवार में जन्म लेकर नरक की ओर जाने से बचाती है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत *के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत ''भगवान् कपिल द्वारा विपरीत कर्मों का वर्णन'' नामक तीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।*

Chapter इकतीस

जीवों की गतियों के विषय में भगवान् कपिल के उपदेश

श्रीभगवानुवाच
कर्मणा दैवनेत्रेण जन्तुर्देहोपपत्तये ।
स्त्रियाः प्रविष्ट उदरं पुंसो रेतःकणाश्रयः ॥ १ ॥

शब्दार्थ

श्री-भगवान् उवाच—श्रीभगवान् ने कहा; कर्मणा—कर्मफल के द्वारा; दैव-नेत्रेण—भगवान् की अध्यक्षता में; जन्तुः—जीव; देह—शरीर; उपपत्तये—प्राप्त करने के लिए; स्त्रियाः—स्त्री के; प्रविष्टः—प्रवेश करता है; उदरम्—गर्भ में; पुंसः—पुरुष के; रेतः—वीर्य का; कण—सूक्ष्म भाग; आश्रयः—रहते हुए।

भगवान् ने कहा : परमेश्वर की अध्यक्षता में तथा अपने कर्मफल के अनुसार विशेष प्रकार का शरीर धारण करने के लिए जीव (आत्मा) को पुरुष के वीर्यकण के रूप में स्त्री के गर्भ में प्रवेश करना होता है।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले अध्याय में कहा जा चुका है, नाना प्रकार की नारकीय स्थितियों को भोगने के बाद जीव पुनः मनुष्य का शरीर प्राप्त करता है। इस अध्याय में उसी प्रसंग को आगे बढ़ाया गया है। किसी व्यक्ति को जिसने पहले नारकीय जीवन बिताया है, मनुष्य का स्वरूप देने के लिए, आत्मा को पहले पुरुष के वीर्य में स्थानान्तरित किया जाता है, जो उसका पिता बनने के लिए उपयुक्त हो। संभोग के समय पिता के वीर्य से यह आत्मा माता के गर्भ में स्थानान्तरित हो जाता है, जिससे विशेष प्रकार का शरीर उत्पन्न होता है। यह विधि समस्त प्राणियों पर लागू होती है, किन्तु यहाँ पर उस मनुष्य के लिए विशेष रूप से वर्णित है, जो अन्धतामिस्र में चला गया हो। वहाँ पर कष्ट भोगने के बाद, जब वह कुत्ता तथा शूकर जैसे अनेक शरीर धारण कर चुकता है, तो पुनः मनुष्य का स्वरूप प्राप्त करने के लिए उसे उसी प्रकार का शरीर धारण करने का अवसर दिया जाता है, जिसमें वह नरक में जा पड़ा था।

यह सब कुछ भगवान् की अध्यक्षता में होता है। प्रकृति शरीर प्रदान करती है, किन्तु परमात्मा के निर्देशन में। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जीव इस जगत में प्रकृति द्वारा निर्मित

रथ पर चढ़कर घूमता है। परम पुरुष, परमात्मा रूप में व्यष्टि आत्मा के साथ सदैव उपस्थित रहते हैं। वह प्रत्येक आत्मा को उसके कर्मफल के अनुसार शरीर प्रदान करने के लिए प्रकृति को निर्देश देता है, जिसे प्रकृति करती है। यहाँ पर *रेत:कणाश्रय* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि यह बताता है कि मनुष्य के वीर्य से स्त्री के गर्भ में जीवन उत्पन्न नहीं होता, अपितु जीव या आत्मा वीर्यकण का आश्रय लेकर स्त्री के गर्भ में जाता है, तभी शरीर विकसित होता है। आत्मा की अनुपस्थिति में मात्र संभोग से, जीव के उत्पन्न होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। यह भौतिकतावादी सिद्धान्त लागू नहीं होता कि आत्मा नहीं है और शिशु का जन्म केवल शुक्राणु तथा रज के संयोग से होता हैं। यह सिद्धान्त मान्य नहीं है।

कललं त्वेकरात्रेण पञ्चरात्रेण बुद्बुदम् ।
दशाहेन तु कर्कन्धू: पेश्यण्डं वा तत: परम् ॥ २॥

शब्दार्थ

कललम्—शुक्राणु तथा रज का मिश्रण; तु—तब; एक-रात्रेण—पहली रात में; पञ्च-रात्रेण—पाँचवी रात तक; बुद्बुदम्—बुलबुला; दश-अह्नेन—दस दिनों में; तु—तब; कर्कन्धू:—बेर के बराबर; पेशी—मांस का लोथड़ा; अण्डम्—अंडा; वा—अथवा; तत:—उससे; परम्—बाद में।

पहली रात में शुक्राणु तथा रज मिलते हैं और पाँचवी रात में यह मिश्रण बुलबले का रूप धारण कर लेता है। दसवीं रात्रि को यह बढ़कर बेर जैसा हो जाता है और उसके बाद धीरे-धीरे यह मांस के पिण्ड या अंडे में परिवर्तित हो जाता है।

तात्पर्य : अपने आत्मा का शरीर विभिन्न स्रोतों के अनुसार चार प्रकार से विकसित होता है। एक प्रकार का शरीर पौधों का है, जो पृथ्वी से फूटता है; दूसरे प्रकार का शरीर पसीने (श्वेद) से उत्पन्न होता है यथा मक्खी, कीड़े तथा खटमल; तीसरे प्रकार का शरीर अण्डे से विकसित होता है और चौथे प्रकार का शरीर भ्रूण से उत्पन्न होता है। इस श्लोक से सूचित होता है कि शुक्राणु तथा रज के मिलने के पश्चात् धीरे-धीरे शरीर मांस के पिंड में या अंडे में विकसित होता है। पक्षियों में अंडा बनता है और पशुओं तथा मनुष्यों में मांस का पिंड बनता है।

मासेन तु शिरो द्वाभ्यां बाह्वङ्‌घ्र्याद्यङ्गविग्रहः ।
नखलोमास्थिचर्माणि लिङ्गच्छिद्रोद्भवस्त्रिभिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

मासेन—एक मास के भीतर; तु—तब; शिरः—सिर; द्वाभ्याम्—दो महीने में; बाहु—हाथ; अङ्घ्रि—पैर; आदि—इत्यादि; अङ्ग—शरीर के अवयव; विग्रहः—स्वरूप; नख—नाखून; लोम—रोएँ; अस्थि—हड्डियाँ; चर्माणि—तथा चमड़ी; लिङ्ग—शिश्न; छिद्र—छेद; उद्भवः—प्राकट्य; त्रिभिः—तीन मास में।

एक महीने के भीतर सिर बन जाता है और दो महीने के अन्त में हाथ, पाँव तथा अन्य अंग आकार पाते हैं। तीसरे मास के अन्त तक नाखून, अँगुलियाँ, अँगूठे, रोएँ, हड्डियाँ तथा चमड़ी प्रकट हो आती हैं और इसी तरह जननेन्द्रिय तथा आँखें, नथुने, कान, मुँह तथा गुदा जैसे छिद्र भी प्रकट होते हैं।

चतुर्भिर्धातवः सप्त पञ्चभिः क्षुत्तृडुद्भवः ।
षड्भिर्जरायुणा वीतः कुक्षौ भ्राम्यति दक्षिणे ॥ ४ ॥

शब्दार्थ

चतुर्भिः—चार महीने के भीतर; धातवः—अवयव; सप्त—सात; पञ्चभिः—पाँच महीने के भीतर; क्षुत्-तृट्—भूख तथा प्यास के; उद्भवः—प्राकट्य; षड्भिः—छह मास के भीतर; जरायुणा—झिल्ली से; वीतः—घिर कर; कुक्षौ—उदर में; भ्राम्यति—चलता है; दक्षिणे—दाहिनी ओर।

गर्भधारण के चार महीने के भीतर शरीर के सात मुख्य अवयव उत्पन्न हो जाते हैं। इनके नाम हैं—रस, रक्त, मांस, चर्बी, हड्डी, मज्जा तथा वीर्य। पाँच महीने में भूख तथा प्यास लगने लगती है और छह मास के अन्त तक झिल्ली (जरायु) के भीतर बन्द गर्भ (भ्रूण) उदर के दाहिनी भाग में चलने लगता है।

तात्पर्य : छह मास के अन्त तक शिशु का शरीर पूरी तरह बन जाता है और यदि वह (भ्रूण) नर हुआ तो दाहिनी ओर चलता है, किन्तु मादा होने पर बाईं ओर चलता है।

मातुर्जग्धान्नपानाद्यैरेधद्धातुरसम्मते ।
शेते विण्मूत्रयोर्गर्ते स जन्तुर्जन्तुसम्भवे ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

मातुः—माता का; जग्ध—ग्रहण किया गया; अन्न-पान—भोजन तथा पेय पदार्थ, खाना-पीना; आद्यैः—इत्यादि से; एधत्—बढ़ते हुए; धातुः—शरीर के अवयव; असम्मते—गर्हित, घृणित; शेते—रहा आता है; विट्-मूत्रयोः—मल-मूत्र के; गर्ते—गड्ढे में; सः—वह; जन्तुः—भ्रूण; जन्तु—कीड़ों के; सम्भवे—पोषण-स्थल में।

माता द्वारा ग्रहण किये गये भोजन तथा जल से पोषण प्राप्त करके भ्रूण बढ़ता है

और मल-मूत्र के घृणित स्थान में, जो सभी प्रकार के कीटाणुओं के उपजने का स्थान है, रहा आता है।

तात्पर्य : *मार्कण्डेय पुराण* में कहा गया है कि *आप्यायनी* अर्थात् नाल बच्चे को माता की आँत से जोड़ती है और इसी मार्ग से माता द्वारा पचाया गया भोजन शिशु को जाता है। इस प्रकार गर्भ के भीतर शिशु अपनी माता की आँत के माध्यम से पोषित होता है और नित्यप्रति बढ़ता रहता है। *मार्कण्डेय पुराण* के कथन की पुष्टि आधुनिक चिकित्सा विज्ञान द्वारा होती है, अत: पुराणों के प्रमाण को काटा नहीं जा सकता, जैसाकि कभी-कभी मायावादी चिन्तक करते हैं।

चूँकि शिशु माता द्वारा स्वांगीकृत भोज्य पदार्थ पर पूर्णतया निर्भर रहता है, अत: गर्भावस्था में माता द्वारा ग्रहण किये जाने वाले भोजन पर प्रतिबन्धन रहते हैं। गर्भिणी माँ को अधिक नमक, मिर्च, प्याज आदि खाने की मनाही रहती है, क्योंकि शिशु का शरीर अत्यन्त कोमल होता है और इस तरह की तिक्त वस्तुएँ सहन नहीं कर सकता। स्मृति शास्त्रों में निर्दिष्ट गर्भिणी माता द्वारा करणीय तथा निषेध अत्यन्त उपयोगी हैं। हमें वैदिक साहित्य से पता चलता है कि समाज में उत्तम शिशु उत्पन्न करने की ओर कितना ध्यान दिया जाता था। समाज के उच्च वर्णों में प्रसंग के पूर्व गर्भाधान उत्सव का विशेष महत्त्व था और यह वैज्ञानिक भी है। गर्भावस्था के समय वैदिक साहित्य में संस्तुत अन्य विधियाँ भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। शिशु की देखभाल करना माता-पिता का प्रमुख कर्तव्य है, क्योंकि इससे समाज ऐसे लोगों से पूर्ण हो सकेगा जिससे समाज, देश तथा मानव-जाति के लिए शान्ति तथा सम्पन्नता आ सकती है।

कृमिभि: क्षतसर्वाङ्ग: सौकुमार्यात्प्रतिक्षणम् ।
मूर्च्छामाप्नोत्युरुक्लेशस्तत्रत्यै: क्षुधितैर्मुहु: ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

कृमिभि:—कीड़ों द्वारा; क्षत—काटे जाने पर; सर्व-अङ्ग:—पूरे शरीर में; सौकुमार्यात्—सुकुमार होने के कारण; प्रति-क्षणम्—क्षण-क्षण; मूर्च्छाम्—अचेत अवस्था को; आप्नोति—प्राप्त करता है; उरु-क्लेश:—महान् कष्ट; तत्रत्यै:—वहाँ (उदर में) रहकर; क्षुधितै:—भूख से; मुहु:—पुन: पुन: ।

उदर में भूखे कीड़ों द्वारा शरीर भर में बारम्बार काटे जाने पर शिशु को अपनी

सुकुमारता के कारण अत्यधिक पीड़ा होती है। इस भयावह स्थिति के कारण वह क्षण-क्षण अचेत होता रहता है।

तात्पर्य : इस संसार की कष्टप्रद स्थिति का अनुभव हमें माता के गर्भ से बाहर निकलने पर ही नहीं, अपितु गर्भ में रहते हुए भी होता है। यह कष्टप्रद जीवन उसी समय से प्रारम्भ हो जाता है जब जीव शरीर से सम्पर्क स्थापित करता है। दुर्भाग्यवश हम इस अनुभव को भूल जाते हैं और जन्म के कष्टों पर गम्भीरता से विचार नहीं करते। अत: *भगवद्गीता* में विशेष रूप से उल्लेख है कि मनुष्य को जन्म तथा मृत्यु की कठिनाइयों को समझने के प्रति सचेत रहना चाहिए। जिस प्रकार शरीर-निर्माण के समय हमें माता के गर्भ में अनेक कष्ट सहन करने होते हैं उसी प्रकार मृत्यु के समय भी अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। जैसाकि पिछले अध्याय में बताया गया है, मनुष्य को एक शरीर से दूसरे में अन्तरण करना होता है और जब कुत्तों तथा सुअरों के शरीर में यह अन्तरण होता है, तो विशेष कष्ट होता है। किन्तु ऐसी कष्टप्रद स्थितियों के होते हुए हम माया के प्रभाव से सब कुछ भूल जाते हैं और वर्तमान तथाकथित सुख द्वारा आकृष्ट होते हैं, जो कष्ट की प्रतिक्रिया के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

कटुतीक्ष्णोष्णलवणरूक्षाम्लादिभिरुल्बणैः ।
मातृभुक्तैरुपस्पृष्टः सर्वाङ्गोत्थितवेदनः ॥ ७॥

शब्दार्थ

कटु—कड़वा; **तीक्ष्ण**—तीता; **उष्ण**—गरम; **लवण**—नमकीन; **रूक्ष**—सूखा; **अम्ल**—खट्टा; **आदिभिः**—इत्यादि से; **उल्बणैः**—अत्यधिक; **मातृ-भुक्तैः**—माता द्वारा खाये गये भोजन से; **उपस्पृष्टः**—प्रभावित; **सर्व-अङ्ग**—सारे शरीर में; **उत्थित**—उत्पन्न हुआ; **वेदनः**—दर्द, पीड़ा।

माता के खाये कड़वे, तीखे, अत्यधिक नमकीन या खट्टे भोजन के कारण शिशु के शरीर में निरन्तर पीड़ा रहती है, जो प्राय: असह्य होती है।

तात्पर्य : माता के गर्भ में स्थित शिशु की शारीरिक अवस्था का पूरा वर्णन कर पाना असम्भव है। ऐसी स्थिति में रहना अत्यन्त कठिन होता है, किन्तु फिर भी शिशु को उसी में रहना ही पड़ता है। चेतना का ठीक से विकास न होने के कारण शिशु इसे सहन करता है अन्यथा वह मर जाय। यह माया का आशीर्वाद है, जो कष्ट सहने वाले शरीर को ऐसी भीषण

यातनाएँ सहने की शक्ति प्रदान करता है।

उल्बेन संवृतस्तस्मिन्नन्त्रैश्च बहिरावृतः ।
आस्ते कृत्वा शिरः कुक्षौ भुग्नपृष्ठशिरोधरः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

उल्बेन—झिल्ली से; संवृतः—लिपटा हुआ; तस्मिन्—उस स्थान पर; अन्त्रैः—आँतों से; च—तथा; बहिः—बाहर; आवृतः—घिरा हुआ, ढका; आस्ते—लेटा रहता है; कृत्वा—रखा जाकर; शिरः—सिर; कुक्षौ—पेट की ओर; भुग्न—झुका हुआ; पृष्ठ—पीठ; शिरः-धरः—गर्दन।

झिल्ली से लिपटा और बाहर से आँतों द्वारा ढका (घिरा) हुआ शिशु उदर में एक ओर पड़ा रहता है। उसका सिर उसके पेट की ओर मुड़ा हुआ रहता है और उसकी कमर तथा गर्दन धनुषाकार में मुड़े रहते हैं।

तात्पर्य : यदि किसी बड़े मनुष्य को उस अवस्था में रखा जाय जिसमें एक शिशु उदर के भीतर सभी प्रकार से फँसा हुआ रहता है, तो उसके लिए कुछ क्षण भी जीवित रहना दूभर हो जाय। दुर्भाग्यवश हमें ये सारे कष्ट याद नहीं रहते हैं और हम इस जीवन में प्रसन्न रहने का प्रयत्न करते हैं। हम जन्म-मृत्यु के पाश से आत्मा को मुक्त करने की तनिक भी चिन्ता नहीं करते। यह हमारी सभ्यता का दुर्भाग्य है कि ये बातें ठीक से समझायी नहीं जातीं जिससे लोग संसार की नाजुक स्थिति को समझ सकें।

अकल्पः स्वाङ्गचेष्टायां शकुन्त इव पञ्जरे
तत्र लब्धस्मृतिर्दैवात्कर्म जन्मशतोद्भवम् ।
स्मरन्दीर्घमनुच्छ्वासं शर्म किं नाम विन्दते ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

अकल्पः—अशक्त; स्व-अङ्ग—अपने अंग; चेष्टायाम्—हिलाने-डुलाने के लिए; शकुन्तः—पक्षी; इव—सदृश; पञ्जरे—पिंजड़े में; तत्र—वहाँ; लब्ध-स्मृतिः—स्मृति को प्राप्त करके; दैवात्—भाग्यवश; कर्म—कर्म; जन्म-शत-उद्भवम्—पिछले सौ जन्मों में घटित होने वाले; स्मरन्—याद करके; दीर्घम्—दीर्घकाल तक; अनुच्छ्वासम्—आहें भरना; शर्म—मन को शान्ति; किम्—क्या; नाम—तब; विन्दते—प्राप्त कर सकता है।

इस तरह शिशु पिंजड़े के पक्षी के समान बिना हिले-डुले रह रहा होता है। उस समय, यदि शिशु भाग्यवान हुआ, तो उसे विगत सौ जन्मों के कष्ट स्मरण हो आते हैं और वह दुख से आहें भरता है। भला ऐसी दशा में मनःशान्ति कैसे सम्भव है?

तात्पर्य : जन्म के बाद शिशु भले ही विगत जीवन के कष्टों को भूल जाय, किन्तु जब हम बड़े हो जाते हैं तब *श्रीमद्भागवत* जैसे प्रामाणिक शास्त्रों को पढ़कर इतना तो समझ ही सकते हैं कि जन्म तथा मृत्यु के समय कितनी यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। यदि शास्त्रों में हमारा विश्वास नहीं है, तो अलग बात है, किन्तु यदि ऐसे शास्त्रों के प्रमाण पर हमारा विश्वास है, तो हमें अगले जन्म में इससे मुक्त होने की तैयारी करनी चाहिए। ऐसा इसी मनुष्य जीवन में सम्भव है। जो इन संकेतों की परवाह नहीं करता वह आत्मघात करता है। कहा गया है कि मनुष्य-जीवन ही माया के अन्धकार को या भवसागर को पार करने का एकमात्र साधन है। हमारे पास यह मनुष्य-शरीर अत्यन्त सक्षम नाव के समान है और गुरु ही इसका अत्यन्त दक्ष कप्तान है, शास्त्रीय आदेश अनुकूल हवाओं के समान है। यदि इन सारी सुविधाओं के रहते हुए भी हम अज्ञान के सागर को पार नहीं कर पाते तो हम जानबूझ कर आत्मघात कर रहे होते हैं।

आरभ्य सप्तमान्मासाल्लब्धबोधोऽपि वेपितः ।
नैकत्रास्ते सूतिवातैर्विष्ठाभूरिव सोदरः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

आरभ्य—प्रारम्भ होने पर; सप्तमात् मासात्—सातवें महीने से; लब्ध-बोधः—चेतना प्राप्त; अपि—यद्यपि; वेपितः—हिलता डुलता; न—नहीं; एकत्र—एक स्थान पर; आस्ते—रहा आता है; सूति-वातैः—शिशु जन्म के लिए हवाओं (प्रसूति वायु) द्वारा; विष्ठा-भूः—क्रीड़ा; इव—सदृश; स-उदरः—उसी गर्भ से उत्पन्न।

इस प्रकार गर्भाधान के पश्चात् सातवें मास से चेतना विकसित होने पर यह शिशु उन हवाओं के द्वारा चलायमान रहता है, जो भ्रूण को प्रसव के कुछ सप्ताह पूर्व से दबाती रहती हैं। वह उसी पेट की गन्दगी से उत्पन्न कीड़ों के समान एक स्थान में नहीं रह सकता।

तात्पर्य : सातवें मास के बाद शिशु शारीरिक वायु से हिलने-डुलने लगता है, एक ही स्थान पर नहीं रहा आता, क्योंकि प्रसव के पूर्व सारा योनि-तंत्र शिथिल पड़ जाता है। यहाँ पर कीड़ों को *सोदर* कहा गया है। *सोदर* का वास्तविक अर्थ है "एक ही माता से उत्पन्न।" चूँकि शिशु माता के गर्भ से उत्पन्न होता है और कीड़े भी उसी माँ के गर्भ के भीतर सड़न से उत्पन्न

होते हैं, अत: शिशु तथा कीड़े वास्तव में भाई-भाई हैं। हम मनुष्यों में भ्रातृत्व स्थापित करने के लिए उत्सुक रहते हैं, किन्तु हमें कीड़ों को भी अपना भाई मानना चाहिए, अन्य प्राणियों की तो बात ही और है। अत: हमें समस्त प्राणियों के प्रति चिन्तित रहना चाहिए।

नाथमान ऋषिर्भीतः सप्तवध्रिः कृताञ्जलिः ।
स्तुवीत तं विक्लवया वाचा येनोदरेऽर्पितः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

नाथमानः—याचना करता हुआ; ऋषिः—जीव; भीतः—डरा हुआ; सप्त-वध्रिः—सात आवरणों से बँधा; कृत-अञ्जलिः—हाथ जोड़े; स्तुवीत—प्रार्थना करता है; तम्—भगवान् को; विक्लवया—विकल होकर; वाचा—शब्दों से; येन—जिसके द्वारा; उदरे—गर्भ में; अर्पितः—स्थापित किया गया था।

इस भयभीत अवस्था में, भौतिक अवयवों के सात आवरणों से बँधा हुआ जीव हाथ जोड़कर भगवान् से याचना करता है जिन्होंने उसे इस स्थिति में ला रखा है।

तात्पर्य : कहा जाता है कि जब स्त्री को प्रसव पीड़ा से गुजरना पड़ता है, तो वह प्रतिज्ञा करती है कि अब वह फिर से गर्भ धारण नहीं करेगी और ऐसा कष्ट फिर नहीं उठावेगी। इसी तरह से जब किसी का अस्पताल में आपरेशन होता है, तो रोगी प्रतिज्ञा करता है कि अब वह ऐसा कार्य नहीं करेगा जिससे वह बीमार पड़े और उसे फिर आपरेशन कराना पड़े। या जब कोई व्यक्ति संकट में होता है, तो वह प्रतिज्ञा करता है कि वह पुन: ऐसी भूल नहीं करेगा जिससे संकट में पड़े। इसी तरह जब जीव नारकीय अवस्था को प्राप्त होता है, तो वह भगवान् से प्रार्थना करता है कि वह पुन: पापकर्म नहीं करेगा जिससे वह माँ के गर्भ में जाकर जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़े। गर्भ के भीतर की नारकीय अवस्था में जीव पुन: जन्म लेने से भयभीत रहता है, किन्तु जब वह गर्भ से बाहर आ जाता है, जब वह अपनी पूरी जवानी में और स्वस्थ होता है, तो वह सब कुछ भूल जाता है और पुन:पुन: वही पाप करता है जिनके लिए उसे इस भयावह स्थिति में रखा गया था।

जन्तुरुवाच
तस्योपसन्नमवितुं जगदिच्छयात्त-
नानातनोर्भुवि चलच्चरणारविन्दम् ।

सोऽहं व्रजामि शरणं ह्यकुतोभयं मे
येनेदृशी गतिरदर्श्यसतो ऽनुरूपा ॥ १२॥

शब्दार्थ

जन्तुः उवाच—जीव कहता है; तस्य—भगवान् का; उपसन्नम्—रक्षा के लिए पास आने पर; अवितुम्—रक्षा के लिए; जगत्—ब्रह्माण्ड; इच्छया—स्वेच्छा से; आत्त-नाना-तनोः—जो विभिन्न स्वरूपों को स्वीकार करता है; भुवि—पृथ्वी पर; चलत्—चलते हुए; चरण-अरविन्दम्—चरणकमल; सः अहम्—मैं स्वयं; व्रजामि—जाता हूँ; शरणम्—शरण में; हि—निस्सन्देह; अकुतः-भयम्—निर्भय बनाने; मे—मुझको; येन—जिससे; ईदृशी—ऐसी; गतिः—जीवन दशा; अदर्शि—मानी जाती थी; असतः—अपवित्र; अनुरूपा—उपयुक्त।

जीव कहता है : मैं उन भगवान् के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता हूँ जो अपने विभिन्न नित्य स्वरूपों में प्रकट होते हैं और इस भूतल पर घूमते रहते हैं। मैं उन्हीं की शरण ग्रहण करता हूँ, क्योंकि वे ही मुझे निर्भय कर सकते हैं और उन्हीं से मुझे यह जीवन-अवस्था प्राप्त हुई है, जो मेरे अपवित्र कार्यों के सर्वथा अनुरूप है।

तात्पर्य : *चलच्चरणारविन्दम्* शब्द भगवान् का सूचक है, जो पृथ्वी पर चलते या भ्रमण करते हैं। उदाहरणार्थ, भगवान् रामचन्द्र पृथ्वी पर चले और भगवान् कृष्ण भी सामान्य मनुष्य की भाँति घूमते फिरते थे। अतः यह प्रार्थना उन भगवान् से की जाती है, जो इस पृथ्वी पर या ब्रह्माण्ड के किसी भी भाग पर साधुओं की रक्षा करने तथा असाधुओं को नष्ट करने के लिए अवतरित होते हैं। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि हुई है कि जब-जब धर्म का ह्रास होता है और अधर्म की वृद्धि होती है, तो भगवान् सत्पुरुषों की रक्षा करने और असाधुओं को मारने के लिए अवतरित होते हैं। इस श्लोक से भगवान् कृष्ण का संकेत मिलता है।

इस श्लोक की अन्य विशेषता है कि भगवान् *इच्छया* अर्थात् स्वेच्छा से आते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* से पुष्टि होती है—*सम्भवाम्यात्ममायया*—"मैं अपनी इच्छा से, अपनी अन्तरंगा शक्ति से प्रकट होता हूँ।" वे प्रकृति के नियमों से बाध्य होकर नहीं आते। यहाँ पर *इच्छया* कहा गया है : वे कोई स्वरूप धारण नहीं करते जैसाकि निर्विशेषवादी सोचते हैं, क्योंकि वे स्वेच्छा से आते हैं, अतः वे जिस रूप में अवतरित होते हैं वह सनातन रूप है। जिस तरह परमेश्वर जीव को भयावह स्थिति में डालता है, उसी तरह वह उसका उद्धार भी करता है, अतः मनुष्य को चाहिए कि कृष्ण के चरणकमलों की ही शरण में जाय। कृष्ण चाहते हैं, "प्रत्येक वस्तु को त्यागो और मेरी शरण में आओ।" *भगवद्गीता* में यह भी कहा गया है कि जो उनके

पास चला जाता है, वह इस संसार में पुन: शरीर धारण करने नहीं आता, अपितु भगवान् के धाम जाता है जहाँ से कभी नहीं लौटता।

यस्त्वत्र बद्ध इव कर्मभिरावृतात्मा
भूतेन्द्रियाशयमयीमवलम्ब्य मायाम् ।
आस्ते विशुद्धमविकारमखण्डबोध-
मातप्यमानहृदयेऽवसितं नमामि ॥ १३ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; तु—भी; अत्र—यहाँ; बद्धः—बँधा हुआ; इव—मानो; कर्मभिः—कार्यों से; आवृत—आच्छादित; आत्मा—शुद्ध आत्मा; भूत—स्थूल तत्त्व; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; आशय—मन; मयीम्—से युक्त; अवलम्ब्य—गिरकर; मायाम्—माया में; आस्ते—रहता है; विशुद्धम्—पूर्णतया शुद्ध; अविकारम्—परिवर्तन-रहित; अखण्ड-बोधम्—अनन्त ज्ञान से युक्त; आतप्यमान—संतप्त; हृदये—हृदय में; अवसितम्—रहते हुए; नमामि—नमस्कार करता हूँ।

मैं विशुद्ध आत्मा अपने कर्म के द्वारा बँधा हुआ, माया की व्यवस्थावश इस समय अपनी माता के गर्भ में पड़ा हुआ हूँ। मैं उन भगवान् को नमस्कार करता हूँ जो यहाँ मेरे साथ हैं, किन्तु जो अप्रभावित हैं और अपरिवर्तनशील हैं। वे असीम हैं, किन्तु संतप्त हृदय में देखे जाते हैं। मैं उन्हें सादर नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में आया है कि जीवात्मा कहता है, ''मैं परमेश्वर की शरण ग्रहण करता हूँ।'' फलत: स्वाभाविक रूप से जीवात्मा परमात्मा का आश्रित सेवक है। परमात्मा तथा जीवात्मा एक ही शरीर में बैठे हैं, जैसाकि *उपनिषदों* का कथन है। वे मित्र के रूप में बैठे हैं—एक तो कष्ट भोग रहा है और दूसरा कष्टों से सर्वथा विलग है।

इस श्लोक में *विशुद्धम् अविकारम् अखण्ड-बोधम्* आया है, जिसका अर्थ है कि परमात्मा समस्त कल्मष से सदैव दूर रहता है। शरीर होने के कारण जीव कल्मषग्रस्त है और कष्ट उठाता है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि चूँकि भगवान् भी उसके साथ है, इसलिए भगवान् के भी भौतिक शरीर है। वे *अविकारम्* अर्थात् परिवर्तनरहित हैं। वे सदैव एक से रहते हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश मायावादी चिन्तक अपने अशुद्ध हृदयों के कारण नहीं जान पाते कि परमात्मा व्यष्टि आत्मा से भिन्न है। यहाँ पर कहा गया है कि *आतप्यमानहृदयेऽवसितम्*—वे प्रत्येक जीव के हृदय में हैं, किन्तु वे केवल संतप्त आत्मा द्वारा ही अनुभवगम्य हैं। व्यष्टि आत्मा संतप्त

रहता है कि उसने अपनी स्वाभाविक स्थिति भुला दी, परमात्मा से तदाकार होना चाहा तथा प्रकृति पर अधिकार जताने का भरसक प्रयत्न किया। साथ ही उसे परमात्मा का दर्शन होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है कि अनेकानेक जन्मों के बाद बद्धजीव को यह ज्ञान होता है कि वासुदेव महान् हैं, वही स्वामी हैं, वही भगवान् हैं। व्यष्टि आत्मा सेवक है, अत: वह भगवान् की शरण जाता है। उस समय वह महात्मा या महान् आत्मा हो जाता है। अत: ऐसा भाग्यवान जीव जो अपनी माता के गर्भ में ही ऐसा ज्ञान प्राप्त कर लेता है उसकी मुक्ति निश्चित है।

य: पञ्चभूतरचिते रहित: शरीरे
च्छन्नोऽयथेन्द्रियगुणार्थचिदात्मकोऽहम् ।
तेनाविकुण्ठमहिमानमृषिं तमेनं
वन्दे परं प्रकृतिपूरुषयो: पुमांसम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

य:—जो; पञ्च-भूत—पाँच स्थूल तत्त्व से; रचिते—निर्मित; रहित:—पृथक्; शरीरे—भौतिक शरीर में; छन्न:—आवृत; अयथा—अनुपयुक्त; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; गुण—गुण; अर्थ—विषय; चित्—गर्व; आत्मक:—से युक्त; अहम्—मैं; तेन—शरीर द्वारा; अविकुण्ठ-महिमानम्—जिसकी महिमा प्रकट है; ऋषिम्—सर्वज्ञ; तम्—उस; एनम्—उसको; वन्दे—नमस्कार करता हूँ; परम्—दिव्य; प्रकृति—प्रकृति को; पूरुषयो:—जीव को; पुमांसम्—भगवान् को।

मैं अपने इस पंचभूतों से निर्मित भौतिक शरीर में होने के कारण परमेश्वर से विलग हो गया हूँ, फलत: मेरे गुणों तथा इन्द्रियों का दुरुपयोग हो रहा है, यद्यपि मैं मूलत: आध्यात्मिक हूँ। चूँकि ऐसे भौतिक शरीर से रहित होने के कारण भगवान् प्रकृति तथा जीव से परे हैं और चूँकि उनके आध्यात्मिक गुण महिमामय हैं, अत: मैं उन्हें नमस्कार करता हूँ।

तात्पर्य : जीवात्मा तथा भगवान् का अन्तर यह है कि जीव प्रकृति के वश में रहता है, जबकि भगवान् प्रकृति तथा जीव दोनों से परे हैं। जब जीवात्मा प्रकृति में रहता है, तो उसकी इन्द्रियाँ तथा उसके गुण कलुषित हो जाते हैं या उपाधिमय हो जाते हैं। चूँकि भगवान् प्रकृति के प्रभाव से बाहर हैं और निस्सन्देह जीव की तरह उन्हें अज्ञान के अन्धकार में नहीं रखा जा सकता। अत: भौतिक गुणों या इन्द्रियों से युक्त होने की कोई सम्भावना नहीं रहती। अपने पूर्ण

ज्ञान के कारण उन पर प्रकृति का वश नहीं चलता। उल्टे प्रकृति सदा ही उनके वश में रहती है, अत: प्रकृति के वश की बात नहीं कि वह भगवान् को अपने वश में रख सके।

चूँकि जीव का स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है, अत: वह प्रकृति के वश में होता रहता है, किन्तु जब वह मिथ्या शरीर से मुक्त होता है, तो वह भगवान् जैसी ही आध्यात्मिक स्वभाव को प्राप्त करता है। उस समय उसमें तथा परमेश्वर में कोई गुणात्मक अन्तर नहीं रह जाता, किन्तु वह इतना शक्तिमान नहीं होता कि प्रकृति के वश में कभी भी न आये, अत: वह भगवान् से भिन्न होता है।

भक्ति की पूरी प्रक्रिया ही अपने आपको प्रकृति के इस कल्मष से शुद्ध करना और आध्यात्मिक स्तर पर आसीन करना है जहाँ वह और भगवान् गुणात्मक रूप से एक होते हैं। वेदों में कहा गया है कि जीव सदैव मुक्त रहता है। *असङ्गो ह्ययं पुरुष:*। जीव मुक्त है। उसका भौतिक कल्मष क्षणिक है और उसकी वास्तविक स्थिति मुक्तता की है। यह मुक्ति कृष्णभावनामृत द्वारा प्राप्त की जाती और शरणागत होने के साथ ही प्रारम्भ होती है। इसलिए कहा गया है, ''मैं परम पुरुष को सादर नमस्कार करता हूँ।''

यन्माययोरुगुणकर्मनिबन्धनेऽस्मिन्
सांसारिके पथि चरंस्तदभिश्रमेण ।
नष्टस्मृतिः पुनरयं प्रवृणीत लोकं
युक्त्या कया महदनुग्रहमन्तरेण ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

यत्—भगवान् की; मायया—माया से; उरु-गुण—महान् गुणों से निकलने वाला; कर्म—कर्म; निबन्धने—बन्धों से; अस्मिन्—इस; सांसारिके—बारम्बार जन्म तथा मृत्यु के; पथि—रास्ते पर; चरन्—चलते हुए; तत्—उसका; अभिश्रमेण—अत्यधिक कष्ट के साथ; नष्ट—भ्रष्ट; स्मृतिः—स्मरण शक्ति; पुनः—फिर; अयम्—यह जीव; प्रवृणीत—अनुभव कर सकता है; लोकम्—अपनी असली प्रकृति; युक्त्या कया—जिस किसी साधन से; महत्-अनुग्रहम्—भगवान् की कृपा; अन्तरेण—बिना।

जीव आगे प्रार्थना करता है : जीवात्मा प्रकृति के वशीभूत रहता है और जन्म तथा मरण का चक्र बनाये रखने के लिए कठिन श्रम करता रहता है। यह बद्ध जीवन भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध की विस्मृति के कारण है। अत: बिना भगवान् की कृपा के कोई भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति में पुनः किस प्रकार संलग्न हो सकता है?

तात्पर्य : मायावादी चिन्तकों का कहना है कि मीमांसा द्वारा ज्ञान के अनुशीलन से मनुष्य भवबन्धन से मुक्त हो सकता है। किन्तु यहाँ पर यह कहा गया है कि मनुष्य ज्ञान से नहीं, अपितु भगवान् की कृपा से मुक्त होता है। कोई बद्धजीव मीमांसा द्वारा कितना ही शक्तिशाली ज्ञान क्यों न प्राप्त कर ले, उससे परम सत्य तक नहीं पहुँचा जा सकता। कहा जाता है कि भगवान् की कृपा के बिना कोई उनको या उनके वास्तविक रूप, गुण तथा नाम को नहीं समझ सकता। जो भक्ति नहीं करते वे कई हजारों वर्षों तक चिन्तन करने के बाद भी परम सत्य के स्वभाव को समझने में असमर्थ रहते हैं।

मनुष्य परम सत्य का ज्ञान प्राप्त करके केवल श्रीभगवान् की कृपा से मुक्ति प्राप्त कर सकता है। यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि चूँकि हम भगवान् की भौतिक शक्ति द्वारा आवृत हैं इसीलिए हमारी स्मृति नष्ट हो जाती है। यह तर्क किया जा सकता है कि भगवान् की परम इच्छा से हमें इस भौतिक शक्ति के अधीन क्यों रखा गया? इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* में की गई है जहाँ भगवान् कहते हैं, ''मैं हर एक के हृदय में आसीन हूँ और मेरे ही कारण मनुष्य भूलता है या ज्ञान में जीवित रहता है।'' बद्धजीव की विस्मृति भी परमेश्वर के आदेश से होती है। जीव अपनी बची-खुची स्वतन्त्रता का दुरुपयोग प्रकृति पर अधिकार जताने की इच्छा के कारण करता है। स्वतन्त्रता का अर्थ है कि मनुष्य इसे ढंग से या बेढंग से इस्तेमाल कर सकता है। यह अचल नहीं है, सक्रिय है, फलत: स्वतन्त्रता का दुरुपयोग ही माया के वशीभूत होने का कारण है।

माया इतनी प्रबल है कि भगवान् कहते है; इसके प्रभाव को पार कर पाना दुष्कर है। किन्तु मनुष्य भगवान् की शरण में जाकर सहज ही ऐसा कर सकता है। *मामेव ये प्रपद्यन्ते*—जो कोई भी उनकी शरण में जाता है, वह प्रकृति के कठोर नियमों के प्रभाव को पार कर सकता है। यहाँ यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जीव उनकी इच्छा से माया के वश में है और यदि कोई इस पाश से छूटना चाहता है, तो यह भगवान् की कृपा से ही सम्भव है।

यहाँ पर माया के अधीन बद्धजीव के कर्मों की व्याख्या की गई है। प्रत्येक बद्धजीव माया

के अधीन नाना प्रकार के कर्म में लगा हुआ है। हम इस संसार में देख सकते हैं कि जीव इतनी शक्ति से कर्म करता है कि इन्द्रियतृप्ति के लिए भौतिक सभ्यता की तथाकथित प्रगति में उसका आश्चर्यजनक योगदान है। किन्तु वास्तव में उसको अपना पद जानना चाहिए कि वह परमेश्वर का शाश्वत दास है। जब वह पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो वह जान जाता है कि भगवान् परम पूज्य हैं और जीव उनका शाश्वत दास है। बिना इस ज्ञान के वह भौतिक कार्यों में लगा रहता है। यह अज्ञान या अविद्या कहलाती है।

ज्ञानं यदेतददधात्कतमः स देव-
स्त्रैकालिकं स्थिरचरेष्वनुवर्तितांशः ।
तं जीवकर्मपदवीमनुवर्तमाना-
स्तापत्रयोपशमनाय वयं भजेम ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—ज्ञान; यत्—जो; एतत्—यह; अदधात्—दिया; कतमः—के अतिरिक्त दूसरा; सः—वह; देवः—भगवान्; त्रै-कालिकम्—तीनों कालों का; स्थिर-चरेषु—जड़ तथा जंगम में; अनुवर्तित—रहते हुए; अंशः—उनका आंशिक स्वरूप; तम्—उसको; जीव—जीवात्माओं का; कर्म-पदवीम्—सकाम कर्मों का मार्ग; अनुवर्तमानाः—पालन करने वाले; ताप-त्रय—तीन प्रकार के कष्ट; उपशमनाय—मुक्त होने के लिए; वयम्—हम; भजेम—शरण में जाएँ।

भगवान् के आंशिक स्वरूप अन्तर्यामी परमात्मा के अतिरिक्त और कौन समस्त चर तथा अचर वस्तुओं का निर्देशन कर रहा है? वे काल की इन तीनों अवस्थाओं भूत, वर्तमान तथा भविष्य में उपस्थित रहते हैं। अतः बद्धजीव उनके ही आदेश से विभिन्न कर्मों में रत है और इस बद्ध जीवन के तीनों तापों से मुक्त होने के लिए हमें उनकी ही शरण ग्रहण करनी होगी।

तात्पर्य : जब बद्धजीव माया के चंगुल से छूटने के लिए उत्सुक रहता है, तो उसके अन्तःकरण में स्थित परमात्मास्वरूप भगवान् उसे यह ज्ञान देते हैं, "मेरी शरण में आओ।" जैसाकि भगवान् *भगवद्गीता* में कहते हैं, "अन्य सारे कार्यों का परित्याग करके मेरी शरण ग्रहण करो।" यह मानना होगा कि ज्ञान का स्रोत परम पुरुष है। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि होती है। *मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च*। भगवान् कहते हैं, "मेरे ही द्वारा मनुष्य वास्तविक ज्ञान तथा स्मृति प्राप्त करता है और मुझी से विस्मृति भी मिलती है।" जो मनुष्य भौतिक दृष्टि से

संतुष्ट होना चाहता है या जो प्रकृति पर अधिकार जताना चाहता है भगवान् उसे अपनी सेवा की विस्मृति तथा भौतिक कार्यकलापों के तथाकथित सुख का अवसर प्रदान करते हैं। इसी प्रकार जब कोई इस प्रकृति पर अधिकार करने में हताश हो जाता है और भवबन्धन से छूटना चाहता है, तो भगवान् उसे भीतर से यह ज्ञान प्रदान करते हैं कि वह उनकी शरण में जावे, तभी उसकी मुक्ति होगी।

यह ज्ञान भगवान् या उनके प्रतिनिधि के अतिरिक्त अन्य कोई प्रदान नहीं कर सकता। भगवान् चैतन्य *चैतन्य-चरितामृत* में रूप गोस्वामी को उपदेश देते हैं कि जीव जन्म-जन्मान्तर घूमता है और संसार के कष्ट भोगता रहता है। किन्तु जब कोई भव-बन्धन से छूटने के लिए अत्यधिक उत्सुक रहता है, तो उसे गुरु तथा कृष्ण से प्रकाश प्राप्त होता है। इसका यह अर्थ हुआ कि कृष्ण परमात्मा रूप में प्रत्येक जीव के हृदय में स्थित हैं और जब जीव वास्तव में उत्सुक होता है, तो वे उसे अपने प्रतिनिधि प्रामाणिक गुरु की शरण ग्रहण करने का आदेश देते हैं। गुरु द्वारा भीतर से निर्देशित होकर तथा बाहर से पथ दिखाये जाने पर मनुष्य को कृष्णभक्ति का मार्ग प्राप्त होता है, जो भवबन्धन से छूटने का मार्ग है।

अत: जब तक भगवान् का आशीर्वाद नहीं मिलता तब तक कोई अपने वास्तविक पद पर स्थित नहीं हो पाता। जब तक उसे परम ज्ञान द्वारा प्रकाश प्राप्त नहीं हो लेता तब तक उसे इस जगत में जीवन-संघर्ष के लिए कठिन यातनाएँ झेलनी पड़ती हैं। अत: गुरु परम पुरुष की कृपा का प्राकट्य होता है। बद्धजीव को गुरु से प्रत्यक्ष आदेश प्राप्त करने होते हैं और इस प्रकार धीरे-धीरे वह कृष्णभक्ति के मार्ग पर अग्रसर होने लगता है। कृष्णभक्ति का बीज बद्धजीव के हृदय में बोया जाता है और जब मनुष्य गुरु के उपदेश सुनता है, तो यह बीज फलित होता है और जीवन धन्य हो जाता है।

देह्यन्यदेहविवरे जठराग्निनासृग्-
विण्मूत्रकूपपतितो भृशतप्तदेहः ।
इच्छन्नितो विवसितुं गणयन्स्वमासान्

निर्वास्यते कृपणधीर्भगवन्कदा नु ॥ १७॥

शब्दार्थ

देही—देहधारी जीव; अन्य-देह—दूसरे शरीर के; विवरे—उदर में; जठर—पेट की; अग्निना—अग्नि से; असृक्—रक्त; विट्—मल; मूत्र—तथा मूत्र के; कूप—कुएँ में; पतितः—गिरा हुआ; भृश—प्रबल रूप से; तप्त—जला हुआ; देहः—उसका शरीर; इच्छन्—चाहते हुए; इतः—इस स्थान से; विवसितुम्—बाहर निकलने के लिए; गणयन्—गिनते हुए; स्वमासान्—अपने महीने; निर्वास्यते—मुक्त किया जावेगा; कृपण-धीः—कृपण बुद्धि का व्यक्ति; भगवन्—हे भगवान्; कदा—कब; नु—निस्सन्देह।

अपनी माता के उदर में रक्त, मल तथा मूत्र के कूप में गिर कर और अपनी माँ की जठराग्नि से दग्ध देहधारी जीव बाहर निकलने की व्यग्रता में महीनों की गिनती करता रहता है और प्रार्थना करता है, ''हे भगवान्, यह अभागा जीव कब इस कारागार से मुक्त हो पाएगा?''

तात्पर्य : यहाँ पर माता के गर्भ में जीव की विषम परिस्थिति का वर्णन है। एक ओर शिशु जठराग्नि की उष्मा से तपता रहता है और दूसरी ओर मल, मूत्र, रक्त आदि रहते हैं। सात मास के बाद शिशु में चेतना आ जाती हैं, अतः उसे अपनी दु:सह स्थिति का बोध होने लगता है और वह भगवान् से प्रार्थना करता है। बाहर आने तक वह माहों की गिनती करता रहता है और उस कारागार से निकलने के लिए व्यग्र रहता है। तथाकथित सभ्य मनुष्य जीवन की इस भयावह स्थिति पर ध्यान नहीं देता और कभी-कभी इन्द्रियतृप्ति के उद्देश्य से वह गर्भनिरोधक विधियों या गर्भपात के द्वारा उसे मारने का प्रयत्न करता है। ऐसे लोग गर्भ की भयावह स्थिति के प्रति चिन्तित न रह कर भौतिकता में पड़े रहते हैं और मनुष्य जीवन का दुरुपयोग करते हैं।

इस श्लोक का *कृपणधीः* शब्द महत्त्वपूर्ण है। *धीः* का अर्थ है 'बुद्धि' और *कृपण* का अर्थ है 'कंजूस'। बद्धजीवन उन लोगों के लिए बना है, जो बुद्धि के कृपण हैं या जो अपनी बुद्धि का प्रयोग नहीं करते। मनुष्य में बुद्धि विकसित रहती है और इस बुद्धि का उपयोग जन्म-मरण के चक्र से छूटने के लिए करना होता है। जो ऐसा नहीं करता वह कंजूस है—वह केवल उसे देखता रहे। जो व्यक्ति अपनी मानव बुद्धि का उपयोग जन्म-मरण के चक्र अर्थात् माया के पाश से निकलने के लिए नहीं करता वह कंजूस माना जाता है। *कृपण* का विलोम 'उदार' है। ब्राह्मण उदार कहलाता है, क्योंकि वह अपनी मानवी बुद्धि का उपयोग आध्यात्मिक बोध के

लिए करता है। वह उस बुद्धि का उपयोग जनता के लाभ हेतु कृष्णभक्ति का उपदेश करने के लिए करता है इसलिए वह उदार है।

येनेदृशीं गतिमसौ दशमास्य ईश
सङ्ग्राहितः पुरुदयेन भवादृशेन ।
स्वेनैव तुष्यतु कृतेन स दीननाथः
को नाम तत्प्रति विनाञ्जलिमस्य कुर्यात् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

येन—जिसके द्वारा (भगवान् के द्वारा); ईदृशीम्—ऐसी; गतिम्—स्थिति; असौ—वह व्यक्ति (मैं); दश-मास्यः—दस मास का; ईश—हे प्रभु; सङ्ग्राहितः—स्वीकार कराया जाता है; पुरु-दयेन—अत्यन्त दयालु; भवादृशेन—अतुलनीय; स्वेन—अपना; एव—अकेला; तुष्यतु—वे प्रसन्न हों; कृतेन—अपने कर्म से; सः—वह; दीन-नाथः—पतितों के आश्रय; कः—कौन; नाम—निस्सन्देह; तत्—वह दया; प्रति—बदले में; विना—अतिरिक्त; अञ्जलिम्—हाथ जोड़कर; अस्य—भगवान् के; कुर्यात्—कर सकता है।

हे भगवान्, आपकी अहैतुकी कृपा से मुझमें चेतना आई, यद्यपि मैं अभी केवल दस मास का हूँ। पतितात्माओं के मित्र भगवान् की इस अहैतुकी कृपा के लिए कृतज्ञता प्रकट करने के हेतु मेरे पास हाथ जोड़कर प्रार्थना करने के अतिरिक्त है ही क्या?

तात्पर्य : जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है कि शरीर के भीतर आत्मा के साथ स्थित परमात्मा ही बुद्धि तथा विस्मृति के देने वाले हैं। जब भगवान् देखते हैं कि बद्धजीव माया के बन्धन से छूटने के लिए उत्सुक है, तो वे भीतर से परमात्मा के रूप में और बाहर से गुरु रूप में बुद्धि प्रदान करते हैं अथवा साक्षात् भगवान् का अवतार लेकर उपदेश देते हैं, यथा *भगवद्गीता*। भगवान् सदैव ऐसा अवसर देखते रहते हैं कि पतित आत्माओं को ईश्वर के धाम ले जाँय। हमें भगवान् के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए, क्योंकि वे हमें सदैव सुखी बनाना चाहते हैं। हमारे पास भगवान् को उनकी भलाई का बदला चुकाने के लिए पर्याप्त साधन नहीं है, अतः हम केवल कृतज्ञता का अनुभव कर सकते हैं और हाथ जोड़कर उनकी प्रार्थना कर सकते हैं। कुछ नास्तिक लोग गर्भस्थ शिशु की इस प्रार्थना के विषय में सन्देह व्यक्त कर सकते हैं कि शिशु अपनी माँ के गर्भ में ऐसी सुन्दर प्रार्थना किस तरह कर सकता है? किन्तु भगवान् की कृपा से सब कुछ सम्भव है। बाह्य रूप से शिशु को इतनी भयावह स्थिति में रखा जाता है, किन्तु आन्तरिक रूप से वह वही है और भगवान् वहाँ होते हैं। भगवान् की दिव्य शक्ति से सब

कुछ सम्भव है।

पश्यत्ययं धिषणया ननु सप्तवध्रिः
शारीरके दमशरीर्यपरः स्वदेहे ।
यत्सृष्टयासं तमहं पुरुषं पुराणं
पश्ये बहिर्हृदि च चैत्यमिव प्रतीतम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

पश्यति—देखता है; अयम्—यह जीव; धिषणया—बुद्धि से; ननु—केवल; सप्त-वध्रिः—सात आवरणों से घिरा; शारीरके—ग्राह्य तथा अग्राह्य अनुभव; दम-शरीरी—आत्म-निग्रह के लिए शरीर धारण करने वाला; अपरः—दूसरा; स्व-देहे—अपने शरीरमें; यत्—परमेश्वर द्वारा; सृष्टया—प्रदत्त; आसम्—था; तम्—उस; अहम्—मैं; पुरुषम्—पुरुष को; पुराणम्—प्राचीनतम्; पश्ये—देखता हूँ; बहिः—बाहर; हृदि—हृदय में; च—तथा; चैत्यम्—अहंकार का स्त्रोत; इव—निस्सन्देह; प्रतीतम्—मान्य।

अन्य प्रकार का शरीरधारी जीव केवल अन्तःप्रेरणा से देखता है, वह उस शरीर के ग्राह्य तथा अग्राह्य अनुभवों से ही परिचित होता है, किन्तु मुझे ऐसा शरीर प्राप्त है, जिसमें मैं अपनी इन्द्रियों को वश में रखता हूँ और अपने गन्तव्य को समझता हूँ, अतः मैं उन भगवान् को सादर नमस्कार करता हूँ जिनके आशीर्वाद से मुझे यह शरीर प्राप्त हुआ है और जिनकी कृपा से मैं उन्हें भीतर और बाहर देख सकता हूँ।

तात्पर्य : विभिन्न प्रकार के शरीरों की विकास क्रिया फूल के फलने के समान है। जिस प्रकार फूल के विकास की कई अवस्थाएँ होती हैं—कली, विकासमान फूल, पूर्ण विकसित फूल तथा सुगंध और सुन्दरता से पूरित फूल। इस प्रकार क्रमिक विकास में ८४,००,००० योनियाँ होती हैं और निम्नयोनि से उच्चतर योनि में क्रमबद्ध उन्नति होती है। मनुष्य जीवन सर्वोच्च समझा जाता है, क्योंकि इसमें जन्म तथा मृत्यु के बंधन से छूटने की बुद्धि रहती है। माता के गर्भ में स्थित भाग्यवान शिशु अपनी श्रेष्ठ स्थिति को समझता है और इस तरह वह अन्य प्राणियों से पृथक् होता है। मनुष्य से नीचे के पशुओं में सुख-दुख की चेतना रहती है, किन्तु वे अपनी शारीरिक आवश्यकताओं—खाना, सोना, संभोग तथा सुरक्षा से अधिक और कुछ नहीं सोच पाते। किन्तु ईश्वर की कृपा से मनुष्य में चेतना इतनी विकसित रहती है कि वह अपनी अद्वितीय स्थिति का मूल्यांकन कर सकता है और आत्मा तथा परमात्मा दोनों का साक्षात्कार कर सकता है।

दम-शरीरी शब्द का अर्थ है कि हमें ऐसा शरीर प्राप्त है, जिसमें हम इन्द्रियों तथा मन को वश में कर सकते हैं। भौतिक जीवन की सारी जटिलता अनियंत्रित मन तथा अनियंत्रित इन्द्रियों से है। मनुष्य को ईश्वर के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करनी चाहिए कि उसे ऐसा सुन्दर मनुष्य का शरीर मिला और उसे इसका सही-सही उपयोग करना चाहिए। पशु तथा मनुष्य का यही अन्तर है कि पशु अपने आपको वश में नहीं रख सकता है, उसमें शिष्टता का भाव नहीं रहता जब कि मनुष्य में शिष्टता का भाव तथा आत्म-नियन्त्रण रहता है। यदि मनुष्य इस नियन्त्रण-शक्ति को प्रदर्शित नहीं कर पाता तो वह पशु के तुल्य है। इन्द्रियों के नियन्त्रण या योग विधि से मनुष्य स्वयं को, परमात्मा को, संसार को तथा इन सबके पारस्परिक सम्बन्धों को समझ सकता है। इन्द्रियों के नियन्त्रण से सब कुछ सम्भव है। अन्यथा हम पशु तुल्य हैं।

यहाँ पर इन्द्रियों के नियन्त्रण द्वारा आत्म-साक्षात्कार की व्याख्या की गई है। मनुष्य को चाहिए कि भगवान् तथा अपने (आत्मा) को भी देखने का प्रयत्न करे। अपने को परमेश्वर समझना आत्म-साक्षात्कार नहीं है। यहाँ यह स्पष्ट बताया गया है कि परमेश्वर *अनादि* या *पुराण* है और उनका कोई अन्य कारण नहीं है। जीव भगवान् के अंश रूप में पैदा होता है। *ब्रह्म-संहिता* में पुष्टि की गई है—*अनादिरादिर्गोविन्दः*—परम पुरुष गोविन्द का कोई कारण नहीं है। वे अजन्मा हैं। किन्तु जीवात्मा उनसे उत्पन्न है। *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है कि *ममैवांशः*—जीव तथा परमेश्वर दोनों अजन्मा हैं, किन्तु यह जान लेना चाहिए कि अंश का परम कारण भगवान् है। अतः *ब्रह्म-संहिता* कहती है कि प्रत्येक वस्तु भगवान् से उत्पन्न हुई (*सर्वकारणकारणम्*)। *वेदान्त-सूत्र* भी इसकी पुष्टि करता है—*जन्माद्यस्य यतः*—परम सत्य ही हर एक के जन्म का मूल स्रोत है। *भगवद्गीता* में भी कृष्ण का कथन है—*अहं सर्वस्य प्रभवः*—मैं हर वस्तु का जन्म-स्रोत हूँ जिसमें ब्रह्मा, शिव तथा अन्य जीव सम्मिलित हैं। यह आत्म-साक्षात्कार है। मनुष्य को जानना चाहिए कि वह परमेश्वर के अधीन है, उसे अपने को परम स्वतन्त्र नहीं समझना चाहिए। अन्यथा उसे बद्ध जीवन में क्यों रखा जाता?

सोऽहं वसन्नपि विभो बहुदु:खवासं
गर्भान्न निर्जिगमिषे बहिरन्धकूपे ।
यत्रोपयातमुपसर्पति देवमाया
मिथ्या मतिर्यदनु संसृतिचक्रमेतत् ॥ २० ॥

शब्दार्थ

सः अहम्—मैं स्वयं; वसन्—रहते हुए; अपि—यद्यपि; विभो—हे प्रभु; बहु-दुःख—अनेक दुखों से; वासम्—अवस्था में; गर्भात्—उदर से; न—नहीं; निर्जिगमिषे—जाना चाहता हूँ; बहिः—बाहर; अन्ध-कूपे—अंधे कुएँ में; यत्र—जहाँ; उपयातम्—जाने वाले को; उपसर्पति—पकड़ लेती है; देव-माया—भगवान् की बहिरंगा शक्ति; मिथ्या—झूठी; मतिः—पहचान; यत्—जो माया; अनु—के अनुसार; संसृति—जन्म-मृत्यु का; चक्रम्—चक्र; एतत्—यह।

अतः हे प्रभु, यद्यपि मैं अत्यन्त भयावह परिस्थिति में रह रहा हूँ, किन्तु मैं अपनी माँ के गर्भ से बाहर आकर भौतिक जीवन के अन्धकूप में गिरना नहीं चाहता। देवमाया नामक आपकी बहिरंगा शक्ति तुरन्त नवजात शिशु को पकड़ लेती है और उसके बाद तुरन्त ही झूठा स्वरूपज्ञान प्रारम्भ हो जाता है, जो निरन्तर जन्म तथा मृत्यु के चक्र का शुभारम्भ है।

तात्पर्य : जब तक शिशु अपनी माता के गर्भ में रहता है, तो उसका जीवन अत्यन्त संकटपूर्ण तथा भयावह रहता है, किन्तु इसका लाभ यह होता है कि वह भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध की शुद्ध चेतना जाग्रत कर लेता है और अपने उद्धार के लिए प्रार्थना करता है। किन्तु उदर से बाहर आते ही, जब शिशु का जन्म हो जाता है, तो माया इतनी प्रबल होती है कि उसे तुरन्त घेरकर इस शरीर को 'स्व' मनवाया जाता है। माया का अर्थ है "जो नहीं है" अर्थात् भ्रम। भौतिक जगत में हर व्यक्ति अपने को अपना शरीर करके पहचानता है। यह मिथ्या अहंकार की चेतना कि, "मैं यह शरीर हूँ", शिशु के गर्भ से बाहर निकलते ही उत्पन्न हो जाती है। माता तथा सम्बन्धी शिशु की प्रतीक्षा करते हैं। ज्योंही वह पैदा होता है, तो माँ उसे दूध पिलाती है और सभी उसकी देख-रेख करते हैं। जीव तुरन्त अपनी स्थिति भूल जाता है और शारीरिक सम्बन्धों में उलझ जाता है। सारा संसार देहात्मबुद्धि का बन्धन है। वास्तविक ज्ञान का अर्थ इस चेतना को विकसित करना है कि, "मैं यह शरीर नहीं हूँ। मैं आत्मा हूँ, परमेश्वर का अंश हूँ।" वास्तविक ज्ञान में त्याग अथवा इस शरीर को 'स्व' रूप में न स्वीकार करना है।

मनुष्य जन्म लेते ही माया के प्रभाव से सब कुछ भूल जाता है। अतः शिशु प्रार्थना करता है कि बाहर निकलने की अपेक्षा गर्भ में ही रहना श्रेष्ठ है। कहा जाता है कि यही सोचकर शुकदेव गोस्वामी अपनी माता के गर्भ में सोलह वर्षों तक रहे आये, क्योंकि वे मिथ्या देह-बोध के बंधन में फँसना नहीं चाहते थे। अपनी माता के गर्भ में ऐसे ज्ञान का अनुशीलन करके सोलह वर्ष बाद वे गर्भ के बाहर आये और तुरंत ही उन्होंने घर छोड़ दिया जिससे वे माया के वशीभूत न हों। *भगवद्गीता* में भी माया के प्रभाव को दुर्लंघ्य कहा गया है। किन्तु यह दुर्लंघ्य माया एकमात्र कृष्णभावनामृत से ही पराजित हो सकती है। इसकी भी पुष्टि *भगवद्गीता* (७.१४) में हुई है—*मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते*। जो भी कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण करता है, वह इस झूठे जीवन-बोध से बाहर निकल सकता है। केवल माया के प्रभाव से मनुष्य कृष्ण के साथ अपने सम्बन्ध को भूल जाता है और अपने को शरीर तथा शरीर के गौण अवयव— अर्थात् पत्नी, सन्तान, समाज, मित्रता, प्यार आदि—समझने लगता है। इस प्रकार वह माया का शिकार हो जाता है और उसका निरन्तर जन्म तथा मृत्यु का भौतिकतावादी जीवन और भी कठिन बन जाता है।

तस्मादहं विगतविक्लव उद्धरिष्य
आत्मानमाशु तमसः सुहृदात्मनैव ।
भूयो यथा व्यसनमेतदनेकरन्ध्रं
मा मे भविष्यदुपसादितविष्णुपादः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अतः; अहम्—मैं; विगत—छोड़कर, रहित; विक्लवः—क्षोभ, व्याकुलता; उद्धरिष्ये—उद्धार करूँगा; आत्मानम्—अपना; आशु—शीघ्र; तमसः—अंधकार से; सुहृदा आत्मना—मित्र रूपी बुद्धि से; एव—निस्सन्देह; भूयः—पुनः; यथा—जिससे; व्यसनम्—दयनीय स्थिति; एतत्—यह; अनेक-रन्ध्रम्—अनेक गर्भों में प्रविष्ट होना; मा—नहीं; मे—मेरा; भविष्यत्—होगा; उपसादित—(मन में) रखा हुआ; विष्णु-पादः—भगवान् विष्णु के चरणकमल।

अतः और अधिक क्षुब्ध न होकर मैं अपने मित्र विशुद्ध चेतना की सहायता से अज्ञान के अन्धकार से अपना उद्धार करूँगा। केवल भगवान् विष्णु के चरणकमलों को अपने मन में धारण करके मैं बारम्बार जन्म तथा मृत्यु के लिए अनेक माताओं के गर्भों में प्रविष्ट करने से बच सकूँगा।

तात्पर्य : संसार के कष्ट उसी दिन से प्रारम्भ हो जाते हैं जब आत्मा माता तथा पिता के रज तथा शुक्र में शरण प्राप्त करता है और ये कष्ट माता के गर्भ से निकलने के बाद तथा उसके भी आगे चलते रहते हैं। हम नहीं जानते कि इन दुखों का अन्त कहाँ है। किन्तु इनका अन्त शरीर बदलने से नहीं होता। यह शरीर-परिवर्तन प्रतिक्षण चल रहा है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम गर्भावस्था की तुलना में उन्नति करके सुखी स्थिति को प्राप्त कर रहे हैं। अत: सबसे अच्छा यह है कि कृष्णभावनामृत का विकास किया जाय। यहाँ पर *उपसादित विष्णु-पाद:* कहा गया है कि जिसका अर्थ है कृष्णभक्ति की अनुभूति। जो बुद्धिमान है और कृष्णभक्ति उत्पन्न कर सकता है, वह इस जीवन में सफल होता है, क्योंकि केवल कृष्णभक्ति करने से ही वह जन्म तथा मृत्यु के चक्कर से बच जाएगा।

शिशु प्रार्थना करता है कि अंधकार के गर्भ में रहकर निरन्तर कृष्णभक्ति में तल्लीन रहना बाहर निकल कर पुन: माया के चंगुल में पड़ने से श्रेयस्कर है। यह माया गर्भ के भीतर और बाहर समान रूप से कार्य करती है, किन्तु चातुरी इसमें है कि कृष्णभक्ति की जाय जिससे इसका प्रभाव उतना बुरा न पड़े। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि मनुष्य की बुद्धि उसका मित्र है और साथ ही शत्रु भी है। यहाँ पर इसी भाव की पुनरावृत्ति हुई है—*सुहृदात्मनैव*—मित्रवत् बुद्धि। कृष्ण की सेवा में तथा कृष्ण की पूर्ण चेतना में बुद्धि की तल्लीनता ही आत्म-साक्षात्कार तथा मुक्ति का मार्ग है। वृथा ही क्षुब्ध हुए बिना यदि हम हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे का निरन्तर जप करते हुए कृष्णभक्ति (कृष्णभावनामृत) की विधि ग्रहण करें तो जन्म-मृत्यु के चक्र को सदा के लिए रोका जा सकता है।

यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि कृष्णभक्ति सम्पन्न करने के लिए आवश्यक सामग्री के अभाव में शिशु माता के गर्भ में कृष्णभक्ति किस प्रकार कर सकता है? भगवान् विष्णु की पूजा के लिए किसी सामग्री की आवश्यकता नहीं होती। शिशु माता के गर्भ में ही रहना चाहता है और साथ ही माया के चंगुल से भी मुक्त होना चाहता है। कृष्णभक्ति के अनुशीलन के लिए

किसी प्रकार की भौतिक व्यवस्था आवश्यक नहीं है। कोई कहीं भी और कभी भी कृष्णभक्ति का अनुशीलन कर सकता है बशर्ते वह कृष्ण का निरन्तर चिन्तन करे। हरे कृष्ण, हरे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, हरे हरे, हरे राम, हरे राम, राम राम, हरे हरे महामन्त्र का जप माता के गर्भ में भी किया जा सकता है। सोते, जागते, काम करते, यहाँ तक कि माता के गर्भ में या उसके बाहर भी जप किया जा सकता है। शिशु की प्रार्थना का सारांश है, "मुझे इसी अवस्था में रहने दें, भले ही मैं दुखद स्थिति में हूँ, किन्तु बाहर जाकर माया के चंगुल में पड़ने से यह श्रेयस्कर है।"

कपिल उवाच
एवं कृतमतिर्गर्भे दशमास्यः स्तुवन्नृषिः ।
सद्यः क्षिपत्यवाचीनं प्रसूत्यै सूतिमारुतः ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

कपिलः उवाच—भगवान् कपिल ने कहा; एवम्—इस प्रकार; कृत-मतिः—इच्छा करते हुए; गर्भे—गर्भ में; दश-मास्यः—दस मास का; स्तुवन्—स्तुति करता हुआ; ऋषिः—जीव; सद्यः—उसी समय; क्षिपति—बाहर फेंकती है; अवाचीनम्—औंधा, अधोमुख; प्रसूत्यै—जन्म के लिए; सूति-मारुतः—प्रसव काल की वायु।

भगवान् कपिल ने कहा : अभी तक गर्भ में स्थित इस दस मास के जीव की भी ऐसी कामनाएँ होती हैं। किन्तु जब वह भगवान् की स्तुति करता रहता है तभी प्रसूति काल की वायु औंधे मुँह पड़े हुए उस शिशु को बाहर की ओर धकेलती है, जिससे वह जन्म ले सके।

तेनावसृष्टः सहसा कृत्वावाक्शिर आतुरः ।
विनिष्क्रामति कृच्छ्रेण निरुच्छ्वासो हतस्मृतिः ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

तेन—उस वायु से; अवसृष्टः—बाहर की ओर धकेला जाकर; सहसा—अकस्मात्; कृत्वा—करके; अवाक्—औंधा; शिरः—शिर; आतुरः—कष्ट पाता हुआ; विनिष्क्रामति—बाहर आता है; कृच्छ्रेण—कठिनाई से; निरुच्छ्वासः—श्वासरहित; हत—विनष्ट; स्मृतिः—स्मृति।

वायु द्वारा सहसा नीचे की ओर धकेला जाकर अत्यन्त कठिनाई से, सिर के बल, श्वासरहित तथा तीव्र वेदना के कारण स्मृति से विहीन होकर शिशु बाहर आता है।

तात्पर्य : कृच्छ्रेण शब्द का अभिप्राय है "अत्यन्त कठिनाई के साथ।" जब शिशु संकीर्ण

मार्ग से होकर गर्भ के बाहर निकलता है, तो भारी दबाव के कारण श्वास पूर्णतया रुक जाती है और वेदना के कारण शिशु अपनी स्मृति खो देता है। कभी-कभी इतनी पीड़ा होती है कि मृत या मृतप्राय शिशु जन्मता है। प्रसव-पीड़ा की कल्पना की जा सकती है। शिशु उस विकट परिस्थिति में दस मास तक गर्भ के भीतर रहता है और दस मास के बाद वह बलपूर्वक बाहर कर दिया जाता है। *भगवद्गीता* में भगवान् संकेत करते हैं कि जो आध्यात्मिक चेतना में प्रगति करने के लिए उत्सुक है उसे जन्म, मृत्यु, रोग तथा जरा इन चार पीड़ाओं का विचार करना चाहिए। भौतिकतावादी भले ही अनेक प्रकार से प्रगति कर ले, किन्तु वह संसार के इन चार प्रकार के कष्टों को रोकने में असमर्थ है।

पतितो भुव्यसृङ्मिश्रः विष्ठाभूरिव चेष्टते ।
रोरूयति गते ज्ञाने विपरीतां गतिं गतः ॥ २४॥

शब्दार्थ

पतितः—गिरा हुआ; भुवि—पृथ्वी पर; असृक्—रक्त से; मिश्रः—सना हुआ; विष्ठा-भूः—कीड़ा; इव—सदृश; चेष्टते—छटपटाता है; रोरूयति—जोर से चिल्लाता है; गते—नष्ट होने पर; ज्ञाने—अपनी चतुराई; विपरीताम्—विपरीत; गतिम्—अवस्था को; गतः—गया हुआ।

इस प्रकार वह शिशु मल तथा रक्त से सना हुआ पृथ्वी पर आ गिरता है और मल से उत्पन्न कीड़े के समान छटपटाता है। उसका श्रेष्ठ ज्ञान नष्ट हो जाता है और वह माया के मोहजाल में विलखता है।

परच्छन्दं न विदुषा पुष्यमाणो जनेन सः ।
अनभिप्रेतमापन्नः प्रत्याख्यातुमनीश्वरः ॥ २५॥

शब्दार्थ

पर-छन्दम्—पराई इच्छा; न—नहीं; विदुषा—समझ करके; पुष्यमाणः—पालित होकर; जनेन—व्यक्तियों द्वारा; सः—वह; अनभिप्रेतम्—अवांछित परिस्थितियों में; आपन्नः—गिरा हुआ; प्रत्याख्यातुम्—इनकार करने के लिए; अनीश्वरः—असमर्थ।

उदर से निकलने के बाद शिशु ऐसे लोगों की देख-रेख में आ जाता है और उसका पालन ऐसे लोगों द्वारा होता रहता है, जो यह नहीं समझ पाते कि वह चाहता क्या है। उसे जो कुछ मिलता है उसे वह इनकार न कर सकने के कारण वह अवांछित परिस्थिति में

आ पड़ता है।

तात्पर्य : माता के उदर में शिशु का पोषण प्राकृतिक व्यवस्था द्वारा सम्पन्न होता था। यद्यपि उदर के भीतर का वातावरण तनिक भी रुचिकर नहीं था, किन्तु जहाँ तक शिशु के खाने का प्रश्न था, उसके लिए प्राकृतिक व्यवस्था थी। किन्तु उदर से बाहर आने पर शिशु एक भिन्न वातावरण में आ पड़ता है। वह खाना कुछ चाहता है, किन्तु मिलता उसे कुछ दूसरा ही है, क्योंकि लोग असली माँग नहीं समझ पाते और उसे जो कुछ दिया जाता है उसे वह इनकार भी नहीं कर पाता। कभी-कभी शिशु माता के दूध के लिए रोता है, किन्तु धाय सोचती है कि उसके पेट में दर्द होगा जिससे वह रो रहा है, अत: वह उसे कड़वी दवा लाकर देती है। शिशु उसे पसन्द नहीं करता, किन्तु उसे मना भी नहीं कर सकता। इस तरह वह अत्यन्त विषम परिस्थिति में पड़ जाता है और उसके कष्ट बढ़ते ही जाते हैं।

शायितोऽशुचिपर्यङ्के जन्तुः स्वेदजदूषिते ।
नेशः कण्डूयनेऽङ्गानामासनोत्थानचेष्टने ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

शायितः—लिटाया गया; अशुचि-पर्यङ्के—मैले कुचैले बिस्तर पर; जन्तुः—शिशु; स्वेद-ज—पसीने से उत्पन्न प्राणियों से; दूषिते—पूर्ण; न ईशः—असमर्थ; कण्डूयने—खुजलाते हुए; अङ्गानाम्—अपने अंगों का; आसन—बैठे हुए; उत्थान—खड़े हुए; चेष्टने—या चलते हुए।

पसीने तथा कीड़ों से भरे हुए मैले-कुचैले बिस्तर पर लिटाया हुआ शिशु खुजलाहट से मुक्ति पाने के लिए अपना शरीर खुजला भी नहीं पाता; बैठने, खड़े होने या चलने की बात तो दूर रही।

तात्पर्य : ध्यान देने की बात है कि शिशु रोता हुआ तथा पीड़ा का अनुभव करता हुआ उत्पन्न होता है। जन्म के बाद भी वही कष्ट चालू रहता है और वह रोता जाता है। चूँकि मल तथा मूत्र के कारण मैले-कुचैले बिस्तर के कीड़े उसे परेशान करते हैं, इसीलिए वह बेचारा रोता है। वह इसका कोई उपचार नहीं कर सकता।

तुदन्त्यामत्वचं दंशा मशका मत्कुणादयः ।

रुदन्तं विगतज्ञानं कृमयः कृमिकं यथा ॥ २७॥

शब्दार्थ

तुदन्ति—काटते हैं; आम-त्वचम्—मुलायम चमड़ी वाले बालक को; दंशाः—डाँस (बड़ा मच्छर); मशकाः—मच्छर; मत्कुण—खटमल; आदयः—इत्यादि अन्य प्राणी; रुदन्तम्—रोते हुए; विगत—विनष्ट; ज्ञानम्—ज्ञान; कृमयः—कीड़े; कृमिकम्—कीड़े को; यथा—जिस तरह।

इस असहाय अवस्था में मुलायम त्वचा वाले बालक को डाँस, मच्छर, खटमल तथा अन्य कीड़े काटते रहते हैं, जिस तरह बड़े कीड़े को छोटे-छोटे कीड़े काटते रहते हैं। बालक अपना सारा ज्ञान गँवा कर जोर-जोर से चिल्लाता है।

तात्पर्य : *विगत ज्ञानम्* शब्द का अर्थ है कि शिशु ने उदर में जो आध्यात्मिक ज्ञान विकसित किया था वह माया के प्रभाव से पहले ही नष्ट हो जाता है। अनेक प्रकार के उत्पातों एवं उदर से बाहर आने के कारण बालक को स्मरण नहीं रह जाता कि अपने मोक्ष के लिए वह क्या सोच रहा था। यह मान लिया जाता है कि यदि कोई व्यक्ति ऊपर उठने का आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त कर भी ले, तो परिस्थितियों के वशीभूत होकर वह उसे भूल सकता है। अतः न केवल शिशुओं को, अपितु वयस्क पुरुषों को अपने कृष्णभावना सम्बन्धी ज्ञान बचाने के लिए सचेत रहना चाहिए और प्रतिकूल परिस्थितियों से बचना चाहिए जिससे वे अपना मुख्य कर्तव्य न भूलें।

इत्येवं शैशवं भुक्त्वा दुःखं पौगण्डमेव च ।
अलब्धाभीप्सितोऽज्ञानादिद्धमन्युः शुचार्पितः ॥ २८॥

शब्दार्थ

इति एवम्—इस प्रकार से; शैशवम्—बाल्यकाल को; भुक्त्वा—बिताकर; दुःखम्—दुख को; पौगण्डम्—किशोरावस्था को; एव—ही; च—तथा; अलब्ध—अप्राप्त; अभीप्सितः—जिसकी इच्छाएँ; अज्ञानात्—अज्ञानवश; इद्ध—प्रज्वलित; मन्युः—क्रोध; शुचा—शोक से; अर्पितः—अभिभूत, संतप्त।

इस प्रकार विविध प्रकार के कष्ट भोगता हुआ शिशु अपना बाल्यकाल बिता कर किशोरवस्था प्राप्त करता है। किशोरावस्था में भी वह अप्राप्य वस्तुओं की इच्छा करता है, किन्तु उनके न प्राप्त होने पर उसे पीड़ा होती है। इस प्रकार अज्ञान के कारण वह क्रुद्ध तथा दुखित होता है।

तात्पर्य : जन्म से लेकर पाँच वर्ष की अवस्था बाल्यकाल कहलाती है और पाँच वर्ष से

पन्द्रह वर्ष की अवस्था किशोरावस्था कहलाती है। सोलह वर्ष से युवास्था प्रारम्भ होती है। बाल्यकाल के कष्टों का वर्णन हो चुका है, किन्तु जब बालक किशोरावस्था प्राप्त करता है, तो उसका नाम पाठशाला में लिखा दिया जाता है, जिसे वह नहीं चाहता। वह तो खेलना चाहता है, किन्तु उसे जबरन पाठशाला भेजा जाता हैं जहाँ वह पढ़े और परीक्षाएँ दे। दूसरा कष्ट यह है कि वह कुछ ऐसी वस्तुएँ चाहता है जिनसे खेले, किन्तु परिस्थितियाँ ऐसी हो सकती हैं कि वह उन्हें नहीं प्राप्त कर पाता। इस तरह वह दुखी होता है और उसे पीड़ा होती है। एक शब्द में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि वह अपने बाल्यकाल की ही तरह कुमारावस्था में भी अप्रसन्न रहता है। तरुणावस्था की बात जाने दें। बच्चे खेलने के लिए न जाने कितनी तरह की माँगें प्रस्तुत करते हैं और जब उनको संतोष नहीं मिलता तो वे क्रोध से उबल पड़ते हैं जिसका परिणाम होता है दुख।

सह देहेन मानेन वर्धमानेन मन्युना ।
करोति विग्रहं कामी कामिष्वन्ताय चात्मनः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

सह—साथ; देहेन—शरीर के; मानेन—झूठी प्रतिष्ठा से; वर्धमानेन—बढ़ने से; मन्युना—क्रोध से; करोति—उत्पन्न करता है; विग्रहम्—शत्रुता, वैर; कामी—विषयी पुरुष; कामिषु—दूसरे विषयी पुरुष के प्रति; अन्ताय—विनाश के लिए; च—तथा; आत्मनः—अपने आत्मा का।

शरीर बढ़ने के साथ ही जीव अपने आत्मा को परास्त करने के लिए अपनी झुठी प्रतिष्ठा को तथा क्रोध को बढ़ाता है और इस तरह अपने ही जैसे कामी पुरुषों के साथ वैर उत्पन्न करता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (३.३६) में अर्जुन ने श्रीकृष्ण से जीव की कामवासना के विषय में प्रश्न किया। यह पूछा कि जब जीव शाश्वत है और इस तरह वह गुणात्मक रूप में परमेश्वर के ही समतुल्य है, तो क्या कारण है कि वह भवसागर में आ गिरता है और माया के वशीभूत हो अनेक पापकर्म करता है ? इस प्रश्न के उत्तर में श्रीकृष्ण ने कहा कि कामवासना के कारण जीवात्मा उच्च पद से अधम पद पर आ गिरता है। परिस्थितिवश यही कामवासना क्रोध में परिणत हो जाती है। कामवासना तथा क्रोध रजोगुण पद पर स्थित हैं। कामवासना वास्तव में

रजोगुण से उत्पन्न होती है और कामेच्छा की तृप्ति न होने पर वह तमोगुण पद पर क्रोध में परिणत हो जाती है। जब अज्ञान आत्मा को आच्छादित कर लेता है, तो जीव नारकीय जीवन की सर्वाधिक अधम स्थिति में आ गिरता है।

अपने को नारकीय जीवन से आध्यात्मिक ज्ञान के सर्वोच्च पद तक उठाने के लिए इस कामवासना को कृष्णप्रेम में परिणत करना होता है। वैष्णव सम्प्रदाय के महान् आचार्य श्री नरोत्तम दास ठाकुर ने कहा है—*काम कृष्णकर्मार्पणे*—कामवासना के कारण हम इन्द्रियतृप्ति के लिए अनेक वस्तुएँ चाहते हैं, किन्तु इसी वासना को इस प्रकार शुद्ध किया जा सकता है कि *हम भगवान् को प्रसन्न करने के लिए सारी इच्छाएँ करें*। क्रोध का भी उपयोग ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध किया जा सकता है, जो नास्तिक है या भगवान् से द्वेष रखता है। चूँकि हम काम तथा क्रोध के कारण इस संसार में आ गिरे हैं अत: इन दोनों गुणों का उपयोग कृष्णभक्ति को बढ़ाने के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है और मनुष्य पुन: अपना पूर्व शुद्ध आध्यात्मिक पद प्राप्त कर सकता है। अत: श्रील रूप गोस्वामी की संस्तुति है कि चूँकि इस संसार में इन्द्रियतृप्ति की ऐसी अनेक वस्तुएँ हैं, जिनकी आवश्यकता शरीर के पालन के लिए पड़ती है, अत: हमें निष्काम भाव से इन सबका उपयोग कृष्ण की इन्द्रियों की तुष्टि के लिए करना चाहिए। यही वास्तविक त्याग है।

भूतै: पञ्चभिरारब्धे देहे देह्यबुधोऽसकृत् ।
अहं ममेत्यसद्ग्राह: करोति कुमतिर्मतिम् ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

भूतै:—भौतिक तत्त्वों के द्वारा; पञ्चभि:—पाँच; आरब्धे—निर्मित; देहे—शरीर में; देही—जीव; अबुध:—अज्ञानी; असकृत्—निरन्तर; अहम्—मैं; मम—मेरा; इति—इस प्रकार; असत्—अस्थायी वस्तुएँ; ग्राह:—स्वीकार करते हुए; करोति—करता है; कु-मति:—मूर्ख होने के कारण; मतिम्—विचार।

ऐसे अज्ञान से जीव पंचतत्त्वों से निर्मित भौतिक शरीर को 'स्व' मान लेता है। इस भ्रम के कारण वह क्षणिक वस्तुओं को निजी समझता है और अन्धकारमय क्षेत्र में अपना अज्ञान बढ़ाता है।

तात्पर्य : इस श्लोक में अज्ञान के विस्तार की व्याख्या हुई है। पहला अज्ञान है पंचतत्त्वों

से निर्मित अपने शरीर को स्व (आत्मा) मान बैठना और दूसरा है शरीर से सम्बद्ध किसी वस्तु को अपनी निजी समझना। इस प्रकार अज्ञान का विस्तार होता जाता है। जीव शाश्वत है, किन्तु क्षणिक वस्तुओं को स्वीकार करते रहने, अपने हित की बात ठीक से न समझ पाने से वह अज्ञान को प्राप्त होता है, अतः उसे भौतिक यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं।

तदर्थं कुरुते कर्म यद्बद्धो याति संसृतिम् ।
योऽनुयाति ददत्क्लेशमविद्याकर्मबन्धनः ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तत्-अर्थम्—शरीर के लिए; कुरुते—करता है; कर्म—कर्म; यत्-बद्धः—जिससे बँधकर; याति—जाता है; संसृतिम्—जन्म तथा मृत्यु के चक्र को; यः—जो शरीर; अनुयाति—अनुसरण करता है; ददत्—देते हुए; क्लेशम्—क्लेश; अविद्या—अज्ञान से; कर्म—सकाम कर्म से; बन्धनः—बन्धन का कारण।

जो शरीर जीव के लिए निरन्तर कष्ट का साधन है और जो अज्ञान तथा कर्म के बन्धन से बँधे जीव का अनुगमन करता है, उस शरीर के लिए जीव अनेक प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं जिससे वह जन्म-मृत्यु के चक्र के अधीन हो जाता है।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि यज्ञ अथवा विष्णु को प्रसन्न करने के लिए मनुष्य को कर्म करना पड़ता है, क्योंकि जो भी कार्य भगवान् को प्रसन्न करने के अभिप्राय से नहीं किया जाता वह बन्धन का कारण होता है। बद्ध अवस्था में जीव अपने आपको शरीर मानकर भगवान् से अपने शाश्वत सम्बन्ध को भूल जाता है और अपने शरीर के स्वार्थ के लिए कर्म करता है। वह शरीर को 'स्व' मान लेता है, वह अपने शारीरिक विस्तारों को, अपने परिजन तथा अपनी जन्मभूमि को पूज्य मान लेता है। इस प्रकार वह सभी प्रकार के दुश्चिन्त्य कर्म करता रहता है, जिससे विभिन्न योनियों में जन्म-मरण के बन्धन में बँध जाता है।

आधुनिक सभ्यता में देहात्मबुद्धि के कारण तथाकथित सामाजिक, राष्ट्रीय तथा सरकारी नेता जनता को अधिकाधिक गुमराह करते हैं फलस्वरूप सारे नेता तथा उनके साथ ही उनके अनुयायी जन्म-जन्मान्तर के लिए नारकीय अवस्था में जा गिरते हैं। *श्रीमद्भागवत* में एक दृष्टान्त मिलता है। *अन्धा यथान्धैरुपनीयमानाः*—जब कोई अन्धा व्यक्ति अनेक ऐसे ही अंधे व्यक्तियों का मार्गदर्शन करता है, तो परिणाम यह निकलता है कि वे सभी गड्ढे में गिर जाते हैं।

वास्तव में यही हो रहा है। भोलीभाली जनता का पथप्रदर्शन करने वाले अनेक नेता हैं, किन्तु उनमें से हर एकनेता देहात्मबुद्धि से मोहग्रस्त है, अत: मानव समाज में शान्ति तथा सम्पन्नता का अभाव है। तरह-तरह के आसन दिखलाने वाले तथाकथित योगी भी इसी श्रेणी में आते हैं, क्योंकि हठयोग उन लोगों के लिए बनाया गया है, जो नितान्त देहात्मबुद्धि में पड़े हुए हैं। निष्कर्ष यह निकला कि जो देहात्मबुद्धि में स्थिर है उसे जन्म-मृत्यु भोगने होते हैं।

यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः ।
आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत् ॥ ३२॥

शब्दार्थ

यदि—यदि; असद्भिः—बुरों के साथ; पथि—मार्ग पर; पुनः—फिर से; शिश्न—लिंग के लिए; उदर—पेट के लिए; कृत—किया गया; उद्यमैः—जिसके प्रयास; आस्थितः—संगति करते हुए; रमते—भोग करता है; जन्तुः—जीव; तमः—अन्धकार; विशति—प्रवेश करता है; पूर्व-वत्—पहले की तरह।

अतः यदि जीव विषय-भोग में लगे हुए ऐसे कामी पुरुषों से प्रभावित होकर, जो स्त्रीसंग-सुख व स्वाद की तुष्टि में ही रत हैं, असत् मार्ग का अनुसरण करता है, तो वह पहले की तरह पुनः नरक को जाता है।

तात्पर्य : यह बताया जा चुका है कि बद्धजीव को अन्धतामिस्र तथा तामिस्र नरकों में डाला जाता है और वहाँ पर कष्ट उठाने के बाद उसे कुत्ता या शूकर का नारकीय शरीर प्राप्त होता है। ऐसे जन्मों के पश्चात् वह पुनः मनुष्य शरीर प्राप्त करता है। कपिलदेव ने यह भी बताया है कि मनुष्य किस प्रकार जन्म लेता है। मनुष्य पहले माता के गर्भ में बढ़ता है, कष्ट पाता है और पुनः बाहर आता है। यदि इतने कष्टों के बाद उसे मनुष्य शरीर प्राप्त हो और यदि वह अपना अमूल्य समय ऐसे लोगों की संगति में नष्ट करे जिनका सम्बन्ध विषयी जीवन तथा चटपटे भोजन से ही हो तो सहज ही वह पुनः उन्हीं अन्धतामिस्र तथा तामिस्र नरकों में जाता है।

सामान्यत: लोग अपनी जीभ का स्वाद तथा काम की तुष्टि चाहते हैं। यही भौतिक जीवन है। भौतिक जीवन का अर्थ है खाओ, पीओ और मौज करो; अपनी आध्यात्मिक पहचान तथा आध्यात्मिक उन्नति की किसी को परवाह नहीं रहती। चूँकि भौतिकतावादी लोग जीभ, पेट

तथा शिश्न से ही अपना सम्बन्ध रखते हैं, अतः यदि कोई आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करना चाहता है, तो उसे ऐसे लोगों की संगति से सावधान रहना चाहिए। ऐसे लोगों की संगति करने का अर्थ है मनुष्य-रूपी अपने जीवन की जानबूझकर हत्या करना। अतः यह कहा गया है कि बुद्धिमान मनुष्य को चाहिए कि वह अवांछित संगति का परित्याग करके साधु पुरुषों से ही सदा मिले-जुले। साधु पुरुषों की संगति में रहने से जीवन के आध्यात्मिक विस्तार सम्बन्धी सारे सन्देह उन्मूलित हो जाते हैं और वह आध्यात्मिक ज्ञान के पथ पर यथेष्ठ प्रगति करता है। कभी-कभी यह देखा जाता है कि कुछ लोग विशेष प्रकार के धार्मिक विश्वास के प्रति आसक्त होते हैं। हिन्दू, मुसलमान तथा ईसाई अपने-अपने धर्मों के प्रति श्रद्धावान होते हैं और वे मन्दिर-मस्जिद तथा गिरजाघरों में जाते हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश वे ऐसे लोगों की संगति नहीं छोड़ पाते जिनकी लत विषयी जीवन तथा स्वाद-तुष्टि के प्रति है। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है कि भले ही कोई कितना ही धार्मिक क्यों न हो, किन्तु यदि वह ऐसे व्यक्तियों की संगति करता है, तो वह गहनतम नरक को जाता है।

सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्रीर्ह्रीर्यशः क्षमा ।
शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति सङ्क्षयम् ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

सत्यम्—सत्य; शौचम्—स्वच्छता; दया—दया; मौनम्—गम्भीरता; बुद्धिः—बुद्धि; श्रीः—सम्पन्नता; ह्रीः—लज्जा; यशः—ख्याति; क्षमा—क्षमा; शमः—मन का निग्रह; दमः—इन्द्रियों का निग्रह; भगः—सम्पत्ति; च—तथा; इति—इस प्रकार; यत्-सङ्गात्—जिसकी संगति से; याति सङ्क्षयम्—विनष्ट हो जाते हैं।

वह सत्य, शौच, दया, गम्भीरता, आध्यात्मिक बुद्धि, लज्जा, संयम, यश, क्षमा, मन-निग्रह, इन्द्रिय-निग्रह, सौभाग्य और ऐसे ही अन्य सुअवसरों से विहीन हो जाता है।

तात्पर्य : जिन्हें विषयी जीवन की लत पड़ चुकी है वे न तो परम सत्य का अभिप्राय समझ सकते हैं, न अपनी आदतें सुधार सकते हैं; अन्यों के प्रति दया दिखाना तो दूर रहा। वे गम्भीर नहीं रह पाते और जीवन के लक्ष्य के प्रति उनकी कोई रुचि नहीं रहती। जीवन का चरम लक्ष्य कृष्ण या विष्णु है, किन्तु जिन्हें विषयी जीवन की लत पड़ी है वे यह नहीं समझ पाते कि उनका चरम हित कृष्णभावनामृत में है। ऐसे लोगों में शालीनता का अभाव रहता है और वे सरे

आम सड़कों या पार्कों में एक दूसरे का आलिंगन करते हैं मानो कुत्तों-बिल्ली हों और इसे वे प्रेमालाप कहते हैं। ऐसे अभागे प्राणी कभी सम्पन्न नहीं हो पाते। कुत्ते-बिल्लियों जैसा आचरण उन्हें कुत्ते-बिल्ली के पद पर ला देता है। वे अपनी भौतिक स्थिति को भी सुधार नहीं पाते, प्रसिद्ध होना तो दूर रहा। ऐसे मूर्ख कभी-कभी तथाकथित योग का दिखावा करते हैं, किन्तु योग का जो मुख्य उद्देश्य है—इन्द्रिय तथा मन को वश में करना—उसमें वे असमर्थ रहते हैं। ऐसे लोगों को जीवन में ऐश्वर्य प्राप्त नहीं होता। दूसरे शब्दों में, वे अत्यन्त अभागे हैं।

तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु ।
सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च ॥ ३४॥

शब्दार्थ

तेषु—उन; अशान्तेषु—अभद्र; मूढेषु—मूर्खों की; खण्डित-आत्मसु—आत्म-साक्षात्कार से रहित; असाधुषु—दुष्टों की; सङ्गम्—संगति; न—नहीं; कुर्यात्—करे; शोच्येषु—शोचनीय; योषित्—स्त्रियों का; क्रीडा-मृगेषु—नाचने वाला कुत्ता; च—तथा।

मनुष्य को चाहिए कि ऐसे अभद्र (अशान्त) मूर्ख की संगति न करे जो आत्म-साक्षात्कार के ज्ञान से रहित हो और स्त्री के हाथों का नाचने वाला कुत्ता बन कर रह गया हो।

तात्पर्य : ऐसे मूर्ख व्यक्तियों की संगति पर प्रतिबन्ध उन लोगों के लिए हैं, जो कृष्णभक्ति में प्रगति करना चाहते हैं। कृष्णभक्ति की दिशा में प्रगति करने के लिए सत्य, शौच, दया, गम्भीरता, बुद्धि, सरलता, भौतिक ऐश्वर्य, यश, क्षमा तथा शम और दम आवश्यक हैं। कृष्णभक्ति की प्रगति के साथ ये सारे गुण प्रकट होने चाहिए, किन्तु यदि कोई किसी शूद्र या ऐसे मूर्ख व्यक्ति की संगति करे जो स्त्री के हाथों में नाचते कुत्ते की तरह हो तो वह प्रगति नहीं कर सकता। भगवान् चैतन्य ने सलाह दी है कि कृष्णभक्ति में लगे हुए व्यक्ति तथा भौतिक अविद्या को पार करने के इच्छुक व्यक्ति को ऐसी स्त्रियों या पुरुषों की संगति नहीं करनी चाहिए जो भौतिक सुखोपभोग में रुचि रखते हों। कृष्णभक्ति में प्रगति चाहने वाले व्यक्ति के लिए ऐसी संगति आत्मघात से भी घातक है।

न तथास्य भवेन्मोहो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः ।
योषित्सङ्गाद्यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः ॥ ३५ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; तथा—उस तरह से; अस्य—इस मनुष्य का; भवेत्—हो सके; मोहः—मुग्धता, प्रेमान्धता; बन्धः—बन्धन; च—तथा; अन्य-प्रसङ्गतः—अन्य किसी वस्तु के प्रति आसक्ति से; योषित्-सङ्गात्—स्त्रियों के प्रति आसक्ति से; यथा—जिस तरह; पुंसः—मनुष्य का; यथा—जिस तरह; तत्-सङ्गि—स्त्रियों के इच्छुक पुरुषों के; सङ्गतः—साथ से।

अन्य किसी वस्तु के प्रति आसक्ति से उत्पन्न मुग्धता तथा बन्धन उतने पूर्ण नहीं होते जितने कि किसी स्त्री के प्रति आसक्ति से या उन व्यक्तियों के साथ से जो स्त्रियों के कामी रहते हैं।

तात्पर्य : स्त्रियों के प्रति आसक्ति इतनी दूषित होती है कि मनुष्य न केवल स्त्री की संगति से भौतिक जीवन के प्रति आसक्त हो जाता है, अपितु इन स्त्रियों के प्रति अत्यधिक आसक्त रहने वाले पुरुषों की संगति से भी हो जाता है। हमारे बद्ध जीवन के अनेक कारण हैं, किन्तु इनमें सबसे बड़ा कारण है स्त्रियों की संगति, जिसकी पुष्टि अगले श्लोकों में हुई है।

कलियुग में स्त्री-संग अत्यन्त प्रबल है। जीवन के पग-पग पर स्त्रियों से पाला पड़ता है। यदि किसी को कुछ खरीदना है, तो सारे विज्ञापन स्त्रियों के चित्रों से भरे रहते हैं। स्त्रियों के प्रति मनोवैज्ञानिक आकर्षण अत्यधिक होता है, अतः लोग आध्यात्मिक ज्ञान के प्रति अत्यन्त लापरवाह हैं। चूँकि वैदिक सभ्यता आध्यात्मिक ज्ञान पर आधारित है, अतः स्त्रियों की संगति की व्यवस्था सतर्कतापूर्वक की गई है। चार सामाजिक विभागों (आश्रमों) में से प्रथम (ब्रह्मचर्य), तृतीय (वानप्रस्थ) तथा चतुर्थ आश्रम (संन्यास) में स्त्री संगति नितान्त वर्जित है। केवल गृहस्थाश्रम में सीमित प्रतिबन्धों के अन्तर्गत स्त्रियों से मिलने-जुलने की छूट प्राप्त है। दूसरे शब्दों में, स्त्री-संगति का आकर्षण ही बद्धजीवन का कारण है और जो भी इस बद्ध जीवन से मुक्त होना चाहता है उसे स्त्रियों की संगति से अपने को विलग कर लेना चाहिए।

प्रजापतिः स्वां दुहितरं दृष्ट्वा तद्रूपधर्षितः ।
रोहिद्भूतां सोऽन्वधावदृक्षरूपी हतत्रपः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

प्रजा-पति:—ब्रह्माजी ने; स्वाम्—अपनी; दुहितरम्—पुत्री को; दृष्ट्वा—देखकर; तत्-रूप—उसके लावण्य से; धर्षित:—मोहित; रोहित्-भूताम्—मृगी के रूप में; स:—वह; अन्वधावत्—दौड़ा; ऋक्ष-रूपी—मृग के रूप में; हत—विहीन; त्रप:—लज्जा।

ब्रह्मा अपनी पुत्री को देखकर उसके रूप पर मोहित हो गये और जब उसने मृगी का रूप धारण कर लिया तो वे मृग रूप में निर्लज्जतापूर्वक उसका पीछा करने लगे।

तात्पर्य : ब्रह्मा का अपनी पुत्री के रूप पर मोहित होना तथा भगवान् के मोहिनी रूप पर शिवजी का मोहित होना—ये ज्वलन्त उदाहरण हमें शिक्षा देते हैं कि ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवता तक स्त्री की सुन्दरता पर मुग्ध हो जाते हैं, तो सामान्य बद्धजीव की क्या बिसात है? अत: हर एक को सलाह दी जाती है कि वह अपनी सगी पुत्री, अपनी माता या अपनी बहन तक से मुक्त भाव से न मिले-जुले, क्योंकि इन्द्रियाँ इतनी प्रबल हैं कि मनुष्य प्रेमान्ध हो जाता है और इन्द्रियाँ पुत्री-माता या बहन का नाता नहीं देखतीं। अत: मदन-मोहन की सेवा में लगकर भक्तियोग के द्वारा इन्द्रियों को वश में करने का अभ्यास करना सर्वोत्तम होगा। भगवान् कृष्ण का नाम मदनमोहन है, क्योंकि वे कामदेव या कामवासना को वश में कर सकते हैं। केवल मदनमोहन की सेवा करने से मदन के आदेशों पर अंकुश लगाया जा सकता है अन्यथा इन्द्रियों को वश में करने के सारे प्रयास विफल होंगे।

तत्सृष्टसृष्टसृष्टेषु को न्वखण्डितधी: पुमान् ।
ऋषिं नारायणमृते योषिन्मय्येह मायया ॥ ३७॥

शब्दार्थ

तत्—ब्रह्मा द्वारा; सृष्ट-सृष्ट-सृष्टेषु—समस्त उत्पन्न जीवों में से; क:—कौन; नु—निस्सन्देह; अखण्डित—विपथ न होने वाली; धी:—बुद्धि वाला; पुमान्—पुरुष; ऋषिम्—ऋषि; नारायणम्—नारायण; ऋते—के अतिरिक्त; योषित्-मय्या—स्त्री के रूप में; इह—यहाँ; मायया—माया के द्वारा।

ब्रह्मा द्वारा उत्पन्न समस्त जीवों—अर्थात् मनुष्य, देवता तथा पशु में से ऋषि नारायण के अतिरिक्त अन्य कोई ऐसा नहीं है, जो स्त्री रूपी माया के आकर्षण के प्रति निश्चेष्ट हो।

तात्पर्य : आदि जीव स्वयं ब्रह्मा हैं जिनसे मरीचि जैसे ऋषि उत्पन्न हुए, मरीचि से कश्यप मुनि तथा अन्य और कश्यप मुनि तथा मनुओं ने विभिन्न देवताओं तथा मनुष्यों को उत्पन्न किया। किन्तु इनमें से ऐसा कोई नहीं जो स्त्री रूपी माया के जादू से मोहित न होता हो। समग्र

संसार में ब्रह्मा से लेकर एक क्षुद्र चींटी तक—सभी विषयी जीवन के प्रति आकर्षित होते हैं। इस भौतिक जगत का यह मूल सिद्धान्त है। अपनी पुत्री द्वारा ब्रह्मा का मोहित होना ज्वलन्त उदाहरण है कि स्त्री के प्रति कामासक्ति से कोई भी नहीं बच पाता। अत: माया की सबसे आश्चर्यजनक सृष्टि स्त्री है, जो बद्धजीव को बन्धन में रखती है।

बलं मे पश्य मायाया: स्त्रीमय्या जयिनो दिशाम् ।
या करोति पदाक्रान्तान्भ्रूविजृम्भेण केवलम् ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

बलम्—शक्ति; मे—मेरा; पश्य—देखो; मायाया:—माया का; स्त्री-मय्या:—स्त्री के रूप में; जयिन:—विजेता; दिशाम्—सभी दिशाओं का; या—जो; करोति—करती है; पद-आक्रान्तान्—उसके पीछे-पीछे; भ्रूवि—उसकी भौंह की; जृम्भेण—गति से; केवलम्—केवल।

तनिक स्त्री रूपी मेरी माया की अपार शक्ति को समझने का प्रयत्न तो करो, जो मात्र अपनी भौहों की गति से संसार के बड़े से बड़े विजेताओं को भी अपनी मुट्ठी में रखती है।

तात्पर्य : विश्व के इतिहास में ऐसे अनेक दृष्टान्त प्राप्त हैं जहाँ एक महान् विजेता किसी क्लेओपात्रा के सौन्दर्य पर मुग्ध होता रहा है। मनुष्य को स्त्री की सम्मोहन शक्ति तथा उस शक्ति के प्रति मनुष्य के आकर्षण के अध्ययन किये जाने की आवश्यकता है। आखिर यह किस स्रोतसे उत्पन्न हुई? *वेदान्त-सूत्र* के अनुसार हम जानते हैं कि प्रत्येक वस्तु भगवान् से उद्भूत है। उसमें कहा गया है—*जन्माद्यस्य यत:*—जिसका अर्थ है कि भगवान् या परम पुरुष, ब्रह्म या परम सत्य ही वह स्रोत है जहाँ से प्रत्येक वस्तु उद्भूत होती है। आध्यात्मिक जगत में भी ऐसी स्त्री की सम्मोहक शक्ति तथा ऐसे आकर्षण के प्रति मनुष्य का शिकार होना भगवान् में अवश्य पाए जाते होंगे और वे भगवान् की दिव्य लीलाओं में प्रकट होते होंगे।

भगवान् परम पुरुष हैं अर्थात् परम नर हैं। जिस प्रकार सामान्य नर में मादा के प्रति आकृष्ट होने की चाह रहती है, वही उत्कटता भगवान् में भी पाई जाती है। वे भी स्त्री के सुन्दर रूप द्वारा मुग्ध होते हैं। प्रश्न यह है कि यदि वे ऐसे स्त्री-आकर्षण द्वारा मुग्ध होते रहते हैं, तो क्या वे किसी भौतिक स्त्री द्वारा आकृष्ट होंगे? ऐसा सम्भव नहीं है। इस संसार के लोग भी स्त्री

आकर्षण का परित्याग कर सकते हैं यदि वे परब्रह्म द्वारा आकृष्ट हों। हरिदास ठाकुर के साथ ऐसा ही हुआ। एक सुन्दर वेश्या ने अर्धरात्रि में उन्हें आकर्षित करना चाहा, किन्तु वे भक्ति में, भगवान् के दिव्य प्रेम में स्थित थे, अत: उसके द्वारा मोहित नहीं हुए। उल्टे उन्होंने अपनी दिव्य संगति से उस वेश्या को महान् भक्त बना दिया। अत: भौतिक आकर्षण परमेश्वर को आकृष्ट नहीं कर सकता। जब वे किसी स्त्री द्वारा आकृष्ट होते हैं, तो वे उस स्त्री को अपनी शक्ति से उत्पन्न करते हैं। वह स्त्री राधारानी है। गोस्वामियों ने बताया है कि राधा तो भगवान् की ह्लादिनी शक्ति का प्रकट रूप हैं। जब भगवान् दिव्य आनन्द प्राप्त करना चाहते हैं, तो वे अपनी अन्तरंगा शक्ति से स्त्री उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार स्त्री-सौंदर्य के प्रति आकर्षण सहज (प्राकृतिक) है, क्योंकि यह आध्यात्मिक जगत में पाया जाता है। भौतिक जगत में वह विकृत होकर प्रतिबिम्बित होता है इसीलिए अनेक उन्माद होते हैं।

यदि कोई भौतिक सौन्दर्य के द्वारा आकृष्ट न होकर राधारानी तथा कृष्ण के सौन्दर्य द्वारा आकृष्ट होने का अभ्यास कर ले तो *भगवद्गीता* का यह कथन *परम् दृष्ट्वा निवर्तते*—सत्य सिद्ध होए। एक बार राधा तथा कृष्ण के दिव्य सौंदर्य से आकर्षित हो जाने पर, फिर कोई भौतिक सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट नहीं होता। राधाकृष्ण पूजा का यही विशेष महत्त्व है। इसकी पुष्टि यामुनाचार्य ने की है। उनका कथन है, ''चूँकि मैं राधाकृष्ण के सौन्दर्य से आकृष्ट हो चुका हूँ, अत: जब भी किसी स्त्री के प्रति आकर्षण होता है या किसी स्त्री के साथ प्रसंग का स्मरण हो आता है, तो मैं उस पर थूकता हूँ और मेरा मुख घृणा से भर जाता है।'' जब हम मदनमोहन तथा कृष्ण एवं उनकी प्रेमिकाओं के सौन्दर्य द्वारा आकर्षित होते हैं और हमारे बद्धजीवन की श्रृंखलाएँ अर्थात् स्त्री का सौंदर्य हमें आकृष्ट नहीं करता।

सङ्गं न कुर्यात्प्रमदासु जातु
योगस्य पारं परमारुरुक्षुः ।
मत्सेवया प्रतिलब्धात्मलाभो
वदन्ति या निरयद्वारमस्य ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

सङ्गम्—संगति; न—नहीं; कुर्यात्—करे; प्रमदासु—स्त्रियों की; जातु—कभी भी; योगस्य—योग की; पारम्—पराकाष्ठा; परम्—सर्वोच्च; आरुरुक्षुः—पहुँचने की इच्छा करने वाला; मत्-सेवया—मेरी सेवा करके; प्रतिलब्ध—प्राप्त; आत्म-लाभः—आत्म-साक्षात्कार; वदन्ति—कहते हैं; याः—जो स्त्रियाँ; निरय—नरक का; द्वारम्—द्वार; अस्य—आगे बढ़ने वाले भक्त का।

जो योग की पराकाष्ठा को प्राप्त करना चाहता हो तथा जिसने मेरी सेवा करके आत्म-साक्षात्कार कर लिया हो उसे चाहिए कि वह कभी किसी आकर्षक स्त्री की संगति न करे, क्योंकि शास्त्रों में घोषणा की गई है कि प्रगतिशील के लिए ऐसी स्त्री नरक के द्वार तुल्य है।

तात्पर्य : योग की पराकाष्ठा (इति) पूर्ण कृष्णभक्ति है। इसका समर्थन *भगवद्गीता* में इस प्रकार हुआ है : जो व्यक्ति भक्ति में रहकर सदैव कृष्ण का चिन्तन करता है, वह समस्त योगियों में सर्वोच्च है। यही नहीं, *श्रीमद्भागवत* के प्रथम स्कंध के द्वितीय अध्याय में भी कहा गया है कि जब कोई भगवान् की सेवा करके भौतिक कल्मष से मुक्त हो जाता है, तो वह ईश्वर के विज्ञान तथा तत्त्वज्ञान को समझ सकता है।

यहाँ पर *प्रतिलब्धात्मलाभः* शब्द आया है। *आत्म* का अर्थ 'स्व' या आत्मा है और *लाभ* का अर्थ 'उपलब्धि' है। सामान्यतः बद्धजीव अपनी आत्मा या स्व खो चुके हैं, किन्तु जो योगी हैं, वे आत्म का साक्षात्कार कर चुकते हैं। यहाँ आगाह किया गया है कि ऐसे स्वरूपसिद्ध व्यक्ति जो योग-सिद्धि की पराकाष्ठा तक पहुँचना चाहते हैं उन्हें युवा स्त्री की संगति नहीं करनी चाहिए। किन्तु वर्तमान युग में ऐसे अनेक धूर्त (पाखंडी) हैं, जो यह सलाह देते हैं कि जब तक काम-इन्द्रियाँ हैं तब तक मनुष्य जी भर कर स्त्री-भोग कर सकता है और साथ ही योगी बन सकता है। किसी भी मानक योगपद्धति में स्त्री-संगति स्वीकृत नहीं है। यहाँ स्पष्ट कहा गया है कि स्त्री-संगति नरक का द्वार है। वैदिक सभ्यता में स्त्री की संगति अत्यन्त सीमित होती है। चार आश्रमों में से तीन—ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, संन्यासी—में स्त्री की संगति वर्जित है, केवल गृहस्थों को स्त्री से निकट सम्पर्क की छूट रहती है और यह सम्बन्ध अच्छी सन्तान उत्पन्न करने तक ही सीमित है। किन्तु यदि कोई इस भौतिक संसार में बने रहना चाहता है, तो उसे निर्बाध स्त्री-संगति करनी चाहिए।

योपयाति शनैर्माया योषिद्देवविनिर्मिता ।
तामीक्षेतात्मनो मृत्युं तृणैः कूपमिवावृतम् ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

या—जो; उपयाति—निकट आती है; शनैः—धीरे-धीरे; माया—माया स्वरूपा; योषित्—स्त्री; देव—भगवान् द्वारा; विनिर्मिता—उत्पन्न; ताम्—उसको; ईक्षेत—मानना चाहिए; आत्मनः—आत्मा की; मृत्युम्—मृत्यु; तृणैः—घास से; कूपम्—कुआँ; इव—सदृश; आवृतम्—ढका हुआ।

भगवान् द्वारा उत्पन्न स्त्री माया स्वरूपा है और जो ऐसी माया की सेवाएँ स्वीकार करके उसकी संगति करता है उसे यह भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि यह घास से ढके हुए अंधे कुएँ के समान उसकी मृत्यु का मार्ग है।

तात्पर्य : कभी-कभी बेकार पड़े कुएँ को घास-फूस से ढक दिया जाता है, अतः यदि कोई यात्री अनजाने उस रास्ते से निकलता है, तो उस कुएँ में गिर जाता है और उसकी मृत्यु निश्चित होती है। इसी प्रकार जब कोई किसी स्त्री की सेवा ग्रहण कर लेता है, तो संगति प्रारम्भ होती है, क्योंकि भगवान् ने स्त्री को पुरुष की सेवा के लिए उत्पन्न किया है। उसकी सेवा स्वीकार करने से मनुष्य पाश में बँध जाता है। यदि वह इतना बुद्धिमान है कि स्त्री को नरक का द्वार समझता है, तो वह मुक्त होकर उसकी संगति कर सकता है। इसकी मनाही तो उसके लिए है, जो दिव्य पद तक उठने की महत्त्वाकांक्षा रखता है। पचास वर्ष पूर्व तक हिन्दू समाज में ऐसी संगति वर्जित थी। पत्नी अपने पति से दिन में नहीं मिल सकती थी। यहाँ तक कि गृहस्थों के अलग रिहायशी मकान होते थे। रिहायशी मकानों के अन्त:पुर स्त्रियों के निमित्त होते थे और बाहर के कमरे पुरुषों के लिए। स्त्री द्वारा की जाने वाली सेवा भले ही मोहक प्रतीत हो, किन्तु ऐसी सेवा ग्रहण करते समय मनुष्य को सतर्क रहना चाहिए, क्योंकि यह स्पष्ट कहा गया है कि स्त्री मृत्यु का द्वार है या कि आत्मविस्मृति है। वह आध्यात्मिक बोध के मार्ग को अवरुद्ध कर देती है।

यां मन्यते पतिं मोहान्मन्मायामृषभायतीम् ।
स्त्रीत्वं स्त्रीसङ्गतः प्राप्तो वित्तापत्यगृहप्रदम् ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

याम्—जिसको; मन्यते—वह सोचती है; पतिम्—अपना पति; मोहात्—मोहवश; मत्-मायाम्—मेरी माया; ऋषभ—पुरुष रूप में; आयतीम्—आती हुई; स्त्रीत्वम्—स्त्री बनने की दशा, स्त्रीत्व; स्त्री-सङ्गतः—किसी स्त्री की संगति से; प्राप्तः—प्राप्त; वित्त—सम्पत्ति; अपत्य—सन्तान; गृह—घर; प्रदम्—प्रदान करने वाला।

पूर्व जीवन में स्त्री-आसक्ति के कारण जीव स्त्री का रूप प्राप्त करता है मूर्खतावश माया को अपना पति मानकर उसे ही सम्पत्ति, सन्तान, घर तथा अन्य भौतिक साज-समान देने वाला समझता है।

तात्पर्य : इस श्लोक से प्रतीत होता है कि स्त्री भी अपने पूर्वजन्म में पुरुष रहती है और अपनी पत्नी के प्रति आसक्ति के कारण उसे स्त्री शरीर प्राप्त हुआ रहता है। *भगवद्गीता* से इसकी पुष्टि होती है कि मरते समय मनुष्य जैसा सोचता है उसी के अनुसार उसे अगला जीवन प्राप्त होता है। यदि कोई अपनी स्त्री के प्रति अत्यधिक अनुरक्त है, तो यह स्वाभाविक है कि मृत्यु के समय वह अपनी पत्नी का चिन्तन करता है और अगले जन्म में उसे स्त्री का शरीर प्राप्त होता है। इसी प्रकार यदि कोई स्त्री अपनी मृत्यु के समय अपने पति का स्मरण करती है, तो उसे अगले जन्म में मनुष्य का शरीर प्राप्त होता है। फलतः हिन्दू शास्त्रों में स्त्री के सतीत्व तथा मनुष्य के प्रति उसकी भक्ति पर अत्यधिक बल दिया जाता है। अपने पति के प्रति आसक्ति के फलस्वरूप ही स्त्री अगले जीवन में मनुष्य शरीर प्राप्त कर सकती है, किन्तु स्त्री के प्रति अनुरक्ति से मनुष्य को नीचे गिरकर स्त्री का शरीर धारण करना होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, हमें यह सदा स्मरण रखना चाहिए कि स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीर वस्त्र तुल्य हैं—वे जीवात्मा के कमीज तथा कोट की तरह हैं। स्त्री या पुरुष होना शारीरिक वस्त्र का भेद है। आत्मा वास्तव में परमेश्वर की तटस्था शक्ति है। प्रत्येक जीव शक्ति होने के कारण मूलतः स्त्री होता है अर्थात् भोग्य है। पुरुष शरीर में भवबन्धन से छूटने के लिए अधिक अवसर मिलते हैं, जबकि स्त्री शरीर में कम अवसर होते हैं। इस श्लोक में बताया गया है कि स्त्री के प्रति आसक्ति द्वारा मनुष्य शरीर का दुरुपयोग नहीं किया जाना चाहिए अन्यथा अगले जन्म में स्त्री शरीर धारण करना होगा। स्त्री सामान्यतः घर गृहस्थी, गहने, सामान तथा कपड़े की भूखी रहती है। जब उसका पति ये वस्तुएँ लाकर दे देता है, तो वह सन्तुष्ट हो जाती है। स्त्री तथा पुरुष का सम्बन्ध अत्यन्त जटिल है, किन्तु कहने का सार यह है

कि जो आत्म-साक्षात्कार के दिव्य पद तक उठना चाहता है उसे स्त्री की संगति करते समय सावधान रहना चाहिए। किन्तु कृष्णभक्ति की अवस्था में संगति पर ऐसा प्रतिबन्ध शिथिल हो सकता है, क्योंकि तब पुरुष तथा स्त्री की आसक्ति एक दूसरे के प्रति न होकर कृष्ण के प्रति होती है। तब वे दोनों समान रूप से भव-बन्धन से बाहर निकलने तथा कृष्ण के धाम जाने के पात्र बन जाते हैं। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है, जो भी गम्भीरतापूर्वक कृष्णभावनामृत अंगीकार करता है—चाहे वह निम्नतम योनि का हो, स्त्री हो या कि अल्पज्ञ श्रेणी का श्रमिक या वणिक हो—वह भगवान् के धाम जाता है और कृष्णलोक पहुँचता है। पुरुष को न तो स्त्री के प्रति और न स्त्री को पुरुष के प्रति आसक्त होना चाहिए। दोनों को भगवान् की सेवा में अनुरक्त होना चाहिए। तभी दोनों इस भव-बन्धन से छूट सकते हैं।

तामात्मनो विजानीयात्पत्यपत्यगृहात्मकम् ।
दैवोपसादितं मृत्युं मृगयोर्गायनं यथा ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

ताम्—भगवान् की माया को; आत्मनः—अपना; विजानीयात्—जाने; पति—स्वामी; अपत्य—संतान; गृह—घर; आत्मकम्—से युक्त; दैव—भगवान् की कृपा से; उपसादितम्—लाई हुई; मृत्युम्—मृत्यु; मृगयोः—बहेलिया, शिकारी का; गायनम्—गाते हुए; यथा—जिस प्रकार।

अतएव स्त्री को अपने पति, घरबार और अपने बच्चों को उसकी मृत्यु के लिए भगवान् की बहिरंगा शक्ति की व्यवस्था के रूप में मानना चाहिए। ठीक उसी तरह जैसे शिकारी की मधुर तान हिरन के लिए मृत्यु होती है।

तात्पर्य : कपिलदेव द्वारा दिये गये इन उपदेशों में यह बताया गया है कि न केवल स्त्री ही नरक का द्वार है, अपितु पुरुष भी स्त्री के लिए नरक का द्वार है। प्रश्न आसक्ति का है। मनुष्य स्त्री की सेवा, उसके सौन्दर्य तथा अन्य बातों से आसक्त होता है। इसी प्रकार स्त्री पुरुष के प्रति इसलिए आसक्त होती है, क्योंकि वह उसे रहने के लिए स्थान, पहनने के लिए कपड़े तथा आभूषण और सन्तान देता है। यह तो एक दूसरे के प्रति आसक्ति का प्रश्न है। जब तक इनमें से कोई भी ऐसे भौतिक सुखों के लिए अनुरक्त रहेगा, तब तक पुरुष स्त्री के लिए और स्त्री पुरुष के लिए घातक है। किन्तु यदि यही आसक्ति कृष्ण में स्थानान्तरित हो जाय तो दोनों

कृष्णभावनाभावित हो जाते हैं और उनका संयोग उत्तम रहता है। अत: श्रीलरूप गोस्वामी की संस्तुति है :

अनासक्तस्य विषयान्यथार्हमुपयुञ्जत: ।

निर्बन्ध: कृष्णसम्बन्धे युक्तं वैराग्यमुच्यते ॥

(*भक्तिरसामृतसिंधु १.२.२५५*)

स्त्री तथा पुरुष को गृहस्थ के रूप में साथ-साथ रहते हुए कृष्ण की सेवा करनी चाहिए। यदि इस सेवा में बच्चे, पत्नी, पति सभी लग जाँय तो ये सारी शारीरिक या भौतिक व्याधियाँ समाप्त हो जाँय। चूँकि चेतना शुद्ध है और कृष्ण माध्यम हैं, अत: पतन की कोई सम्भावना नहीं रहती।

देहेन जीवभूतेन लोकाल्लोकमनुव्रजन् ।
भुञ्जान एव कर्माणि करोत्यविरतं पुमान् ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

देहेन—शरीर के कारण; जीव-भूतेन—जीव द्वारा अधिकृत; लोकात्—एक लोक से; लोकम्—दूसरे लोक को; अनुव्रजन्—घूमते हुए; भुञ्जानः—भोग करते हुए; एव—इस प्रकार; कर्माणि—सकाम कर्म; करोति—करता है; अविरतम्—निरन्तर; पुमान्—जीव।

विशेष प्रकार का शरीर होने के कारण भौतिकतावादी जीव अपने कर्मों के अनुसार एक लोक से दूसरे लोक में भटकता रहता है। इसी प्रकार वह अपने आपको सकाम कर्मों में लगा लेता है और निरन्तर फल का भोग करता है।

तात्पर्य : जब जीव शरीर के भीतर बन्दी रहता है, तो वह *जीवभूत* कहलाता है और जब वह शरीर से मुक्त रहता है, तो *ब्रह्मभूत* कहलाता है। एक जन्म के बाद दूसरे जन्म में शरीर बदलता हुआ जीव न केवल विभिन्न योनियों में घूमता रहता है, अपितु एक लोक से दूसरे लोक में भी जाता रहता है। भगवान् चैतन्य कहते हैं कि सकाम कर्मों से बँधकर जीवात्माएँ सारे ब्रह्माण्ड में भटकती रहती हैं और यदि सौभाग्यवश या किसी पुण्य कर्म के कारण वे प्रामाणिक गुरु के सम्पर्क में आती हैं, तो कृष्ण की कृपा से उन्हें भक्ति का बीज प्राप्त होता है। यदि कोई जीव इस बीज को पाकर उसे अपने हृदय में बोता है और श्रवण तथा कीर्तन रूपी

जल से इसे सींचता है, तो यह बीज उगकर एक वृक्ष का रूप धारण कर लेता है। इसमें जो फूल और फल लगते हैं उन्हें जीव इसी जगत में भी भोग सकता है। यह *ब्रह्मभूत* अवस्था कहलाती है। इस उपाधियुक्त अवस्था में जीव भौतिकतावादी कहलाता है। किन्तु जब वह समस्त उपाधियों से मुक्त होकर पूर्णतया कृष्णभावनाभावित होकर सेवा में लगा रहता है, तो मुक्त कहलाता है। जब तक भगवान् की कृपा से प्रामाणिक गुरु की संगति नहीं प्राप्त होती तब तक विभिन्न योनियों में जन्म तथा मृत्यु के चक्र तथा विभिन्न प्रकार के लोकों में घूमने से छुटकारे की कोई सम्भावना नहीं रहती।

जीवो ह्यस्यानुगो देहो भूतेन्द्रियमनोमयः ।
तन्निरोधोऽस्य मरणमाविर्भावस्तु सम्भवः ॥ ४४॥

शब्दार्थ

जीवः—जीव; हि—निस्सन्देह; अस्य—उसका; अनुगः—उपयुक्त; देहः—शरीर; भूत—स्थूल तत्त्व; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; मनः—मन; मयः—से निर्मित; तत्—शरीर का; निरोधः—विनाश; अस्य—जीव का; मरणम्—मृत्यु; आविर्भावः—प्राकट्य; तु—तब; सम्भवः—जन्म।

इस प्रकार सकाम कर्मों के अनुसार जीवात्मा को मन तथा इन्द्रियों से युक्त उपयुक्त शरीर प्राप्त होता है। जब किसी कर्म का फल चुक जाता है, तो इस अन्त को मृत्यु कहते हैं और जब कोई फल प्रारम्भ होता है, तो उस शुभारम्भ को जन्म कहते हैं।

तात्पर्य : अनन्त काल से जीव विविध योनियों में तथा लोकों में निरन्तर घूमता रहा है। *भगवद्गीता* में इस प्रक्रम की व्याख्या हुई है। *भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया*—माया के वश में होकर प्रत्येक व्यक्ति माया द्वारा प्रदत्त शरीर के रथ पर चढ़कर ब्रह्माण्ड भर में घूमता रहता है। भौतिकतावादी जीवन में कर्म तथा फल की शृंखला रहती है। यह कर्म तथा फल की एक लम्बी रील है और एक जीवन-अवधि एक दमक (फ्लैश) के तुल्य है। जब बच्चा जन्म लेता है, तो समझना चाहिए कि उसका शरीर सर्वथा नवीन कार्यकलापों का शुभारम्भ है और जब वृद्ध पुरुष मरता है, तो समझना चाहिए कि कर्मफल का अन्त हो गया।

हम देखते हैं कि विभिन्न कर्मफलों के कारण कोई सम्पन्न परिवार में जन्म लेता है, तो कोई निर्धन परिवार में, यद्यपि दोनों एक ही स्थान में, एक समय और एक वातावरण में जन्म

लेते हैं। जो पुण्यकर्म करता है उसे समृद्ध या पुण्य परिवार में जन्म लेने का अवसर प्रदान किया जाता है और जो पापकर्म करता है उसे निम्न निर्धन परिवार में जन्म लेने दिया जाता है। शरीर के परिवर्तन से कार्यक्षेत्र बदल जाता है। इसी प्रकार जब बालक का शरीर तरुण शरीर में बदलता है, तो बालकपन के कार्य युवावस्था के कार्यकलापों में बदल जाते हैं।

यह स्पष्ट है कि विशेष प्रकार का कर्म करने से जीव को विशेष शरीर प्राप्त होता है। यह क्रिया अनन्त काल से चलती आ रही है। अत: वैष्णव कवि कहते हैं—*अनादि कर्मफले*—जिसका तात्पर्य यह है कि किसी के कर्मों तथा फलों का पता नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि वे ब्रह्मा के जन्म के कल्प से लेकर अगले कल्प तक चलते रहेंगे। हमने नारद मुनि के जीवन में इसको देखा। एक कल्प में वे दासी के पुत्र थे और दूसरे में वे ऋषि हो गये।

द्रव्योपलब्धिस्थानस्य द्रव्येक्षायोग्यता यदा ।
तत्पञ्चत्वमहंमानादुत्पत्तिर्द्रव्यदर्शनम् ॥ ४५ ॥
यथाक्ष्णोर्द्रव्यावयवदर्शनायोग्यता यदा ।
तदैव चक्षुषो द्रष्टुर्द्रष्टृत्वायोग्यतानयोः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ

द्रव्य—वस्तुओं की; उपलब्धि—अनुभूति का; स्थानस्य—स्थान का; द्रव्य—वस्तुओं की; ईक्षा—अनुभूति का; अयोग्यता—असमर्थता; यदा—जब; तत्—वह; पञ्चत्वम्—मृत्यु; अहम्-मानात्—'मैं' की भ्रान्त धारणा से; उत्पत्तिः—जन्म; द्रव्य—शरीर; दर्शनम्—दर्शन; यथा—जिस प्रकार; अक्ष्णोः—आँखों का; द्रव्य—वस्तुओं का; अवयव—अंग; दर्शन—देखने की; अयोग्यता—असमर्थता; यदा—जब; तदा—तब; एव—निस्सन्देह; चक्षुषः—देखने की इन्द्रिय से; द्रष्टुः—द्रष्टा का; द्रष्टृत्व—देखने की शक्ति का; अयोग्यता—अपात्रता; अनयोः—इन दोनों की।

जब दृष्टि-तंत्रिका के प्रभावित होने से आँखें रंग या रूप को देखने की शक्ति खो देती हैं, तो चक्षु-इन्द्रिय मृतप्राय हो जाती है। तब आँख तथा दृष्टि का द्रष्टा जीव अपनी देखने की शक्ति खो देता है। इसी प्रकार जब भौतिक शरीर, जो वस्तुओं की अनुभूति का स्थल है, अनुभव करना बन्द कर देता है, तो इस अयोग्यता को मृत्यु कहते हैं। जब मनुष्य शरीर को स्व मानने लगता है, तो इसे जन्म कहते हैं।

तात्पर्य : जब कोई कहता है कि मैं देखता हूँ तो इसका अर्थ है कि वह अपनी आँखों से अथवा अपने चश्मे से देखता है। इस तरह वह दृष्टि के उपकरण से देखता है। यदि दृष्टि का

यह उपकरण टूट जाय, रुग्ण हो जाय या कार्य करने में अक्षम हो तो द्रष्टा के रूप में वह देखना बन्द कर देता है। इसी प्रकार इस शरीर में इस समय जीव कार्य कर रहा है, किन्तु जब कार्य करने में असमर्थता के कारण वह काम करना बन्द कर देता है, तो उसके कर्मफल भी बन्द हो जाते हैं। जब कार्य का उपकरण टूट जाय और कार्य न किया जा सके तो उसे मृत्यु कहते हैं। इसी प्रकार जब कार्य करने का नया उपकरण प्राप्त होता है, तो उसे जन्म कहते हैं। यह जन्म तथा मृत्यु की क्रिया शरीर में परिवर्तन के कारण प्रतिक्षण चलती रहती है। अन्तिम परिर्वतन मृत्यु कहलाता है और नये शरीर को ग्रहण करना जन्म कहलाता है। जन्म तथा मृत्यु की समस्या का यही हल है। वास्तव में जीव का न तो जन्म होता है, न मृत्यु। वह तो शाश्वत है। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है—*न हन्यते हन्यमाने शरीरे*—यह जीवात्मा इस शरीर की मृत्यु या विनाश के बाद भी कभी नहीं मरता।

तस्मान्न कार्यः सन्त्रासो न कार्पण्यं न सम्भ्रमः ।
बुद्ध्वा जीवगतिं धीरो मुक्तसङ्गश्चरेदिह ॥ ४७॥

शब्दार्थ

तस्मात्—मृत्यु के कारण; न—नहीं; कार्यः—करना चाहिए; सन्त्रासः—भय; न—नहीं; कार्पण्यम्—कंजूसी; न—नहीं; सम्भ्रमः—लाभ के लिए उत्सकुता; बुद्ध्वा—समझ करके; जीव-गतिम्—जीव के वास्तविक प्रकृति को; धीरः—स्थिर; मुक्त-सङ्गः—आसक्ति रहित; चरेत्—चलना चाहिए; इह—इस संसार में।.

अतः मनुष्य को न तो मृत्यु को भयभीत होकर देखना चाहिए, न शरीर को आत्मा मानना चाहिए, न ही जीवन की आवश्यकताओं के शारीरिक भोग को बढ़ा-चढ़ा कर समझना चाहिए। जीव की असली प्रकृति को समझते हुए मनुष्य को आसक्ति से रहित तथा उद्देश्य में दृढ़ होकर संसार में विचरण करना चाहिए।

तात्पर्य : जीवन तथा मृत्यु के दर्शन को समझने वाला कोई भी समझदार व्यक्ति माता के गर्भ में या उसके बाहर के नारकीय जीवन की बात सुनकर विचलित हो उठेगा। किन्तु उसे जीवन की समस्याओं का हल निकालना होता है। समझदार व्यक्ति को इस शरीर की दयनीय स्थिति को समझना चाहिए और बिना विचलित हुए इसका निवारण खोजने का प्रयास करना चाहिए। यह इलाज तभी हाथ लगता है जब किसी मुक्त पुरुष की संगति मिलती है। किन्तु यह

समझना होगा कि मुक्त कौन है। *भगवद्गीता* में मुक्त पुरुष का वर्णन हुआ है—जो प्रकृति के कठोर नियमों को पार करके भगवान् की अखण्डित सेवा में लगा रहता है, वह ब्रह्म में स्थित माना जाता है।

भगवान् भौतिक सृष्टि से ऊपर हैं। यहाँ तक कि शंकराचार्य जैसे निर्विशेषवादियों ने भी स्वीकार किया है कि नारायण इस सृष्टि के परे हैं। अत: जब कोई भगवान् के विविध रूपों—नारायण या राधाकृष्ण या सीताराम—की सेवा में संलग्न रहता है, तो उसे मुक्ति के पद पर माना जाता है। *भागवत* भी पुष्टि करता है कि मुक्ति का अर्थ स्वाभाविक पद पर स्थित होना है। चूँकि जीवात्मा परमेश्वर का शाश्वत दास है, अत: जब कोई भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति में लगा होता है, तो वह मोक्ष पद पर स्थित होता है। मनुष्य को चाहिए कि मुक्त पुरुष की संगति करे क्योंकि इससे जन्म तथा मृत्यु रूपी जीवन की समस्या हल हो सकती है।

पूरी तरह कृष्णभावना में भक्ति करते समय मनुष्य को कंजूसी नहीं बरतनी चाहिए। उसे यह व्यर्थ का दिखावा नहीं करना चाहिए कि उसने संसार से वैराग्य ग्रहण कर लिया है। वस्तुत: वैराग्य सम्भव नहीं है। यदि कोई अपना भव्य महल छोड़कर जंगल में चला जाता है, तो यह वैराग्य नहीं है, क्योंकि वह राजसी महल भगवान् की सम्पति है तथा जंगल भी भगवान् की ही सम्पत्ति है। यदि कोई एक सम्पत्ति को छोड़कर दूसरे में चला जाए तो इसको वैराग्य नहीं कहते, क्योंकि वह इन दोनों में से किसी का भी स्वामी नहीं था। वैराग्य के लिए आवश्यक है कि प्रकृति पर प्रभुता जताने वाले झूठे बोध का परित्याग हो। जब वह इस झूठे बोध को तथा अपने इस विचार को कि वह भी ईश्वर है, त्याग देता है, तो वही असली वैराग्य है। अन्यथा वैराग्य कोई अर्थ नहीं रखता। रूप गोस्वामी का उपदेश है कि यदि कोई वस्तु भगवान् की सेवा में प्रयुक्त होने के उपयुक्त है, किन्तु उसका उपयोग इस कार्य के लिए नहीं किया जाता तो यह *फल्गु वैराग्य* कहलाता है, जिसका अर्थ है अपर्याप्त अथवा झूठा वैराग्य। प्रत्येक वस्तु भगवान् की है, अत: उसका उपयोग भगवान् के लिए करना चाहिए, अपनी इन्द्रियतृप्ति में हमें कुछ भी प्रयुक्त नहीं करना चाहिए। यही वास्तविक वैराग्य है। किसी को

जीवन की आवश्यकताएँ नहीं बढ़ानी चाहिए। भगवान् हमें जो कुछ प्रदान करें उसी से संतुष्ट होना चाहिए। हमें अपना समय कृष्णभावनाभावित होकर भक्ति करने में लगाना चाहिए। जीवन तथा मृत्यु की समस्या का यही समाधान है।

सम्यग्दर्शनया बुद्ध्या योगवैराग्ययुक्तया ।
मायाविरचिते लोके चरेन्न्यस्य कलेवरम् ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ

सम्यक्-दर्शनया—सही दृष्टि से; बुद्ध्या—तर्क से; योग—भक्ति से; वैराग्य—विरक्ति से; युक्तया—समन्वित, युक्त; माया-विरचिते—माया द्वारा व्यवस्थित; लोके—इस संसार में; चरेत्—चलना फिरना चाहिए; न्यस्य—गिरवी करके; कलेवरम्—शरीर को।

सही-सही दृष्टि से युक्त तथा भक्ति से पुष्ट होकर एवं भौतिक पहचान के प्रति निराशावादी दृष्टिकोण से समन्वित होकर मनुष्य को तर्क द्वारा अपना शरीर इस मायामय संसार को गिरवी कर देनी चाहिए। इस तरह वह इस जगत से अपना सम्बन्ध छुड़ा सकता है।

तात्पर्य : कभी-कभी यह भ्रम होता है कि भक्ति में लगे व्यक्तियों की संगति करने से आर्थिक समस्याएँ हल नहीं की जा सकतीं। इस तर्क का उत्तर देने के लिए यहाँ यह बताया गया है कि मनुष्य को मुक्त पुरुषों की प्रत्यक्ष अथवा शरीर से संगति नहीं करनी होगी, अपितु दर्शन तथा तर्क से जीवन की समस्याओं को समझकर करना होगा। यहाँ पर *सम्यग्दर्शनया बुद्ध्या* का उल्लेख है—मनुष्य को सम्यक रूप से देखना होगा तथा बुद्धि एवं योगाभ्यास से इस संसार का परित्याग करना होगा। यह वैराग्य *भागवत* के प्रथम स्कंध के द्वितीय अध्याय में वर्णित विधि से प्राप्त किया जा सकता है।

भक्त की बुद्धि सदा भगवान् के सम्पर्क में रहती है। वह इस संसार के प्रति विरक्ति का भाव रखता है, क्योंकि वह अच्छी तरह जानता रहता है कि यह संसार माया की सृष्टि है। भक्त अपने को परमात्मा का अंश मानकर अपनी भक्तिमय सेवा सम्पन्न करता है और भौतिक कर्म तथा कर्मफल से पृथक् रहता है। इस तरह अन्त में वह अपना शरीर या भौतिक शक्ति को त्याग देता है और शुद्ध आत्मा के रूप में वह ईश्वर के धाम में प्रवेश करता है।

इस प्रकार श्रीमद्‌भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''जीवों की गतियों के विषय में भगवान् कपिल के उपदेश'' नामक इकतीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter बत्तीस

कर्म-बन्धन

कपिल उवाच
अथ यो गृहमेधीयान्धर्मानेवावसन्गृहे ।
काममर्थं च धर्मान्स्वान्दोग्धि भूयः पिपर्ति तान् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

कपिलः उवाच—भगवान् कपिल ने कहा; अथ—अब; यः—जो व्यक्ति; गृह-मेधीयान्—गृहस्थों के; धर्मान्—कर्तव्य; एव—निश्चय ही; आवसन्—रहते हुए; गृहे—घर में; कामम्—इन्द्रियतृप्ति; अर्थम्—आर्थिक विकास; च—तथा; धर्मान्—धार्मिक अनुष्ठान; स्वान्—अपने; दोग्धि—भोगता है; भूयः—पुनः पुनः; पिपर्ति—सम्पन्न करता है; तान्—उनको।.

भगवान् ने कहा : गृहस्थ जीवन बिताने वाला व्यक्ति धार्मिक अनुष्ठान करते हुए भौतिक लाभ प्राप्त करता रहता है और इस तरह वह आर्थिक विकास तथा इन्द्रियतृप्ति की अपनी इच्छापूर्ति करता है। वह पुनः पुनः इसी तरह कार्य करता है।

तात्पर्य : गृहस्थ दो प्रकार के होते हैं—*गृहमेधी* तथा *गृहस्थ*। *गृहमेधी* का जीवन-लक्ष्य इन्द्रियतृप्ति रहता है और गृहस्थ का आत्म-साक्षात्कार। यहाँ भगवान् *गृहेमधी* के सम्बन्ध में अथवा उस व्यक्ति के विषय में बोल रहे हैं, जो इस जगत में बना रहना चाहता है। उसका कार्य है कि आर्थिक विकास के लिए धार्मिक अनुष्ठान करके भौतिक लाभों का भोग करे और अन्ततः अपनी इन्द्रियों को तुष्ट करे। उसे इससे अधिक और कुछ नहीं चाहिए। ऐसा व्यक्ति धनी बनने तथा अच्छी तरह से रहने और खाने पीने के लिए जीवन भर कठोर श्रम करता है। वह किसी पुण्यकार्य के लिए कुछ दान देकर अगले जीवन में स्वर्गलोक को जा सकता है, किन्तु वह जन्म-मृत्यू के आवागमन को रोकना नहीं चाहता और न संसार के दुखों का अन्त देखना चाहता है। ऐसा व्यक्ति *गृहमेधी* कहलाता है।

गृहस्थ वह व्यक्ति है, जो अपने परिवार, पत्नी, बच्चों तथा कुटुम्बियों के साथ रहता है, किन्तु उनसे कोई लगाव नहीं रखता। वह साधु या संन्यासी न बनकर पारिवारिक जीवन बिताना पसन्द करता है, किन्तु उसका मुख्य उद्देश्य आत्म-साक्षात्कार प्राप्त करना या कृष्णभावनामृत के पद तक पहुँचना रहता है। किन्तु यहाँ कपिलदेव *गृहमेधी* के विषय में बता

रहे हैं जिनका लक्ष्य भौतिकतावादी सम्पन्न जीवन बिताना है और जिसे वे यज्ञ, दान तथा सद्‌ककर्म द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। वे अच्छे पदों पर आसीन होते हैं, अतः वे अपने पुण्यकर्मों की कमाई का उपयोग करते हैं और बारम्बार इन्द्रियतृप्ति के कार्यकलाप करते रहते हैं। प्रह्लाद महाराज ने कहा है—*पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्*—वे चबाये हुए को पुनः चबाना पसन्द करते हैं। समृद्ध होते हुए भी वे पुनः पुनः भौतिक यातनाएँ झेलते हैं, किन्तु ऐसे जीवन का परित्याग करना नहीं चाहते।

स चापि भगवद्धर्मात्काममूढः पराङ्मुखः ।
यजते क्रतुभिर्देवान्पितृंश्च श्रद्धयान्वितः ॥ २॥

शब्दार्थ

सः—वह; च अपि—और भी; भगवत्-धर्मात्—भक्ति से; काम-मूढः—कामवासना से अन्धा; पराक्-मुखः—पराङ्मुख, से मुख मोड़कर; यजते—पूजा करता है; क्रतुभिः—यज्ञों से; देवान्—देवताओं की; पितृन्—पूर्वजों की; च—तथा; श्रद्धया—श्रद्धा से; अन्वितः—युक्त।

ऐसे व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति के प्रति अत्यधिक आसक्त होने के कारण भक्ति से विहीन होते हैं, अतः अनेक प्रकार के यज्ञ करते रहने तथा देवों एवं पितरों को प्रसन्न करने के लिए बड़े-बड़े व्रत करते रहने पर भी वे कृष्णभावनामृत अर्थात् भक्ति में रुचि नहीं लेते।

तात्पर्य : *भगवद्‌गीता* (७.२०) में कहा गया है कि जो व्यक्ति देवताओं की पूजा करते हैं उनकी बुद्धि भ्रष्ट रहती है—*कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः*। वे इन्द्रियतृप्ति के प्रति अत्यधिक आकृष्ट रहते हैं, फलतः वे देवताओं को पूजते हैं। निस्सन्देह वैदिक शास्त्रों में संस्तुति की गई है कि जो धन, स्वास्थ्य या विद्या का इच्छुक हो उसे देवताओं का पूजन करना चाहिए। भौतिकतावादी व्यक्ति की माँगें अनेक हैं, अतः उसकी इन्द्रियों को तुष्ट करने वाले देवता भी अनेक हैं। जो 'गृहमेधी' समृद्ध जीवन बिताना चाहते हैं, वे सामान्यतया पिण्ड-दान द्वारा देवताओं या पितरों को पूजते हैं। ऐसे व्यक्ति कृष्णभावनामृत से विहीन होते हैं और भगवान् की भक्तिमय सेवा करने में रुचि नहीं लेते। इस प्रकार का तथाकथित पवित्र तथा धार्मिक व्यक्ति निराकारवाद का प्रतिफल है। निर्विशेषवादियों की धारणा है कि परम सत्य के कोई रूप नहीं होता। अतः अपने लाभ के लिए, चाहे जिस रूप की कल्पना करके उसकी पूजा कर ली जाय। अतः 'गृहमेधी'

या भौतिकतावादी व्यक्ति कहते हैं कि वे भगवान् की पूजा के लिए किसी देवता की पूजा कर सकते हैं। विशेष रूप से, हिन्दुओं में से, जो लोग मांसाहारी हैं, वे काली की पूजा को वरीयता प्रदान करते हैं, क्योंकि देवी के समक्ष एक बकरे की बलि का विधान है। उनका कहना है कि कोई चाहे देवी काली की पूजा करे या भगवान् विष्णु अथवा किसी देवता की, लक्ष्य एक-सा होता है। यह प्रथम कोटि का पाखण्ड है और ऐसे लोग पथभ्रष्ट हो जाते हैं। किन्तु फिर भी उन्हें यही दर्शन पसन्द है। *भगवद्गीता* ऐसे पाखण्ड को स्वीकार नहीं करती। उसमें स्पष्ट उल्लेख है कि ऐसी विधियाँ बुद्धिभ्रष्ट लोगों के लिए हैं। यहाँ इसी न्याय की पुष्टि की गई है और इसीलिए *काममूढ* शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है, जिसने अपनी इन्द्रियाँ खो दी हैं या जो इन्द्रियतुष्टि के लिए कामवासना से अन्धा हो चुका है। काममूढ़ लोग कृष्णभावनामृत तथा भक्ति से विहीन होते हैं और इन्द्रियतृप्ति की प्रबल इच्छा से अन्धे बने रहते हैं। देवताओं के पूजने की भर्त्सना *भगवद्गीता* तथा *भागवत* दोनों में की गई है।

तच्छ्रद्धयाक्रान्तमतिः पितृदेवव्रतः पुमान् ।
गत्वा चान्द्रमसं लोकं सोमपाः पुनरेष्यति ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

तत्—देवों तथा पितरों को; श्रद्धया—आदरपूर्वक; आक्रान्त—पराजित; मतिः—मन; पितृ—पितरों को; देव—देवताओं को; व्रतः—उसका व्रत; पुमान्—व्यक्ति; गत्वा—जाकर; चान्द्रमसम्—चन्द्रमा के; लोकम्—लोक को; सोम-पाः—सोमरस पीते हुए; पुनः—फिर; एष्यति—लौट आता है।

ऐसे भौतिकवादी व्यक्ति इन्द्रियतृप्ति से आकृष्ट होकर एवं अपने पितरों एवं देवताओं के प्रति भक्तिभाव रखकर चन्द्रलोक को जा सकते हैं, जहाँ वे सोमरस का पान करते हैं और फिर से इसी लोक में लौट आते हैं।

तात्पर्य : चन्द्रमा को स्वर्ग का एक लोक माना जाता है। विभिन्न वेदविहित यज्ञों यथा देवों एवं पितरों की पूजा सम्पन्न करने पर मनुष्य इस लोक को जाता है। किन्तु कोई यहाँ अधिक काल तक नहीं रह पाता। देवताओं की गणना के अनुसार चन्द्रमा पर जीवन की अवधि दस हजार वर्ष है। देवताओं की काल गणना में एक दिन (१२ घंटे) इस लोक के छह मास के बराबर होते हैं। चन्द्रमा तक स्पुतनिक जैसे किसी भौतिक यान द्वारा नहीं ही पहुँचा जा

सकता, किन्तु पुण्यकर्म करने से भौतिक भोगों के प्रति आसक्त लोग वहाँ पहुँच सकते हैं। जब यज्ञ कर्मों का पुण्य समाप्त हो जाता है, तो चन्द्रलोक तक पहुँच जाने पर भी मनुष्य को पृथ्वी पर पुनः आना पड़ता है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.२१) में भी हुई है—*ते तां भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति*।

यदा चाहीन्द्रशय्यायां शेतेऽनन्तासनो हरिः ।
तदा लोका लयं यान्ति त एते गृहमेधिनाम् ॥ ४॥

शब्दार्थ

यदा—जब; च—तथा; अहि-इन्द्र—सर्पों के राजा (शेषनाग) की; शय्यायाम्—शय्या पर; शेते—लेटा रहता है; अनन्त-आसनः—जिसका आसन अनन्त शेष है; हरिः—भगवान् हरि; तदा—तब; लोकाः—लोक; लयम्—प्रलय; यान्ति—जाते हैं; ते एते—वे ही; गृह-मेधिनाम्—गृहमेधियों के।

जब भगवान् हरि सर्पों की शय्या पर, जिसे अनन्त शेष कहते हैं, सोते हैं, तो भौतिकतावादी पुरुषों के सारे लोक, जिनमें चन्द्रमा जैसे स्वर्गलोक सम्मिलित हैं, विलीन हो जाते हैं।

तात्पर्य : भौतिकता के प्रति आसक्त लोग चन्द्रमा जैसे स्वर्गलोक तक पहुँचने के लिए अत्यन्त उत्सुक रहते हैं। ऐसे कई स्वर्गलोक हैं, जिन्हें वे दीर्घकालिक आयु तथा इन्द्रियभोग की सामग्री प्राप्त करके अधिकाधिक सुख प्राप्त करने के उद्देश्य से चाहते हैं। किन्तु आसक्त व्यक्ति यह नहीं जानते कि यदि किसी को उच्चतम लोक—ब्रह्म लोक—मिल भी जाय तो विनाश वहाँ भी विद्यमान रहता है। *भगवद्गीता* में भगवान् कहते हैं कि भले ही कोई ब्रह्मलोक तक क्यों न चला जाय, किन्तु तो भी उसे वहाँ जन्म, मरण, रोग तथा जरा के कष्ट मिलेंगे। केवल भगवान् के धाम, वैकुण्ठलोक, पहुँचकर ही मनुष्य इस जगत में पुनः जन्म नहीं लेता। किन्तु 'गृहमेधी' या भौतिकतावादी व्यक्ति इस लाभ का उपयोग नहीं चाहते। वे तो निरन्तर एक शरीर से दूसरे में अथवा एक लोक से दूसरे लोक में देहान्तरण को ही वरीयता देते हैं। वे भगवान् के धाम में आनन्दपूर्ण ज्ञानमय शाश्वत जीवन नहीं चाहते।

प्रलय के दो प्रकार हैं। एक प्रलय ब्रह्मा की मृत्यु के समय होता है, उस समय समस्त स्वर्गों सहित सारी स्वर्गिक प्रणालियाँ जल में विलीन होकर गर्भोदक सागर में सर्पों की शय्या

पर लेटे हुए विष्णु के शरीर में प्रवेश करती हैं। दूसरा प्रलय ब्रह्मा के एक दिन के अन्त में घटित होता है, जिसमें सभी निम्न लोक विनष्ट हो जाते हैं। जब भगवान् ब्रह्मा इस रात्रि के बीतने पर जगते हैं, तो ये निम्नलोक पुनः उत्पन्न होते हैं। इस श्लोक से *भगवद्गीता* के इस कथन की पुष्टि होती है कि जो लोग देवों की पूजा करते हैं उनकी बुद्धि जाती रहती है। ये अल्पज्ञानी पुरुष यह नहीं जानते कि यदि वे स्वर्ग जाते भी हैं, तो प्रलय के समय वे स्वयं, देवतागण तथा उनके लोक विलीन हो जाएँगे। उन्हें इसकी सूचना नहीं रहती कि नित्य वरदान से पूर्ण जीवन प्राप्त किया जा सकता है।

ये स्वधर्मान्न दुह्यन्ति धीराः कामार्थहेतवे ।
निःसङ्गा न्यस्तकर्माणः प्रशान्ताः शुद्धचेतसः ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

ये—जो; स्व-धर्मान्—अपने-अपने वृत्तिपरक कर्तव्य; न—नहीं; दुह्यन्ति—लाभ उठाते हैं; धीराः—बुद्धिमान; काम—इन्द्रियतृप्ति; अर्थ—आर्थिक विकास; हेतवे—के लिए; निःसङ्गाः—भौतिक आसक्ति से मुक्त; न्यस्त—परित्यक्त; कर्माणः—सकाम कर्म; प्रशान्ताः—सन्तुष्ट; शुद्ध-चेतसः—शुद्धीकृत चेतना का।

जो बुद्धिमान हैं और शुद्ध चेतना वाले हैं, वे कृष्णभक्ति में पूर्णतया सन्तुष्ट रहते हैं। वे प्रकृति के गुणों से मुक्त होकर वे इन्द्रियतृप्ति के लिए कर्म नहीं करते; अपितु वे अपने-अपने कर्मों में लगे रहते हैं और विधानानुसार कर्म करते हैं।

तात्पर्य : इस प्रकार के पुरुष का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण अर्जुन है। अर्जुन क्षत्रिय था और उसका धर्म युद्ध करना था। सामान्यतया राजा अपने राज्य के विस्तार के लिए युद्ध करते हैं और इन्द्रियतृप्ति के लिए उस पर राज्य करते हैं। जहाँ तक अर्जुन का प्रश्न है, उसने अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए युद्ध करने से इनकार कर दिया। उसने कहा कि यद्यपि स्वजनों से युद्ध करके वह साम्राज्य प्राप्त कर सकता है, किन्तु वह उनसे लड़ना नहीं चाहता। किन्तु जब कृष्ण ने आदेश दिया और जब वह *भगवद्गीता* के उपदेशों से आश्वस्त हो गया कि उसका धर्म कृष्ण को प्रसन्न करना है, तो वह युद्ध करने लगा। इस प्रकार उसने अपनी इन्द्रियतुष्टि के लिए नहीं, अपितु भगवान् के संतोष के लिए युद्ध किया।

जो लोग अपना निर्धारित कर्म इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं, अपितु भगवान् को प्रसन्न करने

के लिए करते हैं, वे *निःसङ्ग* कहलाते हैं अर्थात् वे प्रकृति के गुणों के प्रभाव से मुक्त होते हैं। *न्यस्त कर्माणः* बताता है कि उनके कर्मों का फल भगवान् को प्रदान कर दिया जाता है। ऐसे लोग अपना-अपना कर्तव्य-निर्वाह करते प्रतीत होते हैं, किन्तु ऐसे कर्म निजी इन्द्रियतृप्ति के लिए न होकर भगवान् के लिए सम्पन्न किये जाते हैं। ऐसे भक्त *प्रशान्ताः* अर्थात् ''परम सन्तुष्ट'' कहलाते हैं। *शुद्ध चेतसः* का अर्थ है कृष्णभावनाभावित अर्थात् जिनकी चेतना शुद्ध हो चुकी है। चेतना शुद्ध न रहने पर मनुष्य अपने को ब्रह्माण्ड का स्वामी मानता है, किन्तु शुद्ध चेतना होने पर वह अपने को भगवान् का शाश्वत दास मानता है। अपने को भगवान् के शाश्वत दास के पद पर बिठाकर और निरन्तर उन्हीं के लिए काम करते हुए वह वास्तव में सन्तुष्ट हो जाता है। जब तक कोई निजी इन्द्रियतृप्ति के लिए कार्य करता है तब तक वह चिन्ता से पूर्ण रहता है। सामान्य चेतना तथा कृष्णचेतना (भक्ति) में यही अन्तर है।

निवृत्तिधर्मनिरता निर्ममा निरहङ्कृताः ।
स्वधर्माप्तेन सत्त्वेन परिशुद्धेन चेतसा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

निवृत्ति-धर्म—विरक्ति के लिए धार्मिक कार्यों में; **निरताः**—निरन्तर लगे हुए; **निर्ममाः**—स्वामित्व के ज्ञान बिना; **निरहङ्कृताः**—अहंकाररहित; **स्व-धर्म**—अपने वृत्तिपरक कर्तव्य से; **आप्तेन**—सम्पन्न; **सत्त्वेन**—अच्छाई से; **परिशुद्धेन**—पूर्णतः शुद्ध; **चेतसा**—चेतना से।

अपने कर्तव्य-निर्वाह, विरक्तभाव से तथा स्वामित्व की भावना से अथवा अहंकार से रहित होकर काम करने से मनुष्य पूर्ण शुद्ध चेतना के द्वारा अपनी स्वाभाविक स्थिति में आसीन होकर और इस प्रकार से भौतिक कर्तव्यों को करते हुए सरलता के साथ ईश्वर के धाम में प्रविष्ट हो सकता है।

तात्पर्य : यहाँ पर *निवृत्ति-धर्म-निरताः* का अर्थ है ''विरक्ति के लिए धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करने में निरन्तर लगे रहना।'' धार्मिक कार्य दो प्रकार के होते हैं। एक *प्रवृत्ति-धर्म* कहलाता है, जिसका अर्थ है उच्चतर लोकों तक जाने या आर्थिक सम्पन्नता के लिए *गृहमेधियों* द्वारा सम्पन्न धार्मिक कार्य, जिनका अन्तिम उद्देश्य इन्द्रियतृप्ति है। इस संसार में आया हुआ प्रत्येक व्यक्ति प्रभुता की भावना से युक्त रहता है। यह *प्रवृत्ति* कहलाती है। किन्तु विपरीत

धार्मिक कार्य, जिसे *निवृत्ति* कहते हैं, परमेश्वर के लिए कर्म करना है। कृष्ण की भक्ति में संलग्न रहकर मनुष्य न तो किसी स्वामित्व का दावा कर सकता है, न ही उसे अहंकार रहता है कि वह ईश्वर या स्वामी है। वह अपने को सदैव दास समझता है। यह चेतना को शुद्ध करने की विधि है। केवल शुद्ध चेतना से ईश्वर के धाम में प्रविष्ट हुआ जा सकता है। भौतिकतावादी व्यक्ति उच्च पद पाने पर भौतिक जगत के भीतर किसी भी लोक में प्रविष्ट हो सकते हैं, किन्तु ये सब बारम्बार विनष्ट होते रहते हैं।

सूर्यद्वारेण ते यान्ति पुरुषं विश्वतोमुखम् ।
परावरेशं प्रकृतिमस्योत्पत्त्यन्तभावनम् ॥ ७॥

शब्दार्थ

सूर्य-द्वारेण—प्रकाश मार्ग से होकर; ते—वे; यान्ति—निकट जाते हैं; पुरुषम्—भगवान् के; विश्वतः-मुखम्—जिसका मुख सर्वत्र घूमता है; पर-अवर-ईशम्—आध्यात्मिक तथा भौतिक जगतों का स्वामी; प्रकृतिम्—भौतिक कारण; अस्य—संसार की; उत्पत्ति—प्राकट्य का; अन्त—प्रलय का; भावनम्—कारण।

ऐसे मुक्त पुरुष प्रकाशमान मार्ग से होकर भगवान् तक पहुँचते हैं, जो भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों का स्वामी है और इन जगतों की उत्पत्ति तथा अन्त का परम कारण है।

तात्पर्य : *सूर्यद्वारेण* शब्द का अर्थ है ''प्रकाशमान पथ के द्वारा'' अथवा सूर्यलोक से होकर। यह प्रकाशित मार्ग भक्ति है। वेदों में सलाह दी गई है कि अंधकार से होकर न जाए, सूर्यलोक से होकर जाए। यहाँ इसकी भी संस्तुति की गई है कि प्रकाशमान पथ से चलकर प्रकृति के गुणों के कल्मष से मुक्त हुआ जा सकता है; इसी मार्ग से होकर भगवान् के निवासस्थान में प्रवेश किया जा सकता है। *पुरुषं विश्वतोमुखम्* पद का अर्थ है श्रीभगवान्, जो परम पूर्ण हैं। परमेश्वर के अतिरिक्त सारे प्राणी अत्यन्त लघु हैं, भले ही हमारी गणना से वे बड़े लगें। हर कोई अत्यन्त सूक्ष्म है, अत: वेदों में परमेश्वर को समस्त शाश्वतों में परम शाश्वत के रूप में कहा गया है। वे भौतिक तथा आध्यात्मिक जगतों के स्वामी हैं और संसार के परम कारण हैं। प्रकृति अवयव मात्र है, क्योंकि वस्तुत: उत्पत्ति तो उनकी शक्ति से होती है। माया भी उनकी शक्ति है। जिस प्रकार माता तथा पिता के संयोग से बालक जन्मता है उसी तरह भौतिक शक्ति

(माया) तथा भगवान् की चितवन भौतिक जगत की उत्पत्ति का कारण है। अत: सक्षम कारण पदार्थ नहीं, अपितु भगवान् स्वयं हैं।

द्विपरार्धावसाने यः प्रलयो ब्रह्मणस्तु ते ।
तावदध्यासते लोकं परस्य परचिन्तकाः ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

द्वि-परार्ध—दो परार्धों के; **अवसाने**—अन्त में; **यः**—जो; **प्रलयः**—मृत्यु; **ब्रह्मणः**—भगवान् ब्रह्मा की; **तु**—लेकिन; **ते**—वे; **तावत्**—तब तक; **अध्यासते**—रहते हैं; **लोकम्**—लोक में; **परस्य**—परमेश्वर का; **पर-चिन्तकाः**—भगवान् का चिन्तन करते हुए।

भगवान् के हिरण्यगर्भ विस्तार के उपासक इस संसार में दो परार्धों के अन्त तक रहे आते हैं, जब ब्रह्मा की भी मृत्यु हो जाती है।

तात्पर्य : एक प्रलय तो ब्रह्मा का दिन पूरा होने पर होता है और दूसरा ब्रह्मा की आयु समाप्त होने पर। ब्रह्मा की मृत्यु दो परार्ध पूरा होने पर होती है। उस समय सारा ब्रह्माण्ड विलीन हो जाता है। जो लोग भगवान् गर्भोदकशायी विष्णु के पूर्ण अंश हिरण्यगर्भ के पूजक हैं, वे सीधे वैकुण्ठ में भगवान् के पास नहीं पहुँचते। वे इसी ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा के जीवन काल तक सत्यलोक या अन्य किसी उच्च लोक में रहे आते हैं। तब वे ब्रह्मा के साथ-साथ वैकुण्ठ को जाते हैं।

परस्य परचिन्तकाः का अर्थ है "सदैव भगवान् का चिन्तन करने वाले" या सदैव कृष्णभावनाभावित रहने वाले। जब हम कृष्ण का नाम लेते हैं, तो यह विष्णु तत्त्व की पूर्णकोटि को सूचित करता है। कृष्ण में तीन अवतार निहित हैं—महाविष्णु, गर्भोदकशायी विष्णु तथा क्षीरोदकशायी विष्णु तथा इसके साथ ही साथ सभी अवतारों का सम्मिलित रूप। इसकी पुष्टि *ब्रह्म-संहिता* में हुई है। *रामादिमूर्तिषु कलानियमेन तिष्ठन्*—भगवान् कृष्ण अपने अंशों सहित—यथा राम, नृसिंह, वामन, मधुसूदन, विष्णु तथा नारायण सहित सदैव विराजमान हैं। जो *परस्य परचिन्तकाः* हैं, वे सीधे ईश्वर के धाम वैकुण्ठ लोक में प्रवेश करते हैं और यदि गर्भोदकशायी विष्णु के पूर्ण अंश के उपासक हैं, तो वे प्रलय तक इसी ब्रह्माण्ड में रहते हैं और तब वैकुण्ठ में जाते हैं।

क्ष्माम्भोऽनलानिलवियन्मनइन्द्रियार्थ-
भूतादिभिः परिवृतं प्रतिसञ्जिहीर्षुः ।
अव्याकृतं विशति यर्हि गुणत्रयात्मा
कालं पराख्यमनुभूय परः स्वयम्भूः ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

क्ष्मा—पृथ्वी; अम्भः—जल; अनल—अग्नि; अनिल—वायु; वियत्—शून्य; मनः—मन; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; अर्थ—इन्द्रियों के विषय; भूत—अहंकार; आदिभिः—इत्यादि से; परिवृतम्—आच्छादित; प्रतिसञ्जिहीर्षुः—संहार करने की इच्छा से; अव्याकृतम्—परिवर्तनहीन वैकुण्ठ; विशति—प्रवेश करता है; यर्हि—जिस समय; गुण-त्रय-आत्मा—तीन गुणों से युक्त; कालम्—काल; पर-आख्यम्—दो परार्ध; अनुभूय—अनुभव करके; परः—प्रमुख; स्वयम्भूः—भगवान् ब्रह्मा।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति के निवास करने योग्य दो परार्धों के काल का अनुभव करके श्री ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड का, जो पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, मन, अहंकार आदि के आवरणों से ढका हुआ है, संहार कर देते हैं और भगवान् के पास चले जाते हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *अव्याकृतम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। *भगवद्गीता* में सनातन शब्द का ठीक यही अर्थ दिया गया है। यह संसार *व्याकृत* अर्थात् परिवर्तनशील है और अन्त में विनष्ट हो जाता है, किन्तु इसके विलीन हो जाने के बाद भी आध्यात्मिक जगत अथवा सनातन धाम बचा रहता है। यह *अव्याकृत* कहलाता है, क्योंकि यह अपरिवर्तित रहा आता है और इसमें भगवान् निवास करते हैं। जब काल के प्रभाव से इस ब्रह्माण्ड पर शासन करने के बाद ब्रह्मा इसका संहार करके ईश्वर के धाम में प्रवेश करना चाहते हैं, तो अन्य लोग भी उन्हीं के साथ प्रवेश कर जाते हैं।

एवं परेत्य भगवन्तमनुप्रविष्टा
ये योगिनो जितमरुन्मनसो विरागाः ।
तेनैव साकममृतं पुरुषं पुराणं
ब्रह्म प्रधानमुपयान्त्यगताभिमानाः ॥ १० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; परेत्य—दूर तक जाकर; भगवन्तम्—भगवान् ब्रह्मा; अनुप्रविष्टाः—प्रविष्ट; ये—जो; योगिनः—योगीजन; जित—वश में किये हुए; मरुत्—श्वास; मनसः विरागाः—विरक्त; तेन—ब्रह्मा से; एव—निस्सन्देह; साकम्—साथ; अमृतम्—आनन्द रूप; पुरुषम्—भगवान् को; पुराणम्—प्राचीनतम; ब्रह्म प्रधानम्—परब्रह्म; उपयान्ति—जाते हैं; अगत—न गये हुए; अभिमानाः—जिनका अहंकार।

जो योगी प्राणायाम तथा मन-निग्रह द्वारा इस संसार से विरक्त हो जाते हैं, वे ब्रह्मलोक पहुँचते हैं, जो बहुत ही दूर है। वे अपना शरीर त्याग कर ब्रह्मा के शरीर में प्रविष्ट होते हैं, अतः जब ब्रह्मा को मोक्ष प्राप्त होता है और वे भगवान् के पास जाते हैं, जो परब्रह्म हैं, तो ऐसे योगी भी भगवद्धाम में प्रवेश करते हैं।

तात्पर्य : योगसिद्धि प्राप्त करने के बाद योगी ब्रह्मलोक या सत्यलोक पहुँच सकते हैं और अपना शरीर त्यागने के बाद वे ब्रह्मा के शरीर में प्रविष्ट करते हैं। चूँकि वे भगवान् के प्रत्यक्ष भक्त नहीं होते, अतः इन्हें सीधे मोक्ष नहीं मिलता। इन्हें ब्रह्मा के मोक्ष पाने तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है और ये ब्रह्मा के साथ ही मुक्त हो पाते हैं। यह स्पष्ट है कि जब तक जीव किसी अन्य देवता की उपासना करता है, तो उसकी चेतना उसी देवता में लीन रहती है, अतः वे न तो प्रत्यक्ष मोक्ष प्राप्त करते हैं अथवा भगवद्धाम में प्रवेश कर पाते हैं, न ही भगवान् के निराकार तेज में लीन हो पाते हैं। ऐसे योगी या देवता-उपासकों को पुनः सृष्टि होने पर फिर से जन्म लेना पड़ता है।

अथ तं सर्वभूतानां हृत्पद्मेषु कृतालयम् ।
श्रुतानुभावं शरणं व्रज भावेन भामिनि ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

अथ—अतः; तम्—भगवान् को; सर्व-भूतानाम्—समस्त जीवों के; हृत्-पद्मेषु—कमल हृदयों में; कृत-आलयम्—निवास करते हुए; श्रुत-अनुभावम्—जिनका यश आपने सुना; शरणम्—शरण में; व्रज—जाओ; भावेन—भक्ति द्वारा; भामिनि—हे माता।.

अतः हे माता, आप प्रत्यक्ष भक्ति द्वारा जन-जन के हृदय में स्थित पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् की शरण ग्रहण करें।

तात्पर्य : कृष्णभक्ति से भगवान् का प्रत्यक्ष सम्पर्क हो सकता है और भगवान् के साथ प्रेमी, परमात्मा, पुत्र, मित्र या स्वामी रूप में उनसे सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। मनुष्य अनेक प्रकार से परमेश्वर के साथ दिव्य प्रेम-सम्बन्ध स्थापित कर सकता है और यह भाव ही वास्तविक तादात्म्य है। किन्तु मायावादी चिन्तकों तथा वैष्णव चिन्तकों का तादात्म्य पृथक्-पृथक् होता है। ये दोनों ही परब्रह्म में लीन होना चाहते हैं, किन्तु वैष्णव अपनी सत्ता खोना

नहीं चाहते। वे प्रेमी, जनक, मित्र या दास के रूप में अपनी सत्ता (पहचान) बनाये रखना चाहते हैं।

दिव्य जगत में दास तथा स्वामी एक हैं। यह परम पद है। यद्यपि उनमें दास तथा स्वामी का सम्बन्ध रहता है, किन्तु सेव्य तथा सेवक दोनों एक ही पद पर रहते हैं। यही तादात्म्य है। भगवान् कपिल ने अपनी माता को उपदेश दिया कि उन्हें किसी परोक्ष विधि की आवश्यकता नहीं है। वे पहले से प्रत्यक्ष विधि को प्राप्त हैं, क्योंकि परमेश्वर ने उनके पुत्र के रूप में जन्म लिया है। वस्तुतः उन्हें और किसी उपदेश की आवश्यकता नहीं रह गई थी, क्योंकि वे पहले ही सिद्ध अवस्था में थीं। कपिलदेव ने उन्हें उसी अवस्था में बने रहने की सलाह दी। अतः उन्होंने अपनी माता को *भामिनि* कहकर सम्बोधित किया जो सूचित करता है कि वे पहले ही अपने पुत्र रूप में भगवान् का चिन्तन कर रही थीं। अतः कपिलदेव देवहूति को सीधे कृष्णभावनामृत में भक्ति करने की सलाह देते हैं, क्योंकि इस चेतना के बिना माया के पाश से मुक्त नहीं हुआ जा सकता।

आद्यः स्थिरचराणां यो वेदगर्भः सहर्षिभिः ।
योगेश्वरैः कुमाराद्यैः सिद्धैर्योगप्रवर्तकैः ॥ १२॥
भेददृष्ट्याभिमानेन निःसङ्गेनापि कर्मणा ।
कर्तृत्वात्सगुणं ब्रह्म पुरुषं पुरुषर्षभम् ॥ १३॥
स संसृत्य पुनः काले कालेनेश्वरमूर्तिना ।
जाते गुणव्यतिकरे यथापूर्वं प्रजायते ॥ १४॥
ऐश्वर्यं पारमेष्ठ्यं च तेऽपि धर्मविनिर्मितम् ।
निषेव्य पुनरायान्ति गुणव्यतिकरे सति ॥ १५॥

शब्दार्थ

आद्यः—स्रष्टा, ब्रह्मा; स्थिर-चराणाम्—जड़ तथा जंगम का; यः—जो; वेद-गर्भः—वेदगर्भ; सह—साथ; ऋषिभिः—ऋषियों के; योग-ईश्वरैः—महान् योगियों के साथ; कुमार-आद्यैः—कुमारगण तथा अन्य; सिद्धैः—सिद्ध पुरुषों के साथ; योग-प्रवर्तकैः—योग पद्धति के जन्मदाता; भेद-दृष्ट्या—स्वतन्त्र दृष्टि के कारण; अभिमानेन—गर्व से; निःसङ्गेन—निष्काम; अपि—यद्यपि; कर्मणा—कार्यों से; कर्तृत्वात्—कर्ता होने के भाव से; स-गुणम्—दैवी गुणों से युक्त; ब्रह्म—ब्रह्म; पुरुषम्—भगवान्; पुरुष-ऋषभम्—प्रथम पुरुष अवतार को; सः—वह; संसृत्य—प्राप्त करके; पुनः—फिर; काले—समय पर; कालेन—काल द्वारा; ईश्वर-मूर्तिना—भगवान् का रूप; जाते गुण-व्यतिकरे—जब गुणों की प्रतिक्रिया होती है; यथा—जिस तरह; पूर्वम्—पहले; प्रजायते—उत्पन्न होता है; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; पारमेष्ठ्यम्—राजोचित; च—तथा; ते—ऋषिगण; अपि—भी; धर्म—अपने पुण्य कर्मों से; विनिर्मितम्—

उत्पन्न; निषेव्य—भोगा जाकर; पुनः—फिर; आयान्ति—लौटते हैं; गुण-व्यतिकरे सति—जब गुणों की प्रतिक्रिया होती है।.

आद्यः—स्त्रष्टा, ब्रह्मा; स्थिर-चराणाम्—जड़ तथा जंगम का; यः—जो; वेद-गर्भः—वेदगर्भ; सह—साथ; ऋषिभिः—ऋषियों के; योग-ईश्वरैः—महान् योगियों के साथ; कुमार-आद्यैः—कुमारगण तथा अन्य; सिद्धैः—सिद्ध पुरुषों के साथ; योग-प्रवर्तकैः—योग पद्धति के जन्मदाता; भेद-दृष्ट्या—स्वतन्त्र दृष्टि के कारण; अभिमानेन—गर्व से; निःसङ्गेन—निष्काम; अपि—यद्यपि; कर्मणा—कार्यों से; कर्तृत्वात्—कर्ता होने के भाव से; स-गुणम्—दैवी गुणों से युक्त; ब्रह्म—ब्रह्म; पुरुषम्—भगवान्; पुरुष ऋषभम्—प्रथम पुरुष अवतार को; सः—वह; संसृत्य—प्राप्त करके; पुनः—फिर; काले—समय पर; कालेन—काल द्वारा; ईश्वर-मूर्तिना—भगवान् का रूप; जाते गुण-व्यतिकरे—जब गुणों की प्रतिक्रिया होती है; यथा—जिस तरह; पूर्वम्—पहले; प्रजायते—उत्पन्न होता है; ऐश्वर्यम्—ऐश्वर्य; पारमेष्ठ्यम्—राजोचित; च—तथा; ते—ऋषिगण; अपि—भी; धर्म—अपने पुण्य कर्मों से; विनिर्मितम्—उत्पन्न; निषेव्य—भोगा जाकर; पुनः—फिर; आयान्ति—लौटते हैं; गुण-व्यतिकरे सति—जब गुणों की प्रतिक्रिया होती है।

हे माता, भले ही कोई किसी विशेष स्वार्थ से भगवान् की पूजा करे, किन्तु ब्रह्मा जैसे देवता, सनत्कुमार जैसे ऋषि-मुनि तथा मरीचि जैसे महामुनि सृष्टि के समय इस जगत में पुनः लौट आते हैं। जब प्रकृति के तीनों गुणों की अन्तःक्रिया प्रारम्भ होती है, तो काल के प्रभाव से इस दृश्य जगत के स्त्रष्टा तथा वैदिक ज्ञान से पूर्ण ब्रह्मा एवं आध्यात्मिक मार्ग तथा योग-पद्धति के प्रवर्तक बड़े-बड़े ऋषि वापस आ जाते हैं। वे अपने निष्काम कर्मों से मुक्त तो हो जाते हैं और पुरुष के प्रथम अवतार (आदि पुरुष) को प्राप्त होते हैं, किन्तु सृष्टि के समय वे पुनः अपने पहले के ही रूपों तथा पदों में वापस आ जाते हैं।

तात्पर्य : यह सभी जानते हैं कि ब्रह्मा को मुक्ति मिलती है, किन्तु वे भक्तों को मुक्ति नहीं दिला सकते। ब्रह्मा तथा शिव जैसे देवता किसी जीव को मुक्ति नहीं दे सकते। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है, केवल वे ही माया के पाश से मुक्त होते हैं जिन्होंने कृष्ण की शरण ग्रहण कर ली है। यहाँ ब्रह्मा को *आद्यः स्थिर-चराणाम्* कहा गया है। वे मूल, प्रथम उत्पन्न जीव थे और वे अपने जन्म के बाद सम्पूर्ण दृश्य जगत की उत्पत्ति करने वाले हैं। सृष्टि के सम्बन्ध में परमेश्वर ने उन्हें भलीभाँति शिक्षा दी थी। यहाँ पर उन्हें *वेदगर्भ* कहा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि वे वेदों के पूर्ण उद्देश्य को जानते हैं। उनके साथ मरीचि, कश्यप जैसे महापुरुष तथा सप्तर्षि, योगी, कुमार तथा अन्य अध्यात्म में बढ़े-चढ़े जीव रहते हैं, किन्तु उनका ईश्वर से पृथक् निजी स्वार्थ रहता है। *भेद-दृष्ट्या* का अर्थ है कि ब्रह्माजी कभी-कभी

सोचते हैं कि वे परमेश्वर से स्वतन्त्र हैं या कि वे अपने को तीन स्वतन्त्र अवतारों में से एक मानते हैं। ब्रह्मा को सृष्टि करने, विष्णु को पालन करने और रुद्र या शिवजी को संहार करने का कार्य सौंपा गया है। ये तीनों परमेश्वर के अवतार समझे जाते हैं, जो तीन भिन्न गुणों के अधिष्ठाता हैं, किन्तु इन तीनों में से कोई भी भगवान् से स्वतन्त्र नहीं है। यहाँ पर इसीलिए *भेद-दृष्ट्या* शब्द आया है, क्योंकि ब्रह्माजी कुछ-कुछ सोचते हैं कि वे रुद्र के समान स्वतन्त्र हैं। कभी-कभी ब्रह्माजी अपने को स्वतन्त्र मानते हैं और उनके उपासक भी ब्रह्माजी को स्वतन्त्र मानते हैं। इसीलिए इस जगत के संहार के बाद, जब तीनों गुणों की पारस्परिक क्रिया से पुनः सृष्टि होती है, तो ब्रह्मा वापस आते हैं। यद्यपि ब्रह्माजी प्रथम पुरुषावतार महाविष्णु के पास पहुँच जाते हैं, किन्तु वे वैकुण्ठ में ठहर नहीं सकते।

उनके वापस आने की विशेष महत्ता द्रष्टव्य है। ब्रह्मा, महान् ऋषिगण तथा योग के महान् स्वामी (शिव) सामान्य जीव नहीं हैं, वे सभी अत्यन्त शक्तिमान हैं और समस्त योग-सिद्धियों से पूर्ण हैं। फिर भी वे परब्रह्म के साथ एकाकार होना चाहते हैं, अतः उन्हें वापस आना पड़ता है। *श्रीमद्भागवत* में यह स्वीकार किया गया है कि जब तक मनुष्य अपने को भगवान् के समान सोचता है तब तक वह पूर्णतया शुद्ध या ज्ञेय नहीं रहता। प्रलय के बाद ऐसे लोग प्रथम पुरुष अवतार महाविष्णु के पास तक जाकर भी पुनः इस संसार में वापस आते हैं।

निर्विशेषवादियों का यह सोचना उनका घोर पतन है कि परमेश्वर भौतिक शरीर के भीतर प्रकट होते हैं, अतः परमेश्वर के स्वरूप-चिन्तन की कोई आवश्यकता नहीं है, अपितु निराकार का चिन्तन करना चाहिए। इसी भूल के कारण बड़े से बड़े योगी या अध्यात्मवादी भी पुनः सृष्टि होने पर वापस आते हैं। निर्विशेषवादियों एवं अद्वैतवादियों के अतिरिक्त सभी जीव पूर्ण कृष्णचेतना में रहकर भक्ति करते हैं और भगवान् के लिए दिव्य प्रेमा-भक्ति उत्पन्न करके मुक्त हो जाते हैं। ऐसी भक्ति परमेश्वर को स्वामी, सखा, पुत्र तथा प्रेमी के रूप में सोचने पर क्रमशः उत्पन्न होती है। ऐसे अन्तर तो सदैव उपस्थित ही रहेंगे।

ये त्विहासक्तमनसः कर्मसु श्रद्धयान्विताः ।
कुर्वन्त्यप्रतिषिद्धानि नित्यान्यपि च कृत्स्नशः ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

ये—जो; तु—लेकिन; इह—इस संसार में; आसक्त—अनुरक्त; मनसः—जिनके मन; कर्मसु—कर्मों में; श्रद्धया—श्रद्धा से; अन्विताः—युक्त; कुर्वन्ति—करते हैं; अप्रतिषिद्धानि—फल के प्रति आसक्ति सहित, काम्य; नित्यानि—नियत कर्म; अपि—निश्चय ही; च—तथा; कृत्स्नशः—बारम्बार।

जो लोग इस संसार के प्रति अत्यधिक आसक्त हैं, वे अपने नियत कर्मों को बड़े ही ढंग से तथा अत्यन्त श्रद्धापूर्वक सम्पन्न करते हैं। वे ऐसे नित्यकर्मों को कर्मफल की आशा से करते हैं।

तात्पर्य : *भागवत* के इस श्लोक में तथा अगले छह श्लोकों में अत्यधिक आसक्त लोगों की आलोचना हुई है। शास्त्रों का आदेश है कि जो भौतिक सुखों को भोगने में अत्यधिक अनुरक्त होते हैं उन्हें इनका परित्याग करके कुछ अनुष्ठान करने होते हैं। उन्हें स्वर्ग पहुँचने के लिए दैनिक जीवन में कुछ विधि-विधानों का पालन करना होता है। इस श्लोक में कहा गया है कि ऐसे व्यक्ति कभी भी मुक्त नहीं हो सकते। जो लोग इस भावना से देवताओं की पूजा करते हैं कि हर देवता पृथक् ईश्वर है वे कभी भी वैकुण्ठ नहीं जा पाते, उन लोगों की बात तो दूर रही जो अपनी भौतिक दशा सुधारने के लिए केवल कर्म करते हैं।

रजसा कुण्ठमनसः कामात्मानोऽजितेन्द्रियाः ।
पितॄन्यजन्त्यनुदिनं गृहेष्वभिरताशयाः ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

रजसा—रजोगुण द्वारा; कुण्ठ—चिन्ताओं से पूर्ण; मनसः—मन; काम-आत्मानः—इन्दियतृप्ति की इच्छा करते हुए; अजित—अनियन्त्रित; इन्द्रियाः—इन्द्रियाँ; पितॄन्—पूर्वजों, पितरगणों; यजन्ति—पूजा करते हैं; अनुदिनम्—प्रतिदिन; गृहेषु—घरेलू जीवन में; अभिरत—लगे हुए; आशयाः—मन।

ऐसे लोग, रजोगुण से प्रेरित होकर चिन्ताओं से व्याप्त रहते हैं और इन्द्रियों को वश में न कर सकने के कारण सदैव इन्द्रियतृप्ति की कामना करते रहते हैं। वे पितरों को पूजते हैं और अपने परिवार, सामाजिक या राष्ट्रीय जीवन की आर्थिक स्थिति सुधारने में रात-दिन लगे रहते हैं।

त्रैवर्गिकास्ते पुरुषा विमुखा हरिमेधसः ।
कथायां कथनीयोरुविक्रमस्य मधुद्विषः ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

त्रै-वर्गिकाः—तीन उन्नतिकारी विधियों में रुचि रखने वाले; ते—वे; पुरुषाः—व्यक्ति; विमुखाः—रुचि न रखने वाले; हरि-मेधसः—भगवान् हरि की; कथायाम्—लीलाओं में; कथनीय—कीर्तन करने योग्य; उरु-विक्रमस्य—जिनका सर्वोत्तम विक्रम (शौर्य); मधु-द्विषः—मधु असुर के वध करने वाले।

ऐसे लोग त्रैवर्गिक कहलाते हैं, क्योंकि वे तीन उन्नतिकारी विधियों—पुरुषार्थों—में रुचि लेते हैं। वे उन भगवान् से विमुख हो जाते हैं, जो बद्धजीवों को विश्राम प्रदान करने वाले हैं। वे भगवान् की उन लीलाओं में कोई अभिरुचि नहीं दिखाते, जो भगवान् के दिव्य विक्रम के कारण श्रवण करने योग्य हैं।

तात्पर्य : वैदिक विचारधारा के अनुसार चार उन्नतिकारी सिद्धान्त (पुरुषार्थ) हैं जिनके नाम हैं धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष। जो लोग भौतिक सुख में रुचि रखते हैं, वे नियत कर्म करते रहते हैं। वे तीन उन्नतिकारी विधियों—धर्म, अर्थ तथा काम में रुचि रखते हैं। अपनी आर्थिक स्थिति सुधार कर वे भौतिक जीवन का आनन्द उठा सकते हैं। फलतः भौतिकतावादी व्यक्ति केवल उन उन्नतिकारी विधियों में रुचि रखते हैं, जिन्हें *त्रैवर्गिक* कहा गया है। *त्रै* का अर्थ है तीन और *वर्गिक* का अर्थ है ''उन्नतिकारी विधियाँ।'' ऐसे पुरुष कभी भी भगवान् के प्रति आसक्त नहीं होते, अपितु वे उनके विरुद्ध रहते हैं।

यहाँ पर भगवान् को *हरि-मेधः* कहा गया है, जिसका अर्थ है ''जन्म तथा मरण के चक्र से उद्धार करने वाला।'' भौतिकतावादी व्यक्ति कभी भी भगवान् की आश्चर्यमयी लीलाओं को सुनने के प्रति कोई उत्सुकता नहीं दिखाते। वे इन्हें कपोलकल्पित कहानियाँ और भगवान् को भौतिक पुरुष मानते हैं। वे भक्ति या कृष्णचेतना में अग्रसर होने के योग्य नहीं होते। ऐसे लोग समाचारपत्रों में छपी कहानियों, उपन्यासों तथा काल्पनिक नाटकों में रुचि दिखाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण के वास्तविक कार्यकलाप, जैसे कि भगवान् के कुरुक्षेत्र के कार्यकलाप अथवा पाण्डवों के कार्यकलाप, भगवान् की वृन्दावन या द्वारका की लीलाओं का वर्णन भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत् में हुआ है, जो कि भगवान् की लीलाओं के वर्णन से परिपूर्ण हैं। किन्तु भौतिकतावादी पुरुष संसार में अपने पद को ऊपर उठाने में लगे रहते हैं और भगवान् के ऐसे

कार्यकलापों में कोई रुचि नहीं लेते। वे किसी महान् राजनीतिज्ञ या इस संसार के किसी परम धनवान व्यक्ति के कार्यकलापों में रुचि ले सकते हैं, किन्तु परमेश्वर के दिव्य कार्यकलापों में हरगिज नहीं।

नूनं दैवेन विहता ये चाच्युतकथासुधाम् ।
हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथाः पुरीषमिव विड्भुजः ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

नूनम्—निश्चय ही; दैवेन—भगवान् की आज्ञा से; विहताः—निन्दित; ये—जो; च—भी; अच्युत—अमोघ भगवान् की; कथा—कहानियाँ; सुधाम्—अमृत; हित्वा—त्याग कर; शृण्वन्ति—सुनते हैं; असत्-गाथाः—भौतिकतावादी पुरुषों की कहानियाँ; पुरीषम्—मल; इव—सदृश; विट्-भुजः—विष्ठाभोजी (सूकर)।

ऐसे व्यक्ति भगवान् के परम आदेशानुसार निन्दित होते हैं। चूँकि वे भगवान् के कार्यकलाप रूपी अमृत से विमुख रहते हैं, अतः उनकी तुलना विष्ठाभोजी सूकरों से की गई है। वे भगवान् के दिव्य कार्यकलापों को न सुनकर भौतिकतावादी पुरुषों की कुत्सित कथाएँ सुनते हैं।

तात्पर्य : प्रत्येक व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति के कार्यकलापों को सुनने का इच्छुक रहता है चाहे वह राजनीतिज्ञ हो, धनवान हो या उपन्योसों में वर्णित काल्पनिक पात्र हो। ऐसा तमाम व्यर्थ साहित्य, कहानियाँ तथा दर्शन की पुस्तकें हैं। भौतिकतावादी व्यक्ति ऐसा साहित्य पढ़ने में अधिक रुचि लेते हैं, किन्तु जब उनके सामने *भगवद्गीता,* श्रीमद्भागवत, *विष्णु पुराण* जैसे ज्ञानग्रंथ तथा विश्व के अन्य शास्त्र यथा बाइबिल या कुरान आते हैं, तो वे उनमें रुचि नहीं दिखाते। ऐसे व्यक्ति भगवान् के आदेशों (शास्त्रों) द्वारा उसी प्रकार से निन्दित होते हैं जिस तरह शूकर होता है। शूकर मल खाने में रुचि दिखाता है। यदि उसे घी अथवा दूध का बना कोई उत्तम पकवान दे दिया जाय तो वह उसे पसंद नहीं करता, वह दुर्गन्धमय विष्ठा (मल) को ही सबसे स्वादिष्ट समझता है। भौतिकतावादी मनुष्य इसीलिए निंद्य माने जाते हैं, क्योंकि वे दिव्य कार्यकलापों में रुचि न रखकर नारकीय कार्यों में रुचि प्रदर्शित करते हैं। भगवान् के कार्यकलापों का सन्देश अमृत है, इसके अतिरिक्त कोई भी जानकारी वास्तव में नारकीय है।

दक्षिणेन पथार्यम्णः पितृलोकं व्रजन्ति ते ।
प्रजामनु प्रजायन्ते श्मशानान्तक्रियाकृतः ॥ २० ॥

शब्दार्थ

दक्षिणेन—दक्षिणी; पथा—मार्ग से; अर्यम्णः—सूर्य के; पितृ-लोकम्—पितृ लोक को; व्रजन्ति—जाते हैं; ते—वे; प्रजाम्—अपने परिवार; अनु—के साथ; प्रजायन्ते—जन्म लेते हैं; श्मशान—मरघट; अन्त—अन्त में; क्रिया—सकाम कर्म; कृतः—करते हुए।

ऐसे भौतिकतावादी व्यक्तियों को सूर्य के दक्षिण मार्ग से पितृलोक जाने दिया जाता है, किन्तु वे इस लोक में पुनः आकर अपने-अपने परिवारों में जन्म लेते हैं और जन्म से लेकर जीवन के अन्त तक पुनः उसी तरह कर्म करते हैं।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* (९.२१) में कहा गया है कि ऐसे व्यक्ति उच्च लोकों को जाते हैं। जब उनके जीवन भर के कर्म चुक जाते हैं, तो वे इस लोक में वापस आ जाते हैं। इस तरह वे ऊपर-नीचे आते-जाते रहते हैं। जो उच्च लोक को गये थे वे उसी परिवार में लौटते हैं जिनसे वे परम अनुरक्त थे; वे जन्म लेते हैं और पुनः उनके कर्म आजीवन चलते रहते हैं। जन्म से मृत्यु तक अनेक अनुष्ठानों का विधान है और ऐसे लोग इन अनुष्ठानों के प्रति अत्यधिक अनुरक्त रहते हैं।

ततस्ते क्षीणसुकृताः पुनर्लोकमिमं सति ।
पतन्ति विवशा देवैः सद्यो विभ्रंशितोदयाः ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

ततः—तब; ते—वे; क्षीण—चुक जाने पर; सु-कृताः—पुण्य कर्मों के फल; पुनः—फिर; लोकम् इमम्—इस लोक में; सति—हे सती माता; पतन्ति—गिरते हैं; विवशाः—असहाय; देवैः—दैववश; सद्यः—अचानक; विभ्रंशित—गिराये जाकर; उदयाः—उनकी सम्पन्नता।

जब उनके पुण्यकर्मों का फल चुक जाता है, तो वे दैववश नीचे गिरते हैं और पुनः इस लोक में आ जाते हैं जिस प्रकार किसी व्यक्ति को ऊँचे उठाकर सहसा नीचे गिरा दिया जाये।

तात्पर्य : कभी-कभी देखा जाता है कि सरकारी नौकरी में उच्च पद आसीन व्यक्ति अचानक ही नीचे आ जाता है, उसे कोई बचा नहीं पाता। इसी प्रकार सुखोपभोग का समय बीत जाने पर, मूर्ख व्यक्ति जो उच्चलोकों में अध्यक्ष पद तक उठने के इच्छुक रहते हैं, नीचे

गिरकर इस लोक में आते हैं। एक भक्त तथा सकाम कर्म में आसक्त एक सामान्य व्यक्ति के उच्च पद में यह अन्तर होता है कि वैकुण्ठ गया हुआ भक्त कभी नीचे नहीं गिरता जबकि सामान्य व्यक्ति गिरता है, भले ही वह उच्चतम लोक, ब्रह्मलोक, को ही क्यों न प्राप्त हो। *भगवद्गीता* में पुष्टि हुई है (*आब्रह्म भुवनाल्लोका:*) कि चाहे वह उच्चलोक को ही प्राप्त क्यों न हो उसे पुन: नीचे आना होता है। किन्तु *भगवद्गीता* (८.१६) में ही कृष्ण द्वारा पुष्टि की गई है कि *मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते*—हे कुन्तीपुत्र! जो मेरे धाम को प्राप्त करता है, वह कभी इस संसार के बद्ध जीवन में वापस नहीं आता।

तस्मात्त्वं सर्वभावेन भजस्व परमेष्ठिनम् ।
तद्गुणाश्रयया भक्त्या भजनीयपदाम्बुजम् ॥ २२॥

शब्दार्थ

तस्मात्—अत:; त्वम्—तुम (देवहूति); सर्व-भावेन—प्रेमानुभूति में; भजस्व—पूजा करो; परमेष्ठिनम्—भगवान् को; तत्-गुण—भगवान् के गुण; आश्रयया—से सम्बन्धित; भक्त्या—भक्ति से; भजनीय—पूज्य; पद-अम्बुजम्—जिनके चरणकमल।

अत: हे माता, मैं आपको सलाह देता हूँ कि आप भगवान् की शरण ग्रहण करें जिनके चरणकमल पूजनीय हैं। इसे आप समस्त भक्ति तथा प्रेम से स्वीकार करें, क्योंकि इस तरह से आप दिव्य भक्ति को प्राप्त हो सकेंगी।

तात्पर्य : *परमेष्ठिनम्* शब्द का प्रयोग कभी-कभी ब्रह्मा के लिए किया जाता है। *परमेष्ठी* का अर्थ है 'परम पुरुष'। जिस तरह इस ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा ही परम पुरुष हैं उसी तरह वैकुण्ठ में कृष्ण परम पुरुष हैं। भगवान् कपिल देव अपनी माता को सलाह देते हैं कि वे भगवान् कृष्ण के चरणकमलों की शरण में जाएँ, क्योंकि यही श्रेयकर है। यहाँ ब्रह्मा तथा शिव जैसे उच्चतम पदों में आसीन देवताओं की शरण ग्रहण करने की सलाह नहीं दी गई। मनुष्य को भगवान् की शरण ग्रहण करनी चाहिए।

सर्वभावेन का तात्पर्य है "सर्व प्रेमानुभूति में।" ईश्वर का शुद्ध प्रेम प्राप्त करने के पूर्व ऊपर उठने की प्रारम्भिक अवस्था *भाव* है। *भगवद्गीता* का वचन है—*बुधा भावसमन्विता:*—जिसने *भाव* अवस्था प्राप्त कर ली है, वह भगवान् कृष्ण के चरणकमलों को पूजनीय स्वीकार

कर सकता है। यहाँ पर भगवान् कपिल ने अपनी माता को यही उपदेश दिया है। इस श्लोक में *तद्-गुणाश्रयया भक्त्या* पद भी महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ यह है कि कृष्ण की भक्ति सम्पन्न करना दिव्य कर्म है, यह कोई भौतिक कर्म नहीं। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है—*ब्रह्मभूयाय कल्पते*—जो भक्ति में लगे हुए हैं, वे तुरन्त दिव्य धाम को प्राप्त होते हैं।

मनुष्य के लिए जीवन की चरम सिद्धि प्राप्त करने के लिए एकमात्र साधन पूर्ण कृष्णचेतना में भक्ति करना है। भगवान् कपिल ने यहाँ पर अपनी माता को इसी का उपदेश दिया है। अत: भक्ति समस्त गुणों के प्रभावों से मुक्त है अर्थात् 'निर्गुण' है। यद्यपि भक्ति सम्पन्न करना भौतिक कार्य-सा प्रतीत होता है, किन्तु यह कभी 'सगुण' नहीं है अर्थात् भौतिक गुणों से दूषित नहीं होता। *तद्गुणाश्रया* का अर्थ है कि भगवान् कृष्ण के दिव्य गुण इतने महान् हैं कि मनुष्य को अन्य कार्यों की ओर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं रह जाती। भक्तों के प्रति उनका व्यवहार इतना प्रशंसनीय होता है कि उन्हें किसी दूसरी पूजा की ओर मन को मोड़ना नहीं पड़ता। कहा जाता है कि पूतना नामक राक्षसी कृष्ण को विष देकर मारने आई थी, किन्तु कृष्ण इतने प्रसन्न हुए कि उन्होंने उसका स्तन-पान करके अपनी माता के समान पद प्रदान कर दिया। अत: भक्तगण प्रार्थना करते हैं कि जब कृष्ण को मारने की इच्छा से आयी हुई पूतना इतना उच्च पद प्राप्त कर सकती है, तो फिर कृष्ण को छोड़कर अन्य किसी की पूजा से क्या लाभ? धार्मिक कार्य दो प्रकार के होते हैं—एक तो भौतिक विकास के लिए और दूसरे आध्यात्मिक विकास के लिए। कृष्ण के चरणकमलों की शरण ग्रहण करने से—भौतिक तथा आध्यात्मिक—दोनों प्रकार की सम्पन्नता प्राप्त हो जाती है। तो फिर कोई अन्य देवताओं के पास क्यों जाएँ?

वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित: ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद्ब्रह्मदर्शनम् ॥ २३ ॥

शब्दार्थ

वासुदेवे—कृष्ण के प्रति; भगवति—भगवान्; भक्ति-योग:—भक्ति; प्रयोजित:—की गयी; जनयति—उत्पन्न करती है; आशु—तुरन्त; वैराग्यम्—विरक्ति; ज्ञानम्—ज्ञान; यत्—जो; ब्रह्म-दर्शनम्—आत्म-साक्षात्कार।

कृष्णचेतना में लगने और भक्ति को कृष्ण में लगाने से ज्ञान, विरक्ति तथा आत्म-साक्षात्कार में प्रगति करना सम्भव है।

तात्पर्य : अल्पज्ञ कहते हैं कि भक्तियोग उन लोगों के लिए है, जो दिव्य ज्ञान तथा वैराग्य में अग्रसर नहीं हो पाए हैं। किन्तु वास्तविकता तो यह है कि जो समग्र कृष्णचेतना से भक्ति में लगा रहता है उसे न तो वैराग्य के लिए अलग से प्रयत्न करना पड़ता है और न दिव्य ज्ञान जागृत होने की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। कहा जाता है, जो व्यक्ति अविचल भाव से भगवान् की भक्ति में लगा रहता है उसमें स्वत: देवताओं के गुण आ जाते हैं। कोई यह नहीं खोज कर सकता है कि ये गुण भक्तों में कैसे आते हैं, किन्तु होता यही है। ऐसा एक उदाहरण है। एक शिकारी को पशुओं को मारने में बड़ा मजा आता था, किन्तु भक्त हो जाने पर वह एक चींटी भी मारने को तैयार न था। ऐसा होता है भक्त का गुण।

जो लोग दिव्य ज्ञान प्राप्त करने के इच्छुक हैं उन्हें चाहिए कि समय खोये बिना विशुद्ध भक्ति में लग जाँय। परम सत्य विषयक ज्ञान के बारे में किसी निश्चित मत तक पहुँचने में इस श्लोक में आया हुआ *ब्रह्म-दर्शनम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस शब्द का अर्थ है अध्यात्म का अनुभव या ज्ञान। वासुदेव की सेवा करने वाला ही ब्रह्म को समझ सकता है। यदि ब्रह्म निराकार है, तो *दर्शनम्* अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शन करने की कोई आवश्यकता नहीं है। दर्शनम् तो भगवान् वासुदेव के देखने को बताता है। जब तक देखने वाला तथा देखा जाने वाला (दर्शनीय) व्यक्ति न हो तब तक दर्शनम् नहीं हो सकता। *ब्रह्मदर्शनम्* का अर्थ है कि ज्योंही मनुष्य भगवान् को देखता है उसे तुरन्त निराकार ब्रह्म का अनुभव हो जाता है। भक्त को ब्रह्म की प्रकृति जानने के लिए अलग से प्रयास करने की आवश्यकता नहीं रहती। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* से भी होती है। *ब्रह्मभूयाय कल्पते*—भक्त तुरन्त परम सत्य में स्वरूपसिद्ध हो जाता है।

यदास्य चित्तमर्थेषु समेष्विन्द्रियवृत्तिभिः ।
न विगृह्णाति वैषम्यं प्रियमप्रियमित्युत ॥ २४॥

शब्दार्थ

यदा—जब; अस्य—भक्त का; चित्तम्—मन; अर्थेषु—विषयों में; समेषु—सम; इन्द्रिय-वृत्तिभिः—इन्द्रियों की क्रियाओं से; न—नहीं; विगृह्णाति—देखता है; वैषम्यम्—अन्तर; प्रियम्—स्वीकार्य; अप्रियम्—अस्वीकार्य; इति—इस प्रकार; उत—निश्चय ही।

उच्च भक्त का मन इन्द्रिय-वृत्तियों में समदर्शी हो जाता है और वह प्रिय तथा अप्रिय से परे हो जाता है।

तात्पर्य : दिव्य ज्ञान तथा भौतिक आकर्षण से वैराग्य में होने वाली उन्नति की महत्ता अत्यन्त सिद्ध भक्त के व्यक्तित्व में प्रकट होती है। उसके लिए न कुछ स्वीकार्य होती है न अस्वीकार्य, क्योंकि वह अपनी इन्द्रियतृप्ति के लिए कुछ भी नहीं करता। वह जो कुछ करता है, जो कुछ सोचता है, वह सब भगवान् को प्रसन्न करने के लिए होता है। चाहे भौतिक जगत हो या आध्यात्मिक जगत, उसका समदर्शी चित्त पूर्णतः प्रकट हो जाता है। वह समझ सकता है कि इस संसार में कुछ भी अच्छा नहीं है, प्रकृति द्वारा दूषित होने से सब कुछ बुरा है। अच्छा तथा बुरा, नैतिक तथा अनैतिक के विषय में भौतिकतवादी के निष्कर्ष केवल मनोकल्पना या भावुकता होते हैं। वास्तव में इस संसार में कुछ भी अच्छा नहीं है। आध्यात्मिक जगत में सब कुछ अच्छा है। आध्यात्मिक गुणों में उन्माद नहीं रहता। चूँकि भक्त हर वस्तु को आध्यात्मिक दृष्टि से देखता है, अतः वह समदर्शी होता है। दिव्य पद तक उठने का यही लक्षण है। वह स्वतः वैराग्य, फिर ज्ञान और तब दिव्य ज्ञान प्राप्त करता है। तात्पर्य यह है कि उच्च भक्त अपने को भगवान् के दिव्य गुणों से जोड़ लेता है और इस तरह गुणात्मक रूप से वह भगवान् से एकरूप हो जाता है।

स तदैवात्मनात्मानं निःसङ्गं समदर्शनम् ।
हेयोपादेयरहितमारूढं पदमीक्षते ॥ २५ ॥

शब्दार्थ

सः—वह; तदा—तब; एव—निश्चय ही; आत्मना—अपनी दिव्य बुद्धि से; आत्मानम्—अपने आपको; निःसङ्गम्—भौतिक आसक्ति से रहित; सम-दर्शनम्—दृष्टि में समभाव; हेय—त्याज्य; उपादेय—ग्राह्य; रहितम्—विहीन; आरूढम्—आसीन; पदम्—दिव्य पद पर; ईक्षते—देखता है।

अपनी दिव्य बुद्धि के कारण शुद्ध भक्त समदर्शी होता है और अपने आपको पदार्थ के कल्मष से रहित देखता है। वह किसी वस्तु को श्रेष्ठ या निम्न नहीं मानता और परम

पुरुष के गुणों में समान होने के कारण अपने आपको परम पद पर आरूढ़ अनुभव करता है।

तात्पर्य : आसक्ति से अप्रिय का भाव जागरित होता है। भक्त की किसी वस्तु के प्रति व्यक्तिगत आसक्ति नहीं होती अत: उसके लिए प्रिय या अप्रिय का प्रश्न नहीं उठता। भगवान् की सेवा के लिए वह कुछ भी कर सकता है, भले ही वह उसके लिए अप्रिय हो। वस्तुत:, वह स्वार्थ से पूर्णतया मुक्त रहता है और इस प्रकार भगवान् को जो भी प्रिय हो उसे भी प्रिय होता है। उदाहरणार्थ, पहले अर्जुन को युद्ध करना स्वीकार्य न था, किन्तु जब उसने समझ लिया कि युद्ध भगवान् को प्रिय है, तो उसने युद्ध करना स्वीकार कर लिया। शुद्ध भक्त की यही स्थिति है। उसे निजी स्वार्थ के लिए कुछ भी प्रिय या अप्रिय नहीं है, सब कुछ भगवान् के लिए किया जाता है, अत: भक्त आसक्ति तथा वैराग्य से मुक्त होता है। यह समभाव की दिव्य स्थिति है। शुद्ध भक्त परमेश्वर के आनन्द में जीवन का सुख भोगता है।

ज्ञानमात्रं परं ब्रह्म परमात्मेश्वरः पुमान् ।
दृश्यादिभिः पृथग्भावैर्भगवानेक ईयते ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

ज्ञान—ज्ञान; मात्रम्—केवल; परम्—दिव्य; ब्रह्म—ब्रह्म; परम-आत्मा—परमात्मा; ईश्वरः—ईश्वर, नियामक; पुमान्—परमात्मा; दृशि-आदिभिः—दार्शनिक खोज तथा अन्य विधियों से; पृथक् भावैः—ज्ञान की विविध विधियों के अनुसार; भगवान्—श्रीभगवान्; एकः—अकेला; ईयते—अनुभव किया जाता है।

केवल भगवान् ही पूर्ण दिव्य ज्ञान हैं, किन्तु समझने की भिन्न-भिन्न विधियों के अनुसार वे या तो निर्गुण ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् या पुरुष अवतार के रूप में भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं।

तात्पर्य : यहाँ *दृश्य-आदिभि:* शब्द महत्त्वपूर्ण है। जीव गोस्वामी के अनुसार *दृशि* का अर्थ ज्ञान या दार्शनिक खोज है। विभिन्न विचारधाराओं के अन्तर्गत दार्शनिक अनुसंधान की अनेकानेक विधियों द्वारा यथा ज्ञानयोग विधि से वही भगवान् अर्थात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् निराकार ब्रह्म समझा जाता है। इसी प्रकार अष्टांग योग पद्धति से वही भगवान् परमात्मा प्रतीत होता है। किन्तु विशुद्ध कृष्णचेतना अथवा ज्ञान की विशुद्ध स्थिति में, जब कोई परम सत्य को

जानने का प्रयास करता है, तो वही भगवान् उसे परम पुरुष प्रतीत होता है। केवल ज्ञान के आधार पर अध्यात्म समझा जाता है। यहाँ पर प्रयुक्त *परमात्मेश्वरः पुमान्*—ये सभी शब्द दिव्य हैं और वे परमात्मा को ही बताने वाले हैं। परमात्मा को *पुरुष* भी कहा जाता है, किन्तु *भगवान्* शब्द से सीधे पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् का बोध होता है, जो श्री, यश, शक्ति, सौन्दर्य, ज्ञान तथा वैराग्य नामक षडैश्वर्यों से पूर्ण हैं। वे ही विभिन्न परव्योमों (वैकुण्ठों) में परमेश्वर हैं। *परमात्मा, ईश्वर* और *पुमान्* के विविध वर्णन यह बताते हैं कि परमेश्वर के अनन्त विस्तार हैं।

अन्ततः भगवान् को जानने के लिए मनुष्य को भक्तियोग अपनाना होता है। ज्ञानयोग या ध्यानयोग सम्पन्न करके अन्ततः भक्तियोग पद तक पहुँचना होता है और तभी *परमात्मा, ईश्वर, पुमान्* आदि को ठीक से समझा जा सकता है। *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कंध में संस्तुति की गई है कि मनुष्य चाहे भक्त हो या कर्मयोगी या मुक्ति का इच्छुक, यदि वह बुद्धिमान है, तो उसे गम्भीरतापूर्वक भक्ति में लग जाना चाहिए। यह भी बताया गया है कि सकाम कर्मों से जो भी इच्छित फल प्राप्त होता है चाहे वह उच्चलोक जाने की इच्छा ही क्यों न हो, वह सब केवल भक्ति करने से प्राप्त हो जाता है। चूँकि परमेश्वर छह ऐश्वर्यों से युक्त हैं, अतः वे अपने उपासक को इनमें से किसी का भी वर दे सकते हैं।

एक ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् भिन्न-भिन्न चिन्तकों के समक्ष 'परम पुरुष', 'निराकार ब्रह्म' या 'परमात्मा' के रूप में प्रकट होते हैं। निर्विशेषवादी निराकार ब्रह्म में लीन होते हैं, किन्तु निराकार ब्रह्म की उपासना से ऐसा नहीं होता। यदि कोई भक्ति करे और साथ ही परमेश्वर में लीन होना चाहे तो ऐसा कर सकता है। यदि कोई ब्रह्म में लीन होना चाहता है, तो उसे भक्ति करनी होगी।

भक्त तो परमेश्वर को साक्षात् देख सकता है, किन्तु 'ज्ञानी' तथा 'योगी' ऐसा नहीं कर पाते। वे भगवान् के पार्षद पद तक नहीं उठ पाते। शास्त्रों में ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है जहाँ ज्ञान के अनुशीलन या निराकार ब्रह्म की उपासना से कोई भगवान् का निजी पार्षद बना हो। न ही योग के सिद्धान्तों से कोई भगवान् का पार्षद बन सकता है। निराकार ब्रह्म को

अदृश्य कहा जाता है, क्योंकि ब्रह्मज्योति का निराकार तेज भगवान् के मुख को आच्छादित किये रहता है। कुछ योगी चतुर्भुज विष्णु को हृदय में आसीन देखते हैं, किन्तु यहाँ भी भगवान् अदृश्य रहते हैं। भगवान् केवल भक्तों को दृश्य हैं। यहाँ पर *दृश्य-आदिभिः* कथन महत्त्वपूर्ण है। चूँकि भगवान् दृश्य तथा अदृश्य दोनों हैं, अतः उनके भिन्न-भिन्न स्वरूप हैं। *विष्णु पुराण* में इस तथ्य की सुन्दर व्याख्या हुई है। भगवान् का विराट रूप तथा भगवान् का निराकार ब्रह्मतेज, अदृश्य होने के कारण निम्नतर रूप हैं। विराट रूप की कल्पना भौतिक है और निराकार ब्रह्म की कल्पना आध्यात्मिक है, किन्तु सर्वोच्च आध्यात्मिक अनुभूति तो पुरुषोत्तम भगवान् हैं। *विष्णु पुराण* का कथन है—*विष्णुर्ब्रह्मस्वरूपेण स्वयमेव व्यवस्थितः*—ब्रह्म का असली रूप विष्णु है अथवा विष्णु ही परब्रह्म हैं। *स्वयम् एव* उनका सगुण रूप है। परम आध्यात्मिक अवधारणा तो भगवान् है। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* में हुई है—*यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम*। *परमं मम* कहलाने वाला धाम ही वह स्थान है, जिसे यदि कोई एक बार प्राप्त कर ले तो वहाँ से इस कष्टप्रद बद्धजीवन में फिर नहीं लौटता। हर स्थान, हर आकाश तथा हर वस्तु विष्णु की है, किन्तु जिस स्थान में वे स्वयं रहते हैं वह तद्धाम *परमम्*—उनका परम धाम है। मनुष्य को अपना गन्तव्य भगवान् का परम धाम बनाना चाहिए।

एतावानेव योगेन समग्रेणेह योगिनः ।
युज्यतेऽभिमतो ह्यर्थो यदसङ्गस्तु कृत्स्नशः ॥ २७॥

शब्दार्थ

एतावान्—इतना; **एव**—ही; **योगेन**—योगाभ्यास द्वारा; **समग्रेण**—सम्पूर्ण; **इह**—इस संसार में; **योगिनः**—योगी का; **युज्यते**—प्राप्त होता है; **अभिमतः**—इच्छित; **हि**—निश्चय ही; **अर्थः**—अभिप्राय, उद्देश्य; **यत्**—जो; **असङ्गः**—वैराग्य; **तु**—निस्सन्देह; **कृत्स्नशः**—पूर्णतया।

समस्त योगियों के लिए सबसे बड़ी सूझबूझ तो पदार्थ से पूर्ण विरक्ति है, जिसे योग के विभिन्न प्रकारों द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

तात्पर्य : योग तीन प्रकार के हैं—*भक्तियोग, ज्ञानयोग* तथा *अष्टांगयोग*। भक्त, ज्ञानी तथा योगी सभी भवबन्धन से बाहर निकलने का प्रयास करते हैं। ज्ञानी अपनी इन्द्रिय वृत्तियों को भौतिक कार्यों से पृथक् करने का प्रयास करते हैं। ज्ञानयोगी सोचता है कि पदार्थ असत्य है,

केवल ब्रह्म सत्य है, अतः ज्ञान के अनुशीलन द्वारा वह इन्द्रियों को भौतिक भोग से हटाने का यत्न करता है। अष्टांगयोगी भी इन्द्रियों को वश में करने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु भक्तजन अपनी इन्द्रियों को भगवन् की सेवा में लगाते हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि भक्तों के कार्य ज्ञानियों तथा योगियों से श्रेष्ठ हैं। योगीजन योग के आठ अंगों—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार इत्यादि के अभ्यास द्वारा इन्द्रियों को वश में करने का प्रयास करते हैं और ज्ञानीजन अपने मानसिक तर्क द्वारा यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि इन्द्रिय सुख असत्य है। किन्तु सबसे सरल तथा अत्यन्त प्रत्यक्ष विधि तो इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाना है।

समस्त योगों का उद्देश्य इस संसार से इन्द्रियवृत्तियों को मोड़ना है। किन्तु अन्तिम लक्ष्य पृथक्-पृथक् हैं। ज्ञानी ब्रह्मतेज से एकाकार हो जाना चाहते हैं, योगी परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहते हैं और भक्त कष्णचेतना तथा भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति उत्पन्न करना चाहते हैं। प्रेमा-भक्ति ही इन्द्रिय-निग्रह की पूर्ण अवस्था है। इन्द्रियाँ वास्तव में जीवन के सक्रिय लक्षण हैं। इन्हें रोका नहीं जा सकता। इन्हें तभी विलग किया जा सकता है जब कोई श्रेष्ठ व्यवस्था हो। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है— *परं दृष्ट्वा निवर्तते*—इन्द्रियों के कार्यों को रोका जा सकता है यदि इन्हें श्रेष्ठ कार्य दे दिये जाँय। यह श्रेष्ठ कार्य है इन्द्रियों को भगवान् की सेवा में लगाना। यही सारे योग का उद्देश्य है।

ज्ञानमेकं पराचीनैरिन्द्रियैर्ब्रह्म निर्गुणम् ।
अवभात्यर्थरूपेण भ्रान्त्या शब्दादिधर्मिणा ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

ज्ञानम्—ज्ञान; **एकम्**—एक; **पराचीनैः**—पराङ्मुख; **इन्द्रियैः**—इन्द्रियों के द्वारा; **ब्रह्म**—परम सत्य; **निर्गुणम्**—गुणों से परे; **अवभाति**—प्रकट होता है; **अर्थ-रूपेण**—विभिन्न विषयों के रूप में; **भ्रान्त्या**—भूल से; **शब्द-आदि**—शब्द इत्यादि; **धर्मिणा**—से युक्त।

जो अध्यात्म से पराङ्मुख हैं, वे परम सत्य (परमेश्वर) को कल्पित इन्द्रिय-प्रतीति द्वारा अनुभव करते हैं, अतः भ्रान्तिवश उन्हें प्रत्येक वस्तु सापेक्ष प्रतीत होती है।

तात्पर्य : परम सत्य भगवान् एक हैं, किन्तु अपने निराकार स्वरूप के कारण सर्वत्र व्याप्त हैं। इसका स्पष्ट उल्लेख *भगवद्गीता* में है। भगवान् कहते हैं, ''जो कुछ भी अनुभव किया

जाता है, वह मेरी शक्ति का ही विस्तार है।'' हर वस्तु उन्हीं पर आश्रित है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे हर वस्तु हैं। इन्द्रिय प्रतीतियाँ यथा ढोल की आवाज की श्रुति प्रतीति, सुन्दर स्त्री की दृश्य प्रतीति या जीभ द्वारा दूध की बनी सुस्वादु वस्तुओं की स्वाद-प्रतीति—ये सब भिन्न-भिन्न इन्द्रियों से प्राप्त होती हैं, फलत: भिन्न-भिन्न प्रकार से समझी जाती हैं। इसीलिए ऐन्द्रिय ज्ञान कई श्रेणियों में विभाजित है, यद्यपि सभी वस्तुएँ परमेश्वर की शक्ति के रूप में एक ही हैं। इसी प्रकार अग्नि की शक्तियाँ उष्मा तथा प्रकाश हैं और इन दोनों शक्तियों के द्वारा अग्नि कई रूपों में प्रकट हो सकती है। मायावादी चिन्तक इस विविधता को असत्य घोषित करते हैं, किन्तु वैष्णव चिन्तक ऐसा नहीं मानते। वे इन्हें भगवान् से अभिन्न मानते हैं, क्योंकि इनसे भगवान् की विविध शक्तियों का प्रदर्शन होता है।

वैष्णव दार्शनिक इस दर्शन को स्वीकार नहीं करते कि परमेश्वर सत्य है और यह सृष्टि असत्य (झूठी) है (*ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या*)। यद्यपि यह उदाहरण दिया जाता है कि सारी चमकने वाली वस्तुएँ सोना नहीं होतीं, किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं होता कि चमकने वाली वस्तुएँ असत्य हैं। उदाहरणार्थ, सीपी सुनहली प्रतीत होती है। इसका सुनहला रंग आँखों की प्रतीति के कारण है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सीपी असत्य है। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण के स्वरूप को देखकर कोई यह नहीं जान सकता कि वास्तव में वे क्या हैं, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि वे असत्य हैं। कृष्ण के स्वरूप को ज्ञानग्रन्थों यथा *ब्रह्म-संहिता* में वर्णित स्वरूप के आधार पर जाना जाता है। *ईश्वर: परम: कृष्ण: सच्चिदानन्दविग्रह:*—भगवान् कृष्ण का आध्यात्मिक शरीर शाश्वत एवं आनन्दमय है। अपनी अपूर्ण अनुभूति के कारण हम भगवान् के रूप को समझ नहीं पाते। हमें उनके विषय में ज्ञान प्राप्त करना होता है। इसीलिए यहाँ पर *ज्ञानम् एकम्* कहा गया है। *भगवद्गीता* इसकी पुष्टि करती है कि जो लोग कृष्ण को देखकर उन्हें सामान्य व्यक्ति समझते हैं, वे मूर्ख हैं। वे भगवान् के असीम ज्ञान, शक्ति तथा ऐश्वर्य को नहीं जानते। भौतिक इन्द्रिय-कल्पना से निष्कर्ष निकलता है कि परमेश्वर स्वरूपहीन (निराकार) हैं। ऐसी ही कल्पना के कारण बद्धजीव माया के वशीभूत होकर अज्ञान में रहा

आता है। परम पुरुष को *भगवद्गीता* में उन्हीं के द्वारा उच्चरित वाणी से समझा जा सकता है जहाँ वे स्वयं कहते हैं कि मुझसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है और निराकार ब्रह्मतेज मुझमें ही वास करता है। *भगवद्गीता* की शुद्ध एवं पूर्ण दृष्टि की तुलना गंगा नदी से की जाती है। गंगाजल इतना शुद्ध है कि उससे गधे तथा गौवें भी शुद्ध हो जाती हैं। किन्तु यदि गंगा की उपेक्षा करके कोई गंदे नाले के जल से शुद्ध होना चाहे तो वह सफल नहीं होगा। इसी प्रकार केवल शुद्ध परमेश्वर के मुख से ही सुनकर शुद्ध ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

इस श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि जो भगवान् से विमुख हैं, वे अपनी अपूर्ण इन्द्रियों से परम सत्य की प्रकृति के विषय में चिन्तन करते हैं। निराकार ब्रह्म का ज्ञान केवल कानों से ग्रहण किया जा सकता है, साक्षात् अनुभव से नहीं, फलतः ज्ञान श्रोत्र अनुभव से (सुनकर) प्राप्त किया जाता है। *वेदान्त-सूत्र* में पुष्टि हुई—*शास्त्र योनित्वात्*—केवल प्रामाणिक शास्त्रों से शुद्ध ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। परम सत्य के विषय में तथाकथित काल्पनिक तर्क व्यर्थ हैं। जीव की वास्तविक पहचान उसकी चेतना है, जो उसके जगते, सोते तथा सपने में भी सदा विद्यमान रहती है। यहाँ तक कि प्रगाढ़ निद्रा में भी वह अपनी चेतना से अपने को सुखी या दुखी देखता है। इस प्रकार जब सूक्ष्म तथा स्थूल भौतिक पदार्थों के माध्यम से चेतना प्रकट होती है, तो वह प्रच्छन्न रहती है, किन्तु जब चेतना कृष्णचेतना में रहकर शुद्ध हो जाती है, तो मनुष्य जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्त हो जाता है।

जब शुद्ध ज्ञान प्रकृति के गुणों से अनावृत होता है तभी जीव की वास्तविक पहचान हो पाती है कि वह भगवान् का शाश्वत दास है। यह अनावरण इस प्रकार से होता है : सूर्य की किरणें प्रकाशमान होती हैं और सूर्य स्वयं भी प्रकाशमान है, किन्तु जब सूर्य का प्रकाश बादल से या माया से आच्छादित हो जाता है, तो अंधकार या अधूरा ज्ञान प्रारम्भ होता है। अतः अज्ञान के अंधकार से निकलने के लिए अपनी आध्यात्मिक चेतना या कृष्णचेतना को शास्त्रानुमोदित विधि से जगाना होता है।

यथा महानहंरूपस्त्रिवृत्पञ्चविधः स्वराट् ।
एकादशविधस्तस्य वपुरण्डं जगद्यतः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस तरह; महान्—महत्-तत्त्व; अहम्-रूपः—मिथ्या, अहंकार; त्रि-वृत्—प्रकृति के तीन गुण; पञ्च-विधः—पाँच भौतिक तत्त्व; स्व-राट्—व्यष्टि चेतना; एकादश-विधः—ग्यारह इन्द्रियाँ; तस्य—जीव की; वपुः—शरीर; अण्डम्—ब्रह्माण्ड; जगत्—विश्व; यतः—जिससे।.

मैंने महत् तत्त्व या समग्र शक्ति से अहंकार, तीनों गुण, पाँचों तत्त्व, व्यष्टि चेतना, ग्यारह इन्द्रियाँ तथा शरीर उत्पन्न किये हैं। इसी प्रकार मुझ भगवान् से ही सारा ब्रह्माण्ड प्रकट हुआ।

तात्पर्य : परमेश्वर को *महत्-पद* के रूप में वर्णित किया गया है, जिसका अर्थ है कि समग्र भौतिक शक्ति, जिसे *महत्-तत्त्व* कहते हैं, उनके चरणकमलों पड़ी लेटी है। दृश्यजगत की उत्पत्ति या समग्र शक्ति *महत्-तत्त्व* है। *महत्-तत्त्व* से ही अन्य चौबीस विभाग हुए जो इस प्रकार हैं—ग्यारह इन्द्रियाँ (मन समेत), पाँच विषय, पाँच तत्त्व, चेतना, बुद्धि तथा अहंकार। चूँकि भगवान् ही *महत्-तत्त्व* के कारणस्वरूप हैं, अत: एक प्रकार से प्रत्येक वस्तु परमेश्वर से उद्‌भूत है, अत: भगवान् एवं दृश्य जगत में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु उसी के साथ ही दृश्य जगत भगवान् से भिन्न है। यहाँ पर *स्वराट्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है 'स्वतन्त्र'। परमेश्वर स्वतन्त्र हैं और जीवात्मा भी स्वतन्त्र है। फिर भी इन दोनों प्रकार की स्वतन्त्रता में कोई साम्य नहीं है, क्योंकि जीव कुछ-कुछ स्वतन्त्र है और भगवान् पूर्णरूपेण स्वतन्त्र हैं। जिस प्रकार प्रत्येक जीव के भौतिक शरीर होता है, जो पाँच तत्त्वों तथा इन्द्रियों से निर्मित है, उसी तरह यह ब्रह्माण्ड परम स्वतन्त्र भगवान् का विराट शरीर है। शरीर नाशवान है उसी तरह परमेश्वर का शरीर रूपी सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी नाशवान है और ये दोनों प्रकार के शरीर *महत्-तत्त्व* से ही बने हैं। अत: बुद्धि से इस अन्तर को समझना चाहिए। हर व्यक्ति जानता है कि उसका शरीर एक दिव्य स्फुलिंग से उत्पन्न हुआ है, इसी प्रकार विराट शरीर परामात्मा या परम स्फुलिंग से उत्पन्न हुआ। जिस प्रकार प्रत्येक शरीर आत्मा से उत्पन्न है उसी प्रकार यह ब्रह्माण्ड रूपी विराट शरीर परमात्मा से उत्पन्न है। जिस प्रकार प्रत्येक आत्मा चेतना से युक्त है उसी तरह परमात्मा भी है। इस प्रकार परमात्मा तथा आत्मा में साम्य होने पर भी आत्मा की

चेतना सीमित है और परमात्मा की असीम है। इसका वर्णन *भगवद्गीता* (१३.३) में इस प्रकार हुआ है—*क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि*—परमात्मा प्रत्येक कर्मक्षेत्र में उपस्थित रहता है, जिस प्रकार कि प्रत्येक शरीर में आत्मा रहता है। दोनों ही चेतन हैं। अन्तर इतना ही है कि व्यष्टि आत्मा केवल व्यष्टि शरीर के प्रति चेतन है, जबकि परमात्मा समस्त शरीरों के प्रति है।

एतद्वै श्रद्धया भक्त्या योगाभ्यासेन नित्यशः ।
समाहितात्मा निःसङ्गो विरक्त्या परिपश्यति ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; वै—निश्चय ही; श्रद्धया—श्रद्धा से; भक्त्या—भक्ति से; योग-अभ्यासेन—योगाभ्यास से; नित्यशः—सदैव; समाहित-आत्मा—स्थिर चित्त वाला; निःसङ्गः—भौतिक संगति से विलग; विरक्त्या—विरक्ति से; परिपश्यति—समझता है।

यह पूर्ण ज्ञान उस व्यक्ति को प्राप्त होता है, जो पहले से ही श्रद्धा, तन्मयता तथा पूर्ण विरक्ति सहित भक्ति में लगा रहता है और भगवान् के विचार में निरन्तर निमग्न रहता है। वह भौतिक संगति से निर्लिप्तदूर रहता है।

तात्पर्य : इस पूर्णज्ञान को योग का अभ्यासकर्ता नास्तिक नहीं जान सकता। केवल ऐसे व्यक्ति, जो पूर्ण कृष्ण चेतना में भक्ति के व्यावहारिक कार्यों में लगे रहते हैं, वे पूर्ण समाधि में समाहित हो सकते हैं। वे ही समग्र दृश्य जगत तथा इसके कारण सम्बन्धी वास्तविक तथ्य को देख और समझ सकते हैं। यहाँ यह स्पष्ट कहा गया है, जिसने पूर्ण श्रद्धा समेत भक्ति विकसित नहीं की है उसके लिए यह समझ पाना असम्भव है। *समाहितात्मा* तथा *समाधि* पर्यायवाची शब्द हैं।

इत्येतत्कथितं गुर्वि ज्ञानं तद्ब्रह्मदर्शनम् ।
येनानुबुद्ध्यते तत्त्वं प्रकृतेः पुरुषस्य च ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

इति—इस प्रकार; एतत्—यह; कथितम्—वर्णित; गुर्वि—आदरणीय माता; ज्ञानम्—ज्ञान; तत्—उस; ब्रह्म—परम सत्य; दर्शनम्—प्राकट्य; येन—जिससे; अनुबुद्ध्यते—समझा जाता है; तत्त्वम्—सत्य; प्रकृतेः—पदार्थ का; पुरुषस्य—आत्मा का; च—तथा।

आदरणीय माता, मैंने पहले ही आप को ही परम सत्य जानने का मार्ग बता दिया है,

जिससे मनुष्य पदार्थ तथा आत्मा एवं उनके सम्बन्ध के वास्तविक सत्य को समझ सकता है।

ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः ।
द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षणः ॥ ३२॥

शब्दार्थ

ज्ञान-योगः—दार्शनिक शोध; च—तथा; मत्-निष्ठः—मुझको लक्षित करके; नैर्गुण्यः—प्रकृति के गुणों से मुक्त; भक्ति—भक्ति; लक्षणः—नामक; द्वयोः—दोनों का; अपि—और; एकः—एक; एव—निश्चय ही; अर्थः—अभिप्राय; भगवत्—भगवान्; शब्द—शब्द से; लक्षणः—बताने वाला।

दार्शनिक शोध का लक्ष्य पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को जानना है। इस ज्ञान को प्राप्त करके जब मनुष्य प्रकृति के गुणों से मुक्त हो जाता है, तो उसे भक्ति की अवस्था प्राप्त होती है। मनुष्य को चाहे, प्रत्यक्षतः भक्ति से हो या दार्शनिक शोध से हो, एक ही गन्तव्य की खोज करनी होती है और वह है भगवान्।

तात्पर्य : *भगवद्गीता* में कहा गया है कि अनेकानेक जीवन पर्यन्त ज्ञानयोग का शोध करने के बाद अन्ततः मनुष्य उस बिन्दु पर पहुँचता है जहाँ उसे ज्ञात होता है कि भगवान् वासुदेव ही सब कुछ हैं, अतः वह उनकी शरण में जाता है। ऐसे ज्ञानयोग की शोध करने वाले विरले महापुरुष हैं। यदि ज्ञानयोग की खोज करके कोई भगवान् को प्राप्त नहीं होता तो समझिये कि सारा श्रम व्यर्थ हुआ। उसे तब तक ज्ञान की खोज करनी पड़ती है जब तक कि वह भगवान् की भक्ति को नहीं समझ लेता।

भगवान् के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने का अवसर *भगवद्गीता* में दिया हुआ है जहाँ इसका उल्लेख है कि जो लोग चिन्तन तथा योगाभ्यास जैसी अन्य विधियों का सहारा लेते हैं उन्हें कष्ट मिलता है। योगी या कुशल ज्ञानी अनेकानेक कठिनाइयों के बाद भगवान् तक पहुँच सकता है, किन्तु उसका मार्ग अत्यधिक कष्टप्रद होता है, जबकि भक्ति का मार्ग सबों के लिए सुगम है। मनुष्य को ज्ञानयोग का फल केवल भक्ति करने से प्राप्त हो सकता है और जब तक मनुष्य अपने चिन्तन द्वारा भगवान् तक नहीं पहुँच जाता तब तक उसकी सारी खोज केवल खिलवाड़ होती है। पटुज्ञानी का अन्तिम लक्ष्य निराकार ब्रह्म से तादात्म्य है, किन्तु ब्रह्म तो

परम पुरुष का तेज है। भगवान् कृष्ण *भगवद्गीता* (१४.२७) में कहते हैं—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् अमृतस्याव्ययस्य च*—मैं निराकार ब्रह्म का आधार हूँ जो अविनाशी तथा परमानन्द हैं। भगवान् समस्त आनन्द के सागर हैं जिसमें ब्रह्मानन्द सम्मिलित है, अत: जिसकी भगवान् पर अविचल श्रद्धा है, वह पहले ही निराकार ब्रह्म तथा परमात्मा का साक्षात्कार कर चुकता है।

यथेन्द्रियैः पृथग्द्वारैरर्थो बहुगुणाश्रयः ।
एको नानेयते तद्वद्भगवान्शास्त्रवर्त्मभिः ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

यथा—जिस प्रकार; इन्द्रियैः—इन्द्रियों से; पृथक्-द्वारैः—विभिन्न प्रकार से; अर्थः—वस्तु; बहु-गुण—अनेक गुणों; आश्रयः—से युक्त; एकः—एक; नाना—भिन्न-भिन्न प्रकार से; ईयते—अनुभव किया जाता है; तद्वत्—उसी प्रकार; भगवान्—भगवान्; शास्त्र-वर्त्मभिः—विभिन्न शास्त्रीय आदेशों के अनुसार।

एक ही वस्तु अपने विभिन्न गुणों के कारण भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से ग्रहण की जाती है। इसी तरह भगवान् एक है, किन्तु विभिन्न शास्त्रीय आदेशों के अनुसार वह भिन्न-भिन्न प्रतीत होता है।

तात्पर्य : ऐसा प्रतीत होता है कि ज्ञानयोग के मार्ग पर चलकर मनुष्य निराकार ब्रह्म तक पहुँचता है, किन्तु कृष्ण-चेतना में भक्ति करने से उसकी भगवान् में श्रद्धा तथा भक्ति बढ़ती है। किन्तु यहाँ यह कहा गया है कि भक्तियोग तथा ज्ञानयोग दोनों एक ही लक्ष्य—भगवान्—तक पहुँचने के लिए हैं। ज्ञानयोग की विधि से वही भगवान् निराकार प्रतीत होता है। जिस तरह एक ही वस्तु भिन्न-भिन्न इन्द्रियों द्वारा भिन्न-भिन्न लगती है उसी तरह एक ही परमेश्वर चिन्तन द्वारा निराकार प्रतीत होता है। एक पहाड़ी दूर से बादल जैसी लगती है और इस के कारण अनजान व्यक्ति इसे बादल मान सकता है, किन्तु वास्तव में यह बादल नहीं है, यह एक बड़ी-सी पहाड़ी है। मनुष्य को प्रमाण से सिखना होता है कि बादल का दृश्य बादल न होकर पहाड़ी है। यदि कोई थोड़ा-थोड़ा करके आगे बढ़े तो बादल के बदले उसे पहाड़ी तथा हरियाली दिखने लगती है। जब कोई सचमुच ही पहाड़ी पर पहुँच जाता है, तो उसे तरह-तरह की वस्तुएँ दिख सकती हैं। दूसरा उदाहरण दूध का है। जब हम दूध को देखते हैं, तो यह सफेद लगता है, जब उसे चखते हैं, तो स्वादिष्ट लगता है। छूने पर ठंडा लगता है, सूँघने पर

सुगन्धित लगता है और सुन कर इसे दूध समझा जाता है। विभिन्न इन्द्रियों द्वारा दूध का अनुभव करने पर हम कहते हैं कि यह एक सफेद, स्वादिष्ट, सुगन्धित वस्तु है। वास्तव में यह दूध है। इसी प्रकार जो लोग चिन्तन द्वारा भगवान् को खोजना चाहते हैं, वे उनके शारीरिक तेज या निराकार ब्रह्म तक पहुँच सकते हैं और जो भगवान् को योगाभ्यास द्वारा पाना चाहते हैं, वे उन्हें अन्तर्यामी परमात्मा के रूप में प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु जो लोग भक्तियोग द्वारा भगवान् के पास पहुँचना चाहते हैं, वे साक्षात् परम पुरुष का दर्शन कर सकते हैं।

अन्ततः परम पुरुष ही सारी विधियों का गन्तव्य है। जो भाग्यशाली पुरुष शास्त्रों के नियमों का पालन करते हुए समस्त भौतिक कल्मषों से पूर्णतया शुद्ध हो जाता है, वह परमेश्वर को सब कुछ मान कर उनकी शरण में चला जाता है। जिस प्रकार दूध का वास्तविक स्वाद आँख, नथुनों या कानों से न लेकर जीभ से लिया जाता है उसी तरह मनुष्य परम सत्य का आनन्द केवल एक ही मार्ग—भक्ति—द्वारा प्राप्त कर सकता है। *भगवद्गीता* में इसकी पुष्टि इस प्रकार हुई है—*भक्त्या मामभिजानाति*—यदि कोई परम सत्य को पूरी तरह जानना चाहता है, तो उसे भक्ति करनी चाहिए। निस्सन्देह परम सत्य को कोई पूरी तरह समझ नहीं सकता। एक लघु जीव के लिए यह सम्भव नहीं है। किन्तु भक्ति सम्पन्न करके जीवात्मा ज्ञान के चरम-विन्दु तक पहुँच सकता है, अन्य विधि से नहीं।

विभिन्न शास्त्रीय मार्गों का अनुसरण करके मनुष्य भगवान् के निराकार तेज तक पहुँच सकता है। भगवान् के साथ तादात्म्य या निराकार ब्रह्म के ज्ञान से दिव्य आनन्द मिलता है, क्योंकि ब्रह्म अनन्त है। *तद् ब्रह्म निष्कलं अनन्तम्*—ब्रह्मानन्द अनन्त है। किन्तु इस अनन्त आनन्द के भी परे जाया जा सकता है। यह गुणातीत है। अनन्त को भी लाँघने पर जो उच्च पद प्राप्त होता है, वह कृष्ण है। श्रीकृष्ण की भक्ति से आदान-प्रदान द्वारा जो मधु एवं रस प्राप्त होता है, वह अतुलनीय है और वह ब्रह्मानन्द से भी बढ़कर है। अतः प्रबोधानन्द स्वामी कहते हैं कि 'कैवल्य' या ब्रह्मानन्द निस्सन्देह अत्यन्त महान् है और अनेक ज्ञानियों द्वारा प्रशंसित है, किन्तु यह ब्रह्मानन्द उस भक्त के लिए नरक तुल्य है, जिसने भगवान् की भक्ति से सुख प्राप्त

करना सीख लिया है। अतः कृष्ण से साक्षात्कार करने के लिए मनुष्य को ब्रह्मानन्द को भी पार करना सीखना होता है। चूँकि मन समस्त इन्द्रियों की वृत्तियों का केन्द्र है इसलिए कृष्ण को इन्द्रियों का स्वामी या 'हृषीकेश' कहा जाता है। इसकी विधि है मन को कृष्ण या हृषीकेश पर स्थिर करना, जैसाकि महाराज अम्बरीष ने किया (*स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोः*)। भक्ति समस्त विधियों का मूल सिद्धान्त है। भक्ति के बिना न तो ज्ञानयोग और न अष्टांग-योग सफल हो सकता है और कृष्ण तक पहुँचे बिना आत्म-साक्षात्कार के सिद्धान्तों का कोई चरम लक्ष्य नहीं होता।

क्रियया क्रतुभिर्दानैस्तपःस्वाध्यायमर्शनैः ।
आत्मेन्द्रियजयेनापि सन्न्यासेन च कर्मणाम् ॥ ३४॥
योगेन विविधाङ्गेन भक्तियोगेन चैव हि ।
धर्मेणोभयचिह्नेन यः प्रवृत्तिनिवृत्तिमान् ॥ ३५॥
आत्मतत्त्वावबोधेन वैराग्येण दृढेन च ।
ईयते भगवानेभिः सगुणो निर्गुणः स्वदृक् ॥ ३६॥

शब्दार्थ

क्रियया—सकाम कर्म से; क्रतुभिः—यज्ञ से; दानैः—दान से; तपः—तपस्या; स्वाध्याय—वैदिक साहित्य का अध्ययन; मर्शनैः—तथा ज्ञानयोग के द्वारा; आत्म-इन्द्रिय-जयेन—मन तथा इन्द्रियों को वश में करने से; अपि—भी; सन्न्यासेन—संन्यास के द्वारा; च—तथा; कर्मणाम्—सकाम कर्मों का; योगेन—योग से; विविध-अङ्गेन—विविध विभागों वाले; भक्ति-योगेन—भक्ति से; च—तथा; एव—निश्चय ही; हि—निस्सन्देह; धर्मेण—नियत कार्यों से; उभय-चिह्नेन—दोनों लक्षणों वाले; यः—जो; प्रवृत्ति—आसक्ति; निवृत्ति-मान्—वैराग्य से युक्त; आत्म-तत्त्व—आत्म-साक्षात्कार का विज्ञान; अवबोधेन—ज्ञान से; वैराग्येण—वैराग्य से; दृढेन—दृढ़; च—तथा; ईयते—अनुभव किया जाता है; भगवान्—भगवान्; एभिः—इनसे; स-गुणः—भौतिक संसार में; निर्गुणः—गुणों से परे; स्व-दृक्—अपनी वैधानिक स्थिति को देखने वाला।

सकाम कर्म तथा यज्ञ सम्पन्न करके, दान देकर, तपस्या करके, विविध शास्त्रों के अध्ययन से, ज्ञानयोग से, मन के निग्रह से, इन्द्रियों के दमन से, संन्यास ग्रहण करके तथा अपने आश्रम के कर्तव्यों का निर्वाह करके, योग की विभिन्न विधियों को सम्पन्न करके, भक्ति करके तथा आसक्ति और विरक्ति के लक्षणों से युक्त भक्तियोग को प्रकट करके, आत्म-साक्षात्कार के विज्ञान को जान करके तथा प्रबल वैराग्य भाव जागृत करके आत्म-साक्षात्कार की विभिन्न विधियों को समझने में अत्यन्त पटु व्यक्ति उस रूप में भगवान् का साक्षात्कार करता है जैसा कि वे भौतिक जगत में तथा अध्यात्म में

निरूपित किये जाते हैं।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोक में बताया गया है, शास्त्रों के नियमों का पालन करना होता है। विभिन्न वर्णाश्रमों में व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न कार्य बताये गये हैं। यहाँ बताया गया है कि सकाम कर्म तथा यज्ञ करना और दान देना—ये गृहस्थाश्रम के कर्म हैं। आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। गृहस्थों के लिए यज्ञ करने, दान देने तथा नियत कर्मों के अनुसार कर्म करने की संस्तुति की गई है। इसी प्रकार तपस्या, वेदाध्ययन तथा ज्ञान की खोज—ये वानप्रस्थों के लिए हैं। ब्रह्मचारी या छात्र के लिए प्रामाणिक गुरु से वेदों का अध्ययन करना करणीय बताया गया है। जो संन्यासी हैं उनके लिए *आत्मेन्द्रिय-जय*—अर्थात् मन का निरोध तथा इन्द्रियों को वश में करना होता है। ये विभिन्न कार्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए हैं जिससे वे आत्म-साक्षात्कार के पद तक ऊपर उठें जहाँ से वे कृष्णचेतना अर्थात् भक्ति को प्राप्त हों।

भक्ति योगेन चैव हि का अर्थ यह है कि श्लोक ३४ के अनुसार जो भी करणीय है, चाहे वह योग हो या यज्ञ, कर्म, वेदाध्ययन या संन्यास ग्रहण, उसे भक्तियोग में सम्पन्न करना चाहिए। *चैव हि* शब्द संस्कृत व्याकरण के अनुसार बताते हैं कि मनुष्य को ये सारे कार्य भक्ति के साथ-साथ करने चाहिए अन्यथा इन कार्यों का कोई फल नहीं प्राप्त होगा। कोई भी नियत कर्म भगवान् के लिए होना चाहिए। इसकी पुष्टि *भगवद्गीता* (९.२७) में हुई है—*यत्करोषि यदश्नासि*—"तुम जो भी करो, जो भी खाओ, जो भी यज्ञ करो, जो भी तपस्या करो और जो भी दान दो, उन सबका फल परमेश्वर को दिया जाना चाहिए।" यहाँ पर *एव* शब्द जोड़ दिया गया है, जो यह बताता है कि ये कर्म इस तरह अवश्य किये जायँ। जब तक सारे कर्मों के साथ भक्ति नहीं की जाती तब तक वांछित फल नहीं मिलता, किन्तु जब हर कार्य में भक्तियोग को प्रधानता मिलती है, तो अन्तिम लक्ष्य अवश्य प्राप्त होता है।

मनुष्य को भगवान् कृष्ण तक पहुँचना होता है, जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है, "अनेकानेक जन्मों के पश्चात् मनुष्य परम पुरुष कृष्ण के पास पहुँचता है और यह जानकर

उनकी शरण ग्रहण करता है कि वे सब कुछ हैं।'' *भगवद्गीता* में ही भगवान् यह भी कहते हैं *भोक्तारं यज्ञतपसाम्*—''समस्त यज्ञों अथवा कठिन तपस्या के भोक्ता भगवान् हैं।'' वह सारे लोकों का स्वामी है और प्रत्येक जीवात्मा का सखा है।

धर्मेणोभयचिह्नेन का अर्थ है कि भक्तियोग के दो लक्षण हैं—भगवान् के प्रति आसक्ति तथा समस्त भौतिक सम्बन्धों से विरक्ति। जिस प्रकार भोजन करते समय दो प्रकार के कार्य होते हैं उसी तरह भक्तियोग की प्रगति के दो लक्षण होते हैं। भोजन करने से भूखे व्यक्ति को शक्ति तथा सन्तोष मिलता है तथा साथ ही और अधिक भोजन करने से विरक्ति होती जाती है। इस प्रकार भक्ति करने से वास्तविक ज्ञान उत्पन्न होता है और मनुष्य समस्त भौतिक कार्यों से विरक्त होता जाता है। भक्ति के द्वारा पदार्थ से जैसी विरक्ति तथा परमेश्वर के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है, वह अन्य किसी कर्म से नहीं हो पाती। परमेश्वर के प्रति इस आसक्ति को बढ़ाने की नौ विभिन्न विधियाँ हैं—ये हैं श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पूजन, सेवा, सख्यभाव, प्रार्थना, सर्वस्व अर्पण तथा भगवान् के चरणकमलों की सेवा। वैराग्य उत्पन्न करने वाली विधियाँ श्लोक ३६ में बताई गई हैं।

मनुष्य अपने नियत कार्यों को सम्पन्न करके तथा यज्ञ द्वारा स्वर्गलोक जैसे उच्च लोकों को प्राप्त कर सकता है। जब संन्यास ग्रहण करके मनुष्य ऐसी इच्छाओं से ऊपर उठ जाता है, तो वह परमेश्वर के ब्रह्म-स्वरूप को समझ सकता है और जब वह अपनी वास्तविक स्वाभाविक स्थिति देख लेता है, तो वह अन्य सभी विधियों को देख लेता है और तब शुद्ध भक्ति की अवस्था में स्थित हो जाता है। उस समय वह पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् को समझ सकता है।

परम पुरुष का ज्ञान *आत्म-तत्त्व-अवबोधेन* कहलाता है, जिसका अर्थ है, ''स्वयं की स्वाभाविक स्थिति को समझना''। यदि कोई सचमुच परमेश्वर के शाश्वत दास के रूप में अपनी वैधानिक स्थिति को समझ जाता है, तो वह संसार की सेवा से विरक्त हो जाता है। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी प्रकार की सेवा में लगा है। यदि कोई अपनी स्वाभाविक स्थिति से परिचित नहीं होता तो वह अपने स्थूल शरीर, अपने परिवार, समाज या देश की सेवा में लगा

रहता है। किन्तु ज्योंही वह अपनी स्वाभाविक स्थिति देख पाता है (*स्वदृक्* का अर्थ है "जो देखने में समर्थ है"), वह ऐसी सेवा से विरक्त होकर अपने आपको भक्तियोग में लगा लेता है।

जब तक मनुष्य भौतिक गुणों से युक्त है और शास्त्रानुमोदित अपने कर्म करता रहता है, तो वह उच्चलोकों को जा सकता है जहाँ के अधिष्ठाता देव सूर्यदेव, चन्द्रदेव, वायुदेव, ब्रह्मा तथा शिव जैसे भगवान् के भौतिक प्रतिनिधि होते हैं। सारे देवता भगवान् के भौतिक स्वरूप हैं। भौतिक कर्मों से मनुष्य केवल ऐसे देवताओं तक ही पहुँच पाता है, जैसाकि *भगवद्गीता* (९.२५) में कहा गया है—*यान्ति देवव्रता देवान्*—जो लोग देवताओं पर अनुरक्त हैं और अपने नियत कर्म करते हैं, वे देवताओं के धाम तक पहुँच सकते हैं। इस तरह मनुष्य पितृलोक जा सकता है। इसी तरह जो व्यक्ति अपने जीवन की वास्तविक स्थिति ठीक से समझता है, वह भक्ति अपना लेता है और भगवान् का साक्षात्कार करता है।

प्रावोचं भक्तियोगस्य स्वरूपं ते चतुर्विधम् ।
कालस्य चाव्यक्तगतेर्योऽन्तर्धावति जन्तुषु ॥ ३७॥

शब्दार्थ

प्रावोचम्—कहा गया; भक्ति-योगस्य—भक्ति का; स्वरूपम्—पहचान, स्वरूप; ते—तुमसे; चतुः-विधम्—चार विभागों में; कालस्य—समय का; च—भी; अव्यक्त-गतेः—जिसकी गति अलक्षित है; यः—जो; अन्तर्धावति—पीछा करता है; जन्तुषु—जीवों का।

हे माता, आपसे मैं भक्तियोग तथा चार विभिन्न आश्रमों में इसके स्वरूप की व्याख्या कर चुका हूँ। मैं आपको यह भी बता चुका कि शाश्वत काल किस तरह जीवों का पीछा कर रहा है यद्यपि यह उनसे अदृश्य रहता है।

तात्पर्य : भक्तियोग वह प्रधान नदी है, जो परम सत्य स्वरूप सागर की ओर बह रही है और यहाँ पर वर्णित अन्य सारी विधियाँ उसकी सहायक नदियाँ हैं। भगवान् कपिल भक्तियोग की महत्ता का सार-संक्षेप दे रहे हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है भक्तियोग चार विभागों में विभक्त है—तीन तो प्रकृति के गुणों के रूप में हैं तथा चौथा अध्यात्म है, जो भौतिक गुणों से अछूता है। भक्ति-योग प्रकृति के गुणों के साथ मिलकर संसार का एक साधन है, जबकि

कर्मफल की इच्छाओं से रहित तथा ज्ञानयोग के लिए प्रयासों से रहित भक्ति शुद्ध है, दिव्य भक्तिमय सेवा है।

जीवस्य संसृतीर्बह्वीरविद्याकर्मनिर्मिताः ।
यास्वङ्ग प्रविशन्नात्मा न वेद गतिमात्मनः ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ

जीवस्य—जीव की; संसृतीः—संसार के मार्ग; बह्वीः—अनेक; अविद्या—अज्ञान; कर्म—कार्य से; निर्मिताः—उत्पन्न; यासु—जिनमें; अङ्ग—हे माता; प्रविशन्—प्रवेश करते हुए; आत्मा—जीव; न—नहीं; वेद—जानता है; गतिम्—गति; आत्मनः—अपनी।

अज्ञान में किये गये कर्म अथवा अपनी वास्तविक पहचान की विस्मृति के अनुसार जीवात्मा के लिए अनेक प्रकार के भौतिक अस्तित्व होते हैं। हे माता, यदि कोई इस विस्मृति में प्रविष्ट होता है, तो वह यह नहीं समझ पाता कि उसकी गतियों का अन्त कहाँ होगा।

तात्पर्य : एक बार जब कोई इस भवसागर में प्रविष्ट कर जाता है, उसमें से निकल पाना उसके लिए कठिन होता है। अतः भगवान् स्वयं आते हैं या अपना प्रामाणिक प्रतिनिधि भेजते हैं और *भगवद्गीता* तथा *श्रीमद्भागवत* जैसे शास्त्र पीछे छोड़ते जाते हैं जिससे अज्ञान के अन्धकार में भटकते जीव इन उपदेशों, साधु-पुरुषों एवं गुरुओं का लाभ उठा सकें और इस तरह से मुक्त हो सकें। जब तक जीव को साधु-पुरुषों, गुरु या कृष्ण की कृपा प्राप्त नहीं होती तब तक इस संसार के अन्धकार से निकल पाना सम्भव नहीं होता है। अकेले अपने प्रयास से तो यह सर्वथा असंभव है।

नैतत्खलायोपदिशेन्नाविनीताय कर्हिचित् ।
न स्तब्धाय न भिन्नाय नैव धर्मध्वजाय च ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; एतत्—यह उपदेश; खलाय—ईर्ष्यालुओं को; उपदिशेत्—उपदेश देना चाहिए; न—नहीं; अविनीताय—अविनीत को; कर्हिचित्—कभी; न—नहीं; स्तब्धाय—घमंडी को; न—नहीं; भिन्नाय—दुराचारी को; न—नहीं; एव—निश्चय ही; धर्म-ध्वजाय—दम्भियों को; च—भी।

भगवान् कपिल ने आगे कहा : यह उपदेश उन लोगों के लिए नहीं है, जो ईर्ष्यालु हैं,

अविनीत हैं या दुराचारी हैं। न ही यह उपदेश दम्भियों या उन व्यक्तियों के लिए है, जिन्हें अपनी भौतिक सम्पदा का गर्व है।

न लोलुपायोपदिशेन्न गृहारूढचेतसे ।
नाभक्ताय च मे जातु न मद्भक्तद्विषामपि ॥ ४० ॥

शब्दार्थ

न—नहीं; लोलुपाय—लालची को; उपदिशेत्—उपदेश देवे; न—नहीं; गृह-आरूढ-चेतसे—गृहस्थ जीवन के प्रति आसक्त को; न—नहीं; अभक्ताय—अभक्त को; च—तथा; मे—मेरा; जातु—कभी; न—नहीं; मत्—मेरे; भक्त—भक्तगण; द्विषाम्—ईर्ष्यालुओं को; अपि—भी।

यह उपदेश न तो उन लोगों को दिया जाय जो अत्यन्त लालची हैं और गृहस्थ जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्त हैं, न ही अभक्तों और भक्तों एवं भगवान् के भक्तों तथा भगवान् के प्रति ईर्ष्या रखने वालों को दिया जाय।

तात्पर्य : जो लोग सदैव अन्य जीवों को हानि पहुँचाने की योजनाएँ बनाते रहते हैं, वे कृष्णभावनामृत को समझने के अधिकारी नहीं हैं और वे भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति के प्रक्षेत्र में प्रविष्ट नहीं हो सकते। साथ ही, कुछ ऐसे स्वार्थी तथाकथित शिष्य होते हैं, जो अत्यन्त दिखावटी रूप से किसी और अंशा से गुरु के प्रति विनीत बने रहते हैं। वे भी नहीं जान पाते कि कृष्णभावनामृत अथवा भक्तियोग क्या है। ऐसे व्यक्ति, जो अन्य सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण, भक्ति को भगवान् तक पहुँचने का एक-सा पद (स्थिति) नहीं समझते, वे भी कृष्णभक्ति को नहीं समझ सकते। हमारा अनुभव है कि कुछ अध्येता हमारे पास तो आते हैं, किन्तु किसी विशेष प्रकार का मताग्रह होने के कारण वे हमारा साथ छोड़कर वीराने में खो जाते हैं। वस्तुत: कृष्णभक्ति किसी सम्प्रदाय का धर्म नहीं है; यह तो परमेश्वर तथा उनके साथ अपने सम्बन्ध को जानने की शिक्षण विधि है। कोई भी इस आन्दोलन में बिना किसी भेदभाव के सम्मिलित हो सकता है। किन्तु कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो अन्य प्रकार से अनुभव करते हैं। अत: यह श्रेयस्कर होगा कि ऐसे लोगों को कृष्णभक्ति के ज्ञान का उपदेश न दिया जाय।

सामान्यत: भौतिकतावादी व्यक्ति किसी नाम, यश तथा लाभ के पीछे लगे रहते हैं, अत:

यदि कोई इन कारणों से कृष्णभक्ति ग्रहण करता है, तो वह इस दर्शन को कभी नहीं समझ सकता। ऐसे व्यक्ति धर्म को सामाजिक अलंकरण के रूप में ग्रहण करते हैं। विशेषत: कलियुग में वे किसी सांस्कृतिक संस्थान में केवल नाम कमाने के लिए प्रवेश करते हैं। ऐसे लोग भी कृष्णचेतना के दर्शन को नहीं समझ सकते। यदि कोई सांसारिक वस्तुओं के लिए लालची न भी हो, किन्तु यदि गृहस्थ जीवन के प्रति अत्यधिक आसक्त है, तो वह भी कृष्णभक्ति को नहीं समझ सकता। ऊपर से ऐसे लोग भले ही लालची न लगें, किन्तु वे अपनी पत्नी, बच्चों तथा परिवार की उन्नति के प्रति अत्यधिक आसक्त रहते हैं। यदि कोई ऐसा व्यक्ति हो जो उपर्युक्त दोषों से कल्मषग्रस्त न हो तो भी यदि वह भगवान् की सेवा में रुचि नहीं रखता, या अभक्त है, तो वह कृष्णचेतना के दर्शन को नहीं समझ पाएगा।

श्रद्दधानाय भक्ताय विनीतायानसूयवे ।
भूतेषु कृतमैत्राय शुश्रूषाभिरताय च ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ

श्रद्दधानाय—श्रद्धालु; भक्ताय—भक्त के लिए; विनीताय—विनीत; अनसूयवे—ईर्ष्यारहित; भूतेषु—समस्त जीवों को; कृत-मैत्राय—मैत्रीभाव; शुश्रूषा—सेवा; अभिरताय—करने के लिए इच्छुक; च—तथा।

ऐसे श्रद्धालु भक्त को उपदेश दिया जाय जो गुरु के प्रति सम्मानपूर्ण, द्वेष न करने वाला, समस्त जीवों के प्रति मैत्री भाव रखने वाला हो तथा श्रद्धा और निष्ठापूर्वक सेवा करने के लिए उत्सुक हो।

बहिर्जातविरागाय शान्तचित्ताय दीयताम् ।
निर्मत्सराय शुचये यस्याहं प्रेयसां प्रियः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ

बहिः—बाहरी; जात-विरागाय—विरागी को, अनासक्त को; शान्त-चित्ताय—शान्त मन वाले को; दीयताम्—उपदेश दिया जाय; निर्मत्सराय—मत्सरशून्य, द्वेष न रखने वाले को; शुचये—पूर्णतया शुद्ध; यस्य—जिसका; अहम्—मैं; प्रेयसाम्—प्रियों में; प्रियः—अत्यन्त प्रिय।

गुरु द्वारा यह उपदेश ऐसे व्यक्तियों को दिया जाय जो भगवान् को अन्य किसी भी वस्तु से अधिक प्रिय मानते हैं, जो किसी के प्रति द्वेष नहीं रखते, जो पूर्ण शुद्ध चित्त हैं और जिन्होंने कृष्णचेतना की परिधि के बाहर विराग उत्पन्न कर लिया है।

तात्पर्य : प्रारम्भिक स्थिति में कोई भी भक्ति की उच्चतम अवस्था को प्राप्त नहीं होता। यहाँ भक्त का अर्थ उस व्यक्ति से है, जो भक्त बनने के लिए सुधारवादी विधियों को स्वीकार करने में हिचकता नहीं। भगवद्भक्त बनने के लिए मनुष्य को गुरु बनाना पड़ता है और उससे भक्ति विषयक प्रगति के विषय में जिज्ञासा करनी होती है। भक्ति में प्रगति करने के चौंसठ भक्ति-कार्य हैं जिनमें से कुछ हैं—भक्त की सेवा, जप विधि के अनुसार पवित्र नाम का जप, विग्रह-पूजन, *श्रीमद्भागवत* या *भगवद्गीता* को सिद्ध पुरुष से सुनना और ऐसे पवित्र स्थान में रहना जहाँ भक्ति में विघ्न न पड़े। जो इन पाँच प्रमुख कार्यों को करता है, वह भक्त है।

मनुष्य को चाहिए कि वह गुरु का यथेष्ठ सम्मान करे। उसे अपने गुरुभाइयों के प्रति द्वेष नहीं रखना चाहिए। अपितु यदि वह अधिक प्रबुद्ध है और कृष्णभक्ति में बढ़ा-चढ़ा है, तो उसे गुरु-तुल्य मानना चाहिए और ऐसे गुरुभाइयों को कृष्णभावनामृत में उन्नति करते देखकर प्रसन्न होना चाहिए। भक्त को चाहिए कि सामान्य-जनता को कृष्णभक्ति का उपदेश देने में अत्यन्त दयालु बने, क्योंकि माया के पाश से निकलने का एकमात्र समाधान यही है। यही वास्तविक लोक-कल्याण है, क्योंकि उन लोगों के प्रति दया दिखाने की यही विधि है जिन्हें इसकी आवश्यकता है। *शुश्रूषाभिरताय* शब्द उस व्यक्ति का सूचक है, जो गुरु की सेवा में श्रद्धापूर्वक निरत रहता है। गुरु की समस्त प्रकार से सेवा की जानी चाहिए और सारी सुविधाएँ प्रदान की जानी चाहिए जो भक्त ऐसा करता है, वह भी इन उपदेशों को ग्रहण करने के लिए पात्र है। *बहिर्जात विरागाय* शब्द उस व्यक्ति का सूचक है, जिसने आन्तरिक तथा बाह्य भौतिक कामनाओं से वैराग्य प्राप्त कर लिया है। वह कृष्णभक्ति से सम्बन्ध न रखने वाले कार्यकलापों से विरत तो है ही, साथ ही उसे आन्तरिक रूप से भौतिक जीवन से विमुख होना चाहिए। ऐसे व्यक्ति को ईर्ष्यारहित होना चाहिए और सभी जीवों की—न केवल मनुष्यों की, अपितु उनके अतिरिक्त सारे जीवों की—कल्याण की कामना करनी चाहिए। *शुचये का अर्थ है भीतर और बाहर से शुद्ध व्यक्ति। अन्दर और बाहर से शुद्ध बनने* के लिए मनुष्य को भगवान् कृष्ण या विष्णु के पवित्र नाम का कीर्तन करना चाहिए।

दीयताम् शब्द बताता है कि कृष्णभक्ति का ज्ञान गुरु द्वारा दिया जाना चाहिए। गुरु को चाहिए कि अयोग्य शिष्य को स्वीकार न करे, स्वयं व्यावसायिक न बने और अर्थलाभ के लिए शिष्य न बनाए। प्रामाणिक गुरु को चाहिए कि वह उस व्यक्ति के प्रामाणिक गुणों को देखे जिसे वह दीक्षित करने जा रहा है। अयोग्य व्यक्ति दीक्षित न हो। गुरु अपने शिष्य को इस तरह प्रशिक्षित करे कि भविष्य में उसके जीवन का उद्देश्य एकमात्र भगवान् रहे।

इन दो श्लोकों में भक्त के गुणों की पूरी व्याख्या है। जिसने इन श्लोकों में वर्णित समस्त गुणों का विकास कर लिया है, वह पहले से भक्त-पद को प्राप्त है। यदि उसने इन सारे गुणों को विकसित नहीं किया है, तो उसे अब भी इन प्रतिबन्धों को पूरा करना होगा, जिससे वह कुशल भक्त बन सके।

य इदं शृणुयादम्ब श्रद्धया पुरुषः सकृत् ।
यो वाभिधत्ते मच्चित्तः स ह्येति पदवीं च मे ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ

यः—जो; इदम्—इसको; शृणुयात्—सुनेगा; अम्ब—हे माता; श्रद्धया—श्रद्धा से; पुरुषः—व्यक्ति; सकृत्—एक बार; यः—जो; वा—अथवा; अभिधत्ते—उच्चारण करता है; मत्-चित्तः—अपने मन को मुझ पर स्थित करके; सः—वह; हि—निश्चय ही; एति—प्राप्त करता है; पदवीम्—धाम को; च—तथा; मे—मेरा।

जो कोई श्रद्धा तथा भक्तिपूर्वक एक बार मेरा ध्यान करता है, मेरे विषय में सुनता तथा कीर्तन करता है, वह निश्चय ही भगवान् के धाम को वापस जाता है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध के अन्तर्गत ''कर्म-बन्धन'' नामक बत्तीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

Chapter तैंतीस

कपिल के कार्यकलाप

मैत्रेय उवाच
एवं निशम्य कपिलस्य वचो जनित्री
सा कर्दमस्य दयिता किल देवहूतिः ।
विस्रस्तमोहपटला तमभिप्रणम्य
तुष्टाव तत्त्वविषयाङ्कितसिद्धिभूमिम् ॥ १ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; एवम्—इस प्रकार; निशम्य—सुनकर; कपिलस्य—कपिल के; वचः—शब्द; जनित्री—माता; सा—वह; कर्दमस्य—कर्दम मुनि की; दयिता—प्रिय पत्नी; किल—नामक; देवहूतिः—देवहूति; विस्रस्त—से युक्त होकर; मोह-पटला—मोह का आवरण; तम्—उसको; अभिप्रणम्य—नमस्कार करके; तुष्टाव—स्तुति की; तत्त्व—मूल सिद्धान्त; विषय—के सम्बन्ध में; अङ्कित—रचियता, प्रतिपादक; सिद्धि—मुक्ति की; भूमिम्—पृष्ठभूमि।

श्री मैत्रेय ने कहा : इस प्रकार भगवान् कपिल की माता एवं कर्दम मुनि की पत्नी देवहूति भक्तियोग तथा दिव्य ज्ञान सम्बन्धी समस्त अविद्या से मुक्त हो गईं। उन्होंने उन भगवान् को नमस्कार किया जो मुक्ति की पृष्ठभूमि सांख्य दर्शन के प्रतिपादक हैं और तब निम्नलिखित स्तुति द्वारा उन्हें प्रसन्न किया।

तात्पर्य : भगवान् कपिल ने अपनी माता के समक्ष जिस दर्शन-पद्धति का प्रतिपादन किया वह आध्यात्मिक पद पर स्थित होने की पृष्ठभूमि है। इस दर्शन पद्धति की विशिष्ट महत्ता *सिद्ध-भूमिम्* द्वारा यहाँ पर व्यक्त की गई है, जिसका अर्थ है मोक्ष की पृष्ठभूमि। भगवान् कपिल ने जिस सांख्य-दर्शन का प्रतिपादन किया है उसे समझकर माया द्वारा बद्ध लोग, जो इस संसार में दुख भोग रहे हैं, पदार्थ (जड़त्व) के चंगुल से छुटकारा पा सकते हैं। इस दर्शन पद्धति के द्वारा भौतिक जगत में स्थित व्यक्ति भी तुरन्त मुक्त हो सकता है। यह अवस्था *जीवन्-मुक्ति* कहलाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि इस भौतिक शरीर में रहते हुए भी मनुष्य मुक्त हो जाता है। भगवान् कपिल की माता देवहूति के साथ ऐसा ही हुआ, अत: उन्होंने अपनी स्तुतियों द्वारा भगवान् को सन्तुष्ट किया। जो भी सांख्य दर्शन के मूल सिद्धान्त को समझता है, वह भक्ति को प्राप्त होता है और इसी संसार में वह कृष्णभावनाभावित अर्थात् मुक्त हो जाता है।

देवहूतिरुवाच
अथाप्यजोऽन्तःसलिले शयानं
भूतेन्द्रियार्थात्ममयं वपुस्ते ।
गुणप्रवाहं सदशेषबीजं
दध्यौ स्वयं यज्जठराब्जजातः ॥ २ ॥

शब्दार्थ

देवहूतिः उवाच—देवहूति ने कहा; अथ अपि—और भी; अजः—ब्रह्मा जी; अन्तः-सलिले—जल में; शयानम्—लेटे हुए; भूत—भौतिक तत्त्व; इन्द्रिय—इन्द्रियाँ; अर्थ—विषय; आत्म—मन; मयम्—से व्याप्त; वपुः—शरीर; ते—तुम्हारा; गुण-प्रवाहम्—प्रकृति के तीन तत्त्वों की धारा का उद्गम; सत्—प्रकट; अशेष—सबों का; बीजम्—बीज; दध्यौ—ध्यान किया; स्वयम्—स्वयं; यत्—जिसके; जठर—उदर से; अब्ज—कमल-पुष्प से; जातः—उत्पन्न।

देवहूति ने कहा : ब्रह्माजी अजन्मा कहलाते हैं, क्योंकि वे आपके उदर से निकलते हुए कमल-पुष्प से जन्म लेते हैं और आप ब्रह्माण्ड के तल पर समुद्र में शयन करते रहते हैं। लेकिन ब्रह्माजी ने भी केवल अनन्त ब्रह्माण्डों के उद्‍गम स्त्रोत, आपका ध्यान ही किया।

तात्पर्य : ब्रह्मा *अज* भी कहलाते हैं, क्योंकि *अज* का अर्थ है अजन्मा। जब भी हम किसी के जन्म की बात सोचते हैं, तो उसका कोई-न-कोई माता तथा पिता होना चाहिए, क्योंकि इन्हीं से वह जन्म लेगा। किन्तु ब्रह्मा इस ब्रह्माण्ड के प्रथम प्राणी होने के नाते उन भगवान् के शरीर से सीधे उत्पन्न हुए जो गर्भोदकशायी विष्णु अर्थात् ब्रह्माण्ड के तल पर समुद्र में शयन करने वाले विष्णु नाम से ज्ञात है। देवहूति भगवान् को यह बताना चाह रही थीं कि ब्रह्मा जब विष्णु का दर्शन करना चाहते हैं, तो उन्हें भी आपका ध्यान करना होता है। उन्होंने कहा, ''आप सारी सृष्टि के बीजस्वरूप हैं। यद्यपि ब्रह्मा सीधे आपसे उत्पन्न हुए हैं, किन्तु फिर भी जब वर्षों ध्यान करते हैं तब भी उन्हें आपके साक्षात् दर्शन नहीं हो पाते। आपका शरीर ब्रह्माण्ड के तल पर विपुल जल-राशि के भीतर लेटा है, अतः आप गर्भोदकशायी विष्णु कहलाते हैं।''

इस श्लोक में भगवान् के विराट शरीर की भी व्याख्या हुई है। यह शरीर दिव्य है और पदार्थ (जड़त्व) से अस्पृश्य। चूँकि यह संसार उनके शरीर से उत्पन्न हुआ है, अतः उनका शरीर सृष्टि के पूर्व भी विद्यमान था। निष्कर्ष यह निकला कि विष्णु का दिव्य शरीर भौतिक

तत्त्वों से निर्मित नहीं है। विष्णु का शरीर अन्य समस्त जीवों के साथ-साथ भगवान् की शक्ति-स्वरूपा भौतिक प्रकृति का भी उद्गम है। देवहूति ने कहा, "आप संसार तथा समस्त उद्भूत शक्ति के मूलाधार हैं, अत: आप इस प्रकार से सांख्य दर्शन की व्याख्या करके माया के पाश से मेरा उद्धार कर रहे हैं, तो इतनी आश्चर्य की बात नहीं है। किन्तु मेरी कोख से आपका जन्म लेना अवश्य ही आश्चर्यजनक है, क्योंकि समस्त सृष्टि के उद्गम होने पर भी आपने कृपा करके मेरे पुत्र रूप में जन्म लिया है। यही सबसे आश्चर्यजनक है। आपका शरीर समस्त ब्रह्माण्ड का उद्गम है फिर भी आपने मुझ जैसी स्त्री के उदर से शरीर धारण किया। मेरे लिए यही अत्यधिक विस्मयजनक लगता है।

स एव विश्वस्य भवान्विधत्ते
गुणप्रवाहेण विभक्तवीर्यः ।
सर्गाद्यनीहोऽवितथाभिसन्धिर्
आत्मेश्वरोऽतर्क्यसहस्रशक्तिः ॥ ३ ॥

शब्दार्थ

सः—वही पुरुष; एव—निश्चय ही; विश्वस्य—ब्रह्माण्ड का; भवान्—आप; विधत्ते—करते हैं; गुण-प्रवाहेण—गुणों की अन्तःक्रिया से; विभक्त—विभाजित; वीर्यः—आपकी शक्तियाँ; सर्ग-आदि—सृष्टि इत्यादि; अनीहः—निष्क्रिय; अवितथ—सार्थक; अभिसन्धिः—दृढ़संकल्प; आत्म-ईश्वरः—समस्त जीवों के स्वामी; अतर्क्य—अकल्पनीय; सहस्र—हजारों; शक्तिः—शक्तियों से युक्त।

हे भगवान्, यद्यपि आपको निजी रूप से कुछ करना नहीं रहता, किन्तु आपने अपनी शक्तियाँ प्रकृति के गुणों की अन्तःक्रियाओं में वितरित कर दी हैं जिसके बल पर दृश्यजगत की उत्पत्ति, पालन तथा संहार होता है। हे भगवान्, आप दृढ़संकल्प हैं और समस्त जीवों के भगवान् हैं। आपने उन्हीं के लिए यह संसार रचा और यद्यपि आप एक हैं, किन्तु आपकी शक्तियाँ अनेक प्रकार से कार्य करती हैं। यह हमारे लिए अकल्पनीय है।

तात्पर्य : इस श्लोक में देवहूति ने कहा है कि यद्यपि परम सत्य को अपने आप कुछ भी नहीं करना होता तो भी उनकी विविध शक्तियाँ हैं। उसकी पुष्टि उपनिषदों में भी हुई है। उनसे न तो कोई बड़ा है, न ही कोई उनके समान है और सब कुछ उन्हीं की शक्ति से सम्पन्न होता

है मानो प्रकृति द्वारा हो रहा हो। अत: इससे यह पता चलता है कि यद्यपि विभिन्न गुणों का भार ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव जैसे स्वरूपों को प्रदत्त है, जिन्हें भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्तियाँ मिली हुई हैं और भगवान् इन कार्यकलापों से सर्वथा पृथक् रहते हैं। देवहूति कह रही हैं ''यद्यपि आप अपने से स्वयं कुछ भी नहीं कर रहे, किन्तु आपका संकल्प पूर्ण है। आपको अपनी इच्छापूर्ति के लिए अपने सिवा और किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है। आप अन्तत: परमात्मा तथा परम नियामक हैं। अत: आपकी इच्छा को कोई रोक नहीं सकता।'' भगवान् किसी की भी योजना को रोक सकता है। कहा भी गया है ''आपन चेती होइ नहिं प्रभु चेती तत्काल।'' किन्तु जब भगवान् चाहते हैं, तो उनकी इच्छा अन्य किसी के अधीन नहीं रहती। वे पूर्ण हैं। हम अपनी इच्छापूर्ति के लिए उन्हीं पर आश्रित हैं, किन्तु हम यह नहीं कह सकते कि ईश्वर की इच्छाएँ भी किसी के अधीन हैं। यही उनकी अकल्पनीय शक्ति है। सामान्य जीवों के लिए जो अकल्पनीय है उसे वे सहज ही कर सकते हैं। वे असीम होते हुए भी वैदिक साहित्य जैसे प्रामाणिक शास्त्रों द्वारा जाने जाते हैं। जैसाकि कहा गया है *शब्द मूलत्वात्* उन्हें शब्द ब्रह्म या वैदिक साहित्य द्वारा जाना जा सकता है।

यह सृष्टि क्यों की जाती है? सब जीवों के श्रीभगवान् होने के कारण ही उन्होंने यह भौतिक जगत उन जीवों के लिए उत्पन्न किया जो इसका भोग करना चाहते हैं या प्रकृति पर प्रभुता जताना चाहते हैं। परमेश्वर रूप में वे उनकी विभिन्न इच्छाओं को पूरा करने की व्यवस्था करते हैं। वेदों में भी पुष्टि की गई है—*एको बहूनां यो विदधाति कामान्*—परमेश्वर अनेक जीवों की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। विभिन्न प्रकार के जीवों की आवश्यकताओं का कोई अन्त नहीं है और केवल भगवान् ही उनका पालन करते तथा उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति अपनी अकल्पनीय शक्ति द्वारा करते हैं।

स त्वं भृतो मे जठरेण नाथ
कथं नु यस्योदर एतदासीत् ।
विश्वं युगान्ते वटपत्र एकः

शेते स्म मायाशिशुरङ्घ्रिपानः ॥ ४॥

शब्दार्थ

सः—वही पुरुष; त्वम्—तुमने; भृतः—जन्म लिया है; मे जठरेण—मेरे उदर से; नाथ—हे भगवान्; कथम्—कैसे; नु—तब; यस्य—जिसके; उदरे—पेट में; एतत्—यह; आसीत्—स्थित था; विश्वम्—ब्रह्माण्ड; युग-अन्ते—कल्प के अन्त में; वट-पत्रे—वट वृक्ष के पेड़ की पत्ती पर; एकः—अकेले; शेते स्म—सोते थे; माया—अकल्पनीय शक्तियों से युक्त; शिशुः—बालक; अङ्घ्रि—अँगूठा; पानः—चूसते हुए।

आपने मेरे उदर से श्रीभगवान् के रूप में जन्म लिया है। हे भगवन्, यह उस परमेश्वर के लिए किस प्रकार सम्भव हो सका जिसके उदर में यह सारा दृश्य-जगत स्थित है? इसका उत्तर होगा कि ऐसा सम्भव है, क्योंकि कल्प के अन्त में आप वटवृक्ष की एक पत्ती पर लेट जाते हैं और एकछोटे से बालक की भाँति अपने चरणकमल के अँगूठे को चूसते हैं।

तात्पर्य : प्रलय के समय भगवान् कभी-कभी एक शिशु के रूप में प्रकट होते हैं, जो प्रलयकारी जल पर तैरती बरगद की पत्ती पर लेटा रहता है। अत: देवहूति कहती हैं, ''मुझ जैसी सामान्य स्त्री के उदर में आपका लेटे रहना उतना आश्चर्यजनक नहीं है। आप तो बरगद की पत्ती पर लेट सकते हैं और शिशु की भाँति प्रलय-जल में तैरते रहते हैं। चूँकि यह अधिक आश्चर्यजनक नहीं है, अत: आप मेरे उदर में तो लेट ही सकते हैं। आप सिखाते हैं कि जो लोग इस संसार में सन्तान के इच्छुक होते हैं और जो विवाह करके सन्तान वाले परिवार का सुख उठाना चाहते हैं, उन्हें भगवान् के समान ही शिशु प्राप्त हो सकता है और सबसे आश्चर्यजनक बात तो यह है कि भगवान् स्वयं अपना अगूँठा चूसते हैं।''

चूँकि सारे ऋषि तथा भक्त अपनी सारी शक्ति तथा सारे कार्यकलाप भगवान् के चरणकमलों की सेवा में अर्पित कर देते हैं, अत: उनके चरणकमलों के अँगूठे में अवश्य ही कोई दिव्य आनन्द होता होगा। भगवान् अपना अँगूठा उस अमृत को चखने के लिए चूसते हैं जिसकी आकांक्षा भक्तगण सदा ही करते हैं। कभी-कभी स्वयं भगवान् को आश्चर्य होता है कि उनके भीतर कितना दिव्य आनन्द समाया है, अत: अपनी शक्ति का स्वाद चखने के उद्देश्य से कभी-कभी वे अपना स्वाद लेते हैं। भगवान् चैतन्य साक्षात् कृष्ण हैं, किन्तु वे एक भक्त के रूप में प्रकट होते हैं जिससे वे समस्त भक्तों में सर्वोपरि श्रीमती राधारानी द्वारा पान किये

जानेवाले मधुर रस का स्वाद पा सकें।

त्वं देहतन्त्रः प्रशमाय पाप्मनां
निदेशभाजां च विभो विभूतये ।
यथावतारास्तव सूकरादय-
स्तथायमप्यात्मपथोपलब्धये ॥ ५ ॥

शब्दार्थ

त्वम्—तुमने; देह—यह शरीर; तन्त्रः—धारण किया है; प्रशमाय—कम करने के लिए; पाप्मनाम्—पाप कर्मों का; निदेश-भाजाम्—भक्ति के उपदेश का; च—तथा; विभो—हे प्रभु; विभूतये—विस्तार के लिए; यथा—जिस प्रकार; अवताराः—अवतार; तव—तुम्हारे; सूकर-आदयः—सूकर तथा अन्य रूप; तथा—उसी प्रकार; अयम्—यह कपिल अवतार; अपि—निश्चय ही; आत्म-पथ—आत्म-साक्षात्कार का मार्ग; उपलब्धये—दिखाने के लिए।

हे भगवान्, आपने पतितों के पापपूर्ण कर्मों को घटाने तथा उनके भक्ति एवं मुक्ति के ज्ञान को बढ़ाने के लिए यह शरीर धारण किया है। चूँकि ये पापात्माएँ आपके निर्देश पर आश्रित हैं, अतः आप स्वेच्छा से सूकर तथा अन्य रूपों में अवतरित होते हैं। इसी प्रकार आप अपने आश्रितों को दिव्य ज्ञान वितरित करने के लिए प्रकट हुए हैं।

तात्पर्य : पिछले श्लोकों में भगवान् के सामान्य दिव्य गुणों का वर्णन था। अब भगवान् के प्राकट्य के विशिष्ट प्रयोजन का वर्णन किया जा रहा है। वे अपनी विभिन्न शक्तियों के द्वारा उन जीवों को विविध प्रकार के शरीर प्रदान करते हैं, जो प्रकृति पर प्रभुता जताने की इच्छा के कारण बद्ध हैं, किन्तु कालक्रम से वे इतने पतित हो जाते हैं कि उन्हें मार्गदर्शन की आवश्यकता होती है। *भगवद्गीता* में कहा गया है कि जब-जब इस संसार में वास्तविक उद्देश्य के सम्पन्न होने में त्रुटियाँ रह जाती हैं, तो भगवान् अवतार रूप में प्रकट होते हैं। कपिल के रूप में भगवान् का स्वरूप पतितों का निर्देशन करता है और उन्हें ज्ञान तथा भक्ति से समृद्ध करता है, जिससे वे भगवान् के धाम जा सकें। भगवान् के अवतार अनेक हैं—यथा वराह, मत्स्य, कच्छप तथा नृसिंह। कपिलदेव भी भगवान् के एक अवतार हैं। यहाँ यह स्वीकार किया गया है कि इस पृथ्वी पर भगवान् कपिलदेव का प्राकट्य पथभ्रष्ट बद्धजीवों को दिव्य ज्ञान प्रदान करने के लिए हुआ।

यन्नामधेयश्रवणानुकीर्तनाद्
यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते
कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात् ॥ ६ ॥

शब्दार्थ

यत्—जिसका (भगवान् का); नामधेय—नाम; श्रवण—सुनना; अनुकीर्तनात्—कीर्तन से; यत्—जिसको; प्रह्वणात्—नमस्कार द्वारा; यत्—जिसको; स्मरणात्—स्मरण द्वारा; अपि—भी; क्वचित्—किसी समय; श्व-अदः—कुत्ता खाने वाला; अपि—भी; सद्यः—तुरन्त; सवनाय—वैदिक यज्ञ करने के लिए; कल्पते—पात्र बन जाता है; कुतः—क्या कहा जाय; पुनः—फिर; ते—तुम्हारे; भगवन्—भगवान्; नु—तब; दर्शनात्—साक्षात् दर्शन से।

उन व्यक्तियों की आध्यात्मिक उन्नति के विषय में क्या कहा जाय जो परम पुरुष का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं, यदि कुत्ता खाने वाले परिवार में उत्पन्न व्यक्ति भी भगवान् के पवित्र नाम का एक बार भी उच्चारण करता है अथवा उनका कीर्तन करता है, उनकी लीलाओं का श्रवण करता है, उन्हें नमस्कार करता है, या कि उनका स्मरण करता है, तो वह तुरन्त वैदिक यज्ञ करने के लिए योग्य बन जाता है।

तात्पर्य : यहाँ पर परमेश्वर के पवित्र नाम के कीर्तन, श्रवण अथवा स्मरण की आध्यात्मिक शक्ति पर बल दिया गया है। रूप गोस्वामी ने बद्धजीव के पापपूर्ण कर्मों की सूची दी है और *भक्ति-रसामृतसिन्धु* में प्रमाणित किया है कि जो लोग भक्ति योग में संलग्न रहते हैं, वे समस्त पापकर्मों के फलों से मुक्त हो जाते हैं। *भगवद्गीता* द्वारा भी इसकी पुष्टि होती है। भगवान् कहते हैं कि जो लोग मेरी शरण में आते हैं उनका दायित्व मैं अपने ऊपर लेता हूँ और उन्हें समस्त पापकर्मों के फलों के प्रति निश्चेष्ट बना देता हूँ। यदि केवल नाम के कीर्तन मात्र से पापकर्मों के फल इतनी जल्दी धुल जाँय तो फिर उन पुरुषों का क्या कहना जो उन्हें प्रत्यक्ष देखते हैं ?

एक अन्य विचार जो यहाँ पर रखा गया है, वह यह है कि जो पुरुष कीर्तन तथा श्रवण द्वारा शुद्ध हो जाते हैं, वे तुरन्त वैदिक यज्ञ करने के पात्र बन जाते हैं। सामान्यतया, केवल वही व्यक्ति वैदिक यज्ञ कर सकता है, जो ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हो, दस प्रकार के संस्कारों से शुद्ध हो चुका हो और जो वैदिक साहित्य में विद्वान हो चुका हो। किन्तु यहाँ *सद्यः* अर्थात् *तुरन्त* शब्द प्रयुक्त हुआ है और श्रीधर स्वामी की भी टिप्पणी है कि मनुष्य तुरन्त वैदिक यज्ञ करने

का पात्र बन जाता है। निम्न जाति के परिवार में उत्पन्न मनुष्य जिसमें कुत्ता खाया जाता है, पूर्वजन्म से पापकर्मों के कारण इस स्थिति को प्राप्त होता है, किन्तु शुद्ध भाव से कीर्तन करने या सुनने से वह तुरन्त पापकर्मों से मुक्त हो जाता है। वह न केवल पापकर्मों से मुक्त हो जाता है, अपितु उसे तुरन्त समस्त विशुद्धीकरण की प्रक्रियाओं (संस्कारों) का फल प्राप्त हो जाता है। ब्राह्मण कुल में जन्म लेना निश्चय ही पूर्वजन्म में किये गये पुण्यों का फल होता है। तो भी ब्राह्मण कुल में उत्पन्न एक बालक यज्ञोपवीत संस्कार में दीक्षित होकर अपने को संस्कारित करता है। किन्तु यदि कोई भगवान् के पवित्रनाम का कीर्तन करता है, तो भले ही वह कुत्ता खाने वाले चण्डाल कुल में क्यों न जन्म ले, उसे किसी शुद्धीकरण की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह केवल हरे कृष्ण का कीर्तन करके तुरन्त शुद्ध हो जाता है और विद्वान ब्राह्मण के समान ही उत्तम हो जाता है।

इस सम्बन्ध में श्रीधर स्वामी की टिप्पणी है—*अनेन पूज्यत्वं लक्ष्यते*। कुछ ब्राह्मण जाति वाले कहते हैं कि हरे कृष्ण कीर्तन से शुद्धिकरण प्रारम्भ होता है। निस्सन्देह यह व्यक्तिगत कीर्तन पर निर्भर करता है, किन्तु स्वामी श्रीधर की यह टिप्पणी पूर्णतया लागू होती है कि यदि बिना अपराध के कोई भगवान् के पवित्र नाम का कीर्तन करता है, तो वह तुरन्त ब्राह्मण से बढ़कर बन जाता है। जैसाकि श्रीधर स्वामी का कहना है—*पूज्यत्वम्*—अर्थात् वह तुरन्त परम विद्वान ब्राह्मण के तुल्य आदरणीय बन जाता है और उसे वैदिक यज्ञ करने की अनुमति मिल सकती है। यदि केवल भगवन्नाम कीर्तन से कोई तुरन्त पवित्र हो जाता है, तो फिर उन सबका क्या कहना जो भगवान् का प्रत्यक्ष दर्शन करते हैं और भगवान् के अवतरण को समझते हैं जिस प्रकार देवहूति कपिलदेव को समझती हैं।

सामान्यतया, दीक्षा शिष्य को निर्देशित करने वाले गुरु पर निर्भर करती है। यदि वह समझता है कि शिष्य दक्ष है और कीर्तन द्वारा शुद्ध हो गया है, तो वह उसका यज्ञोपवीत संस्कार कर देता है, जिससे वह शत-प्रति-शत ब्राह्मण के तुल्य हो जाय। इसकी पुष्टि श्रील सनातन गोस्वामीकृत *हरिभक्तिविलास* में इस प्रकार हुई है, ''जिस प्रकार रासायनिक विधि

द्वारा घंटे की धातु (काँसा) सोने में बदली जा सकती है उसी प्रकार कोई भी व्यक्ति दीक्षा-विधान द्वारा ब्राह्मण में बदला जा सकता है।''

कभी-कभी कहा जाता है कि कीर्तन द्वारा मनुष्य अपने को शुद्ध करता है और अगले जन्म में किसी ब्राह्मण परिवार में जन्म लेकर सुधर जाता है अथवा संस्कारित हो जाता है। किन्तु वर्तमान में जो लोग श्रेष्ठ ब्राह्मण परिवारों में जन्म लेते हैं, वे संस्कार सम्पन्न नहीं हैं, न यही निश्चित है कि वे ब्राह्मण पिता से उत्पन्न हैं। पहले गर्भाधान संस्कार प्रचलित था, किन्तु अब ऐसा गर्भाधान या वीर्यदान संस्कार नहीं है। ऐसी दशा में कोई ठीक से यह नहीं जानता कि मनुष्य ब्राह्मण पिता से उत्पन्न है या नहीं। यह तो गुरु के निर्णय पर निर्भर करता है कि किसी ने ब्राह्मण के गुण प्राप्त कर लिये हैं या नहीं। वह अपने निर्णय द्वारा ही शिष्य को ब्राह्मण रूप में स्वीकार करता है। जब कोई पञ्चरात्रिक विधि से यज्ञोपवीत संस्कार में ब्राह्मण रूप में स्वीकार कर लिया जाता है, तो वह द्विज कहलाता है। इसकी पुष्टि सनातन गोस्वामी द्वारा *द्विजत्वं जायते* कह कर की गई है। गुरु द्वारा दीक्षित किये जाने पर मनुष्य ब्राह्मण बनता है और इस शुद्ध अवस्था में वह भगवान् के पवित्र नाम का जप करता है। फिर प्रगति करता हुआ वह योग्य वैष्णव बन जाता है, जिसका अर्थ है कि उसने पहले से ब्राह्मण योग्यता प्राप्त कर ली है।

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते ॥ ७॥

शब्दार्थ

अहो बत—ओह, धन्य है; श्व-पचः—कुत्ता खाने वाला; अतः—अतएव; गरीयान्—पूज्य; यत्—जिसकी; जिह्वा-अग्रे—जीभ के अगले भाग पर; वर्तते—है; नाम—पवित्र नाम; तुभ्यम्—तुमको; तेपुः तपः—अभ्यासकृत तपस्या; ते—वे; जुहुवुः—अग्नि यज्ञ (हवन) सम्पन्न किये; सस्नुः—पवित्र नदियों में स्नान किया; आर्याः—आर्यजन; ब्रह्म अनूचुः—वेदों का अध्ययन किया; नाम—पवित्र नाम; गृणन्ति—स्वीकार करते हैं; ये—जो; ते—तुम्हारी।

ओह! वे कितने धन्य हैं जिनकी जिह्वाएँ आपके पवित्र नाम का जप करती हैं! कुत्ता खाने वाले वंशों में उत्पन्न होते हुए भी ऐसे पुरुष पूजनीय हैं। जो पुरुष आपके पवित्र

नाम का जप करते हैं उन्होंने सभी प्रकार की तपस्याएँ तथा हवन किये होंगे और आर्यों के सदाचार प्राप्त किये होंगे। आपके पवित्र नाम का जप करते रहने के लिए उन्होंने तीर्थस्थानों में स्नान किया होगा, वेदों का अध्ययन किया होगा और अपेक्षित हर वस्तु की पूर्ति की होगी।

तात्पर्य : जैसाकि पिछले श्लोक में आया है कि यदि कोई निरपराध भाव से एक बार भी भगवान् के पवित्र नाम का जप करता है, तो वह वैदिक यज्ञ करने का पात्र बन जाता है। *श्रीमद्भागवत* के इस कथन से किसी को चकित नहीं होना चाहिए। मनुष्य को न तो अविश्वास करना चाहिए, न यह सोचना चाहिए कि भगवान् का नाम जप करने मात्र से कोई ब्राह्मण के तुल्य कैसे बन सकता है? अविश्वास करने वालों के मन से संदेह दूर करने के लिए ही यह श्लोक पुष्टि करता है कि भगवान् के पवित्र नाम के कीर्तन की स्थिति सहसा प्राप्त नहीं हो जाती, अपितु जप करने वाला पहले सभी प्रकार के यज्ञ तथा अनुष्ठान कर चुका होता है। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं, क्योंकि कोई भी व्यक्ति तब तक भगवान् के नाम का जप नहीं कर पाता जब तक वह नीचे की सारी अवस्थाएँ—यथा वैदिक अनुष्ठान करना, वेदों का अध्ययन तथा आर्यों जैसा सदाचार करना—पार नहीं कर लेता। पहले यह सब सम्पन्न कर लेना होगा। जिस प्रकार विधि के विद्यार्थी से यह आशा की जाती है, वह सामान्य शिक्षा में स्नातक होगा उसी तरह जो भी भगवान् के नाम-जप हरे कृष्ण महामन्त्र के जप में लगा हुआ है उसने नीचे की सारी अवस्थाएँ पार कर ली होंगी। यह कहा गया है कि जो अपनी जीभ के अग्रभाग से केवल नाम जप करते हैं, वे धन्य हैं। मनुष्य को पवित्र नाम का जप भी नहीं करना होता और न पूरी विधि समझने की आवश्यकता रहती है, जिसमें अपराधी अवस्था, निरपराधी अवस्था तथा शुद्ध अवस्था सम्मिलित हैं। यदि पवित्र नाम को जीभ के अगले भाग पर ला दिया जाए तो वही पर्याप्त है। यहाँ यह कहा गया है कि नाम—केवल एक नाम, चाहे राम हो या कृष्ण—पर्याप्त है। ऐसा नहीं है कि मनुष्य को भगवान् के सारे नामों का जप करना पड़े। भगवान् के नाम तो असंख्य हैं और मनुष्य को यह सिद्ध करने के लिए कि उसने समस्त

वैदिक अनुष्ठानों को पूरा कर लिया है, सारे नामों के जप की आवश्यकता नहीं रहती। यदि वह एक बार भी जप करता है, तो समझिए कि उसने सारी परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर ली हैं। जो लोग चौबीसों घंटे जप करते रहते हैं उनकी तो कोई बात ही नहीं। यहाँ विशेष रूप से *तुभ्यम्* अर्थात् ''केवल तुझको'' प्रयुक्त हुआ है। मनुष्य को ईश्वर का नाम लेना चाहिए, मायावादी चिन्तकों की तरह कोई भी नाम नहीं। किसी देवता या भगवान् की शक्तियों के नाम नहीं। केवल परमेश्वर का नाम प्रभावशाली होता है। जो मनुष्य परमेश्वर के नाम की तुलना देवताओं से करता है, वह पाखंडी है, अपराधी है।

पवित्र नाम का कीर्तन किसी इन्द्रियतृप्ति या व्यवसाय की दृष्टि से नहीं, अपितु परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए किया जाता है। यदि यह शुद्ध भाव हो तो भले ही कोई निम्न परिवार में, यथा चण्डाल के घर में, क्यों न जन्म ले, वह धन्य है, क्योंकि वह न केवल अपने को शुद्ध करता है, अपितु अन्यों का उद्धार करने में समर्थ होता है। वह दिव्य नाम की महत्ता के विषय में बोल सकता है जैसा ठाकुर हरिदास ने किया। वे एक मुसलमान परिवार में जन्मे थे, किन्तु निष्कपट भाव से उन्होंने परमेश्वर का नाम जप किया, अत: भगवान् चैतन्य ने उन्हें नाम प्रचार का आचार्य बना दिया। वे उस कुल में उत्पन्न थे जहाँ वैदिक विधि-विधानों का पालन नहीं होता था। चैतन्य महाप्रभु तथा अद्वैत प्रभु ने उन्हें आचार्य रूप में स्वीकार किया, क्योंकि वे निष्कपट भाव से भगवन्नाम का जप करते थे। चैतन्य महाप्रभु तथा अद्वैत प्रभु ने तुरन्त स्वीकार किया कि हरिदास ने पहले ही सारी तपस्याएँ कर ली हैं, वेदों का अध्ययन कर लिया है और सारे यज्ञ सम्पन्न कर लिए हैं। यह स्वत: ज्ञेय है। किन्तु वंश परम्परा वाले ब्राह्मण जिन्हें स्मार्त ब्राह्मण कहा जाता है, का मत है कि यदि भगवान्नाम जप करने वालों को शुद्ध मान लिया जाय तो भी उन्हें वैदिक अनुष्ठान कराने होते हैं या अगले जन्म में ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होने तक प्रतीक्षा करनी होती है, जिससे वे वैदिक अनुष्ठान कर सकें। किन्तु वस्तुत: ऐसा है नहीं। ऐसे व्यक्ति को शुद्ध होने के लिए अगले जन्म तक प्रतीक्षा नहीं करनी होती। वह तुरन्त शुद्ध हो जाता है। ऐसा मान लिया जाता है कि उसने सभी प्रकार के अनुष्ठान पहले से कर रखे हैं। ऐसे

अनेक वैदिक कार्य हैं जिनका उल्लेख यहाँ नहीं हुआ। पवित्र नाम का जप करने वाले उन्हें पहले ही सम्पन्न कर चुके होते हैं।

जुहुव: शब्द सूचित करता है कि भगवन्नाम का जप करने वाले पहले ही सारे यज्ञ कर चुकते हैं। *सस्नु:* का अर्थ है कि वे पहले ही सारे तीर्थस्थानों की यात्रा कर चुके हैं और उन स्थानों के शुद्धि-कर्मों में भाग ले चुके हैं। वे *आर्या:* कहलाते हैं, क्योंकि उन्होंने इन सारी आवश्यकताओं को पूरा कर लिया है, अत: उन्हें इन्हीं आर्यों में से होना चाहिए। *आर्यन्* उनको लक्षित करता है, जो सभ्य हैं और जिनके आचरण वैदिक अनुष्ठानों के अनुसार हैं। कोई भी भक्त जो भगवन्नाम का जप करता है, वह श्रेष्ठ आर्य है। कोई वेदों का अध्ययन किये बिना आर्य नहीं हो सकता, किन्तु भगवन्नाम जप करने वालों को स्वत: मान लिया जाता है कि उन्होंने सारा वैदिक साहित्य पहले ही पढ़ लिया है। यहाँ पर *अनूचु:* विशिष्ट शब्द के रूप में प्रयुक्त है, जिसका अर्थ है कि चूँकि उन्होंने समस्त संस्तुत कार्य कर लिए हैं, अत: वे गुरु होने के योग्य हैं।

इस श्लोक में प्रयुक्त *गृणन्ति* शब्द इसका सूचक है कि पहले से अनुष्ठानों के सम्पन्न करने से सिद्ध अवस्था प्राप्त हो चुकी है। यदि कोई उच्च न्यायालय की बेंच में आसीन होकर मुकद्दमों का फैसला करने लगता है, तो इसका अर्थ है कि उसने सारी विधि-परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर ली हैं और उन लोगों से श्रेष्ठ है, जो विधि परीक्षाएँ देने वाले हैं या भविष्य में विधि का अध्ययन करने की आकांक्षा रखते हैं। इसी प्रकार जो व्यक्ति भगवन्नाम का जप करते हैं, वे उनसे बढ़कर हैं, जो वास्तव में वैदिक अनुष्ठान करते हैं और जो योग्य बनने की आशा करते हैं (या दूसरे शब्दों में जो लोग ब्राह्मण कुलों में जन्म लेते हैं, किन्तु जिनके संस्कार नहीं हुए रहते फलत: वे भविष्य में वैदिक अनुष्ठानों का अध्ययन करने तथा यज्ञों को सम्पन्न करने की आशा बनाये हुए हैं)।

अनेक स्थलों पर ऐसे वैदिक कथन मिलते हैं जिनमें कहा गया है कि जो कोई भगवन्नाम का जप करता है, वह तुरन्त बद्ध जीवन से मुक्त हो जाता है और जो भगवन्नाम का श्रवण

करता है, वह भी, भले ही चण्डाल के घर क्यों न उत्पन्न हो, भव-पाश से छूट जाता है।

तं त्वामहं ब्रह्म परं पुमांसं
प्रत्यक्स्रोतस्यात्मनि संविभाव्यम् ।
स्वतेजसा ध्वस्तगुणप्रवाहं
वन्दे विष्णुं कपिलं वेदगर्भम् ॥ ८ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; त्वाम्—तुमको; अहम्—मैं; ब्रह्म—ब्रह्म; परम्—परम; पुमांसम्—परमेश्वर को; प्रत्यक्-स्रोतसि—अन्तर्मुखी; आत्मनि—मन में; संविभाव्यम्—ध्यान किया, अनुभूत; स्व-तेजसा—अपनी शक्ति से; ध्वस्त—विलीन ; गुण-प्रवाहम्—प्रकृति के गुणों का प्रभाव; वन्दे—नमस्कार करती हूँ; विष्णुम्—विष्णु को; कपिलम्—कपिल नामक; वेद-गर्भम्—वेदों के आगार।

हे भगवान्, मुझे विश्वास है कि आप कपिल नाम से स्वयं पुरुषोम भगवान् विष्णु अर्थात् परब्रह्म हैं। सारे ऋषि-मुनि इन्द्रियों तथा मन के उद्वेगों से मुक्त होकर आपका ही चिन्तन करते हैं, क्योंकि आपकी कृपा से ही मनुष्य भव-बन्धन से छूट सकता है। प्रलय के समय सारे वेद आपमें ही स्थान पाते हैं।

तात्पर्य : कपिल की माता देवहूति ने अपनी प्रार्थना को और अधिक न बढ़ाकर संक्षेप में कहा कि भगवान् कपिल विष्णु ही हैं अन्य कोई नहीं हैं और चूँकि वे स्वयं एक स्त्री हैं, अत: केवल स्तुति से उनकी पूजा कर पाना उनके लिए सम्भव नहीं है। उनकी अभिलाषा थी कि भगवान् प्रसन्न हों। यहाँ पर *प्रत्यक्* शब्द महत्त्वपूर्ण है। योगाभ्यास के आठ अंग इस प्रकार हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। 'प्रत्याहार' का अर्थ है इन्द्रियों के कार्यकलाप समाप्त करना। देवहूति द्वारा भगवान् के जिस साक्षात्कार की बात कही जा रही है, वह तभी सम्भव है जब मनुष्य अपनी इन्द्रियों को सारे कार्यों से मोड़ ले। जब मनुष्य भक्ति में संलग्न रहता है, तो उसकी इन्द्रियों के इधर-उधर व्यस्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी पूर्ण कृष्णचेतना में मनुष्य भगवान् को उनके असली रूप में समझ सकता है।

मैत्रेय उवाच
ईडितो भगवानेवं कपिलाख्य: पर: पुमान् ।
वाचाविक्लवयेत्याह मातरं मातृवत्सल: ॥ ९ ॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; ईडितः—प्रशंसा किये जाने पर; भगवान्—भगवान् ने; एवम्—इस प्रकार; कपिल-आख्यः—कपिल नामक; परः—परम; पुमान्—पुरुष; वाचा—शब्दों से; अविक्लवया—गम्भीर; इति—इस प्रकार; आह—उत्तर दिया; मातरम्—अपनी माता को; मातृ-वत्सलः—अपनी माता का दुलारा।

इस प्रकार अपनी माता के शब्दों से प्रसन्न होकर मातृवत्सल भगवान् कपिल ने गम्भीरतापूर्वक उत्तर दिया।

तात्पर्य : चूँकि भगवान् सर्व-पूर्ण हैं, अतः अपनी माता के प्रति उनका स्नेह का प्रदर्शन भी पूर्ण था। अपनी माता के शब्दों को सुनकर उन्होंने अत्यन्त आदरपूर्वक गम्भीरता तथा शिष्टता के साथ उत्तर दिया।

कपिल उवाच

मार्गेणानेन मातस्ते सुसेव्येनोदितेन मे ।
आस्थितेन परां काष्ठामचिरादवरोत्स्यसि ॥ १० ॥

शब्दार्थ

कपिलः उवाच—भगवान् कपिल ने कहा; मार्गेण—मार्ग के द्वारा; अनेन—इस; मातः—हे माता; ते—तुम्हारे लिए; सु-सेव्येन—सरलता से सम्पन्न होने वाला, सुगम; उदितेन—उपदेश दिया गया; मे—मेरे द्वारा; आस्थितेन—किया गया; पराम्—परम; काष्ठाम्—लक्ष्य; अचिरात्—शीघ्र; अवरोत्स्यसि—प्राप्त करोगी।

भगवान् ने कहा : हे माता, मैंने आपको जिस आत्म-साक्षात्कार के मार्ग का उपदेश दिया है, वह अत्यन्त सुगम है। आप बिना कठिनाई के इसका पालन कर सकती हैं और ऐसा करके आप इसी शरीर (जन्म) में शीघ्र ही मुक्त हो सकती हैं।

तात्पर्य : भक्ति इतनी पूर्ण होती है कि विधि-विधानों का पालन करने तथा गुरु के निर्देशन में उनको सम्पन्न करने से इसी शरीर में भी माया के चंगुल से मुक्त हुआ जा सकता है। अन्य योग-विधियों या ज्ञानयोग में मनुष्य को यह कभी निश्चय नहीं हो पाता कि उसे सिद्धि अवस्था प्राप्त होगी या नहीं। किन्तु भक्ति करने में यदि कोई प्रामाणिक गुरु के आदेशों में अविचल श्रद्धा रखता है और विधि-विधानों का पालन करता है, तो उसकी मुक्ति इसी शरीर में ही सम्भव है। श्रील रूप गोस्वामी ने *भक्ति-रसामृत-सिन्धु* में इसकी पुष्टि की है—*ईहा यस्य हरेर्दास्ये*—चाहे वह जहाँ भी स्थित हो, यदि उसका लक्ष्य गुरु के निर्देशानुसार परमेश्वर की सेवा करना हो तो वह *जीवन्मुक्त* अर्थात् अपने भौतिक शरीर में भी मुक्त कहलाता है। कभी-

कभी नवदीक्षितों के मन में सन्देह उत्पन्न होता है कि उनका गुरु मुक्त है या नहीं और कभी-कभी वे उसके शारीरिक मामलों के प्रति भी शंकालु रहते हैं। किन्तु मुक्ति के लिए गुरु के शारीरिक लक्षण नहीं देखे जाते। देखना है, तो गुरु के आध्यात्मिक लक्षण देखिये। *जीवन्मुक्त* का अर्थ है कि इसी भौतिक देह में (कुछ न कुछ आवश्यकताएँ होते हुए भी) भगवान् की सेवा में पूर्णतः लगे होने के कारण वह मुक्त माना जाता है।

मुक्ति में अपने पद पर स्थित रहना सम्मिलित है। *श्रीमद्‌भागवत* में यही इसकी परिभाषा है—*मुक्तिर्...स्वरूपेण व्यवस्थितिः*। स्वरूप या जीव की वास्तविक पहचान का वर्णन चैतन्य महाप्रभु ने किया है। *जीवेर 'स्वरूप' हय—कृष्णेर 'नित्य दास'*—जीव की वास्तविक पहचान (स्वरूप) यह है कि वह भगवान् का नित्य दास है। यदि कोई शत प्रतिशत भगवान् की सेवा में व्यस्त रहता है, तो उसे मुक्त समझना चाहिए। किसी के मुक्त होने या न होने की पहचान उसके भक्ति-कार्य हैं, अन्य कोई लक्षण नहीं।

श्रद्धत्स्वैतन्मतं मह्यं जुष्टं यद्ब्रह्मवादिभिः ।
येन मामभयं याया मृत्युमृच्छन्त्यतद्विदः ॥ ११ ॥

शब्दार्थ

श्रद्धत्स्व—आप आश्वस्त रहें; एतत्—इस विषय में; मतम्—उपदेश; मह्यम्—मेरा; जुष्टम्—पालन किया गया; यत्—जो; ब्रह्म-वादिभिः—अध्यात्मवादियों द्वारा; येन—जिससे; माम्—मुझको; अभयम्—भयरहित; यायाः—तुम पहुँचोगी; मृत्युम्—मृत्यु को; ऋच्छन्ति—प्राप्त करते हैं; अ-तत्-विदः—जो लोग इससे अवगत नहीं हैं।

हे माता, जो लोग वास्तव में अध्यात्मवादी हैं, वे निश्चित ही मेरे उपदेशों का पालन करते हैं, जो मैंने आपको बताये हैं। आप आश्वस्त रहें, यदि आप इस आत्म-साक्षात्कार के मार्ग पर सम्यक रीति से चलेंगी तो आप समस्त भयावह भौतिक कल्मष से मुक्त होकर अन्त में मेरे पास पहुँचेंगी। हे माता, जो लोग भक्ति की इस विधि से अवगत नहीं हैं, वे जन्म-मरण के चक्र से बाहर नहीं निकल सकते।

तात्पर्य : यह संसार चिन्ताओं से पूर्ण है, अतः भयावह है। जो इस संसार से छूट जाता है, वह स्वतः सभी चिन्ताओं तथा भय से मुक्त हो जाता है। जो भगवान् कपिल द्वारा प्रतिपादित भक्ति-पथ का अनुसरण करते हैं, वे आसानी से मुक्त हो जाते हैं।

मैत्रेय उवाच

इति प्रदर्श्य भगवान्सतीं तामात्मनो गतिम् ।
स्वमात्रा ब्रह्मवादिन्या कपिलोऽनुमतो ययौ ॥ १२॥

शब्दार्थ

मैत्रेयः उवाच—मैत्रेय ने कहा; इति—इस प्रकार; प्रदर्श्य—उपदेश देकर; भगवान्—भगवान्; सतीम्—आदरणीया को; ताम्—उस; आत्मनः—आत्म-साक्षात्कार का; गतिम्—पथ; स्व-मात्रा—अपनी माता से; ब्रह्म-वादिन्या—स्वरूपसिद्ध; कपिलः—भगवान् कपिल के; अनुमतः—आज्ञा ली; ययौ—चला गया।

श्री मैत्रेय ने कहा : अपनी ममतामयी माता को उपदेश देकर भगवान् कपिल ने उनसे आज्ञा माँगी और अपना लक्ष्य पूरा हो जाने के कारण उन्होंने अपना घर छोड़ दिया।

तात्पर्य : कपिल के रूप में भगवान् के प्रकट होने का लक्ष्य सांख्य दर्शन के दिव्य ज्ञान को वितरित करना था, जो भक्ति से पूर्ण है। अपनी माता को—और अपनी माता के माध्यम से सारे संसार को—यह ज्ञान देकर उन्होंने अपनी माता से अनुमति माँगी और चले गये, क्योंकि फिर घर पर और अधिक रुकने की आवश्यकता न थी। स्पष्ट है कि उन्होंने आत्म-बोध के लिए गृहत्याग किया, यद्यपि स्वरूप-सिद्ध होने के कारण उन्हें आध्यात्मिक दृष्टि से कुछ भी अनुभव करने के लिए शेष नहीं था। अतः भगवान् ने सामान्य व्यक्ति की भाँति आचरण करते हुए यह उदाहरण प्रस्तुत किया जिससे अन्य लोग उनसे शिक्षा ग्रहण करें। निस्सन्देह वे अपनी माता के पास रह सकते थे, किन्तु उन्होंने बताया कि परिवार में उनके रहने की कोई आवश्यकता नहीं है। सबसे अच्छा है ब्रह्मचारी, संन्यासी या वानप्रस्थ बनकर अकेले रहा जाय और जीवन भर कृष्णचेतना का अनुशीलन किया जाय। जो लोग अकेले नहीं रह सकते उन्हें गृहस्थ जीवन में अपनी पत्नी तथा बच्चों के साथ रहने की छूट है, जो इन्द्रियतृप्ति के लिए नहीं, अपितु कृष्णचेतना के अनुशीलन के लिए दी जाती है।

सा चापि तनयोक्तेन योगादेशेन योगयुक् ।
तस्मिन्नाश्रम आपीडे सरस्वत्याः समाहिता ॥ १३॥

शब्दार्थ

सा—वह; च—तथा; अपि—भी; तनय—अपने पुत्र द्वारा; उक्तेन—कहा गया; योग-आदेशेन—योग सम्बन्धी उपदेश से; योग-युक्—भक्तियोग में लगी हुई; तस्मिन्—उस; आश्रमे—कुटिया में; आपीडे—फूलों का मुकुट; सरस्वत्याः—सरस्वती का; समाहिता—समाधि में स्थिर।

अपने पुत्र के उपदेशानुसार देवहूति उसी आश्रम में भक्तियोग का अभ्यास करने लगीं। उन्होंने कर्दम मुनि के घर में समाधि लगाई, जो फूलों से इस प्रकार सुसज्जित था मानो सरस्वती नदी का फूलों का मुकुट हो।

तात्पर्य : देवहूति ने अपना घर नहीं छोड़ा, क्योंकि स्त्री के लिए घर छोड़ने की कभी भी संस्तुति नहीं की जाती। वह पराश्रित होती है। यही देवहूति, विवाह के पूर्व अपने पिता स्वायंभुव मनु के संरक्षण में थीं, फिर उनके पिता ने कर्दम मुनि को सौंप दिया। अपनी युवावस्था में वे अपने पति के संरक्षण में थीं और तभी उन्होंने पुत्र रूप में कपिल को जन्म दिया। ज्योंही पुत्र बड़ा हुआ, उनके पति ने घर त्याग दिया। वे चाहतीं तो घर छोड़ सकती थीं, किन्तु उन्होंने ऐसा नहीं किया। वे घर में ही रहकर अपने महान् पुत्र कपिल मुनि के उपदेश के अनुसार भक्तियोग का अभ्यास करने लगीं। उनके भक्तियोग के कारण ही उनका पूरा घर सरस्वती नदी पर फूल के मुकुट-सा बन गया।

अभीक्ष्णावगाहकपिशान्जटिलान्कुटिलालकान् ।
आत्मानं चोग्रतपसा बिभ्रती चीरिणं कृशम् ॥ १४॥

शब्दार्थ

अभीक्ष्ण—पुनः पुनः, बारम्बार; अवगाह—नहाने से; कपिशान्—भूरे; जटिलान्—जटा रूप; कुटिल—घुंघराले; अलकान्—बाल; आत्मानम्—उनका शरीर; च—तथा; उग्र-तपसा—कठोर तपस्या से; बिभ्रती—हो गया; चीरिणम्—चिथड़ों से ढकी; कृशम्—दुबली ।.

वे तीन बार स्नान करने लगीं और इस तरह उनके घुँघराले काले-काले बाल क्रमशः भूरे पड़ गये। तपस्या के कारण उनका शरीर धीरे-धीरे दुबला हो गया और वे पुराने वस्त्र धारण किये रहीं।

तात्पर्य : *योगी, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ* तथा *सन्यासी* दिन में कम से कम तीन बार—प्रातः, मध्याह्न तथा सायंकाल स्नान करते हैं। यहाँ तक कि कुछ गृहस्थ, विशेष रूप से ब्राह्मण भी इसका पालन करते हैं। देवहूति एक राजा की पुत्री और राजा तुल्य की पत्नी भी थीं। यद्यपि कर्दम मुनि राजा न थे, किन्तु अपने योग से उन्होंने देवहूति को दासियों समेत तथा समस्त ऐश्वर्य के साथ रखा। किन्तु उन्होंने अपने पति के रहते ही तपस्या सीख ली थी, अतः उन्हें

संयम बरतने में कोई कठिनाई नहीं हुई। फिर भी अपने पति तथा पुत्र के चले जाने के बाद उन्हें कठिन तपस्या करनी पड़ी जिससे वे दुर्बल हो गईं। आध्यात्मिक जीवन में अधिक मोटा होना अच्छा नहीं है, अपितु मनुष्य को दुर्बल होना चाहिए, क्योंकि मोटा होने पर आध्यात्मिक ज्ञान की प्रगति में बाधा पहुँचती है। मनुष्य को न तो अधिक खाना चाहिए, न अधिक सोना चाहिए और न अधिक आराम करना चाहिए। ऐच्छिक रूप से मनुष्य को कम भोजन करना चाहिए तथा कम सोना चाहिए। ये ही किसी योग के साधन की विधियाँ हैं—चाहे वह भक्तियोग हो, *ज्ञानयोग* या *हठयोग*।

प्रजापतेः कर्दमस्य तपोयोगविजृम्भितम् ।
स्वगार्हस्थ्यमनौपम्यं प्रार्थ्यं वैमानिकैरपि ॥ १५ ॥

शब्दार्थ

प्रजा-पतेः—प्रजापति, मानव जाति के जनक; **कर्दमस्य**—कर्दम मुनि की; **तपः**—तपस्या से; **योग**—योग से; **विजृम्भितम्**—विकसित, समृद्ध; **स्व-गार्हस्थ्यम्**—अपना घर तथा गृहस्थी; **अनौपम्यम्**—अद्वितीय; **प्रार्थ्यम्**—ईर्ष्या की वस्तु; **वैमानिकैः**—स्वर्ग के वासियों से; **अपि**—भी।

प्रजापति कर्दम का घर तथा उनकी गृहस्थी उनकी तपस्या तथा योग के बल पर इस प्रकार समृद्ध थी कि उनके ऐश्वर्य से आकाश में विमान से यात्रा करने वाले लोग भी ईर्ष्या करते थे।

तात्पर्य : इस श्लोक में आया कथन कि कर्दम मुनि की गृहस्थी को देखकर बाह्य अन्तरिक्ष के पुरुष भी ईर्ष्या करते थे, वस्तुतः स्वर्ग के निवासियों के लिए है। उनके विमान आजकल के विमानों जैसे नहीं होते थे, जो केवल एक देश से दूसरे देश तक उड़ान भरते हैं, अपितु उनके विमान एक लोक से दूसरे तक यात्रा करने में समर्थ थे। *श्रीमद्भागवत* में ऐसे अनेक उल्लेख हैं जिनसे प्रकट है कि एक लोक से दूसरे लोक तक यात्रा करने की सुविधाएँ थीं और कौन जाने अब भी वे यात्रा कर रहे हों!

हमारे विमानों तथा अन्तरिक्ष यानों की गति अत्यन्त सीमित है, किन्तु हम पहले ही देख चुके हैं कि कर्दम मुनि बाह्य अन्तरिक्ष में ऐसे विमान से यात्रा करते थे, जो नगर जैसा था और उन्होंने सभी लोकों की यात्रा की थी। वह न तो सामान्य विमान था और न वह यात्रा सामान्य

अन्तरिक्ष यात्रा थी। चूँकि कर्दम मुनि अत्यन्त शक्तिशाली योगी थे, अत: उनके ऐश्वर्य से स्वर्ग के निवासी ईर्ष्या करते थे।

पय:फेननिभा: शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदा: ।
आसनानि च हैमानि सुस्पर्शास्तरणानि च ॥ १६ ॥

शब्दार्थ

पय:—दूध का; फेन—फेन; निभा:—सदृश; शय्या:—पलँग; दान्ता:—हाथी-दाँत के; रुक्म—सुनहले; परिच्छदा:—पर्दों सहित; आसनानि—कुर्सियाँ तथ बेंचें; च—तथा; हैमानि—सोने की; सु-स्पर्श—छूने में मुलायम; आस्तरणानि—गद्दियाँ; च—तथा।

यहाँ पर कर्दम मुनि के घरेलू ऐश्वर्य का वर्णन हुआ है। चादर तथा चटाइयाँ दूध के फेन के समान श्वेत थीं, कुर्सियाँ तथा बेंचें हाथीदाँत की बनी थीं और वे सुनहरी जरीदार वस्त्र से ढकी थीं तथा पलँग सोने के बने थे जिन पर अत्यन्त मुलायम गद्दियाँ थीं।

स्वच्छस्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च ।
रत्नप्रदीपा आभान्ति ललना रत्नसंयुता: ॥ १७ ॥

शब्दार्थ

स्वच्छ—शुद्ध; स्फटिक—संगमरमर; कुड्येषु—दीवालों पर; महा-मारकतेषु—मूल्यवान मरकत मणि से अलंकृत; च—तथा; रत्न-प्रदीपा:—मणियों के दीपक; आभान्ति—चमकते है; ललना:—स्त्रियाँ; रत्न—आभूषणों से; संयुता:—अलंकृत।

घर की दीवालें उत्तमकोटि के संगमरमर की थीं और बहुमूल्य मणियों से अलंकृत थीं। वहाँ प्रकाश की आवश्यकता न थी, क्योंकि इन मणियों की किरणों से घर प्रकाशित था। घर की सभी स्त्रियाँ आभूषणों से अलंकृत थीं।

तात्पर्य : इस कथन से पता चलता है कि गृहस्थी का ऐश्वर्य बहुमूल्य मणियों, हाथीदाँत, अच्छे संगमरमर तथा सोने और मणियों के बने साज-सामान से प्रदर्शित होता था। कपड़े भी सुनहरी जरी से युक्त थे। हर वस्तु का कुछ न कुछ मूल्य होता था। वहाँ आज के जैसा साज-समान न था, जो मूल्यरहित प्लास्टिक या निम्न धातु का बना होता है। वैदिक सभ्यता का ढंग था कि घेरलू कामकाज में जो भी वस्तु प्रयुक्त होती थी वह मूल्यवान होती थी। आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त इनका विनिमय किया जा सकता था। इस तरह यदि किसी का सामान टूट भी

जाय तो उसका भी मूल्य होगा। आज भी भारतीय जन अपने घरों में इसी पद्धति को अपनाते हैं। वे धातु के बर्तन तथा स्वर्णभूषण या चाँदी के बने बर्तन और सोने की जरी वाले मूल्यवान रेशमी वस्त्र रखते हैं जिससे आवश्यकता पड़ने पर विनिमय में उन्हें कुछ धन मिल सके। उधार देने वालों तथा गृहस्थों के बीच ऐसा विनिमय चलता है।

गृहोद्यानं कुसुमितै रम्यं बह्वमरद्रुमैः ।
कूजद्विहङ्गमिथुनं गायन्मत्तमधुव्रतम् ॥ १८ ॥

शब्दार्थ

गृह-उद्यानम्—घरेलू बाग; कुसुमितैः—फूलों तथा फलों से; रम्यम्—सुन्दर; बहु-अमर-द्रुमैः—अनेक कल्पवृक्षों सहित; कूजत्—गाते हुए; विहङ्ग—पक्षियों का; मिथुनम्—जोड़ा; गायत्—गुनगुनाती; मत्त—मतवाली; मधु-व्रतम्—मधुमक्खियों सहित।

मुख्य घर का आँगन सुन्दर बगीचों से घिरा था जिनमें मधुर सुगन्धित फूल तथा अनेक वृक्ष थे जिनमें ताजे फल उत्पन्न होते थे और वे ऊँचे तथा सुन्दर थे। ऐसे बगीचों का आकर्षण यह था कि गाते पक्षी वृक्षों पर बैठते और उनके कलरव से तथा मधुमक्खियों की गुंजार से सारा वातावरण यथासम्भव मोहक बना हुआ था।

यत्र प्रविष्टमात्मानं विबुधानुचरा जगुः ।
वाप्यामुत्पलगन्धिन्यां कर्दमेनोपलालितम् ॥ १९ ॥

शब्दार्थ

यत्र—जहाँ; प्रविष्टम्—प्रविष्ट हुए; आत्मानम्—अपने ही; विबुध-अनुचराः—स्वर्ग के वासियों के संगी; जगुः—गाया; वाप्याम्—ताल में; उत्पल—कमल; गन्धिन्याम्—सुगंध से; कर्दमेन—कर्दम द्वारा; उपलालितम्—सावधानी से पाला गया।

जब देवहूति उस सुन्दर बगीचे में कमल फूलों से भरे हुए ताल में स्नान करने के लिए प्रवेश करतीं तो स्वर्गवासियों के संगी गन्धर्वगण कर्दम के महिमामय गृहस्थ जीवन का गुणगान करते। देवहूति के महान् पति कर्दम उन्हें सभी कालों में सुरक्षा प्रदान करते रहे।

तात्पर्य : इस श्लोक में आदर्श पति-पत्नी का सम्बन्ध अत्यन्त सुन्दर ढंग से वर्णित है। कर्दम मुनि पति रूप में देवहूति को सुख के सारे प्रमुख साधन प्रदान करते थे, किन्तु वे अपनी

पत्नी के प्रति तनिक भी आसक्त न थे। ज्योंही कपिल बड़े हो गये वैसे ही कर्दम ने सारे पारिवारिक सम्बन्ध तोड़ लिये। इसी प्रकार, देवहूति एक महान् राजा स्वायंभुव मनु की पुत्री थी, वह योग्य और सुन्दर थी, किन्तु वह अपने पति की सिद्धि पर पूर्णतया आश्रित थी। मनु के अनुसार, स्त्री को जीवन की किसी भी अवस्था में स्वतन्त्रता नहीं दी जानी चाहिए। बालपन में स्त्री को अपने माता-पिता के संरक्षण में, युवावस्था में पति के संरक्षण में और बुढ़ापे में अपने सयाने पुत्र के संरक्षण में रहना चाहिए। *मनुसंहिता* के इन सारे कथनों को देवहूति ने अपने जीवन में उतार लिया था—बालिका रूप में वह अपने पिता के आश्रित थी, बाद में ऐश्वर्यमान होते हुए भी अपने पति के तथा अन्त में अपने पुत्र कपिलदेव के आश्रय में थी।

हित्वा तदीप्सिततममप्याखण्डलयोषिताम् ।
किञ्चिच्चकार वदनं पुत्रविश्लेषणातुरा ॥ २० ॥

शब्दार्थ

हित्वा—त्याग कर; **तत्**—वह घर; **ईप्सित-तमम्**—अभीष्ट; **अपि**—ही; **आखण्डल-योषिताम्**—इन्द्र की पत्नियों द्वारा; **किञ्चित् चकार वदनम्**—उसके मुख पर उदासी छायी थी; **पुत्र-विश्लेषण**—अपने पुत्र के वियोग से; **आतुरा**—दुखी।

यद्यपि उनकी स्थिति सभी प्रकार से अद्वितीय थी, किन्तु साध्वी देवहूति ने इतनी सम्पत्ति होते हुए भी, जिसकी ईर्ष्या स्वर्ग की सुन्दरियाँ भी करती थीं, अपने सारे सुख त्याग दिये। उन्हें यह शोक था कि उनका इतना महान् पुत्र उनसे विलग हो रहा है।

तात्पर्य : देवहूति को अपने भौतिक सुख छोड़ने का दुख न था, किन्तु वे अपने पुत्र के वियोग से अत्यन्त शोकाकुल थीं। यहाँ यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि जब देवहूति को अपनी सारी सुख-सुविधाएँ त्यागने का कोई शोक न था, तो अपने पुत्र के जाने का इतना शोक क्यों था? वे अपने पुत्र के प्रति इतनी आसक्त क्यों थी? अगले श्लोक में इसका उत्तर दिया गया है। उनका पुत्र कपिल सामान्य पुत्र न था। वह भगवान् था। कोई व्यक्ति भौतिक आसक्ति को तभी त्याग सकता है जब उसकी आसक्ति परम पुरुष के प्रति हो। इसकी व्याख्या *भगवद्गीता* में हुई है—*परं दृष्ट्वा निवर्तते*। जब किसी में आध्यात्मिक जगत के प्रति रुचि होती है तभी वह भौतिक जीवन के प्रति उदासीन रहता है।

वनं प्रव्रजिते पत्यावपत्यविरहातुरा ।
ज्ञाततत्त्वाप्यभून्नष्टे वत्से गौरिव वत्सला ॥ २१ ॥

शब्दार्थ

वनम्—वन को; प्रव्रजिते पत्यौ—पति के चले जाने पर; अपत्य-विरह—अपने पुत्र के विरह से; आतुरा—अत्यन्त दुखी; ज्ञात-तत्त्वा—सत्य का ज्ञान; अपि—यद्यपि; अभूत्—हो गई; नष्टे वत्से—बछड़ा मर जाने पर; गौः—गाय; इव—के सदृश; वत्सला—स्नेहिल।

देवहूति के पति ने पहले ही गृहत्याग करके संन्यास आश्रम ग्रहण कर लिया था और तब उनके एकमात्र पुत्र कपिल ने घर छोड़ दिया। यद्यपि उन्हें जीवन तथा मृत्यु के सारे सत्य ज्ञात थे और यद्यपि उनका हृदय सभी प्रकार के मल से रहित था, किन्तु वे अपने पुत्र के जाने से इस तरह दुखी थीं जिस प्रकार कि बछड़े के मरने पर गाय दुखी होती है।

तात्पर्य : जिस स्त्री का पति घर से दूर हो या संन्यासी हो गया हो उसे अत्यन्त दुखी नहीं होना चाहिए, क्योंकि उसके पति का प्रतिनिधि, उसका पुत्र उसके पास रहता है। शास्त्रों का वचन है—*आत्मैव पुत्रो जायते*—पति के शरीर का प्रतिनिधित्व पुत्र करता है। यदि स्त्री के वयस्क पुत्र हो तो वह विधवा नहीं होती। जब कपिल मुनि उनके पास थे तो देवहूति अधिक विकल नहीं थीं, किन्तु उनके विदा होते ही वे अत्यन्त शोकाकुल हो उठीं। वे इसलिए शोक-संतप्त नहीं थीं कि कर्दम मुनि के साथ उनका संसारी सम्बन्ध था, अपितु भगवान् के प्रति अपने सत्यनिष्ठ प्रेम के कारण वे संतप्त थीं।

यहाँ उदाहरण दिया गया है कि देवहूति उस गाय के तुल्य हो गईं जिसने अपना बछड़ा खो दिया हो। अपने बछड़े से बिछुड़ कर गाय रात-दिन तड़फड़ाती है। इसी प्रकार देवहूति दुखी थीं और अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों से यही प्रार्थना करतीं "मेरे पुत्र को घर ला दो जिससे मैं जीवित रह सकूँ अन्यथा मैं मर जाऊँगी।" भगवान् के प्रति यह प्रगाढ़ स्नेह, यद्यपि अपने पुत्र-प्रेम के रूप में प्रकट होता है, आध्यात्मिक दृष्टि से लाभप्रद होता है। अपने पुत्र के प्रति आसक्ति होने से मनुष्य इसी संसार में रहने के लिए बाध्य होता है, किन्तु वही आसक्ति भगवान् के प्रति होने पर उसे वैकुण्ठलोक में भगवान् की संगति में ले जाती है।

हर स्त्री अपने को देवहूति के समान योग्य बनाकर भगवान् को अपने पुत्र के रूप में प्राप्त

कर सकती है। यदि भगवान् देवहूति के पुत्र रूप में प्रकट हो सकते हैं, तो वे अन्य किसी स्त्री के भी पुत्र रूप में उत्पन्न हो सकते हैं। हाँ, तभी जब वह स्त्री सुयोग्य हो। यदि किसी को पुत्र रूप में भगवान् मिल जाँय तो उसे इस संसार में सुपुत्र पालन का लाभ मिल सकता है और साथ ही वैकुण्ठलोक का लाभ, जिससे वह भगवान् का साक्षात् पार्षद बन सकता है।

तमेव ध्यायती देवमपत्यं कपिलं हरिम् ।
बभूवाचिरतो वत्स निःस्पृहा तादृशे गृहे ॥ २२ ॥

शब्दार्थ

तम्—उसको; एव—निश्चय ही; ध्यायती—ध्यान करती; देवम्—दैवी; अपत्यम्—पुत्र; कपिलम्—कपिल को; हरिम्—भगवान्; बभूव—हो गयी; अचिरतः—तुरन्त; वत्स—हे विदुर; निःस्पृहा—अनासक्त; तादृशे गृहे—ऐसे घर के प्रति।

हे विदुर, इस प्रकार अपने पुत्र भगवान् कपिलदेव का ध्यान करती हुईं वे शीघ्र ही उत्तम ढंग से सजे अपने घर के प्रति अनासक्त हो उठीं।

तात्पर्य : यहाँ पर आध्यात्मिक उदाहरण प्राप्त है कि किस तरह कोई कृष्णभावनामृत द्वारा अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है। कपिलदेव कृष्ण हैं और वे देवहूति के पुत्र रूप में प्रकट हुए। कपिलदेव के गृहत्याग के बाद देवहूति उनके विचार में मग्न थीं और इस तरह वे सदा कृष्णभावनाभावित थीं। निरन्तर कृष्णचेतना में स्थित होने से वे अपने-आपको गृहस्थी से विरक्त कर सकीं।

जब तक हम अपनी आसक्ति को भगवान् में स्थानान्तरित नहीं कर देते तब तक भौतिक आसक्ति से छूटने की कोई सम्भावना नहीं रहती। अतः *श्रीमद्भागवत* पुष्टि करता है कि केवल ज्ञानयोग के अनुशीलन से मुक्त होना सम्भव नहीं है। केवल इतना जान लेने से कि मनुष्य पदार्थ नहीं, अपितु आत्मा या ब्रह्म है, उसकी बुद्धि शुद्ध नहीं हो जाती। यदि निर्विशेषवादी आध्यात्मिक बोध की पराकाष्ठा तक पहुँच भी जाय तो वह पुनः भौतिक आसक्ति में आ गिरता है, क्योंकि वह परमेश्वर की दिव्य प्रेमा-भक्ति में स्थित नहीं होता है।

भक्तगण भगवान् की लीलाओं का श्रवण करते हुए तथा उनके कार्यकलापों की महिमा का गान करते हुए और इस तरह उनके सुन्दर दिव्य रूप का सतत स्मरण करते हुए भक्तियोग को

अपना लेते हैं। मनुष्य सेवा करके, उनका मित्र या दास बनकर तथा अपना सर्वस्व अर्पित करके ईश्वर के धाम जाने में समर्थ होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में कहा गया है—*ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा*—शुद्ध भक्ति करके मनुष्य भगवान् को जान सकता है और इस तरह वह स्वर्गलोक में उनकी संगति में पहुँचने का अधिकारी हो जाता है।

ध्यायती भगवद्रूपं यदाह ध्यानगोचरम् ।
सुतः प्रसन्नवदनं समस्तव्यस्तचिन्तया ॥ २३॥

शब्दार्थ

ध्यायती—ध्यानमग्न; भगवत्-रूपम्—भगवान् के स्वरूप को; यत्—जो; आह—उपदेश दिया; ध्यान-गोचरम्—ध्यान की वस्तु; सुतः—अपना पुत्र; प्रसन्न-वदनम्—प्रसन्नमुख से; समस्त—समग्र; व्यस्त—अंगों का; चिन्तया—अपने मन से।

तत्पश्चात् निरन्तर हँसमुख अपने पुत्र भगवान् कपिलदेव से अत्यन्त उत्सुकतापूर्वक एवं विस्तारपूर्वक सुनकर देवहूति परमेश्वर के विष्णुस्वरूप का निरन्तर ध्यान करने लगीं।

भक्तिप्रवाहयोगेन वैराग्येण बलीयसा ।
युक्तानुष्ठानजातेन ज्ञानेन ब्रह्महेतुना ॥ २४॥
विशुद्धेन तदात्मानमात्मना विश्वतोमुखम् ।
स्वानुभूत्या तिरोभूतमायागुणविशेषणम् ॥ २५॥

शब्दार्थ

भक्ति-प्रवाह-योगेन—निरन्तर भक्ति में लगे रहने से; वैराग्येण—वैराग्य द्वारा; बलीयसा—अत्यन्त प्रबल; युक्त-अनुष्ठान—उचित ढंग से कर्मों को करने से; जातेन—उत्पन्न; ज्ञानेन—ज्ञान से; ब्रह्म-हेतुना—ब्रह्म-साक्षात्कार होने से; विशुद्धेन—शुद्धिकरण से; तदा—तब; आत्मानम्—भगवान् को; आत्मना—मन से; विश्वतः-मुखम्—जिसका मुख चारों ओर घूमता है; स्व-अनुभूत्या—आत्म-साक्षात्कार से; तिरः-भूत—अप्रकट; माया-गुण—प्रकृति के गुणों का; विशेषणम्—विशेष।

उन्होंने भक्ति में गम्भीरतापूर्वक संलग्न रह कर ऐसा किया। चूँकि उनका वैराग्य प्रबल था, अतः उन्होंने मात्र शरीर की आवश्यकताओं को ग्रहण किया। वे ब्रह्म-साक्षात्कार के कारण ज्ञान में व्यवस्थित हुईं, उनका हृदय शुद्ध हो गया, वे भगवान् के ध्यान में पूर्णतः निमग्न हो गईं और प्रकृति के गुणों से उत्पन्न सारी दुर्भावनाएँ समाप्त हो गईं।

ब्रह्मण्यवस्थितमतिर्भगवत्यात्मसंश्रये ।
निवृत्तजीवापत्तित्वात्क्षीणक्लेशाप्तनिर्वृतिः ॥ २६ ॥

शब्दार्थ

ब्रह्मणि—ब्रह्म में; अवस्थित—स्थित; मतिः—मन; भगवति—भगवान् में; आत्म-संश्रये—सभी जीवों में वास करने वाला; निवृत्त—मुक्त; जीव—जीवात्मा का; आपत्तित्वात्—दुर्भाग्य से; क्षीण—लुप्त; क्लेश—कष्ट; आप्त—प्राप्त; निर्वृतिः—दिव्य आनन्द।

उनका मन भगवान् में पूर्णतः निमग्न हो गया और उन्हें स्वतः निराकार ब्रह्म का बोध हो गया। ब्रह्म-सिद्ध आत्मा के रूप में वे भौतिक जीवन-बोध की उपाधियों से मुक्त हो गईं। इस प्रकार उनके सारे क्लेश मिट गये और उन्हें दिव्य आनन्द प्राप्त हुआ।

तात्पर्य : पिछले श्लोक में बताया गया है कि देवहूति पहले से परम सत्य से अवगत थीं। अतः यह प्रश्न किया जा सकता है कि फिर वे ध्यान क्यों कर रही थीं? बात यह है कि जब कोई सिद्धान्त रूप में परम सत्य की व्याख्या करता है, तो उसे परम सत्य की निराकार प्रतीति होने लगती है। इसी प्रकार जब कोई उनके स्वरूप, गुण, लीला तथा उनके पार्षदों के विषय में गम्भीरतापूर्वक विवेचन करता है, तो वह उनके ध्यान में स्थित होता है। परमेश्वर का ज्ञान पूर्ण हो जाने पर स्वतः निराकार ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। ज्ञाता परमेश्वर को तीन दृष्टियों से अनुभव करता है—निराकार ब्रह्म, अन्तर्यामी परमात्मा तथा पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान्। अतः यदि कोई परमेश्वर के ज्ञान में स्थित है, तो इसका यह अर्थ हुआ कि उसे परमात्मा तथा निराकार ब्रह्म की प्रतीति है।

भगवद्गीता का वचन है—*ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा*। इसका अर्थ यह हुआ कि जब तक मनुष्य भवबन्धन से मुक्त नहीं होता और ब्रह्म में स्थित नहीं हो जाता, तब तक भक्ति को समझने या कृष्णभावनामृत में प्रवृत्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जो कोई कृष्ण की भक्ति में लग जाता है उसे पहले ही ब्रह्म की प्रतीति हो चुकी होती है, क्योंकि भगवान् के दिव्य ज्ञान में ब्रह्मज्ञान सम्मिलित है। *भगवद्गीता* द्वारा इसकी पुष्टि होती है—*ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्*—श्रीभगवान् की प्रतीति ब्रह्म पर निर्भर नहीं होती है। *विष्णु पुराण* भी पुष्टि करता है कि जिसने सर्वमंगल परमेश्वर की शरण ग्रहण कर ली है, वह पहले से ब्रह्मज्ञान में स्थित रहता है। दूसरे शब्दों में, जो वैष्णव होता है, वह पहले से ब्राह्मण होता है।

इस श्लोक की दूसरी विशेष बात यह है कि मनुष्य को निर्दिष्ट विधि-विधानों का पालन करना होता है। जैसाकि *भगवद्गीता* में पुष्टि की गई है—*युक्ताहार विहारस्य*। जब कोई कृष्णभावनामृत भक्ति में प्रवृत्त होता है तब भी उसे खाना, सोना, रक्षा करना तथा मैथुन करना होता है, क्योंकि ये जीवन की आवश्यकताएँ हैं। किन्तु वह इन कार्यों को नियामक ढंग से करता है। उसे कृष्ण-प्रसाद खाना होता है। उसे नियमबद्ध विधि से सोना होता है। सिद्धान्त यह है कि नींद की अवधि कम की जाय तथा भोजन कम किया जाय और उतना ही ग्रहण किया जाय जितने से शरीर ठीक-ठाक रहे। संक्षेप में कहना चाहें तो यह कि जीवन का उद्देश्य इन्द्रियतृप्ति न होकर आध्यात्मिक उन्नति होता है। इसी प्रकार संभोग में कमी की जानी चाहिए। संभोग का उद्देश्य केवल कृष्णभक्त सन्तान उत्पन्न करना है, अन्यथा संभोग की कोई आवश्यकता नहीं है। किसी वस्तु की मनाही नहीं है, किन्तु प्रत्येक वस्तु मन में सदुद्देश्य रखकर *युक्त* अर्थात् नियमित बनाई जाती है। जीवन के इन विधि-विधानों का पालन करते हुए मनुष्य शुद्ध हो जाता है और अविद्याजनित सारी भ्रान्तियाँ दूर हो जाती हैं। यहाँ इसका विशिष्ट उल्लेख है कि भवबन्धन के सारे कारण नष्ट हो जाते हैं।

अनर्थ-निवृत्ति सूचित करता है कि यह शरीर अवांछित है। हम तो आत्मा हैं और इस भौतिक शरीर की हमें कोई आवश्यकता नहीं थी। किन्तु हमने शरीर का भोग करना चाहा, अत: हमें भगवान् के निर्देशन में माया के माध्यम से यह शरीर मिला। ज्योंही हम भगवान् के साथ अपने दास्यभाव का पूर्वसम्बन्ध स्थापित कर लेंगे, हम शरीर की आवश्यकताएँ भूलने लगेंगे और अन्त में हम शरीर को भूल जाएँगे।

कभी-कभी स्वप्न में हमें ऐसा शरीर प्राप्त होता है, जिसके द्वारा हम स्वप्न में कार्य करते हैं। मुझे स्वप्न आ सकता है कि मैं आकाश में उड़ रहा हूँ, या किसी जंगल या अज्ञात स्थान में गया हुआ हूँ। किन्तु ज्योंही मैं जगता हूँ तो ये शरीर भूल जाते हैं। इसी प्रकार जब कोई कृष्णभावना में होता है, तो उसे शरीर के सारे विकार भूल जाते हैं। हम माता के गर्भ से जन्म लेने के बाद निरन्तर शरीर बदलते रहते हैं। किन्तु जब हममें कृष्णचेतना (भक्ति) जागृत होती

है, तो हम इन सारे शरीरों को भूल जाते हैं। तब शारीरिक आवश्यकताएँ गौण हो जाती हैं, क्योंकि आत्मा का कार्य वास्तविक आध्यात्मिक जीवन में लगना है। पूर्ण कृष्णभावना में भक्ति कार्यों से हम समाधि में स्थित होते हैं। *भगवत्यात्मसंश्रये* शब्द परमात्मा रूप भगवान् के द्योतक हैं। *भगवद्गीता* में श्रीकृष्ण कहते हैं—*बीजं मां सर्वभूतानाम्*—मैं समस्त जीवों का बीज रूप हूँ। भक्तियोग द्वारा परमेश्वर की शरण ग्रहण करने से मनुष्य को ब्रह्म की पूरी प्रतीति हो जाती है। कपिल कहते हैं—*मद्गुणश्रुतिमात्रेण*—जो कृष्णभावनाभावित है और भगवान् में स्थित है, वह भगवान् के दिव्य गुणों के श्रवण मात्र से ईश्वर प्रेम से पूरित हो जाता है।

देवहूति को उनके पुत्र कपिलदेव ने पूरी तरह उपदेश दिया था कि किस तरह विष्णु के स्वरूप पर मन को केन्द्रिय किया जाय। भक्तियोग के सम्बन्ध में अपने पुत्र द्वारा दिए गये उपदेशों का अनुसरण करके उन्होंने अपने मन में भगवान के स्वरूप का ध्यान किया। ब्रह्म-साक्षात्कार अर्थात् योग पद्धति अथवा भक्तियोग की यही पूर्णता है। अन्ततः जब मनुष्य परमेश्वर के विचार में पूरी तरह निमग्न हो जाता है और निरन्तर उनका ही ध्यान करता है, वही सर्वोच्च सिद्धि है। भगवद्गीता में पुष्टि हुई है कि इस प्रकार से जो सदैव ध्यानमग्न रहता है, वही उच्च कोटि का योगी है।

ज्ञानयोग, ध्यानयोग अथवा भक्तियोग—दिव्य साक्षात्कार की समस्त विधियों का वास्तविक उद्देश्य भक्ति के बिन्दु तक पहुँचना हैं। यदि कोई केवल परम सत्य या परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करता है, किन्तु उसमें भक्ति नहीं होती तो सारा श्रम निरर्थक होता है। यह तो अन्न निकाले हुए भूसे को कूटने जैसा है। जब तक मनुष्य परमेश्वर को वास्तविक लक्ष्य नहीं मान लेता तब तक केवल चिन्तन या योगाभ्यास करना व्यर्थ है। 'अष्टांग-योग' पद्धति में सिद्धि की सातवीं अवस्था ध्यान है, जबकि भक्तियोग में वही ध्यान तीसरी अवस्था है। पहली अवस्था है श्रवण और दूसरी कीर्तन, तब ध्यान। अतः भक्ति करने से मनुष्य स्वयमेव पटु ज्ञानी तथा पटु योगी हो जाता है। दूसरे शब्दों में, ज्ञान तथा योग भक्ति की विभिन्न प्रारम्भिक अवस्थाएँ हैं।

देवहूति सार ग्रहण करने में पटु थीं, उन्होंने अपने हँसमुख पुत्र कपिलदेव द्वारा उपदिष्ट विधि से विष्णु स्वरूप का ध्यान किया। साथ ही वे कपिलदेव का भी चिन्तन कर रही थीं जो श्रीभगवान् हैं, अतः उन्होंने अपनी तपस्या तथा दिव्य साक्षात्कार को पूरा कर लिया।

नित्यारूढसमाधित्वात्परावृत्तगुणभ्रमा ।
न सस्मार तदात्मानं स्वप्ने दृष्टमिवोत्थितः ॥ २७॥

शब्दार्थ

नित्य—शाश्वत; आरूढ—स्थित; समाधित्वात्—समाधि से; परावृत्त—मुक्त; गुण—प्रकृति के गुणों का; भ्रमा—भ्रम; न सस्मार—उसे स्मरण नहीं आया; तदा—तब; आत्मानम्—अपना शरीर; स्वप्ने—स्वप्न में; दृष्टम्—देखा हुआ; इव—जिस प्रकार; उत्थितः—जागा हुआ।

नित्य समाधि में स्थित होने तथा प्रकृति के गुणों से उत्पन्न भ्रम से मुक्त होने के कारण उन्हें अपना शरीर वैसे ही भूल गया जिस तरह मनुष्य को स्वप्न में अपने विविध शरीर भूल जाते हैं।

तात्पर्य : एक महान् वैष्णव का कहना है कि जिसे अपने शरीर की सुधि नहीं रहती वह संसार से बँधा हुआ नहीं है। जब तक हमें अपने शरीर की सुधि रहती है तब तक यह समझना चाहिए कि हम प्रकृति के तीन गुणों से बद्ध हैं। यह विस्मृति तभी सम्भव है जब हम अपनी इन्द्रियों को भगवान् की दिव्य प्रेमा-भक्ति में लगा दें। बद्ध अवस्था में मनुष्य अपनी इन्द्रियाँ परिवार के सदस्य या समाज अथवा देश के सदस्य रूप में लगाता है। किन्तु जब वह ऐसी भौतिक सदस्यता को भूल करके यह अनुभव करता है कि वह भगवान् का नित्य दास है, तो वही संसार की वास्तविक विस्मृति है।

यह विस्मृति असल में भगवान् की सेवा करने पर ही उत्पन्न होती है। तब भक्त अपने परिवार, समाज, देश, मानवता इत्यादि के लिए इन्द्रियतृप्ति हेतु कोई कार्य नहीं करता। वह केवल पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण के लिए कार्य करता है। यही पूर्ण कृष्णचेतना (भक्ति) है।

भक्त दिव्य सुख में निमग्न रहता है, अतः वह भौतिक क्लेशों का कोई अनुभव नहीं करता। यह दिव्य सुख नित्य आनन्द कहलाता है। भक्तों के अनुसार, भगवान् का निरन्तर स्मरण ही समाधि है। यदि कोई निरन्तर समाधि में रहता है, तो उस पर प्रकृति के गुणों का

आक्रमण नहीं होता, यहाँ तक कि वे इसे छू तक नहीं पाते। ज्योंही कोई तीनों गुणों के कल्मष से मुक्त हो जाता है उसे एक शरीर से दूसरे में अन्तरण करने के लिए जन्म नहीं लेना पड़ता।

तद्देहः परतः पोषोऽप्यकृशश्चाध्यसम्भवात् ।
बभौ मलैरवच्छन्नः सधूम इव पावकः ॥ २८ ॥

शब्दार्थ

तत्-देहः—उनका शरीर; परतः—अन्यों से (कर्दम द्वारा उत्पन्न युवतियों से); पोषः—पाला गया; अपि—यद्यपि; अकृशः—दुबला नहीं; च—तथा; आधि—चिन्ता; असम्भवात्—उत्पन्न न होने से; बभौ—चमका; मलैः—धूल से; अवच्छन्नः—ढका हुआ; स-धूमः—धुएँ से घिरा; इव—सदृश; पावकः—अग्नि।

उसके शरीर की देखभाल उसके पति कर्दम द्वारा उत्पन्न अप्सराओं द्वारा की जा रही थी और चूँकि उस समय उसे किसी प्रकार की मानसकि चिन्ता न थी, अतः उसका शरीर दुर्बल नहीं हुआ। वह धुएँ से घिरी हुई अग्नि के समान प्रतीत हो रही थी।

तात्पर्य : चूँकि वह समाधि में दिव्य आनन्द का अनुभव करती थी, अतः भगवान् का विचार सदैव उसके मन में स्थिर था। वह दुबली नहीं हुईं, क्योंकि उसकी देखभाल स्वर्ग की उन सुन्दरियों द्वारा की जा रही थी जिन्हें कर्दम मुनि ने उत्पन्न किया था। आयुर्वेद के अनुसार यदि कोई चिन्तामुक्त रहे तो वह मोटा हो जाता है। देवहूति कृष्णभक्ति में स्थित होने के कारण सारी चिन्ताओं से मुक्त थीं, अतः उनका शरीर दुबला नहीं हुआ। संन्यास आश्रम में किसी दास या दासी से सेवा कराने का विधान नहीं है, किन्तु देवहूति की सेवा स्वर्ग-सुन्दरियाँ कर रही थीं। यह आध्यात्मिक जीवन विचारधारा के प्रतिकूल लग सकता है, किन्तु जिस प्रकार धुएँ से घिरी होने पर भी अग्नि सुन्दर लगती है, उसी प्रकार देवहूति अत्यन्त शुद्ध दिख रही थीं, यद्यपि ऐसा लग रहा था कि वह विलासमय जीवन बिता रही है।

स्वाङ्गं तपोयोगमयं मुक्तकेशं गताम्बरम् ।
दैवगुप्तं न बुबुधे वासुदेवप्रविष्टधीः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ

स्व-अङ्गम्—अपना शरीर; तपः—तपस्या; योग—योगाभ्यास; मयम्—पूर्णतया संलग्न; मुक्त—खुले हुए; केशम्—बाल; गत—अस्तव्यस्त; अम्बरम्—वस्त्र; दैव—भगवान् द्वारा; गुप्तम्—रक्षित; न—नहीं; बुबुधे—उसे पता था; वासुदेव—भगवान् में; प्रविष्ट—तल्लीन; धीः—विचार।

भगवान् के विचार में सदैव तल्लीन रहने के कारण उसे इसकी सुधि भी न रही कि उसके बाल बिखर गये हैं और उसके वस्त्र अस्त-व्यस्त हो गये हैं।

तात्पर्य : इस श्लोक में *दैवगुप्तम्* शब्द अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ है ''भगवान् द्वारा रक्षित।'' एक बार भगवान् की शरण ग्रहण कर लेने पर वे ही भक्त के शरीर का पालन करते हैं और इसकी रक्षा के लिए किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रह जाती। *श्रीमद्भागवत* के द्वितीय स्कंध के द्वितीय अध्याय में कहा गया है कि पूर्ण शरणागत व्यक्ति को अपने शरीर के पालन की परवाह नहीं रहती। परमेश्वर असंख्य प्रकार के जीवों का पालन करते हैं, अत: जो उनकी सेवा में संलग्न है, वह अरक्षित नहीं रह सकता। अत: स्वाभाविक है कि देवहूति को अपने शरीर की सुध-बुध न थी, उसकी रक्षा तो परम पुरुष कर रहे थे।

एवं सा कपिलोक्तेन मार्गेणाचिरत: परम् ।
आत्मानं ब्रह्मनिर्वाणं भगवन्तमवाप ह ॥ ३० ॥

शब्दार्थ

एवम्—इस प्रकार; सा—वह (देवहूति); कपिल—कपिल द्वारा; उक्तेन—बताये; मार्गेण—मार्ग से; अचिरत:—शीघ्र; परम्—परम; आत्मानम्—परमात्मा को; ब्रह्म—ब्रह्म; निर्वाणम्—जीवन का अन्त; भगवन्तम्—भगवान् को; अवाप—प्राप्त किया; ह—निश्चय ही।

हे विदुर, कपिल द्वारा बताये गये नियमों का पालन करते हुए देवहूति शीघ्र ही भव-बन्धन से मुक्त हो गई और बिना कठिनाई के परमात्मास्वरूप भगवान् को प्राप्त हुईं।

तात्पर्य : इस प्रसंग में देवहूति की उपलब्धि को बताने वाले तीन शब्द प्रयुक्त हुए हैं—*आत्मानम्, ब्रह्म-निर्वाणम् तथा भगवन्तम्*—ये परम सत्य की खोज की क्रमिक विधि को बताते हैं, जिसे *भगवन्तम्* कहा गया है। भगवान् विविध वैकुण्ठलोकों में वास करते हैं। *निर्वाण* का अर्थ है संसार के क्लेशों का शमन। जब कोई वैकुण्ठ को जाता है, तो वह सारे क्लेशों से स्वत: मुक्त हो जाता है। यही *ब्रह्म-निर्वाण* है। वैदिक शास्त्रों के अनुसार *निर्वाण* का अर्थ है भौतिक जीवन का अन्त। *आत्मानम्* का अर्थ है हृदय के भीतर परमात्मा का साक्षात्कार। अन्तत: परमसिद्धि तो भगवान् का साक्षात्कार है। यह समझ लेना चाहिए कि देवहूति उस लोक में प्रविष्ट हुईं जिसे कपिल 'वैकुण्ठ' कहते हैं। वैकुण्ठलोकों की संख्या अनन्त है जिनमें

विष्णु के अंशों का प्राधान्य रहता है। जैसाकि *ब्रह्म-संहिता* से ज्ञात होता है—*अद्वैतम् अच्युतम् अनादिम् अनन्तरूपम्*। *अनन्त* का अर्थ है 'असंख्य'। भगवान् के दिव्य स्वरूप के असंख्य विस्तार (अंश) होते हैं और अपनी चार भुजाओं में विभिन्न चिह्नों को धारण करने के कारण वे नारायण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, वासुदेव आदि कहलाते हैं। 'कपिल वैकुण्ठ' नाम से भी एक वैकुण्ठ है जहाँ देवहूति कपिल से मिलने और अपने दिव्य पुत्र की संगति का आनन्द लेने के लिए भेज दी गईं।

तद्वीरासीत्पुण्यतमं क्षेत्रं त्रैलोक्यविश्रुतम् ।
नाम्ना सिद्धपदं यत्र सा संसिद्धिमुपेयुषी ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ

तत्—वह; वीर—हे वीर विदुर; आसीत्—था; पुण्य-तमम्—सर्वाधिक पवित्र; क्षेत्रम्—स्थान; त्रै-लोक्य—तीनों लोकों में; विश्रुतम्—विख्यात; नाम्ना—नाम से; सिद्ध-पदम्—सिद्ध पद; यत्र—जहाँ; सा—उसने (देवहूति ने); संसिद्धिम्—सिद्धि; उपेयुषी—प्राप्त की।

हे विदुर, जिस स्थान पर देवहूति ने सिद्धि प्राप्त की वह स्थान अत्यन्त पवित्र माना जाता है। यह तीनों लोकों में सिद्धपद के नाम से विख्यात है।

तस्यास्तद्योगविधुतमार्त्यं मर्त्यमभूत्सरित् ।
स्रोतसां प्रवरा सौम्य सिद्धिदा सिद्धसेविता ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ

तस्याः—देवहूति का; तत्—वह; योग—योग द्वारा; विधुत—परित्यक्त; मार्त्यम्—भौतिक तत्त्व; मर्त्यम्—समस्त नदियों में; अभूत्—हो गया; सरित्—नदी; स्रोतसाम्—समस्त नदियों में; प्रवरा—अग्रणी; सौम्य—हे भद्र विदुर; सिद्धि-दा—सिद्धि देने वाली; सिद्ध—सिद्धि के इच्छुक पुरुषों द्वारा; सेविता—सेवित।

हे विदुर, उनके शरीर के तत्त्व पिघलकर जल बन गये और अब समस्त नदियों में सबसे पवित्र नदी के रूप में बह रहे हैं। जो भी इस नदी में स्नान करता है उसे सिद्धि प्राप्त होती है, अतः सिद्धि के इच्छुक लोग उसमें स्नान करते हैं।

कपिलोऽपि महायोगी भगवान्पितुराश्रमात् ।
मातरं समनुज्ञाप्य प्रागुदीचीं दिशं ययौ ॥ ३३ ॥

शब्दार्थ

कपिलः—भगवान् कपिल; अपि—निश्चय ही; महा-योगी—ऋषि; भगवान्—भगवान्; पितुः—अपने पिता के; आश्रमात्—कुटी में; मातरम्—अपनी माता से; समनुज्ञाप्य—आज्ञा लेकर; प्राक्-उदीचीम्—उत्तर-पूर्व, ईशानकोण; दिशम्—दिशा को; ययौ—चला गया।

हे विदुर, महामुनि भगवान् कपिल अपनी माता की आज्ञा से अपने पिता का आश्रम छोड़कर उत्तरपूर्व दिशा की ओर चले गये।

सिद्धचारणगन्धर्वैर्मुनिभिश्चाप्सरोगणैः ।
स्तूयमानः समुद्रेण दत्तार्हणनिकेतनः ॥ ३४॥

शब्दार्थ

सिद्ध—सिद्धों द्वारा; चारण—चारणों द्वारा; गन्धर्वैः—गन्धर्वों द्वारा; मुनिभिः—मुनियों द्वारा; च—तथा; अप्सरः-गणैः—अप्सराओं (स्वर्ग लोक की सुन्दरियाँ) द्वारा; स्तूयमानः—स्तुति किये गये; समुद्रेण—समुद्र द्वारा; दत्त—दिया गया; अर्हण—पूजन; निकेतनः—रहने का स्थान।

जब वे उत्तर दिशा की ओर जा रहे थे तो चारणों, गन्धर्वों, मुनियों तथा अप्सराओं ने उनकी स्तुति की और सब प्रकार से उनका सम्मान किया। समुद्र ने उनका पूजन किया और रहने के लिए स्थान दिया।

तात्पर्य : कहा जाता है कि कपिल मुनि पहले हिमालय की ओर गये और वहाँ गंगा के उद्गम की खोज की। फिर वे गंगा के मुहाने पर समुद्र में आये जिसे आजकल बंगाल की खाड़ी कहते हैं। सागर ने उन्हें रहने के लिए स्थान दिया जिसे आज भी गंगा-सागर कहते हैं जहाँ गंगा नदी समुद्र से मिलती है। यह स्थान गंगा-सागर तीर्थ कहलाता है और आज भी लोग वहाँ जाकर सांख्य दर्शन के संस्थापक कपिल को नमस्कार करते हैं। दुर्भाग्यवश किसी एक पाखंडी ने इस सांख्य प्रणाली की मनमानी व्याख्या की और उसका भी नाम कपिल है, किन्तु वह प्रणाली *श्रीमद्भागवत* में वर्णित कपिल के सांख्य से मेल नहीं खाती।

आस्ते योगं समास्थाय साङ्ख्याचार्यैरभिष्टुतः ।
त्रयाणामपि लोकानामुपशान्त्यै समाहितः ॥ ३५॥

शब्दार्थ

आस्ते—रह रहा है; योगम्—योग; समास्थाय—अभ्यास करके; साङ्ख्य—सांख्य दर्शन के; आचार्यैः—महान् शिक्षकों द्वारा; अभिष्टुतः—पूजित; त्रयाणाम्—तीन; अपि—भी; लोकानाम्—लोकों के; उपशान्त्यै—उद्धार के लिए; समाहितः—समाधि में स्थित।

आज भी कपिल मुनि तीनों लोकों के बद्धजीवों के उद्धार हेतु वहाँ समाधिस्थ हैं

और सांख्य दर्शन के समस्त आचार्य उनकी पूजा करते हैं।

एतन्निगदितं तात यत्पृष्टोऽहं तवानघ ।
कपिलस्य च संवादो देवहूत्याश्च पावनः ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ

एतत्—यह; निगदितम्—कहा गया; तात—हे विदुर; यत्—जो; पृष्टः—पूछे जाने पर; अहम्—मैंने; तव—तुम्हारे द्वारा; अनघ—हे पापरहित विदुर; कपिलस्य—कपिल की; च—तथा; संवादः—वार्ता; देवहूत्याः—देवहूति की; च—तथा; पावनः—शुद्ध।

हे पुत्र, तुम्हारे पूछे जाने पर मैंने तुम्हें बताया। हे पापरहित, कपिलदेव तथा उनकी माता के वृत्तान्त तथा उनके कार्यकलाप समस्त वार्ताओं में शुद्धतम् हैं।

य इदमनुशृणोति योऽभिधत्ते
कपिलमुनेर्मतमात्मयोगगुह्यम् ।
भगवति कृतधीः सुपर्णकेताव्
उपलभते भगवत्पदारविन्दम् ॥ ३७॥

शब्दार्थ

यः—जो भी; इदम्—इसे; अनुशृणोति—सुनता है; यः—जो भी; अभिधत्ते—व्याख्या करता है; कपिल-मुनेः—कपिल मुनि का; मतम्—उपदेश; आत्म-योग—भगवान् के ध्यान पर आधारित; गुह्यम्—गुप्त, गूढ़; भगवति—भगवान् पर; कृत-धीः—स्थिर मन से; सुपर्ण-केतौ—गरुड़ की ध्वजा वाले; उपलभते—प्राप्त करता है; भगवत्—भगवान् के; पद-अरविन्दम्—चरणकमल।

कपिलदेव तथा उनकी माता के व्यवहारों का विवरण अत्यन्त गोपनीय है और जो भी इस वृत्तान्त को सुनता या पढ़ता है, वह गरुड़ध्वज भगवान् का भक्त बन जाता है और बाद में उनकी दिव्य प्रेमा-भक्ति में प्रवृत्त होने के लिए भगवद्धाम में प्रवेश करता है।

तात्पर्य : कपिल तथा उनकी माता देवहूति का यह वृत्तान्त इतना पूर्ण तथा दिव्य है कि यदि कोई इसे केवल सुनता या पढ़ता है, तो उसे जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त होती है, क्योंकि वह भगवान् के चरणकमल की सेवा में लग जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि देवहूति ने मानव जीवन की सर्वोच्च सिद्धि प्राप्त की जिन्होंने भगवान् को पुत्र रूप में प्राप्त करके कपिल के उपदेशों का सुचारु रूप से पालन किया।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के अन्तर्गत ''कपिल के कार्यकलाप'' नामक

तैंतीसवें अध्याय के भक्तिवेदान्त तात्पर्य पूर्ण हुए।

PRELIMINARY PAGES FOR BH 3RD CANTO STARTS FROM HERE

विषय-सूची

अध्याय सात

अध्याय आठ

अध्याय नौ

अध्याय सोलह

अध्याय सत्रह

अध्याय अठारह

अध्याय अट्ठाईस